9·1

विनय पीयूष

দুটি জননী

विनय पीयूष

[श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदास-विरचित विनय पत्रिका का विशद भाष्य]

लेखक

साहित्य वाचस्पति महात्मा अंजनीनंदनशरण जी

पीयूष प्रकाशन

अयोध्या – फैजाबाद – कानपुर

१९७२ पीयूष प्रकाशन

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मूल्य	बीस रुपये
प्रकाशक	पीयूष प्रकाशन श्री करुणा निधान कुंज, ऋणमोचन घाट, अयोध्या-उ०प्र० शाखा—६४/१९२ सदर बाजार, कानपुर-१
मुद्रक	श्री सीताराम प्रेस, अयोध्या

Vinai Piyoosh by-Mahatma Sri Anjani Nandan Saran
Published by-Piyoosh Prakashan, Ayodhya.
Price Rs. 20.00

प्रस्तुत संस्करण

विनय पीयूष का नवीनतम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें विशेष हर्ष हो रहा है। विद्वानों के मध्य निरंतर बढ़ती हुई इसकी लोकप्रियता से जहाँ हमें संतोष है वहीं इस बात का हमें खेद भी है कि पूज्य महात्मा अंजनीनंदनशरण जी आज हमारे बीच नहीं हैं। किन्तु उनकी यह अमर कृति मानस पीयूष के समान ही हिन्दी की विभूति है। हम आशा करते हैं कि सभी साहित्य मर्मज्ञ, विद्वत्जन एवं अन्य तुलसी साहित्य प्रेमी इस अनूठी टीका का लाभ उठाते रहेंगे।

महात्मा अंजनीनंदनशरण जी ने विनय पत्रिका के इस संसार के सबसे वृहत्तम तिलक में, स्वर्गीय पं० राम कुमार जी प्रसिद्ध रामायणी (काशी), बैकुण्ठवासी वेदान्त शिरोमणि श्री रामानुजाचार्य जी (श्री वृन्दावन), वेदान्त भूषण पं० श्री राम कुमार दास जी (अयोध्या) तथा आचार्य स्वामी पं० श्री सीतारामशरण जी (अयोध्या) आदि की अप्रकाशित टिप्पणियों तथा श्री शिवप्रकाश जी, श्री बैजनाथ जी, लाला श्री भगवानदीन, श्री वियोगीहरि आदि प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध टीकाकारों के विशद भावान्तरों का भी विवेचन और संग्रह है।

हम इनके द्वारा रचित कवितावली की टीका भी शीघ्र ही, प्रकाशित करने जा रहे हैं, आशा है विद्वत्जन उससे भी लाभ उठाने की कृपा करेंगे।

प्रकाशक

समर्पण

श्रीसीतारामजी के दुलारे श्रीहनुमानजी जिनकी कृपा से श्रीरामदरबार
तक पहुंचानेवाली 'विनय-पत्रिका' की रचना की प्रेरणा हुई,
श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजी महाराज जिनके द्वारा रची
जाकर यह 'विनय-पत्रिका' प्रकाशित होकर लोगों को
श्रीरामसम्मुख कर रही है, भोंसलाघाटके श्रीजानकी-
वल्लभलालजी जिनकी आज्ञासे 'विनय-पीयूष' तिलक
लिखा गया, श्रीकनकभवनविहारिणीविहारीजी
जिनकी आज्ञासे यह तिलक पूरा किया गया तथा
श्रीसद्गुरुदेव भगवान् श्रीरूपकलाजी
जिनकी आज्ञा इसे स्वयं
छपाने की हुई—

उन आप सब करुणावरुणालय प्रभुओं के ही कर-कमलों में
यह "विनय-पीयूष" सादर, सप्रेम,
सविनय समर्पित है।
"विनय-पीयूष" दीनकी प्रभो आप ही बाँचो।

आपका शिशु

अंजनीनंदन-शरण

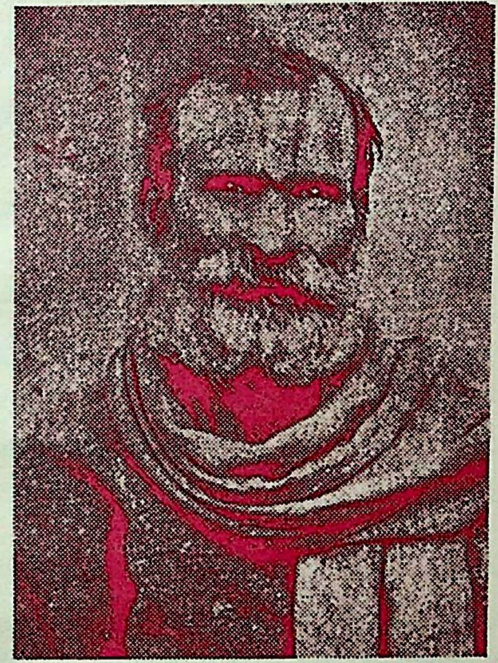

महात्मा श्री अंजनी नन्दन शरण जी

(संवत १९४१ – २०२७)

महात्मा जी के सम्बन्ध में

हिन्दी साहित्य की इस महान विभूति का जन्म कानपुर में, एक मध्यम वर्गीय कायस्थ घराने में, सं० १९४१ में आश्विन कृष्ण चौदस को हुआ था। वकालत पास करने के उपरांत आपने पहले कानपुर में, तत्पश्चात बाँदा में जाकर वकालत की। बाँदा के निकट चित्रकूट होने के कारण यह समय समय पर वहाँ जाते, और सत्संग किया करते थे।

बाँदा से यह अपना सब कुछ छोड़ कर. ८ जनवरी सन् १९२२ को अयोध्या आ गये। इन्होंने अयोध्या के सिद्ध संत श्री रूपकला जी से धर्म दीक्षा ग्रहण की। महात्मा जी सिर्फ उर्दू फारसी और अंग्रेजी ही जानते थे पर अनन्त गुरुदेव श्री रूपकला जी के आशीर्वाद से इनको स्वयं ही हिन्दी एवं संस्कृत आ गयी और इन्होंने 'मानस पीयूष', विनय पीयूष, हनुमान बाहुक टीका, कवितावली टीका इत्यादि महान ग्रन्थों की रचना की। इनकी रचना संसार की सभी रचनाओं से वृहत एवं श्रेष्ठ है। इनकी साहित्य सेवा के उपलक्ष में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ने इनको 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की।

महात्मा जी बहुत ही निर्लोभी प्रकृति के थे। यह सहज ही इस बात से पता लगता है कि इन्होंने 'मानस पीयूष' नामक ग्रन्थ का सर्वाधिकार गीताप्रेस को बिना मूल्य लिये ही दे दिया जबकि अन्य प्रेस सर्वाधिकार हेतु उसका मूल्य देने को तैयार थे।

आपका जीवन संतों की सेवा, उनके चरित्र का गुणगान करने में ही बीता। ये संत वेष में बहुत ही श्रद्धा रखते थे।

इनका साकेत वास ११ अगस्त १९७० को दिन में २ बजे हो गया। हिन्दी साहित्य में ये अपनी रचनाओं के कारण हमेशा अमर रहेंगे।

चक्रवर्ती कुमार

दो शब्द

इसका मूल पाठ प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियोंसे लिया गया है और उसीका अर्थ लिखा गया है। जैसा पाठ पोथीमें है, प्रायः वैसा ही ज्योंका त्यों इसमें भी उद्धृत किया गया है। अन्य प्रतियोंके पाठ पाद-टिप्पणी (Footnote) में दिये गए हैं।

सं० १६६६ की पोथी गोस्वामीजीके समयकी है। यह सबसे अधिक पुरानी है। इसमें हरताल और काट-छाँट प्रायः नहीं है। अन्य पोथियोंके पाठकी परखके लिये हमने उसीको कसौटी माना है। जाँच करनेपर ईजानगरके व्यासकी पोथी उससे रुपयेमें बारह आना और भागवतदासजीकी रुपयेमें चार आना मिलती पाई। अतः जो पद सं० १६६६ में नहीं हैं, उनका पाठ हमने प्रायः ईजानगरवाली पोथीसे लिया है। अनुस्वार और उकारादिकी मात्रायें जहाँ जैसी पोथीमें हैं वैसी उद्धृत कर दी गई हैं।

शब्दार्थ प्रायः प्रामाणिक कोशोंसे दिये गए हैं।

पद्योंका अर्थ इसमें शब्दशः किया गया है जिसे Literal Translation या Paraphrase कहते हैं। प्रायः कोई शब्द छूटने नहीं पाया है।

'मोरे मन प्रबोध जेहि होई'—इस ध्येयको सामने रखकर शब्दार्थ, पद्यार्थ और टिप्पणियाँ लिखी गईं और छान-बीन की गई/ जबतक संतोष नहीं हुआ। इसीसे इस दीनने विद्वानोंसे पूछनेमें भी किंचित् संकोच नहीं किया।

स्वर्गीय वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्य (वृन्दावन) से सर्वप्रथम मौलिक सहायता मिली। लगभग १३० पद उन्होंने पढ़कर इसमें अपने विचार लिख दिये थे। श्रीभगवद्गुणदर्पणभाष्य और निरुक्त आदिके उद्धरण जो इसमें आये हैं, वे उन्हींने लिख भेजे थे।

तदनन्तर वेदान्तभूषण पं० रामकुमारदास (अयोध्या) के पास पांडुलिपि कई मास तक रही। उन्होंने उसे पढ़कर यत्र-तत्र अपने नोट लिख दिये जो उनके नामसे पुस्तकमें छपे हैं।

तत्पश्चात् इस दीनने पाण्डुलिपि फिरसे साफ लिखी और जो भी भाव सूझें वे भी उसमें बढ़ाये गए। सन् १९६० में लगभग १००० पृष्ठ ं०. श्रीजानकीनाथ शर्मा (गीताप्रेस) के पास भेजे। उसमें उन्होंने अपने नोट

भी यत्र-तत्र दिये, जो उनके नामसे छपे हैं। गीताप्रेसने उसे तुरन्त छापना स्वीकार न किया; इसलिये पाण्डुलिपि वहाँसे मँगा ली गई और स्वयं छपानेका प्रबंध किया गया।

उपर्युक्त महानुभावोंके भाव प्रथम-प्रथम इसीमें प्रकाशित हो रहे हैं।

श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण और पद्मपुराण हमने कई जगहके संस्करण देखे और जब जो हाथ लगा उसीसे उद्धरण दिये थे। वाल्मी० रा० तथा भागवतके कई संस्करण मेरे पास हैं। पाठभेद तथा सर्गोंकी संख्यामें भेद इनमें देखा। अतः मैंने उद्धरणोंका संशोधन गीताप्रेससे प्रकाशित संस्करणसे प्रायः सर्वत्र कर दिया है तथापि कहीं-कहीं अन्य संस्करणोंका भी रह गया है।

प्रूफका संशोधन प्रथम इस शरीरकी पुत्री श्रीमती मीरा देवी और उसके पुत्रों (श्रीअवधेशकुमार और श्रीचक्रवर्तीकुमार) ने किया। दूसरी बार फिर दास-ने भी स्वयं देखा है। संस्कृतका विशेष ज्ञान न होनेसे तथा प्रेसकी असावधानीसे कहीं-कहीं अशुद्धियोंका रह जाना सम्भव है।

श्रीसीतारामकृपासे जो कुछ बुद्धि मुझे मिली उससे उनकी आज्ञाका पालन किया है और उन्हींके चरणोंमें यह सेवा सादर सप्रेम समर्पित है।

सदैव श्रीसीतारामजीका ही—
अंजनीनन्दन शरण,
श्रीकरुणानिधानकुंज, ऋणमोचनघाट,
श्रीअयोध्याजी (उ० प्र०)

[पं॰ श्रीजानकीनाथ शर्मा (कल्याण संपादन विभाग, गीताप्रेस, गोरखपुर) की भूमिकासे]

महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरणजी महाराजकी 'मानस-पीयूष' व्याख्या इस समय 'मानस' की विश्वविश्रुत व्याख्या हो रही है। यह एक प्रकारसे विश्वके समस्त टीका साहित्यमें ही अमृतवत् सर्वाग्रगण्य हो रही है। इसे जिसने ही देखा है, मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। मैं तो बहुत ही प्रभावित हुआ। वास्तवमें महात्माजी महान् पुरुष हैं। ऐसे पुरुषोंकी प्रतिष्ठा संसार उनके पीछे ही आँक पाता है।

मैंने जबसे 'मानस-पीयूष' का दर्शन किया तबसे महात्माजीसे आग्रह करता रहा कि समस्त तुलसी-साहित्यपर ही कृपापूर्वक व्याख्या लिख दें। मैं आग्रहपर आग्रह करता रहा, पर अस्वस्थताके कारण महात्माजी टालते गए। परन्तु प्रभु श्रीराम तथा महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजीको मेरी प्रार्थना अच्छी लगी, और उन्होंने महात्माजीको दृढ़ रूपसे प्रेरित किया जिसके फलस्वरूप कार्य प्रारंभ हो गया।

कहना नहीं होगा कि यह 'विनय-पीयूष' भी 'मानस-पीयूष' के समान ही अमृततुल्य तथा अपने स्थानपर सर्वथा अद्वितीय है। प्रत्येक शब्दका पूर्ण इतिहास पाठकोंको इसमें प्राप्त होगा। जहाँ-कहीं भी कोई भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक वस्तुका उल्लेख आया है, टीकाकारने वहाँ स्वयं जाकर सभी प्रकारकी खोज-पड़ताल कर उसकी पूरी छानबीन की है और सारा हवाला देनेका प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ आप काशीके विन्दुमाधवजीका वर्णन देख सकते हैं। इसी प्रकार एक-एक पदके लिए उसकी सारी साहित्यिक छानबीन कर ली है।

पाठ भेदके लिए व्याख्याकारका प्रयत्न आश्चर्यमें डाल देनेवाला है। प्रत्येक पद की स्थितिपर पूरी तपस्यामें समाहित होकर विचार किया है। कथानकोंके तो वे पीछे ही जुट गए हैं। एक-एक कथाकी सामग्रीको अनेक पुराणोंसे जुटाई है।

जितने प्रकारकी कथाएँ मिली हैं सभीको देनेका प्रयास किया है।

वस्तुतः ऐसा साहित्य विना भगवत्कृपा, दीर्घ तप तथा गंभीर अध्ययनके नहीं हो सकता। हमारा सौभाग्य है कि कार्य सामने आ रहा है। हमारी तो यही प्रार्थना है कि व्याख्याकार महानुभाव पूरे तुलसी-साहित्यपर अपनी कलम चला दें। पाठकगण भी कृपया इसमें सभी प्रकारका सहयोग दें। वे इसका प्रचार-प्रसार कर महान् पुण्यके भागी हो सकते हैं। इससे देशको भी अपना वास्तविक स्वरूप जानकर सच्चा लाभ प्राप्त होगा।' मानस-पीयूष' को भी सभी-को देखना चाहिए। प्रायः आजके सभी मानस कथावाचक उसीके उपजीवी हैं। टीकाकर्त्ता भी उसके ही आधारपर टीकाएं लिखते तथा मानसके लेखक भी उसीके आधारपर लेख लिख रहे हैं।

अन्तमें हम सरकारी अधिकारियोंसे प्रार्थना करेंगे कि वे यदि देशकी सदाचारादिकी वास्तविक सहायता करना चाहते हैं तो महात्माजीके सभी प्रकारसे दक्षिणहस्त होकर अधिकाधिक सहायता कर उनके साहित्यको प्रोत्साहन प्रदान करें।

सांकेतिक अक्षरोंका विवरण

विनयकी हस्तलिखित पोथियाँ	सांकेतिक अक्षर
१ सं० १६६६ की श्रीभगवान ब्राह्मणकी लिखी प्रति, रामनगर, वाराणसी	६६
२ सं०१८६९ की श्रीचौधरी छुन्नीसिंहजीकी एक पोथी, रामनगर, वाराणसी	६९
३ श्रीभागवतदासजीकी प्रतिलिपि, भोंसलाघाट मंदिर, वाराणसी	भा०
४ सं० १८७८ की श्रीबेनी कायस्थकी लिखी पोथी, मिरजापुर	बे०
५ सं० १७७९ की श्रीप्रह्लाददास की लिखी पोथी, राज्यपुस्तकालय, बलरामपुर	प्र०
६ सं० १८९३ की श्रीजमुनादास वैश्यजीकी लिखी पुस्तक, राजघाट, वाराणसी	ज०
७ सं० १९१५ की श्रीरामरत्नदास लिखित पोथी, रामायणी श्रीरामसुन्दरदास, श्रीअयोध्याजी	१५
८ ईजानगर (विजयानगर) के व्यास पं० श्रीगजाधरदासकी पोथी (आदि-अंतके पत्रा नहीं हैं। श्री बजरंगदास मधुकरिया द्वारा प्राप्त)	रा०
९ बाबा रामदास बक्सरकी रामतत्वबोधिनी टीका (पं० सीताप्रसाद, वासुदेवघाट, अयोध्या)	रा० त० ब०
१० पं० रामकुमारजी काशीके प्रसिद्ध रामायणी (स्वर्गवासी) के खर्रे (श्रीपुरुषोत्तमदत्तसे प्राप्त)	खर्रा; रा० कु०
११ स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीके प्रिय शिष्य महात्मा श्रीभगवानसहायजीकी उर्दू में लिखी टीका और देवनागरीमें लिखा मूल। (डा० रामार्चाशरणसे प्राप्त, श्रीलक्ष्मणकिला, अयोध्या)	भ० स०

☞ मुं० तुलसीरामने 'तत्वबोधिनी' टीकाको ही उर्दू में अपने नोट्स सहित लिखा है। २२ दिसम्बर सन् १८७२, रविवार सं० १९२९।

छपी हुई पुस्तकें	
१ मूल, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९५१ व सं० १९५७	५१
२ मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यन्त्रालयकी छपी सं० १९७० की तृतीयावृत्ति मूल	मु०
३ चरखारी नरेशकी लीथोमें छपी सन् १८७६ की टीका	च०
४ बाबू शिवप्रकाश, डुमरांव, की 'तत्वबोधिनी' टीका, सं० १९४१	डु०
५ श्रीवैजनाथजीकी लीथोमें छपी 'विनय प्रदीपक' नामकी टीका। सं० १९४७	वै०
६ श्रीसीतारामीय बाबा हरिहरप्रसादकी खड्गविलास प्रेस, पटनासे प्रकाशित टीका सन् १९०४	ह०

७ पं० रामेश्वर भट्टजीकी इंडियनप्रेस, प्रयागसे प्रकाशित टीका चतुर्थ संस्करण, सन् १९३१ भ०

८ पं० महावीरप्रसाद मालवीय वैद्यकी टीका बेलवीडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित सं० १९८० में (इसमें सं० १७७४ की लिखी किसी प्रतिके आधारपर पाठ रखना वे कहते हैं) ७४

९ श्रीवियोगी हरिकी श्रीहरितोषिणी टीका मार्गशीर्ष सं० १९८०, द्वितीय संस्करण सं० १९८६ वि०

१० लाला श्रीभगवानदीन 'दीन' की टीका, दीपावली सं० १९८५, काशी दीन

११ मास्टर विहारीलाल, टीकमगढ़ की टीका (यह डुमराँव की ही टीका शुद्ध हिन्दीमें ही है) टी०

१२ पं० सूर्यदीन शुक्लकृत टीका द्वितीयावृत्ति, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ सन् १९२८ सू० शु०

१३ श्रीहनुमान्प्रसाद पोद्दारकी टीका, १९वाँ संस्करण, सं० २०१३ पो०

१४ पं० श्रीकान्तशरणजीकी टीका, सं० २०१३ श्री० श०

१५ ड०, मु०, वै०, भ०, वि० और दीन का समुच्चय या इनमेंसे वे सब जो पाठान्तरमें दुबारा न आये हों। = आधुनिक आ०

१६ कोष्टकान्तर्गतको छोड़कर उपर्युक्त समुच्चय (जैसे भ० को छोड़कर शेष समुच्चय) आ० (—भ०)

ग्रंथमें आये हुए कतिपय अन्य संकेताक्षरोंकी तालिका

सां०		सां०	
अ० रा०	अध्यात्मरामायण	वै० सं०	वैराग्य संदीपिनी
आं० रा०	आनन्दरामायण	वृ०, वृह०	वृहदारण्यक उपनिषद्
कठ०	कठोपनिषद	भ० गु० द०	भगवद्गुणदर्पण
क०	कवितावली	भ० गु० द० भा०	,, भाष्य
गीता भाष्य	श्रीरामानुजभाष्य	भा०	श्रीमद्भागवत
गी०	गीतावली	म० भा० शा०	महाभारत शान्तिपर्व
छां०	छांदोग्य उपनिषद	म० भा० आश्व०	,, आश्वमेधिकपर्व
जा० ना०	पं०जानकीनाथशर्मा	मार्क०	मार्कण्डेयपुराण
तै०; तैत्ति०	तैत्तिरीयोपनिषद	मुं०	मुण्डकोपनिषद्
दो०	दोहावली	रा०	रामायण
ना० पां०	नारदपाञ्चरात्र	रा० पू० ता०	रामपूर्वतापिन्युपनिषत्
नृ० पू० ता०	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्	रा० उ० ता०	रामोत्तरतापिन्युपनिषत्
प० पु० पा०	पद्मपुराणपातालखंड	वाल्मी०	वाल्मीकीय रामायण
प० पु० उ०	पद्मपुराण उत्तर खंड	वि० पु०	विष्णु पुराण

वि० स० ना०	विष्णुसहस्रनाम
वे०भू०,वे०भू०रा०कु०दा०	वेदान्तभूषण पं०रामकुमारदासजी
श०सा०	काशी नागरी प्रचारिणी सभाका 'हिंदी शब्दसागर', सन् १९१४ ।
शां० भाष्य	श्रीशाङ्करभाष्य
श्वे०; श्वे० श्व०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०	संस्कृत; संहिता; संवत् विक्रमी, संक्षिप्त ।
स्कं०	स्कंद पुराण

☞ रामचरितमानस तथा वाल्मीकीय आदि रामायणोंके बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका (युद्ध) और उत्तर कांडोंके लिये क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, और ७ सूचक अंक दिये गये हैं ।

☞ रामचरितमानसके उद्धरणमें केवल कांड और दोहेका (तथा बहुधा चौपाई का) अंक मानस-पीयूषके मूलपाठके अनुसार दिये गए हैं । जैसे—१।१३।२=बालकांडके दोहा १३ की अर्धाली २।;७।१३=उत्तरकांडका दोहा १३ अथवा दोहा १३ में आई हुई अर्धालियाँ ।

☞ 'विनयपत्रिका'के उद्धरणमें केवल उन पदोंके अंक अथवा कहीं-कहीं पदांकके साथ कोष्टकमें अन्तरा या छन्दका अंक भी दिया है । जैसे, 'पायो नामु चारु चिंतामनि उर कर तें न खसैहों । १०५ (२) ।'=पद संख्या १०५ का अंतरा २। केवल १०५ देनेका भाव होगा कि उद्धरण पद १०५ में है ।

☞ टिप्पणी और नोटके अर्थमें कोई भेद नहीं है ।

☞ पदोंके शीर्षकमें संख्या बतानेवाले अंक कहीं-कहीं दो-दो मिलेंगे, जिनमेंसे एक कोष्टकान्तर्गत होगा । यह कोष्टकान्तर्गत सं० १६६६ वाली पोथीका अंक है । कोष्टकके बाहर पाठकके बाएं ओर वाला अंक प्रायः अन्य प्रतियोंका अंक है ।

ग्रंथोंके नाम जिनके उद्धरण इस खण्डमें आये हैं ।

१ अगस्त्य संहिता
२ अग्नि पुराण
३ अध्यात्म रामायण
४ अमर कोश
५ अमर विवेक टीका अमरकोश
६ अमर व्याख्या सुधा
७ अहिर्बुध्न्य संहिता
८ आनंद रामायण
९ आलवन्दार स्तोत्र तथा भाष्य
१० उत्तर रामचरित
११ उपनिषद—
  (१) ईशावास्योपनिषत्
  (२) कठ उ०
  (३) गर्भोपनिषत्
  (४) गोपालोत्तर तापिनी उ०
  (५) छांदोग्य उ०
  (६) तैत्तिरीय उ०
  (७) नृसिंह पूर्वतापिनी उ०
  (८) बृहदारण्यक उ०
  (९) महानारायण उ०
  (१०) मुण्डक उ०
  (११) रामपूर्वतापिनी उ०
  (१२) रामोत्तरतापिनी उ०
  (१३) शाण्डिल्योपनिषत्
  (१४) श्वेताश्वतर उ०
१२ कथा सरित्सागर

१३ काशी इतिहास (भाउ शास्त्री)
१४ कोशल खंड
१५ गरुड़ पुराण
१६ गीता
१७ श्रीरामानुजभाष्य (गीताभाष्य)
१८ श्रीशांकरभाष्य (गीता शा० भाष्य)
१९ गुणरत्नकोश
२० गुण सुधासार
२१ श्रीगुरु चरित्र मराठी
२२ जाग्रीफ़िकल डिक्शनरी (नंदलालदे)
२३ तंत्र सार शारदा तिलक
२४ तुलसी रचनावली (श्रीसीताराम प्रेस, काशी)
२५ देवीभागवत पुराण
२६ जिज्ञासा पंचक
२७ नारद पाञ्चरात्र
२८ नारद भक्तिसूत्र
२९ निघंटु (वैदिक शब्दोंका संग्रह)
३० निघंटु रत्नाकर
३१ निरुक्त (यास्कमुनि)
३२ नैषध (हर्ष कवि)
३३ पद्मपुराण
३४ पाणिनि
३५ वृहन्नारदीय पु०
३६ ब्रह्मपुराण
३७ ब्रह्मवैवर्त पुराण
३८ ब्रह्मसूत्र
३९ ब्रह्मांड पुराण
४० भगवद्गुणदर्पण
४१ भगवद्गुण दर्पण भाष्य
४२ भजनरत्नावली
४३ श्रीमद्भागवत
४४ भावरसामृतसिंधु
४५ मत्स्यपुराण
४६ मनुस्मृति
४७ महारामायण
४८ मेदिनी कोश
४९ मौलि संहिता
५० यतीन्द्र प्रवण प्रभाव हिन्दी-अनुवाद
५१ युक्तिकल्पतरु
५२ योगकल्पद्रुम
५३ योगसूत्र (पातंजलि)
५४ श्री रङ्गराजस्तवराज
५५ रघुवंश
५६ रसिक विहारी
५७ रामस्तवराज
५८ रत्नावली
५९ रत्नावली भावप्रकाशिका टीका श्रीरामरसरङ्गमणि (सं० १९८६)
६० रुद्रयामल
६१ वामन पुराण
६२ वायुपुराण
६३ वाराहपुराण
६४ वाल्मीकीय रामायण
६५ वाल्मीकीय शिरोमणि टीका
६६ विवाह पद्धति (वायुनन्दन)
६७ विश्वकोश
६८ विष्णुसहस्रनाम
६९ विष्णुधर्म
७० विष्णु पुराण
७१ बिहारी
७२ वृहद ब्रह्मसंहिता
७३ वृहत् संहिता
७४ वेद–साम, ऋग्, यजु, अथर्व
७५ शतपथ ब्राह्मण प्रथम हविर्यश खण्ड
७६ शिवसंहिता
७७ शैवागम
७८ सत्योपाख्यान
७९ सनत्कुमार संहिता
८० समयादर्श
८१ स्मृति संग्रह
८२ साहित्य दर्पण
८३ स्कन्द पुराण
८४ श्रीसीतारामनामप्रताप प्रकाश (सी० रा० ना० प्र० प्र०)
८५ हनुमन्नाटक (हनु० ना०)
८६ श्री. हयग्रीव स्तोत्र
८७ हयशिरोपाख्यान
८८ हरिवंशपुराण
८९ हिन्दी शब्दसागर सन् १९१४

❀ श्रीः ❀

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्य्याय ।
श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।
ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै
श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।
ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपद प्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते ।
ॐ साम्ब शिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।
परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः ।
श्रीविनयपत्रिकाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः ।
श्रीविनयपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः ।
श्रीविनयपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः ।
श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः श्रीभरताय नमः श्रीलक्ष्मणाय नमः श्रीशत्रुघ्नाय नमः ।
यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्म व्यामोहतस्तदितराणि तृणायमेने ।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धो श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्य ॥

श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासरचित

'विनय-पत्रिका'

सहित

'विनय-पीयूष' तिलक

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

पद ४० (१७५)*

जयति[1] संत्रु करि केसरी सत्रु-घन[2]-तम-तुहिन-हर किरनकेतू ।
देव महिदेव महि धेनु सेवक सुजन सिद्ध मुनि सकल कल्यान हेतू ।१।

---

* मूल पदोंमें कोष्ठकोंमें जो अंक हैं वे संवत् १६६६ वाली पोथीके अंक हैं ।

[1] जयति—६६, रा०, ज०। जयति जय—प्रायः औरोंमें । [2] सत्रुघन—६६ । सत्रुसूदन सत्रु सु—रा० । सत्रुहन संत्रु—प्रायः औरोंमें ।

जयति सर्वांग सुंदर सुमित्रा-सुअन भुअन-बिख्यात भरतानुगामी ।
वर्म-चर्मासि-धनुबान-तूनीरधर सत्रुसंकटसमन यत्प्रनामी[3] ।२॥
जयति लवनांबुनिधि कुंभसंभव महादनुज दुर्जन दलन[4] दुरितहारी ।
लक्ष्मनानुज भरत-राम-सीताचरनरेनु-भूषित-भाल तिलक-धारी ।३।
जयति श्रुतिकीर्तिवल्लभ सुदुर्लभसुलभ[5] नमत[6] नर्मद[7] भक्त भक्तिदाता
दास तुलसी चरन सरन सीदत विभो पाहि दीनार्त्त-संतापहाता ।४।

शब्दार्थ—केसरी=सिंह । सत्रु-घन = श्रीशत्रुघ्नजी । = शत्रु + घन = शत्रुरूपी घने । तुहिन = पाला; कुहरा; कुहासा; तुषार । वह हवामें मिली हुई भाप जो सर्दीसे जमकर और सूक्ष्म जलकणके रूपमें हवासे अलग होकर गिरती है और पदार्थोंपर जमती दिखाई देती है । किरनकेतू = किरण जिसकी ध्वजा है । = सूर्य । जैसे 'धूमकेतू' = धूम जिसकी ध्वजा है = अग्नि । महिदेव=भूसुर=ब्राह्मण । सुजन = सज्जन, संत, सत्पुरुष । सिद्ध = एक देवजाति । = जो योगद्वारा अष्टसिद्धिको प्राप्त कर चुके हैं । लवनांबुनिधि = 'लवण + अंबुनिधि' = लवणासुररूपी समुद्र । लवणासुर—टि० ३ (क) में देखिए । वर्मचर्मासि = वर्म (कवच + चर्म (ढाल) + असि (तलवार) । तूनीर (तूणीर) = तरकश । कुंभसंभव = घटसे उत्पन्न श्री अगस्त्यजी । भूषित = अलंकृत, शोभित । श्रुतिकीर्ति = श्रीकुशध्वज महाराजकी दूसरी कन्या जो श्रीशत्रुघ्नजीको ब्याही गईं । नर्मद = सुख और कल्याणके देनेवाले । सीदत = कष्ट झेलता है, दुःख पा रहा है । यथा 'तुलसीदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हारि निठुराई ॥११२॥', 'सीदत साधु साधुता सोचति बिलसत खल हुलसति खलई है ।१३६।' संताप = आध्यात्मिक, आधिदैविक

---

[3] यत्प्रणामी—रा०, ह०, ५१,७४,१५, आ० । बे० में 'यत् प्रनामी' का 'जन्नमामी' बनाया है । भा० में 'जगप्रनामी' है, पर हाशियेपर 'यत्' है । तव प्रणामी—वै० । ६६ में यहाँ कागज़ चपका हुआ है । यन् प्रनामी—प्र० ।
[4] दलन—६६ । दर्प—ज०, १५ । दवन—प्रायः औरोंमें ।
[5] महा—प्र०, ज० ।
[6] नमित—भा०, ह०, वै० ।
[7] भक्त भक्ति—६६, रा०, प्र०, ५१,७४, ह०, मु०, डु० । भक्त अभय—भा०, बे०, ज० । भक्त मुक्ति—भ० । भक्ति मुक्ति—दीन, वि० ।

और आधिभौतिक ताप। (१)आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक दो प्रकारके हैं। यथा 'आध्यात्मिकोऽपि द्विविधश्शारीरो मानसस्तथा। वि० पु० ६।५।२।' शारीरिक कष्टभेदसे दैहिक तापके कितने ही भेद हैं; जैसे कि शिरोरोग, प्रतिश्याय (पीनस), ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, बवासीर, शोथ (सूजन), श्वास, छर्दि तथा नेत्ररोग, अतिसार और कुष्ठ आदि। मानसिक तापके भेद 'काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया (गुणोंमें दोषारोपण), अपमान, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि। (२) आधिदैविक दुःख वे हैं, जो शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, जल और विद्युत् (बिजली) आदिसे प्राप्त होते हैं।—'शीतवातोष्णवर्षाम्बुवैद्युतादि समुद्भवः।...कथ्यते चाधिदैविकः। श्लोक ८।' (३) आधिभौतिक वे दुःख हैं, जो मृग, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, राक्षस और बिच्छू आदिसे प्राप्त होते हैं।—'मृगपक्षिमनुष्याद्यैः पिशाचोरगराक्षसैः। सरीसृपाद्यैश्च नृणां जायते चाधिभौतिकः। वि. पु. ६।५।७।'

पद्यार्थ—शत्रुरूपी हाथीके लिये सिंहरूप, शत्रुरूपी घोर अंधकार और पालाको हरनेके लिये सूर्यरूप, देवता, ब्राह्मण, पृथ्वी, गौ, सेवक, सज्जन, सिद्ध और मुनि सभीका सब कल्याण करनेवाले श्रीशत्रुघ्नजीकी जय हो।१। सर्वाङ्ग सुन्दर (जिनके सभी अङ्ग सुन्दर हैं), श्रीसुमित्राजीके पुत्र, समस्त लोकोंमें प्रसिद्ध श्रीभरतजीके सेवक, कवच, ढाल, तलवार, धनुष, बाण और तरकश धारण करनेवाले, और जो प्रणाम करनेवालेके शत्रुद्वारा पहुँचाये हुए संकटके नाशक हैं, उन आपकी जय हो।२। लवणासुररूपी समुद्र (को सोखने) के लिये अगस्त्यरूप, बड़े-बड़े दानवों और दुष्टोंको दल डालनेवाले, पापोंको हरनेवाले, श्रीलक्ष्मणजीके छोटे भाई, श्रीभरतजी, श्रीरामचन्द्रजी और श्रीसीताजीके चरणरजसे भूषित मस्तकपर तिलक धारण करनेवाले* (अर्थात् जिनका मस्तक चरणरजका तिलक धारण करके शोभित है)! आपकी जय हो।३। श्रीश्रुतिकीर्तिजीके प्राणप्यारे (पति), (दुष्टोंको) अत्यन्त दुर्लभ और सज्जनोंको सुलभ, प्रणाम करते ही सुख और

---

* अर्थान्तर—१ मस्तकपर सुन्दर तिलक धारण करनेवाले। (वि०)। २—चरणरजका तिलक लगाकर अपनेको विभूषित करनेवाले हैं (इनके परम भक्त हैं)।—(दीन)।

कल्याणके देनेवाले तथा भक्तोंको भक्ति के दाता ! आपकी जय हो। आपके चरणोंकी शरणमें प्राप्त तुलसीदास कष्ट पा रहा है। हे समर्थ ! हे दीन दुखियोंके सन्तापके नाश करनेवाले ! मेरी रक्षा कीजिये ।४।

टिप्पणी—१ 'जयति सत्रुकरिकेसरी···' इति। (क) 'सत्रु करि केसरी'—भाव कि जैसे सिंह हाथीको विदीर्ण कर डालता है, सिंहके देखते ही हाथी काँप उठता है, वैसेही शत्रुपर जब इनकी दृष्टि पड़ी और वह इनको देखता है तो काँप उठता है और ये शत्रुका नाश उत्साहपूर्वक करते हैं। इससे इनका तेज, पराक्रम और उत्साह दिखाया। इनके सहोदर भ्राता श्रीलक्ष्मणजीके संबन्धमें जो तेज आदि कहे गये हैं, यथा 'मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंहकिसोरहिं चोप। १।२६७।', 'तेजनिधान लषन पुनि तैसे॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरिकिसोर के ताकें।१।२९३।', वे यहाँ 'करि-केसरी' की उपमा देकर श्रीशत्रुघ्नजीमें भी सूचित किये हैं। (ख) 'सत्रुघन तम···' इति। यहाँ 'शत्रु-घन' से शत्रु करि-केसरीका नाम भी 'शत्रघ्न' बता दिया और फिर दोनोंको अलग-अलग लेनेसे 'घन'को दीपदेहली न्यायसे 'तम तुहिन' के साथ भी विशेषणरूपसे रखकर शत्रुकी उपमा 'घन तम तुहिन' से दी। इसप्रकार 'शत्रुघन' का अन्वय दो बार होगा।—'सत्रुघ्न सत्रु-घनतमतुहिन हर···'। यह काव्यका चमत्कार है। (ग) 'घन तम तुहिन हर किरनकेतू' इति। घना घोर अन्धकार और पाला, कुहासा सूर्यकी किरणोंसे सहजहीमें नाशको प्राप्त होते हैं। मिलान कीजिये—'हिम-तम-करि केहरि- करमाली ।२।', 'दिनकर कें उदय जैसे तिमिर तोम फटत ।१२६।' यहाँ श्रीशत्रुघ्नजीको किरणकेतु (सूर्य) कहकर उनका प्रताप और उनको शत्रुओंका सहज नाशक कहा। एक बार 'केसरी' और फिर 'किरनकेतू'की उपमा इस प्रकार दो भावोंसे कही गई। (घ) 'शत्रुकरिकेसरी' कहकर फिर 'सत्रुघनतमतुहिन-हर किरनकेतू' कहनेका भाव कि बाहरके शत्रुओंका नाश प्रथम उपमासे कहा और भीतर अन्तःकरणके काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, अहंकार, तृष्णा, राग, द्वेष, मत्सर आदि शत्रुओंका नाश दूसरी उपमासे कहा। दूसरी उपमामें 'किरणकेतु' से सहजही नाशक कहा है। यह उनके स्मरणमात्रसे सुलभ हो जाता है। यथा 'जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ।१।१९७।८।' वाल्मीकिजीने इनको अनघ और नित्यशत्रुओंका नाशक कहा है। यथा 'गच्छता मातुलकुलं

भरतेन तदानघः। शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीति पुरस्कृतः।२।१।१।' (अर्थात् पिताकी आज्ञासे श्रीभरतजी अपने मामाके घर जाने लगे। वे निष्पाप शत्रुघ्नजीको भी अपनेमें प्रेम होनेके कारण साथ ले गए। जिस शत्रुघ्नने नित्य शत्रुओंको जीत लिया था)। पं० चन्द्रशेखरशास्त्रीने वाल्मीकीयकी टीकामें 'नित्यशत्रुओं' से 'राग-द्वेष' आदिका ही ग्रहण किया है।

विनयके अनेक पदोंमें मानसिक विकारोंको भी तमकी उपमा दी गई है। यथा 'रागादि तम तरनि तारुन्य तनु तेजधामं। ५१ (१)।', 'अति प्रबल मोह तम मार्तंड। ६४ (४)।', 'मोह निसि-निबिड़-जमनांधकारं। ५२ (६)।', 'तरल तृष्ना तमी तरनि। ५४ (८)।', 'सघन-तम-घोर-संसार-भर-सर्वरी नाम दिवसेस खर किरनमाली। '५५ (३)।' इसी प्रकार तुषारको मोह आदि कहा गया है; यथा 'मोह निहार दिवाकर संकर। ६ (४)।', 'अहंकार निहार उदित दिनेस। १३ (४)।', इत्यादि।—अतएव 'तम तुहिन' से मानसिक शत्रु कहे गए।

काम, क्रोध और लोभको भी 'करि' की उपमा दी जाती है, यथा 'मार-करि-मत्त-मृगराज। ४६ (५)।', 'कंदर्प नाग मृगपति मुरारि। ६४ (६)।', 'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरिसावक जनमन वन के।१।३२।७।', 'लोभ अतिमत्त नागेंद्र पंचाननं। ४३ (४)।' इस तरह शत्रुकरिकेशरीसे काम-क्रोध-लोभ अति प्रबल खलोंके और 'तम-तुहिनहर किरणकेतू' से राग, द्वेष, तृष्णा, आदि अन्य मानस-शत्रुओंके नाशक सूचित किया।

[पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि अज्ञानको तमकी तरह और कामादिको तुषारकी तरह नष्ट करते हैं। अज्ञान आच्छादक है और कामादि तुषारकी तरह जड़ता प्राप्त करानेवाले हैं।]

१(ङ) वेदान्तभूषणजीका मत है कि सिंह आधिभौतिक शत्रु है और तम आध्यात्मिक शत्रु है। तम कहींसे आता नहीं, अपितु प्रकाशाभावका नाम ही तम है। तुहिन पृथ्वीके ऊर्ध्वसे आनेके कारण आधिदैविक कोटिमें है। अतः त्रितापजनक शत्रुओंके नाशक होनेसे शत्रुघ्न नाम अन्वर्थक है।

१ (च). 'देव महिदेव ' ' ' इति। पूर्वार्धमें शत्रुकरिकेशरी आदि विशेषण देकर 'देव महिदेव महि' कहनेका भाव कि इनके शत्रुओंका नाश करके आपने इन सबोंका कल्याण किया। 'सकल' दीपदेहली

है। "··मुनि सकल', 'सकल कल्यान हेतू।' 'सकल कल्याण' अर्थात् आयु, श्री, यश, धर्म आदि। यथा 'आयुः श्रियं यशो धर्मंलोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः। भा० १०।४।४६।' (साधुओंसे द्वेष करनेसे पुरुषकी आयु, श्री, धर्म, शुभ लोक, सुख आदि समस्त कल्याण नष्ट हो जाते हैं)।

१ (छ) 'जयति'—आपकी जय हो; आपका अवतार जिस लिये हुआ वह सफल हो, आपको प्रणाम है।—ये सब भाव 'जयति' से कहे। विशेष पद ४३ (१) नोट १ में लिखा गया है।

टिप्पणी-२ 'जयति सर्वांग सुंदर'··' इति। (क) 'सर्वांग सुंदर'—चारों भाई रूप, शील और गुणके धाम हैं। यथा 'चारिउ सील रूप गुनधामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा।१।१९८।६।' श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी गौरवर्ण हैं। श्रीलक्ष्मणजीको 'रूपनिधान', 'लावन्यसिंधु'—(यथा 'रूपके निधान धनु बान पानि···।३७(३)।', 'चारुचंपक बरन बसनभूषनधरन दिव्यतर भव्य लावन्यसिंधो।।३८(२)।',—कहकर जैसा सुन्दर पद ३७, ३८ में बताया था, वैसाही सुन्दर इनको 'सर्वांग सुंदर' कहकर जना दिया। क्योंकि दोनों भाइयोंका रूप एकसा है। यथा 'लषन सत्रुसूदन एकरूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा।१।३११।' (यह जनकपुरवासियोंके वाक्य हैं)। इससे निज तनकी नीरोगता और श्रेष्ठता कही।

२ (ख) 'सुमित्रा सुअन' से जनाया कि परम भक्त हैं और माताके कहनेमें हैं। लक्ष्मणजीको शक्तिसे मूर्च्छित सुनकर माताने इनसे कहा था कि 'बेटा! तुम श्रीरामजीकी सहायताके लिये जाओ, वे अकेले हैं।' यह आज्ञा सुनते ही आप तुरन्त तैयार हो गए। धन्य ऐसी परम भक्ता माता और धन्य उनके ऐसे आज्ञाकारी पुत्र!! यथा "सुनि रन घायल लषन परे हैं। स्वामि काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकि लरे हैं।। सुवन सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति भगति बरे हैं। छिन-छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं। कपि सों कहत सुभाय अंबके अंबक अंबु भरे हैं। रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं।। तात जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं। प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधि बस सुढर ढरे हैं।।..." (गी० ६।१३)। ☞ स्मरण रहे कि श्रीसुमित्राजी परम भक्ता थीं, इसीसे उनको 'उपासना' का रूप कहा जाता है। वे भगवान् श्रीरामका ऐश्वर्य जानती

थीं। वनवासके समय उन्होंने शोकाकुल श्रीकौशल्याजीको 'राम' के स्वरूपका ज्ञान कराके उनका शोक शान्त किया है। वे कहती हैं—'देवि ! राम सूर्यके भी सूर्य हैं, अग्निके भी अग्नि हैं। वे प्रभुके प्रभु, लक्ष्मीके भी लक्ष्मी, कीर्तिके भी कीर्ति क्षमाके भी क्षमा और देवताओंके भी देवता हैं। 'राम' ही संपूर्ण भूतोंको सत्ता प्रदान करनेवाले हैं। वे वनमें रहें या नगरमें उनका क्या अमंगल हो सकता है? किसीसे भी परास्त न होनेवाले वल्कल-वस्त्रधारी रामके पीछे सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी गई हैं।...।' (वाल्मी० २।४४।१५,१६,१९)।—ऐसी श्रेष्ठ परम भक्तिवती उनकी माता हैं।

☞ इस तरह 'सुमित्रा सुअन' कहकर उनका जन्म वा उत्पत्तिस्थान पवित्र और उत्कृष्ट दिखाया।

२ (ग) 'भुअन बिख्यात भरतानुगामी' इति। श्रीशत्रुघ्नजी महाभागवत प्रसिद्ध हैं। ये भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीके सेवक थे। यथा 'भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई।१।१९८।४।' कैकयदेशमें श्रीभरतजीके ननिहालमें भी ये उनके साथ गये थे और श्रीदशरथजीके स्वर्गवासके पश्चात् वहींसे साथ आये तथा साथही चित्रकूट गए। ये श्रीभरतजी के आज्ञाकारी हैं, इसके दो तीन उदाहरण मानसमें हैं—एक तो शृङ्गवेरपुरमें 'भाइहि सौंपि मातु सेवकाई' श्रीभरतजी निषादराजके साथ वहाँ गए जहाँ श्रीरामजीने रात्रिमें विश्राम किया था। दूसरे, वहाँसे चलते समय माताओंकी पालकीके साथ इनको कर दिया था। यथा 'साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा' (२।२०३।२) और स्वयं पीछे पैदल-पैदल चले थे। फिर चित्रकूटमें श्रीसीताजीके पास श्रीरघुनाथजीने इन्हींको छोड़ा था। इत्यादि। भरतानुगामी होनेके कारण ही तो श्रीलक्ष्मणजीने भी इन्हें श्रीभरतजीका भाई कहकर विशेषित किया है। यथा 'आए दल बटोरि दोउ भाई', 'सोवहु समर सेज दोउ भाई', इत्यादि। और उत्तरकांडमें कविने कहा है—'लछिमन भरतानुज तब भेंटे।' ☞ इस तरह, भरतानुगामी कहकर संग पवित्र और श्रेष्ठ जनाया।

२ (घ) 'वर्मचर्मासिधनुबानतूनीरधर...' इति। चर्म, असि, धनु, बाण धारण करनेसे ज्ञात हुआ कि आप तलवार चलानेकी विद्यामें तथा अपनी रक्षा करनेमें परम कुशल हैं, साथही धनुर्विद्यामेंभी निपुण हैं। इससे उनको अस्त्र और शस्त्र दोनों विद्याओंमें कुशल और वीर जनाया।

२ (ङ) 'सत्रुसंकटसमन यत्प्रनामी' इति। 'यत्' को 'सत्रु संकट समन' के साथ अन्वय करनेसे दो तरह अर्थ हो सकता है।—(१) 'जो शत्रुके (शत्रुकृत) संकटके नाशक हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।'—यहाँ 'प्रनामी'=प्रणामि (प्रणमामि)। (२) 'जो प्रणाम करनेवालेके शत्रुकृत संकटके नाशक हैं।'—यहाँ 'प्रनामी सत्रुसंकट' ऐसा अन्वय करना होगा। 'प्रनामी'=प्रणाम करनेवाले (के)।* ☞ प्रणाम तो बहुत है, इनके तो स्मरण-मात्रसे शत्रुका नाश हो जाता है; यथा 'जाके सुमिरन ते रिपु नासा।…' ☞ इससे इनके स्वभावकी श्रेष्ठता दिखाई।—इस तरह जन्म, शरीर, संग और स्वभाव चारों प्रकारसे श्रेष्ठ जनाया।

३ (क) लवणासुर के वध-प्रसंग की कथा

एक बार वसन्तऋतुमें सौसे अधिक यमुनातीर-निवासी उग्रतपस्वी महर्षि भृगुपुत्र महर्षि च्यवनको आगे करके श्रीरामजीके दरबारमें आये और समस्त तीर्थोंके जलसे भरे हुए घड़े तथा फल-मूल उनको भेंट किये। भेंट स्वीकार कर श्रीरामजीने उनको आसन दिये और कहा—'आपलोगोंका शुभागमन किस कार्यवश यहाँ हुआ है? मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आज्ञा मिलनेपर मैं आपकी सभी कामनायें पूर्ण कर सकता हूँ…।' महर्षिगण प्रसन्न होकर बोले कि आपने हमारे आनेका कारण जाने बिना ही केवल ब्राह्मणोंके प्रति आदरभाव होनेसे हमारा काम करनेकी प्रतिज्ञा कर डाली है, अतः आप अवश्य महान् भयसे हमारी रक्षा कर सकेंगे। (वाल्मी० ७।६०)।

श्रीच्यवनजीने भयका मूलकारण इस प्रकार बताया—सत्ययुगमें दैत्यकुलमें लोलाके गर्भसे 'मधु' नामक धर्मात्मा पुत्र हुआ। उसने धर्मानुष्ठानपूर्वक भगवान् शिवकी बड़ी आराधना की, जिससे प्रसन्न होकर शिवजीने उसे एक शक्तिशाली शूल देकर कहा कि 'जबतक तुम देवताओं और ब्राह्मणोंसे विरोध न करोगे तभीतक यह तुम्हारे पास रहेगा। जो पुरुष निःशङ्क होकर तुमसे युद्ध करने आयेगा उसे भस्म

---

* भावार्थान्तर—(१) जिनको प्रणाम करनेसे शत्रुसे किये गये संकट दूर हो जाते हैं, उन्हें प्रणाम करता हूँ। (भ०)। (२) अतः आपका रूप ऐसा है जिसको प्रणाम मात्र करनेसे शत्रुसंकटका शमन हो जाता है। (दीन)।

कर यह शूल पुनः तुम्हारे हाथमें लौट आवेगा।—'तं शूलो भस्मसात्कृत्वा पुनरेष्यति ते करम्। वाल्मी० ७।६१।६।' यह वर पाकर उसने प्रार्थना की कि यह शूल मेरे वंशजोंके पास भी सदा रहे। श्रीशिवजीने ऐसा वर न देकर यह वर दिया कि 'तुम्हारे एक पुत्रके पास रहेगा। जबतक यह शूल उसके हाथमें रहेगा तबतक वह समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य बना रहेगा'—'यावत् करस्थः शूलोऽयं भविष्यति सुतस्य ते। अवध्यः सर्वभूतानां शूलहस्तो भविष्यति।श्लो० १४।'

विश्वावसुकी कन्या कुम्भीनसी, जो अनलाके गर्भसे उत्पन्न हुई थी, मधुकी पत्नी थी। उसका पुत्र लवणासुर है। यह जन्मसे महान् दुष्ट और पापाचाररत हुआ। इससे मधुको बड़ा शोक हुआ और वह इस देशको छोड़कर चला गया। चलते समय यह शूल पुत्रको दे दिया और शिवजीका वरदान बता दिया। लवणासुर महापराक्रमी और बड़े भयंकर स्वभावका तो जन्मसे ही था और अब तो उसके पास शक्तिशाली शूल भी आगया, इससे अब वह तीनों लोकोंको और विशेषतः तपस्वी मुनियोंको संताप देता है। अब आपही हमारी परम गति हैं—'त्वं हि नः परमा गतिः।' भयसे पीड़ित हमलोगोंकी उससे रक्षा कीजिए। (वाल्मी० ७।६१)

फिर श्रीरामजीके पूछनेपर उन्होंने बताया कि लवणासुर सदा मधुवनमें रहता है। वह प्रतिदिन सहस्रों सिंह, व्याघ्र, मृग, पक्षी और मनुष्यों आदि जीवोंको और विशेषतः तपस्वी मुनियोंको मारकर खा जाता है। यह सुनकर उन्होंने महर्षियोंके सामने ही श्रीशत्रुघ्नजीको लवणासुरके वधकी आज्ञा दी और मधुपुरीके राजाके पदपर उनका विधिपूर्वक अभिषेक कर दिया जिससे महर्षियोंको लवणासुरके मारे जानेका विश्वास हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने शत्रुघ्नजीको वह दिव्य अमोघ बाण दिया जिससे क्षीरशायी भगवान् नारायणने मधुकैटभ दैत्योंको मारा था और समझाया कि "लवणके पास जो श्रीशिवदत्त शूल है उसका वह प्रतिदिन बारंबार पूजन करता है और उसे महलमें गुप्तरूपसे रखकर समस्त दिशाओंमें जा-जाकर अपने लिये आहारका संग्रह करता है। अतः जिस समय वह शूल उसके पास न हो और वह नगरमें भी न पहुँच सका हो, उसी समय पहलेसे ही नगरके द्वारपर जाकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये उसकी प्रतीक्षामें डटे रहो। यदि उस राक्षसको महलमें घुसनेसे पहले ही तुम युद्धके लिये लल-

कारोगे तो उसका विनाश होकर ही रहेगा। यही उसके शूलसे बचनेका उपाय है" (वाल्मी.७।६३।१६-३१)।

विशाल सेना और धन देकर श्रीरघुनाथजीने फिर समझाया कि 'सेनाको अभीसे भेज दो जिसमें वह ग्रीष्मके बीतते-बीतते गंगापार हो जाय। सेनाको गंगातट पर ठहरा देना। तुम अकेले ही केवल धनुषको लेकर मधुबनको जाना। तुम्हारी गति-विधिका पता लवणको न मिले। जब ग्रीष्मऋतु निकल जाय और वर्षाकाल आ जाय तब तुम उसका बध करना।' उपदेशानुसार सेनाको ऋषियोंके साथ भेजकर श्रीशत्रुघ्नजीने एक मास श्रीरामजीके पास रहकर तब यहाँसे प्रस्थान किया। (वाल्मी० ७।६४)। वाल्मीकि आश्रम होते हुए वे यमुनातटवासी महर्षियोंके आश्रममें पहुँचकर वहीं रहने लगे। (सर्ग ६५-६६)

प्रातःकाल जैसे ही लवण आहार-संग्रहार्थ नगरसे बाहर निकला वैसेही श्रीशत्रुघ्नजी यमुनाको पार करके हाथमें धनुष लिये मधुपुरीके द्वारपर खड़े हो गये। मध्याह्नमें जब वह हजारों मृत प्राणियोंका बोझा लिये लौटा, तब इनको अस्त्रशस्त्र लिये द्वारपर देखकर वह बहुत कठोर वचन बोला। इन्होंने परिचय देते हुए यह भी कहा कि "मेरा नाम 'शत्रुघ्न' है और मैं हूँ भी शत्रुओंका नाशक ! मैं तेरा वध करनेकी इच्छास आया हूँ"; तू मुझसे द्वन्द्वयुद्ध कर।-'शत्रुघ्नो नाम शत्रुघ्नो वधाकांक्षी तवागतः॥ ६८। ११।...द्वन्द्वयुद्धं प्रदीयताम्।' उसने कहा कि युद्धकी इच्छा है तो मुहूर्तभर ठहर जा, मैं अपना अस्त्र लेकर आता हूँ। इसपर इन्होंने उत्तर दिया कि बुद्धिमान् पुरुषको अपने आगे आये हुए शत्रुको छोड़ना न चाहिए—'स्वयमेवागतः शत्रुर्न मोक्तव्यः कृतात्मनः। श्लो०१६।' तू तीनों लोकों तथा श्रीरामजीका शत्रु है, अतः तुझको अभी यमलोक भेजता हूँ। द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। उसने बार-बार इनपर वृक्ष चलाये और इन्होंने बाणोंसे काट-काट डाले। बाणोंसे वह विचलित न हुआ। अन्तमें उसने एक वृक्ष इनके सिरपर दे मारा, जिससे ये भूमिपर गिर गए, इनको मूर्छा आगई। राक्षसने समझा कि ये मर गए। इससे अवसर पानेपर भी वह घरमें शूल लेने न गया, अपनी भोजनसामग्रीको बटोरने लगा। एक मुहूर्त भरमें शत्रुघ्नजीको होश आया और वे पुनः द्वारपर अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो गए। अब उन्होंने श्रीरामजीके दिये हुये दिव्य

कालाग्निके समान प्रज्वलित बाणको हाथमें लेकर सिंहनाद करते हुए लवणासुरको ललकारा। युद्धके लिये सामने आनेपर इन्होंने धनुषको कर्णपर्यन्त खींचकर उस महाबाणको राक्षसके वक्षःस्थलपर छोड़ दिया, जिससे उसका हृदय विदीर्ण हो गया और वह मरकर पृथ्वीपर गिर गया। वह दिव्यास्त्र पुनः श्रीशत्रुघ्नजीके पास लौट आया। लवणके मरते ही 'शूल' भगवान् रुद्रके पास चला गया। (सर्ग ६९)।

३ (ख) 'जयति लवनांबुनिधि कुंभसंभव....' इति। उपर्युक्त लवणासुरवधकी कथासे स्पष्ट है कि "श्रीशत्रुघ्नजीकी वन्दनाका 'शत्रुकरिकेशरी शत्रुघन तम-तुहिन-हर...' विशेषणोंसे क्यों आरंभ हुआ।" क्योंकि इन्होंने लवणासुरसे यह कहा था कि "मेरा नाम 'शत्रुघ्न' है, और मैं हूँ भी शत्रुओंका संहार करनेवाला"।—'शत्रुघ्नो नाम शत्रुघ्नो' (वाल्मी० ७।६८।११।) ये दोनों बातें प्रथम चरणमें कही गई हैं। अन्य भाइयोंकी स्तुति इस प्रकार नहीं हुई है।

३ (ग) लवणासुरको 'अंबुनिधि' कहा। अंबु=जल। समुद्र जलका अधिष्ठान है, वैसेही लवणासुर बल और शूलरूपी जलसे (और बैजनाथजीके मतसे बल-प्रताप-वीरतादि जलसे) पूर्ण था। यथा 'मम भुजसागर बल जल पूरा ।६।२८।' (यह रावणने अपने संबंधमें कहा है)। समुद्रमें बहुतेरे जहाज आदि डूबते हैं और कोई समुद्रका पार नहीं पाता। वैसेही अनेक शूरवीर राजा इसके हाथसे मारे गए, अनेक तपस्वियोंको यह खा गया—यही डूबना है। यथा 'जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा।। बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा ।।६।२८।' यह खारा समुद्र है, 'लवण' (नमक) भी खार है। खारे समुद्रको 'कुंभज' ने नाम लेकर सोख लिया, वैसेही सबसे छोटे भाई शत्रुघ्नजीने श्रीरामदत्तबाणसे लवणासुरके बलरूपी जलको सोख लिया, उसका वध किया, अत्याचारका अन्त किया। शत्रुघ्नजीने लवणरूपी समुद्रको उसके नगरद्वाररूपी समुद्रतटपर जाकर सोख लिया, जैसे अगस्त्यजीने तटपर जाकर समुद्रको सोखा था। ☞ समुद्र-कुंभजका रूपक इस विचारसे बहुत सुंदर है कि समुद्रका बल अगाध जल है, जिसके अभिमानसे वह किसीको कुछ नहीं समझता। वैसेही लवणासुरको शिवदत्त शूलका भारी बल था। शत्रुघ्नजीने उसे उस शूलतक पहुँचने ही न दिया, उसका बलरूपी जल प्रथम ही सोख लिया।

'कुंभसंभव' इति। महर्षि अगस्त्यजी वेदोंके एक मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं। इनकी उत्पत्तिके संबंधमें विभिन्न प्रकारकी कथायें मिलती हैं। कहीं श्रीपुलस्त्यजीकी पत्नी हविर्भू के गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्ति पाई जाती है और कहीं पुलस्त्यपुत्र दत्तोलि ही अगस्त्य नामसे प्रसिद्ध हुए। गोस्वामीजीने 'कुंभसंभव', 'कुंभज', 'घटज', 'घटयोनी' और 'घटसंभव' नाम अपने रचित ग्रन्थोंमें देकर इनको मित्रावरुणके द्वारा श्रीवसिष्ठजीके साथ घड़ेसे उत्पन्न होना माना है। ये महर्षि संपूर्ण लोकोंके द्वारा पूजित तथा सज्जनोंके हितमें सदा लगे रहनेवाले हैं। इनके समुद्रसोषण, क्रूर स्वभाववाले वातापि और इल्वलका सहजहीमें नाश, पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्यकी बाढ़को रोकना आदि तीनों लोकोंमें विख्यात हैं। ये अपने कर्मसे संसारमें 'अगस्त्य' नामसे प्रसिद्ध हुए हैं।—'अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा। वाल्मी ३।११।७६।' 'अगस्त्य' का अर्थ है—'जो अग अर्थात् पर्वतको स्तंभित कर दे।' 'अगं पुर्वतं स्तम्भयति इति अगस्त्यः।' देवताओंका दुःख मिटानेके लिये इन्होंने नामके बलसे समुद्रको एक चुल्लूमें ही पी लिया, इसीसे इनका नाम 'समुद्रचुलुक' भी है। समुद्रशोषणकी कथा 'तज्ञमज्ञान पाथोधि घटसंभवं। १२ (५)।' के पद्यार्थकी पाद-टिप्पणीमें देखिए। ये बड़े ही रामभक्त हैं। इनके द्वारा रचित 'अगस्त्यसंहिता' उपासनासंबंधी बड़ा सुंदर ग्रन्थ है।

३ (घ) 'महादनुज दुर्जन दलन'—यह लवणासुरका विशेषण भी है और इससे अन्य बड़े-बड़े दैत्यों दुष्टोंका भी ग्रहण हो सकता है। लवणासुररूपी समुद्रके बलरूपी जलका शोषण कर फिर उसका नामभी उसे मारकर मिटा दिया, जिसमें फिर न भरने पावे, यह भाव 'महादनुज...' से ले सकते हैं। 'दुरितहारी' से जनाया कि मारकर उनको पापरहित कर देते हैं, जिससे उनकी सद्गति होती है। यह दिव्य बाण तथा धर्मात्माके हाथसे मृत्युका फल दिखाया। लवणासुरको भी मारकर उसके पाप नष्ट कर उसको सद्गति दी।

३ ङ) 'लक्ष्मनानुज' इति। ऊपर 'सुमित्रासुअन' कहा और यहाँ लक्ष्मणानुज। पूर्व पद ३८ में श्रीलक्ष्मणजीको 'सुमित्रा सुवन सत्रुसूदन राम-भरत-बंधो' कह आये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट कर दिया कि श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी दोनों श्रीसुमित्राजीके ही पुत्र हैं, दोनों सगे भाई

हैं। 'अनुज' शब्दका प्रयोग 'छोटे भाई' के अर्थमें कविने प्रायः सर्वत्र किया है। इससे 'निज जननीके एक कुमारा' का जो लोग यह अर्थ करते हैं कि श्रीशत्रुघ्नजी श्रीकैकेयीजीके पुत्र हैं, उसका खंडन हो जाता है। श्रीरामाज्ञा प्रश्न सर्ग ७ में तो गोस्वामीजीने स्पष्ट कहा है—'सुमिरि सुमित्रा नाम जग जे तिय लेहिं सुनेम। सुवन लषन रिपुदवन से पावहिं पति पद प्रेम।१८।', इसमें संदेहकी जड़ ही कट जाती है।

३ (च) 'लक्ष्मनानुज भरत-राम-सीता…' इति। ऊपर दो कर्म कहे—एक तो लवणासुरका वध, दूसरा 'दुरित हरण'। यहाँ उन्हीं दोनोंके दो कारण दिये हैं। लक्ष्मणजीने शार्दूलविक्रम विपुल बलवान इन्द्रजित मेघनाद ऐसे बलवानका वध किया था और ये उन्हींके छोटे भाई हैं। दोनों यमज (जुड़वाँ) भाई हैं। अतः पराक्रम और बलमें उन्हींके समान हैं; इन्होंने महाबली लवणासुरका वध किया।

पुनः, जिनके चरणरजको पाकर चर अचर सुखी होते हैं, जिनका दर्शन श्रीसीतारामलक्ष्मणजीके दर्शनों एवं चारों फलोंका फलस्वरूप है, जिनका श्रीरामजी स्वयं जप करते हैं, उन श्रीभरतजीके चरणरजका प्रभाव कौन बखान कर सकता है? श्रीरामचरणरजने तो पाषाणको सुन्दर रूपवती स्त्री बना दिया और श्रीसीतारामजी अभिन्न हैं।—तब उनके चरणरजसे सुशोभित भालवाले श्रीशत्रुघ्नजी यदि पापोंका हरण करते हैं तो आश्चर्य ही क्या?

३ (छ) 'भरतरामसीता…तिलकधारी' कहकर श्रीशत्रुघ्नजीका इनमें दास्यभाव जनाया। श्रीभरतानुगामी होनेसे भागवतनिष्ठा तो इनकी प्रकट थी ही, किन्तु भगवत्‌निष्ठा प्रकट न थी, उसे कविने 'रामसीताचरनरेनु भूषित…' से प्रकट कर दी। श्रीसीताजीके चरणरजका शिरोधार्य करना चित्रकूटमें देखा गया है; यथा 'सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सियपद-पदुम परागा॥२।२४२।३।', 'प्रभु-पद पदुम बंदि दोउ भाई।…लषनहि भेंटि प्रनाम करि सिर धरि सियपद धूरि। चले सप्रेम असीस सुनि सकल सुमंगल मूरि।२।३१८।'

टिप्पणी—४ (क) 'जयति श्रुतिकीर्ति बल्लभ' इति। श्रीश्रुतिकीर्तिजी 'सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी' तथा 'रूप सील उजागरी' हैं (१।३२५ छंद), वैसेही श्रीशत्रुघ्नजी 'शील रूप गुण धाम।' (१।१६८) तथा 'सर्वांग सुन्दर' हैं। श्रीश्रुतिकीर्तिजी यदि 'स्वप्न' अवस्था हैं, तो श्रीशत्रुघ्नजी उनके विभु 'तैजस' हैं। श्रुतिकीर्तिजीके पति कहकर

जनाया कि संग व सहवास उत्तम है। पुनः उनके वल्लभ कहकर जनाया कि उनके द्वारा इनकी कृपा प्राप्त हो सकती है। ☞ पुनः 'श्रुतिकीर्ति बल्लभ' का भाव वैसा ही जानिये जैसा 'उर्मिलारमन' और 'मांडवी चित चातक नवांबुद' का पिछले पदों ३८ (५) और ३९ (५) में कह आये हैं।

५ (ख) 'सुदुर्लभ सुलभ' इति। अर्थात् कुयोगियों, दुर्जनोंको अत्यन्त दुर्लभ हैं। यथा 'भजामि भावबल्लभं कुयोगिनां सुदुर्लभं स्वभक्त कल्पपादपं···।३।४ छंद।' सु = अत्यन्त। भक्तों सज्जनोंको सुलभ हैं। कोई-कोई कहते हैं कि 'श्रुतिकीर्ति-बल्लभ' लिखकर 'सुदुर्लभ०' कहनेका भाव यह है कि बिना इनकी कृपाके श्रीशत्रुघ्नजीकी प्राप्ति 'सुदुर्लभ' है। इनके द्वारा वे 'सुलभ' हैं।

[पुनः, ये विशेषण देकर आपका ऐश्वर्यस्वरूप दिखाया है। ऐश्वर्यरूपसे (आप परब्रह्मके अंशावतार होनेसे) आपका दर्शन सबको दुर्लभ था, वही आप रघुवंशमें अवतार लेकर सबको सुलभ हो गए। (वै०)]

५ (ग) 'नमत नर्मद भक्त भक्तिदाता' इति। 'सुलभ' कहकर उनका सौलभ्य दिखाते हैं कि प्रणाममात्र करनेसे सुख और कल्याणके देनेवाले हैं—ऐसे सुलभ हैं। तथा प्रणाम-मात्रसे भक्तोंको भक्ति प्रदान कर देते हैं। इस सौलभ्यका कारण ऊपर प्रथम ही कह आये हैं कि मानसिक शत्रुओंके नाशक हैं, भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीके अनुगामी हैं। भागवतनिष्ठा, सेवककी सेवाका बड़ा भारी महत्व है; यथा 'सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि, सानुकूल सूलपानि नवै नाथ नाक को। देवी देव दानव दयावने है जोरैं हाथ···।' (बाहुक), 'रामहि सेवक परम पिआरा॥ मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई।२।२१९।' (ये सुरगुरुवाक्य है), 'मानत राम सुसेवक सेवा।२।२६५।' (यह सुरराज आदिके वचन हैं), 'सीतापतिसेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई।२।२६६।' (ये सुरगुरुवचन हैं)। अतएव अपने भक्तको सब सुख एवं भक्ति प्रणाममात्रसे दे देनेमें आश्चर्यकी बात ही क्या? उसपर भी ये भगवत्‌निष्ठ भी हैं। श्रीसीताराम भरत लक्ष्मण सभी इनकी रुचि रक्खेंगे।

पं० श्रीकान्तशरणजीने मूलके अर्थमें 'भक्त भक्तिदाता' का अर्थ

'भक्तोंको भक्ति देनेवाले श्रीशत्रुघ्नजी!' किया है। परंतु भावार्थमें 'भक्त-भक्ति' के प्रदाता अर्थ ग्रहण करते हुये लिखा है कि 'भक्तसेवाका बहुत बड़ा महत्व है। इस भक्तिकी दुर्लभता अभियुक्तोंने भी कही है; यथा 'त्वद्भृत्य-भृत्य-परिचारक-भृत्य-भृत्य-भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ।' जिस देवतामें जो गुण प्रधान रहता है, वह उसकी कृपासे प्राप्त होता है। श्रीशत्रुघ्नजी भक्त-भक्ति-निष्ठ हैं। अतः आपकी कृपासे इस परम दुर्लभ भक्त-भक्तिकी प्राप्ति कही गई है।"—भाव अच्छा है और शब्दोंसे यह अर्थ भी निकलता है।

४ (घ) 'दास तुलसी चरन सरन सीदत...'इति। आपका दास तुलसी आपके चरणोंकी शरण है, आर्त्त है, संतप्त है, पीड़ित है और दीन है। भाव यह कि शरणागत होनेपर दुःख न रह जाना चाहिए। आप श्रीराम-भरत-लक्ष्मणजीके भाई हैं, जिनका विरद है—'शरण-सुखद', 'प्रणतपाल', 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम', 'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही।' फिर आप विभु हैं अर्थात रक्षाके लिये स्वयं समर्थ भी हैं और 'दीनार्त्तसंतापहर्ता' आपका विरद है। अतः सब प्रकारसे मेरा दुःख दूर कीजिए।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि कलिकृत दुःखसे रक्षाकी प्रार्थना है। वियोगीजी लिखते हैं—'कदाचित् तुलसीदासजीने अपने प्रबल शत्रु कामक्रोधादिके नाश करवानेके लिये शत्रुघ्नजीके अपरिमेय पराक्रमका वर्णन किया है।

२ देवदत्तशास्त्रीजी लिखते हैं—"इसमें कामक्रोधादि दार्शनिक शत्रुओंकी झलक नहीं वरन् तत्कालीन देशधर्मद्रोही शत्रुओंके प्रति स्पष्ट विद्रोहके फफोले फूट पड़े। भक्त तुलसीका हृदय लोक-कल्याणके लिये विदीर्ण हो गया, रो पड़ा और उसने रिपुसूदनका स्मरण चीत्कार करके किया। सत्रहवीं शताब्दी भारतीयसमाजके लिये कितनी खतरनाक (भयंकर) थी, यह तुलसीदासजीके मुखसे सुनिये।

"श्रीलक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नजीकी स्तुतिके भावः—तीनों भाइयों की स्तुति सपत्नीक रूपमें है। मालूम होता है, गोस्वामीजीने रामपंचायतनका ध्यान करते हुये इन पदोंकी रचना की है। ड्योढ़ीमें प्रथम श्रीअंजनीनन्दनके दर्शनकर उन्हें विनय सुनाते हैं, फिर परिक्रमा करते हुये तीनों भाइयोंसे वही व्यवहार करते हैं। इन स्तुतियोंमें

तीनों भाइयोंकी धर्मपत्नियोंका स्मरण एक विचित्र ढंगसे किया है, जो यौवन शृङ्गारसे सराबोर है और टपकती है अटूट पतिपरायणता। इसका सारांश यही है कि आजके युगमें आपकी जैसी सहधर्मिणियाँ नहीं हैं। जो हैं भी वे अधर्मियोंके अत्याचारोंके कारण रहने नहीं पातीं। इनके सतीत्वकी रक्षा अब आपके ही हाथ है। जमानेकी पलटती हुई गतिका बहुत सुन्दर चित्र खींचा है और आखिरमें शत्रुघ्नजीकी स्तुतिमें कविके भाव प्रगटही हो गए।

“इन स्तुतियोंमें दीनार्त कविकी पुकारमें दीनार्त भारतकी पुकारका पुट है। कविकी आत्मा भारतीयोंकी आत्मा है। तुलसीदासजी साधु थे। साधुका अर्थ है ‘सध्नोति परकार्यमिति साधुः।’—जो दूसरों का कार्य साधन करे। जब साधु तुलसीदास सरकारके दरबारमें पहुँचते हैं तो ड्योढीवानको अपना पूर्ण परिचय देकर अन्दर जाते हैं। वहाँ मंत्री या सामन्तरूपसे अथवा अभिन्नरूपसे स्थित तीनों भाइयोंसे परदुःख दूर करनेकी विनती करते हैं, लोकव्यवस्था और उसकी विभीषिकाका परिचय देते हैं। उसके बाद जगज्जननीके दर्शन करते हैं, उस समय कविका बाल-भाव उमड़ पड़ता है। वह माँके चरणोंमें गिरकर मचलकर अपनी माँग सुनाता है और पितासे पूर्ण करानेकी सिफारिशके लिये आग्रह करता है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

(प्रक्षिप्त पद)*

“जयति श्रीजानकी भानुकुलभानुकी प्राणप्रियवल्लभे तरणि भूपे।
राम आनन्द चैतन्यघन विग्रहाशक्ति अह्लादिनी साररूपे।१।

---

* यह पद प्राचीनतम पोथी १६६६ सं० की तथा रा०, भा०, सं० १७१७, तथा बेनी वाली १८७८ की पोथी, बाबू शिवप्रकाशजी, बकसर, महात्मा श्रीभगवान सहाय. तथा वीरकवि व पं० रामेश्वर भट्ट आदिकी पुस्तकोंमें भी नहीं है। बलरामपुरवाली पोथीमें प्रथम प्रथम यह पद मिलता है। छपी पुस्तकोंमेंसे यह ‘लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय’ मुरादाबाद की छपी मूल गुटका, खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा ‘श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस’ में श्रावण सं० १९५१ तथा पौष सं० १९५७ में प्रकाशित गुटका, श्रीवैजनाथजी व पं० सूर्यदीन शुक्लकी टीकासहित मूलमें मिलता है। बहुतेरे महानुभाव इसका पाठ करते हैं। अतः यहाँ केवल मूल हम दे रहे हैं। यह श्रीमद् गोस्वामीजीका नहीं है, इसलिये टीका नहीं लिखता हूँ।

चित चरण चिन्तनि जेहि धरतही दूर हो काम भय कोह मद मोह माया
रुद्र बिधि विष्णु सुर सिद्ध वंदित-पदे जयति सर्वेश्वरी रामजाया ।२।
कर्म जप योग विज्ञान वैराग्य लहि मोक्षहित योगि जे प्रभु मनावैं ।
जयति वैदेहि सब शक्तिशिरभूषणे ते न तव दृष्टि बिन कबहुं पावैं ।३
कोटि ब्रह्मांड जगदीश को ईश जेहि निगम मुनि बुद्धि ते अगम गावैं
विदित यह गाथ अहदानकुलमाथ सो नाथ तव दान ते हाथ आवैं ।४
दिव्य शतवर्ष जपध्यान जब शिव धर्‍यो रामगुरुरूप मिलि पथ बतायो
चितै हित लीन लखि कृपा कीनी तबै देवि अति दुर्लभहिं दरश पायो५
जयति श्रीस्वामिनी सीय शुभनामिनी दामिनीकोटि निज देह दरसै।
इन्दिरा आदि दै मत्तगजगामिनी देवभामिनि सबै पांव परसै ।६।
दुखित लखि भक्त बिन दरश निज रूप तपयजन जप यतनते सुलभ नाहीं
कृपा करि पूर्ण नवकंजदल लोचना प्रगट भइ जनकनृप-अजिर माहीं॥७
रमित तव विपिन प्रिय प्रेमप्रकटन करनलंकपतिब्याज कछु खेल ठान्यो
गोपिका कृष्ण तव तुल्य बहुयतन करि तोहिं मिलि ईश आनन्द मान्यो८
हीन तव सुमुख के संग रहि रंक सो बिमुख जो देव नहिं नाँहनेरो।
अधमउद्धरणि यह जानि गहि शरण तव दास-तुलसी भयो आय चेरो९

४१ (१५४) राग केदार

कबहुँक अंब औसर पाइ ।
मेरिओ[1] सुधि द्यइबी कछु करुन कथा चलाइ ॥१॥
दीन सब अंग हीन खीन[2] मलीन अघी[3] अघाइ ।
नामु लै भरै उदरु एक[4] प्रभु-दासि[5]-दासु कहाइ ॥२॥

---

[1] मेरिओ—६६, रा०, ५१, मु० । मेरिऔ—दीन, वि० । मेरिवो—वै० । मेरीऔ—भ० ।मेरियो-७४।मेरिहू-भा०,वे०,ज०,१५,प्र०।मेरिहूँ—ह०।मेरिये—डु०।
[2] खीन—६६,रा०, ह०,१५, ज०, वे०, भा० । क्षीण—डु० । छीन—वै०,भ०, ७४, दीन, मु०, वि० । [3] अषी—६६ । लेखप्रमाद है । [4] प्रभु एक—भा०,वे०, । [5] दासि—६६, रा०, भा०, वे०, ह०, प्र०, भ० । दासी—आ० (-भ०), ७४ ।

बूझिहैं सो है[1] कोनु[2] कहिबो[3] नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु कें मेरी[4] बिगरियो[5] बनि जाइ ॥३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुनगन गाइ ॥४॥

शब्दार्थ—कबहुँक = कभी; यथा 'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो। १७२।', 'कबहुँक ए आवहिं एहि नाते ।१।२२२।८।' औसर (अवसर)= मौका, अवकाश। मेरिओ = मेरी भी। द्याइबी = दिला दीजियेगा; दिला देना। कछु कुछ)= कोई; किंचित्। करुन (करुण) = जिससे करुणा उत्पन्न हो, चित्त दयार्द्र हो जाय। करुणा—करुणा गुणका लक्षण यह है कि पराया दुःख देखकर दुःखित होकर व्याकुल हो जाय और तुरत दु खको हरण कर उसे सुखी करे। यथा भगवद्गुणदर्पणे- 'परदुःखानुसंधानाद्विह्वली भवनं विभोः कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्तानां भीतिवारकः ॥' (वै०)। कथा = प्रसंग, चर्चा, बात। चलाइ = चलाकर। चलाना। आरम्भ वा शुरू करना; उठाना; छेड़ना। अंग = उपाय, साधन। = प्रकार; यथा 'को कृपाल स्वामी सारिखो राखे सरनागत सब अंग बल बिहीन को ।२७५।' = सहायक, यथा 'जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो ।२३६।', 'रउरे अंग जोग जग को है।२।२८५।' खीन (क्षीण प्रा० खीण) = दुबला-पतला; दिनोंदिन घटनेवाला। = खिन्न; दरिद्री। अघी अघाइ = पेट भर (छककर, जी भरकर) जिसने पाप कर लिये हैं। कोनु = कौन। बिगरियो = बिगड़ी हुई भी। जनाइ = बताकर, प्रकट करके। बनि जाइ = बन (सुधर) जायगी। बचन सहाइ = वचनमात्रकी सहायता; वचन द्वारा सहायता। यथा 'बचन सहाय करब मैं पैहहु खोजहु जाहि।' (कि० संपातीवाक्य)।

---

[1] है—६६, रा०, आ०, प्र०। भा०, वे०, ह०, ७४ में नहीं है। [2] कोनु—६६, रा०। कौन-प्रायः औरोंमें। [3] कहिबो—६६, वै०, ह०। कहिबौ—छु०। कहिवी—भा०, वे०, भ०, मु०, रा०, ५१, प्र०, ७४। [4] मेरि-भा०, वे०, भ०। मम - मु०, ७४। मेरी—प्राय: औरोंमें। [5] बिगरिहू—ह०, मु०। बिगरिउ—छु०, टी०, वे०। बिगरिऔ—भं०, वि०, दीन, भा०। बिगरियो-६६, रा०, ७४। बिगरिबो - वै०।

पद्यार्थ—हे माता! कभी मौका पाकर कोई करुणाका प्रसंग चलाकर (उसी प्रसंगमें) मेरी भी सुध (श्रीरघुनाथजीको) दिला दीजियेगा।१। (सुध किस प्रकार और क्या दिलाना है, यह स्वयं बताते हैं कि प्रथम मेरी यह दशा कहियेगा कि) दीन, सब प्रकार सर्वसाधनहीन निस्सहाय, दुर्बल एवं खिन्न और मलिन एक परिपूर्ण पापी आपकी दासीका दास कहलाकर, आपका नाम लेकर अपना पेट भरता है।२। वे पूछेंगे कि वह कौन है, (तब) मेरी दशा प्रकट कर मेरा नाम कहियेगा। कृपाल श्रीरामचन्द्रजीके सुनतेही मेरी बिगड़ी हुई भी बन जायेगी।३। हे जगन्माता श्रीजानकीजी! (अपने इस) जनकी वचनमात्रसे सहायता कर देनेसे तुलसीदास आपके स्वामीके गुणगण गा-गाकर भवपार हो जायेगा, संसारसे तर जायेगा।४।

नोट—१ श्रीजनकनन्दिनीजीकी विनय 'केदार' रागमें करते हैं। इसमें साहित्यिक चमत्कार यह है कि मातासे सुअवसर पाकर सिफारिश करनेको कहते हैं। इस रागमें विनय करके जनाते हैं कि रात्रिके दूसरे पहरमें वा अर्द्धरात्रिमें आपको ऐसा सुअवसर हाथ लगेगा। वही समय एकान्तका होगा। केदार रागका समय रात्रिका दूसरा पहर अर्थात् ६ बजेसे १२ तक है। इसका समय ग्रीष्मऋतु होनेसे यह पद ग्रीष्ममें लिखा जाना अनुमानित होता है।❀

२ प्रार्थी सरकारी दरबारमें उपस्थित है। श्रीसीतारामदरबारके मुख्य सभासदों मुसाहिबों, विशेष अंश एवं अंगभूत भाइयों परिकरों, राजकुलके प्रधान व्यक्तियोंकी दक्षिणावर्त परिक्रमा करते हुए क्रमसे दासकुलदीपक, सेवकाग्रगण्य, रघुकुलमात्रके प्रिय, रामधनके धनी, सबसे बड़े वसीले श्रीहनुमान्जीकी, विशेष अंशरूप भाइयोंमें अपने 'धनी-धन' श्रीलक्ष्मणजीकी दो पदोंमें, फिर 'शरण-अभयदाता' श्रीभरतजीकी तथा 'दीनार्तसन्तापहाता' श्रीशत्रुघ्नजीकी स्तुति कर चुकनेपर प्रार्थी युगल सरकार श्रीसीतारामजीके समीप पहुँचता है)

❀यह राग दीपक रागकी रागिणी है। इसमें स्वर गुरु षड्ज, वादी पंचम, संवादी मध्यम, अनुवादी निषाद, विवादी ऋषभ तथा दैवत शुद्ध हैं, जिसमें दोनों ऋषभ तथा धैवत दोनों स्वर तीव्र लगते हैं। स्वर ये लगते हैं—षड्ज पंचम शुद्ध; ऋषभ गांधार धैवत निषाद तीव्र। मध्यम कोमल तीव्र दोनों। समय ग्रीष्मऋतु अर्धरात्रि। इसके पाँच भेद हैं। (सू० शु०)।

यहाँ समस्त जीवोंकी पुरुषकाररूपा जगदंबा श्रीजानकीजीकी चरण-शरणमें उपस्थित होता है। किन्तु देखता है कि यह तो आम दरबार है, इसमें नीर-क्षीर-विवरण ही किया जा रहा है, यथा, 'राजद्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की २७८।' यह समय एकान्त प्रार्थनाका तो है नहीं।—यह समझकर प्रार्थी अपने सम्बन्धकी चर्चा श्रीरघुनाथजीसे छेड़नेके लिये वह जगज्जननी श्रीजानकी मातासे कहता है—'कबहुँक अंब औसर पाइ। मेरिओ सुधि द्याइबी...'। फिर यह सोचकर कि जगदंबाके लिये तो सारी सृष्टि एकसी है, वह साधारणरीत्या ही सुध लेगी, वह फिर दूसरे पदमें 'मेरी मातु' कहकर विनय करता है—'कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी'। कविकी भाषा और शैली ही भावोंको व्यक्त करती है।

३ श्रीजानकीजीकी स्तुति दो पदों द्वारा की-गई-है, जिसमें कविके हृदयकी सरलता, निरभिमानता और स्वाभाविकता झलकती है। कवि एक अबोध अपराधी बालक बनकर जननीसे प्रार्थनाकर कृतकृत्य होनेका उपक्रम कर रहा है।

४ दे०द० शास्त्रीजी लिखते हैं कि 'गोस्वामीजी एकाएक जगज्जननीके दर्शनकर स्मरणकर आत्म-विभोर हो जाते हैं। उनके मुखसे जगदंब न निकलकर 'अंब' निकलता है। यहाँ भक्तके प्रेमकी पराकाष्ठा सूचित होती है। एकनिष्ठाका अप्रतिम उदाहरण है। धीरे-धीरे प्रार्थना करते-करते जब संज्ञालब्ध होता है, तो जगजननि, जानकी और (अगले पदमें) मातु कहकर संबोधित करता है।'

टिप्पणी—१ (क) 'कबहुँक' कहकर दिनका निश्चय नहीं करते, क्योंकि सुअवसर कब मिलगा, यह कह नहीं सकते। (ख) 'अंब' संबोधित करके उनसे अपना नाता माता और पुत्रका जनाया और श्रीरामजीको पिता सूचित किया। यथा 'बाप बलि जाउँ आपु करिये उपाउ सो।१८२।', 'आपु सहित न आपनो कोउ बाप कठिन कुभाँति। २२१।', 'बाप आपने करत मेरी घनी घटि गई।२५२।', 'बिनय-पत्रिका दीनकी बाप आप ही बाँचो।२७७।' (ग) 'औसर पाइ' इति। भाव यह है कि जो कार्य अच्छा मौका देखकर सुअवसरपर किया जाता है, वह सफल होता है। कुअवसर पर अच्छी बात भी निष्फल वा व्यर्थ हो जाती है। इसीसे सज्जन और समझदार कुअवसरको बचाते और सुअवसरपर कार्य साधते हैं। यथा—

(१) 'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ॥'
(२) 'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥
भरि लोचन छबिसिंधु निहारी। कुसमउ जानि न कीन्हि चिन्हारी।'
(३) 'अवसर जानि सप्तरिषि आये। १।८९।'
(४) 'पारबती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहँ मातु भवानी॥
जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा॥'
(५) सीयमातु तेहि समय पठाई। दासी देखि सुअवसरु आई॥
सावकास सुनि सब सिय सासू। आयेउ जनकराज रनिवासू॥
(६) रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई।२।२८३।
(७) कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि॥
(८) कुसमउ देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥
(९) अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहि नावा॥
(१०) देखि सुअवसरु प्रभु पहिं आये संभु सुजान। ६।११३।

इत्यादि अनेक उदाहरण कुअवसर बचाने और सुअवसरपर कार्य करनेके हैं। दोहावलीमें भी कहा है—'अवसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिये का लाख। दुइज न चंदा देखिये उदय कहा भरि पाख ॥३४४॥'

☞ इस तरह 'अवसर' शब्दमें "अच्छे मौकेसे, जब एकान्त हो, प्रभु सावधान बैठे हों, चित्त प्रसन्न हो, उनका रुख अनुकूल हो, इत्यादि सब भाव भरे हैं।"

१ (घ) 'मेरिओ' मेरी भी कथनका भाव कि जैसे आपने औरोंकी सुधि दिलाई है, वैसे ही मेरी भी दिलाइयेगा।—इससे उनका पुरुषकार वैभव सूचित किया। श्रीसीताजी श्रीरामजीकी परमशक्ति आह्लादिनी शक्ति हैं। यथा 'परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।१।१८७।६।' अभिन्न हैं, यथा 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।१।१८।' जीवोंपर उनकी असीम निर्हेतुकी कृपा करुणा रहती है—यह बात वाल्मीकीय युद्धकांडमें स्पष्ट है। और, यों भी सुग्रीव, हनुमान् और विभीषणपर प्रथम आपकी ही कृपा हुई, तब श्रीरामजीकी। ये जीवोंको श्रीरामसम्मुख करनेवाली हैं। अतः 'मेरिओ' कहा। विशेष आगे टि० ४ (घ) में लिखा गया है।

१ (ङ) 'सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ' इति। सुध दिलाइयेगा, यह कहकर सुध दिलानेका एक बहुत अच्छा ढंग भी बताते हैं कि 'कछु करुन कथा चलाइ'। अर्थात् पहले कोई करुणामय प्रसंग

छेड़ दीजियेगा । जब करुणा-गुणका उद्दीपन हो तब उसी अवसरप मेरी चर्चा चला दीजियेगा । क्या चर्चा चलाइयेगा और किस प्रकार से सो भी स्वयं ही आगे बताते हैं--'दीन सब अंगहीन···' । पुनः करुणाका प्रसंग छेड़नेका भाव यह भी है कि अंबा श्रीजानकीजी प्रियतम भगवान् श्रीरामको 'करुणानिधान' ही संबोधन किया करती थीं । वस्तुतः यह नाम इशारेका ही है, नामकरण संस्कार द्वारा निर्धारित नहीं ।

☞ स्त्रियोंमें करुणाका भाव स्वाभाविक होता है । पुत्रके प्रति करुणा तो रिजर्व (reserve) रहती है। करुणाजनक चर्चा या प्रार्थना अनिवार्य ग्राह्य होती है। अतः तुलसीदासजीने इस ढंगको अपनाया ।

१ (च) वियोगीजी लिखते हैं कि "कछु करुन कथा चलाइ' से गोसाईंजी महाकवि भवभूतिके स्वरमें स्वर मिलाकर करुणरसका प्राधान्य स्वीकार कर रहे हैं। करुणरस भगवान्‌का द्रवस्वरूप है। किसी-किसी साहित्यकारके मतसे यह सब रसोंका मूल और प्रधान माना गया है—'रसेषु करुणो रसः ।' मातामें वात्सल्य और करुणाका स्वाभाविक निवास होता है, इसीसे कविने 'अंब', 'करुन' और 'बचन सहाइ' का सार्थक समावेश किया जान पड़ता है ।" [भवभूतिजी भी कहते हैं—'एको रसः करुण एव निमित्त भेदात् । भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्' (उत्तर रामचरित ३।४७) ।]

टिप्पणी—२ (क) 'दीन सब अंग हीन' इति । जो कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंसे रहित है, जिसको इनमेंसे किसीका भी बल नहीं है, वह दीन है । यथा 'करमठ कठमलिया कहै, ज्ञानी ज्ञान-विहीन । तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरे दीन । दो० ६६।' जैसे ताड़का (अधम राक्षसी होनेके कारण), अहल्या (पाप-शापवश पाषाण होनेसे) और सुग्रीव (बालीके कारण प्राणके लाले पड़े रहनेसे चिन्ताग्रस्त होकर) दीन थे । यथा 'एकहि बान प्रान हरि लीन्हा । दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।' (ताड़का), 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित दयाल...।' (अहल्या) और 'दीन जानि तेहि अभय करीजै ।(सुग्रीव । पुनः जिन दिव्य गुणोंसे भगवान् देख पड़ते हैं उनसे हीनको 'दीन' कहते हैं । (गीता श्रीरामानुजभाष्य ६।११) ।

'सब अंग' अर्थात् शौच, दया, शम, दम, योग, यज्ञ, जप, तप,

दान, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति आदि भगवत्प्राप्तिके समस्त साधन। 'सब अंग हीन' अर्थात् सब साधनशून्य। 'अंग' के दो अर्थ 'प्रकार' और 'सहाय' भी बताये गये हैं। उनके संबंधसे 'सब अंगहीन' का अर्थ होगा—(१) 'सब प्रकार' हीन अर्थात् नीच, निकृष्ट वा पथभ्रष्ट। (२) 'सब सहाय रहित'। मिलान कीजिए—'माधव मो समान जग माहीं। सब बिधि हीन, मलीन दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं।११४।', 'जोग न विराग जप जाग तप त्याग व्रत तीरथ न धर्म जानौं वेद बिधि किमि है। तुलसी सों पोच न भयो, है नहिं ह्वैहै कहूँ, सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहैं। क० ७।७१।', 'उपल केवट—'कीस भालु निसिचर सबर गीध सम-दम-दया दान-हीते। १०६।'

[भावार्थान्तर ये हैं—'दीन सब अंगहीन' = "कर्म-भक्ति-ज्ञानादिके जो अंग हैं उनसे हीन। कर्मके अंग संध्या, तर्पण, पूजा, पाठ, तीर्थ और व्रतादि हैं। शम-दमादि, विवेक-विराग-मुमुक्षतादि ज्ञानके अंग हैं। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्यता और आत्म-निवेदन आदि भक्तिके अंग हैं। इन सबोंसे हीन (वै०)]

२ (ख) 'खीन मलीन' इति। बल-वैभवहीन होनेसे, कष्टते दुःखी होनेसे क्षीण कहा। यथा 'दूबरेको दूसरो न द्वार राम दयाधाम रावरी ही गति बल बैभव बिहीन को। क०।' पुनः, समस्त शुभ साधन रहित होनेसे दुवला कहा, जैसे कलियुगी कर्तव्यसे मोटा कहा है—'करतब कलिमल पीन।२६१।' दरिद्रता आदिके कारण तथा स्वर्ग, नरक; अपवर्ग कहीं ठिकाना नहीं और संसारको भजनेमें जन्म के जन्म बिता दिये, सुखके लिये अथक परिश्रम करता रहा, पर सुख शान्ति न मिलनेसे दिनरात चिन्ताग्रस्त रहता अमित यत्न सोचते रहनेसे 'खिन्न' कहा। यथा 'कतहुँ नहिं ठाँउ कहँ जाउँ कोसलनाथ दीन वित हीन हौं बिकल बिनु डेरे।२१०।', 'पाप संताप घनघोर संसृति दीन भ्रमत जगजोनि नहिं कोपि त्राता।११(८)।', 'दास तुलसी खेद खिन्न आपन्न इह सोक संपन्न अतिसय सभीतं।…५६।' पुनः, 'काल चाल हेरि होत घनी घिन'' अतः ग्लानिके कारण खिन्न।

२(ग)–मलीन, अर्थात् विषयोंमें अत्यन्त लीन होनेसे मनका मैला। मोहजनित मलके लगनेसे नेत्रादि इन्द्रियाँ तथा मन और हृदय सभी मलिन हैं। यथा 'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि…।८२।' एवं मैला कुचैला। 'मलिन' से मन, कर्म और वचन तीनोंकी मलिनता

कह दी। विषयसंगसे मन मलिन, वासना मोह मदसे हृदय मलिन, पापमय होनेसे कर्म मलिन और असत्यसे वचन मलिन। मिलान कीजिए पद १४३ से—

वहाँ—'एक हौं दीन मलीन हीन मति विपति जाल अति घेरो।' तथा यहाँ 'दीन मलीन सब अंगहीन खीन' और भी पद्य११४ के 'माधो मोहि समान जग माहीं।सबविधि हीन जो दीन मलिन अति लीन विषय कोउ नाहीं ॥' से। इसमें 'खीन' की जगह 'अति लीन विषय' शब्द हैं।

२ (घ) 'अघी...'—मलिन अर्थात् मोहमलग्रस्त होकर विषयासक्त होने से सब प्रकारके पाप होते हैं, अतः 'मलीन' कहकर तब 'अघी अघाइ'कहा। यथा'मानस मलीन''करतब कलिमल पीन जीहहू न जप्यों नाम बक्यों आउ बाउ मैं। २६१।', 'मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहिं पावै।६२।', 'मन मलीन कलि किलविषी होत सुनत जासु कृत काज।१६१।'

२ (ङ) 'दीन सब अंग हीन खीन मलिन अघी' ये सब क० ७।५२ में इस प्रकार दिखाये हैं—'बेद न पुरानगान, जानौं न विज्ञान ज्ञान, ध्यान धारना समाधि साधन प्रवीनता। नाहिंन विराग जोग जाग भाग तुलसीके, दया-दान-दूबरो हौं पाप हीकी पीनता॥ लोभ मोह काम कोह दोष कोष मो सो कौन, कलिहू जो सीखि लई मेरियै मलीनता...।'

☞ च दीन, सब अंगहीन, खीन, मलीन और अघी विशेषण देनेका भाव कि ऐसे गये-बीते लोग भगवान्‌की करुणाके पात्र होते हैं। यथा 'जेहि दीन पियारे वेद पुकारे...।१।१८६।', 'कहाँ जाउँ कासों कहौं को सुनै दीनकी। त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की।१७९।', 'को कृपाल स्वामी सारिखो राखे सरनागत सब अंग बल विहीनको। २७४।', 'बंदउँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।१।१८', 'कूर कुटिल कुलहीन दीन अति मलिन जवन। सुमिरत नाम राम पठये सब आपने भवन।२१२।', 'पतित पुनीत दीन हित असरन सरन कहत श्रुति चारो। हौं नहिं अधम सभीत दीन किधौं वेदन्ह मृषा पुकारो। ९४।', 'देव सेवा विनु गुन विहीन दीनता सुनाए। जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाए। ८०।'

२(छ)'नाम लै भरै उदरु' इति। अर्थात् पेट भरनेके लिये नाम लेता है, उदर भरनेका यह साधन है। यथा 'सिव सरवस सुखधाम नाम तव बेंचि नरकप्रद उदर भरों। १४० (३ ।', 'पेट-प्रिय-पूत-हित रामनाम

लेतु है।क० ७।८२।', 'नामकी ओट लै पेट भरत हौं पै कहावत चेरो।७३। इससे जनाया कि नाममें प्रेम नहीं है, नाम लेनेसे पेट भरनेको अन्न मिल जाता है, इसीसे रामनाम लेता हूँ—स्वार्थवश, भक्तिसे नहीं।

नाम लेना इससे कहा कि नामजापक प्रभुको अत्यन्त प्रिय है, नाम जपते सुनते ही उनका वात्सल्य उमड़ पड़ता है और वे आँख मूँदकर उसे अपना लेते हैं। यथा 'अंतरजामिहु तें बड़ बाहरजामि हैं राम जे नाम लिये तें। धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये तें ॥क०७।१२६।', 'कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लई नाम की ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परख्यो न फेरि खर खोट। १६१।', 'कैसेहुँ नाम लेहि कोउ पाँवर सुनि सादर आगे होइ लेते।२४१।'

(ज) 'एक' का भाव कि नाम पहले ही न बता दीजियेगा। 'एक' कहनेसे उत्कण्ठा उत्पन्न होगी कि ऐसा कौन है, तब नाम बताइयेगा। पुनः भाव कि ऐसा एक ही है, दूसरा नहीं।

२ (झ) 'प्रभु दासि दास कहाइ' इति। इसमें दो भाव हैं। 'प्रभु दासि' अर्थात् आपकी दासी (तुलसी) का दास अर्थात् तुलसीदास कहलाता है।—इस तरह अपना नाम बताया कि तुलसीदास नाम है। दूसरा भाव कि वह सबसे कहता और कहलवाता है कि मैं प्रभुकी दासीका दास हूँ।--ऐसा कहते ही वे चौंक उठेंगे और अवश्य पूछेंगे कि कौन ऐसा कहता है। इसमें मानसके "हौंहुँ कहावत सब कहत राम सहत उपहास। साहिब सीतानाथ सों सेवक तुलसीदास।१।२८।" का गूढ़ भाव भरा है। [श्रीरामजी मर्यादा पुरुषोत्तम एक-नारीव्रत हैं, इसीसे 'दासि' के साथ 'प्रभु' ऐश्वर्यद्योतक शब्द देकर जनाया कि आप समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। यथा 'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहि उन्हहिं सब छाजा।३।१७।' दशा आदि सुननेके बाद 'राम' नाम दिया।—'सुनत राम कृपाल के'। दीनजी लिखते हैं कि इसमें भाव यह है कि "इस प्रकार वह अपने नाममात्रसे आपकी बदनामीकी याद दिलानेका कारण होता है"]

पुनः तुलसी भगवान्‌की परम प्रिय है (उनपर चढ़ाई जाती है, विना उसके वे कोई भोग पदार्थ विविध व्यंजन स्वीकार नहीं करते)। यथा 'रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।१।३१।', 'जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।३।५।' प्रभुके सम्मुख जानेमें किसी गुरु, सन्त आदि आश्रित कृपापात्रका आश्रय आवश्यक है। आश्रितके संबंधसे वे तुरत कृपा करते हैं। अतः तुलसीका दास कहकर उस कमीकी पूर्ति की।

टिप्पणी—३ 'बूझिहैं सो है कोनु कहिबो नाम···' इति। (क) 'बूझिहैं' का भाव कि अपनी ओरसे वे स्वयं पूछेंगे। 'कहिबो नाम दसा जनाइ' का भाव कि अभी तो इतना ही कहा है कि प्रभुकी दासी का दास कहता-कहलवाता है, नाम नहीं प्रगट किया है। पूछनेपर 'तुलसीदास' नाम बताइयेगा और दशा भी जना दीजियेगा जिससे करुणा उत्तेजित हो, आपका वचन व्यर्थ न जायगा। [क्या नाम और क्या दशा है ? इसपर वैजनाथजी लिखते हैं कि "तुलसीदास विख्यात नाम है और (गुरुदत्त एवं प्रभुका दिया हुआ) दूसरा नाम 'रामबोला' है, वह आपका गुलाम है (यथा 'रामको गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो, काम इहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहतु हौं।७६।')। दशा यह कि आपके चरित, आपके गुणगण और आपका नाम प्रचार करनेसे कलि पीछे पड़ गया है, (उसीने आपके गुलामकी यह दीन दशा कर डाली है जो ऊपर कह आये हैं)] दशाका उल्लेख बिनयपद २७५, तथा २७६ 'कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो' पूरे पदमें है। कलिकी शिकायत पद २६५, २६६, २६७ में देखिए।

३ ख) 'सुनत राम कृपाल के···' इति। भाव कि सुननेकी ही देर है, कृपा करनेमें फिर देर न लगेगी, क्योंकि वे 'कृपाल' हैं। कृपा-गुणके कारण वे जानते हैं कि संसारी जीव बेचारा क्या कर सकता है, उसकी रक्षाको एकमात्र हम ही समर्थ हैं, दूसरा नहीं। सुनानेपर एवं सुनते ही उनका कृपा-गुण उद्दीप्त हो उठता है, फिर तो वे तुरन्त रक्षा करते हैं। [यथा 'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति दृढानुसन्धान कृपा सा पारमेश्वरी' ॥ (भगवद्गुणदर्पण), 'रक्षक सब संसारको हौं समर्थ मैं एक। दृढ़ मन अनुसंधान यह सो गुण कृपा विवेक।'—(वै०), 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती' ।१।२८।३।'] दोहावलीमें भी कहा है—'केवट निसिचर बिहंग मृग किये साधु सनमानि। तुलसी रघुबर की कृपा सकल सुमंगलखानि। दो० २२८।'

३ (ग) 'मेरी बिगरियो बनि जाइ' बिगड़ी भी बन जायगी। क्या बिगड़ी है ? यह ऊपर 'दीन सब अंग हीन खीन मलीन अघी अघाइ। नाम लै भरै उदर' में कह आये। और भी आगे कहा है; यथा 'राम रीझिबे की जानों भगति न भाउ सो॥ करम सुभाउ काल ठाकुर न ठाउँ सो। सुधन न सुतन न सुमन सुआउ सो॥···सब भाँति बिगरी है···।१८२।', 'स्वाँग सूधो साधु को कुचालि कलि तें अधिक परलोक

फीकी मति लोक रंग रई ।२५२।’, ‘सेइ न धेइ न सुमिरि कै पद प्रीति सुधारी। पाइ सुसाहिब राम सों भरि पेट बिगारी ।१४८।’, ‘…लिये बेर बदलि अमोल मनि आउ मैं ॥ मानस मलीन करतब कलिमल पीन, जीहहूं न जप्यो नाम बक्यो आउ बाउ मैं। कुपथ कुचाल चल्यो भयो न भूलिहू भलो, बालदसाहूँ न खेल्यो खेलत सुदाउ मैं ॥ देखी देखा दंभ ते कि संग ते भई भलाई, प्रगटि जनाई, कियो दुरित दुराउ मैं ॥ रागं रोष दोष पोषे गोगन समेत मन, इन्हकी भगति कीन्हीं इन्ह ही को भाउ मैं ।२६१।’, ‘हौं तो बिगरायल ओर को, बिगरो न बिगरिये ।२७१।’

☞ अपने गुण दोष सुनानेसे बिगड़ी बन जाती है। यथा ‘तुलसी राम कृपालसे कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष। दो० ९६।’ इसीसे ऊपर अपने गुण-दोष कहकर तब ‘बिगरियो बनि जाइ’ कहा। श्रीरामजी बिगड़ीको सुधार देते हैं, यथा ‘तुम्ह सुधारि आये सदा सबकी सब ही बिधि अब मेरियो सुधरिये ।२७१।’, ‘रोगबस तन कुमनोरथ मलीन मनु पर-अपवाद मिथ्याबाद बानी हई। साधन की ऐसी बिधि साधन बिना न सिधि, बिगरी बनावै कृपानिधि कृपा नई ।२५२।’

३ (घ) ‘दीन सब अंगहीन…उदरु’ यह कार्पण्य शरणागति है। कार्पण्यमें दीनता निवेदन की जाती है। ‘मेरी बिगरियो बनि जाइ’ में ‘रक्षतीतिविश्वासः’ अर्थात् रक्षामें पूर्ण विश्वासरूप शरणागति जनाई। हम सब प्रकार बिगड़े हैं, अपने कर्त्तव्यसे, अपने पुरुषार्थसे अब नहीं सुधर सकते, पर प्रभुकी कृपा पलभरमें सुधार लेगी—यह विश्वास है। यथा ‘जद्यपि मैं अनभल अपराधी।…तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ।२।१८३।’, ‘जद्यपि जनमु कुमातु ते मैं सठ सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस। ।१८३।’

☞ बिगड़ी बनानेका कारण कृपालता पहले ही कह आये। श्री भरतजीने भी कहा है—‘कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥ तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए ॥’ से लेकर ‘यों सुधारि सनमानि जन किये साधु सिरमोर। को कृपाल बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर ।२।२९९।’ विनयमें भी ग्रंथकारने निवेदन किया है कि ‘मेरी न बनै बनाये मेरे कोटि कल्प लों

राम रावरे बनाये बनै पल पाउ में ।२६१।'

टिप्पणी—४ 'जानकी जगजननि जन की कियें बचन सहाइ।'इति। (क) उपक्रममें 'अंब' सम्बोधन दिया—'कबहुँक अंब औसर पाइ।' अन्तमें यहाँ 'जानकी जगजननि' संबोधित किया। अंब और जगजननि ये दोनों विशेषण श्रीपार्वतीजी, श्रीलक्ष्मीजी आदि अनेक शक्तियोंके भी हैं। इनसे स्पष्ट न होता कि किससे विनय कर रहे हैं। अतः 'जानकी' नाम दिया।

पुनः, 'जगजननि' का भाव कि आप जगत्‌मात्रकी माता हैं, यथा "आदिसक्ति जेहि जग उपजाया।'; मैं भी जगत्‌में हूँ और आपका एवं आपके स्वामीका सुत सेवक हूँ। अतः मेरी रक्षा, मेरी सहायता करना आपका कर्तव्य है।

☞ यहाँ 'जगजननि' के नातेसे 'अंब' संबोधित किया है और जगदम्बाकी आकस्मकी दया, करुणा, वात्सल्य और क्षमाको उत्तेजित कर रहे हैं, जो स्वाभाविक ही जगज्जननीमें मौजूद हैं।

४ (ख) ऊपर 'अंब' संबोधितकर स्वयं पुत्र बने। अब अपनेको "जन' कहकर 'वचन सहाइ' करनेकी प्रार्थना करते हैं। क्योंकि 'जन' प्रभुको बहुत प्रिय है, उसके लिये कुछ भी अदेय नहीं, उसे वे अपना लेते हैं, यथा 'जेहि जनपर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू ।१।१३।६।', 'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिश्वास तजहु जनि भोरे ।३।४२।', 'निज जन जानि लीन्ह अपनाई ।१।३४२।१।'

४ (ग) 'जानकी जगजननि''''बचन सहाइ' इति।—'जगजननि' से जनाया कि आप जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार तथा सर्वश्रेय करनेवाली हैं, उमा रमा आदि तथा ब्रह्मादि आपकी वंदना करते हैं, आपके कृपाकटाक्षकी चाह करते रहते हैं, साथ ही आप श्रीयोगीश्वर जनकमहाराजकी पुत्रि श्रीजानकीजी हैं जो करुणानिधान श्रीरामजी की अतिशय प्रिय हैं। यथा 'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥ जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ। ७।२४।', 'जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥'—अतएव ये विशेषण देकर कहते हैं कि 'किये बचन सहाइ''''।' अर्थात् ऐसी हालतमें आपके वचनमात्रसे मेरा काम बन जायगा। पुनः भाव कि माता अपने बच्चेका हित मन, वचन, कर्म सभी प्रकार सोचती और करती है। परन्तु इस कार्यकी सफलताके लिये

आपकी वचनमात्रकी सहायता पर्याप्त होगी। अतः केवल वचनसे मेरी-सिफारिश कर दीजिये। 'बचन सहाइ'से पुरुषकारत्वकी प्रार्थना सूचित की। अतः यहाँ पुरुषकारत्वपर कुछ लिखा जाता है।

४ (घ)—श्रीजानकीजीका पुरुषकार वैभव—

कोई चाहे कि मैं भजन करके, योग-यज्ञ-जप-तप आदि अनेक साधनोंसे या वेदपाठ सदाचार आदिका पालन करके मोक्ष प्राप्त कर लूँ, तो यह उसकी मूर्खता है। अनेक जड़ और पशु पतंग कीट आदि योनियोंमें जीवका कौन पुरुषार्थ है जिससे वह मनुष्य योनिमें आ सके? यह उस दयामयकी असीम अहेतुकीय दया ही है कि वह हमें भवसागरसे तरनेके लिये मनुष्य बना देता है। यथा 'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ नर तनु भवबारिधि कहुँ बेरो।७।४४।६- ।'

यह बात सर्वतोभावेन शास्त्रज्ञोंने स्वीकार की है कि भगवान्‌की दया ही मोक्षलाभमें प्रधान कारण है; जीवके समस्त प्रयत्न बिना उस परम प्रभुकी दयाके निरर्थक हैं। उसकी दया निर्हेतुकी दया होती है। वही परम प्रभु ही हमारे मोक्षका उपाय हैं और वही उपेय हैं। मुण्डकोपनिषद् भी यही अनन्योपायत्व कह रहा है। यथा 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम।३।२।३।' अर्थात् 'यह आत्मा (ब्रह्म) न तो बहुत भाषणसे ही प्राप्त होता है, न बुद्धिसे, न तर्क से और न बहुत सुननेसे प्राप्त होता है। जिसको यह परमात्मा निर्हेतु दयासे स्वीकार कर लेता है, वही परमात्माको प्राप्त होता है।' यही बात गीता भी कह रही है, यथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' अर्थात् मुझहीको प्राप्य और प्रापक समझकर शरण प्राप्त कर।

भगवत्कृपा किसपर होगी? कब होगी? कैसे होगी? यह जानना अशक्य है। उस करुणावरुणालय दयासागर कारणरहित कृपालके सामने यह अनाद्यनन्त पापराशियोंसे भरा हुआ जीव कैसे पहुँचे? 'परमात्मा मोक्षप्रद है'—यद्यपि यह सर्वशास्त्र सिद्धान्त है, तथापि मोक्षप्रदानमें मुख्य कर्तृत्व परमात्माका होनेपर भी उसमें श्रीसीताजीका साथ प्रयोजकरूपमें अन्तर्भूत है। बिना उनके मोक्षदान असम्भव हो जाता है। भगवच्छरणागतिमें उनका पुरुषकारत्व अवश्यापेक्षित है।

'श्रीवचन भूषण' ग्रन्थमें श्रीसीताजीका पुरुषकार वैभव विस्तारसे वर्णित है और पढ़ने तथा मनन करने योग्य है।

पुरुषकारत्वके लिये कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्व ये तीन गुण जो अपेक्षित हैं, वे तीनों श्रीजनकनन्दिनीजीमें मौजूद हैं।

संसारी जीवोंको दुःख पाते देख न सहकर उस जीवको श्रीरामजीके सम्मुख करने और प्रभुसे मिला देनेका यत्न करनेके लिये 'कृपा' की आवश्यकता होती है। परमात्माको वश करनेके समय अनुवर्तन की आवश्यकता होनेसे 'पारतन्त्र्य' अपेक्षित है। "हमको छोड़ यह किसी विषयके योग्य नहीं, हमही इसको अतिशय प्रिय हैं; इससे वह जो कुछ कहेगी वह मेरा ही कार्य कहेगी। अतएव जैसा कहे वैसा करना उपयुक्त होगा"—जबतक यह गुण पुरुषकारमें न होगा, तबतक वह प्रभुसे जीवके लिये हठ कैसे कर सकेगा? इसलिये इस 'अनन्यार्हत्व' की भी आवश्यकता है।—ये तीनों गुण हमारे पुरुषकार श्रीजानकीजीमें हैं।

वाल्मीकीय रामायण महाकाव्यमें ये तीनों गुण प्रत्यक्ष देखनेको मिलते हैं। वस्तुतः संपूर्ण रामायण श्रीसीताजीका ही महच्चरित है, यह स्वयं बाल्मीकिजी 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।१।४।७।' इन शब्दोंसे सूचित कर रहे हैं।

जैसे बालकको कुयेंमें गिरते देख स्नेहमयी माँ उसको निकालनेको स्वयं कूद पड़ती है, वैसेही संसारकूपमें गिरे हुए जीवोंका उद्धार करनेके लिये परम करुणामयी माता जगज्जननी श्रीसीताजी स्वयं अवतार ग्रहण करती हैं और दयावश रावणके कारागारमें स्वयं कैदी बनती हैं। श्रीभगवदाचार्य्यने ठीक ही कहा है—

'उदारमूर्त्ते मृदुल स्वभावे परोपकाराय कृत प्रयाणे।
दयानिधे मातरिमं जनं स्वं स्वपादकंजे परिरक्ष नित्यम्॥'

अस्तु जब यह जीव श्रीमहारानीजीको पुरुषकार बनाकर परम प्रभु श्रीरामजीके सामने (माताके सिखाने, समझाने और कहलानेसे)—

'अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।'

ऐसा कहता हुआ गिरता है। उस समय अनन्यपराधीन, अनियाम्य, सर्वस्वतंत्र, सर्वकर्मफलप्रद परमेश्वर परब्रह्म रामकी दयाको उद्बोधित करके उस जीवको दयाका पात्र बनानेवाला अंबा श्रीजनक

नन्दिनीजूके सिवा दूसरा कौन है? अन्यथा सर्वस्वतंत्र, सर्वकर्मफलप्रद परमात्मासे दया-भिक्षा माँगनेवाले जीवात्माको परमात्मा यदि नियमानुसार कर्मफल भुगताने लग जायँ तो क्या हो सकता है? ऐसे समयमें सर्वजगन्माता कारुण्यमूर्ति श्रीजानकीजी नाना उपायोंसे दण्डधर परमात्माकी दयाको जागृतकर जीवकी रक्षा करती हैं—यही उनका मातृत्व है। श्रीपराशरभट्टारक स्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

'पितेव त्वत्प्रेयाञ्जननि परिपूर्णागसि जने,
हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥' श्रीगुणरत्नकोश।५२।

(अर्थात्) हे माता! आपके पति जब कभी पूर्णापराधी जीवके ऊपर पिताके समान हितकी दृष्टिसे क्रोधित हो जाते हैं, उस समय आप ही 'यह क्या? इस जगत्में निर्दोष है ही कौन?' इत्यादि रूपसे उचित उपदेशकर उनके क्रोधको शान्त कराके दयाको जागृतकर अपनाती हैं,—तभी तो आप हमारी माता हैं।

—१ 'कृपा गुण'—

पुरुषकार वैभवके लिये जो तीन बातें हम आवश्यक कह आए, अब हम उनको क्रमसे लेते हैं। प्रथम 'कृपा' गुण है। सर्वशक्तिमयी, विशेषतः अनुग्रहमयी श्रीसीताजीके पुरुषकारत्व और जीवरक्षण-तत्परताके उदाहरण हमें श्रीरामायणजीमें स्पष्ट मिलते हैं। अंबा श्रीजनकनन्दिनीजीका प्रथम विश्लेष स्वकृपा-प्रकाशनार्थ ही हुआ। प्रथम विश्लेषकी कथा अरण्यकाण्डमें सभी रामायणोंमें है यह सभी जानते हैं। प्रथम विश्लेषमें अपनी कृपा उन्होंने कहाँ प्रकट की है सो सुनिये। रावणकी प्रेरणासे नानाविध कष्ट पहुँचानेवाली राक्षसियाँ जब त्रिजटाके स्वप्नवृत्तान्तसे अवश्यम्भावी रावणवधको जानकर परम भयभीत होकर बोलने लगीं—'सर्वाएवाब्रुवन्भीताः। वाल्मी० ५।२७।७।'—तब उन अत्यन्त भयभीत राक्षसियोंसे जगज्जननी श्रीजानकीजी स्वयं अपने आप उनको अभयदान देते हुये कहती हैं—"...'यदि 'तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः। वाल्मी. ५।२७।५४।' यदि हमारे स्वामीकी विजय हो जाय, तुम्हारी बात ठीक हुई, तो तुम लोगोंकी रक्षा मैं अवश्य करूँगी।—ऐसा कहनेवाली, आपही आप अभयदान

देनेवाली अंबा श्रीजानकीजीकी यह जीवोंपर दया किसके मनको न हरेगी ? ऐसा अभय प्रदानकर फिर रावणवधानन्तर शुभ समाचार सुनानेके लिये आये हुये श्रीहनुमान्‌जीने जब राक्षसियोंको दण्ड देनेकी इच्छासे श्रीअंबाजीसे कहा कि इनका चित्रवध करनेके लिये इन राक्षसियोंको मेरे हवाले कर दीजिये, तब देखिए उस करुणामयी मूर्तिने क्या कहा है—

"राजसंश्रयवश्यानां कुर्वतीनां पराज्ञया ।
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद्वानरोत्तम ॥ ३८
भाग्यवैषम्ययोगेन पुरस्ताद्दुष्कृतेन च ।
यथैतत्प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते । ३९
प्राप्तव्यं तु दशायोगान्मयैतदिति निश्चितम् ।
दासीनां रावणस्याहं मर्षयामीह दुर्बला ॥ ४०
आज्ञप्ता रावणेनैता राक्षस्यो मामतर्जयन् ।
हते तस्मिन्न कुर्युर्हि तर्जनं वानरोत्तम ॥ ४१
अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंहितः ।
ऋक्षेणगीतः श्लोको मे तन्निबोध प्लवंगम ॥ ४२
न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः ॥ ४३
पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गम ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति । ४४
लोकहिंसाविहाराणां रक्षसांकामरूपिणाम् ।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम् ।४५।'(वा० ६।११६पं०)

वे हनुमान्‌जीपर रुष्ट होकर कहती हैं—'राजसंश्रित अतएव राजाके अधीन दूसरेकी आज्ञासे करनेवाली इन रावणकी दासियोंपर, श्रेष्ठ वानर ! कौन क्रोध करे ? विषम भागके योगसे और पूर्व किये हुए अपने दुष्कर्मोंसे मैं यह क्लेश पाती हूँ। क्योंकि यह निश्चित सिद्धांत है कि अपना ही किया हुआ पूर्व कर्म भोगा जाता है। मैं अपनी दशाके योगसे दुःख पाती हूँ, यह मुझे निश्चय है। मैं दुर्बल यहाँ रावणकी दासियोंकी सहती रही हूँ। इनके प्रति दयाके उद्रेकसे मैं दुर्बल हो रही हूँ। रावणकी आज्ञा पाकर ही ये मुझे डरवाती रही हैं और उसके मरनेपर नहीं डरवाती। हे पवनपुत्र ! हे वानर ! तुम मुझसे वह पुराना श्लोक सुनो जो भालूने व्याघ्रसे कहा था—'श्रेष्ठ पुरुष

दूसरोंकी बुराई करनेवाले पापियोंके पापकर्मको नहीं अपनाते हैं—बदलेमें उनके साथ स्वयं भी पापपूर्ण वर्ताव नहीं करना चाहते। अपना आचार (पर अप्रतिशोधकी भावना) ही रक्षा करने योग्य है। साधु पुरुष अपने उत्तम चरितसे ही विभूषित होते हैं, सदाचार ही उनका आभूषण है।' पापी हो या पुण्यात्मा अथवा वध करने योग्य ही कोई क्यों न हो, श्रेष्ठ पुरुषको तो उसपर दया ही करना चाहिए, क्योंकि ऐसा कोई भी नहीं है जिससे अपराध होता ही न हो। लोगों की हिंसामें रमण करनेवाले कामरूपी राक्षसोंके पापाचरण करनेपर भी उनका अमंगल नहीं करना चाहिए। उनके वे कार्य इनमें अशोभित नहीं हैं।

इस प्रकार अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार अत्यन्त तात्कालिक अपराधिणी राक्षसियोंकी रक्षा करके श्रीजानकीजीने अपना 'कृपा' गुण प्रकट किया है। यह दया किसको आश्चर्यचकित न करेगी ?

पराशर भट्टारक स्वामीने क्या खूब कहा है—

'मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया,
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्ति क्षमौ रक्षतः,
सा नः सान्द्र महागसस्सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मकी॥'

(श्री गुण रत्नकोश ५०)

श्रीरघुनाथजीने काक (जयन्त) और विभीषणकी रक्षा की, तो क्या किया ? वे दोनों तो शरणागत हुये ही थे। हे माता श्रीमिथिलेशनन्दिनीजू ! आपने तो राक्षसियोंके विना कुछ कहे ही अपने आपसे ही हनुमान् ऐसे हठीलेसे लड़-झगड़कर तत्काल अपराध करनेवाली उन निशाचरियोंको छुड़ाकर उनकी रक्षा की—यही तो महत्वकी बात है। इस तरह, हे माता ! आपने अपने कार्यसे श्रीरामगोष्ठीको तुच्छ बना दिया। वह आपकी परम विलक्षण आकस्मकी क्षमा-दया हम ऐसे तात्कालिक महापापात्माओंके लिये सुख देनेवाली हो !!!

२—'पारतन्त्र्यं गुण'—

अब पुरुषकारके लिये दूसरा गुण (पारतन्त्र्य) जो अपेक्षित है उसको लेते हैं। श्रीरामजीसे महारानीजीका दूसरा वा मध्यम विश्लेष उनके इस पारतन्त्र्यप्रकाशनार्थ हुआ है। रावण-वधके पश्चात् सहस्रों वर्ष राज्य करनेके बाद और वह भी जब प्राणप्रियाजी

गर्भवती हैं, उस समय यह लीला की जाती है। श्रीरघुनाथजी कहते हैं कि ‘प्राणप्रिय ! तुम गर्भवती हो। तुम्हारे गर्भसे पुत्र प्राप्त होने का यह समय है। जो तुम्हारी इच्छा हो वह बताओ, मैं उसे पूरी करूँ।’—इसपर आप कहती हैं—

‘तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव ॥
गङ्गातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम् ।
फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्त्तितुम् ।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम् । वाल्मी. ७।४२।३२-३४।’

मैं तपोवनों और गङ्गातटवासी महर्षियोंके दर्शन और फलमूलभोजी अत्यन्त तेजस्वी ऋषियोंके तपोवनोंमें उनके चरणमूलोंमें वास करनेकी इच्छा करती हूँ। यही मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा है।

लक्ष्मणजी जब उनको तपोवनमें छोड़ते हैं, तब लोकापवादको दूर करनेके लिये वे उनसे कहती हैं

‘न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले ।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते । वाल्मी० ७ ४८।८।’

हे सुमित्रानन्दन ! मेरे मरनेसे स्वामीसे प्राप्त मेरे गर्भमें जो राजकुमार है वह मर जायगा, जिससे मेरे स्वामीके वंशका ही नाश हो जायगा। स्वामीके वंशका नाश न हो, इसलिये आज मैं अपने प्राणोंको गंगाजीके प्रवाहमें परित्याग नहीं करती हूँ।—इससे स्पष्ट पराधीनता सिद्ध होती है।—यही ‘पारतन्त्र्य’ है, अपना जीवन अपना प्राण भी स्वामी के ही लिये है, उसपर अपना किंचित् भी अधिकार नहीं।

- –३ ‘अनन्यार्हत्व गुण’– –

अब हम तीसरे गुण ‘अनन्यार्हत्व’ को लेते हैं। महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रमसे लौटनेपर नैमिषारण्यमें श्रीरामजीकी सन्निधिमें ही पृथ्वीमें प्रवेश करना—यह तीसरा विश्लेष ‘अनन्यार्हत्व प्रकाशनार्थ’ है।

वाल्मी० सु० सर्ग २१ में श्रीसीताजीके वचन हैं कि ‘अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा’,—जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यका साथ नहीं छोड़ती, वैसेही मैं श्रीराघवका साथ नहीं छोड़ती, उनसे अभिन्न हूँ। मानसमें भी कहा है—‘प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छांह किमि छेंकी ॥ प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु

तजि जाई। २।६७।५-६।' वाल्मी० ७।९७में वे समस्त ऋषियोंके सामने, समस्त अवधवासियोंके सामने श्रीरामजीके सान्निध्यमें कहती हैं।

"यथाऽहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥१५॥
मनसाकर्मणावाचा यथा रामं समर्चये। तथा मे माधवी० ।१६।
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च। तथा मे माधवी० ।१७।"

यदि श्रीरामजीसे अन्य किसीको मैंने मनसे भी स्मरण न किया हो तो पृथ्वी देवी मुझे प्रवेशके लिये स्थान देवें। यदि मन, कर्म और वचनसे मैंने श्रीरामजीका ही अर्चन आराधन किया हो तो भूमिदेवी मुझे स्थान देवें। श्रीरामजीके अतिरिक्त मैं किसी और को नहीं जानती—यदि यह बात सत्य है तो माधवी मुझको स्थान देवे।

यह शपथ करनेपर माधवीके बीचसे अत्यद्भुत दिव्य सिंहासन प्रकट होता है, जिसे सहस्र शीशवाले नागदेव शिरोंपर धारण किये हैं। भूमिदेवी श्रीसीताजीका स्वागतकर उनको हाथोंसे लेकर सिंहासनपर अपने पास बिठाकर रसातलमें प्रवेश कर जाती हैं।—इन उद्धरणों से 'अनन्यार्हत्व' गुण स्पष्ट उनमें सिद्ध है। मैं मन-वचन-कर्मसे प्रभुके लिये हूँ, दूसरे विषयके योग्य नहीं हूँ—यही 'अनन्यार्हत्व' है।

४ 'संश्लेषदशा में पुरुषकारत्व'

जैसे विश्लेषदशामें उनका पुरुषकारत्व राक्षसियों, काक और विभीषणके सम्बंधमें देखा गया, वैसे ही संश्लेष दशामें उनका पुरुषकारत्व श्रीलक्ष्मणजीके विषयमें देखा जाता है। वाल्मी० २।३१।२ और ३।१५।६-७ इसके प्रमाण हैं। यथा

"बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥१॥
स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम् ॥२॥"(वाल्मी. २।३१)

अर्थात् आँसुओंके कारण श्रीलक्ष्मणजीका मुख विकृत हो गया, श्रीरामजी हमको वन ले जायंगे कि नहीं, इस शोकसे वे बहुत दुःखी हुए और इस दुःखको वे सह न सके। उन्होंने भाई श्रीरघुनन्दनजी के दोनों चरण बहुत जोरसे पकड़ लिये और अत्यंत यशस्विनी श्रीसीताजी तथा महाव्रतधारी श्रीराघवजीसे बोले। यहां 'सीतामुवाचातियशां' शब्द प्रथम देकर वाल्मीकिजी स्पष्ट दिखा रहे हैं कि वे इस

कार्यमें श्रीसीताजीकी कृपादृष्टि चाहते और उनके पुरुषकार वैभवको उत्तेजित तथा प्राप्त करते हुए श्रीरामजीकी कृपा चाह रहे हैं।

पुनश्च-"एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥६।
परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते ।७।" वाल्मी.३।१५)

(पंचवटीके प्रदेशमें पहुँचकर जब श्रीरघुनाथजीने लक्ष्मणजीसे कहा कि तुम इस वनमें चारों ओर दृष्टि डालकर देखो कि किस स्थानपर आश्रम बनाना हमारे लिये अच्छा होगा जहाँ हम सब लोग प्रसन्नतापूर्वक रह सकें और सब सुपास हो, उस समयका यह प्रसंग है) श्रीरामजीके इस प्रकार कहनेपर श्रीलक्ष्मणजी दोनों हाथ जोड़कर श्रीसीताजीके सामने ककुत्स्थ-कुल-भूषण श्रीरामजीसे यह वचन बोले—सौ वर्ष पर्यन्त स्थित रहनेपर भी मैं आपके अधीन ही (रहना चाहता) हूँ, स्वतंत्र नहीं हूँ। (अतः आपही देखकर जहाँ उचित समझें वहाँ आश्रम बनानेकी मुझे आज्ञा दें। मैं सदा आपके अधीन हूँ)।—यहाँ भी श्रीसीताजीके समक्ष कहनेमें पुरुषकार वैभवको उत्तेजित करनेका भाव है।

इस लेखके प्रारंभमें हम एक श्लोक ('पितेव···') को देकर श्रीअंबाजीके पुरुषकारका किंचित् दर्शन करा चुके हैं। यहाँ कुछ अधिक शब्दोंमें उसीको लिखा जाता है।

अकृत्यकारी और भगवद्विमुख जीवको वे अपनी निर्हेतुकी कृपासे उपदेश देती हैं-"अरे, तू इतने पाप करता है, परलोकका तुझे भय नहीं? तेरे महा-पातकोंकी इति भी है? तू एक-एक पापके लिये करोड़ों कल्पोंतक यमयातना सहेगा।" इत्यादि-इत्यादि प्रकारसे जीवको अपने कर्मोंसे ग्लानि कराके उसे ढारस देती हैं कि डर नहीं, तू भगवान् रामका आश्रय ग्रहण कर, उनकी शरणमें जा। वे शरणागति धर्मके ज्ञाता हैं, शरणागतवत्सल हैं, स्वप्नमें भी कभी शरणागतका त्याग नहीं करते। वे शरणागतके दोष कभी देखते ही नहीं, उन्हें तो यही चाह रहती है, नहीं-नहीं वे तो व्याकुल रहते हैं कि कब हमारा 'प्रिय पुत्र हमारी ओर देखता है। वे तो तुझे प्राप्त करनेके लिये सदैव व्याकुल रहते हैं। सम्मुख होते ही वे सारे अपराध क्षमा कर देंगे। इत्यादि-इत्यादि प्रकारेण वे जीवको उपदेश देकर वशमें कर लेती हैं। और, दूसरी ओर संश्लेष दशामें वे प्रभुको

उपदेश देकर (अर्थात् जीवके अपराधको देखकर जब वे कहते हैं कि हम इसे नहीं सह सकते, इसे अवश्य दण्ड देंगे, तब उन्हें समझाकर कि संसारमें कौन है जिसने अपराध नहीं किया, प्रश्न केवल कम या अधिकका ही रहता है, फिर उसका वश ही क्या ? आपकी माया परम बलवती है। उससे उबरना भला उसके सामर्थ्यकी बात है ? देखिए तो,वह ग्लानि कर रहा है,शरणमें आया है,अब इसे अपनाइये। इसका त्याग न कीजिये। इत्यादि-इत्यादि प्रकारसे) प्रभुके स्वातन्त्र्यको हटाकर उन्हें उस जीवको अंगीकार करनेके लिये उन्मुख करती हैं।

आप कहेंगे कि 'ऐसा कोई उदाहरण भी है, जिससे हमें इस कथन पर विश्वास हो ?', तो उदाहरण भी लीजिए। जयन्तकी रक्षा श्रीसीताजीने ही कराई है। जयन्त श्रीरामजीके अभिमंत्रित सींकबाणसे भयभीत जब समस्त लोकों, लोकपालों, ब्रह्मा, शङ्कर इत्यादिके पास जाकर भी निराश हुआ, कहाँतक कहा जाय, जब उसके बाप इन्द्रने भी उस रामविमुखकी रक्षा न की और देवर्षिने दया करके उसको श्रीरामजीकी ही शरण जानेका उपदेश दिया, तब वह अत्यन्त भयभीत 'त्राहि-त्राहि दयाल रघुराई' कहता हुआ उनके चरणोंपर गिरा, परन्तु श्रीरघुनाथजीने उसकी ओर देखा भी नहीं। तब परम करुणामयी श्रीसीताजी अपराधीका शिर श्रीसरकारके चरणोंपर डालकर उनसे निवेदन करती हैं--'भगवन् ! इस काककी रक्षा कीजिये।' यथा—

'पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा। तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी ॥ प्राणसंशयमापन्न दृष्टवा सीताथ वायसम्। त्राहि-त्राहीति भर्तारमुवाच विनयाद् विभुम ॥ प० पु० उत्तर २४२।२०७ ॥'

यह तो हुई ईश्वरको उपदेश देनेकी बात। रावणको जो बारंबार उपदेश दिया है कि यदि जीनेकी इच्छा हो तो श्रीरामकी शरण जा, वे शरणागतवत्सल हैं ···। यथा 'विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः। तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि।वाल्मी०५।२१।२०।'-यह उपदेश जीव को है।

यदि जीव समझानेसे नहीं मानता, तो उसे अपने कृपाकटाक्षसे भगवान्की ओर कर देती हैं। इसी तरह ईश्वरको अपने सौंदर्यसे वश करती हैं (अर्थात् अपने मन्द हास्य विलास आदिसे श्रीसरकारको प्रसन्न करके जीवको अङ्गीकार करा देती हैं)—

इसीसे तो तुलसीदासजी कहते हैं—'कबहुँक अंब औसर पाइ। मेरियो सुधि···' तथा 'जन की किये वचन सहाइ।' 'वचन सहाइ' से पुरुषकारत्वकी प्रार्थना सूचित की।

टिप्पणी—४ (ङ) 'तरै तुलसिदास भव तव नाथ गुनगन गाइ' इति। भाव कि गुणगानसे भवतरणमें संदेह नहीं। यथा 'कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना। एक अधार राम गुनगाना। सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥ सोइ भव तर कछु संसय नाहीं।७।१०३।५-६।', 'कलिजुग केवल हरि गुनगाहा। गावत नर पावहिं भवथाहा।७।१०३।४।'; परन्तु मैं गुणगान करने नहीं पाता। आपकी वचन द्वारा सहायता होनेसे प्रभु विघ्न-बाधाओंका नाश करेंगे। कलियुग मुझे डाँटता है, पीड़ित करता है, अनेक प्रकारसे सताता है, जिसमें आपके स्वामीका गुणगान न करूँ, उसका प्रचार न करूँ।

पुनः, 'तव नाथ गुनगन गाइ' में दूसरा भाव यह है कि 'अपने पतिके यशका प्रचार किसको न रुचैगा? सभीको रुचता है। अतः यह सुनकर कि यह हमारे पतिका गुणगान ही तो करना चाहता है, वे अवश्य सिफारिश करेंगी।'

[श्री सू० शुक्लजी लिखते हैं कि "आप सबकी माता हैं। पुत्रके लिये माताकी करुणा प्रसिद्ध है। यदि समय पाकर मुझको श्रीरामजीसे मिला देंगी, तो मेरे सिवाय तुम्हारा पुत्ररूप संसार भी तरेगा और तुम्हारे स्वामीका गुण गाया जावेगा; इसमें तुम्हारा पातिव्रत्य व पुत्रवत्सलताके दोनों धर्म सिद्ध होंगे।"]

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

पद ४२ (१५३)

कबहुँ समयं[1] सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।
जनु कहाइ नाम लेत हों[2] कियें[3] पन चातक,
ज्यों प्यास सुप्रेम[4] पान की॥१
सरल प्रकृति आपु जानिअै[5] करुनानिधान की।
निज गुन अरिकृत अनिहितौ[6] दासदोस सुरति,

---

१ समयं—६६, रा०। समय—औरोंमें। २ हों-२६, रा०, डु०, टी०, मु०। हौं—औरों में। ३ कियें—६६, रा०। किये—औरोंमें। ४ सुपेम—६६, रा०। सुप्रेम—भा०, वे०, ह०, १५, प्र०। प्रेम—५१, ७४, आ०। ५ जानिअे—६६ जानिअैं—रा०। जानिये—ह०, डु०, टी०, १५, ७४। जानिए—भ०, वि०। जानि के—मु०, ५१। ६ अनहितौ—६६, ह०, १५, वि०। अनहित उ—७४। अनहितो—रा०, आ०, (—वि०)।

चित रहति न दियें[7] दान की ॥२
बानि विसमरनसील[8] है मानद अमान की ।
तुलसिदास न विसारिऔ[9] मन क्रम वचन,
जाके सपनेहुँ गति न आन की ॥३

शब्दार्थ—समय = सुअवसर, मौका। यथा 'जानि समय सनकादिक आए।७।३२।३।', 'कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि।२।२८७।' समयं = मौके से, सुअवसरमें। जनु (जन) = सेवक। पन = प्रण, प्रतिज्ञा। सुपेम = अत्यन्त सुन्दर प्रेम। यथा 'नाम सुपेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन।१।२२।','कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कविमति अनुसरई।२।२४१।३।' पान = पीनेकी क्रिया। सरल प्रकृति = सीधा-सादा निश्छल स्वभाव। यथा 'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं ॥१।२३७।२।', 'नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील-सनेह-निधान। सबपर प्रीति प्रतीति जिय जानिअ आपु समान।२।२२७।', 'सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ।२।१८३।५।'—इन उदाहरणोंसे श्रीरघुनाथजीकी 'सरल प्रकृति' का भाव स्पष्ट हो जाता है। जानिऔ = जानती ही हैं। अनिहितौ = अनहित भी। अनहित = अनभल, अपकार, बुराई। (शुद्ध संस्कृत शब्द 'अहित' है)। यथा 'अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा।अ०।' सुरति = स्मरण; याद। दियें = दिये हुये। बानि (बान) = टेव, स्वभाव, आदत। यथा 'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।३।१०।८।' बिसमरन (विस्मरण) = भूल जानेका, स्मरण न रहने का। सील (शील) = स्वभाव, प्रकृति, मिजाज, प्रवृत्ति। =युक्त; पूर्ण। विस्मरणशील-भुलक्कड़ वा भुलना स्वभाव। मानद=मान देनेवाले। अमान-मानरहित। यथा 'सबहि मानप्रद आपु अमानी।', 'ज्ञाननिधान अमान मानप्रद।७।३४।५।', 'अगुन अलेप अमान एकरस।२।२१६।' सपनेहुँ=स्वप्नमें भी। यह मुहावरा है अर्थात् कभी भी नहीं।

पद्यार्थ—मेरी माता श्रीजानकीजी! कभी मौके से मेरी सुध दिला दीजियेगा। दास कहलाकर चातककी तरह प्रण किये हुए मैं

---

[7] दियें—६६, रा०। दिये—प्रायः औरोंमें। [8] बिसमरन–६६; ज०। विस्मरन—भा०, बे०, ह०, प्र०। विस्मर्न—१५। बिसारन—रा०, ५१, आ० (-मु०), ७४। [9]–बिसरिये–७४। बिसरिए–ह०। बिसारिअै–६६, रा०।

(राम) नाम लेता हूँ, (क्या प्रण किया है और क्या चाहते हैं, सो वताते हैं कि चातककी तरह) मुझे श्रीरामजीके सुन्दर प्रेम (रूपी स्वातिबुंद) के पीनेकी प्यास है ॥१॥ आप जानती ही हैं कि करुणासिंधु (श्रीरामचन्द्रजी) का स्वभाव सरल है। उनके चित्तमें अपने गुण, शत्रुद्वारा किये हुए अपकार भी, दासके दोष और दिये हुए दानकी याद नहीं रहती। (अर्थात् इन चारों वातोंको वे सदा जी-से भूले-भुलाये रहते हैं) ॥२॥ दूसरोंको मान देनेवाले और स्वयं मानरहित (श्रीरघुनाथजी) का स्वभाव विस्मरणशील है अर्थात् भुलक्कड़स्वभावकी वान पड़ गई है।* (विस्मरणशील वान पड़ जानेसे संभव है कि मुझे भी भुला दिया हो या भुला दें। अतएव आपसे प्रार्थना है कि 'सुधि द्याइवी' याद दिला दीजियेगा कि) जिसको मन, कर्म और वचनसे स्वप्नमें भी दूसरेकी गति ही नहीं (अर्थात् जिसको एकमात्र आपका ही आशा-भरोसा है) उस तुलसीदासको न भुलाइये॥३॥

टिप्पणी—१ (क) 'कवहुँ समय सुधि द्याइवी' में वही भाव हैं जो पद ४१ के 'कवहुँक अंव अवसर पाइ' में हैं। अतः पद ४१ नोट १ तथा टि० १ में देखिए। 'कवहुँक', 'अवसर' और 'समय' ये तीनों शब्द एकान्त प्रार्थना और सिफारिशके द्योतक हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी वाल्मी०७।४२।२८-२९ का प्रमाण देकर लिखते हैं कि श्रीरामजी पूर्वाह्णको छोड़कर शेष दिन अन्तः पुरमें ही विताते थे। श्रीसीताजी भी उतने समय अर्थात् २४ घण्टेमें १८ घण्टे स्वामी के पास ही रहती थीं, 'तो अवश्य ही कभी वैसा सुअवसर प्राप्त हो जायगा, तव मेरी सुधि करा दीजियेगा।' हम इसका भाव पिछले पदमें केदारारागके संबंधसे लिख आये हैं। बैजनाथजीका मत अर्द्धरात्रिके पक्षमें है। यह प्रार्थना साकेतनिवासिनी श्रीसीताजीसे की-जा-रही-है, श्रीरामजी इस समय नित्य साकेतमें हैं।

---

* अर्थान्तर—१ इन चारों वातोंकी विसारणशील वानि है जिसकी तथा अमान अर्थात् जिसका कहीं सम्मान न हो उसे भी मान देनेवाले ऐसे कृपालु जो मेरे स्वामी हैं उनसे कहियो कि ।(डु०)।

२ जिसका सम्मान कोई नहीं करता अथवा जिसको किसी वस्तुका मान नहीं, ऐसे जनको भी मान देनेवाले। (वै०)। ३ यह भी आदत है कि जिसका कहीं सम्मान नहीं होता, उसको भी सम्मान देते हैं पर इसे भी भूल जाते हैं। (भ., दीन, वि.)। ४ भूलनेवाली बानिके हद हैं। (वीर)।

पं० जानकीनाथ शर्माजी कहते हैं कि वस्तुतः ऐसा लगता है कि 'कबहुँक अंब औसर पाइ' और 'कबहुँ समय सुधि द्याइबी'में गोस्वामीजीकी दीनता ही छिपी है। अन्यथा सीताजीको समय तो सदा ही है। 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा', 'अनन्या च मया सीता', 'यस्त्वया सह स स्वर्गो नरको यस्त्वया विना', 'प्रभुवियोग लवलेस समाना। सब मिलि होंहिं न कृपानिधाना', 'कहियत भिन्न न भिन्न' आदिसे 'सीताराम' की अभिन्नता ही सिद्ध है। विशेषकर नित्य साकेतवासके उपासना ध्यान आदिमें तो यही निर्दिष्ट है और तदनुसार राज्यारोहण सभाकाल आदिमें भी वे सदा साथ हैं। 'सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां जानकीं', 'श्रीसीतया शोभितं', "सीता समारोपित वाम भागं' आदि सभी वचन इसी पक्षमें हैं। इस लिये 'कबहुँक' में यथेच्छ, यथावसर, अपनी सुविधा तथा इच्छानुसार चर्चा चलानेकी प्रार्थनामें गोस्वामीजीकी दीनता ही प्रमुख वस्तु है।

१ (ख) 'मेरी मातु जानकी' इति। प्रथम पद ४१ में जगज्जननी मानकर उस नातेसे अपनेको भी पुत्र और जन मानकर वन्दना की थी। जगदंबाकी कृपा तो साधारणतः अपने सभी पुत्रोंपर एकरस समान रहती है। जैसी कृपा वे सबपर करती हैं वैसी ही तुलसीदासपर भी करेंगी। इस साधारण कृपासे अपना काम न चलता देख फिरसे वन्दना करते हैं और अबकी बार 'मेरी मातु' अर्थात् 'निज जननी' "अपनी माता' कहकर विनय करते हैं। अपनी माताका स्नेह अपने पुत्रपर सबसे अधिक होता ही है, 'माँ' शब्द सुनते ही उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता है। अतः विशेष भावके उद्दीपनके लिये 'मेरी मातु' सम्बोधन किया। इसीसे अबकी बार ऐश्वर्यद्योतक नाम छोड़कर माधुर्यसूचक 'जानकी' मात्र नाम दिया। 'जानकी' अर्थात् जो भक्तोंके सौलभ्यहेतु मिथिलापति श्रीजनक महाराजकी कन्या हुईं। [पुनः, माता कहकर भी 'जानकी' कहना कविका शिष्टतापूर्ण दंपति-मिलनकी एकान्तता सूचित करता है।

पूर्व पद ४१ में 'अंब' संबोधन किया और यहाँ 'मातु'। 'अंब' वर्तमान 'अम्मा' का शुद्ध रूप है यह शब्द खास माताके लिये सहज रूपमें प्रयुक्त होता है और जब कोई व्यक्ति निश्छल निष्कपट और विशुद्ध हृदय होकर किसी स्त्रीको माताके तुल्य मानकर उसके साथ औरस सुतका व्यवहार करता है तब मातु शब्दका प्रयोग होता है। (दे. द. शर्मा)]

१ (ग) 'जनु कहाइ नाम लेत हौं' इति। 'जन' और 'नाम लेत हौं' के भाव कुछ पद ४१ के 'नाम लै भरै उदर' और 'जनकी किये बचन सहाइ' की टिप्पणियोंमें आ चुके हैं। 'जन कहाइ' का भाव कि मैं लोगोंसे अपनेको श्रीरामजीका जन कहता हूँ और वे भी मुझे श्रीरामजी का जन कहते हैं। यथा 'लोग कहैं अरु हौंहूँ कहौं जन खोटो खरो रघुनायक ही को। रावरी राम बड़ी लघुता जस मेरो भयो सुखदायक ही को॥ क० ७।५६।', 'एक ही भरोसो राम रावरो कहावत हौं, रावरे दयालु दीनबंधु मेरी दीनता। क० ७।६२।', 'लोग कहैं रामको गुलाम हौं कहावौं। ऐते बड़े अपराध भो न मन बावों।७२।', 'हौंहुँ कहावत सब कहत राम सहत उपहास।१।२८।' पुनः 'जनु कहाइ' का भाव कि रामनाम लेता हूँ, इसीसे जन कहलाता हूँ। पुनः 'जनु कहाइ' का भाव कि जो जन कहलाता है उसकी लज्जा प्रभुको रखनी पड़ती है, यथा 'तुलसीसे कूरको कहत जग रामको। आपने निवाजेकी लाज महाराजको सुभाउ समुझत मनु मुदित गुलामको। क० ७।१४।'

१ (घ) 'किये पन चातक ज्यों···' इति। ग्रंथकारने श्रीपार्वतीजीसे प्रार्थना की थी कि 'देहि मा मोहि पनु पेमु यहु नेमु निज राम घनस्याम तुलसी पपीहा। १५ (५)', 'रघुपति परम प्रेम तुलसी चहै अचल नेमु देहि ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनतपालिका। १६(३),उनसे वर माँगा था और यहाँ उसका प्रण करना कहा है। इससे जनाया कि श्रीपार्वतीजीसे 'प्रेमपन' और 'नेम' का वर प्राप्त हो चुका, तभी तो अब उसका 'पन किये' होना कहते हैं। अभी प्रेम मिला नहीं है, इसीसे प्रेमरूपी स्वातिजलपानकी प्यास कह रहे हैं। और भी कहा है। यथा 'प्यास पदकंजमकरंद-मधु पानकी।२०१।' चातक प्रेमका ही प्यासा रहता है। यथा 'तुलसीके मत चातकहि, केवल प्रेम पियास। पियत स्वातिजल जान जग, जाचत बारह मास॥', 'सुनु रे तुलसीदास, प्यास पपीहहिं प्रेम की। परिहरि चारिउ मास, जो अँचवइ जल स्वाति को॥','जाचै बारह मास, पियै पपीहा स्वातिजल। जान्यो तुलसीदास, जोगवत नेही मेह मन।' (दो० ३०८, ३०६, ३०७)। विशेष पद १५, १६ और ६५ में देखिये।

१ (ङ) 'चातक ज्यों' कहकर अपनेमें श्रीरघुनाथजीके प्रेमका अनन्य व्रत और अन्य सभीके प्रेमका अभाव जनाया। यथा—'सेये न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी हितु कै न माने हरिउ न

हर। रामनाम ही सों जोग छेम-नेम-प्रेम-पन सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहर ॥२५०॥', 'ईस न गनेस न दिनेस न धनेस न सुरेस सुर गौरि गिरापति नहिं जपने। तुम्हरेई नामको भरोसो भव तरिवेको, बैठे-उठे जागत बागत सोये सपने ॥क०७।७८॥'

तुलसीदासको भी चातक की-सी टेक है, यथा 'एक भरोसो एक बल एक आस बिश्वास। एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास ॥ दो० २७७॥', यह 'चातक ज्यों' से प्रकट किया है।

१ (च) 'जन' और 'नामजापक' प्रभुको अत्यन्त प्रिय हैं, यह पद ४१ (४ ख), ४१ (२ छ) में दिखा आये। यहाँ 'चातक ज्यों पन किये' कहा, क्योंकि अनन्यगतिक भक्त भी प्रभुको अति प्रिय होता है, यथा 'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥ ३।१०।८।' और श्रीरामजीको 'सुपेम' सुन्दर सुष्ठ 'निसोत' (खालिस) प्रेम परम प्रिय है, वे ऐसे प्रेमपर रीझते हैं, यथा 'मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें। १।३४२।' (यह श्रीजनकवाक्य है), 'रामहिं केवल प्रेमु पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा। २।१३७।१।' (यह कविने चित्रकूटके किरातोंके प्रसंगमें कहा है। 'राम सनेह मगन सब जाने।' अतएव 'बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ।२।१३७।'), 'सुनु समुझि तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के ।गी०३।१७।' (श्रीशबरीजी के दिये हुये कंदमूल फल बेर बड़े रुचिसे बड़ी भूखसे माँग-माँगकर खाते हुये देखकर 'पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन भाग के॥ बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के।'—उस समय कविने यह कहा है)। इसी तरह वानरोंका प्रेम देखकर कि इन्होंने हमारे लिये घरबार छोड़ आत्मसमर्पण कर दिया, 'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद।', उस समय श्रीशिवजी कहते हैं—'उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम। ६।११६।' अतएव 'प्यास सुपेम पान की' भी कहा।

२ (क) 'सरल प्रकृति आपु जानिऔ' इति। सरल प्रकृति है अर्थात् उसमें कपट, छल, कुटिलता आदि छू भी नहीं गए, सबसे प्रीति करते हैं। यथा 'सरल सुभाव न मन कुटिलाई ।७।४६।', 'सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती ।३।४६।२।', 'नवम सरल सब सन छल हीना।'

३।३६।५।'—विशेष शब्दार्थ में देखिये ।

'आपु जानिऐ' का भाव कि मैंने तो सुनी या पढ़ी ही है, पर आप तो सदा साथ रहती हैं, इससे आप जानती ही हैं कि यह सत्य है, जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह झूठ नहीं है ।

२ (ख) 'करुनानिधान' इति । यह नाम श्रीसीताजी को अत्यन्त प्रिय है । श्रीगुरुदेवजी महात्मा अनन्त श्रीरूपकलाजी महाराज कहा करते थे कि श्रीस्वामिनीजी श्रीसरकारको इसी विशेषणसे याद किया करती हैं । इसीसे कविने यही विशेषण जहाँ तहाँ उनके संबंध में दिया है । यथा 'जनकसुता जगजननि जानकी । अतिसय प्रिय करुनानिधान की ।१।१८।' इसीसे विश्वास दिलानेके लिये श्रीहनुमान्‌जीने इसी नामकी शपथ की है । यथा 'रामदूत मैं मातु जानकी । सत्य सपथ करुनानिधान की ।५।१३।' तथा यहाँ गोस्वामीजीने 'सरल प्रकृति आपु जानिऐ करुनानिधान की' कहा ।

अपना चातकका-सा प्रण कहकर 'करुनानिधान' शब्द देकर जनाया कि सुध दिलानेसे वे अवश्य करुणा करेंगे, क्योंकि 'एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाके गति न आन की ।'

२ (ग) 'निज गुन···' इति । निज गुणकी सुरति नहीं रहती । यथा-

'निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ॥१००॥'
'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिरु नाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत बानरबंधु बड़ाई ॥१६४॥'
'को साहिब सेवकहि नेवाजी । आपु समान साज सब साजी ॥
निज करतूति न समुझिअ सपने । सेवक सकुच सोचु उर अपने ॥२।२९९।'

☞ गीधराज श्रीजटायुजीको कैसी सद्‌गति देकर भी कहते हैं कि 'तात करम निज ते गति पाई ।' विभीषणजी को लंकाका राज्य देकर भी सोचते हैं कि हमने कुछ न दिया । यथा 'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दियें दस माथ । सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ । ५।४९।'

२ (घ) 'अरिहुक अनहितौ···' इति । 'अरिहुक अनहितौ' की सुरति न रहनेके उदाहरण सुनिये । -

'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा ।अ०१८३।६।' (यह श्रीभरत-वाक्य है)

'जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत कहि न जाइ अति भारी ।

सकल लोक अवलोकि सोकहत सरन गए भय टारी ॥१६६।'
'कीन्ह मोहवस द्रोह, जद्यपि तेहिकर वध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर सम। ३।२।'
'आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥ वाल्मी० ६।१८।३४-३५।'

(चाहे वह रावण ही क्यों न हो और विभीषणका रूप धरकर आया हो, तो भी मैं उसे अभय देता हूँ। ☞ शत्रु एवं कपटीके प्रति भी कैसी दया, कैसी उदारता है !!!)। 'अनहितौं' अहित भी कहनेका भाव कि और सब कोई भूल भी जाय, पर यह (अहित) कभी नहीं भूलता।

२ (ङ) 'दास दोस सुरति चित न रहति' के प्रमाण। यथा 'देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने। २।२९९।४।' (यह श्रीभरतवाक्य है, अतः स्वयं प्रमाण है), 'न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया। वाल्मी० २।१।११।' अर्थात् किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी श्रीरामजी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे। (ये महर्षि वाल्मीकिके वाक्य हैं। श्रीदशरथजी तथा प्रजाने इन गुणोंको उनमें देखा है। इतना ही नहीं, वे सेवकके अपराधको अपना किया हुआ ही मान लेते हैं); 'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहुँ राम न उर धरेउ। दो० ४७।' अब उदाहरण सुनिए।—श्रीसुग्रीव, श्री विभीषण और वानर-भालु इसके उदाहरण हैं। मानसमें 'रहति न प्रभु चित चूक किये की।१।२८।५।' यह कहकर तब प्रमाणमें इन तीनोंको कहा है। यथा 'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी।१।२८।६-७।', 'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किये आपु समान।१।२९।'

श्रीविभीषणजी श्रीरङ्गनाथजीके दर्शन एवं पूजनके लिये नित्य श्रीरङ्गद्वीपमें आया करते थे। एक वार वहाँ मार्गके एक मोड़पर एक वृद्ध ब्राह्मण उनके रथके पहियेके नीचे दबकर मर गया। वहाँके ब्राह्मणोंने इन्हें पकड़ा और पलाशदण्ड तथा कुठारसे मार डालनेका प्रयत्न किया, किंतु असफल हुए। तब उन्होंने इन्हें एक गुफामें बंद कर दिया। उधर नारदजीने श्रीरामजीको समाचार सुनाया। सुनते ही वे पुष्पकपर सवार होकर वहाँ पहुँच गए। राजाने उनका

स्वागत सत्कार किया। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंने सामूहिक रूपसे प्रार्थना की कि हमने एक विप्रद्रोही राक्षसको बंदी किया है, आप उसे प्राणदण्ड दें। श्रीरामजी गुफामें गये, विभीषणके बंधन अपने हाथसे खोले और बोले—"विप्रगण! निश्चय अपराधका दण्ड प्राणदण्ड है; यदि आप इसी दण्डका निर्णय करते हैं'…किन्तु सेवक यदि अपराध करे तो वह अपराध उसके स्वामीका होता है। अपराधका दण्ड भृत्य नहीं, स्वामी पाता है।…मैं आपके करोंसे मृत्युदण्ड ग्रहण करनेको प्रस्तुत हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह मेरा अपराध है।" —('कल्याण' में भी यह कथा है और 'मानस-मणि २।१।५ पृष्ठ १४७-१४८ में है। यह कथा 'तमिलके स्थल पुराण' में है)।

७ (च) 'सुरति चित रहति न दिये दान की' इति। यह 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती' का उदाहरण है। जब कृपाका भण्डार खुलता है तो देते अघाते नहीं। मनुशतरूपाजी, सुतीक्ष्णजी और विभीषणको ही ले सकते हैं। मनुशतरूपापर प्रसन्न होनेपर 'मागु मागु बर भै नभ बानी।१।१४५।' उन्होंने दर्शन माँगा, यथा 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।' दर्शन मिल गया; फिर भी दर्शन देनेपर 'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि।१।१४८।', 'सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही'। तब 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत' माँगा और प्रभुने यह भी दिया। श्रीभरतजी प्रभुके समान सुत मिले और 'नृप तव तनय होब मैं आई' यह अधिक दिया। इतने पर भी मनुजीने फिर माँगा कि 'सुत विषइक तव पद रति होऊ', तथा 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहिं अधीना॥'—यह भी दिया। इतना देकर भी अघाये नहीं। अपनी ओरसे उनको अवधका राज्य, अंशों सहित अवतार तथा परमशक्ति पुत्रवधू भी दिये।

श्रीसुतीक्ष्णजीने माँगा कि 'तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु सरन सुखदाई', तब प्रभुने 'अबिरल भगति, बिरति, बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञाननिधाना।' एकदम इतने वर दे दिये। फिर भी मुनिने 'अनुज जानकी सहित' हृदयमें निवास माँगा। वह भी दिया। फिर गुरुजीके यहाँ साथ-साथ जानेकी आज्ञा माँगी, वह भी मिली।

श्रीविभीषणजीने प्रभुकी पावनी भक्ति माँगी। प्रभुने वह दी और अपनी तरफसे उनका तिलक करके उनको लंकेश बना दिया। रावण

को सदल सपरिवार मारकर राज्य-सिंहासनपर विठाया। इतनेपर भी संतोष नहीं हुआ; मानों कुछ दिया ही नहीं। तब अपनी ओरसे 'करेहु कलप भरि राजु तुम्ह' और 'पुनि मम धाम पाइहहु'—ये दो वर दिये।

इसी तरह भुशुण्डीजीको माँगा वर देकर भी अपनी ओरसे वरदानोंका खजाना ही उनके लिये खोल दिया, सब कुछ दे डाला। मानस उत्तरकांड दोहा ८३ से ८८ (१) तक देखिये।

दानी तो रघुवंशीमात्र हैं। 'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं।१।२३१।८।' यह स्वयं श्रीरामजीने कहा है। पर श्रीरामजी महादानि हैं, दानिशिरोमणि हैं, रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ हैं। यथा—'इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते। वाल्मी० २।२।२८।' अर्थात् इक्ष्वाकुवंशी सब राजाओंसे वे श्रेष्ठ हैं। ये दान देकर भी उसे भूल जाते हैं, इसीसे बारंबार देते हैं और फिर भी सोचते हैं कि हमने इसे कुछ दिया नहीं; यथा 'लंक जरी जोहैं जिय सोच सो बिभीषन को। क० ७।२२।'

नोट—१ इन चारोंका भूल जाना कहनेमें भाव यह है कि प्रायः लोग इनको नहीं भूलते। 'निज गुण' की सुरति नहीं रहती, इससे जनाया कि उनका अहंकार नहीं है। वाल्मीकिजी भी कहते हैं—'वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः।२।१।१३।' अर्थात् बल और पराक्रमसे संपन्न होनेपर भी अपने महान् पराक्रमके कारण उनको कभी गर्व नहीं होता। अरिकृत अहित तो लोगोंकी पीढ़ियों तकको नहीं भूलता। श्रीरामजी भूल जाते हैं, इससे उन्हें सन्तस्वभाव जनाया। चक्रवर्तीजीने कहा भी है—'सब कोउ कहत राम सुठि साधू'। दासके दोषपर भी स्वामी रुष्ट हुआ करते हैं—'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि।' श्रीरामजी इसका स्मरण नहीं करते। इससे उनको आत्मवान्, शीलवान्, आदि जनाया। दान लेनेवाला जहाँ चार छः बार लेने एकही दिनमें आया कि दानीकी त्योरी चढ़ जाती है, यह प्राकृत दानियोंमें प्रायः देखनेमें आता है। प्रभुमें यह बात नहीं है। इससे उदारशिरोमणि जनाया।

२—बैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ चार बातोंका भूलना चार गुणोंके कारण है। कृपा-गुणके प्रभावसे अपनी की हुई भलाईका गुण भूल जाते हैं; क्योंकि जीवमात्रकी रक्षाके लिए अपने ही को समर्थ माने हुए हैं, तब भलाई करना किससे मानें? क्षमा-गुणसे शत्रुकृत अहित

भूल जाते हैं। कृतज्ञता गुणके प्रभावसे दासका दोष भूल जाते हैं। और, उदारता-गुणसे दिये हुए दानकी सुध भूल जाते हैं।"

टिप्पणी—३ 'बानि बिसमरनसील···' इति। (क) इस चरणका अन्वय यह होगा—'मानद अमानकी विस्मरणशील बानि है।' पूर्व निज गुण, अरिकृत अनहितौ, दास दोप और दान दे चुकनेकी—ये चार बातें गिनाकर अब कहते हैं कि यह उनका स्वभाव, विस्मरणशीलकी विस्मरणवाली बातें कहाँ तक गिनाई जावें। जो स्वयं अमानी है और दूसरोंको मान देता है, उसमें ये गुण होने ही चाहिये; क्योंकि अपने गुणोंका, अपनी की-हुई भलाईका स्मरण बना रहनेसे अवश्य अभिमान हो जानेकी संभावना बनी रहती है, अपनी प्रतिष्ठाका विचार अवश्य अंकुरित हो आता है।☞ विस्मरणशीलताका उलहना भी गोस्वामीजीने दिया है। यथा 'वेद पुरान कहत जग जानत दीनदयाल दिन दानि हो। कहि आवत बलि जाउँ मनहुँ मेरी वार बिसारे बानि हो।२२३।', 'काहे ते हरि मोहि बिसारो। जानत निज महिमा मेरे अघ तदपि न नाथ सँभारो।६४।'

३ (ख) 'मानद अमानकी' इति। हमने जो इसका अर्थ किया है, उसे पाठक स्वयं विचार देखें। श्रीरघुनाथजी 'अमान' अर्थात् मानरहित हैं, यथा 'गुन-ज्ञान-निधान अमान अजं। नित राम नमामि विभुं बिरजं॥ लं० ब्रह्मस्तुति।', 'ज्ञाननिधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान वेद वद।७।३५।५।' (सनकादिककृत स्तुति), 'औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।७।४५।' वे सबको मान देते हैं, यथा—'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई।३।१२।१४।', 'तात राम जस आयसु देहू। सो सब करइ मोर मत एहू॥ सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी।···राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई।२।२६६।'

सबको मान देना और स्वयं मानरहित होना सन्त गुण हैं; यथा 'सबहिं मानप्रद आपु अमानी।७। ३८।४।'—ये गुण श्रीरामजीमें भी हैं जैसा उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है। इसीसे श्रीदशरथजी महाराजने कहा है कि 'सब कोउ कहत राम सुठि साधू।'

विनयपत्रिकाके अनेक पदोंमें ये (मानद, अमान) गुण स्मरण कराये गये हैं। निषादराज, गीधराज, शबरी और बानर-भालुओंको अपनाना 'अमानता' का उदाहरण है। ऋषियोंको छोड़कर भीलनी

नीके यहाँ पूछते-पूछते पहुँच गये, बालीको छोड़कर सुग्रीवको अपनाया, इत्यादि।—गोस्वामीजीने इन्हीं गुणोंको दृष्टिमें रखकर कहा है—'श्रीरघुबीरकी यह बानि। नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।२१५।', 'ऐसी हरि करत दासपर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जन के वस होत सदा यह रीति।६८।' इत्यादि।

३ (ग) 'तुलसिदास न विसारिये···' इति। (क) 'मानद अमान' की विस्मरणशीलता कहकर 'तुलसिदास न विसारिये' कहनेका भाव कि मुझे भी अपना चुके हैं, प्रतिष्ठा दे चुके हैं। यथा 'असन बसन हीन विषम विषाद लीन देखि दीन दूवरो करै न हाय हाय को। तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो दियो फल सीलसिंधु आपने सुभाउ को॥ नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइ गो विहाय प्रभु भजन वचन मन कायको। ह० वाहुक ४१।', 'मानस वचन काय किए पाप सतिभाँय रामको कहाइ दासु दगाबाज पुनी सो॥ रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रतापु तुलसी सो जग जानिअत महामुनी सो।क०७।७२।'; फिरभी भुला दिये हैं तभी तो महामुनिके समान प्रतिष्ठा पानेपर भी "अतिही अभागो अनुरागत न रामपद मूढ़ एतो वड़ो अचिरिजु देखि-सुनी सो।क०७। ७२।'"।

३ (घ) 'मन क्रम बचन जाकें गति न आनकी' इति। मन-कर्म-वचन-से तुलसीदासजी श्रीरामजीके ही हैं। यथा 'तुलसी तिहारो मन वचन करम तेहि नाते नेह नेम निज ओर ते निवाहिए। क० ७।७६।' उनको दूसरी गति नहीं; यथा 'राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही। रामकी सौंह भरोसो है राम को, राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही॥क०७।३६।', 'जानत जहान मन मेरेहूँ गुमान बड़ो, मान्यो मैं न दूसरो न मानत न मानिहौं॥ पाँचकी प्रतीति न भरोसो मोहि आपनोई···।क०७।६३।','जापकी न तप खपु कियो न तमाइ जोग जाग न बिराग त्याग तीरथ न तनको। भाई को भरोसो न खरो-सो वैरु बैरीहू सों वल अपनो न हितू जननी न जनको॥ लोक को न डरु परलोक को न सोच देवसेवा न सहाय गर्व धाम को न धन को। राम के नाम तें जो होइ सोइ नीको लागै ऐसोइ सुभाउ कछु तुलसीके मन-को। क० ७।७७।', 'जानकीरमन मेरे, रावरे बदन फेरे ठाँउ न समाउँ कहाँ, सकल निरपने। क० ७।७८।', 'आपने तो एक अवलंब अंब डिंभ ज्यों समर्थ सीतानाथ सब संकट बिमोच है। क० ७।८१',

'…मेरिऔ टेव कुटेव महा है। जानकीनाथ बिना तुलसी, जग दूसरे सों करिहों न हहा है। क० ७।१०१।', 'तुम्हरो सब भाँति तुम्हारिअ सौं तुम्ह ही बलि हौ मोको ठाहरु हेरे। क० ७।६२।', 'साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच सोच कहा, का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको क० ७।१०७।', 'रामनाम मातु पितु स्वामि समरथ हितु…७।१७८।'(पूरा पद); 'खोटो खरो रावरो हौं रावरी सौं रावरे सों झूठ क्यों कहोंगो जानौ सबही के मनकी। करम बचन हिये कहों न कपट किये, ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे सनकी॥ दूसरो भरोसो नाहिं बासना उपासना की, बासव बिरंचि सुर नर मुनिगन की। वि० ७४।'

३ (ङ) जो मन कर्म वचनसे श्रीरामजीका अनन्यगतिक सेवक है वह तो उनको सदा प्रिय है। श्रीसुतीक्ष्णजीके भी ऐसे ही विचार हैं। सुतीक्ष्णजीके संबंधमें वक्ताके वचन हैं-"मनक्रमबचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक।" और सुतीक्ष्णजीके विचार हैं कि 'एक बानि करुनानिधान की सो प्रिय जाके गति न आन की।३।११८।' वैसेही यहाँ 'मन क्रम बचन', 'सपनेहुँ', 'जाके गति न आन की', 'न बिसारिए' कहा गया है। जब ऐसा सेवक सदा प्रिय है, तब 'न बिसारिए' यह सिफारिश करानेकी बात कैसी? इसमें भाव यह है कि विस्मरणशील बान पड़ जानेसे कहीं भक्तवत्सलता भी न भूल जायँ; अतः याद दिलानेको कहते हैं।

३ (च) उपक्रममें चातकवृत्ति धारण करना कहा, वैसेही अन्तमें 'गति न आन की' से उपसंहार किया; क्योंकि प्रभु अनन्य अव्यभिचारिणी भक्तिपर शीघ्र द्रवीभूत होते हैं।

३ (छ) मातासे प्रार्थना की। माताने प्रार्थना स्वीकार की, करुणानिधानको सुध दिलाई, यह बात विनयपत्रिकाके अन्तिम पदके 'सुधि मैं हूँ लई है' से स्पष्ट किया है।

बैजनाथजी—'बानि बिसारनसील है' यह जो कहा उसमें भाव यह है कि "पूर्व भलाई करके मुझे मनुष्यतन दिया। मैं विषयासक्त हो गया, सो न विचारेंगे, क्योंकि पूर्वगुण भूल जाते हैं। पुनः, दास कहलाकर मैं लोकसुखहेतु अनेक कर्म करता रहा, इसे भी भूल जायँगे, क्योंकि दासके दोष नहीं देखते और न याद रखते हैं। पुनः उत्तम कुलमें जन्म, सुभूमिकामें उत्तम संग इत्यादि दान दिया, तब भी मैं याचना ही करता हूँ। सो उन्हें दानोंकी सुध नहीं रहती, इससे

अवश्य मेरी याचना मिटायेंगे। पुनः, वे अमानको मान देनेवाले हैं, सो मैं ऐसा अमान हूँ कि स्वप्नमें भी दूसरेकी गति नहीं है, ऐसा विचारकर तुलसीको न बिसारिये, प्रभुकी शरणागति प्राप्त कीजिये। अथवा, आप प्रभुसे ऐसा कहिये कि तुलसीदासको न बिसारिये।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

४३ राग धनाश्री

जयति सच्चित[1] ब्यापकानंद[2] यतब्रह्म[3] बिग्रह[4] ब्यक्त लीलावतारी।
बिकल ब्रह्मादि-सुर-सिद्ध-संकोचबस बिमलगुनगेह नरदेहधारी॥१॥
जयति[5] कोसलाधीस कल्यान कोसलसुता कैवल्य फलचारु चारी।
बेदबोधित कर्म धर्म धरनी धेनु बिप्र सेवक साधु मोदकारी॥२॥
जयति[5] रिषिमखपाल समन-सज्जनसाल पापबस[6] मुनिबधू सापहारी[7]।
भंजि भवचाप दलि दाप भूपावलीसहित भृगुनाथ नतमाथभारी॥३॥
जयति‘धार्मिक[8]-धीर-धुर बीर रघुबीर’ गुरमातुपितुबंधुबचनानुसरी।
चित्रकूटाद्रि बिंध्याद्रि दंडक बिपिन धन्यकृत पुन्य काननबिहारी।४।
जयति पाकारिसुत काक-करतूति-फलदानि खनि गर्त गोपितबिराधा।
दिव्यदेवीबेष देखि लखि निसिचरी जनु बिडंबित करी बिश्वबाधा।५।
जयति खर त्रिसिर दूषन चतुर्दस सहस सुभट मारीच संहारकर्ता।
गृद्ध[9] सबरीभक्तिबिवस[10] करुनासिंधु चरित निरुपाधि त्रिविधार्तिहर्ता।६
जयतिमदअंधकुकबंधबधि बालि-बलसालि[11]-बध-करन-सुग्रीव राजा।

---

१ सच्चित—भा०, प्र०, ज०, भ०, । सच्चित्—वै०, मु० । सच्चिद-ह०, ज० । जयसच्चिद्—वीर, दीन । सच्चिदा-रा० । सदसतचित-ङु, टी० । २ आनंद ब्यापक-वीर, दीन । ३ यत् ब्रह्म-भा०, बे०, भ० । यतब्रह्म-रा० । यद्ब्रह्म—वै०, वि० । परब्रह्म-मु० । ब्रह्म—वीर, दीन । ४ विग्रहा-भा०, ह० । विग्रह प्रायः और सबोंमें । ५-मु० और ७४ में नहीं है । ६-७ पापवस‥ सापहारी रा०, भा० । सापवस‥पापहारी —ह०, ५१, प्र०, ७४, ज०, १५, आ० । ८-‘धार्मिक धीर धुर बीर रघुबीर’—रा०, ह०, ७४, (रा० में ‘धीर[2]. धुर[1]’ है, लेखकका बनाया है या किसी और का कह नहीं सकते)। धार्मिक धुरधीर रघुबीर—मु०, ५१, आ० । धुरधीर रघुबीर धार्मिक-भा० । रघुबीर धुरधीर धार्मिक—बे० । ९ गृद्ध—रा०, ह०,

---

सुभटमर्कट-भालु-कटक-संघटसजत नमत[१२]पदरावनानुजनेवाजा॥७॥
जयति पाथोधिकृत सेतु कौतुकहेतु कालमन अगम लइ ललकि लंका।
सकुल-सानुज-सदलदलित दसकंठ रन,लोकलोकप किये रहितसंका॥८
जयतिसौमित्र-सीता-सचिव-सहित, चले पुष्पकारूढ़ निज राजधानी।
दासतुलसी मुदित अवधवासी सकल राम भये[१३]भूप वैदेहिरानी ॥९॥

शब्दार्थ—सच्चित = सत् चित् । व्यापकानन्द = व्यापक-आनन्द। यत् = जो । विग्रह = स्वरूप, मूर्ति । व्यक्त = प्रकट । लीला = इच्छा, क्रीड़ा = चरित । विशेष टि० १ (छ) में देखिये । अवतारी = अवतार लेनेवाले ।= जिससे सब अवतार होते हैं । कुसल (कुशल) = कुशल-मूर्ति, पु यशीला । बोधित = समझाये बुझाये हुये = कहे हुये ।= विहित । साल = पीड़ा देनेवाले । वधू = स्त्री । दाप (दर्प) = अभिमान; यथा 'भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा ।१।२८८।३६।' नत = नीचा हो गया। भारी = गर्वसे भरा हुआ । भृगुनाथ—भृगुपति, भृगुनाथ, भृगुसुत, भृगुकुलकमलपतंग—ये सब परशुरामजीके नाम हैं । धार्मिक = धर्मात्मा । बचनानुसारी = वचन अनुसारी = वचनके अनुकूल आचरण करनेवाला । विंध्याद्रि = विन्ध्य-अद्रि = विन्ध्याचल ।☞ यह एक पर्वत-श्रेणीका नाम है जो भारतवर्षके मध्यमें पूर्वसे पश्चिमको फैला हुआ है । वाल्मीकीयके अनुसार इसीकी शाखा दक्षिणमें फैली हुई है—ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि स्वयंप्रभाके आश्रमके पास विन्ध्यगिरिमें वानरोंका भूलना कहा गया है । दंडकवन—यह वह प्राचीन वन है जो विन्ध्याचलसे लेकर गोदावरीतटतक फैला था । दण्ड इक्ष्वाकु महाराजके पुत्र और शुक्राचार्यके शिष्य थे । कथा टिप्पणी ४ (च) में दी गई है । धन्य पुन्यकृत = कृतार्थ, प्रशंसनीय और पवित्र किया वा करनेवाले । यथा—'धन्य पुन्य कृत सगरसुत ।' (पद १८) । पाकारि-सुत = पाक (दैत्य) के अरि (शत्रु) इन्द्रका पुत्र = जयन्त । खनि = खोदकर । खनना = खोदना । गर्त = गड्ढा । गोपित = गुप्त कर दिया; गाड़ दिया । विराध—यह 'जव' राक्षसका पुत्र था । इसकी माताका

मु० । गिद्ध–प्र०, ७४ । गृध्र–ड़ु०, वैं०, दीन, वि० । गीध-भा०, वे०, ज०, भ० ।
१० वस्य-प्र०, ज० । ११ वधि–ह० । १२ नमित–रा०, भा०, ह० । नमत—वे०, प्र०, ५१, ज०, ७४, आ० । १३भे— ५१, ७४, आ० (–ड़ु०) ।

नाम शतह्रदा था। इसने तप करके ब्रह्मासे वर प्राप्त कर लिया था कि किसी अस्त्र-शस्त्रसे न मर सके और न कट या छिद सके, सदा अच्छेद्य और अभेद्य रहे, शरीरको कोई छिन्न-भिन्न न कर सके। इस वीहड़ वनमें वह भ्रमण करता और मुनियोंका मांस खाया करता था। यह पूर्व जन्ममें तुम्बरु नामका गंधर्व था जो रम्भापर आसक्त होने और समयपर कुवेरकी सेवामें न पहुँचनेसे शापित हुआ। उन्होंने शापानुग्रह यों किया कि श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे वध होनेपर तू पुनः इसी पूर्व स्वरूपको प्राप्त होकर स्वर्गमें आवेगा। यह कथा इसने स्वयं श्रीरामजीसे कही है (वाल्मी. ३। सर्ग ३ व ४)। इसीसे उन्होंने इसको वड़ा भारी गड्ढा खोदकर उसमें तोप दिया था जिससे वह निकल न सके, उसीमें मर जाय। ☞ वह पाताल समान गहरा गड्ढा अनुसूया-आश्रमसे कुछ दूरीपर है और विराधकुण्ड नामसे प्रसिद्ध है। सन् १८८४ई० में अमरीकाके प्रसिद्ध प्रोफेसर लुफलिया महोदयने गरारीपर पैंतालिस मनका लंगर लटकाकर विराधकुंडकी गहराईकी जाँच की। लंगरपर एक लैम्प भी बँधा था। वह लंगर यहाँ तक दूर गया कि लैम्प एक कुमकुमा या तारा जैसा दीखने लगा, परन्तु गहराईका अन्त न मिला। लैम्पके प्रकाशमें दूरवीनसे देखनेवालोंको झाड़-झंकाड़ मकड़ियोंके जाले, सर्पोंकी केंचुलें, विल और संधियोंमें वैठे सर्प और विच्छू आदि दिखाई देते थे। यह कुण्ड सोलह या सत्रह हाथ चौड़ा है। अँग्रेजोंने अवतक गहराईका अन्त नहीं पाया है। विडंवना = हँसी उड़ाना, उपहास, अपमानित वा निरादृत करना। = फ़जीहत। यथा 'केहिके लोभ विडंवना कीन्ह न एहि संसार'। ललकि—यह शब्द संस्कृत शब्द 'ललन' (= लालसा करना) से वना है।

पद्यार्थ—अपनी इच्छासे एवं चरित करनेके लिये अवतार लेनेवाले जो सत् चित् व्यापक आनन्दस्वरूप ब्रह्म, भयातुर ब्रह्मादि देवताओं और सिद्धोंके (आश्रितवात्सल्यरूपी) संकोच वश निर्मल (अर्थात् दिव्य कल्याण) गुणोंका धाम नरशरीर धरकर प्रगट हुए*

---

* 'विग्रहाव्यक्त' पाठ जिस पुस्तकमें हो, उसका अर्थ होगा—'जो सच्चिदानन्द व्यापक आनन्दस्वरूप अव्यक्त ब्रह्मविग्रह है और जो अपनी इच्छासे एवं लीलाके लिये अवतार लेता है, उसकी जय हो।

'धार्मिक धुर धीर' के अर्थ—१ धर्मानुसार कार्य करनेवाले, धीर धुरंधर।' (दीन)। २--जितने धर्मका भार धैर्यके साथ धारण किया। (वि०)। ३ धर्मके भार

उनकी जय हो। १। कल्याणरूप कोसलराज (श्रीदशरथजी महाराज) और कुशलमुर्ति श्रीकौशल्याजीके मोक्षरूपी सुन्दर चार फल (एवं चारों सुन्दर मोक्ष और चारों फल) रूप वेदविहित कर्म-धर्म, पृथ्वी, गौ, ब्राह्मण, सेवक और साधुओंको आनन्द देनेवाले! आपकी जय हो। २। ऋषि (ब्रह्मर्षि विश्वामित्र) के यज्ञके रक्षक, सज्जनोंको सताने पीड़ा देनेवालोंके नाशक, मुनि (महर्षि गौतम) की स्त्री (अहल्या) जो पापवश (शापित) थी उसके (एवं पापके कारण मुनिवधूको जो शाप हुआ उस) शापको हरनेवाले, शिव-धनुषको तोड़कर समू राजाओंके सहित भृगुपतिका दर्प दलकर उन (परशुरामजी) के भारी मस्तकको नीचा करनेवाले (अर्थात् उनको अपने चरणोंपर गिरानेवाले, जो गर्वहरणकी अन्तिम सीमा है)! आपकी जय हो।३। धर्मात्मा धीरोंमें श्रेष्ठ, गुरु-माता-पिता-भ्राताके वचनोंपर चलनेवाले, चित्रकूट पर्वत, विन्ध्याचल और दण्डक वनको धन्य और पवित्र करनेवाले, पुण्यवनमें विहार करनेवाले वीर रघुवीर (श्रीरामचन्द्रजी) की जय हो।४। इन्द्रपुत्र (काकरूपधारी जयन्त) को उसकी काककरनीका फल देनेवाले, गड्ढा खोदकर विराधको उसीमें तोप देने वाले! आपकी जय हो। (शूर्पणखाका) सुंदर देवियोंका सा वेष देखकर, उसे निशाचरी लखकर,ऐसा जान पड़ता है कि मानो आपने संसार-बाधाकी विडंवना की।५। खर, त्रिशिरा, दूषण, (उनके) चौदह हजार सुभटों और मारीचका संहार करनेवाले, गीधराज (जटायु) और शवरीजी की भक्तिके वशीभूत (होनेवाले), करुणाके सागर, निरुपाधि चरित्रवाले और तीनों प्रकारोंके दुःखोंके हरनेवाले! आपकी जय हो।६। मदांध कुत्सित (दुष्ट) कवंधका वधकर, महावली वालिका वध करने और सुग्रीवको राजा वनानेवाले, सुभट वानर-भालुओंकी सेनाको एकत्रितकर सजाते समय चरणोंमें प्रणाम करते ही रावणके भाई विभीषणपर कृपा करनेवाले! आपकी जय हो।७। जिन्होंने विनोदार्थ समुद्रपर सेतु वँधवाया और कालके मनको (भी) अगम (कठिन अर्थात् जिसकी हानि पहुँचानेका साहस यमराज अपने मनमें भी न कर सकते थे उस)लंकाको वड़े उमंगमें भरकर ले लिया और रावणको

को धारण करनेमें वड़े धीर। (पो०)। धर्मात्माकी धुरा धारण करनेमें धीरए वं धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ और धीर।

उसके कुल सहित, भाईसहित और सेना सहित रणमें नाशकर (समस्त) लोकों और लोकपालोंको निर्भय कर दिया, उन आपकी जय हो। ८। (फिर) श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और मंत्रियों सहित पुष्पक यानपर सवार होकर आप अपनी राजधानीको चले। आपकी जय हो। तुलसीदासजी कहते हैं कि (एवं तुलसीदास तथा) समस्त अवधवासी आनन्दित हैं कि श्रीरामजी राजा हुए और वैदेहीजी रानी हुईं। ९।

नोट—१ 'जयति' और 'जय' का प्रयोग यत्रतत्र बहुत बार आया है। इस लिये यहाँ एक ही जगह लिख देना आवश्यक समझा कि उसका प्रयोग किन अर्थोंमें होता है। 'जय' के अर्थ—(१) आपकी सदा जय है। (२) आपको नमस्कार है। (३) 'जयति अनेन जयः ग्रन्थः' अर्थात् श्रुतिस्मृतिपुराणादि आपको सच्चिदानन्द जगपावन कहते हैं, मैं क्या चीज हूँ। (४) शत्रुपराजयसे जो बड़ाई होती है, उसे 'जय' कहते हैं। (५) आप अपनी जगपावनी शक्तिको शीघ्रतम प्रगट कीजिये। (वेदस्तुति श्रीमद्भागवत श्रीधरी टीका)। और निशाचरवध करके जगत्‌को शीघ्र पावन कीजिए। (६) जिस हेतुसे यह लीला हो रही है उसकी सफलता शीघ्रतम हो जाय। (७) आप शत्रुको जीतें।

२—लाला भगवानदीनका मत है कि तुलसीदासजी ब्राह्मण थे और श्रीरामजी रघुकुलावतंस क्षत्रिय थे। अतः जयवादसे ही विनयारम्भ मर्यादानुकूल ही हुआ है। प्रस्तुत पदके अन्तमें 'तुलसी मुदित...' में भी यही भाव निहित है कि तुलसी आपको असीस देता है कि आपकी जय हो।

३—इस पदमें नौ बार 'जयति' आया है। नौ (९) अंकोंकी सीमा है, यह अंक अविकारी होनेसे श्रीतुलसीदासजीको बहुत प्रिय है, यह मानसके तिलक 'मानस पीयूष' में दिखाया गया है। क्यों न हो? श्रीरामजी तथा श्रीसीताजीकी अवतारतिथिका अंक भी तो ९ ही है।

४—ऊपर जो सात अर्थ 'जय' के दिये हैं, उनमेंसे प्रायः सभी अर्थ प्रथम दो 'जयति' में लग जाते हैं। औरोंमें अर्थ (१), (२), (४) विशेष रूपसे संगत हैं। ☞ इस पदमें रामायणकी कथा (श्रीरामावतारसे लेकर राज्याभिषेक तक) संक्षेपसे वर्णित है।

टिप्पणी—१ (क) 'जयति सच्चित व्यापकानंद यत्ब्रह्म···' इति। ब्रह्ममें तीन गुण प्रधान हैं—सत् चित् और आनन्द। जिसका विनाश न हो, जो सबको उत्पन्न करे और स्वयं किसीसे उत्पन्न न हो तथा जिसकी सत्तासे संसारमें सत्यता (अपरिवर्तनशीलता) की प्रतीति होती है—वह 'सत्' है। जिसके बिना कोई चेतन न हो सके और जो स्वयं चेतनस्वरूप है, वह 'चित्' है। जिसमें आनन्द ही आनन्द है और कुछ नहीं, वह 'आनंद' है। मिलान कीजिए—'व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनंद रासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी॥ १।२३।६-७।' सत् चित आनंद ब्रह्म-विग्रह = सत्-चित्-आनंद ही जिनके स्वरूपका निर्देश करनेवाला है वही सच्चिदानन्द दिव्यविग्रह परमात्मा ब्रह्म।

१ (ख) 'व्यापक' इति। ब्रह्म प्रकृतिसे लेकर पञ्चभूतपर्यंत सबको व्याप्त करके स्थित है। उसका व्यापकत्व कैसा है यह निम्न श्रुतियोंसे समझमें आ जायगा।—

'वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। श्वे० १।१३।', 'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः। श्वे० १।१५।', 'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्। श्वे० १।१६।', 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः।' अर्थात् जिस प्रकार अपने आश्रय (काष्ठ) में स्थित अग्निका रूप दिखाई नहीं देता और न उसके लिङ्ग (सूक्ष्मस्वरूप) का ही नाश होता है, और फिर ईंधनरूप कारणके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है।१३। जिस प्रकार तिलोंमें तैल, दहीमें घी, स्रोतोंमें जल और काष्ठोंमें अग्नि देखे जाते हैं।१५। उस सर्वव्यापी आत्माको दूधमें विद्यमान घृतके समान देखता है।।१६। वह आकाशके समान सबमें व्याप्त है।

१ (ग) 'आनंद' इति। ब्रह्म श्रीरामजी आनंदरूप हैं,इस आनंदसिंधुके सीकरमात्रसे त्रिलोकीके जीवोंका आनंद है। यथा 'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी। सो सुखधाम राम अस नामा। १।१९७।', 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। बृह० ४। ३।३२।', अर्थात् इस आनंदकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं।

[सत् = शुद्ध आत्मरूप। चित् = सदा चैतन्य। आनंद = एकरस ज्ञानरूप। व्यापक = अन्तर्यामीरूपसे जगत्मात्रमें व्याप्त। (वै०)]

१ (घ) 'यत्ब्रह्म' इति । "सर्वत्र बृहत्वगुणयोगेन हि ब्रह्म शब्दः । बृहत्वंच स्वरूपेण गुणैः यत्रानवधिक्यतिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः ।। इति श्रीभाष्ये ।" अर्थात् सर्वत्र व्यापकका नाम ब्रह्म है। वह व्याप्तिस्वरूप है, उसकी अवधि नहीं, वह स्वाभाविक अनन्त कल्याण गुणोंके साथ रहता है।

सदा दिव्यकल्याणगुणगणयुक्त होनेसे वह ब्रह्म सदा सगुण ही है। मायिक हेय सत्व-रज-तम गुणोंसे रहित होनेसे वेही निर्गुण कहे जाते हैं। इसी तरह प्राकृत पाञ्चभौतिक देव-मनुष्यादि-आकाररहित होनेसे निराकार और इच्छागृहीत स्वाभिमत अनन्त-रूपधारी होनेसे साकार है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्य)।

तै० ३।३।१ ब्रह्मके लक्षण वतलाती है कि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ! तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।" यह सारा संसार जिससे प्रकट होकर पालित होता है, अन्तमें जिसके उदरमें समाकर लीन हो जाता है तथा वद्ध जीव ज्ञान और उपासना आदिके द्वारा जिसको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है, वही ब्रह्म है।

छां० ८।७।१ में ब्रह्म (आत्मा) के आठ गुण बताये हैं।—"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः। सो०।" अर्थात् आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, शोकरहित, क्षुधारहित, तृषा (पिपासा) रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है (छां० ८।१।५ में भी यह मंत्र है)

श्रीमद्भागवत ७।७।१९ "आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः। अविक्रियः स्वदृग्घेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः।' में नित्य, अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, अधिष्ठान, अविकारी, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असंग और अनावृत (पूर्ण) ये बारह लक्षण आत्माके कहे गए हैं।

☞ भगवान् शंकरद्वारा कथित श्रीरामचन्द्रजीके अष्टोत्तरशत नामोंमें भी 'परमात्मा परंब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः' ये नाम आये हैं। (प० पु० उत्तर० २८१।४६)।

१ (ङ) अनेक श्रुतियों स्मृतियोंमें भगवान्के महत्वको वर्णन करनेवाली तत्तदुपनिषदोंमें रुद्र, नृसिंह, कृष्ण और नारायण आदि सभी भगवद्विग्रहोंको 'ब्रह्म' शब्दसे कहा गया है, तथा जगत्कारणत्वादिरूप

ब्रह्मत्वके सामान्य लक्षण सभीके लिये कहे गये हैं। परन्तु सभी कारणरूपेण ब्रह्म (सर्वावतारी) हो नहीं सकते। और तत्तदुपनिषदोंमें यह कहीं नहीं कहा गया कि इन सब रूपोंका प्रधान कारण (सर्वावतारी) कौन है। इस कारण समस्त भगवद्विग्रहों में सर्वावतारित्वकी अतिव्याप्ति होती है जिसका निवारण करना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् नृसिंह, कृष्ण, नारायण आदि कारणवाचक शब्दोंका किसी विशेष शब्दसे कहे गये तत्वमें पर्यवसान होना उचित है। उस विशेष तत्वका निर्णय भगवती श्रुति श्रीरामतापिनीयोपनिषत् रूपमें प्रकट होकर कर रही है।

"नृसिंह, कृष्ण और नारायण सर्वावतारी नहीं हैं"-इस सिद्धान्तका विस्तृत रूपसे उल्लेख श्रीहरिदासाचार्यकृत श्रीरामतापिनीयोपनिषद्भाष्यमें है। प्रेमी जिज्ञासु पाठकोंको पढ़ना चाहिये। यहाँ केवल दो एक मोटी बातें लिखी जाती हैं।

श्रीनृसिंहपरत्व वर्णन करनेवाली नृसिंहतापिनी उपनिषत् स्वयं ही 'क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिविग्रहम्। नृ० पू० ता० १।४।' इस श्रुतिसे श्रीनृसिंहजीको क्षीरशायीका अवतार बता रही है। इसी तरह श्रीकृष्णजीको ब्रह्म कहनेवाली गोपालतापिनी उपनिषत्में ही श्रुति कहती है कि "स होवाचतां हि वै पूर्वं नारायणो देवो यस्मिँल्लोका ओताश्च प्रोताश्च तस्य हृत्पद्माज्जातोऽब्जयोनिस्तपस्तप्त्वा तस्मै ह वरं ददौ। स कामप्रश्नमेव वव्रे। तं हास्मै ददौ। स होवाचाब्जयोनिर्वोऽवताराणां श्रेष्ठोऽवतारः को भवति। येन लोकास्तुष्टा भवन्ति। यं स्मृत्वा मुक्ता अस्मात्संसाराद्भवन्ति। कथं वास्यावतारस्य ब्रह्मता भवति।" (गोपालोत्तर तापिन्युप० १।१४) (अर्थात्) "सृष्टिके पहिले एकमात्र नारायण ही थे। संपूर्ण चिदचित् जगत् उन्हींमें आश्रित था। उन्हींके हृदयसे कमल निकला, जिससे ब्रह्मा हुए। एक बार ब्रह्माके बहुत काल तप करनेपर भगवान् नारायणने उन्हें दर्शन देकर वरदान माँगनेको कहा। तब ब्रह्माजीने पूछा कि "आपके अवतारोंमें श्रेष्ठावतार कौन है, जिससे सब लोक संतुष्ट होते हैं एवं जिसके स्मरणसे इस संसार-समुद्रसे मुक्त हो जाया जाता है और उस अवतारका ब्रह्मत्व कैसे सिद्ध होता है?"

इस प्रकार ब्रह्माके प्रश्न करनेपर भगवान् नारायणने बताया कि मथुरामें मेरी बारह मूर्तियाँ हैं। उनमेंसे नौ-को क्रमसे रुद्र, ब्रह्मा, सन-

कादिक, मरुत, विनायकगण, वसुगण, ऋषिगण, गंधर्व और अप्सरायें पूजती हैं। दसवीं मूर्ति वहीं अन्तर्धान होकर रहती है और ग्यारहवीं मेरे धामको चली आयी। बारहवीं कृष्णरूपसे समय-समय पर मथुरामें प्रत्यक्ष हुआ करती है। उस कृष्णात्मक मेरे रूपको जो पूजते हैं, वे मृत्युको पारकर मुक्ति प्राप्त करते हैं, फिर उन्हें ज़न्म, जरा, मरण आदि तापत्रयात्मक दुःख कभी नहीं होता।

इस तरह ब्रह्माके प्रश्नपर श्रीमन्नारायणने श्रीकृष्णजीको अपने बारह अवतारोंमें से सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। अतः जब नृसिंहतापिनीहीमें नृसिंहजीको और गोपालतापिनीमें ही भगवान् कृष्णको नारायणावतार कहा गया है, तब वे सर्वावतारी एवं सर्वकारण कैसे हो सकते हैं?

श्रीमन्नारायण भी सर्वावतारी नहीं हो सकते, क्योंकि—(१) जिस तरह रामनामका नारायणके पर्यायवाची विष्णुके अनेक सहस्र नामोंके तुल्य होना पाया जाता है, उसी तरह रामनामके बराबर या अधिक नारायणका माहात्म्य किसी श्रुति या स्मृतिमें नहीं पाया जाता।

(२) नारायणवाचक उपनिषदोंके उपक्रमोपसंहारवाक्योंकी एकवाक्यता करनेसे भी नारायणका सर्वावतारित्व सिद्ध नहीं होता।

(३) श्रीरामतापिनी-उपनिषत्के उपक्रममें आये हुए 'परब्रह्म' शब्दकी और उपसंहारके समूह (सैंतालिस) वाक्योंसे निश्चित तत्वकी एकवाक्यता करनेसे श्रीरामका ही सर्वावतारित्व निश्चित रूपसे सिद्ध होकर उनमें ही पशु-छाग-न्यायसे ब्रह्म-शब्दकी यथार्थ पर्यवसानता होती है।

(४) नारायणवाचक उपनिषदोंमें आया हुआ ब्रह्म-शब्द स्वयं कारणवाचकत्व और अवतारित्वबोधकत्व न होनेसे नारायण-शब्दवाच्यमें पशुछागन्याय द्वारा सर्वावतारित्वकी पर्यवसानता नहीं होती।

(५) "केवल एक वाक्यमें 'ब्रह्म' शब्द नारायणका विशेषण होनेसे सामान्यरूपसे अन्य उपनिषदोंमें आये हुए शब्द भी नारायण शब्दके वाचक हैं"—ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि ब्रह्म-शब्द तो नृसिंह, आत्म और सत् आदिके साथ भी विशेषित हुआ है। और श्रीरामको निश्चित रूपसे परब्रह्म सूचित करनेके लिये निस्संदिग्ध वाक्यका प्रयोग करती हुई श्रुति कहती है—'रमन्ते योगिनो-

ऽनन्ते...'। अतः संपूर्ण सर्वावतारित्वबोधकवाक्य श्रीरामजीमें ही पर्यवसित होते हैं। उनका अन्यमें पर्यवसित करना श्रुतिविरुद्ध है।

(६) श्रुति और स्मृतिसे रामका ही नारायण होना सिद्ध होता है। अतः नारायणपरक वाक्य भी प्रधानरूपेण रामपरकही हैं। इस लिये श्रीरामका ही रुद्रादिका अवतारी होना सिद्ध है, क्योंकि श्रीराम और श्रीमन्नारायणमें तात्त्विक भेद नहीं है।

टिप्पणी -१ (च) श्रीरामही सर्वावतारी हैं, इसका निर्ण रा० ता० उपनिषत् निम्न श्रुतियोंसे करती है—

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते॥ रा० पू० ता० १।६॥"
"यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥ रा० पू० ता० २।२-३"

"सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त स्थितानि च प्रहितान्येव तेषु ततो रामो मानवो माययाधात्। रा० पू० ता० ३।१।"

"सर्ववाच्यस्य वाचकः। रा० पू० ता० १।१२।"

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना। रा० पू० ता० १।७।'

'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा। य सर्वभूतान्तरात्मा। यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः। रा० उत्तर ता०।'

☞ स्मरण रहे कि चिन्मय, अद्वितीय, ब्रह्मकी रूपकल्पना औ सर्ववाच्यत्व आदि अवतारित्वबोधक विशेषण अन्य उपनिषदोंमें नहीं आते हैं। इसलिये सर्वशाखाप्रत्यय और पशुछागन्याय वहाँ नहीं लग सकते। और, यदि केवल ब्रह्म-शब्दसे सर्वावतारित्व सिद्ध होता तो सर्वावतारित्वबोधक चिन्मयादि विशेषण देनेका कोई प्रयोजन न रहता। इन विशेषणोंको देकर श्रुति श्रीरामको ही सर्वरूपरूपी और सर्वावतारी कह रही है।

१ (छ) 'लीलावतारी' इति। यह शब्द पूर्व श्रीलक्ष्मणजीके संबंधमें भी आया है। यथा—'प्रलय पावक महाज्वालमालावमन समन संताप लीलावतारी॥' = 'लीला = मनुष्योंके मनोरंजनके लिये किये हुए ईश्वरावतारोंका अभिनय। = चित्तके उमंगसे जो व्यापार केवल

मनोरंजनार्थ किया जाय। ब्रह्म अपनी इच्छासे भक्तोंके हितार्थ एवं मनोरंजनार्थ अवतार लेता है। यथा—'न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे। भा० १०।२।३६।'(अर्थात् आप अजन्माके जन्मका कारण केवल क्रीड़ा मात्रके सिवा और कुछ समझमें नहीं आता),'भगत हेतु लीला तनु गहई।१।१४४।'(अर्थात् अपनी इच्छासे), 'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।४।२६।' दूसरा अर्थ है कि लीला करनेके लिये अवतार लेते हैं, जिसमें भक्त उनके चरितोंको गा-गाकर भवपार हो जायँ। यथा 'भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप।१।२०५।', 'जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजनम कर हेतु।१।१२१।', 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।१।१२२।१।' ☞सच्चिदानन्द व्यापक ब्रह्म अवतार लेता है; यथा 'उपासकानां कार्य्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना। रा० पू० ता० १।७।', 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।१।१३।३-४।'

१ (ज) 'बिकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध···' इति। ब्रह्म अवतार लेता है, यह कहकर अब उत्तरार्धमें अवतारका कारण बताते हैं कि 'बिकल ब्रह्मादि···'। ब्रह्मादि देवता, गौ-रूपमें पृथ्वी, मुनि, गंधर्व सभी प्रभुकी स्तुतिके समय उपस्थित थे, पर यहाँ 'गौ' का उल्लेख नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि स्तुतिमें ब्रह्माजीने भयातुरोंमें इसका नाम नहीं लिया। यथा 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा।१।१८६।'

मानसमें जो 'परम भयातुर' कहा है, वही यहाँ 'बिकल' से जनाया। विकल=भयातुर; सभय। विकल दशा देखकर ही उनका संकट हरनेके लिये उनके संकोचवश अवतार लिया गया है। यथा 'जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ हरन सोक संदेह।१।१८६। जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहौं नर बेसा॥' अतः ब्रह्मादि देवताओं इत्यादिके संकोचवश नरशरीर धारण करना कहा।

'सिद्ध' भी देवताओंकी एक जाति है। अष्टाङ्ग योगादिसे जो सिद्धिको प्राप्त हुए वे यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

१ (झ) 'संकोच बस' इति। 'संकोच' का अर्थ है—लिहाज, शील, मुरव्वत। इस शब्दमें 'आश्रित-वात्सल्य' का भाव भरा हुआ है।

'संकोचबस' में भाव यह है कि एकरस अखण्ड नित्य ब्रह्मको नर आदि शरीर धारण करनेमें संकोच होता है। यदि ब्रह्मादिका संकोच न करते तो जगत्-जनक, जगद्गुरु आदि होकर कदापि किसीका पुत्रत्व और किसीका शिष्यत्व आदि न ग्रहण करते।

संकोच क्या है? यह कि रावणादिको ब्रह्मा और शिव वरदान दे चुके हैं। ब्रह्मादि हमारे भक्त हैं, हमारे आश्रित हैं, हमारे ही बल भरोसे पर इन्होंने ऐसे-ऐसे वर दे डाले हैं, वर देकर अब पछता रहे हैं; क्योंकि जिनको वर दिया उन्हींके हाथों अब दुर्दशा हो रही है, जिससे अत्यन्त भयातुर होकर वे शरणमें आये हैं। यथा 'जो भवभयभंजन मुनिमनरंजन गंजन बिपति बरूथा। मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर-जूथा ।।१। १८६ छं०।' यदि इनकी रक्षा नहीं करते तो आगे इनकी प्रतिष्ठा जाती रहेगी, इनके वर और शापकी कोई पर्वा ही न करेगा। दूसरे, हमारा विरुद है कि 'जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई।५।४४।८'—अतएव इनके प्रेमके, इनकी भक्तिके, इनके शरण आनेके संकोचसे जिस प्रकार इनका भला हो वही करना पड़ता है।

इस बार रावणको वर मिल चुका है कि वह मनुष्य और वानर को छोड़कर किसीके हाथ न मर सकेगा। यथा 'हम काहूके मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे। १।१७७।४।' रावणने यह वर माँगा था और ब्रह्मा तथा शिवने मिलकर उसे यह वर दिया। फिर ब्रह्माने मनुष्यके हाथ 'उसकी मृत्यु निश्चित कर उसके ललाटमें वही लिख दिया। रावणने अंगदसे कहा भी है कि 'नरके कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची ।।६।२६।२।'

यदि नरदेह धारण नहीं करते तो निश्चय ही विधि और शिवकी वाणी असत्य हो जायगी, क्योंकि संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है जो उसे मार सकेगा?—इति 'आश्रित-वात्सल्य' रूपी संकोचवश नरदेहधारी हुए। श्रीरामजीका 'आश्रितवात्सल्यजलधि' एक नाम है।

१ (ख) 'बिमल गुनगेह नरदेह' इति। विमल गुणगेह अर्थात् दिव्यगुणयुक्त, कल्याणगुणप्रकाशक शरीर। विमल = निर्मल अर्थात् माया-विकार-रहित, मायातीत तथा कभी क्षीण न होनेवाले। वाल्मीकिजीके पूछनेपर कि 'हमारे कहे हुए गुणोंसे युक्त पुरुष संसारमें कौन

है ?'' नारदजीने इक्ष्वाकुवंशीय राममें उन सब तथा और भी अनेक गुणोंका होना (वाल्मी० १।१। श्लोक ८ से १६ तक) बताया है। वे गुण ये हैं—नियतात्मा, महावीर्यवान्; द्युतिमान, धीर, इंद्रियजित, बुद्धिमान, न्यायी व नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायुक्त, शत्रुओंको परास्त करनेवाले, आजानबाहु, प्रतापी, सुविक्रम, धर्मज्ञ, सत्यसंध, प्रजाके हितमें तत्पर, यशस्वी, श्रीसंपन्न, ज्ञानवान्, शुद्ध, वशी, समाधिमान्, समस्त प्राणियों, स्वजनों और स्वधर्मके रक्षक, वेदवेदाङ्ग तत्वके ज्ञाता, धनुर्वेदमें निपुण, सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञ, स्मृतिमान्, प्रतिभावान्, सर्वलोकप्रिय, साधु, अदीनात्मा (अच्छे विचार और उदार हृदय वाले), आर्य, सर्वसमः, सदैव प्रियदर्शनः, समुद्र समान गंभीर, हिमवान् सम धीर, विष्णु समान पराक्रमी, प्रलयाग्निसदृश क्रोधवाले, क्षमामें पृथ्वीसमान कुबेर समान त्यागी, सत्यमें द्वितीय धर्म और सत्यपराक्रम । [आगे पद ४४ (३ ख) में वाल्मीकिजीके प्रश्न आदि देखिये] वाल्मी० अयोध्याकाण्डमें भी अगणित गुणोंका वर्णन है।-'गुणगेह' से इन सबोंका ग्रहण हो गया। पुनः भा० १।१६।२६-२९ में पृथ्वीने भगवान्में ये गुण गिनाये हैं—सत्य, शौच, दया, क्षान्ति (क्षमा), त्याग, सन्तोष, आर्जव (कोमलता, सरलता), शम, दम, तप, साम्य (समता), तितिक्षा, उपरति, सत्शास्त्रोंका मनन, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य-(शूरवीरता), तेज, वल, स्मृति, स्वतंत्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुलता, सुहृदता, प्रागल्भ्य (निर्भीकता), विनय, शील, साहस एवं सहनशक्ति, ओज (उत्साह, पराक्रम), बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, मान और निरहंकारता आदि उन्तालीस गुण तथा इनके अतिरिक्त महापुरुषों द्वारा वाञ्छनीय अन्य भी अनेकों महागुण सदा स्वभावसे ही वर्तमान हैं, कभी क्षीण नहीं होते।

इस तरह पृथ्वी देवीने गुण गिनाकर भगवान्को 'गुणपात्र' कहा। —'तेनाहं गुणपात्रेणश्रीनिवासेन'··।३०।' गुणपात्रमें प्रस्तुत पदके 'गुनगेह' का भाव है।

१ (ट) 'नर देहधारी' इति। ब्रह्मका नित्य द्विभुज नराकार विग्रह होना नारदपञ्चरात्र आदिसे स्पष्ट है। * तब 'नरदेहधारी' होना कैसे

---

*परब्रह्म द्विभुज है। प्रमाण—(१) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः इति पुरुषसूक्ते' (इस श्रुतिमें 'बाहू' द्विवचन शब्द है, जिससे इस श्रुतिमें द्विभुजरूपका प्रतिपादन स्पष्ट है। नहीं तो 'बाहवः राजन्यः' होता)। (२)

कहा ? भाव यह है कि ब्रह्मविग्रह सच्चिदानन्दरूप है, नित्य देहमें पाञ्चभौतिक मनुष्योंकी तरह जन्म, जरा, क्षुधा, पिपासा, बाल्य-पौगण्ड-कुमार आदि अवस्थायें, और काम-क्रोधादि विकार नहीं होते। ब्रह्म अवतरित होकर अपने उसी चिदानन्दमय देहमें सब नरनाट्य स्वीकार करता है, मनुष्योंकी तरह बाल, कुमार, पौगण्ड, किशोर और युवा आदि अवस्थायें, क्षीणत्व और पीनत्व आदि धारण करता हुआ देख पड़ता है और कामादिक मायिक विकार जो उसमें त्रिकालमें नहीं हैं, उन्हें भी नरनाट्यहेतु ग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है। यथा 'भए कुमार जबहिं सब भ्राता', 'नारिबिरह दुख लहेउ अपारा। भएउ रोषु रन रावनु मारा ।।१।४६।८।', 'कामिन्ह कै दीनता देखाई।३।३६।४।', इत्यादि। नरनाट्य स्वीकार करना 'नरदेह' धारण करना है।

नोट—५ 'जयति कोसलाधीस···' इति। 'क) सच्चित् व्यापकानंद ब्रह्मके नरशरीर धारण करनेका कारण और नरशरीर धारणकरना कहकर अत्र 'अवतार कहाँ हुआ ?, उस अवतारमें क्या कार्य हुआ ? तथा क्रमशः जो चरित ब्रह्मने नरशरीरसे किये' उन्हें कहते हैं।

(ख) 'कोसलाधीस' इति। 'कोसल' देश कौन है ? कोसलाधीश नाम कबसे हुआ ? 'कोशलखण्ड' नामक ग्रन्थमें 'कोसल' देशका विवरण इस प्रकार है कि विन्ध्याचलसे दक्षिणप्रदेशमें एक राजधानी थी, जिसका नाम 'नागपत्तन' था (जिसे आजकल नागपूर कहते हैं)। वहाँ 'कोशल' नामक एक प्रतापी राजा हुआ, जिससे

'द्विचत्वारि षडष्टा साभिति।' (यह श्रुति भी प्रथम द्विभुज कहती है, फिर चार छः आठ अनेक कहती है। (३) 'द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः। रा० पू० ता० ३।७।।' (इस श्रुतिमें द्विभुज स्पष्ट है)। (४) "स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मञ्चैव चतुर्भुजं परन्तु द्विभुजं प्रोक्तं तस्मादेतत्त्रयं भजेत्॥" "द्विहस्तमेकवक्त्रञ्च शुद्धस्फटिकसन्निभम्। सहस्रकोटि वह्नीन्दु लक्षकोट्यर्कसन्निभम्॥ मरीचिमण्डलेसंस्थं चक्राद्यायुधलाञ्छितम्। किरीट हार केयूर वनमाला विराजितम्॥ पीताम्वरधरं सौम्यं रूपमाद्यमिदं हरेः॥···" (नारदपाञ्चरात्र)—(इन श्लोकोंमें प्रथम 'द्विभुज' को 'पर' कहा, फिर 'द्विहस्त' को आदिरूप कहा। अतएव आदि पररूप द्विभुज श्रीराम हैं। (श्रीरामस्तवराज भाव प्रकाशिका टीका श्रीरसरंगमणिकृतसे उद्धृत)।

उस देशका 'कोशल' नाम पड़ा। तबसे वहाँके जो राजा होते थे, उनकी एक 'कोसल' संज्ञा भी होती थी। वहाँके राजा 'भानुमंतजी' ने अपनी पुत्री कौसल्याजीका विवाह श्रीदशरथमहाराजके साथ करके कोशलदेशका उत्तराधिकारी भी उनको बना दिया। उसी समयसे अयोध्या उत्तर कोसल और नागपत्तन दक्षिण कोसल नामसे प्रसिद्ध हुए।

आ० रा० सार काण्डमें लिखा है कि भानुमान् (भानुमंत) जीने पेटी (जिसमें कौसल्याजी बन्द थीं) के मिल जानेपर विवाहोत्सव बड़े धूमधामसे किया। विवाहमें उन्होंने अपनी पुत्रीके साथ दक्षिण कोसलका राज्य भी अपने जामाता श्रीदशरथजीको दे दिया। तबसे अयोध्याके सूर्यवंशी नरेश कोसलेन्द्र या कोसलेश भी कहे जाने लगे। यथा 'ततः पुनर्विवाहस्य संभ्रमं कोसलाधिपः। स्वराज्यं जामात्रे ददौ प्रीत्या हि पुत्रिकाम्। तदारभ्य कोसलेन्द्राः प्रोच्यन्ते रविवंशजाः।' (आ० रा० १।१।६८-६९)

महाभारतमें स्पष्ट उल्लेख है कि कौरवोंकी ओरसे उत्तर कोसलका राजा बृहद्बल और पाण्डवोंकी ओरसे दक्षिण कोसलका राजा नग्नजित गया था। हिन्दी शब्दसागरमें जो लिखा है कि घाघराके उत्तर तटवाले देशको उत्तर कोसल और दक्षिण तटवालेको दक्षिण कोसल कहते हैं—इसका प्रमाण हमें नहीं मिला।

पं० जानकीनाथ शर्माजी लिखतेहैं-बृहत्संहिता (१४।८ में दक्षिण-कौशलको भारत देशके अग्निकोणमें कलिंगके पश्चिममें बतलाया है। कालिदासके रघुवंश (३।५) में दिलीपको उत्तरकोशल (अवध) का स्वामी कहा है। जाग्रफ़िकल डिक्शनरीके पृष्ठ १०२ (द्वितीय संस्करण) पर नन्दलाल दे लिखते हैं कि दक्षिणकोशल मध्यप्रान्तको शामिल किए है। ब्रह्मपुराण (२७६०) में कोशल, तोषल, त्रिपुरा और विदिशाको विन्ध्यपर्वतके समीपवर्त्ती बतलाया है। १०वीं से १८वीं शती तक इसकी राजधानी रत्नपुर थी। इसके पहले चिरायु इसकी राजधानी थी (कथा सरित्सागर)। रत्नावली ४।६ में भी इसका वर्णन है। वायुपुराण ४५।११ में यह काशी राज्यके साथ (दक्षिण) वर्णित है। वायुपुराण ८८।१९९ में कुशका राज्य दक्षिणकोशलमें विन्ध्यपर्वतके

५

समीप तथा लवका उत्तरकोशलमें बतलाया है—'कुशस्य कोशलाराज्यं पुरी वापि कुशस्थली । रम्या निवेशिता तेन विन्ध्यपर्वत सानुषु । उत्तराकोशले राज्यं लवस्यच महात्मनः ।'(वायु अनुषंग पा०८८ १९८-९)। भगवान् रामके साथ अयोध्यावासियोंके चले जानेसे लवकी राजधानी अवध न होकर श्रावस्ती हुई ।—'श्रावस्ती लोकविख्याता' ।

ऐन्सेन्ट जाग्राफी पृ० ५९५ में ह्वेनसेंगके यात्रावृत्तके अनुसार दक्षिण कोशलको विदर्भ तथा बरारका प्रान्त बतलाया है और चाँद नगरको इसकी प्राचीन राजधानी बतलाया है। ह्वेनसांगने कोशलराज्यको ही एक हजार मीलके घेरेका अनुमान किया है। 'दे' जीका अनुमान है कि वह उत्तरमें उज्जैन, दक्षिणमें आन्ध्र, पूर्वमें उड़ीसा और पश्चिममें महाराष्ट्रतक फैला था।

'काशोतिहाश' (१.८७) में भाउ शास्त्री लिखते हैं—'उत्तरकोसलदक्षिणकोसलरूपेण द्विधा विभक्तः। गंगाया उत्तरत उत्तरकोसलः। दक्षिणतो विन्ध्यपर्यन्तंदक्षिणकोसलः। विन्ध्ये कुशावती नाम दक्षिणकोसल राजधानी। उत्तरकोसल राजधानी अयोध्या पश्चात् श्रावस्ती।' (पृ० ८७)।

इससे सिद्ध है कि दक्षिणोत्तरकोसलका विभाग पहले तथा पीछे भी रहा। केवल श्रीदशरथजीके परवर्ती तथा भगवान् रामके संपूर्ण शासनतक महाकोशल प्रान्त अर्थात् दोनों कोशल एकमें मिला रहा।

(ग) कोसलाधीस और कोसलसुतासे देश (अर्थात् श्रीअयोध्याजी), कुल (अर्थात् रघुकुलमें चक्रवर्ती महाराजके यहाँ) और पिता-माताके नाम कहे। ☞ यहाँ पूर्वके मनुशतरूपा अथवा कश्यप-अदिति नाम न देकर सब रामावतारोंकी कथा सूचित करते हैं। पूर्वके कोई भी हों, पर यहाँ श्रीदशरथ-कौसल्याजी ही पिता-माता होते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'कोसलाधीस कल्यान...' इति। श्रीदशरथजीको कल्याणरूप और श्रीकौशल्याजीको कुशलमूर्ति कहा। मानसमें गुरु वसिष्ठजीने राजासे कहा है कि 'तुम्ह कहँ सर्वकाल कल्याना।१।२६४।८।' 'तुम्ह गुर विप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी। १।२६४।५।' गुरु, विप्र, धेनु, सुर सभी कल्याणकर्ता हैं। इनकी सेवासे त्रिदेवसहितभगवान् वशमें हो जाते हैं। गुरुके संबंधमें तो महा-

राजजी तथा श्रीभरतजीने स्वयं कहा है—'जे गुरचरन रेनु सिर धरहीं। ते जन सकल विभव बस करहीं। मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजें। सब पायउँ रज पावनि पूजें ॥२।३।५-६।' दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना २।२५५।७।' विप्रोंके संबंधमें स्वयं श्रीरघुनाथजीका वाक्य है कि "मन क्रम वचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत विरंचि सिव बस ताकें सब देव ।३।३३।' गौको सेवासे कल्याण होता ही है यह सब जानते हैं। दिलीप महाराजने गौ-सेवासे ही पुत्र पाया। देवता पूजा सेवाके बदले सुख संपति सभी कुछ देते हैं—'पूजा लेत देत पलटे सुख···।' अतएव इनका सेवक कल्याणरूप हुआही चाहे। पुण्यशीला, पुनीत होनेसे माता कौसल्याको कुशलमूर्ति कहा।

[वैजनाथजीका मत है कि सत्ययुगमें वेदनें मनुरूपसे धर्मका प्रचारकर जीवोंका कल्याण किया, फिर उग्र तपकर परब्रह्मको पुत्र होनेका वर प्राप्त किया और त्रेतामें दशरथ होकर ब्रह्मको पुत्ररूपसे प्राप्त करके जीवोंका कल्याण किया। अतएव उनको 'कल्याणरूप' कहा। दशरथजी वेदावतार हैं, कौशल्याजी आदि वेद धर्मकी ज्ञानादि शक्तियाँ हैं जिनके विना जीवोंका कुशल नहीं; अतः इनको 'कुशलरूप' कहा गया।]

२ (ख) 'कैवल्य फल चारु चारी' इति। श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नजी ये चार पुत्र हुए। ये चारों श्रीदशरथमहाराजके पुत्र हैं। श्रीकौसल्याजीके पुत्र श्रीरामजी हुये, श्रीकैकेयीजीके श्रीभरतजी और श्रीसुमित्राजीके श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नजी हुए। पर यहाँ केवल 'कोसलसुता' (श्रीकौशल्याजी) को ही कहकर जनाया कि वे चारोंको अपना ही पुत्र समझती थीं। अथवा, ये महापटरानी हैं, इनको कहकर अन्य दोनों पटरानियों (श्रीसुमित्रा और श्रीकैकेयीजी) को भी जना दिया। अथवा, इन्हींका नाम इससे दिया कि प्रथम दो चरणोंमें यहाँ केवल ब्रह्मका लीलावतारी होना कह रहे हैं, वर भी कौसल्याजीको ही शतरूपा और अदिति शरीरमें मिला है और उन्हींके लिये अवतार भी अंशों सहित हुआ है। यथा 'इच्छामय नरवेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥ अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥ १।१५२।१-२।' अतः इन्हीं दोको यहाँ

अवतार धरणीभार-उतारनेके लिये होता है। असुरोंके नाशसे पापरूपी भार उतर जाता है। वेदविहित कर्मधर्म-जप-तप-यज्ञादि निर्विघ्न कर सकनेसे विप्रों और साधु-सन्तोंको आनन्द और यज्ञभाग मिलनेसे देवताओंको आनंद, इति 'धरनी धेनु···मोदकारी।' ☞'करिहहिं विप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहिं बस देवा॥ १।१६६।२।'—इसीसे तो रावणने आज्ञा दी थी कि 'द्विज भोजन मख होम सराधा, सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥ छुधाछीन बलहीन सुर सहजहिं मिलिहहिं आइ। तब मारिहौं कि छाड़िहौं भली भाँति अपनाइ।१।१८१।', और उसके कर्मचारियोंने एवं उसने स्वयं भी यही किया। यथा 'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥ जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा। आपुन उठि धावइ रहइ न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥१।१८३॥' तब 'अतिसय देखि धरम कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी। १।१८४।४।'

इस घोर समयमें ब्रिटिश सरकारने भी भारतवर्षमें रावणकी उपर्युक्त पालिसीको अख़्तियार किया था। केवल इसीलिये कि भूखे मरेंगे तो अवश्य फौजमें आकर भरती होंगे।

इन सबोंका उद्धार होनेसे धरणी धेनु विप्र संत सभीको आनन्द हुआ।

टिप्पणी—३ 'जयति रिषिमखपाल समन सज्जनसाल···' इति। (क) अवतार लेकर माता, पिता, परिजन और पुरजनोंको सुख दिया। आगे 'वेदबोधितकर्मधर्म····' के उदाहरणस्वरूप जो कर्म हुए, उन्हें क्रमसे जैसे-जैसे वे हुये, कहते हैं। प्रथम विश्वामित्रयज्ञरक्षणकार्य हुआ। इसीमें ताड़का-सुबाहु आदिका वध और मारीचका समुद्रपार फेंका जाना भी आ गया। इससे ब्राह्मणों सन्तोंको आनन्द हुआ। यथा 'मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥ १।२१०।६।' विप्र मुनिकी रक्षा करना धर्म है। ताड़का, सुबाहु, मारीच 'सज्जनसाल' थे। 'असुर समूह सतावहिं' यह विश्वामित्रजीने इन्हींके सम्बन्धमें कहा था।

(ख) 'पापबस मुनिवधू सापहारी' इति। यथा—"आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥ पूछा मुनिहि

सिला प्रभु देखी । सकल कथा मुनि कही बिसेखी ॥" यही क्रम "साधनहीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनिनारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर श्राप ते तारी ॥१६६॥," विनय के इस पदमें भी है। अघवश शिला-हुई-मुनि-पत्नीका शाप हरना कहा गया। तथा मानसके उपर्युक्त उद्धरणसे भी स्पष्ट है कि पहले अहल्याका पापकर्म करना, उसपर मुनिका शाप और शापानुग्रह क्रमसे मुनिने कहे। उसीके अनुकूल यहाँ 'पापवस मुनिवधू' कहकर तव शापका हरण कहा।* इससे मुनि गौतमको सुख दिया। यथा 'गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै। क० २।६।', 'संस्तूय रघुनाथं सा पत्या सहगता पुनः। सत्योपाख्यान अ० ५४।'

३ (ग) "पापवस मुनिवधू"—अहल्याके पाप और शापकी कथा संक्षेपसे इस प्रकार है-ब्रह्माजीने एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न की, जिसका नाम अहल्या रक्खा। समस्त देवगण उसके रूपपर मोहित थे। इन्द्र समझता था कि मैं देवराज हूँ, मुझे छोड़ यह दूसरेको नहीं मिल सकती। ब्रह्माजीने इस कन्याको महर्षि गौतमके पास थाती रक्खी। बहुत काल बीतनेपर जब ब्रह्माजी पुनः इनके पास आए, तो इनका परम वैराग्य देखकर इनके ब्रह्मचर्यसे संतुष्ट होकर वह लोकसुन्दरी सेवापरायणा कन्या तापस प्रवर गौतमजीको ही दे दी।—'तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम्। ब्रह्मचर्येणसन्तुष्टःशुश्रूषणपरायणाम्। अ० रा० १।५।२०।' इन्द्रको बहुत बुरा लगा, क्योंकि वह तो उसे अपनी ही सोचे बैठा था। वह नित्यप्रति उसके साथ रमण करनेका अवसर ताकता रहा। एक दिन जब गौतमजी बाहर गये, तब वह गौतमजीका रूप धारणकर आश्रममें आया। वाल्मी० रा० में विश्वामित्रजीने यह भी बताया है कि "मुनिवेषधारी इन्द्रने अहल्यासे कहा कि प्रार्थी ऋतुकालकी प्रतीक्षा नहीं करता, मैं तुम्हारे साथ संगम

---

* 'सापवस' 'पापहारी' पाठके पक्षमें बहुतेरे टीकाकार हैं। लमगोड़ाजीका मत है कि "पहले 'साप' और फिर 'पाप' चाहिए। पाषाणविग्रहमें वह शापवश थी और पाप उसका कारण जरूर है, इसलिए जब पापही मिट गया तो शापका असरभी न रह गया। ईसाभी जब रोग नाश करते थे तब यही कहते थे— 'Thy sins are forgiven thee' तेरे पाप क्षमा किये गये।

चाहता हूँ। अहल्याने पहचान लिया कि महर्षि गौतम वेषधारी यह इन्द्र है, फिर भी उस दुर्बुद्धि स्त्रीने (अहो! देवराज इन्द्र मुझे चाहते हैं इस प्रकार) देवराजके प्रति कुतूहलवश होनेके कारण उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यथा 'मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मति चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्। वाल्मी० १।४८।१६।' फिर रतिके पश्चात् संतुष्टचित्त कृतार्थ मनसे उसने कहा—'हे देवराज! मैं कृतार्थ हुई। आप शीघ्र यहाँसे जाइये। गौतमसे अपनी और मेरी सब तरहसे रक्षा कीजियेगा।—'कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो। ०।' इसीसे गोस्वामीजीने उसे 'कृत अघभूरी' और 'पापवश' आदि कहा। जानबूझकर यह पाप उसने किया था।

आश्रमसे शीघ्र बाहर निकल जानेकी चिंतामें इन्द्र अपना रूप पुनः धारण करनेको भूल गया। इसी समय मुनि भी वहाँ लौट आए। उसे देखकर कुपित होकर बोले—'रे दुष्टात्मन्! रे अधम! मेरे रूपको धारण करनेवाला तू कौन है? सच सच बता, नहीं तो मैं तुझे अभी भस्मकर दूँगा।' इन्द्रके बतानेपर उसे उन्होंने शाप दिया कि तू योनिलंपट है, अतः तेरे शरीरमें सहस्र भग हो जायँ। देवराजको शाप देकर आश्रममें आकर अहल्याको पाषाण होनेका शाप दिया। और श्रीरामजीके चरणस्पर्शसे शापका उद्धार बताया।

३ (घ) 'भंजि भवचाप दलि दाप भूपावली…' इति। अहल्योद्धारके बाद अब 'सीयस्वयम्बर' की कथा कहते हैं। शिवचाप टूटनेसे राजाओंका गर्व दूर हुआ। यथा 'श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छवि छूटे।१।२६३।५।' उनके सिर लज्जासे झुक गए, यथा 'नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो। गी०१।८८।६' धनुष टूटनेपर भी निर्लज्ज राजा बलबलाते ही रहे; यथा 'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥ लेहु छँड़ाइ सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥१।२६६।' इत्यादि। उनका यह दर्प परशुरामगर्वहरणके साथ ही दूर हो गया। इसीसे तब 'अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गँवहि पराने।१।२८५।८।' इसीसे 'दलि दाप भूपावली सहित भृगुनाथ' कहा।

३ (ङ) 'नत माथ भारी' इति। हाथ जोड़ना अति नम्रता और प्रसन्न करनेकी परमामुद्रा है। सो सब बातें हुईं। इन्होंने हाथ जोड़कर

बिनती की, अपराध क्षमा कराया, और अपना धनुषभी सौंप दिया—यह पूरी हार हुई। यथा 'जोरि पानि बोले बचन ।१।२८५।...अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ॥', 'लायक है भृगुनायकु से धनु सायक सौंपि सुभाय सिधाए। क० १।२२।'—अतः 'नत माथ भारी' कहा। 'माथा नीचा हो गया' अर्थात् उनका भारी गर्व जाता रहा, वे बहुत अधिक नम्र और अधीन हो गए; उनका सब तप तेज चला गया और आवेशावतारसे उतरकर अब वे 'ऋषिमात्र' रह गए।—परशुरामजीको भारी गर्व था। उनकी कथा तथा गर्वपर 'वचन-चयचातुरी परसुधर गर्वहर....। ३८।' की टिप्पणी देखिए।

पुनः, 'नत माथ भारी' से उनका श्रीरघुनाथजीके शरणागत होना सूचित किया। शरणागतके यही लक्षण हैं जो ऊपर कहे गए हैं। श्रीरामजीने यही लक्षण बताये हैं। यथा 'बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्। वाल्मी० ६।१८।२७।' और 'अञ्जली परमा मुद्रा क्षिप्रंदेवप्रसादिनी' है ही। दर्प दूर होनेपर ही शरणागति होती है। और, शरण होनेपर यदि कभी गर्व हो जाता है तो उस समय भी प्रभु उसको शीघ्र दूर करनेका उपाय कर देते हैं। इसीसे 'दलि दाप' कहकर तब शरणागति कही गई।

> ☞ इस प्रसंगको गीतावलीके निम्न उद्धरणोंसे मिलान कीजिए।
> 'जनकसुता समेत आवत गृह परसुराम अति मद हारी ।७।३८।'
> 'गहि करतल मुनि पुलक सहित कौतुकहि उठाइ लियो।
> नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो।
> आकर्षेउ सिय मन समेत हरि हरषेउ जनक हियो।
> भंजेउ भृगुपति गर्व सहित तिहुँ लोक बिमोह कियो।१।९०।'
> ☞ जो अर्थ और भाव हमने दिये हैं, उनकी पुष्टि इनसे होती है।

नोट—६ 'जयति सच्चितव्यापकानंद' से 'नत माथ भारी' तक छः चरणोंमें बालकांडकी कथा कही। प्रथम ब्रह्मका अवतार कहकर बालचरित्रोंसे माता-पिताको 'कैवल्य फल चारु चारी' का सुख देना सूचित किया। 'ऋषिमखपाल' से कुमारावस्थाका धनुर्बाणविद्याका पराक्रम कहा; यथा 'मुनिमख राखन गएउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥ सत जोजन आयेउँ छन माहीं।... जौं नर तात

तदपि अति सूरा ।३।२५ '; 'मुनिबधू सापहारी' से दयालुता और दीन बंधुता कही;यथा 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित दयाल ।१ २११।'; 'भंजि भवचाप' से किशोरावस्थाका बाहुबल कहा; यथा 'वय किसो सुषमासदन श्याम गौर सुखधाम ।१।२२०।', 'राम बाहुबल सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कनहारू ।।··· संकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल। बूड़ सो सकल समाज चढ़ा जो प्रथमहि मोह बस ।।१।२६०-२६१।'; 'दलि दाप भूपावली सहित भृगुनाथ नत माथ भारी'—से प्रभाव, प्रताप और अवतारोंके अवतारी परब्रह्म परमात्मा होना कहा। यथा 'परसुराम मन बिसमय भएऊ ।। जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात ।१।२८४।' श्रीपरशुरामजी प्रधान दश अवतारोंमेंसे एक हैं। उनका पराजय यहाँ हुआ। किसी और अवतारमें ऐसा नहीं हुआ। इससे यह निर्वाद सिद्ध है कि श्रीरामजी सब अवतारोंके अवतारी हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'जयति धार्मिक धीर धुर वीर···' इति। अब 'राजरसभंग' चरित कहते हैं; इसीसे प्रथम 'धार्मिक धीर धुर वीर' कहकर इस चरितका आरंभ करते हैं। अभी वरका हाल नहीं मालूम है, राज्याभिषेककी तैयारी हो चुकी है। तिलक होनेका समय है कि सुमंत्रजी इन्हें कोपभवनमें राजाके पास ले जाते हैं। वहाँ 'जाइ दीख रघुवंसमनि नरपति निपट कुसाज। सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराज ।।२।३६। सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहु दीन मनि-हीन भुअंगू।। सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहु मीचु घरी गनि लेई ।।'

करुणामय मृदुल स्वभाव श्रीरघुनाथजीने दुःखका नाम भी कभी न सुना था, सो आज उनको देखनेको मिला। ऐसे अवसरपर पिता की यह दीन दशा और विमाताका कोप देखकर कौन न सहम जाता! किसका वज्र हृदय न दहल जाता? किसका धैर्य बना रह सकता! परन्तु वहाँ भी 'तदपि धीर धरि समउ विचारी। पूछी मधुर बचन मह तारी ।।' 'तदपि' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि ऐसी अवस्थामें कोई भी धीर बना न रह सकता। इतना ही नहीं, आगे तुरत वनवासका समाचार, वह भी कड़वे और व्यङ्गपूर्ण कठोर शब्दोंमें और फिर विमाताके मुखसे। वह भी विमाता कौन?—जो पूर्व अत्यन्त स्ने

खतो थी—उसके मुखसे 'सुत सनेह इत वचन इत संकट परेउ रेस। सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेस।' इत्यादि वचन सुनकर भी 'मन मुसुकाइ भानुकुलभानू।···बोले वचन विगत सब दूषन ॥'

श्रीरघुनाथजी धर्मकी सूक्ष्मगतिके ज्ञाता हैं। इसीसे कवि कहते हैं–'धरम धुरीन धरमगति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी ॥' वे सबको धर्म समझाते हैं और स्वयं भी धर्मका पालन करते हैं। पिताको धर्म संकटसे निकालना, आज्ञाको शिरोधार करना परम धर्म हैं। वे धर्मसे न डिगे, उनका धैर्य न गया। अतः 'धार्मिक धीर धुर' कहा।

पुनः, 'धार्मिक धीरधुर' कहनेका भाव कि उस समय अनेक परस्पर विरोधी धर्म आ उपस्थित हुए थे। उन सबोंका निर्वाह आपने परम धैर्य्यपूर्वक किया। 'धार्मिक' विशेषण देकर आगेके चरित्रोंमें धर्मका पालन दिखाते हैं और धीरधुर कहकर उसका कारण 'रघुवीर' शब्दसे कहा। अर्थात् पंचवीरतायुक्त हैं तब 'धीरधुर' क्यों न हों ?

४ (ख 'गुर मातु पितु बंधु वचनानुसारी' इति। गुरु, माता, पिता, और भाई सभीके वचन मानते थे। यहाँ गुरुको प्रथम कहकर उनकी पूर्व दी हुई आज्ञा जनाई। —'राम करहु सब संजम आजू। जौं विधि कुसल निवाहइ काजू ॥' फिर माता, पिता और बंधुको कहनेका भाव कि प्रथम माता कैकेयीने वचन कहा कि हमने "भरतके लिये राज्य माँगा और तुम्हारे लिये वनवास। राजा स्नेहवश तुमसे न कहेंगे, 'सकहु त आयसु धरहु सिर।" आपने उनके वचन मान लिये। पिता उन्हें वरदानके लिये वचन हार चुके हैं। माताका वचन माननेसे पिताका भी वचन रहता है, नहीं तो उनका सत्यव्रत टूटता है जो वे तोड़ना भी नहीं चाहते, मौनसे अपनी आज्ञा जना देते हैं। श्रीरामजीने भरतजीसे कहा भी है कि 'राखेउ पिता सत्य मोहि त्यागी।' शङ्करजी भी कहते हैं कि 'पिता वचन तजि राज उदासी। दंडकवन विचरत अविनासी ॥' माता कौसल्याकी भी आज्ञा होती है कि "जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥"

इसके पश्चात् चित्रकूटमें बंधु भरतजीके वचन रखते हैं, उनसे कहते हैं—'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु।

२।२६४।'; श्रीरामजीकी इस प्रतिज्ञापर भरतजी क्या कहते हैं, सुनिये—

"प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देव।
सो सिर धरि धरि करिहि सब मिटिहि अनट अवरेब ॥२।२६
"सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावउँ जेहि सेई ॥२।३
"जेहि उपाय पुनि पायँ जन देखइ दीनदयाल।२।३१३।"
"पुलक सरीर नीर भरि लोचन कहत प्रेमपन कीन्हें॥
तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जौ रघुबीर न ऐहौ।
तौ प्रभुचरनसरोज सपथ जीवत परिजनहिं न पैहौ॥" गी० २

श्रीरामजी इन वचनोंके अनुसार चले हैं, यथा 'पालहु अवधि भर जाई।' (यह कहकर फिर अवधिभर प्राण रखनेके 'प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही।' ये 'चरन पीठ करुनानिधान के। जुग जामिक प्रजा प्रान के' थे) इसीसे उन्होंने विभीषणजीकी प्र नहीं स्वीकार की, प्रत्युत यही कहा कि 'देखउँ बेगि सो जतन सखा निहोरउँ तोहि॥ बीते अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर और श्रीहनुमान्‌जीको अवधिके अंतिम दिन श्रीभरतजीको आगमनका समाचार देनेके लिये भेजकर फिर उसी दिन भी गये। ☞ मानसमें भी कहा है—'गुर पितु मातु बचन अनुस खल दल दलन देवहितकारी।२।२५४।'

☞ प्रसंगानुकूल यहाँ यही भाव है। यद्यपि 'गुर…' से यह भाव कह सकते हैं कि यह श्रीरामजीका साधारण सब काल सहज स्वभाव है और 'बंधु' से और भाइयोंको भी ले सकते हैं।

४ (ग) ☞ इस चरणमें अयोध्याकाण्डका मुख्य चरित 'चित्रकूटाद्रि' तक यह चरित है। आगे 'बिंध्याद्रि'से अरण्यकां चरित कहते हैं। चित्रकूट भी विन्ध्याचलका ही भाग है, पर अलग कहकर वहाँतक अयोध्याकांडका चरित जनाया है। चरित्र श्रीरामचरितमानस अरण्यकाण्ड के छठे दोहे तक है। उस छठे दोहेपर काण्डके समाप्तिकी फलश्रुति है।

४ (घ) 'चित्रकूटाद्रि बिंध्याद्रि दंडक बिपिन धन्य कृत०' (क) इनको 'धन्य पुन्य कृत' कहा। अर्थात् श्रीरामसम्बंधसे वे माने गए, सभी इनके भाग्यकी प्रशंसा करते हैं। यथा—

'धन्य भूमि बन पंथ पहारा । जहँ जहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा ।२।१३६।'

"बिबुध बिपिन जहँ लगि जग माहीं । देखि रामबन सकल सिहाहीं ।
सुरसरि सरसइ दिनकर कन्या । मेकलसुता गोदावरि धन्या ।
सब सर सिंधु नदी नद नाना । मंदाकिनि कर करहिं बखाना ।
उदय अस्त गिरि अरु कैलासू । मंदर मेरु सकल सुरबासू ॥
सैल हिमाचल आदिक जेते । चित्रकूट जस गावहिं तेते ॥
बिंधि मुदित मन सुखु न समाई । श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ॥
चित्रकूट के बिहग मृग बेलि बिटप तृन जाति ।
पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिन राति ।२।१३८।
परसि चरनरज अचर सुखारी । भए परम पद के अधिकारी ।
सो बन सैल सुभाय सुहावन । मंगलमय अति पावन पावन ।
महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू । सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ।"

'उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई । गी०२।४६।३।'

☞ श्रीरघुनाथजीके क्षणिक वा कुछ कालके निवाससे, विश्रामसे, उनके चरणरजके स्पर्शसे यह फल उनको मिला । और, जहाँ ब्रह्मने अवतार लिया और सहस्रों वर्ष रहकर प्रजाको सुखी किया, उस भूमिकी महिमा और फल कौन जान और कह सकता है ?

४ (ङ) 'दंडक बिपिन धन्य...' इति । 'दंडक बन पुनीत प्रभु करहू । उग्र श्राप मुनिवर कर हरहू ।३।१३।१६।' से दण्डकवनका प्रसंग प्रारम्भ होता है । दंडकवन 'धन्य पुन्य' हुआ, अर्थात् वह वन फिरसे हरा-भरा, सुहावन और पावन हो गया, मुनिवरका शाप मिट गया, इत्यादि । यथा—

जब तें राम कीन्ह तहँ बासा । सुखी भए मुनि बीती त्रासा ॥
गिरि बन नदी ताल छबि छाए । दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए ॥
खग मृग बृंद अनंदित रहहीं । मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं ॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा । जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा ॥

☞ 'धन्य कृत पुन्य' चित्रकूटाद्रि, विन्ध्याद्रि और दंडक बिपिन सबके साथ है । धन्यकृत और पुन्यकृतकी ही व्याख्या ऊपर टिप्पणी ४ (घ, ङ) में दिये हुए उद्धरणोंको समझना चाहिए ।*

---

* नोट—'चित्रकूटाद्रि' 'धन्यकृत पुन्य' का अर्थ यह भी हो सकता है कि चित्रकूट और विन्ध्यको धन्य किया और दण्डकवनको पवित्र किया । दण्डकवन

४ (च) दण्डकवनकी कथा—(१) पूर्वकालके सत्ययु वैवस्वत मनु पृथ्वीके शासक थे। उन्होंने अपने पुत्र इक्ष्वाकु राज्यपर अभिषिक्तकर उसको उपदेश दिया कि 'तुम दण्डद्वारा प्र की रक्षा करना, दण्डके समुचित प्रयोगके लिए सदा . सचेष्ट रहना इक्ष्वाकुके पुत्रोंमें जो सबसे छोटा था, वह सबसे श्रेष्ठ था। वह प्र का आदर करनेके कारण सबके विशेष गौरव का पात्र हो गया था उसके बुद्धिमान् पिताने उसका नाम 'दण्ड' रक्खा और विन्ध्यगिरि दो शिखरोंके बीचमें उसके रहनेके लिए एक नगर दे दिया, जिस नाम 'मधुमत्त' था। बहुत वर्षों तक दण्डने धर्मपूर्वक राज्य किया

एक बार वसन्तऋतुमें वह भार्गव मुनिके आश्रमके पास गया वहाँ भार्गववंशकी परम सुन्दरी कन्या घूम रही थी। उसे देख काम पीड़ित हो, राजा उसके पास गया और उससे अपनी इच्छा प्रकट की उसने अपना परिचय देते हुए कहा कि 'मेरा नाम अरजा है, शुक्राचार्यजीकी ज्येष्ठ पुत्री होनेसे धर्मके नाते आपकी बहिन हूँ आपको मुझसे ऐसी बात न कहनी चाहिए। मेरे पिता बड़े क्रोधी हैं आपको भस्म कर सकते हैं। आप पिताके पास जाकर धर्मानुकू बर्तावके द्वारा उनसे मेरे लिए याचना कीजिये।'—परन्तु कामातु होनेसे दण्डने उसकी बातोंपर ध्यान न दिया और बलात्कार स्वेच्छा नुसार उसके साथ भोग किया। यह कठोरतापूर्ण महाभयान अपराध करके वह तुरन्त अपने नगरको चल दिया। अरजा रोती हु उद्विग्न हो पिताके पास गई। उसकी दयनीय दशा देख सारा रह उनके चित्तमें आ गया। वे क्रोधमें भरे हुए अपने शिष्योंसे बोले— "धर्मके विपरीत आचरण करनेवाले अदूरदर्शी दण्डके ऊपर प्रज्व लित अग्निशिखाके समान भयंकर विपत्ति आ रही है, तुम सब लो देखना। वह खोटी बुद्धिवाला पापी राजा अपने देश, भृत्य, सेन और वाहनादि सहित नष्ट हो जायगा। उसका राज्य सौ योजन लम्बा-चौड़ा है, उस समूचे राज्यमें इन्द्र धूलकी बड़ी भारी वर्षा करेंगे। उस राज्यमें रहनेवाले प्राणी उस वर्षासे शीघ्र नाशको प्राप्त होंगे।

अपवित्र था; इसीसे उसका पवित्र करना कहा। अगस्त्यजीने कहा भी यही है कि 'दंडकवन पुनीत प्रभु करहू।३।१३।१६।'

जहाँतक उसका राज्य है वहाँ तकके उपवनों और आश्रमोंमें अकस्मात् सात राततक धूलकी वर्षा होती रहेगी।'

यह कहकर फिर उन्होंने अपने शिष्योंको आज्ञा दी कि आश्रमवासियांको शीघ्रतापूर्वक दण्डके राज्यकी सीमाके बाहर ले जावें। तदनन्तर वे अरजासे बोले—'ओ नीच बुद्धिवाली कन्या! तू अपने चित्तको एकाग्र करके सदा इस आश्रमपर ही निवास कर। यह चार कोसके विस्तारका सुन्दर शोभायमान् सरोवर है। तू रजोगुणसे रहित सात्विक जीवन व्यतीत करती हुई सौ वर्षतक यहीं रह।'

ब्रह्मवादी महर्षिके कथनानुसार दण्डका समूचा राज्य एक सप्ताहके भीतर ही जलती रेतकी वर्षासे जलकर खाक हो गया। तबसे वह विशाल वन दण्डकारण्य कहलाता है। (पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें अगस्त्यजीने यह कथा श्रीरघुनाथजीसे कही है, जब शम्बूकका वध करके वे उनके आश्रमपर गये थे)। इस वनके मध्यमें चारकोस लंबी एक झील थी जो हंस और कारण्डव आदि पक्षियोंसे संकुल थी। उस वनभरमें और कहीं कोई जीव पशु पक्षी न रह गये थे।

(२) दण्डकवनकी दूसरी कथा इस प्रकार है-'एक समय बड़ादुर्भिक्ष पड़ा। ऋषियोंको अन्न जलकी बड़ी चिन्ता हुई। सब भयभीत होकर महर्षि गौतमके आश्रमपर जाकर ठहरे। जब सुसमय हुआ तब उन्होंने अपने-अपने आश्रमोंको जाना चाहा, पर गौतमजीने उन्हें जाने न दिया, वरंच वहीं निवास करनेको कहा। तब उन सबोंने सम्मत करके एक मायाकी गऊ रचकर मुनिके खेतमें खड़ी कर दी और मुनिवरके आते ही बोले कि गऊ खेत चरे जाती है। उन्होंने जैसे ही हाँकनेको हाथ उठाया, वह मायाकी गऊ गिरकर मर गई। तब वे सब आपको गोहत्या लगाकर चलते हुए। महर्षि गौतमने ध्यान करके सब चरित जान लिया और उन मुनियोंको शाप दिया कि तुम जहाँ जाना चाहते हो वह देश भ्रष्ट हो जायगा' (यह कथा मराठी 'गुरुचरित्र' में कही जाती है)। वह देश दंडका राज्य था जो वन हो गया।

४ (छ) 'कानन बिहारी' इति। बिहारी = विहार करना जिसका स्वभाव है।—'विहरति तच्छीलः'। विहार आनन्दपूर्ण विचरणका द्योतक है। चित्रकूटाद्रि विन्ध्याद्रि दण्डक विपिनको कहकर काननविहारी कहनेका भाव कि इन सबोंके वनोंमें विहार करते थे। इस

प्रकार इसमें चित्रकूटका रहस्यमय विहार भी आ गया जो कविने अरण्य कांडमें 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए। सीतहि पहिराए प्रभु सादर।' इत्यादिसे इंगित कर दिये हैं। गीताव में भी विहारका उल्लेख है, यथा 'चित्रकूट कानन छबि को क बरनै पार। जहँ सिय लषन सहित नित रघुबर करहिं बिहार। २।४७।२१।' दंडकवनमें प्रभुका पदारोपण होते ही वह पवित्र हो गया। इसीसे 'पुन्य कानन विहारी' कहा।

४ (ज) 'कानन बिहारी' इति। 'मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा ॥३।७।१।' से मुख्य वनचरि प्रारंभ होता है। वनमें ही विहार करते विचर रहे हैं। इसीसे यहाँ अरण्यकांड है।

टिप्पणी—५ 'जयति पाकारिसुत…' इति। (क) पाक—देवासु संग्राममें जम्भासुरके मारे जानेपर उसके भाईबंधु नमुचि, बल औ पाक झटपट रणभूमिमें आ पहुँचे। पाकने अपने बाणोंसे मात (सारथि) और उसके एक एक अंगको छेद डाला, इन्द्रकी सेना रौं डाली। तब इन्द्रने अपने आठ धारवाले वज्रसे बल और पाकका सि काट डाला। (भा० ८।११)। वामन पुराणमें भी इसके इन्द्र द्वार मारे जानेकी चर्चा है। इसीसे इन्द्रका नाम 'पाकारि', 'पाकरि ख्यात हुआ। पाकारिसुत जयन्त है।

५ (ख) 'पाकारिसुत काक करतूति फलदानि' इति। भाव कि यह है तो इन्द्रका पुत्र जयन्त, पर इसने चाण्डालका कर्म करनेके लिये काकका, अर्थात् उस कर्मके अनुरूप, वेष धारण किया। यथा 'सुरपतिसुत धरि बायस बेषा।…सीताचरन चोंच हति भागा। मू मंद मति कारन कागा ॥३।१।५-७।' अतः काक-करनीके अनुकूल उसक फल भी दिया। काक काना होता है, अतः उसकी भी एक आँ फोड़ दी गई।

पुनः, 'पाकारिसुत' कहकर 'काक करतूति' कथनका भाव कि य पाकरिपुका पुत्र है और पाकरिपुकी करतूत काक की-सी कही गई है यथा 'कपट कुचालि सीव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू। काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँन प्रतीती ॥२।३०

१-२।' अतः बेटेका व्यवहार बापका-सा हुआ ही चाहिए। पुत्रने काकरूप धारणकर वैसी ही करतूत की तो इसमें आश्चर्य क्या ?

'फल दानि'—मानसमें यह प्रसंग 'सींक धनुष सायकु संधाना ।।' से 'कीन्ह मोहवस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित। प्रभु छाड़ेउ करि छोह ।। ३। दोहा १-२।' तक है। इसमें फल ही फल है।

☞भक्त (श्रीसीताजी) का अपराध किया, अतः दण्ड दिया, और शरणागत हुआ, अतः प्राण बचा दिये। विशेष पूरा प्रसंग 'मानस-पीयूष' तिलकमें देखिए।

५ (ग शंका होती है कि 'यह (जयन्त प्रसंग) चरित तो पहलेका है, इसे 'दंडक विपिन' के पहले कहना चाहिये था ? समाधान यह है कि यह भी वन-चरित है। 'अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर नर मुनि भावन ।।३।१।२।' ऐसा कहकर तब यह चरित कहा गया है। चित्रकूटाचल और विंध्याचलका 'धन्य पुन्य कृत' किया जाना कहा गया। और दण्डकारण्य भी विन्ध्याचलका एक अंग है, यह भी धन्य पुन्य किया गया था। अतएव इन सबका समान धर्म 'धन्य पुन्य कृत' होना एक साथ कहकर, तब वनविहारके चरित प्रारम्भसे ही कहने लगे। पहले साधारण बात कहदी, चरित-विशेष अब कहते हैं। पहले यह बताकर कि कहाँ-कहाँके चरित कहते हैं, तब चरित कहे।

५ (घ) 'देखि देबी बेष लखि निसिचरी' इति। देवी-वेषका देखना और 'निसिचरी' का लखना कहकर 'देखने' और 'लखने' में भेद जनाया। शूर्पणखा राक्षसी है, विधवा है, कुरूपा है। श्रीरामजी-को धोखा देनेके लिये वह परम सुन्दर देवाङ्गनाओंका-सा वेष धरकर सामने आई थी; क्योंकि श्रीसीताजी एक परम सुन्दरी उनके साथ हैं, बिना सुन्दर रूपके वे न रीझेंगे। यथा 'रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई ।।३।१७।७।' दिव्य वेष सामने प्रकट है, अतः उसे देखना कहा। देखनेसे निशाचरी नहीं जान पड़ती। तब कैसे जाना ? 'बोली बचन बहुत मुसुकाई ।। तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ।। मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ।।'—उसके इन वचनोंसे ताड़ गए कि यह कोई ऋषिकन्या या देवी नहीं है, क्योंकि ऋषिकन्या अथवा देवी यहाँ इस वनमें अकेले कैसे आती ? स्वयं अपने विवाहकी

बात कैसे करती ? और यह तो कुलटाकी तरह हँस-हँसकर बात करती है तथा तीनों लोकोंमें अपने वरकी खोजमें फिरना कहती है। यह सामर्थ्य और निर्लज्जता निशाचरीमें ही हो सकती है। अतः 'लखि निसिचरी' कहा; अर्थात् उसके आचरणसे, चेष्टासे, वचनोंसे ताड़ गए। 'लखना' छिपी हुई बातके ताड़ लेनेको कहते हैं। यथा 'वंदी बेष वेद तब आये जहँ श्रीराम।···लखेउ न काहू मरम कछु लगे करन गुनगान ॥७।१२।', 'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये।१।३२१।', 'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेहु बेगि न होइ लखाऊ।२।२७१।'

५ (ङ) 'जनु विडंबित करी विश्वबाधा' इति। 'विडंबना' क अर्थ 'नकल करना' भी है। इस अर्थसे शूर्पणखाके साथ जो बर्ता किया गया वह स्पष्ट हो जाता है। भाव कि जैसा व्यवहार उसने किया, वैसाही व्यवहार उसके साथ करके उसे चिढ़ाया, उसक परिहास किया। उसने बिधवा होकर सुन्दरी बनकर अपनेको 'कुमारी' कहा, वैसेही 'परिहास-विचक्षण' श्रीरघुनाथजीने उससे कहा—'अह कुमार मोर लघु भ्राता'। अन्तमें जब उसने सीताजीको खानेके लि राक्षसी शरीर प्रकट किया, तब सीताजीको भयभीत देख तब निशाचरीको कुलटा जानकर उसे दण्ड दिया। स्त्री जानकर प्राण लिये। कुलटाका उत्तम दण्ड यही है कि वह कुरूपा कर दी जाय जिसमें फिर ऐसा न करे। दूसरे, इससे आगे काम लेना है, देवका करना है। अतः नाक-कान काटकर इसका उपहास एवं अपमा किया।

कवि यहाँ 'जनु' शब्द देकर जनाते हैं कि यह प्रभु उसका उपहास या फ़जीहत नहीं की, वरंच ऐसा जा पड़ता है कि इसके द्वारा आपने 'विश्वबाधा' को ही विडंवित किया है अर्थात् विश्वबाधाको ही ललकारा है कि 'आओ मैदानमें। अब आ हम संसारमें बाधा न होने देंगे'—यह प्रतिज्ञा हम ललकारकर क रहे हैं। राक्षसीमें विश्वबाधाकी कल्पना, इस अहेतुको हेतु ठहरान 'सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। यहाँ 'विश्वबाधा' के दो अर्थ है एक तो मूर्तिमान 'विश्वबाधा' दूसरे 'रावण' जो विश्वभरमें बाधा क रहा है। रावणकी अनुचरोंको यह आज्ञा थी कि "द्विजभोजन म होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥" प्रभुने मानों इस मूर्ति

मान बाधाको ललकारा है, एवं उसके स्वामी रावणको। प्रमाण, यथा 'लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि। ताके कर रावन कहँ मनहुँ चुनौती दीन्हि ॥ ३।१७ ।' ☞ बाधाको ललकारनेसे खरदूषणादि सभी बाधा करनेवालोंको भी ललकार हो गई।

टिप्पणी—६ 'जयति खर त्रिसिर दूषन···' इति। (क) शूर्पणखाके विरूप होनेपर उसके भाई खर, त्रिशिरा और दूषण अपनी चौदह हज़ार परमसुभटोंवाली सेना सहित (जो और किसीके हाथसे न मर सकते थे) उसकी पुकार ललकारपर आये और सब मारे गए। खर, त्रिशिरा, दूषण और चतुर्शसहस्र सुभटोंको एक साथ कहकर जनाया कि ये सब एक साथ क्षणमात्रमें मारे गए। यथा 'करि उपाय रिपु मारे छन महँ कृपानिधान।'

६ (ख) खरदूषणादिके मारे जानेपर शूर्पणखाने लङ्कामें जाकर रावणको ललकारा। रावणने मारीचको कपट मृग बनाकर भेजा। वह मारीच भी मारा गया। खरदूषणादि तथा मारीच पंचवटी ही में आये थे। इनके संहारका कार्य यहीं प्रारंभ हुआ। इसीसे मारीचको भी खरादिके साथ एक ही पंक्तिमें कहा।

६ (ग) मारीचका संहार कहा, कपट मृगका नहीं। इससे जनाया कि मृगको भी मारा और मृगशरीरके मरते समय उसका राक्षस शरीर प्रकट करके उस राक्षसका भी वध किया। आपका दिव्य बाण ऐसा कठिन था कि उसने राक्षस शरीर तकको वेध डाला।

६ (घ) 'गृद्ध सबरी भक्ति बिबस' इति। 'बिबस' का भाव कि बसमें तो भक्तके होते ही हैं; यथा—'निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहिं बस करी।', किन्तु गृध्रराज और शबरीजीका विलक्षण प्रेम था, इसीसे इनके विवश अर्थात् अत्यन्त विशेष वश हो गए। विवशताका प्रमाण यह है कि ऐसे अधम पक्षीको गोदमें लेकर अपनी जटाओंसे उसकी धूलि झाड़ी पोंछी, उसकी क्रिया की, उसको यहीं चतुर्भुजरूप कर दिया और अपना धाम दिया। क्यों न हो, इसने श्रीजानकीजीकी रक्षामें अपने प्राण ही दे दिये थे।

प्रभुहि बिलोकत गोदगत सियहित घायल नीचु।
तुलसी पाई गीधपति मुकुति मनोहर मीचु ॥ दो० २२२।
रघुबर बिकल बिहंग लखि सो बिलोकि दोउ बीर।
सिय सुधि कहि सियराम कहि देह तजी मति धीर ॥दो०२२६

दसरथ ते दस गुन भगति सहित तासु करि काज।
सोचत बंधु समेत प्रभु कृपासिंधु रघुराज ॥ दो० २२७।

'तनु तजि तात जाहु मम धामा।" 'गीध देह तजि धरि हरिरूपा।

शबरीजी जातिकी भीलनी थीं, उसके प्रेमवश उसके संचित किये हुये। तथा कितनोंहीके मतानुसार जूठे) बेर खाए और सर्वत्र सराहना की कि वैसा स्वाद हमें कहीं नहीं मिला। इनकी भक्तिके संबंधमें श्रीरामजीने नवधा भक्ति वर्णन करते हुये स्वयं कहा है कि 'नव महं एकौ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥ सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥३।३६।६-७।'

शबरीजी का कैसा प्रेम था यह गीतावलीके "सबरी सोइ उठी फरकत बाम बिलोचन बाहु।...' इस पूरे पदसे तथा भक्तमाल प्रियादासकृत टीकासे स्पष्ट हो जायगा। यहाँ दो चार चरण उद्धृ किये जाते हैं—

"मृदुचित गरीबनिवाज आजु बिराजिहैं गृह आइ कै।
ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइ कै ॥ ५।
लहि नाथ हौं रघुनाथ बानो पतितपावन पाइ कै।
दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइ कै। ६।
दोना रुचिर रचे पूरन कंदमूल फल फूल।
अनुपम अमिहु ते अंबक अवलोकत अनुकूल। ७।
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनि कै।
सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानि कै। ८।
छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भ्रू पर पानि कै।
दोउ भाइ आये सबरिकाके प्रेम पन पहिचानि कै। ६।(गी०३।१

श्रीरामजी दण्डकारण्यके ऋषियोंको छोड़ इसके आश्रमं गये, शबरीके चरणस्पर्शद्वारा सरोवरका जल शुद्ध कराके ऋषि का अभिमान दूर किया। माताके समान दोनों भाइयोंने इसका आद किया और शरीर छोड़नेपर अपने हाथोंसे जलांजलि दी। यथा ' जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भायके।', 'तेहि मातु ज्यों रघुना अपने हाथ जल अंजलि दई।'

६ (ङ) 'करुनासिंधु चरित निरुपाधि··' इति। साधारण सीध सादा अर्थ तो यही है कि वे करुणाके सागर हैं, उनके चरित उपा रहित हैं और तीनों प्रकारके दुःखोंके हरनेवाले हैं। फिर भी '

सबरी भक्ति बिबस' कहकर 'करुनासिंधु···' कहनेमें यह भी भाव है कि इनकी भक्तिके वशीभूत होकर जो चरित उनके प्रति किये गये वे निरुपाधि हैं। जैसे कि गीधकी क्रिया, पिंडदान, श्राद्ध आदि। भला ये किस धर्मशास्त्रमें विधि कर्म कहे गये हैं? 'जासु छाँह छुइ लेइय सींचा' उस भीलजातिकी स्त्री शबरीके हाथके कन्द मूल फल फूल बेर आदि माँग माँगकर सराह-सराहकर खाये, वे देती थीं और आप पाते थे, उसके हाथका जल ग्रहण किया। यथा 'पदपंकजात पखारि पूजे पंथश्रम विरहित भए। फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये ॥ प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि आदर जनु जये ॥ प्रभु खात माँगत देत सबरी राम भोगी जाग के। बालक सुमित्रा कौसिलाके पाहुने फल साग के ॥' (गी०)। कहाँ नीच भीलिनी और कहाँ मर्यादा-पुरुषोत्तमका यह चरित्र !!!

☞ये चरित साधारणतया उपाधिरूप समझे जाते हैं। कट्टर कर्मकाण्डी आजभी नाक सिकोड़ते हैं, इनमें धर्मशास्त्रकी अवहेलना हुई और धर्ममें बाधाकी संभावना है। इसीसे कवि इसका निराकरण करते हैं कि ये चरित भक्तोंके अमल अतिशय अनुरागके वश प्रेमियों-पर करुणा करके भगवान् रामने किये हैं, ये निरुपाधि हैं, परम-पवित्र और त्रितापहारक हैं। ऐसा न होता तो शिव, सनकादि सुर मुनि सिद्ध आदि इन अवसरोंपर प्रशंसा न करते। उन्होंने इनके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यथा 'सुमन बरषि हरषि सुर मुनि मुदित सराहि सिहात। केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात ॥···पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन भाग के ॥ गी०।' और इसपर कवि अपनी छाप भी देते हैं,—'सुनि समुझि तुलसी जानि रामहिं बस अमल अनुराग के ॥'

भागवत आदि सभी सद्ग्रंथोंमें भक्ति और प्रेमकी अतिशय महिमा गाई गई है। नीचसे नीच चाण्डाल भक्तपर कोटि-कोटि ब्राह्मणत्व निछावर करने योग्य है, वह नीच चाण्डाल, ब्राह्मणोंकी क्या कही जाय, संसारभरको पवित्र करता है। वह अच्युतगोत्री है।

['निरुपाधि' = धर्मसंकटरहित-(वै०) = लांछनारहित-(वि०) = निरुपद्रव-(वीर, दीन)। वैजनाथजी यह भाव लिखते हैं कि "जो भक्त इन चरित्रोंको गायेंगे उनको कोई धर्मसंकट न व्यापेगा, जैसे अम्बरीषजीपर दुर्वासाजीकी उपाधि नहीं व्यापी।"] भगवान्‌ने दुर्वासाजी-

से कहा ही है कि मैं भक्तपराधीन हूँ, मुझे ब्रह्मण्यदेव, अशरणशरण, आर्तिहरण आदि गुणोंका अभिमान नहीं, भक्तवात्सल्यने इन सब गुणोंको हर लिया है।

टिप्पणी—७ 'जयति मद अंध कुकबंध…' इति। (क, यह चरित श्रीशबरीजीके मिलापके पूर्वका है, किन्तु यहाँ पीछे दिया है। व्यतिक्रमका कारण गीधराज और शबरीजीके प्रेमकी समानता है। दोनों एकसे दीन और प्रेमी भक्त थे, एकको प्रभुने पिता, तो दूसरेको माता माना है। अतः गीधराजका प्रेम कहनेके साथ इनको भी कहा। दूसरे, प्रेममें नेम नहीं रह जाता, कवि भी प्रेमवश हो गये। तीसरे, यहाँ चरित कह रहे हैं, आगे-पीछे क्रमका अधिक विचार नहीं। चौथे, संभव है कि कल्पभेदसे किसी कल्पमें ऐसा ही क्रम हो। जैसे कहीं परशुरामागमन धनुर्भंगके बाद तुरंत है और कहीं बारात बिदा होनेके बाद मार्गमें।

७ (ख) 'कबंध' इति। यह मतङ्गऋषिके आश्रमके आगे एक महावनमें रहता था। यह बड़ा भयानक था। इसके न तो मस्तक ही था, न गला। शरीरके रोम तीक्ष्ण थे। छातीमें एक भयानक आँख थी और चार कोश लम्बी भुजायें थीं। यह श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंकी ओर भयानक मुँह फैलाकर उन्हें खानेको लपका, त्योंही दोनोंने उसकी एक-एक भुजा कंधेसे काटकर अलग कर दी। बाहुके कटनेपर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और दीनवाणीमें उसने पूछा—'वीरो! तुम दोनों कौन हो?'—'दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः। वाल्मी० ३।७०।११।'—इस प्रकार पूछनेपर श्रीलक्ष्मणजोने उसे दोनोंका परिचय देकर उससे उसका परिचय और कबंध होनेका वृत्तान्त पूछा। श्रीलक्ष्मणजीके ऐसा कहनेपर उसे इन्द्रकी बातका स्मरण हो आया, अतः उसने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया। उसने अपना वृत्तान्त श्रीराम-लक्ष्मणजीसे इस प्रकार कहा है—'मैं इन्द्र, सूर्य और चन्द्रमाके समान सुन्दर अचिन्तनीय रूपवाला तथा बड़ा पराक्रमी और महाबलवान था, पर ऋषियोंको भयानक रूप धरकर डरवाया करता था। अन्ततोगत्वा स्थूलशिरामुनिने शाप दे दिया कि तेरा सदा यही रूप रहेगा। मैं दनुका पुत्र हूँ। इसके बाद मैंने तप करके दीर्घायु प्राप्तकर इन्द्रको ललकारा। उनके वज्रसे मेरा मस्तक और जङ्घे पेटमें धस गए। प्रार्थना करनेपर उनने मुझे तीक्ष्णदाँतवाला मुँह और एक योजन

लम्बी भुजायें दीं।" (मानस में इसने अपनेको दुर्वासासे शापित बताया है। उपर्युक्त कथा वाल्मीकीय ३।६९,७०,७१ के अनुसार है।)

यह बलके मदसे अन्धा था, घमण्डमें किसीको कुछ न समझता था। इसीसे 'कु-कबंध' कहा। श्रीरामजीके हाथसे वध होनेसे पाप और शाप दोनों मिट गये। इस दानवकी आकृति केवल कबंध (धड़) के ही रूपमें थी, इसीसे वह कवंध कहलाता था।

७ (ग) '(चित्रकूटाद्रि) विंध्याद्रि दंडक विपिन' से 'कुकवंध बधि' तक अरण्यकाण्डकी कथा हुई। आगे 'बालि बलसालि ··राजा' किष्किधाकांड है। 'चित्रकूटाद्रि···बिहारी' से जगपावन गुण; 'पाकारिसुत काक करतूति फलदानि' से अतुलित बल, अतुलित प्रभुत्व और सींकबाणप्रताप (सींकास्त्रका ऐसा प्रताप था कि उसको ब्रह्मादिकने भी शरण न दी); 'खनि गर्त गोपित बिराधा' से मृदु शरीरका अतुलबल कि पाताल-सदृश गड्ढा तुरत खोदकर विराधको पकड़कर उसमें तोप दिया; 'दिव्य देवी वेष···विश्वबाधा' से अधर्मियोंको दण्ड देनेमें उत्साह; 'खरत्रिसिरा···संहारकर्ता' से मायावियोंके लिये महामायापतिरूप (क्योंकि जैसे वे सब 'महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।' वैसे इन्होंने उनके साथ कौतुक किया। यथा 'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‍यो। देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरिमर्‍यो। ३।२०'), तथा इससे भगवदवतार जनाया ('खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता। ३।२३। २।" 'खरदूषन त्रिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड। ३।२५।' ये विचार इन्हींके बधपर प्रकट किये गये हैं। खरदूषण और विराधके वधमें युद्धकलाकौशल भी दिखाया है। इसीसे नारदजीने 'खरदूषनविराधबध पंडित। ७।५१।५" कहकर स्तुतिकी है)। मारीचसंहारमें भी मायावियोंके भी मायावी तथा बाणकी दिव्यता कही। [वैजनाथजीके मतसे खरादिवधमें शौर्य गुण प्रकट हुआ। (मा० पी० ५।२४।८)]

'गृद्ध सबरी भक्ति बिबस' से दीनबंधु, कृपाल, भक्तवत्सल, प्रेमपराधीन, पतितपावन, अधमोद्धारक और करुणामय जनाया। गीधराज और शबरीजीकी भक्तिके विवश कहनेसे 'अनुकंपा' गुण दिखाया। 'रक्षिताश्रित भक्तानामनुराग सुखेच्छया। भूयोभीष्ट प्रदानाय यश्चताननुधावति॥ अनुकंपा गुणो ह्येष। प्रपन्न प्रियगोचरः। भ० गु० द०।' त्अथ जो पूर्वसे रक्षित-आश्रित अनुरागी भक्त हैं, उनके सुखके लिये

भगवान् उनके पीछे धावते हैं—यह 'अनुकंपा' गुण है। 'करुनासिं चरित…हर्ता' से भक्तोंके हितार्थ इन चरित्रोंका करना कहा; यथ 'जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु ॥१।१२१॥ सोइ ज गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।' 'मदअं कुकबंध बधि' से ब्रह्मण्य, ब्रह्मद्रोहीके नाशक तथा पाप-शापहारी औ ब्रह्मद्रोहीको भी शरण आनेपर गतिदाता जनाया।

७ (घ) 'बालि बलसालि बध करन सुग्रीव राजा' इति। 'करन दीपदेहली है—वध करन और सुग्रीव राजा करन। बालि बलशा था, यथा 'खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसा ।५।२१।' (हनुमद्वाक्य), 'बालि बली बलसालि दलि सखा कीन् कपिराज। दो० १५८।' (गोस्वामी तुलसीदासजी)। बालि महा बलवान था, यह सुग्रीवने स्वयं श्रीरामजीसे कहा है, यथा 'बालि महाबल अति रनधीरा।', सुग्रीवको मित्रता होने और श्रीरामजी प्रतिज्ञा करनेपर भी कि मैं बालिको एकही बाणसे मारूँगा विश्वा न होता था कि रघुबीर उसे मार सकेंगे, इसीसे बिना परीक्षाके उ सन्तोष न हुआ। बालि एक ही बाणमें मर जायगा, ऐसा विश्वा किसीको न था, सबने आश्चर्य माना है। यथा 'एकहि बान बा मारयो जेहि जो बल उदधि अगाध। गी० ६।१।', 'बालि एक सर मार तेहि जानहु दसकंध। ६।२५।' (यह मन्दोदरी वाक्य है)। एक बाणसे वध हो जानेसे श्रीरघुनाथजी को भगवदवतार सूझाया है यथा 'सो नर क्यों दसकंध बालि बध्यो जेहि एक सर।६।३२।', 'जग बिदित अति बीर बालिबल जानत हौ किधौं अब बिसरायो। बि प्रयास सोउ हत्यो एक सर सरनागतपर प्रेम देखायो। गी० ६।४। 'बालि दलि काल्हि जलजान पाषान किय, कंत! भगवंत तैं तउ चीन्हें। गी० ६।१६।' बालिवधपर सुग्रीव राजा हुए। सुग्रीवके रा होनेपर वानर सेना तैयार हुई और दूत सीता-शोधके लिये चा दिशाओंमें भेजे गए।—यहाँतक किष्किंधा काण्ड है। ☞ 'बालिब सालि बध करन सुग्रीव राजा'—चरितसे शरणागतपालक, गरीबनिवा और कृपाल गुण प्रकट हुये। यथा—'मम भुजबल आश्रित तें जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी।४।६।१०।', 'कहा बिभीषण मिल्यो कहा बिगारयो बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आ पालि। दो० १५६।'', 'बालि बली बलसालि दलि सखा कीन्ह कपिरा

तुलसी राम कृपाल को बिरद गरीबनिवाज । दो० १५८।', 'सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ।४।१२।४'-विशेष 'बालि बलसालि बध मुख्य हेतू। २५ (४)।' में देखिए।

७ (ङ) 'सुभट मर्कट भालु कटक संघट सजत···' इति। वानरी सेनाका एकत्र किया जाना और दूतोंका चारों दिशाओंमें भेजा जाना ऊपर कहा गया। 'संघट सजत' में वह भी चरित है और आगे सुन्दरकाण्डका भी। हनुमान्‌जीने आकर श्रीसीताजीका समाचार दिया तब श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवको आज्ञा दी-'अब बिलंब केहि कारन कीजे। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे।', बस 'कपिपति बेगि बोलाए आए जूथप जूथ।५।३४।' और 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना।' सेना सहित आकर समुद्रतटपर उतरे।—यह सब 'सुभट संघट सजत' में आ गया।

७ (च) 'नमत पद रावनानुज नेवाजा' इति। सिंधुतटपर डेरा डालते ही लंकासे विभीषणजी आए और 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर।' कहते हुये दंडवत किया और प्रभुने ऐसा कहते हुये दंडवत करते देखा। यथा—'अस कहि करत दंडवत देखा।' अतः 'नमत' पद दिया।' 'नमत पद नेवाजा' से जनाया कि प्रणाम करते ही तुरत प्रभुने उठकर उन्हें पकड़कर हृदयसे लगा लिया। 'नेवाजा' शब्दसे ग्रंथकार ने सारी कृपाओं को कह दिया जो विभीषणपर हुईं। यथा—'तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा', 'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।', 'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।', 'बोले बचन भगत भय हारी।', 'कहु लंकेस···। कुसल···', 'सखा धरम निबहै केहि भाँती', 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ', 'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरें', 'सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें।', (विभीषणने शिवमन-भावनी पावनी भक्ति माँगी उस पर) 'एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। मागा तुरत सिंधु कर नीरा।।···राम तिलक तेहि सारा।', 'दीन्हेउ राज अखंड'।—इतनी कृपाओं निवाजिशोंका ताँता दंडवत करते ही लग गया।

☞ यह संकटका समय है। श्रीरामजी बनवासमें विशेष उदासी वेषमें हैं। पासमें कुछ भी नहीं है। प्राणप्रियाका हरण हो चुका है—

ऐसे समयमें भी आपने त्रैलोक्य विजयी रावणके क्रोधाग्निमें जले हुये विभीषणको शरणमें रख लिया और लंकाका राज्य दे दिया यथा 'वलकल भूषन, फल असन, तृन सज्या, द्रुम प्रीति। तिन् समयन लंका दई, यह रघुबर की रीति ।। दो० १६७।', 'बैरिबंधु निसि चर अधम तज्यो न भरे कलंक। दो०१६६।'

७ (छ) ☞ इस चरितमें करुणा, शरणागतवत्सलता, दानवीरत आदि गुण दिखाए। सुंदरकाण्डमें इसके पश्चात् विभीषण-शरणागति का तथा विभीषणकी सम्मतिसे सागरसे पंथकी याचनाका समाचा शुक-सारण-द्वारा रावणको मिलना जो कहा गया वह भी 'नेवाज में आ गया, सखा बनाना और सम्मति लेना यह भी कृपा है सागर-निग्रह इसीका परिणामस्वरूप है। अतः यह सब कथ 'रावनानुज नेवाजा' में आ गई।

टिप्पणी—८ 'जयति पाथोधि कृत सेतु···' इति। (क) यहाँसे ती चरणोंमें लंकाकाण्डका चरित है। सेतुबंधनसे ही इसका प्रारम्भ हो है। सागरकी प्रार्थना स्वीकारकर सेतुबंधनकी आज्ञा दी गई इससे सागरकी मर्यादा भी रह गई और त्रिलोकीमें श्रीरघुनाथजीक यश हुआ, यही दोनों बातें सागरने कही थीं। समुद्रसोषणसे उस बड़ाई न रह जाती। यथा 'प्रभु प्रताप मैं जाव सुखाई। उतरि कटक न मीरि बड़ाई ।५।५६।'

८ (ख) 'कौतुक हेतु' इति। भाव कि सेतु बनाना केवल खे करना था, यह केवल एक विनोदमात्र था, नहीं तो सेना तो सेतुबंधन के बादभी आकाशमार्ग तथा जलचरोंपरसे ही पार हो गई थी औ कल्पान्तरमें धनुषसे ही पुल बन गया था। पुनः देखिये कि श्रीभर जी तो हनुमान्‌जीको पर्वतसहित बाणपर ही बिठाकर लंका पहुँच रहे थे, तब भला रघुनाथजीके बाणोंके प्रतापका कहना ही क्या ! सारी सेनाको बाणद्वारा पार कर देते। मारीचको एक थोथे बाण सिद्धाश्रम बकसरसे उड़ाकर लंकामें फेंक दिया था। उनका एक बा अगणित समुद्रोंको सुखा सकता था, यथा 'सक सर एक सोखि स सागर ।५।५६।', 'लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसि

कृसानू। ५।५८।१।', किन्तु समुद्रके दीन होकर विनती करनेसे उसे सुखाते नहीं, पुल बाँधते हैं।—अतएव सेतुबंधन एक कौतुक (खेल तमाशा) नहीं तो क्या? इस प्रसंगमें मानसमें कौतुक शब्दभी कई बार आया है। ☞ खेल वानरोंके लिए, रावणको डरवानेके लिये और अपने मनोविनोदके लिए हुआ। यथा "रामचरन पंकज उर धरहू। कौतुक एक भालु कपि करहू॥…" (जामवंत)। 'बूड़हिं आनहि बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई।६।३।८' से 'सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं। अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं॥४। अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई।' तक सब कौतुक ही कौतुक है। रावणको भय हुआ, यथा 'सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना।६।५।१०।'

८ (ग) 'काल मन अगम…' इति। कालके अधिकारी देवता भी रावणके अधीन थे, यथा 'भुज बल जितेहु काल जम साईं।६।१०३।' लंकापुरी समस्त देवताओं लोकपालों आदिके मनको भी अगम थी तब शरीरसे उसकी सीमाका लंघन करने, हानि पहुँचानेकी तो बात ही क्या? यथा-'भूमि भूमिपाल, व्यालपालक पताल, नाकपाल लोकपाल जेते सुभट समाज हैं। कहै मालवान जातुधानपति रावरेको मनहूँ अकाज आनै ऐसो को आजु है। क० ५।२२।', 'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी। हनु० ९।४२।,' 'यत्सीमा नहि लंघिता सुरगणैः सा लंघिता वानरैः।' (समयादर्शे)।—परन्तु यहाँ केवल कालको कहा, अन्य दिग्पालों लोकपालोंको नहीं। कारण कि सारा विश्व कालका कलेवा मात्र है, इसके समान कराल दूसरा नहीं। यथा—'अगजग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥ अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी।७।९४.७-८।'; जब ऐसा दुर्धर्ष काल तक लंकाकी ओर मनसे भी ताक न सकता था, तब अन्य सब देवता आदि किस लेखेमें हैं। अतः औरोंको न कहा।

८ (घ) 'लइ ललकि लंका' इति। ललक=गहरी चाह; लालच; यथा 'ललकत लखि ज्यों कंगाल पातरी सुनाजकी'।=चाहकी उमंग। इस प्रकार ललकि=गहरी चाह या लालचसे। इस अर्थसे भाव होगा कि जैसे दरिद्र कंगाल अनाजकी ढेरी देख उसपर टूट पड़ता है और उसे मुँहमें रख लेता है—(यह दशा सन् १८९६ ई० में साधा-

रणतः प्रायः कानपुर आदि नगरोंमें देखी गई है, जहाँ नाजकी मंडि और हलवाइयोंकी खुली दूकानें थीं। कंगाल पत्तलको कैसी चाह चाहता है, यह श्रीअयोध्याजीमें प्रायः नित्य भंडारोंमें देखा जाता है वैसेही निःशंक होकर इसपर एकबारगी रावणके देखते-देखते वान सेना सहित जाकर दखल कर लिया, तोड़फोड़ डाला, तहस-नह कर दिया।

दूसरा अर्थ 'ललकि' का हुआ 'चाहकी उमंगसे भरकर'। य "वलकि-बलकि बोलत वचन ललकि-ललकि ललचाति।' (विहारी),'ल ललकि लोचन निधि पाई।१।२४८।८।', 'लोचन ललकि लागे, म अति अनुरागे, एकरसरूप चित्त सकल सभाके हैं। गी० १।६२।३

'पाथोधि कृत सेतु' के पश्चात् 'लइ ललकि लंका' कहकर जना कि इससे सेतुवंधनके पश्चात् जो चरित लंकामें वानरोंसहित श्री नाथजीने किया उसी से यहाँ तात्पर्य है।

प्रथम तो लंकाके सर्वोच्च सुवेल शिखरपर दखल कर लिया जि पर कालका पहरा था और जिसपरसे पूरी लंका देख पड़ती थी इसपर दखल होनेसे लंकाका लेलेना सुगम हो गया। फिर दूस चरित यहींसे रावणके छत्र और मुकुट तथा मन्दोदरीके सौभा चिह्नरूप ताटंक आदि गिरानेका हुआ जिससे राज्यका छिन जा और रावणकी मृत्यु निश्चित हुई।—'सोचहिं सब निज हृदय बिचारी असगुन भयउ भयंकर भारी।६।१४।२।' यह चरित स्वयं श्रीरामजी किये। आगे अंगद और हनुमान्‌जीके चरित हुये। दोनों निःशं हैं। अंगद दूत बनाकर भेजे गये। जाते ही इन्होंने अक्षयकुमार "गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई।' फिर सिंह समान निःशंक राव दरवारमें पहुँचे, वहाँ रावणसे जो बातें हुईं वे सब जानते है अपने भुजदंडोंको पृथ्वीपर पटककर रावणको अपना बल दिखा कि वह गिरते बचा किन्तु उसके मुकुट गिर पड़े जिन्हें उठाकर अंग ने श्रीरामजीके पास फेंक दिया, तत्पश्चात् पैरका बल दिखाया कोई हटा न सका।—इस तरह 'रिपुमद मथि', 'रिपुबल धरषि हर कपि वालितनय बलपुंज। पुलक सरीर नयन जल गहे रामपदकंज "लंका द्वौ कपि सोहहिं कैसे। मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे।' अब वा रोंकी उमंग देखिए—'गर्जहिं सिंघनाद कपि भालु महाबलसींव "चली चतुरंग चमू चपरि हने निसान, सेना सराहन जोग रातिच

राज की ॥ तुलसी बिलोकि कपिभालु किलकत, ललकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की। क०६।३०।', इत्यादि सब उद्धरण 'लइ ललकि लंका' के भावार्थ-सूचक हैं।

उपर्युक्त अर्थ 'शब्दसागर' कोशमें के हैं। वैजनाथजीने 'ललकि' का अर्थ 'हर्षपूर्वक ललकारकर' किया है।

८ (ङ) 'सकुल सानुज सदल दलित दसकंठ रन' इति। सकुलसे मेघनाद प्रहस्त आदि पुत्र और पौत्रादि, सानुजसे कुम्भकर्ण और सदलसे सुभटोंकी सारी सेना सहित नाश कहा। 'दलित रन' सबके साथ है अर्थात् सबको रणभूमिमें सम्मुख संग्राम करके मारा, यंत्र मंत्र माया कपट छलसे नहीं। मेघनाद, कालनेमि, रावण, अकंपन आदिने कपट छल मायायें भी की थीं, वैसा श्रीरघुनाथजी तथा उनकी सेनाने नहीं किया, यह दिखानेके लिये 'दलित रन' कहा। 'दसकंठ' से रावणके ऐश्वर्य और बलका भी संकेत करते हुये उसके दशों सिरोंका काटा जाना भी कहा।

८ (च) 'लोक लोकप किये रहित संका' इति। शंका = मनमें होनेवाले अनिष्टका भय। = डर। सबको शंकारहित अर्थात् रावणके बंदीगृहसे छुड़ाकर निश्शंक निर्भय कर दिया। यथा—"मारे रन रातिचर, रावन सकुल दल, अनुकूल देव मुनि फूल बरषतु हैं। नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि, पुलक सरीर, हिये हेतु, हरषतु हैं॥ बाम ओर जानकी कृपानिधानके बिराजै, देखत बिषाद मिटै मोद करषतु हैं। आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै, तुलसी निहाल कै कै दिए सरषतु हैं।" कवितावली लंकाकांडके इस अंतिम कवितमें जो सरखत देना कहा है, यही निर्भय कर देना है कि जाओ, अब हमारे बल पर अपने-अपने लोकोंका राज्य करो। सबको पुनः अधिकार सौंप दिये। गीतावलीमें भी कहा है—'अरिपुर जारि उजारि मारि रिपु बिबुध सुबास बसाए। गी० ६।२२।' ☞ लोकपालोंके नाम और देश ४४ (२ घ) में देखिये।

टिप्पणी—९ 'जयति सौमित्र सीता सचिव सहित चले' इति। (क) सीता-सचिव-सहित०' से जनाया कि रावणवधके बाद श्रीसीताजीको लंका अशोकवाटिकासे बुलवा लिया, विभीषणजीसे पुष्पक विमान लिया, और विभीषण एवं सुग्रीव अपने दोनों मंत्रियों तथा उनके प्रधान-प्रधान मंत्रियोंको उनकी प्रार्थनापर पुष्पकपर अपने साथ लेकर चले।

६ (ख) 'पुष्पकारूढ़' कहकर जनाया कि आज वनवास-व चौदह वर्षकी अवधिका अंतिम दिवस है। श्रीभरतजी प्रतिज्ञा क चुके हैं कि यदि आप अवधिकी पूर्ति पर तुरत न आगए तो मुं जीवित न पावेंगे। (टि० ४ ख देखिए)। अकेले होते तो चा हनुमान्‌जीके कंधे पर बैठकर पहुँच जाते, परन्तु श्रीजानकीजी सा हैं, वे इस प्रकार जा नहीं सकतीं। श्रीलक्ष्मण-सीता-सहित ही अयोध्यामें पहुँचना है (क्योंकि सीताहरण, लक्ष्मण-शक्तिके समाचा वहाँ पहुँच चुके हैं, इनके साथ न पहुँचनेसे इनके संबंधमें शंका हो ही अनर्थ हो जाता)।—इसीसे प्रभुने विभीषणके यहाँ पहुनां स्वीकार न करनेका कारण कहते हुए उनसे निहोरा किया। यथ 'भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कलप सम जात।...देखउँ बे सो जतन करु सखा निहोरउँ तोहि। ६।११५.' यह सुनकर विभीष जी पुष्पक विमानको ले आए। उसपर सब चढ़कर तब चले।

पुष्पकयान कुवेरजीका था। रावण उनको परास्तकर उनसे छीन लाया था। कुवेरको यह विमान रघु महाराजसे और वाल्मीकी के अनुसार ब्रह्मासे मिला था। पुष्पाकार होनेसे इसका 'पुष्पक' नाम पड़ा। वाल्मी० ६।१२१।६–११ तथा ७।१५।३८–४३। में इसका विस्तृ वर्णन है। अन्यायसे प्राप्त वस्तुको उसके स्वामीको लौटवाना भी है। अतः उपर्युक्त कारणोंसे पुष्पकारूढ़ होकर चले।

६ (ग) 'निजं राजधानी' इति। 'निज' कहा, क्योंकि इस समय विभीषणजीकी राजधानीमें हैं। 'लंकेश' तो सुंदरकाण्डमें कर दिया था, रावणका वधकर उनका राज्याभिषेक भी करा चुके हैं। दूसरे, अयोध्याको 'निज राजधानी' इससे कहा कि श्रीभरतजीने राज्य स्वीकार कर चुके हैं। इस समय इन्हींकी पादुका सिंहासनपर विराजमान् हैं और इनकी जगह राज्यका शासन कर रही हैं। यथा—'सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि।२।३२३।', 'माँगि माँगि आयसु करत राजकाज बहु भाँति।२।३२५।', 'सिंहासन सुभग रामचरनपीठ धरत। चालत सब राजकाज आयसु अनुसरत। गी०२।८०।'

१ (घ) यहाँ तक लंकाकाण्डका चरित हुआ। 'पाथोधिकृत सेतु कौतुक हेतु' में वैजनाथजीके मतानुसार 'प्रभु का चातुर्यगुण प्रकट हुआ कि सबकी बोली-भाषा और सब कला विद्यामें प्रवीण

हैं तभी तो देश-देशके वानरोंकी भाषा समझते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं और अगाध समुद्रमें जलके ऊपर चार सौ कोशतक पत्थरोंको तैराकर पुल बँधवा लिया। ऐसा दुष्कर दुःसाध्य कार्य केवल अपनी बुद्धिसे किया—यही चातुर्यगुण है।' (मा० पी०१।२५ ४ से उद्धृत)। मेरी समझमें इसमें 'अघटित घटना पटीयसी' गुण प्रकट हुआ। 'काल मन अगम लइ ललकि लंका'में 'ललकि' शब्द शौर्य गुणका सूचक है। शौर्यगुण, यथा 'सर्वस्माद्भीतिराहित्यं युद्धोत्साहश्च कीर्तये। शूरैः शौर्यमिदं चोक्तं राज्ञां स्वर्ग्ययशस्करम्। भ०गु० द०।' (मा० पी० १।२४।८से उद्धृत)।

'सकुल सानुज सदल दलित दसकंठ रन' में स्थिरता, धैर्य, शौर्य, वीर्य, तेज और बल आदि अनेक गुण प्रकट हुए; क्योंकि कुलमें मेघनाद, अकंपन आदि, कुम्भकर्ण तथा अनेक सेनापति वरप्रतापसे अजित महाबली थे और रावण तो त्रैलोक्यविजयी राजा ही था। इनके वधसे 'थिर थपे उथपनहार' गुण भी प्रकट हुआ। 'लोक लोकप किये रहित संका'से कृपाल, दयाल, विश्वपालक, उथपे-थपन, आश्रितवत्सल आदि गुण प्रकट हुए, क्योंकि सब देवगण सभीत शरणमें गये थे, ब्रह्मवाणीने 'निर्भय होहु देव समुदाई' कहकर अभय दान दिया था। और, 'सौमित्र सीता सहित चले निज राजधानी' से भक्त-प्रेम-विवशता, बंधु-परिवार-पुरजनके प्रेमके रक्षक, प्रजा पालक, प्रजापर अत्यंत प्रेम आदि गुण कहे।—इस तरह जो पदके प्रारंभमें 'विमल गुणगेह नरदेह धारी' कहा था, वे गुण चरित्रमें यहाँ तक कहे।

६ (ङ) 'दास तुलसी मुदित अवधवासी सकल···' इति। 'मुदित अवधवासी' कहकर 'निजराजधानी' का अर्थ खोला कि अवध राजधानी है और अवधमें पहुँच जाना भी इससे कह दिया। इनको श्रीअयोध्याजीमें आये हुए देख सब आनंदित हुए। 'मुदित' शब्दसे जनाया कि इसके पूर्व सब दुखी थे। यथा 'जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृस तन राम वियोग।' मुदित, यथा 'रन जीति राम राउ आये। सानुज सदल ससीय कुसल आजु अवध आनंद बधाये। गी०६।२२।', 'मिले भरत जननी गुरु परिजन चाहत परम अनंद भरें। दुसह बियोग-जनित दारुन दुख रामचरन देखत बिसरे। गी०७।३८।', 'प्रभु

बिलोकि हरषे पुर बासी। जनित बियोग बिपति सब नासी।७।६।
'मुदित अवधवासी' आगेके 'राम भये भूप बैदेहि रानी'के साथ
है। एक ही पंक्तिमें यह सब एक साथ देकर जनाया कि सब लालायि
थे कि राज्याभिषेक तुरत हो जाय। वे सब देवताका पूजनकर
माँगा करते थे—

'राजा राम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि राम करहु जुबराजा॥
एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन लाहू॥
गुरसमाज भाइन्ह सहित रामराज पुर होउ।
अछत रामराजा अवध मरिअ माग सब कोउ।२।२७

वह कामना पूरी हुई। अतः 'मुदित सकल।'

(च) 'दास तुलसी मुदित अवधवासी' का दूसरा अर्थ कवि-अभि
प्रेत यह भी है कि 'तुलसीदास और अवधवासी दोनों ही आनन्दि
हैं।' उसी आनन्दमें मग्न होकर उस अवसरपर उन्होंने भक्ति
वरदान माँग लिया। यथा 'वेद पुरान विचारि लगन सुभ महारा
अभिषेक कियो। तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति दान त
माँगि लियो। गी० ७।३८।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

४४ राग रामकली

जयति[1] राजराजेंद्रराजीवलोचनराम नाम कलिकामतरु सामसाली[2]
अनयअंभोधिकुंभजनिसाचर-निकरतिमिरघनघोर खरकिरनमाली[3]।
जयतिदेव[4] मुनिदेवनरदेवदसरत्थके देव-मुनि-वंद्य किय अवधवासी
लोकनायक-कोक-सोकसंकटसमन भानुकुल-कमलकानन-विकासी
जयति सिंगार-सर[5]-तामरस दाम दुति देह गुनगेह विश्वोपकारी।
सकल[6] सौभाग्य सौंदर्ज सुखमा रूप निज[7] मनोभवकोटि गर्वहारी[8]।

---

१ मु०, ७४ में नहीं है। २ स्याम—७४। ३ किरन—रा०, ७४,
किरिनि-भा०, बे०। किरिन—ह०, ज०। ४ देव—रा०, भा०, वे०, ह०,
भ०, प्र०, ज०। मु०, वै०, ७४, दीन, वि० में नहीं है। ५ सर—रा०,
प्र०, ५१,आ०। रस—बे०, ७४, ज०। ६ सकल— रा०, ह०, ७४,
सर्व—भा०, वे०, ज०। ७ निज, ८ गर्बहारी—रा०, भाँ०, बे०, प्र०,
ह०। ७४ और आ० में 'निज' नहीं है, पर ८ में 'गर्वापहारी' है।

जयति[१] सुभग सारंग सुनिषंग सायक सक्ति चारु चर्मासि बर वर्म धारी
र्मधुरधीर रघुबीर भुजबल अतुल हेलया दलित भूभार भारी ।४।
जयति कलधौत मनि मुकुट कुंडल (श्रवन[९])
तिलक झलक[१०] भलि[११] भाल विधु बदन सोभा ।
दिव्य भूषन बसन पीत उपवीत किये[१२]
ध्यान कल्यान भाजन न को भा ॥५॥
जयति[१३] भरतसौमित्रसत्रुघ्न[१४] सेवितसुमुखसचिवसेवकसुखदसर्वदाता
अधम आरत दीन पतित पातकपीन सकृत नत[१५] मात्र कहें[१६] पाहि पाता
जयति(जय)[१७] भुवनदसचारिजसजगमगतपुन्यमय[१८] धन्यजयरामराजा
चरितसुरसरितकविमुख्यगिरिनिःसरित पिबतमज्जतमुदितसतसमाजा।७
जयति बर्नाश्रमाचारपर नारि-नर सत्य सम दम दया दानसीला ।
बिगत दुख दोष संतोष सुख सर्वदा सुनत गावत रामराजलीला।८।
जयति वैराग्य विज्ञान बारानिधे नमत नर्मद पापतापहर्ता ।
दास तुलसी चरन सरन संसयहरन[१९] देहि अवलंब वैदेहिभर्ता ।९।

शब्दार्थ—राजराजेंद्र=राजेश्वरोंके राजा महाराजाधिराज । राजेन्द्र = राजाओंमें इन्द्र समान अर्थात् श्रेष्ठ । साम = मधुर भाषण । = साम-नीति जिसमें मीठी वातोंसे शत्रुको अपनी ओर मिला लिया जाता है । साली (शाली) = पूर्ण, युक्त; यथा 'बिनय बिवेक धरम नय

९, १०—भा., वे. में दोनों हैं । ह., प्र., ७४, ज. में 'झलक' नहीं है और रा.,आ. में 'श्रवन' नहीं है । ११ भलि–रा., भा., वे., ५१, आ. । भल–ह.,प्र., ७४, १५ । १२ कियें–रा., ज. । किए–ह. । किय–भा., वे., ७४, आ. । १३–७४ में नहीं है । १४ सत्रुघ्न—रा., ह., ज., ७४, आ. । सत्रुहन–भा., वे. । १५ नत–भा., वे., प्र., ज., ७४ । नति—रा., ह., ५१ । १६—कहें–रा., मु. । कहे–भ., दीन । कहैं—वै., डु., ५१ । कहि—वे., ह., प्र., ज., ७४, वि. । १७–आ. में नहीं है । १८ मय–रा., ह., ज., ५१, ७४, आ. । भव–भा., वे. प्र. । १९ सीदत बिभो—ज. ।

स्वाली । अ० ।' सामशाली = नीतिमें निपुण वा लवलीन । अनय: अमंगल, अनीति, दुष्टकर्म । यथा 'काल तोपची तुपक महि द अनय कराल । पाप पलीता कठिन गुर गोला पुहमीपाल । अज्ञात घोर = भयंकर । सौभाग्य = अष्ट भोगों (सुगन्ध, वनिता, वस्त्र, प भोजन, भूषण, गीत और वाहन) से संपन्न* । तामरस = कम विश्वोपकारी = विश्व + उपकारी । सुखमा = परमाशोभा । सौंदर्य सर्वांग सुठौर जहाँ जैसा चाहिये वैसा होना 'सौन्दर्य्य' है । सुभग: सुन्दर । सारंग (शार्ङ्ग)—यह धनुष श्रीरामजीका प्रधान आयुध इसीसे शार्ङ्गधर, शार्ङ्गपाणि नाम श्रीरामजीके लिये रूढ़ी हो ग है । भगवान् विष्णु और श्रीमन्नारायण भी इसे धारण करते हैं, उनके प्रधान आयुध चक्र, सुदर्शन, पद्म और गदा हैं, शार्ङ्ग नहीं ☞ महर्षि दधीचिकी अस्थिसे वज्रके अतिरिक्त पिनाक और शार्ङ्ग बड़े-बड़े धनुष और एक गाण्डीव नामका छोटासा धनुष भी व था । पिनाक शिवजीको मिला और उनसे देवरातको । गाण्डी अग्निको मिला और अग्निसे अर्जुनको । मनुष्यकी हड्डी (मेरुदण्ड को शृङ्ग कहा जाता है । ब्रह्मर्षि दधीचिके मेरुदण्डसे यह धनुष व इसीसे इसका नाम शार्ङ्ग हुआ—'शृङ्गाद् भवः शार्ङ्गः' । शार्ङ्ग भगव विष्णुको मिला और विष्णुसे परशुरामजीको । परशुरामजीने व परीक्षार्थ वही धनुष श्रीरामचन्द्रजीको दिया, जो उन्होंने लेकर व के पास रख दिया था । वही शार्ङ्गधनुष दण्डकारण्यमें अगस्त्य द्वारा श्रीरामचन्द्रजीको मिला । तबसे वह सदैव इन्हींके पास र (वै० भू०) । सुनिषंग = सुन्दर (अर्थात् अक्षय बाणोंसे भरा हु कभी न खाली होनेवाला अक्षय) तरकश । ☞ इसमें मार्केकी बात थी कि इसमेंसे बाण आपही आप इच्छा करतेमात्र निकल आते

---

* वैजनाथजीने 'सुगन्धं वनिता वस्त्रं' पाठ दिया है । और उपर्युक्त प्रकारके भोगोंमें 'सुन्दर भोजन' को भी एक कहा है । सुन्दर भोजन भी आ है । श्रीकान्तशरणजीने 'स्रग्गंधं' पाठ दिया है । उसके अनुसार 'माला' अष्ट मेंसे एक होगा और 'ताम्बूलभोजनम्' का (एक शब्द मानकर) केवल 'प खाना' अर्थ होगा । भगवद्गुणदर्पण ग्रन्थ अप्राप्य है, सुना भर जाता है । वैज जीने ही उसके श्लोक दिये हैं । इसलिये शुद्ध पाठका निर्णय नहीं हो स (टि० ३ घ देखिए)

निकालना न पड़ता था। सायक = बाण। शक्ति = एक प्रकारका शस्त्र; साँग वा बरछी। असि = तलवार। वर्म = कवच; जिरावख्तर। हेलया = खेलही खेलमें, यथा 'जेहि जलनाथ बँधायो हेला। उतरे सेन समेत सुबेला। लं०।' कलधौत = सोना। झलक = चमक-दमक। उपवीत = जनेऊ। सुमुख = सुन्दर मुखवाले। = प्रसन्न, अनुकूल। सर्व = सब कुछ। अधम = अधर्मी। पीन = पुष्ट, मोटा। पाता (पातृ) = रक्षक। भुवन—भुवन चौदह ये हैं—भूः (भूर्लोक), भुवः (भुवर्लोक), स्वः (स्वर्लोक), महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक।—ये सात ऊर्ध्वलोक हैं। जितनी दूरतक सूर्य और चन्द्रमाकी किरणोंका प्रकाश जाता है, समुद्र-नदी-पर्वतादिसे युक्त उतना प्रदेश पृथिवी (भूर्लोक) कहलाता है। पृथिवी और सूर्यके मध्यमें जो सिद्धगण और मुनिगण-सेवित स्थान है, वही भुवर्लोक है।—'भूमिसूर्यान्तरं यच्च सिद्धादिमुनिसेवितम्। भुवर्लोकस्तु…। वि० पु० २।७।१७।' इसके ऊपर सूर्य और ध्रुवके बीचका जो स्थान है वह स्वर्लोक है। ध्रुवसे एक करोड़ योजन ऊपर 'महर्लोक' है जहाँ कल्पान्तपर्यन्त रहनेवाले निवास करते हैं। फिर इससे दो करोड़ योजन ऊपर 'जनलोक' है जहाँ श्रीसनकादि रहते हैं। जनलोकसे आठ करोड़ योजन ऊपर 'तपलोक' है जहाँ 'वैराज' नामक देवगण रहते हैं। इससे बारह करोड़ योजनपर 'सत्यलोक' (ब्रह्मलोक) है। (वि० पु० २।७)। इसी प्रकार अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान्, महातल, सुतल और पाताल ये सात लोक नीचे हैं। इनमेंसे प्रत्येक दश-दश सहस्र योजनकी दूरी पर है। इनमें दानव, दैत्य, यक्ष और नाग आदिकी सैकड़ों जातियाँ रहती हैं। (वि० पु० २।५।२,४)। सात ऊपरके और सात नीचेके मिलकर ये चौदह 'भुवन' हुए। जगमगत = जगमगा (प्रकाशमान हो) रहा है। मुख्य = श्रेष्ठ, प्रधान। कविमुख्य = आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी। निःसरित = निकला हुआ। पिबत = पीता है। सत = साधु, सज्जन; यथा 'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुख दानि। सत समाज सुरलोक सब को न सुनइ अस जानि। बा०।' वर्णाश्रमाचारपर = वर्ण आश्रम आचार पर। पर = परायण, तत्पर। सत्य = जीवमात्रके हित; यथा 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं' इति मनुः। वारानिधि—यह समास 'वारांनिधि' का रूपान्तर है। यथा 'कारुण्यवारांनिधिः'

(वहुभ्र०) 'यो वारांनिधिमल्पपल्वलमिव' (आ० रा० मनोहर १३।२
सत्य=सबको सुख पहुचानेवाला यथार्थ वचन । दम=चित्तको बु
कार्योंसे हटाना; वाह्येन्द्रियोंको अनर्थकारी विषयोंसे रोकना । शम=
अन्तःकरणको वशमें रखना ।

पद्यार्थ—राजराजेश्वर, कमलनयन, जिनका नाम कलियुग
कल्पवृक्ष है,* सामादिक राजनीतियोंमें निपुण,‡ अनीतिरूपी समुद्र
(सोखनेके) लिये अगस्त्यरूप, निशाचरसमूहरूपी घने अंधकार
लिये भयंकर तीक्ष्ण किरणोंवाले सूर्यरूप श्रीरामचंद्रजीकी जय हो ।
हे देव-मुनिदेव, नरदेव (अर्थात् स्वयं दिव्यरूप, देवताओं और
मुनियोंके देवता तथा मनुष्योंके देवता) श्रीदशरथनन्दन जिन्हों
अवधवासियोंको देवताओं और मुनियोंसे वन्दनीय कर दिया,
लोकपालरूपी चक्रवाकके शोक और संकटके नाशक, सूर्यकुलरू
कमलवनके खिलानेवाले सूर्य ! आपकी जय हो ।२। शृंगाररसरू
सरोवरके नीलकमलदाम (अर्थात् नीलकमलकी माला वा समूह)
की कान्तिके समान देहवाले,+ (दिव्य कल्याण) गुणोंके धाम व
प्रकाशक, विश्वका उपकार करनेवाले, संपूर्ण सौभाग्य-सौन्दर्य-परम
शोभावाले अपने रूपसे करोड़ों कामदेवोंके गर्वको हरनेवाले!
आपकी जय हो ।३। सुन्दर शार्ङ्ग धनुष, अक्षय बाणोंसे भरा हु
उत्तम तरकश, बाण, सुन्दर चमचमाती हुई शक्ति, सुन्दर ढाल
तलवार और श्रेष्ठ (अक्षय) कवच धारण करनेवाले, धर्मका धु
धारण करनेमें धीर, एवं धुरंधर और धीर, अतुलित बाहुबलवा
और पृथ्वीके भारी भारको सहजही नाश करनेवाले श्रीरघुवीर
जय हो ।४। "(सिरपर) मणिमय स्वर्णमुकुट और (कानोंमें) कुंडल

---

* अर्थान्तर—१ जिनका राम नाम है, कलियुगमें कल्पवृक्ष । (भ., वि.)
'नाम कलि कामतरु' में द्वितीय निदर्शना अलंकार है ।

‡ अर्थान्तर—१ 'प्रिय वचनों करके शोभायमान वा सामवेद करके शोभा
मान' । —(च.) । २ सामादि नीतियोंसे शोभनशील–(डु.) । ३ रामराजनीति
भरे मन्दिर (वै.) । ४ साम्यधर्मानुवर्ती—(वि.) ।

+ अर्थान्तर—हे शृङ्गारसरोवरके नीलकमल रामजी ! आपकी जय हो
आपके शरीरकी कान्ति नीलकमलकी मालाके समान है । (दीनजी) ।

माथेपर तिलककी चमकदमक भली लग रही है और मुखकी शोभा चन्द्रमाके समान है। दिव्य आभूषण, पीतवस्त्र और पीला यज्ञोपवीत धारण किये हुये हैं"— (ऐसे आपके स्वरूपका) ध्यान करनेसे कौन कल्याणका पात्र नहीं हुआ ? अर्थात् सभी कल्याणभाजन हुए। आपकी जय हो।५। श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजीसे सेवित (सेवा किये गये), प्रसन्न मुख, मंत्रियों और सेवकोंको सुखद तथा सब कुछ देनेवाले, अधम, आर्त, दीन, पतित (धर्मसे च्युत), पातकपीन (महापापी) के (भी) एकही वार प्रणाम मात्र करके 'पाहि' (रक्षा कीजिये, ऐसा) कहनेसे रक्षा करनेवाले ! आपकी जय हो।६। आपकी जय हो, जय हो ! आपका पुण्यमय, धन्यमय यश चौदहों लोकोंमें जगमगा रहा है *। हे राजा श्रीरामचन्द्रजी ! आपकी जय हो। आदिकविरूपी पर्वतसे निकली हुई आपकी चरितरूपिणी गंगामें सन्तसमाज आनन्दपूर्वक स्नान पान करता है।७। (आपकी प्रजा) स्त्री पुरुष (सभी अपने-अपने) वर्णाश्रमधर्मके आचारमें परायण और सत्य (जीवमात्रके हित), शम (अन्तःकरणका निग्रह), दम (वाह्येन्द्रियदमन), दया और दानयुक्त हैं और रामराज्यलीला सदा सुनते गाते, दुःख-दोषोंसे रहित,सदा सन्तोष और सुखसे भरे रहते हैं। आपकी जय हो।८। वैराग्य और विज्ञानके समुद्र, प्रणाम करते ही सुख देनेवाले और (मन, कर्म वचनके सब प्रकारके) पापों और तीनों तापोंके हरनेवाले ! आपकी जय हो। हे संशयके हरनेवाले ! हे श्रीवैदेहीजीके पति ! तुलसीदास आपके चरणोंकी शरण है, उसे (अपने चरणोंकी शरणका) अवलम्ब (सहारा) दीजिये।९।

टिप्पणी—१ (क) 'राजराजेंद्र' इति। राजा होनेपर सभी लोकपालोंने आकर भेंटें दीं और आपको अपना राजा स्वीकार किया है।

---

* अर्थान्तर—१ 'पुण्यमयस्वरूप यश है प्रगट जिसका'—(डु०)। २–'पुण्यमय रामराजा धन्य हैं, जिनके राज्यकी सदा प्रशंसा है'। (वै०)।' ३–'बड़े पुण्यात्मा और धन्य अर्थात् प्रशंसा किये गये ऐसे राजा रामचन्द्रकी बार-बार जय।' (भ.)। ४–'हे पुण्यमय और प्रशंसनीय रामराजा !' (दीनजी)। ५–'आपका पुण्यरूप धन्य यश' ।(वीर)। ६–'जिनकी पवित्र कीर्तिकौमुदी चौदहों लोकोंमें जगमगा रही है, जो धन्य हैं। (वि०)।

यथा 'लै लै भेंट अहिप लोकपति अति सनेह सिर नाये। गी० लं०।' 'राजेंद्र' में शब्दव्यंजनासे 'राज इन्द्र' को भी जना दिया है। अतः 'राजराजेंद्र' संबोधन दिया। [मिलान कीजिये—'रामतिलक सुनि द्वीप द्वीपके नृप आये उपहार लिये। सीय सहित आसीन सिंहासन निरखि जुहारत हरषि हिये। गी० लं० २ ३।'

['राजराज'पदवी कुवेरकी है। पुनःराजराज = राजाओंके राजा = चक्रवर्ती राजा। इन अर्थोंको लेकर चरखारी टीकाकारने 'राजराजेंद्र' का अर्थ 'कुवेरके इन्द्र' और 'चक्रवर्ती राजाओंके इन्द्र' किया है। कुवेरका पुष्पकविमान रावण छीन ले गया था। रावणका वध करके पुष्पकविमानरूपी ऐश्वर्य कुवेरको लौटाया, इससे कुवेरके इन्द्र कहा।]

१ (ख) 'राजीवलोचन' अर्थात् कमलपत्रके समान लंबे करुणामय कर्णपर्यन्त विशालनेत्र। यह प्रायः करुणारस भरे भक्तभयहा दयार्द्र आदि गुणोंका सूचक विशेषण है। 'कामतरु' अर्थात् मनोरथों का देनेवाला और जगजालका मिटानेवाला; यथा 'नाम कामत काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥ रामनाम कलि अभिमत दाता॥ बां०।' (ग) 'कलि कामतरु' का भाव कि अन्य युगों तो और भी साधन फल देते हैं, पर कलिमें 'अपर उपाय ते अपावन भये'। (घ) 'सामसाली' इति। राजराजेन्द्रके सम्बन्धसे सामशाली कहा, क्योंकि 'राज कि रहइ नीति बिनु जाने'। नीति राजाका एक अंग है। 'साम' चार राजनीतियोंमेंसे प्रथम नीति है, इसे कहकर चारों नीतियों से युक्त जनाया। यथा 'मुकुट न होंहिं भूप-गुन-चारी। साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ नीति धर्मके चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये॥ लं०।' पुनः, सामशाली कहकर जनाया कि रामराज्यमें दान, दंड, विभे इन तीन नीतियोंका कामही न रह गया। यथा 'दंड जतिन्ह कर भे जहँ नर्तक नृत्य समाज। जीतहु मनहिं सुनिय अस रामचंद्रके राज॥ उ०।'; अतएव केवल 'साम' को कहा। विशेष 'मानसपीयूष' में देखिए। ☞ सबमें साम्य है, कोई बैरी है ही नहीं, जिसपर नीतिका प्रयोग करना पड़े। यथा 'सब नर करहिं परस्पर प्रीती। 'बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई।' पुनः 'सामसाली' विशेषण देकर जनाया कि आप नीतिपूर्वक प्रजाका पालन

करते हैं। इससे श्वान-यती आदि के मुकदमों का न्याय सूचित किया हैं, यथा 'पालत राज यों राजा राम धरमधुरीन। सावधान सुजान एकरस रहत नय लय लीन॥ श्वान खग यति न्याय देख्यो आपु बैठि प्रबीन। गी० उ०।'

[पुनः, 'नाम कलि कामतरु' से प्रताप कहा, अर्थात् कलियुग ऐसे कराल युगमें जिसमें धर्मकर्मादि एक भी पूरे नहीं पड़ते, उसमें भी आपका नाम कल्पवृक्ष समान है। (वै०)। कल्पवृक्ष तो अर्थ, धर्म, काम ही देता है, पर नाम मोक्ष और भक्ति भी देता है, यह नाममें विशेषता है। (सं०)। 'रूप सामशाली है। सबल और निर्बल सब परस्पर प्रीति रक्खें, यह साम राजनीति है।' (वै०)]

१ (ङ) 'अनय अंभोधि कुंभज' इति। रावणादि राक्षसोंद्वारा संसारमें अनीति समुद्रवत् अगाध फैली थी। इनकी अनीतिका वर्णन मानसमें इस प्रकार किया है—'करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥ जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥ जेहि जेहि देस, धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥ सुभ आचरन कतहुँ नहि होई। देव विप्र गुरु मान न कोई॥ नहिं हरिभगति जज्ञ तप ज्ञाना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना॥ जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा॥ अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना। तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना॥ बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं। हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवनि मिति॥१।१८३।'—इस उद्धरणमें अनीतियोंका वर्णन करके उनको 'बरनि न जाइ' और 'पापहिं कवनि मिति' जो कहा गया, उसी संबंधसे 'अनय' को 'अंभोधि' कहा। समुद्रको अगस्त्यने सोख लिया। वैसे ही श्रीरामजीने अनीति-समुद्रको सोख लिया। धर्म चारों चरणसे परिपूर्ण रहा। (समुद्रशोषणकी कथा ४० (३ ग) में देखिये)।

रामराज्यमें अनीति रह ही नहीं गई, अतः 'अनय अंभोधि कुंभज' कहा। निशिचर और उनके राक्षसी कर्म नष्ट हो गए, यह बतानेके लिये 'घोर खर किरनमाली' कहा। क्योंकि सूर्यके रहते अंधकार रहता ही नहीं। यथा 'चारिहु चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं।'

१ (च) 'निसाचर निकर तिमिर···' इति। निशाचरकी व्या कविने मानसमें इस प्रकार की है। यथा 'देखत भीमरूप सब पा निसिचर निकर देवपरितापी॥···देव बिप्र गुरु मान न कोई॥ नहिं हरिभगति जग्य जप दाना।···मानहिं मातु पिता नहिं दे साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥ जिन्हके यह आचरन भवानी। जानहु निसिचर सब प्रानी।१।१८३-१८४।'

टिप्पणी—२ 'जयति देव मुनिदेव···' इति। (क) 'देव मुनि नरदेव' अर्थात् आप स्वयं दिव्य हैं, देवदेव हैं, मुनियोंके दे और मनुष्योंके देव हैं। देव, यथा 'दीनबंधु दयाल रघुराया। कीन्हि देवन्ह पर दाया। लं०।' देवदेव, यथा 'जहाँ सकल सुर मनि राम लीन्ह अवतार।', 'अवधेस सुरेस रमेस विभो। स गत माँगत पाहि प्रभो।' 'ईसन्ह के ईस महाराजनके महारा न्ह के देव देव प्रानहू के प्रान हो। (क०)।

☞ ब्रह्मा-शिवादिसे भी स्तुत्य,सेव्य और पूजित होनेसे 'देव और नारद-वसिष्ठ-अगस्त्य-सनकादिसे स्तुत्य होने से 'मुनिदेव' और मनुष्योंसे तो पूजित हैं ही। ये सब आपको अपना इष्ट मानते हैं। यथा 'मनोजवैरिवंदितं अजादि देव सेवितं।'

२ (ख) 'दसरत्थ के' इति। 'देव मुनिदेव नरदेव' कहकर 'दसरत कहनेका भाव कि ऐसे ऐश्वर्यवान् होकर भी आप लोकोद्धारहेतु करके माधुर्यमें दशरथपुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए। (वै०)। 'दसरत्थ दशरथजीके पुत्र। यथा 'कुसमय दसरथ के दानि तैं गरीब नि ।८०।', 'राय दसरथ के तू उथपन थापनो ।१८०।', 'तजि आस दास रघुप्पति को, दसरत्थको दानि दया दरिया। क० ७ ।४६।', दसरत्थके समत्थ नाथ तुलसीके चपरि चढ़ायौ चापु चंद्रमा ललाम क० १।६।', 'और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसम के तुही पै दसरत्थ के। क० ७ ।२४।'

२ (ग) 'देव मुनिदेव··' कहकर 'देव मुनि वंद्य किय अवध कहनेका भाव कि आप तो स्वयं देवमुनिनरवंद्य हैं ही और अपनी को भी वैसा ही पूज्य बना दिया है। इससे अवधवासियोंपर श्री जीका अतिशय प्रेम और ममत्व दर्शित किया। श्रीवचनामृत 'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।' गोस्वामीजीने भी वन्दना

हुए कहा है—'बंदौं पुरनरनारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी।” 'देवमुनिवंद्य', यथा 'ब्रह्मादि प्रसंसत अवधवास गावत कल कीरति तुलसिदास। गी० ७।२२।', 'देखत अवध को आनंद। हरषि बरषत सुमन निसि दिन देवतनि को बृन्द॥···मुदित पुरलोगनि सराहत निरखि सुखमाकंद। जिन्ह के सुअलि-चख पियत राममुखारविंद-मरंद॥ गी० ७।२३।'

भाव यह है कि सब एकपत्नीव्रत हैं, सब रामभक्तिनिरत हैं, सभी धर्मात्मा, गुणज्ञ, सुलक्षणयुक्त और छलकपटरहित इत्यादि हैं तथा सबपर श्रीरामजीका ममत्व है। इसीसे देवतातक इन्हें पूजते हैं। मिलान कीजिये—

'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नर नारि तेहि सुखमहँ संतत मगन॥३०।'
'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।'

☞'को साहिब सेवकहि निवाजी। आपु समान साज सब साजी' का यह चरितार्थ है। 'देव मुनि देव···' से ऐश्वर्य कहा गया।

☞ इस विनयमें रामराज्यका वर्णन है, इसीसे नरनारियोंका माहात्म्य कहा गया।

२ (घ) 'लोकनायक कोक सोक संकट समन' इति। रवि, शशि (सोम), पवनदेव, वरुण, कुवेर, अग्निदेव, यम, इन्द्र ये आठ दिशाओंके लोकपाल हैं। रवि दक्षिण-पश्चिमके, शशि उत्तर-पूर्वके, पवनदेव उत्तर पश्चिमके, वरुण पश्चिमके, कुवेर उत्तरके, अग्निदेव दक्षिण-पूर्वके, यम दक्षिणके और इन्द्र पूर्व दिशाके लोकपाल हैं। कहीं-कहीं 'काल' को लोकपाल माना है।—'रवि ससि पवन वरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी।१।१८२।' रावणने लोकपालोंका ऐश्वर्य छीन लिया, अतः ऐश्वर्यविरहित होनेसे उनको शोक था और सदा रावणका भय रहनेसे वे मारे-मारे फिरते थे, यह संकट था। यथा 'सुरपुर नितहि परावन होई।१।१८०।', 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरुगिरिखोहा॥···आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता १।१८२।', 'सभय दिसिप नित नावहिं माथा।६।१०३।' चक्रवाक रात्रिमें अपने जोड़ेसे अलग रहता

है, वैसेही लोकनायक निशाचररूपी रात्रिके कारण अपने ऐश्वर्यसे वियोगी रहते थे। निशाचरनिकरको ऊपर 'तिमिर घन घोर' कह ही आये हैं। सूर्योदयसे चक्रवाक्के दुःख दूर हुये, अपने जोड़ेसे वह मिला। वैसेही श्रीरामरूपी 'घोर खर किरनमाली' के उदयसे निशाचररूपी रात्रिका नाश होनेसे लोकनायकोंके शोक-संकट मिटे। (श्रीवैजनाथजीने रावणकृत अनीतियोंको रात्रि, घर छूटनेका शोक और शत्रुके घातको संकट माना है)। विशेष 'लोक लोकप किये रहित संका।' ४३ (८ च) में देखिए।

२ (ङ) 'भानुकुल-कमल-कानन बिकासी' इति। घोर खर किरणमालीसे अधंकार एवं रात्रिका तथा कोकके शोकसंकटका नाश कहा। अब कमलोंका खिलना कहते हैं। सूर्यकुलको कमलोंका वन कहकर सूचित किया कि इस समय रघुकुल बहुत भरा-पूरा है। कुलभर आपको देख-देखकर प्रफुल्लित हो रहा है।

पुनः, 'भानुकुल कमल कानन विकासी' का भाव कि जैसे रात्रिमें कमल संपुटित हो जाता है, सूर्योदयपर खिलता है, वैसेही निशाचर रावणरूपी रात्रिसे यह कमलरूपी कुल संपुटित हो गया था। रावणने श्रीअनरण्य महाराजको मारकर इस कुलका यश कलंकित कर दिया था। श्रीरामरूपी तीक्ष्ण सूर्यने रावणरूपी रात्रिका नाश करके उस यशको पुनः प्राप्त कर दिया, अनरण्य महाराजकी प्रतिज्ञाको भी रावणवध करके पूरा कर दिखाया। यही कमलवनका खिलाना है। ५० (१क) भी देखिए। अथवा, इस कुलकमलवनको कैकेयी-करतब चन्द्र वा तुषारने संपुटित कर दिया, पर अब सदा प्रफुल्लित रहता है, कोई विघ्न डालनेवाला नहीं है। ☞ सूर्यरूप कहकर प्रचण्ड प्रतापी जनाया।

टिप्पणी—३ (क) 'जयति सिंगार-सर-तामरसदाम दुति देह…' इति। यथा 'श्याम तामरस दाम सरीरं।३।११।३।' ☞ श्रीरामजीके शरीरके श्यामवर्णकी शोभा कह रहे हैं। वह श्यामता कैसी है, जैसे स्वयं श्रृंगाररसही सरोवरका रूप धरकर मूर्तिमान हो और उस सरमें नील कमल उत्पन्न हों, तो श्रृंगाररसरूपी सरसे उत्पन्न हुए समस्त कमलसमूहोंकी एकत्र होनेपर जैसी कान्ति हो सकती है, उसके समान श्याम कान्ति आपके शरीरमें है। श्रृंगाररस रसराज कहलाता है

और उसका रंग भी श्याम कहा गया है —'श्यामो भवति शृंगारः' 'लोयन नील सरोजसे, भ्रूपर मसिबिंदु बिराज। जनु बिधु-मुख-छबि-अमियको रच्छक राखे रसराज। सोभासागर रामलला। गी० १।१६।६।' (इसमें रसराजको मसिबिंदुकी उपमा दी है)। ☞ यह अभूत उपमा है। इसी प्रकार श्रीसीताजीकी उपमाका रूपक मानसमें है—

> "जौं छबिसुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
> सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथइ पानि पंकज निज मारू॥
> एहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुखमूल।
> तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल॥१।२४७।"

गीतावलीमें भी ऐसे ही बड़े-बड़े सांगरूपक हैं। तात्पर्य कि वह श्यामता अकथनीय और निरूपम है।

नोट—१ 'दाम' का अर्थ 'माला' भी है। भ०, वीर, दीन, त्रि० ने 'माला' और डु० ने 'गुच्छा' अर्थ किया है।

२ वैजनाथजी लिखते हैं कि "बुधि बिलासयुत जहँ रहै रतिको पूरण अंग। ताहि कहत शृङ्गाररस केवल मदन प्रसंग॥" शृंगार सरसे उत्पन्न कमल ये हैं—"द्युति लावण्य स्वरूप सोइ सुंदरता रमणीय। कान्ति मधुर मृदुता बहुरि सुकुमारता गनीय॥" अर्थात् द्युति, लावण्य इत्यादि सर्वांग शोभा श्याम तनमें परिपूर्ण है। वे शृङ्गारमय सर्वांग शोभाका विस्तृत उल्लेख इस प्रकार करते हैं—"शरदचन्द्रसम प्रकाशमान मुख 'द्युति' है, सर्वांग सुठौर बने हैं यह 'सुंदरता' है। देखने पर भी अनदेखी-सी अद्भुतताई 'रमणीकता' है, सोनेकी सी ज्योति 'कांति' है। देखनेवाला तृप्त नहीं होता, यह 'माधुरी' है। मृदुता और सुकुमारता सर्वांग में है।"

नोट—३ वे० भू० पं० रामकुमारदासजी कहते हैं कि 'साहित्य-दर्पणमें लिखा है कि 'शृङ्गं हि मन्मथोद्रेकस्तत गमन हेतुकः'' और 'श्यामवर्णोऽयं विष्णु दैवतः।' अर्थात् मन्मथोद्रेकका नाम शृंग है और वही (कामोद्रेक वा शृङ्ग) शृगाररसोत्पत्तिका प्रधान कारण है। शृङ्गाररसका रंग श्याम है। इसके देवता साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। विष्णुः दैवत होनेसे यह रसराज कहा जाता है। आजकल प्रायः लोग 'मन्मथोद्रेकः' को लेकर कच, कुच, कटि और कटाक्ष आदिके वर्णन-

को एवं स्त्री-पुरुषके परस्पर एक दूसरेपर वेध्यावेध्य आसक्ति ही शृङ्गाररस मानकर इस उज्ज्वलरसकी मट्टी पलीद कर रहे देखिए, नाट्याचार्य महर्षि भरतका कहना है कि 'यत्किञ्चिल्लोके शु मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृङ्गारेणानुमीयते ।'(अर्थात्) सृष्टिमा जो कुछभी पवित्र, ग्राह्य, निर्मल और सुन्दर पदार्थ है वह सब विष्णुदेवता शृंगारसे ही है, ऐसा अनुमानित किया जाता है। यदि शृङ्गाररस निर्मल न होता तो 'शृङ्गार-सर-तामरस' आदि उपमाके लिये न कहे क्योंकि इसी ग्रन्थमें आगे कहा गया है कि 'प्रभु निर्मल मलग्रा हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर मराल तहँ आवत ॥' गीतावलीमें तो कविने शृंगारको दूध है। यथा 'सुखमा सुरभि शृंगार छीर दुहि मयन अमियमय है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल लोक मनहु मही री ॥'

इसलिये यहाँ शृंगार-सरसे दिव्य स्वच्छ शृंगारसे तात्पर्य आजकलके भ्रष्ट और अश्लील शृंगारसे नहीं।

टिप्पणी— ३ (ख) 'गुणगेह विश्वोपकारी' इति। महर्षि वा किजीने देवर्षि नारदसे प्रश्न किया था कि 'इस समय इस लो गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रत, चरित्रवान् प्राणियोंका हित करनेवाला, विद्वान, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवा जितक्रोध, द्युतिमान, अनसूयक (दूसरेके गुणोंका निरादर एवं नि की निंदा न करनेवाला), तथा युद्धमें देवताओंको भी भयभीत देनेवाला कौन है ?' यथा "को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् वीर्यवान्। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ।२। चारित्रेण च युक्तः सर्वभूतेषु को हितः। विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शन ३। आत्मवान्को जित्क्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः। कस्य बिभ्य देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ।४। वाल्मी० १।१।"

गोस्वामीजी प्रायः इन सब गुणोंको श्रीरघुनाथजीकी इन स्तुति में दिखावेंगे। इसलिये यहाँ इनकी चर्चा कुछ विस्तारसे की जा है, आगे संकेतमात्र किया जायगा।

वाल्मीकिजीके इस प्रश्नके उत्तरमें देवर्षिजीने बताया है कि इक्ष्वा वंशमें उत्पन्न जनतामें 'राम' नामसे प्रसिद्ध एक ऐसे पुरुष हैं

आपके कहे हुये समस्त गुणोंसे युक्त हैं। यथा 'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः। ८।···धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः। यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।१२।···रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता।१३···वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः। १४। सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्। सर्वलोकप्रियः··· । १५। आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः।१६। स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः। समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव।१७। विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः। कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः।१८।...तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।१९।'

उपर्युक्त गुणोंमेंसे इस पदमें 'गुनगेह', 'विश्वोपकारी', 'धर्मधुर', 'धीर' तो स्पष्ट ही गुणवान्, सर्वभूतेषुहितः (प्रजानां च हिते रतः, रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता), धर्मज्ञ और धैर्येण हिमवानिव हैं। वीर्यवान् तथा सोमवत् प्रियदर्शनका भाव "शृङ्गार-सर-तामरस-दाम-द्युति देह···विधुवदन सोभा" तथा "रघुवीर भुजबल अतुल हेलया दलित भूभार भारी" में आ जाता है। 'यशस्वी' गुण 'भुवन दसचारि यश जगमगत पुन्यमय धन्य जय रामराजा' से दिखाया गया।

३ (ग) 'विश्वोपकारी'—मानसमें संसारका उपकार करनेवालोंमें एकमात्र भगवान् राम और उनके सेवकको गिनाया है। यथा 'हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।७।४७।५।" सकुल सदल त्रैलोक्यविजयी रावणको मारकर आपने प्रत्यक्षही सुर, महि, गौ, विप्र, संतका उपकार किया, जिससे संसारभर सुखी हुआ।

(वैजनाथजी लिखते हैं कि दया, कृपा, अनुकम्पा, वात्सल्य, करुणा, क्षमा, शील और उदारता आदि गुणोंसे युक्त हैं, इसीसे विश्वोपकारीरूप हैं)।

३ (घ) 'सकल सौभाग्य सौंदर्य सुखमारूप···' इति। सकल सौभाग्य वैजनाथजीके मतसे ये हैं—"सुगन्धं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूल भोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगाष्टकमुदीरितम्। इति भगवद्गुणदर्पणे।' अतर आदि सुगंध, सुन्दर पतिव्रता स्त्री, विचित्र वस्त्र, नृत्य-गान, सुन्दर भोजन, पान, स्वर्णमणि-भूषण और गज-रथादि वाहन इन सब प्रकारके भाग्योंसे युक्त हैं। शरीरकी बनावट एवं गठन जहाँ जैसी चाहिये वैसी ही होना सौंदर्य है।" (वै०)।

सुखमा अर्थात् परमाशोभा अर्थात् शोभाकी सीमा, जि
अधिक शोभा हो ही नहीं सकती। ऐसा आपका रूप है। यथा '
किसोर सुषमा सदन श्माम गौर सुखधाम।१।२२०।", 'स्यामल गौर कि
वर सुंदर सुषमा ऐन।२।११६।' इस अपनी सौन्दर्य सुषमासे क
कामदेवोंका गर्व हर लेते हैं। यथा 'कोटि मनोज लजावनिहारे। सु
कहहु को आहिं तुम्हारे।२।११७।१।' गीतावलीमें इस सुषमाशो
बड़ा सुन्दर रूपक सखी के द्वारा कविने कहलाया है। यथा "सुषमासु
सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि मा
सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहुँ मही री।१।१०६।' (अ
कामदेवरूपी अहीरने परमा शोभारूपी सुरभि गौसे शृङ्गाररूपी
दुहकर अमृतमय दही तैयारकर उसे मथा। उससे मक्खनरूप श्रीसी
राम सँवारे गये। मक्खन निकाल लेनेपर जो मट्ठा रह गया
से सारे भुवनों की शोभा रची गई)। 'मनोभव कोटि गर्वहारी
गी० १।१०६ के '...सुख सोभा अतुल न जाति कही री। रूपरासि वि
विरंचि मनो सिला लवनि रति-काम लही री।' इस भावको
किया है। अर्थात् उनकी अतुलित शोभाका वर्णन तो हो ही
सकता। ऐसा जान पड़ता है कि विधाताने इनको 'रूपराशि' ब
उसके बाद जो दाने बचे खुचे पड़े रह गए अथवा जो अन्न
काटनेवालेको मजदूरीमें दिया जाता है वही दाने वा लवनीरूप
रति और कामको मिली है।—आगे पद ५३ (४) में भी इसी भा
'सौंदर्जसीमा' कहा है।

टिप्पणी ४—'जयति सुभग सारंग सुनिषंग...' इति। (क) 'ज
शृंगार सर...' में सर्वांगकी शोभा कही। शोभा-सौन्दर्य-लाव
प्रायः सुकुमारताकी सम्भावना होती है, इसीसे उसे कहकर
बाना कहते हैं। भाव यह है कि यद्यपि देखनेमें वहुत सुकुमार
कोमलांग हैं तथापि बड़े वीर हैं।

शार्ङ्ग आपका प्रधान आयुध है, इससे उसे प्रथम कहा। ध
साथ बाण और तरकशका सम्बन्ध है, अतः शार्ङ्गके बाद इन्हें
तब वीरोंका अन्य साधारण बाना कहा। ☞ बड़े वीर अपनी वीर
अभिमानसे उन्मत्त होकर धर्मका त्याग कर बैठते हैं, जैसे रा
सहस्रार्जुन, हिरण्यकशिपु, बाली और लवणासुर आदिने

अतः 'धर्मधुरधीर रघुवीर' कहा। [वैजनाथजी लिखते हैं कि युद्धवीर हैं, इससे शार्ङ्ग धनुष, तरकश, बाण, शक्ति, ढाल, तलवार और कवच धारण किये हैं। दयावीर हैं, इससे सत्य, शौच, तप और दानरूपी धर्मकी धुरा धारण करनेमें धीर कहा। इन्हीं दो वीरताओंसे नहीं किन्तु पाँचों वीरताओंसे युक्त हैं यह बतानेके लिये 'रघुवीर' भी कहा। पंचवीरता; यथा "त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदा स्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पंचधाः। रघुवीर इति ख्यातिः सर्ववीरोपलक्षणः॥ इति भगवद्गुणदर्पणे।" (वै०)। अमरसुदुस्त्यजराज्यलक्ष्मीको छोड़कर वनको गए यह त्यागवीरता है। अहल्या, सुर-महि-गो-विप्र, मगवासी, जटायु और शबरी आदिपर कृपामें दयावीरता दिखाई। खरदूषण और विराधके वधमें पंडिताई जो की तथा परशुरामजीसे बातचीत करने, इत्यादिसे विद्यावीरता प्रकट हुई। माता पिताकी आज्ञाके पालन ('पितु आयसु सब धर्मक टीका') तथा धर्मसंस्थापनसे धर्मवीरता और ताड़का, रावण, कुंभकर्ण आदिके वधसे पराक्रम वीर हैं।]

४ (ख) वीर बाना है, साथ ही अतुल बल भी है, कोरा बाना नहीं है, यह दिखानेके लिये 'भुजबल अतुल' कहा। रावणादि भी तो सहजहीमें अनेक वीर वैरियोंका दलन करते रहे हैं, अतः 'धर्मधुर…' और 'भूभार…' कहकर जनाया कि श्रीरामजी श्रुतिपथपालक हैं, यथा 'श्रुतिपथ पालक धर्मधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर ।७।२४।२।'; अतः धर्मसंस्थापनार्थ धर्मका नाश करनेवालोंका दलन करते हैं और सज्जनोंको तो सुख ही देते हैं। 'भुजबल अतुल' कहकर उसका प्रमाण भी कहते हैं कि 'हेलया दलित भूभार भारी।' अर्थात् जिस रावणने सारे संसारको दहला दिया था और जो पृथ्वीका भार था, उसका खेलही खेलमें नाश किया।

टिप्पणी ५—'जयति कलधौत मनि मुकुट…' इति। (क) ऊपर 'जयति शृंगार सर तामरसदामदुति देह'में शृङ्गार बिना सहज शरीरकी शोभा कही, इसीसे वहाँ 'रूप' शब्द दिया है—'रूप निज मनोभव कोटि गर्वहारी।' 'रूप' का अर्थ है—'बिना शृङ्गार किये जो शोभा

हो।' अब यहाँ शृङ्गारयुक्त ध्यान कहते हैं। (ख) 'कलधौत मनि मुकुट कुंडल' कहकर जनाया कि मुकुट और कुण्डलोंमें अनेक मनि जड़े हुये हैं जिनसे बड़ा प्रकाश हो रहा है, यथा 'भ्राजत सिर मुकु पुरट निर्मित मनिरचित चारु। गी० ७।७।', 'सिरसि हेम हीर मानिकमय मुकुट प्रभा सब भुवन प्रकासति। गी० ७।१७।', 'भानुकोटि प्रतीकाशं किरीटेन विराजितम्। रत्नग्रैवेय केयूररत्नकुण्डलमण्डितम्। श्रीरामस्तवराज।' (ग) 'तिलक झलक भलि भाल' इति। मरतकप तिलककी दीप्ति कैसी है, यह कविने अन्यत्र कहा है; यथा 'तिल रेख सोभा जनु चाकी। १।२१६।८।', 'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं 'भ्राजत भाल तिलक गोरोचन। उ०।'—(यह बालस्वरूपका वर्णन है 'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलकरेख रुचि राजै। मनहुँ मद तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजै। गी० ७।१२।', 'भौं बंक मयंक अंक रुचि कुंकुमरेख भाल भलि भ्राजति। ७।१७ इत्यादि उद्धरणोंसे 'झलक भलि' का भावार्थ स्पष्ट हो जाता है 'झलक' से जनाया कि दीप्तिमान है, यथा 'भाल तिलकु रुचिर निवासा।१।३२७।', 'तिलक ललाटपटल दुतिकारी। १।१४७।४।'

५(घ)'बिधु बदन सोभा'इति। यहाँ 'बिधु'से निर्मल शरदऋतुका पू चन्द्र अभिप्रेत है। यथा 'सरदचंद निंदक मुख नीके।१।२४३।', 'स बिमल बिधु बदन सुहावन। १।३१६।३।', 'सरद मयंक बदन छ सीवाँ। १।१४७।१।', 'बदन मयंक ताप त्रय मोचन। १।२१६।६।' 'बि बदन' कहकर अत्यन्त प्रकाशमान, शीतल, त्रितापहारक औ आह्लादकारी तथा प्रियदर्शन जनाया। यहाँ 'वाचक लुप्तोपमा अलंका है। (ङ) 'दिव्य भूषन बसन' इति। 'दिव्य' से सुन्दर, अलौकि नित्य नवीन और निर्मल बने रहनेवाले तथा माङ्गलिक जनाय 'दिव्य भूषन' कहकर सर्वाङ्गके भूषण जो जिस अंगमें समयानु चाहिएँ उनका धारण करना जनाया। भूषण और वस्त्र दोनों दिव हैं। 'दिव्य' का अर्थ श्रीअनुसूया-सीता-मिलनमें कविने स्वयं खोप दिया है। यथा 'दिव्य बसन भूषन पहिराए। जे नित नूतन अम सुहाए। ३।५।३।' (च) 'पीत उपवीत' इति। 'पीत' दीपदेहलीन्या से दोनों ओर है। 'बसन' पीत है और 'उपवीत' भी पीत है। 'पीत जज्ञ उपबीत सुहाए। नखसिख मंजु महाछबि छाए। १।२४ 'पीत जनेउ महा छबि देई। कर मुद्रिका चोरि चित लेई। १।३२७

५ (ख) ☞ कियें ध्यान कल्यानभाजन न को भा' से जनाया कि यह ध्यान कल्याणकारक है, अतएव इस रूपका ध्यान करना चाहिए। यहाँ 'वक्रोक्ति अलंकार' है। ☞ स्मरण रहे कि यह ध्यान राज्यसिंहासनासीन राजराजेन्द्र श्रीरघुनाथजीका है। वनवासी रामजीके ध्यानमें स्वर्ण मणि मुकुट आदि नहीं होते। वनवासी रामजीका ध्यान अयोध्याकांडसे लेकर लंकाकांडतक मानसमें मिलेगा। वह ध्यान यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

टिप्पणी—६ 'जयति भरत सौमित्र सत्रुघ्न सेवित···' इति। (क) अब कुल, परिवार, सचिव, सेवक और दीन-दुखियोंके साथ श्रीरामजीका और श्रीरामजीके साथ उनका बरताव कहते हैं। (ख) सब भाई आपकी सेवा करते हैं। यद्यपि श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नजी श्रीसुमित्राजीके ही पुत्र हैं तथापि 'सौमित्र' शब्द श्रीलक्ष्मणजीके लिये रूढ़ है। 'सुमुख' दीपदेहली है, दोनोंमें लगता है। सेवा किसी दबावसे नहीं करते, किन्तु बड़ी प्रसन्नतासे करते हैं, सदा यही चाहते हैं कि हमें कुछ सेवा मिले,—ये सब भाव 'सेवित सुमुख' से जनाये। यथा 'सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई॥ प्रभु मुखकमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥७।२५।१-२।' इससे सबका प्रेम और सबकी अनुकूलता सब प्रकारसे जनाई। यह भी जनाया कि श्रीरामजीका प्रेम और वात्सल्य सब भाइयोंपर बहुत है, इसीसे वे प्रेमवश सेवाके लिये लालायित रहते हैं। यथा 'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती।७।२५।३।' पुनः, श्रीरामजी सुमुख अर्थात् सदा प्रसन्नवदन रहते हैं। इसमें नारदजीके 'सदैव प्रियदर्शनः। वाल्मी० १।१।१६।' का भी भाव है। यह भी जनाया कि अपकार करनेवाले, कठोर वचन बोलनेवाले, इत्यादिपर भी क्रोध नहीं करते, उससे भी हँसते हुये प्रिय वचन ही बोलते हैं। इससे उनका सुशील स्वभाव दिखाया। यथा 'सुनत सीतापति सील सुभाउ। ···सिसुपन तें पितु मातु बंधु प्रिय सेवक सचिव सखाउ। कहत राम बिधुबदन रिसोहौं सपने लख्यो न काउ।१००।', 'स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते। उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते।१०। ···न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।११। ···बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।१३। वाल्मी० २।१।',

'स्मितपूर्वाभिभाषी च । वाल्मी० २।२।४२।' (अर्थात् वे शान्तचित्त रहते और सान्त्वनापूर्वक मीठे वचन बोलते यदि उनसे कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उत्तर नहीं देते थे। किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी वे अपराधोंको याद नहीं रखते थे। वे बड़े बुद्धिमान् थे, सदा वचन बोलते थे । अपने पास आये हुए मनुष्योंसे स्वयं बात करते और प्रिय बात बोलते थे। वे प्रथम ही मुस कर वार्तालाप आरंभ करते थे।—ये सब भाव 'सुमुख' विशे में आ गये)।

[वैजनाथजीने 'सुमुख सचिव' का अर्थ किया है कि 'मंत्री आदि सब मन-तनसे सन्मुख हैं, आज्ञानुकूल काम करते हैं।' वियोगीजीने "सुमुख सुमंत प्रभृति मंत्रियों और भक्तोंको सुख वाले।" अर्थ किया है।] (ग) 'सचिव' इति। श्रीनाभाजीके मता श्रीरामजीके आठ प्रधान सचिव धृष्टी, विजय, जयन्त, राष्ट्र सुराष्ट्र, अशोक, धर्मपालक और सुमंतजी हैं। वाल्मीकीयमें 'अ के बदले 'अकोप' नाम आया है। यथा 'धृष्टिर्जयन्तो विजयः सु राष्ट्रवर्द्धनः। अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमो महान् ॥'

६ (घ) 'सचिव सुखद...' इति। मंत्री राजाका प्रधान अं अन्य सब अंग नष्ट हो जायँ, पर नीतिज्ञ हितकारक मंत्री बना तो सब कुछ फिर प्राप्त हो जाता है। सुग्रीव और विभीषणने मं का साथ नहीं छोड़ा तो राज्य प्राप्त हो गया। अतएव इनको रखना राजाका धर्म है, जिसमें वे सदा राजाको हितकारक सिखाते रहें। अतः उनके लिये 'सुखद' और 'सर्वदाता' 'सुखद सर्व-दाता' से जनाया कि सबको महल और साज-स अपना सा दिया था, जैसे जनकपुरमें 'सूर सचिव सेनप ब नृपगृह सरिस सदन सब केरे।' और भी जो कुछ वे चाहते थे भी देते थे। 'सर्वदाता' ऐसे कि उनको अपनेसे अधिक पूज्य दिया, जैसा कि 'पावैं भक्ति अनपायिनी जे रामसचिव सु करैं।' (भक्तमालनाभाकृत।) से स्पष्ट है। उनको प्रातस्म बनाया। (ङ) 'सेवक.सखद...' अर्थात् सेवकोंको उनकी रुचि कर सुख देते हैं, यथा 'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरा

सुर साखी । २।२१६।७।', 'तुलसी रामहि आपु तें सेवक की रुचि मीठि सीतापतिसे साहिबहिं कैसे दीजै पीठि । दो० ४८।'; तात्पर्य कि सेवककी रुचि रखनेके लिये अपनी रुचिको, अपनी प्रतिज्ञाको भी छोड़ देते हैं, ऐसे सुखद हैं। यही नहीं बल्कि उनमें कभी अपराध देखते ही नहीं। यथा 'साहिब होत सरोष सेवक के अपराध सुनि। अपने देखे दोष राम न कबहूँ उर धरे।'—इसीसे इनके लिये भी 'सुखद सर्वदाता' कहा। पुरवासी प्रभुका गुणगान करते समय यह गुण नित्य गाते हैं। यथा 'भजहु प्रनतप्रतिपालक रामहिं।...पलक नयन इव सेवक-त्रातहिं।' कैसा सुन्दर स्वभाव है कि सेवकपर कितनी ही कृपा करके भी यह खयाल कभी भी नहीं आता कि हमने इसपर कुछ भी कृपा की है। श्रीभरतजीने क्या खूब कहा है—'निज करतूति न समझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने।।" [बैजनाथजी कहते हैं कि 'सेवकगण सुख देनेवाले हैं, रुख देख सेवा करते हैं।'] मिलान कीजिए—'सरल प्रकृति आपु जानिऔ करुना-निधान की। निज गुन अरिकृत अनहितो दास दोष सुरति चित रहति न दियें दान की ।। ४२ ।।'

☞यहांतक बंधु, सचिव और सेवकोंको कहा। इन तीनोंको एक पंक्तिमें देकर जनाया कि मंत्रियों और सेवकोंको भरतादि भाइयोंके समान ही मानते हैं।

६ (च) 'अधम आरत दीन...' इति। अधम, पतित और पातकपीन प्रायः पर्य्यायवाची शब्द माने जाते हैं। पर यहाँ ये तीनों शब्द एकत्र कहे गये हैं। इससे इनमें सूक्ष्म भेद सूचित किया गया है। 'अधम' अधर्मका अपभ्रंश है। अधम = अधर्मी। पतित = जो धर्मसे गिर गया है; जैसे धोखेसे गोवध हो जानेसे हत्यारा कहा जाता है। 'पतन' गिरनेको कहते हैं। 'पातकपीन' वे हैं जिन्होंने भरपेट पाप किये हैं अर्थात् महापापी। 'अधम' से 'जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। श्वपच किरात कोल कलवारा। ७।१००।५।' को भी ले सकते हैं। [अथवा, अधम = वेदप्रतिकूल कर्म करनेवाला। आरत = किसीका सताया हुआ, दुःखित। दीन = कंगाल। पतित = चाण्डाल, म्लेच्छ। (बै०)। दीन—पद ४१ 'दीन सब अंग हीन' देखिए।]

६ (छ) 'नत मात्र' में भाव यह है कि प्रणाममात्र करनेसे, न मात्र होनेसे प्रभु भला मान लेते हैं, बड़े कृतज्ञ होते हैं, बड़ा एहसा मान लेते हैं, सकुच जाते हैं कि हम इसको क्या दे दें। यथा–

'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनमको फलु पाइहै। १३६
'ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये बपु बचन हिये हू।
त्यों न राम सुकृतज्ञ जो सकुचत सकृत प्रनाम किये हू। १७

☞ यह स्वभाव कथन-विशेष जान पड़ता है। इस कथन जनाते हैं कि यह स्वभाव त्रेताहीके लिये वा अवतार भरके लिये न था, क्योंकि अब भी जो शरण होते हैं, उनकी भी रक्षा करते हैं मिलान कीजिये—

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनाम किहें अपनाये
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने। २।२

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥ वाल्मी० ६।१८।

६ (ज) 'कहेँ पाहि पाता' इति। इसी गुणको लेकर नारद जयन्तको शिक्षा दी थी कि जाकर प्रभुसे 'कहेसि पुकारि प्रनत पाही' और उसने जाकर चरण पकड़कर 'त्राहि त्राहि दयाल रघु ''अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ।' ऐसा कहा। प्रभुने रक्षा इसपर भुशुण्डीजी कहते हैं–'कीन्ह मोह बस द्रोह जद्यपि तेहि कर उचित। प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम।३।२।' वा भालु कुंभकर्णद्वारा पीड़ित होनेपर आर्त हो पुकारे; यथा 'कि पुकारत आरत बानी॥''कृपा बारिधर राम खरारी। पाहि प्रनतारतिहारी।६।६६।२-४।' प्रभुने तुरत आगे आकर रक्षा की। विभीषणजी 'त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघु कहकर शरण गये, प्रभुने तुरत उठाकर उनको संकल्पसे लं राज्य दे दिया। लंकेश संबोधितकर उनका तिलक कर दि विभीषण आर्त और दीन थे; यथा 'कृत भूप बिभीषन दीन ६।११०।'; 'तिलक दियो दीन दुख दोष दारिद दरन। गी०

गीतावलीके इसी पदमें गोस्वामीजी सिद्धान्त करते हैं कि 'दास तुलसी सदय हृदय रघुबंसमनि, पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन तरन।' अधम, पतित और पातकपीनके सम्बन्धमें प्रभुका वचन पर्याप्त है कि 'कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥'''५।४४।', इत्यादि।—यह आपकी प्रतिज्ञा है।

☞ इन चरणोंमें सरलता, नीतिनिपुणता, कृपालता, शरणपालकता आदि गुण कहे।

टिप्पणी ७ (क)—'जयति (जय) भुवन दस चारि जस'''" इति। आप चौदहों भुवनोंके राजा हैं। रावणवध तो ब्रह्माण्डभरमें विख्यात था ही, पर आपने अपनी राजनीतिसे त्रेतामें सत्ययुग कर दिया, धर्म चारों चरणोंसे पूर्ण रहा, पापका नाम-निशान न रह गया। यथा 'त्रेता भइ कृतजुग कै करनी। ७।२३।६।', 'चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं। ७।२१।३।' अपने पुण्यमय अर्थात् धर्मपूर्वक राज्यसे भी जो यश आपने प्राप्त किया वह आज भी 'रामराज्य' नामसे जगत्प्रसिद्ध है, सब उसकी प्रशंसा करते हैं। नारदजी नित्य ही ब्रह्मादिकके लोकोंमें जाकर नित्यके चरित्र सुनाया करते हैं। यथा 'बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत रामके गावहिं॥ नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं।''' ।७।४२।"

निशाचरोंका नाशकर भूभार उतारनेका यश तो रावणवध पर ही फैल गया था; यथा 'सकुल सदल प्रभु रावनु मार्यो। पावन जस त्रिभुवन विस्तार्यो। ६।११५।३।' (यह विभीषणजीका वाक्य है)', 'रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत। ७।२।५।' (यह हनुमान्‌जीने रावणवधके तीसरे दिन ही भरतजीसे कहा है)। रामराज्यका यश पीछे हुआ। अन्तमें नारदजी स्तुति करते कहते हैं—'सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम। ७।५१।७।' (वैजनाथजी 'पुन्यमय' को 'रामराजा' का विशेषण मानते हैं)।

७ (ख) 'चरित सुरसरित कवि मुख्य गिरि निःसरित'''" इति। यहाँ चरितको सुरसरि गंगाका रूपक दिया। गंगा पर्वतसे निकलीं, उसमें त्रैलोक्यवासी पुण्यात्मा स्नान-पान करते हैं। यह

श्रीरामचरित-गंगा आदिकवि वाल्मीकिरूपी पर्वतसे निकलकर तीनों लोकोंमें प्रवाहित हुई; यथा 'वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागर-गामिनी। पुनातु भुवनं पुण्या रामायण महानदी।' (श्रीमद्रामायण-पारायणोपक्रमः स्मार्तसम्प्रदायः)।

वाल्मीकिजीने शतकोटि रामायण लिखा जिसे तीनों लोकोंके निवासियोंने सुना और फिर शिवजीने तीनों लोकोंमें बराबर बराबर बाँट दिया। केवल 'राम' शब्द बचा जो बाँटनेवाले शिवजीने ले लिया। पुनः 'कवि मुख्य' से प्रधान-प्रधान सभी कवियोंका अर्थ भी ले सकते हैं; यथा 'ब्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।१।१४।२।'❁

७ (ग) 'पिबत मज्जत मुदित सतसमाजा' इति। गंगाजल अंजलि या पात्र द्वारा पिया जाता है, चरित श्रवणद्वारा सुना जाता है। श्रवण पात्र है और सुनना ही पान करना है। यथा 'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर।७।५२।' सुनकर मनन करना, धारण करना श्रीरामचरितसुरसरितमें मुदित होकर स्नान करना है; यथा 'सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।१।२।' अथवा, कहना-सुनना स्नान-पान है, यथा 'पुनि बंदौं सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥ मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥१।१५।१–२।' प्रथम पान तब मज्जन कहा, क्योंकि प्रथम श्रवण होता है तब मनन, अनुमोदन, अनुकथन इत्यादि।

गंगाजीमें पुण्यात्मा स्नान-पान करते हैं, वैसे ही श्रीरामचरित-सरितामें हर्षपूर्वक स्नान करनेवाले सन्तसमाज ही हैं। यथा 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।१।४१।६।'

टिप्पणी—८ 'जयति बर्नाश्रमाचारपर नारि नर...' इति। (क) प्रस्तुत पदके प्रारंभमें कहा था कि अवधवासियोंको देव-मुनि-वंद्य कर दिया, अब उनका चरित्र कहकर उनके वन्दनीय होनेका कारण

❁ मुरादाबाद आदि कई छपी पुस्तकोंमें 'मुख' या 'मुक्ख' पाठ है। टीका-कारोंने उसका अर्थ 'मुँह (मुख)' किया है अर्थात् कविका मुख पर्वत है। किन्तु 'मुख' का एक 'अर्थ आदि वा प्रभृति' भी है, यह अर्थ लिया जा सकता है।

बताते हैं। (ख) वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आश्रम भी चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। सबके अलग-अलग धर्म धर्मशास्त्रों एवं पुराणोंमें कहे गये हैं। चारों वर्ण और चारों आश्रमोंवाले अपने-अपने वर्णों और आश्रमके धर्मोंमें परायण हैं। (ग) 'सत्य सम दम दया दानसीला' इति। धर्मके चार चरण हैं—सत्य, शौच, दया और तप। 'तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः। भा० १।१७।२४।' स्कं० ना० उ० २२६।६१ में तप, ज्ञान, तीर्थ और दानको गिनाया है। 'सत्य…सीला' कहकर सबको सर्वांगपूर्ण धर्मज्ञ जनाया। सब सत्यवादी हैं। सब शमदमशील हैं, मन कर्म वचनसे अन्तःकरण और बाह्येन्द्रियोंको विषयोंसे विरक्त किये हुये हैं—यही शुचिता (शौच) है। दयाशील एवं दानशील हैं। सत्य सब सुकृतोंका मूल है, अतः उसे प्रथम कहा। धर्मपर चलनेसे दुःख दोष नहीं रह जाते और सुख होता है; यथा 'बर्नाश्रम निज निज धरम निरत वेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥७।२०।' अतः 'बर्नाश्रमाचारपर…सीला' कहकर 'बिगत दुख दोष, संतोष सुख सर्वदा' कहा। संतोषमे सुख होता है, यथा, 'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।' (घ) ये गुण पुरवासियोंमें कहाँसे आये? 'यथा राजा तथा प्रजा।', यह प्रसिद्ध है कि राजा धर्मात्मा होता है, तो प्रजा भी वैसी ही होगी। भगवान्का रामावतारभी मानवमात्रको सच्चरित्रकी शिक्षा देनेके लिये ही विशेषकर हुआ। ग्यारह हजार वर्ष पृथ्वीपर राजराजेन्द्ररूपसे राज्य कर यही शिक्षा दी, रावणवध-कार्य तो केवल प्रायः एक वर्षमें ही पूरा हो गया था। यही बात हनुमान्जी स्तोत्र गान करते हुए कहते हैं। यथा 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। भा० ५।१९।५।' श्रीरामजीने अपने आचरणद्वारा सभी वर्ण और आश्रमोंको शिक्षा दी। रामचरित इन शिक्षाओंसे प्लावित है, अतएव 'पुरवासी सर्वदा सुनत गावत रामराजलीला।'। मानसमें भी कहा है—

'सब के गृह गृह होहिं पुराना। रामचरित पावन बिधि नाना॥
नर अरु नारि रामगुनगानहिं। करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥७।२६।'

नोट—४ गीतावलीमें समस्त पुरवासियोंका श्रीरघुनाथजीके चरित्रोंका गान करना कहा है। यथा 'रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर

गावत सकल अवधबासी। अति उदार अवतार मनुज बपु धरे ब्र अज अविनासी॥···।' परन्तु, उसमें अवतारसे लेकर राज्याभिषे तकका गान है। और यहाँ 'गावत रामराज लीला' है। इस राज्याभिषेक हो जानेके पश्चात् जो चरित होते रहे हैं, उनका श्रव कीर्तन सूचित किया है। मानसमें सूक्ष्मरीतिसे इस गानं उत्तरकांड दो० ३० में दिखाया है। 'जहँ तहँ नर रघुपति गु गावहिं।' से लेकर 'एहि बिधि नगर नारि नर करहिं रामगुन गान। तक। दोहेके उत्तरार्धमें इसका फल भी दिखाया है कि "सानुकूल स पर रहहिं संतत कृपानिधान॥"—इससे अधिक और क्या चाहिए' तभी तो भुशुण्डीजीने अनुकूलता ही चाही है। यथा 'सो कृपाल मो तो पर सदा रहउ अनुकूल। ७।१२४।' धर्मपर चलनेसे एवं श्रीरा चरित्रके श्रवणकीर्तनसे मनुष्य दुःख-दोषरहित और संतोष-सुख संपन्न होता है। इसीसे 'वर्णाश्रमाचारपर' और 'सुनत गावत रा राजलीला' के बीचमें 'बिगत दुख दोष, संतोष सुख सर्वदा' रक्खा। दुःख काल-कर्म-गुण-स्वभावकृत होता है और उसका कार दोष है। कार्य और कारण दोनोंका नाश हो जाता है।

टिप्पणी—६ 'जयति वैराग्य विज्ञान बारानिधे···" इति। (क अमरसुदुस्त्यज राज्यको तृण समान त्याग देना, बल्कल वस्त्र व प्रसन्नतापूर्वक धारण कर लेना, राज्याभिषेक सुननेपर न हर्ष औ वनवास सुनकर न ह्रास, इत्यादि परमवैराग्य होनेसे वैराग्यरू जलके समुद्र कहे गए। यथा 'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि म भयउ न हरष हरासू॥२।४६।', 'पितु आयसु भूषन बसन तात त रघुबीर। बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर २।१६ कवितावलीमें इस त्यागका बड़ा सुंदर वर्णन है। यथा 'कीर के का ज्यों नृपचीर बिभूषन उप्पम अंगनि पाइ। औध तजी मगबास रूख ज्यों, पंथके साथ ज्यों लोग लोगाई।···।२।१।', 'संग सुभामि भाई भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई। राजिवलोचन राम च तजि बापको राजु बटाउ की नाईं॥२।२।'

विज्ञानके समुद्र हैं अर्थात् जो कुछ भी विज्ञान जिसको प्रा हुआ है और आगे होगा वह सब इन्हींसे प्राप्त हुआ और होग विज्ञान = परम तत्वके विषयमें असाधारण विशेष ज्ञान।

६ (ख) 'नमत नर्मत पापतापहर्ता' इति । पूर्व 'नत मात्र कहें पाहि पाता' कहा । अर्थात् नत मस्तक होकर 'त्राहि मां' कहनेसे प्रभु रक्षा करते हैं, यह बताया । यह 'अधम आर्त दीन पतित पातकपीन' के संबंधमें कहा गया । वे पाहि कहकर रक्षा चाहते हैं, इससे उनकी रक्षा करते हैं । और यहाँ 'नमत नर्मद···' कहकर जनाया कि कोई भी हो, प्रणाम करते ही उसको सुख देते हैं और पापताप हर लेते हैं । गीतावलीमें विभीषणशरणागतिप्रसंगमें प्रणामकी महिमा यों कही है–'राम प्रनाम महामहिमा खनि सकल सुमंगल मनि जनी । गी० ५।३६।', 'मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल के खनै । गी०५।४०।२।', अर्थात् श्रीरामजीको किया हुआ प्रणाम महामहिमाकी खान है, उनसे सब प्रकारके मंगलरूप मणियोंका प्रादुर्भाव होता है । – (यह 'नर्मद' का भाव हुआ) ; श्रीरामजीको किया हुआ मंगलमूल प्रणाम संसारमें अमंगलकी जड़को उखाड़ डालता है ।—(यह 'पापतापहर्ता' गुण हुआ) । विभीषणजी इसके उदाहरण भी हैं; यथा 'एक प्रनाम प्रसन्न राम भए दुरित दोष दारिद दले । गी० ५।४१।', 'प्रभुपद प्रेम प्रनाम कामतरु सद्य विभीषन को फलो । गी० ५।४२।४।'

६ (ग) 'सरन संसय हरन' इति । भगवान् संशयके हरनेवाले हैं; यथा 'त्रिविध ताप संदेह सोक संसय भयहारी ।१०६।' 'संशयात्मा विनश्यति' यह गीता-वाक्य है (गीता ४।४०) । जिसके चित्तमें संशय है उसे न तो लोक मिलता है न परलोक और न सुख ही मिले । अतः संशयहरण कहकर उसकी निवृत्ति चाहते हैं । ज्ञानोदयसे संशय जाते हैं, इसीसे 'विज्ञानवारानिधे' संबोधन देकर तब संशय की निवृत्तिकी प्रार्थना की । भाव कि कृपा करके मुझमें वैराग्य और ज्ञानको दृढ़ कर दीजिये, जिसमें संशय न रह जाय । क्या संशय है, यह आगे पद १२१ में कहा है । यथा 'देखत सुनत कहत समुझत संशय संदेह न जाई ।। जौं जग मृषा तापत्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखें । कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रम तें दुख होइ बिसेखें ।। ···।'—४७ (३ झ) तथा १०६ (शब्दार्थ) भी देखिए ।

नोट— ५ पूर्व पद ४३ के अन्तमें 'बैदेहि रानी' कहा था और यहाँ इस पदके अन्तमें "बैदेहि भर्ता' कहा । वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि 'वैदेहिभर्ता और वैदेहिरानी' अन्तमें देनेका भाव यह है कि वाल्मीकीयके 'अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा

जनकात्मजा' इस प्रमाणके अनुसार श्रीस्वामिनीजीके विना सरकारके स्वरूपका निरूपण हो ही नहीं सकता। 'विशेषज्ञतये भर्त्तुः अभिगम्यत्वसिद्धये समस्तमङ्गलावाप्त्यै प्रथमं श्रीरिहोदिता' (शरणागति) इत्यादि प्रमाणानुसार सीतारामशब्दमें भी प्रथम श्रीमतीजीके नामका यही अभिप्राय समझना चाहिए। अपरञ्च श्रीस्वामिनीजीमें असाधारण छः गुण हैं—(१) निरूपकत्व, (२) अनुरूपत्व (३) अभिमतत्व, (४) शेषत्वद्वाराप्राप्तिभावः, (५) पुरुषकारत्व और (६) उपायपूरकत्व। जैसे प्रभा सूर्यकी निरूपिका है वैसेही श्रीस्वामिनीजीसे सरकारका स्वरूपनिरूपण है। 'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते' श्रीसीतासहस्रनाममें 'श्रद्धा' आपका नाम है। आपके पुरुषकार (सिफारिश) विना जीवोंकी शरणागति हो ही नहीं सकती। और, आपके विना श्रीसरकारके सिद्धोपायपनाकी पूर्ति ही नहीं हो सकती।"

उपर्युक्त छहो गुणोंकी व्याख्या स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज (श्रीलक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजी) ने इस प्रकार कर दी है—"जिस प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्ममें सत्-चित् एवं आनंद ये तीन वैभव हैं, उसी प्रकार संवित्-सन्धिनी एवं ह्लादिनी ये तीन वैभव श्रीजीमें हैं। जिस प्रकार ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज—इन षट् गुणोंसे युक्त होनेके कारण प्रभु भगवान् कहलाते हैं, यथा 'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः। वि० पु० ६।५।७९।'; उसी प्रकार 'श्री' शब्दके भी षट् अर्थ हैं। यथा 'श्रितास्यन्यैस्सर्वैः श्रयसि रमणं संश्रित गिरः-शृणोषि प्रेयांसं श्रितजनवचः श्रावयसि च। शृणास्येतद्दोषाञ्जननि! निखिलान्सर्वजगतीं-गुणैः श्रीणासि त्वं तदिह भवतीं श्रीरिति विदुः॥' (श्रीगुणसुधासार लहरी)। अर्थात् आप सभी चेतनोंसे सेवित हैं, श्रीहरिको अपने गुणोंसे आनन्दित करती रहती हैं। आश्रितकी प्रार्थनाको स्वयं सुनती हैं तथा प्रभुको सुनाती हैं। आश्रितोंके दोषोंका विनाश करती हैं तथा अपने गुणोंसे समस्त जगत्को सुखके बंधनमें बाँधे रहती हैं। अतएव आपमें श्रिञ् धातुके छहो अर्थ विद्यमान हैं। अथ च आश्रितोपयोगी उपर्युक्त निरूपकत्व, अनुरूपत्व आदि असाधारण छः गुण श्रीस्वामिनीजीमें हैं।

जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यकी निरूपिका है (अर्थात् प्रभाके साथ सूर्यका नित्य संबंध है तथा प्रभागत प्रकाश एवं उष्णतासे सूर्यके

गुणोंका बोध होता है। प्रभाके द्वारा ही सूर्यकी समीपता भी सिद्ध होती है। अतः प्रभासे सूर्यका ठीक-ठीक निरूपण होता हैं) वैसे ही श्रीजानकीजी भी श्रीराघवेन्द्रके स्वरूपकी निरूपिका हैं।—'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।' (वाल्मी० ५।२१।१६)। मारीचने रावणसे कहा है कि जानकीजी जिनकी प्रेयसी हैं उन श्रीरामका तेज अप्रमेय है—'अप्रमेयं हि तत्तेजः यस्य सा जनकात्मजा। (वाल्मी० ३।३७।१८)। श्रीगुणरत्नकोशमें स्पष्ट है कि 'वेदान्तास्तत्त्वचिन्तमुरभिदुरसि यत् पादचिह्नैस्तरन्ति।' अर्थात् वेदान्तमें जब परतत्त्वका विवाद हुआ तब यही निर्णय किया गया कि जिनके वक्षस्थलमें श्रीजीका चिह्न है, वही परतत्व है। अतः श्रीवत्स परतत्त्वबोधक कहा जाता है।

(२) 'अनुरूपत्व' इति। श्रीराघवजीके अनुरूप श्रीमैथिली हैं तथा श्रीमैथिलीके अनुरूप श्रीराघव हैं, यह वाल्मीकीयके 'तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्। राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा। ५।१६।५।' अर्थात् शील, स्वभाव, अवस्था, चरित्र (बर्ताव) एवं कुल भी श्रीरामके ही समान हैं। श्रीमैथिली श्रीरामके योग्य एवं श्रीराम श्रीमैथिलीके सर्वथा अनुरूप हैं—श्रीहनुमान्‌जीके इन विचारोंमें स्पष्ट है। ब्रह्मतत्त्व होनेसे भी वे श्रीरामजीके अनुरूप हैं।

(३) 'अभिमतत्त्व' इति। 'अभिमत' का अर्थ है प्रेयसी। 'अभिमतत्त्व' गुणका तात्पर्य यह है कि प्रभु जब अज्ञानी जीवोंके कर्मानुरूप दण्ड देनेको उद्यत होते हैं तो महिषीत्व (पटरानी) के संबंधसे सर्वेश्वरके अभिमत प्रेयसी होनेके कारण प्रभुके हृदयको आर्द्र कर देती हैं।

(४) 'शेषत्वद्वारा प्राप्ति भाव' इति। श्रीजानकीजीने जिस प्रकार लंका अशोकवाटिकामें निवास द्वारा शेषत्वकी सिद्धिका उपदेश दिया है तथा अपनी रहनी द्वारा चेतनोंको शिक्षा दी है, उसी रहनीसे शरणागतिकी पूर्णता एवं प्रभुकी प्राप्ति संभव है।

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति। वाल्मी० ५।१६।२५।

श्रीसीताजी न तो राक्षसियों आदि हेय वर्गको देखती हैं और न पुष्प, फल, वृक्ष आदि प्रिय वर्गपर ही दृष्टि डालती हैं, किन्तु एक

हृदयसे सर्वथा एकाग्रचित्तसे केवल श्रीरामजीको ही देख रही हैं। —प्रियतम प्रभुके एकमात्र विनियोगार्हको 'शेष' कहते हैं।

(५) 'पुरुषकारत्व' इति। पुरुषकारत्व तो श्रीमैथिलीजीका सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें पुरुषकारवैभव तथा महाभारतमें उपायवैभव कहा गया है। श्रीमैथिलीके पुरुषकारत्वमें महा अपराधी जयन्तकी रक्षा तथा अपराधलेशसे पुरुषकारत्वके विना बालिका वध स्पष्ट है। श्रीलक्ष्मणकुमारभी 'सीता समक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत्' स्पष्ट है तथा सुग्रीवको भूषणद्वारा पुरुषकारत्व सिद्ध है।

(६) 'उपायपूरकत्व' इति। भगवत्प्राप्तिमें चेतनोंकेलिये सिद्ध उपाय भगवान् हैं, श्रीमैथिलीने उसकी रक्षा भी अशोकवाटिकामें की-है।—इस (उपायपूरकत्वगुण) की रक्षाके विचारसे ही रावणको भस्म कर डालनेका सामर्थ्य रहनेपर भी उन्होंने रावणको भस्म नहीं किया। उन्होंने रावणसे स्वयं कहा है कि मेरा तेज ही तुझे भस्म कर डालनेके लिये प्रर्याप्त है,—'न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हचेतसा। वाल्मी० ५।२२।२०।' जिनके 'शीतो भव हनूमतः। वाल्मी० ५।५३।२७-३०' कहनेमात्रसे हनुमान्जीके पुच्छमें लगी हुई आग शीतल होगई, वे ही रावणको 'नष्टो भव' नहीं कह सकीं। केवल उपायपूरकत्वगुणकी रक्षाके लिये।

श्रीहनुमान्जीने कहा कि 'देवि! मेरी पीठपर आप विराजमान हो जायँ तो मैं शीघ्रही श्रीरामजीसे मिला दूँ—'पृष्ठमारोह मे देवि'। वाल्मी० ५।३७।२६।', किन्तु श्रीजानकीजीने यह प्रस्ताव स्वीकार न किया। सिद्धोपायरूप श्रीरामजीको छोड़कर हनुमान्जीरूपी प्रव उपायके परित्यागद्वारा अनन्योपायत्वकी सिद्धि सुस्पष्ट है।

इस प्रकार पूर्वोक्त छहो वैभव श्रीजीके आश्रितोंके लिये परम उपयोगी हैं।

नोट—६ देवदत्तशास्त्रीजीका मत है कि "प्रथमतः दो पदों द्वार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको जो वन्दना की गई है, वह साभिप्राय है। पहले पदमें तो भगवान् सच्चिदानन्द श्रीरामके लीलावतारसे लेक राज्यारोहणपर्यन्त समस्त रामचरितका गान किया। द्वितीय पद भगवान् श्रीरामके पुरुषार्थचतुष्टय विशद विरुदावली तथा शृङ्गारयु ऐश्वर्यका वर्णन करते हुये कविने अवलम्ब माँगा है। प्रथम पद

अन्तिम चरणमें रामको भूप और वैदेहीको रानी तथा द्वितीयपदके अन्तिम चरणमें 'वैदेहिभर्ता' दिया है। अस्तु।

गीतामें लिखा है-'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।१८।५५।' जव मनुष्य भक्तिद्वारा अपने इष्टको पहचान लेता है तव उसीमें प्रवेश कर जाता है।

भक्तवर गोस्वामीजी अपने इष्टदेवमें प्रवेश करनेके लिये आतुर हैं। बड़ी कोशिशके बाद वे भक्तिका पल्ला पकड़ पाये हैं। उनकी भक्ति नवधा लक्षणोंसे युक्त साक्षात् जगज्जननी सीता हैं। उनकी भक्ति (सीता) और उनके भगवान् (श्रीराम) दोनों साकार हैं। नवधालक्षणोंयुक्त भक्तिकी जो साकार कल्पना की-गई-है, वह रामायणके मनन-अवगाहन मात्रसे स्पष्ट प्रतीत हो जायगी। नवधाभक्ति एकमात्रश्रीजीही हैं और भगवान् श्रीराम है। विना भक्तिकी उपासना किये भगवान्को प्राप्त करनेकी आशा आकाशकुसुमवत् है।

हाँ तो तुलसीदास सीताजीके पास तक पहुँच गए हैं, माँ-से अपनी करुण कथा कह दी है। करुणामयी माँ करुणा करके भक्त सुतको, अपने आराधकको ज्ञानाधिकारी बनाती है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि बिना भक्तिके ज्ञान कदापि नहीं होता। सीतारूपा साक्षात् भक्तिको प्राप्त कर लेनेपर गोस्वामीजी ज्ञान संपन्न होते हैं। उन्हें स्पष्ट भासित होने लगा कि सच्चिदानन्द परमात्माने किस प्रकार लीलावतार ग्रहण किया और कैसे चरित्र किये। सद्यः वाग्धारा फूट निकली और जाकर 'भूप वैदेहि रानी' पर थोड़ी रुकी। विचार कीजिये! यहाँ राघव, रघुपति, रघुवीर आदि राजनैतिक सम्राट्-पदवोधक नाम न देकर 'राम भे भूप' कहा है और श्रीजानकीजीको "वैदेहि रानी" कहा है। समस्त कथाका निचोड़ इन्हीं दो शब्दों (नामों) में निहित है। 'राम' से यहाँ 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः' सच्चिदानन्दका वोध कराया है और वैदेहीसे आदिशक्ति। सारांश यह कि सच्चिदानन्दघन राम सब कुछ होकर भी कुछ नहीं—पद्मपत्रमिवाम्भसा तुल्यही हैं, तथैव उनकी शक्ति भी सहयोगिनी—सहायिका बनकर भी निर्लिप्त है। इसके अनन्तर भक्त वैदेहिभर्ता कहकर अवलम्बकी याचना करता है। विदेहकी तनया होनेसे ही

वैदेही नाम नहीं है, अपितु विदेहत्व गुण विद्यमान भी है। भत शब्द विश्वम्भर (सृष्टिपालक) का द्योतक है। वैदेही और भर्ता दो दिव्यत्व, व्यापकत्व और ब्रह्मत्वके द्योतक हैं। ज्ञानसंपन्न भक्त तुलसीदास दिव्यदर्शन हो रहा है, वह अपनेको निरवलंब समझकर छटपटाता और अवलंबकी याचना करता है। मनको भगदच्चरणोंमें ली होनेको समझाता है। यह ज्ञानसम्पन्न भक्तकी ज्ञानोक्ति है जो आ आनेवाले पदोंसे स्पष्ट हो जायगी।"

सू० शुक्ल—इस पदमें भगवान्‌की शोभा और उनके उदार चरि एवं नामके माहात्म्यका वर्णन है।

नोट—७ इस पदसे श्रीरामजीकी स्तुतिका आरंभ है। इस संयुक्त अब २३५ पद विनयमें हैं। सूर्यदीनशुक्लजी लिखते हैं कि—"देवोत्थानी एकादशीसे विष्णुशयनी एकादशी तक इतने ही दि होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि तुलसीदासजीने प्रतिदिन एक प नया बनाके भगवान्‌की विनय की-है।"—(भाव अच्छा है, प साहित्यिक खोज और इतिहाससे इसका समर्थन नहीं होता।)

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

४५ राग गौरी

श्रीरामचंद्र कृपाल[1] भजु[2] मन, हरन भव भय दारुनं।
नव कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुनं।१
कंदर्प अगनित अमित छवि नव नील नीरद[3] सुंदरं।
पटपीत मानहुँ तड़ित रुचि सुचि नौमि जनक सुता वरं॥२
सिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदार अंग बिभूषनं।
आजानुभुज सरचाप-धर संग्राम जित खर दूषनं॥३
*[भजु दीनबंधु दिनेस दानव दैत्य[4] बंस निकंदनं।
रघुनंद आनंदकंद कोसल चंद दसरथ नंदनं]॥४
इति वदति[5] तुलसीदास संकर सेष मुनि मन रंजनं।
मम हृदय कंज निवास करि [6]कामादि खल-दल-गंजनं॥५

---

१ कृपाल—रा०, भा०, वे०, ह०, ज०, डु०, १५, भ०। कृपालु—४१, ७४, आ०। २ भजि-रा०—। ३ नीरद—रा०, भा०, ह०, ज०, भ०, वि०। नीरज-

शब्दार्थ—दारुन (दारुण) = भयंकर; कठिन। कंजारुण (कंज + अरुण) = लाल कमल। कंदर्प=कामदेव। नीरद (नीर + द)=जलद; जल बरसनेवाले मेघ। रुचि=चमक, छटा, द्युति। उदार = श्रेष्ठ, सुन्दर, अनुकूल। आजानु=घुटने तक (लंबी)। वदति=कहता है। करि=करो, कीजिये।

पद्यार्थ—हे मन! कठिन भवभयके हरनेवाले कृपालु श्रीरामचंद्रजीको भज, जिनके नवीन कमलके समान नेत्र हैं, कमल समान मुख, कमल समान हाथ और लाल कमलके समान चरण (तलवे) हैं।१। जो असंख्यों कामदेवोंके समान अपार छवि वाले, नये (जलसे लदे हुए) श्याम मेघके समान सुन्दर हैं। जिनका पीताम्बर (तो) मानों बिजलीकी द्युति है और पवित्र है,—ऐसे पवित्रात्मा श्रीजानकीपतिको मैं प्रणाम करता हूँ।२। जिनके सिरपर मुकुट, (कानोंमें झलकते हुए सुंदर) कुंडल, (मस्तकपर चमचमाता हुआ) सुन्दर तिलक है, अंग उदार हैं और अंगोंमें विविध दिव्य आभूषण हैं। जो घुटनेतक लंबी भुजाओंमें धनुष बाण धारण किये रहते हैं और जिन्होंने रणमें खरदूषणको जीता है।३। [दीनोंके बंधु, सूर्यरूप, दानव और दैत्य वंशोंके नाशक, रघुकुलको आनन्द देनेवाले, आनन्दरूप जल बरसानेवाले मेघ वा आनंदके मूल आनन्दघन, कोसलपुरीके चन्द्र, श्रीदशरथजीके पुत्रको भज।४।] जो शंकर, शेष और मुनियोंके मनको आनन्द देनेवाले हैं—ऐसा तुलसीदास कहता है (और उन आपसे विनय करता है कि वे ही) कामादिरूपी दुष्टोंके दलके नाश करनेवाले आप मेरे हृदय-कमलमें निवास कीजिये।५।

नोट—१ पिछले पदमें रामराज्य वर्णन किया। अन्तमें कहा कि अवधवासी नित्य चरित सुनते गाते हैं, जिससे वे सदा सुखी और

प्र०, मु०, डु०, ५१, वै०, ७४, दीन, १५। * [ ] ये दोनों अन्तरा रा०, भा०, बे० में नहीं हैं। ह०, वै०, मु०, ज० और १५ में ये चरण उपर्युक्त स्थानपर हैं और डु०, ५१, ७४ और भ० में।२। और।३। के मध्यमें हैं। शृङ्गारका वर्णन।३। पर समाप्त होता है; अतः उपर्युक्त स्थान ठीक जंचता है। ये चरण रा०, भा०, बे० में न होनेसे क्षेपक जान पड़ते हैं। ४ दलन दुष्ट—ज०, १५। ५ बदति—रा०, ५१, वि०, मु०। वदत—प्रायः औरोंमें। ६ करि—रा०, भा०, बे०, प्र०, डु०, ७४। करु—ह०, वै०, भ०, ज०, १५।

विगत-दोष-दुःख रहते हैं। अतः अब मनको उपदेश करते हैं औ उपदेशके व्याजसे गुणगान करते हैं। मानसमें अवधवासियों परस्पर इसी प्रकारका उपदेश और गुणगान दिखाया गया है। य 'भजहु प्रनतप्रतिपालक रामहिं। सोभा सील रूप गुनधामहिं॥… एहि बिधि नगर नारि नर करहिं रामगुनगान ।७।३०।'

२ यह भजन 'गौरी' रागमें है। इसका समय दिनका चौथा प है। कमसे कम श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवोंमें यह भजन संध्या आरती बराबर गाया जाता है। श्रीलाला भगवानदीनजीने ठीक ही लि है कि "यह भजन श्रीरामजीके सगुणरूपके माधुर्य और सौन्दर्य प्रकाशन बड़ी ही उत्तम रीतिसे करता है। इसे उपनागरिकावृत्ति औ संध्यासमय गानेयोग्य गौरी रागमें लिखकर श्रीमद्गोस्वामी तुलसी दासने अपनी साहित्य तथा संगीत मर्मज्ञताका अच्छा परिच दिया है।"

३ यहाँ 'श्रीरामचंद्र कृपाल' कहकर वन्दना उठाते हैं। राजराजे कहकर वन्दना करते आ रहे हैं। यथा 'जयति राजराजेंद्र राजीव लोचन राम…।४४।' यहाँ भी 'श्री' युक्त कहकर उसी राजराजे रूपको सूचित किया है, रावणवधके पश्चात् देवताओं और मुनि द्वारा की हुई स्तुतियोंमें यह 'राज श्री' सूचक पद आया है। यथा—

'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप श्रीराम सगुन सरूप ।६।११२। (इन्द्र)
'वंदी वेष वेद तब आये जहँ श्रीराम ।७।१२।'(श्रीसंयुक्त श्रीसीतासहित)
'प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम ।७।३४।।' (महाराजा राजश्रीयुक्त)।

अथवा, यहाँ 'श्रीरामचंद्र' और चौथे चरणमें 'जनकसुतावर' कहा है। दोनोंके बीचमें शरीरकी शोभा कहकर जनकसुतासमेत श्रीरामजीका भजन करनेका उपदेश जनाया। मानस उत्तरकाण्ड भी कहा है—'जनकसुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन-भव भीरहि। ७।३०।८।' दोनों जगह भवभयभंजन गुण कहा गया है।

श्रीसहित प्रभुकी छबि अपार कही भी गई है जैसे यहाँ। यथा

'श्रीसहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई।७।१२'
'जनकसुता समेत प्रभु सोभा अमित अपार ।६।१०८।'

टिप्पणी— १ (क) 'श्रीरामचंद्र' इति । ये शब्द इसी पदमें आये हैं। मानस और विनयमें प्रायः अन्यत्र कहीं नहीं आये हैं। मानसमें केवल 'रामचंद्र' शब्द चौदह वार और विनयमें प्रायः छः वार आया है; किन्तु 'श्री' के सहित नहीं। यथा—

(१) रामचंद्रके चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए।१।१४०।६

(२) रामचंद्र मुखचंद्र छवि लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल प्रेम प्रमोद न थोर।१।३२१।

(३) सब विधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद्र निहारी।२।१।६।

(४) मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा। एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा। २।११५।४-५।

(५) करि मज्जन मागहिं कर जोरी। रामचंद्र पद प्रीति न थोरी।२।१९७।६।

(६) मन क्रम वचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु।४।२३।३

(७) मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा।५।२८।४।

(८) रामचंद्र गुन बरनै लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा।५।१३।५।

(९) कपि लीला करि तिन्हहिं डेरावहिं। रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं।६।४३।५।

(१०) सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचंद्र बैठहिं सिंहासन।७।१०।५।

(११) दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज। जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज।७।२२।

(१२) विधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज। माँगे बारिद देहिं जल रामचंद्रके राज।७।२३।

(१३) निज कर गृह परिचर्या करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई।७।२४।६।

(१४) रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान। ज्ञान
अपि सो नर पसु विनु पूछ बिषान।७।७८।

(१५) भूपालमनि रामचंद्रानुरागी। वि० ३६।

(१६) रामचंद्र अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पा
वि० ८२।

(१७) रामचंद्र रघुनायक तुम्ह सों हौं बिनती केहि भाँ
करौं। वि० १४१।

(१८) करि बिचार तजि बिकार भजु उदार रामचंद्र भद्र
दीनबंधु। वि० ७४।

(१९) रामचंद्र चंद्र तू चकोर मोहि कीजै। ८०।

उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि मानसमें 'रामचंद्र' का प्रयोग भ सेवाके संबंधमें, रामराज्यवर्णनमें, सिंहासनासीन करानेमें, स सुयश सुनानेमें, प्रेमकी याचनामें, शोभाको चकोर होकर देख दर्शनसे सुखी होनेमें और श्रीरामजीके चरितकी अपारता क करनेमें आया है।

☞ मानसका अन्तिम 'रामचंद्र' तो सिद्धान्तकथनके रू प्रयुक्त हुआ है कि उनके भजन विना निर्वाण पद प्राप्त कर इच्छा रखनेवाला 'नर पसु बिनु पूँछ बिषान' है, मनुष्यरूपमें बि सींग और पूँछका पशु है।

विनयमें एक बार 'भूपालमणि' के साथ और एक बार 'रघुना के साथ; एक पदमें उनका भजन करनेके उपदेशमें, एकमें चन् चकोर बननेकी प्रार्थनामें और एक पदमें यह बतानेमें कि बिना अनुरागके हृदयका मल नष्ट नहीं हो सकता—'रामचंद्र' ना प्रयोग हुआ है।

चन्द्र प्रियदर्शन माना गया है। अतएव 'रामचंद्र' पद उनको 'प्रियदर्शन' कहा। यथा 'सोमवत् प्रियदर्शनः। वाल् १।१।१८।' उपास्य 'प्रियदर्शन' होगा तभी उसमें मन लगेगा। इ 'चन्द्र' कहकर तब इनका भजन करनेको कहते हैं।

१ (ख) प्रस्तुत पदमें 'श्रीरामचंद्र' पद देकर सूचित किया (१) श्री (सीताजी) संयुक्त श्रीरामजीके भजनका उपदेश यहाँ क्योंकि श्रीरामजी सदा इनके सहित विराजमान् रहते हैं। आगे १०७ में जहाँ श्रीरामजीको अपना इष्टदेव बताया है, वहाँ 'है

मेरो देवता कोसलपति राम।' कहकर फिर यह भी कहा है कि 'सिय समेत सोहै सदा छबि अमित अनंग।' पद १०४ में मनोराज्य भूमिकामें विनयमें कवि अपना उद्गार वर्णन करते हुये कहते हैं— 'चित कहै राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।'

शंका हो सकती है कि 'पदमें शृङ्गार तो केवल श्रीरामजीका कहा है, श्रीजनकसुताजीका नहीं, तो उसका समाधान यह है कि गोस्वामीजीकी भावना वा नाता श्रीसीतारामजीसे माता-पिताका है; यथा 'कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।४१।', 'बाप आपने करत मेरी घनी घटि गई।२५२।' पुत्रको माताके शृङ्गारवर्णन का अधिकार नहीं।

(२) 'श्री' से ऐश्वर्य और चन्द्रसे माधुर्य जनाकर सूचित किया कि इस पदमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों कहेंगे।

१ (ग) 'कृपाल'—यह विशेषण सर्वप्रथम इस पदमें देकर जनाया कि यह गुण सर्वोपरि है, प्रभुके इस गुणसे ही जीवमें जागृति होती है; यथा 'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव, जागि त्यागि मूढ़ता अनुराग श्रीहरे। करि बिराग तजि बिकार भजि उदार रामचंद्र भद्रसिंधु दीनबंधु वेद बदत रे॥...तुलसिदास प्रभु कृपाल निरखि जीव जन विहाल भंज्यो भवजाल परम मंगलाचरे।७४।'— (इस पदमें भी जीवको जगानेकी कृपाके साथही 'रामचंद्र', 'कृपाल' और 'भंज्यो भवजाल' शब्द आये हैं जो प्रस्तुत पदके प्रथम चरणमें हैं)। इसी गुणसे प्रभु अत्यंत अधम, दीन, हीन और मलिन जीवको अपनाते हैं। इसी गुणको जानकर सुर, नर, मुनि सभी उनके चरणोंकी सेवा करते हैं। यथा 'नहिं कोउ सहज कृपाल दुसह दुख सागर तरन॥... है जानि सुर नर मुनि कोविद सेवत चरन।२१३।', 'को कृपाल स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बल बिहीन को।... अधन अगुन आलसिन्ह को पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन ही।२७४।'

'कृपाल' शब्द प्रारम्भमें देकर जनाया कि इस ग्रंथमें भवहरण कृपासाध्य ही बताया गया है और बारंबार कृपा-गुणका ही आश्रय लिया गया है।

प्रथम ही यह विशेषण देकर मनको उत्साहित करते हैं। अर्थात् उससे कहते हैं कि तू किंचित् संदेह न कर कि मुझसे पतितको वे

अपनायेंगे कि नहीं। वे तो कृपाके धाम हैं। संसारमें अपने किसीको भी जीवकी रक्षाके लिये समर्थ समझते ही नहीं। भजन कर, वे अवश्य ही कृपा करेंगे। वैजनाथजी लिखते श्रीरामजी जीवमात्रकी रक्षाका दृढ़ अनुसन्धान रक्खे हुये हैं, कृपाल कहा।

१ (घ) 'कृपाल' कहकर 'भजु' अर्थात् भजन करनेको कहा, भजनसे कृपा होती है। यथा 'भजत कृपा करिहहिं रघुराई। आगे भजन करनेके और भी कारण बताते हैं कि वे 'दारुण भय-हरण' हैं। भजन करनेसे भव छुड़ा देंगे।

१ (ङ) 'मन' इति। अन्तःकरणकी संकल्पविकल्पात्मक नाम 'मन' है। यह सदा पीपलके पत्ते वा बंदरकी तरह चंचल है। गीतामें भी श्रीअर्जुनजीने भगवान्से कहा है—'चञ्चलं कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदु ६।३४।' अर्थात् यह बड़ा चंचल, प्रमथनशील, दृढ़ और है। इसका रोकना वायुके रोकनेके समान अत्यन्त कठिन है यह कि मन अपने अभ्यस्त विषयोंके प्रति भी स्वभावसे चं मनुष्यके द्वारा एक जगह स्थापित नहीं किया जा सकता। यह को बलपूर्वक मथकर विषयान्तरमें निर्बाधरूपसे बिचरने लग शरीरको क्षुब्ध और इन्द्रियोंको परवश कर देता है।

भगवान्ने इसके निग्रहका उपाय बताया है कि यह जिसमें जाय, उस-उससे इसे हटाकर अतिशय सुखकी आत्माके ही वशवर्ती करे।—'यतो यतो निश्चरति मनश् स्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्। गीता० ६।

श्रीमद्गोस्वामीजीने भी मनोनिग्रहका प्रस्तुत पदमें सह बताया है। वे भगवान् श्रीरामचन्द्रके दिव्य कल्याण गुण अंगोंकी, उनके शरीरको, उनके वस्त्र और आभूषणोंकी तथा तिलककी शोभा मनको दिखा रहे हैं कि देख, तेरे अभ्यस्त अपेक्षा ये कहीं अधिक और अतिशय सुखद हैं। इनको देख प्रशान्त हो जायगा, तृप्त हो जायगा, तेरा भवभय हरण हो

मन ही बंध और मोक्षका कारण है। यह देहमें अहं सम्बंधियोंमें ममता स्वीकार कराके भ्रममें डाल देता है कि हूँ, यह तू है।' इसीसे मनुष्य अनन्त और अपार संसारमें

हता है। यथा "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः। वि० पु० ६।७।२८-३०।', 'देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा ममाहमित्यंधधियो मनुष्याः। एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति। भा० ११।२३।५०।'

अतएव जीवका आवागमन छुड़ानेके लिये उसके मनको ही उपदेश देते हैं। उसे रूपमाधुरीके अवलोकनमें लगाकर थिर करनेका प्रयत्न करते हैं।*

१ (च) भगवान्‌की स्तुति करते हुये प्रारम्भमें ही मनको उपदेश करके जनाया कि इस ग्रन्थमें मनके ही संबंधमें विशेष प्रार्थना की-गई है, मनको ही बारबार समझाया गया है।

१ (छ) 'हरन' को दीपदेहली न्यायसे ले लें तो एक कारण भजनका और यह भी आ जाता है कि वे मनके हर लेनेवाले हैं। यथा 'जिन्ह देखे सखी सतभायहु में, तुलसी तिन्ह तौ मन फेरि न पाये। क० २।२४।'

१ (ज) 'भवभय दारुणं' इति। 'दारुण' का भाव कि श्रीराम-भजनके सिवा और किसी उपायसे भवभय नहीं छूट सकता। यथा 'बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल। ७।१२२।', 'रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान। ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिषान। राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाय। सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥७।७८। ऐसेहि बिनु हरिभजन खगेसा। मिटहिं न जीवन्ह केर कलेसा॥'

१ (झ) 'नव कंज लोचन...' इति। यहाँ सभी प्रधान अंगोंको कमलकी उपमा दी गई है। इसका कारण आगे लिखा जायगा।

इस अंतराके अंतमें 'कंजारुनं' पद होनेसे टीकाकारोंमेंसे किसी-किसीने 'अरुण' का अन्वय सबके साथ किया है और किसी-किसीने 'लोचन' और 'मुख' को नील तथा अन्तिम दो (कर और पद) को अरुण माना है। इत्यादि।

☞ वस्तुतः लोचनकी उपमा अरुण कमलकी ही कविने दी है। शैशवावस्थाके नेत्रोंके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओंके नेत्रोंको 'नील'

---

* पुनः, श्रीरामके साथ 'चन्द्र' पद दिया गया है और मनका चन्द्रसे सम्बंध है। - 'चन्द्रमा मनसो जातः।'-इस संबंधसे भी मनको ही यहाँ कहा।

कहीं नहीं कहा गया है। कारण कि शैशवावस्थामें नेत्रोंमें लगाया जाता है, जिससे वे नीले हो जाते हैं। लाल कमलमें डोरेसे पड़े हुये होते हैं और कुछ भाग सफेदी लिये होता है, ही श्रीरामजीके नेत्र कमल-दल सरीखे लाल और विशाल हैं। 'नव सरोज लोचन रतनारे।१।२३३।४।', 'अरुन-कंज-दल-लो सदा दास अनुकूल।' (गी० उ० २१), 'नासिका सुभग कृपा परि तरुन अरुन राजीव बिलोचन।' गी० ७।१६), 'रुचिर लोचन जुग तारक श्याम अरुन सित कोये। (गी० उ० १२), 'पा गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। ३।३२ छन्द।'

'मुख' से यदि मस्तकसे लेकर ठोढ़ीतकके भाग अर्थात् मुखमण्डलका अर्थ लें, तो उसे नील कमल ही कहेंगे, क्योंकि श का रंग श्याम है, और इसमें जो मुँह है वह अरुण कमल है। यदि मुखसे 'मुँह' (जिससे भोजन करते हैं एवं बोलते आदि को लें, तो चारोंके लिये 'अरुन' आ सकेगा। मेरी समझमें 'मुख' से 'मुँह' ही अभिप्रेत है।

'कर' से प्रायः हाथकी हथेलीका अर्थ लिया गया है, उसे भी जहाँ-तहाँ अरुण कहा गया है। यथा 'अरुन पानि नख मनोहर। ७।७७।१।', 'जानु पानि धाए मोहि धरना। स्यामल अरुन कर चरना।७।७६।६।'

☞ इस तरह आदिका 'नव' और अन्तका 'अरुनं' सबके है। अन्तिम 'अरुन' का अन्वय सबके साथ होनेपर 'समुच्चयो अलंकार' होगा। 'कंज' शब्दमें पुनरुक्तिप्रकाश है। अनुप्रा मनोहरता प्रशंसनीय है। यही चार अंग पद ४६ (३) में कहे जिनके आदिमें 'अरुन' और अन्तमें 'राजीव' है—'अरुन कर मुख नयन राजीव।'—इस प्रमाणसे भी यहाँके 'कंजारुणं' का लोचन, मुख, कर और पद चारोंका विशेषण ही सिद्ध होता है।

१ (ञ) 'हरन भवभय दारुनं' के पश्चात् तुरंत लोचन, आदि अंगोंको कहकर जनाते हैं कि ये सभी भवभयहारी हैं। 'नील कंज लोचन भवमोचन।७।७०।५।', 'मामवलोकय पंकजलो कृपा बिलोकनि सोच विमोचन।७।५१।१।', 'भुज प्रलंब कंज लोचन। स्यामल गात प्रनत भय मोचन। सुं० ४५।४।', 'पाथोद सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपाल

बिसाल भवभयमोचनं ।३।३२ छं०।', 'सीतलि सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया ।१३८।', 'जेहि कर अभय किये जन आरत···। १३८।', 'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां । वा० मं० श्लो० ।', 'त्वदंघ्रिमूल ये नराः, भजंति हीन मत्सराः । पतंति नो भवार्णवे वितर्क वीचि संकुले।३।४ छंद ।' [परन्तु स्मरण रहे कि अन्तिम उद्धरणमें एक शर्त लगा दी है कि मत्सरहीन होकर भजे। मद मान मत्सर आदि चोर हैं जो भक्ति-वित्तको चुरा ले जाते हैं। इसीसे पदके अन्तमें प्रार्थना करते हैं कि 'मम हृदय कंज निवास करि कामादि खलदलगंजनं ।']

१ (ट) यहाँ लोचन, मुख, कर और पद चार ही अंग कहे। इसमें कारण यह है कि माधुर्योपासना इन्हीं चारमें आ जाती है। वात्सल्य, श्रृङ्गार, सख्य और दास्य मुख्य ये चार ही रस माधुर्योपासकोंके हैं। पाँचवाँ शान्तरस तो प्रायः ऐश्वर्य्योपासनाका ही द्योतक है। नेत्रकी कृपाकोर, उसके कटाक्ष, शोभासुखमानिधान मुखछबिका दर्शन एवं मुखके मधुर, मृदु प्रिय बोल और मन्द मुस्कान, कर कमलकी छाया (मस्तकपर) और उदारता, तथा चरणचिह्नका मनन, स्मरण, ध्यान, पदरजस्पर्शकी लालसा—प्रायः यही चाह उपासकोंको होती है। अतः मनको उपदेश देते हैं कि यहाँ निरे कमल ही कमल हैं, चाहे जिस कमलका अथवा चाहे सभी कमलोंका भौंरा बन जा, जिस रसका पान करना चाहे उसका पान कर, यहाँ सभी रस उपस्थित हैं। अंगोंको कमल कहकर मनको भौंरा जनाया।

१ (ठ) सबको कमल कहा। कमलकी सुकुमारता, कोमलता, आह्लादकारकता, पावनता, मनोहरता और शीतलता—ये गुण तो सभीमें हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक अंगमें कमलके कुछ भिन्न-भिन्न अंग वा गुण भी लिये गये हैं। जैसे कि—नेत्रोंमें सफेदी और लाल डोरे तथा दलके समान आकार, विशालता और आर्द्रता (जो नेत्रोंमें करुणामय शील स्वभावका द्योतक है) इत्यादि अंग भी लिये गये हैं। यथा 'अरुन राजीवदल नयन करुनाअयन' (गी० ७।:), 'नीरजनयन भावते जी के।'

'कंज मुख' से कमलकी कली जो खिल रही है, अभी पूर्ण खिली नहीं है, उसके समान मुख दरसाया है। कमलकलीका विकास मुखका

मन्द हास है। मधुर, कोमल, प्रियवचन कमलके कोमलता और म
हरता गुण हैं। मुखकी कान्ति कमलकी चमक है।

'कर' की उदारता, शीतल छाया आदि गुणोंके लिये कम
शीतल और सुगंध अंग लिये। उदारता और सुगंध दूर-दूरतक
जाती है।

पदके अंक और रज, मकरन्द और चमक कमलमेंकी पावन
सुरुचिता, पराग, मकरन्द और सुवास हैं। यथा 'पद कमल परा
रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।१।२११।', 'बंदौं गुरपद प
परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।', 'मकरंद जिन्ह
संभु सिर सुचिता अवधि सुर बर नई।१।३२४।'

☞ कमलका शीतलत्व गुण इन अंगोंका तापहारक गुण
यथा 'सुभग शोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक तापत्रय मोच
१।२१६।', 'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप मा
१३८ (५)।'

पदकमलके गुणोंका कहना ही क्या? इन्हें तो शिव-सनकादि
हृदयमें सदा धारण किये रहते हैं, जिससे हृदय सदा शीतल र
है। इसके तो प्रत्येक चिह्न त्रितापहारी हैं, भला पूरे चरणका स्व
और महत्व कौन जान सकता है? यथा 'परसत पद पावन सोकनसा
(अहल्या), 'अरुन मृदुल सेवक सुख दाता।'

टीकाकारोंके भाव आगे दिये जायँगे।

नोट—४ श्रीरामजीके अंगोंको कमलकी उपमा क्यों दी जाती

श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीसे जो सामुद्रक श्रीरामजीका व
किया है उसमें उन्होंने उनके दश अङ्गोंको कमल समान कहा है।
'दशपद्मो दशबृहत्त्रिभिर्व्याप्तो द्विशुक्लवान्। वाल्मी० सुं० ।३५।२०।'

चन्द्रशेखर शास्त्रीने 'मुख, नेत्र, मुख-विवर, जिह्वा, ओष्ठ, ता
स्तन, नख, पैर और हाथ' इन दश अङ्गोंको कमल समान तथा
चिह्न से चिह्नित लिखा है।

वस्त्र पहने होनेपर जो अङ्ग स्पष्ट देख पड़ते हैं उन्हींको गो
मीजीने इस चरणमें दिया है। 'नवकंज लोचन, कंज मुख, कर कंज
कंजारुनं।' मुखविवर, जिह्वा, ओष्ठ और तालू तो 'मुख' में ही
जाते हैं और नख कर और पद दोनोंमें आ गए। स्तन पीता

तथा मालाओंसे आवृत हैं, दूसरे ध्यानमें इनका वर्णन कहीं नहीं किया गया है। अतएव इसका उल्लेख भजनमें नहीं किया।

ये सब अंग पद्मचिह्नयुक्त तथा पद्म समान हैं ही, इसीसे इनको कंजसे रूपित किया। यह तो साहित्य और प्रमाण सिद्ध बात हुई।

सब अंगोंको कमलकी उपमा कमलसे देनेका यह भाव भी कह सकते हैं कि यहाँ सगुण ब्रह्म रामसे विनय है और श्रीरामचरितमानसमें सगुण ब्रह्मकी कमलसे उपमा दी गई है, यथा 'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा।४।१७।२।'; अतः यहाँ उनके इन अंगोंको कमलसे रूपित किया।

भौंरा कमलमें लुब्ध होकर उसीके भीतर रात्रिमें पड़ा रह जाता है। मनको श्रीराममें इसी प्रकार लवलीन करना है, जिसमें इन्हें छोड़ वह अन्यत्र न जा सके। अतः कमलकी उपमा दी कि मन इन कमलाङ्गों का मधुप वन जाय। मनको शिक्षा देते हैं कि यहाँ तेरे लिये एक नहीं, वरन् इतने कमल हैं, तू इनका भौंरा बनकर इन्हींमें आसक्त हो जा, अब और कहीं भटकने की जरूरत नहीं। बिना मनको मधुप बनाये, इनसे अभिमतकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा 'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे से अभिमत गति लहैं।१।३२४।'; अतः कमलकी उपमा देकर मनको मधुप वनने को प्रेरित किया।

महात्मा श्रीबनादासजीने भी कहा है—

कमल कंज पंकज जलज सरसिज नलिन सरोज।
नीरज वारिज पंकरुह जलरुह पदुम पथोज॥
पुंडरीक अरविंद सरोरुह सरसीरुह जलजाभ।
अंबुज राजिव तामरस रामचरन अस लाभ॥
ऐसै मुख ऐसै नयन ऐसै कर अरु काय।
'बनादास' ऐसै चरन, चित न कहूँ चलि जाय॥"

कमलके जितने पर्याय इसमें आये हैं ये सब गोस्वामीजीने श्रीरामजीके लिये यत्र-तत्र प्रयुक्त किये हैं।

पुनः, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके श्रीविग्रहके विभिन्न अंगोंको कमलकी उपमा देनेका भाव विषय वासनाओंसे उसी प्रकार निर्लिप्त होनेका है, जैसे कमल जलको धारण करता है, जलमें उत्पन्न होता है और उसीमें रहता है, फिर भी निर्लिप्त रहता है, मनके संकल्प-

विकल्प दूर करनेके लिये श्रीरामरूपमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये—उन्हें यथार्थ ब्रह्म माननेके लिये ही ऐसा निरूपण किया है।

नोट ५—कमलकी उपमा कभी कोमलता, कभी आर्द्रता, कभी विकास, कभी रंग, कभी सुगन्ध, कान्ति और सरसता, कभी उसके दल, कभी माधुरी और आकार आदि धर्मोंको लेकर दी जाती है। यह पाठक स्मरण रक्खें, जहाँ जैसा उचित हो लगा लिया करें।

नोट ६—यहाँ कमलका 'कंज' नाम दिया, 'पंकज' नहीं, क्योंकि 'पंक' कीचड़का नाम है और प्रभुके नेत्र, कर आदि दिव्य हैं, विशद हैं। छन्दानुरोधसे भी 'कंज' कहा।

नोट—७ 'नव कंज लोचन···' के विशेष भाव। मनको भजन करनेका उपदेश करके तुरत श्रीविग्रहके विभिन्न अंगोंकी शोभा कहकर सूचित किया कि भजन करनेवालोंको इन अंगोंका ध्यान इस प्रकार करना चाहिए—

(क) 'नेत्रकमलका ध्यान'—श्रीसरकारके युगल नेत्र कमलदल समान लंबे, लाल डोरे युक्त, कृपा-करुणारस भरे आर्द्र हैं। उनकी सुन्दर ललित चितवन कामदेवके भी मनको हरनेवाली है; यथा 'अंबुजायत नयन, बदन छबि बहु मयन। चारु चितवनि चतुर लेति चित पोही। गी० २।१८।', 'नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की १।१४७।', 'चितवनि चारु मार मन हरनी। भावति हृदय जाति नहीं बरनी॥' नेत्रोंसे कृपाकी वृष्टि करके प्रभु जीवोंके शोच मिटाते, अभय देते एवं कृतार्थ करते हैं; यथा 'कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किये सुरबृंद ।६।१०२।", 'मामवलोकय पंकज लोचन। कृपाबिलोकनि सोचबिमोचन ।७।५१।", 'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी ।७।६।६।' हँसकर देख देते हैं तो हृदयकी जलन मिट जाती है; यथा 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ।२।२३६।' प्रभु मुझे करुणामयी दृष्टिसे देखेंगे तो मैं पापोंसे मुक्त और भवभयसे रहित होकर परमानन्दको प्राप्त हो जाऊँगा।

(ख) 'कंज मुखका ध्यान'—मुख संपूर्ण सौन्दर्यका निधान है, मुख कमलके छबिरूपी मकरन्दका पान नेत्ररूपी पुटद्वारा करे; यथा 'बदन सकल सौन्दर्य निधाना।', 'मुख सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान।' मुखका मन्द मुस्कान मनको मोल लिये लेता है; यथा 'हास

बिलास लेत मन मोला।१।२३३।', 'चोरत चितहि सहज मुसकात। गी० २।१५।', 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा। १।१९८।' अधर अरुण हैं। मृदु मधुर अमृतमय वचन बोल रहे हैं। मनमें चिन्तन करे कि प्रभु मुझपर कृपा करके कुछ कहने ही चाहते हैं। यथा 'प्रभु मुख कमल विलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं।७।२५।२।'

(ग) 'कर कमलका ध्यान'।—दोनों हस्तकमलोंके तल लाल-लाल हैं, रेखा-संयुक्त हैं, यथा—

"चिन्तामणि कामधेनु उर्ध्व तुरंग गज कुंभ षटकोण लता चक्र ध्वज भ्राजे हैं।
वज्र पंचकोण कंज मंदिर त्रिकोण बाण खड्ग त्रिशूल मीन चन्द्र रवि राजे हैं।
अष्टकोण कुंडल प्रसून तिल रम्भा किरीट माल फल चन्द्रिका गिरीश ग्राम साजे हैं।
'रसिक बिहारी' रघुचन्द कर दाहिनेमें विशद बत्तीस वर चिह्न छवि छाजे हैं।
कंकण कदंब चाप अकुश मलिन्द तुला योनी नरमुड रथ कुंभ मणिमाल हैं।
मांस शक्ति तोमर पयोधि महि कीर केतु नलिनी सरोज शंख भानु बिंबलाल हैं।
पारिजात मंजरी अशोक मृग मीन सिंह तारा सरित पियूषकुंड शशि-बाल हैं।
'रसिक विहारी' ये बत्तीस वर चिह्नन ते रामके सुवाम कर चिह्नित विशाल हैं।।"

'श्रीरामचन्द्र करकंज' पर गीतावली और कवितावलीके निम्न पद भी स्मरण योग्य हैं—

"रामचंद्र करकंज कामतरु बामदेव हितकारी।
सिय सनेह बर बेलि बलित बर प्रेम बंधु बर बारी।।
मंजुल मंगलमूल मूल तन करज मनोहर साखा।
रोम परन नख सुमन सुफल सब काल सुजन अभिलाषा।।
अविचल अमल अनामय अविरल ललित रहित छल छाया।
समन सकल संताप पाप रुज मोह मान मद माया।।
सेवहिं सुचि मुनि भृंग बिहग मन मुदित मनोरथ पाये।
सुमिरत हिय हुलसत तुलसी अनुराग उमगि गुन गाये।। गी० ७।१४।"

"कनक कुधर केदार, बीज सुंदर सुर-मुनिवर।
सींचि कामधुक धेनु सुधामय पय बिसुद्धतर।
तीरथपति अंकुर सरूप, जच्छेस रच्छ तेहि।
मरकतमय साखा सुपत्र मंजरि सुलच्छि जेहि।
कैवल्य सकल फल कल्पतरु, सुभ सुभाव सब सुख बरिस।
कह तुलसिदास रघुबंसमनि तौ कि होहिं तुव कर सरिस।क० ७।११५।"

पद १३८ में करकमलके जो गुण कहे हैं, उन्हें स्मरण करे कि ये सभीतको, आर्तजनोंको अभय देते हैं, इन्हींने केवटको एवं विभीषणको उठाकर हृदयसे लगाया, विभीषणका तिलक किया, गीधराजको जल और पिंड दिया, इत्यादि ।—ऐसे कृपाल हैं। करकमलकी छाया शीतल और सुखद है, त्रिताप, पाप, माया सबको हर लेती है।

(घ) 'पद कंजारुनं'—चरण कमल अत्यन्त कोमल हैं। श्रीजानकीजी इनका लालन करती हैं। अज-महेशादि इनकी वन्दना और ध्यान करते हैं। यथा 'कोसलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोज लालितौ चिन्तकस्यमनभृंगसंगिनौ ।७।मं० २।' ऐसा होनेपर भी इन्होंने गो-विप्र-सन्त-सुरके लिए वनके कंटक सहे, यथा "ध्वज कुलिस अंकुस कंज युत वन फिरत कंटककिन लहे।७।१३।'ऐसा दयालु कौन होगा ? 'स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः। भा० ९।११।१९।' (अर्थात् दण्डकवनमें काँटोसे बिंधे हुए अपने चरणारविन्दको भक्तजनोंके हृदयमें स्थापित करके आप अपने धामको पधार गए)। इन्हींके रजके स्पर्शसे मुनिपत्नी पाषाणका उद्धार हुआ, इन्हींके नखसे त्रैलोक्यपावनी गंगा निकलीं। इनके तलके चिह्नोंसे भूभारहारी अगणित अवतार और समस्त विभूतियाँ उत्पन्न हुईं और होती हैं। इत्यादि रीतिसे इनका स्मरण करे।—"चारु चरनतल-चिह्न चारि फलचारि देत परचारि जानि जन। राजत नख जनु कमलदलनिपर अरुन प्रभा रंजित तुषार कन। गी० ७।१६।"

इन्हीं चरणोंकी पादुकाका महत्व भरतजीने अपने आचरण द्वारा दिखाया है।

टिप्पणी—२ 'कंदर्प अगनित अमित…' इति। (क) नीरदकी उपमा देकर 'गम्भीरता' गुण ग्रहण किया। यथा 'काम कोटि छवि श्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा ।१।१९९।१।' ऐसा गंभीर है कि कोई पार नहीं पा सकता। यथा 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन ।१।२६९।८।', 'नव नील नीरद सुंदर' में वाचकोपमेयलुप्तोपमा है। अगनित कामदेवोंकी छवि अंग अंगमें भी है, यथा 'अंग-अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम। १।२२०।' इसीसे शरीरकी छविको अमित कहा।

[श्याम वर्णका हेतु यह है कि सब रंगोंपर यह रंग चढ़ता है पर इसपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। इसी तरह अनेक कामनारूप

नाना रंगोंको छिपाकर भगवत् रंग पक्का सोहता है। जब भगवत् रंग चढ़ जाता है, तब उसपर संसारी रंग नहीं चढ़ता। (ड़ु०)। श्यामरंगसे अपारता सूचित होती है। जैसे आकाश श्याम है, चाहे जितना ऊपर उड़ते जायँ, उस श्यामताका पार नहीं मिलता। श्रीभगवानसहायजी लिखते हैं कि श्यामवर्णका हेतु जो बताया उसका तात्पर्य यह है कि संसारकी जितनी भी कामनायें हैं वे सब कच्चा रंग हैं, वे रंग दूर हो जाते हैं, भगवत-रंग चढ़ जाता है]

२ (ख) 'पटपीत मानहुँ तड़ित···' इति। 'शुचि' से पवित्र जनाया; यथा 'पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल रवि दामिनि जोती।१।३२७।३।' पीत पट हृदयका अंधकार (मोह) दूर करनेवाला है।*

२ (ग) ☞ यहाँ 'तड़ित' के साहचर्यसे 'नीरद' पाठ उत्तम जान पड़ता है और यही पाठ प्राचीनतम कतिपय हस्तलिखित प्रतिलिपियोंमें है †। इस तरह भाव यह है कि नीले श्याम-सजल-मेघवत् शरीरपर पीताम्बर बिजली-सी जान पड़ती है जो मानों अपनी चपलता छोड़कर श्यामः मेघपर आ बसी है। यथा 'पीत निर्मल चैल, मनहुँ मरकत सैल, पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही। गी० ७।६।', 'निर्मल अति पीत चैल, दामिनि जनु जलद नील, राखी निज सोभा हित बिपुल बिधि निहोरी। गी।०७।७।' यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

२ (घ) बाबू शिवप्रकाश—'कंज लोचन···' इति। कमलका गुण शीतल करना है। यह विशेषण देकर जनाया कि जिन जड़ जीवोंपर श्रीरघुवरकी दृष्टि पड़ती है, वे त्रितापसे निवृत्त हो शीतल हो जाते हैं। जिन जीवोंको मुखकमलका दर्शन होता है, वे पापकृत दुःखके तापसे रहित हो शीतल हो जाते हैं। जिन जीवोंको हस्तकमलका

---

* दीनजीने 'शुचि' को 'जनकसुतावरं' का विशेषण माना है और उसका 'पवित्रात्मा' अर्थ किया है।

† मानस तथा विनयमें अन्यत्र भी कतिपय स्थानोंमें शरीरको मेघोंका उपमा दी गई है। यथा 'पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।३।३२।' (इसमे मुख और नेत्रको कमल और शरीरको मेघवत् कहा है), 'नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई।७।१२।', 'बनज लोचन बनजनाभ बनदाभ बपु बनचरध्वज कोटि लावन्यरासी। ५४ (६)।'

स्पर्श हो जाता है, वह नरकादिके तापसे छूटकर सुखी हो जाता है और जो पदकमलका ध्यान करते हैं, उनके मन, तन, वचन शीतल हो जाते हैं। (डु०)।

२ (ङ) वैजनाथजी 'नीरज' पाठ देकर लिखते हैं कि "शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच विषय पाँच इन्द्रियोंके हैं। इन्हींके द्वारा मन भौंरेकी तरह उड़ता फिरता है, पर कमलको पाकर उसमें आसक्त हो जाता है। कमलमें शोभा, कोमलता, रस, गंध और पराग पाँच गुण हैं। एक-एक गुण एक-एकमें दिखाकर प्रभुके पंचाङ्ग कमल दिखाते हैं। (१) नेत्र कृपा-रस भरे हैं। इसे रसना द्वारा पान कर; अर्थात् कृपाका भरोसा कर, कृपागुणमय श्रीरामयश रसनासे गा। यथा 'कृपादृष्टि सब लोग बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी।' (२) मुख शील करुणा आदि कोमलता युक्त है। इसमें श्रवणको लगा; अर्थात् श्रीरघुनाथजीके शील करुणामय वचनोंको सदा सुन। (३) कर उदारतारूपी सुगंध भरे हैं, इनमें नासिकाको लगा, केवल इन्हींसे दान लेनेकी वासना कर। (४) पद पराग पावनता भरे हैं, रजको तनमें लगा, पदको त्वचा द्वारा स्पर्श कर। इसी पदरजके स्पर्शसे पातकी अहल्या पावन हो गई।—ये चार अंग अरुणकमलवत् कहे। (५) नील रंगके कमल समान सर्वाङ्ग सुन्दर सुठौर बना हुआ श्याम शरीर है जिसमें अगणित कामदेवोंकी असीम छबि है। इस रूप माधुरीको नेत्रों-द्वारा देख। मेघवर्ण श्याम शरीरपर पीताम्बरकी शोभा मेघमें तड़ितवत् है, दर्शनसे जीव पावन होता है।

[नोट—८ सारांश यह है कि सुन्दर रूप देखनेकी इच्छा है तो उनके शरीरकी 'छवि देख, शब्द-विषयकी ओर मन जाता है तो कानोंसे उनके 'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू।', 'बालक सिसु सम दास अमानी॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।', इत्यादि श्रीमुखवचनामृत सुन। स्पर्श-विषयकी चाह है तो उनके चरणका स्पर्श कर। यथा 'चंदन चंद-वदनि भूपन पट ज्यों चह पाँवर परस्यो। त्यों रघुपति-पद-पदुम परस-को तन पातकी न तरस्यो।१७०।' रस विषयकी चाह है, तो पद-कमलपरागरूप मकरन्दको पान कर। गंध विषयकी चाह है तो प्रभुके करकमलकी उदारतामें मनको लगा, देख इनकी उदारताका सुगंध यश संसार भरमें फैला हुआ है। इत्यादि]

२ (च) 'जनकसुतावरं' इति। भाव कि जनकसुताजी जगज्जननी हैं। उनकी कृपा करुणा जीवों पर बहुत रहती है। वे जीवोंके कल्याण-हेतु साकेतसे श्रीरामावतार कराके जीवोंको श्रीरामसम्मुख करनेवाली हैं, करुणानिधान श्रीरामजीको अतिशय प्रिय हैं। श्रीरामचन्द्रजी उनके पति हैं। अतएव वे अवश्य तेरी सिफारश करेंगी।

पुनः, 'जनकसुता' से जनाया कि जैसे श्रीजनकमहाराज महायोगीश्वर हैं, भगवान्‌की एक विभूति हैं, वैसेही उनकी सुता होनेसे ये भी परमयोगिनी हैं; इनका मन क्षणभर भी श्रीरामजीसे अलग नहीं होता, ऐसी अनन्या हैं। उनके ये पति हैं, अतः नमस्कार योग्य हैं।

टिप्पणी—३ 'सिर मुकुट कुंडल निलक चारु…' इति। (क) पूर्व पद ४४ में मुकुट, कुंडल और निलकका वर्णन कर आये हैं, यथा 'जयति कलधौत मनि मुकुट कुंडल, तिलक झलक भलि भाल विधु बदन सोभा ॥'; इसीसे यहाँ केवल 'चारु' विशेषण देकर वहाँका सब वर्णन यहाँ भी सूचित कर दिया। अर्थात् जो भाव 'कलधौत मनि...' के कहे गये, वह सब भाव 'चारु' के हैं। (ख) 'उदार अंग बिभूषनं' इति। भाव कि सभी अंग भक्तोंके मनोरथके पूर्ण करनेवाले हैं, 'सेवक सुखद सुभग सब अंगा। १।२८५।', 'नयनानंद दान के दाता' हैं, और श्रेष्ठ हैं। 'चारु उदार' अंग और विभूषण दोनोंका विशेषण है। 'उदार' का एक अर्थ 'अनुकूल' भी है। इस तरह 'उदार अंग विभूषनं' का अथ होगा कि "अंगोंमें उनके अनुकूल आभूषण हैं"। 'विभूषन' शब्दसे जनाया कि बहुतसे आभूषण शरीरमें सुशोभित हो रहे हैं। 'सिर मुकुट कुंडल' कहनेसे संदेह होता कि ये ही दो आभूषण पहने हैं, अतएव 'उदार अंग बिभूषनं' कहकर सब अंगोंमें यथायोग्य आभूषण पहने होनेका परिचय दिया।

पुनः उदार=सुन्दर, श्रेष्ठ। सुन्दर श्रेष्ठका भाव कि एक-एक अंगपर अगणित कामदेव निछावर कर दिये जायँ, ऐसी सुन्दर छवि अंगोंमें है। यथा 'अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम। १।२०१', 'मम हृदय पंकज भृंग अंग अनंग बहु छवि सोहई।३।३२।'

३ (ग) 'आजानुभुज सर चाप धर…' इति। शोभा सौंदर्ययुक्त कमल समान अंगवाले व्यक्तिमें वीरता प्रायः नहीं होती। अतएव परमा शोभा कहकर अब 'आजानुभुज…' कहकर जनाया कि इतने परम कोम-

लांगी होते हुये भी वे अत्यन्त प्रबल शत्रुओंके नाशक हैं।☞स्मर
रहे कि श्रीरामजीके बाहु भी भवमोचन हैं। यथा 'नित नौमि रा
कृपाल बाहु बिसाल भव भय-मोचनं। ३।३२।'—इनके स्मरणसे भ
छूट जायगा। यथा 'सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भ
उदधि अगम अति कोउ लांघत कोउ उतरत थाहैं। गी० ७।१३।'

३ (घ) 'आजानुभुज' का ध्यान करते हुये यह भाव रहे कि बहु
दूर होनेपर भी वे मुझे प्रणाम करते देख अवश्य उठाकर हृदय
लगा लेंगे, उनके आलिंगनसे मैं पवित्र हो जाऊँगा, मेरे कर्मबंध
छूट जायँगे, मेरी आत्मा दूसरोंके लिये तीर्थरूप हो जायगी।

३ (ङ) 'संग्राम जित खर दूषः' इति। यहाँ रावण कुंभकर्णको
कहकर खर दूषणको ही जीतना कहा। ऐसा करनेमें भाव यह है
इस पदमें श्रीसरकारकी शोभा सौन्दर्यका वर्णन करते चले आ र
हैं। इस शोभा-सौन्दर्यको देखकर खरदूषणादि मोहित हो ग
थे। यथा—

'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते।
हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई।
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा। ३।१६

इस परमा शोभाका दर्शन इन्हीं राक्षसोंको हुआ था
इसीसे जहाँ शोभाकी अपारता कहनी होती है, वहाँ 'खरारी' विशेष
आपको दिया जाता है। यथा 'भूषन बनमाला नयन बिसाला सो
सिंधु खरारी।१ १६२ छं०।'

दूसरे, बलमें भी ये रावणसे कम न थे। रावणने स्वयं क
है—'खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता
३।२३।२।' रावणको तो वर था कि मनुष्यसे मरे, पर ये तो अ
समाजको छोड़कर अन्य सभीसे अमर थे, सभी बड़े मायावी
टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर भी उठकर लड़ते थे। रावण और खरदू
का मिलान 'मानस-पीयूष' अरण्यकांडमें विस्तारसे दिया गया
यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं।

ये बड़े अजेय शत्रु थे, इसीसे यहाँ बाहुकी विशालताका व
किया गया है। 'सर-चाप-धर, कहकर जनाया कि इन्हीं दो (
और चाप) से इस संग्राममें काम लिया गया था। 'संग्राम जि
का भाव कि जब ये मनुष्य और देवताओंसे भी अमर थे, तो

यह न समझे कि छलसे मारा होगा, रणमें नहीं।—इसीका निराकरण 'संग्राम जित' कहकर किया। संग्राममें आपने मोहनास्त्रका प्रयोग करके ऐसा कर दिया कि वे सब एक दूसरेको रामरूप देखने लगे और इस तरह वे सब आपसमें लड़ मरे। यथा 'देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्‍यो।'

पुनः, चौदह सहस्र राक्षसोंको क्षणभरमें मारा, यह अद्भुत वीरता इस संग्राममें दिखाई है। अतः यहाँ खरदूषणको ही कहा। ☞ माधुर्य कहकर यहाँसे ऐश्वर्य कहते हैं।

टिप्पणी ४ 'इति वदति···' इति। (क) खरदूषणका इस रूपपर मुग्ध होना कहकर अब शङ्कर-शेष-मुनि-मनरंजन होना कहते हैं। भगवान् शंकर वैष्णवों-भागवतोंमें अग्रगण्य हैं, देवताओंमें देव-देव महादेव हैं। शेषजी पातालवासी नागोंके राजा हैं। और, मुनि एक तो सर्वत्र विचरनेवाले हैं (जैसे कि नारद सनकादिक), दूसरे उदासीन होते हैं. अतः इनके मनरंजन कहकर श्रीरामोपासनाकी उत्कृष्टता दिखाई। श्रीमद्भागवतके 'भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्' इस वाक्यसे स्पष्ट है कि समस्त मुनिगण एकमात्र भगवान्‌की उपासना करते थे। तीनों लोकोंके महान्-महान् पुरुषोंके मन इनमें लुब्ध रहते हैं, यह कहकर मन और मनके बहाने जीवमात्रको शिक्षा देते हैं कि देवतों, राक्षसों और मुनियोंतकको आनन्द होता है तब तुझको क्यों न आनंद मिलेगा। अतः तू इनका भजन कर।

पुनः भाव कि ये शंकर-मनरंजन हैं, इसीसे शिवजी इन्हें हृदयमें बसाये रहते हैं; यथा 'जो सरूप बस सिव मन माहीं।१।१४६।', 'जय महेस मन मानस हंसा।१।२८५.५।' शेष-मन-रंजन हैं, इसीसे तो वे सदा उनका गुणगान करते रहते हैं; यथा 'गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्। भा० २।७ ४१।' (अर्थात् दश सहस्रफणवाले आदिदेव शेषजी भी उनका गुणगान करते हुए अभीतक उनका पार नहीं पा सके।—यह ब्रह्माजीका वाक्य है', 'सहसबदन बरनहिं परदोषा।१।४।८।' और, मुनि-मन-रंजन हैं, तभी तो मुनि सदा उनके लिए यत्नशील रहते हैं; यथा 'जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।१।१४६।' और अपने मनमें उनको बसाये रहते हैं; यथा 'मुनि

महेस मन मानस हंसा ।१।३४१।' शंकर-शेष-मुनि-मनरंजनसे सू
किया कि तीनों इस रूपके ध्यानमें मग्न रहते हैं।

[श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'श्रीशिवजीके हृदयमें व
उन्हें कामारि बनाया। शेष सर्परूप हैं, सर्पोंमें क्रोध बहुत होता
लीला रूपमें शेषजीका क्रोध बड़ा भीषण कहा गया है, यथा
गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारिदस आसू।' उनके हृ
निवास करके उन्हें परम भक्त बनाया। मुनि लोग साधननिष्ठ होते
सिद्धावस्थामें उन्हें ऋद्धियों-सिद्धियोंके द्वारा बहुतसे लोभ विका
संयोग होता है, रक्षाके लिए वे लोग ध्यान किया करते हैं; इस
उन विकारोंसे रक्षा पाते हैं। 'मनरंजन' कहकर तीनोंके मनमें नि
कर उनके विकारोंका नाश करके उन्हें आनन्दित करना कहा
है।—इस महिमाको विचारकर गोस्वामीजी अपने हृदयमें नि
करना माँगते हैं।']

४ (ख) 'इति वदति' इति। यहाँ इस पदमें 'भवभयदारुनं',
रुनं', 'सुंदरं', 'जनकसुतावरं' इत्यादिके अनुसार 'संकर सेष
मनरंजनं' को द्वितीयान्त मानकर अर्थ करें तो इसे 'इति वद
पहले पूर्वचरणके साथ अन्वित करना होगा। और, यदि 'ख
गंजनं' की तरह मानें तो 'संकर सेष…' को सम्बोधन मानना प
अर्थात् 'हे शंकर, शेष और मुनियोंके मनोंको आनन्द देनेवाले!

☞ 'इति' समाप्तिसूचक अव्यय है।

टिप्पणी—५ (क) 'कामादि खल दल गंजनं' इति। काम
'खल' कहा, क्योंकि ये पराया धन लूटते हैं। 'परहितहानि
जिन्ह केरे'—यह खलस्वभाव है। कामादि खल हैं, यथा
कामादि निकट नहिं जाहीं। ७।१२०।६।' हृदयमें इस रूपसे
कामादि खल वहाँसे भाग जायँगे, अन्यथा नहीं, यही स
शिव-सनकादि भी प्रभुसे बराबर हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना
रहते हैं। यथा—

"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद मा
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भा
"अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अं
"हृदि बस राम काम मद गंजय।" (सनकादिक), इत्या

'कामादि' से काम, क्रोध और लोभ इन तीन प्रधान खलोंका ग्रहण भी होता है। यथा 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ।३।३८।', 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं।७।१२०।'; परन्तु यहाँ 'खल' के साथ 'दल' शब्द भी देनेसे मोह, मद, मान, काम, क्रोध और लोभ आदि सभी विकारोंका ग्रहण होगा। यथा 'मोह मद मान कामादि खल मंडली सकुल निर्मूल करि दुसह दुख हरहुगे।२११।', 'हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसावौं।१४२।', 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना।५।४७।१।'

इन सबोंको खल-दल कहा है; इसीसे इनके 'गंजन' की प्रार्थना इस विशेषण द्वारा की। ये सब मानसरोग हैं; इनके रहते जीवको सुख शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। यथा 'पीड़हिं संतत जीव कहँ सो किमि लहै समाधि।७।१२१।'; ये रामकृपासे ही मिट सकते हैं; यथा 'रामकृपा नासहिं सब रोगा।७।१२२।'; इसीसे इस विनयमें आदि में ही 'कृपाल' विशेषण दिया। कृपा करके हृदयमें निवास करें तो काम बन जाय।—'तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम्ह डेरो।१४३।', 'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन विश्राम। जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम।५।४६।', 'जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा। ५।४७।',—इसीसे 'खलदलगंजन', 'आजानुभुज-सर-चापधर' बसनेकी प्रार्थना है।

५ (ख) कामादिके रहते भजन नहीं हो सकता, इसीसे सर्वत्र इनका त्याग कहा गया है। यथा 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु भजहिं जेहि संत।५।३८।', 'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहु मन विश्राम। जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम।५।४६।' अतः इनका गंजन करनेकी प्रार्थना की गई जिसमें भजन हो।

५ (ग) प्रथम चरणमें 'मन' को उपदेश देते हैं, यथा 'श्रीरामचंद्र कृपाल भजु मन···'; और यहाँ अन्तिम चरणमें श्रीरामचन्द्रजीसे हृदयमें बसनेकी प्रार्थना करते हैं। इससे सूचित किया कि मन उपदेश नहीं सुन रहा है, आपही कृपा करके हृदयमें निवास करें तभी विपत्ति दूर होगी। यथा 'हारि परयो करि जतन बहुत बिधि, ताते कहत निबेरो। तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो।१४३।'

देवदत्त शास्त्रीजी लिखते हैं कि 'मनको समझानेके बाद अध्यात्मवादकी ओर प्रवृत्त होते हैं। अपने हृत्कमलमें निवास कर प्रार्थना करते हैं। हृत्कमलसे यौगिक सिद्धान्तकी भी प्रेरणा प्राप्त है। जिसका तात्पर्य है अष्टदलकमल।'

नोट—प्रेमी पाठक ध्यानकी अद्भुतता देखें। श्रीरामजी चन् उनके अनेक अंग कमल हैं। चन्द्रमें कमल अद्भुत। फिर तु दासजी उस कमलयुक्त चन्द्रको अपने हृदयरूपी कमलमें बसं प्रार्थना करते हैं। प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं। 'अघटित घटना पटी का यह उदाहरण है।

सू० शुक्ल—इस पदमें भगवान्के ध्यानका वर्णन है। संस जितने सुन्दर पदार्थ हैं वे सभी भगवान्के एक-एक अङ्गमें हैं; इस रे मन! बाहर क्यों दौड़ता है? तेरा सारा काम उन्हींके अङ्गमें सिद्ध

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

* ४६ (५८) राग रामकली

सदा[1] राम[2] जपु राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु मूढ़ मन बा
सकल सौभाग्य सुख खानि जिय जानि सठ मानि विश्वास वद
कोसलेंद्र[3] नव नीलकंजाभतनु[4] मदनरिपु-कंज-हृदि चंच
जानकीरमन[5] सुखभवन भुअनैक प्रभु समर[6] भजु नसु परम का
दनुजबन-धूमध्वज पीन आजानुभुजदंड कोदंडधर[7] चंड
अरुन-कर-चरन-मुख नयन-राजीव गुन-अयन बहुमयन सोभानि
वासनाबृंद-कैरव-दिवाकर काम-क्रोध-मद-कंजकानन तु
लोभ-अति-मत्त-नागेंद्र-पंचाननं विप्रहित[8] हरन-संसारभा

---

* रा०, ह०, ७४, ५१, ज०, आ० में यह पद ४६ वाँ है। भा०, वे०, ४९ वाँ है और डु० में ४८ वाँ है। किस विचारसे यह क्रमभेद वा क्रमप हुआ, समझ नहीं पड़ता। १६६६ में यह पद ५८ वाँ है और 'ऐसी आरत ८१ वाँ है; इसके अनुसार भी रा०, ह०, वाला क्रम ठीक जँचता है। इस भाव पद ४७ के नोट ४ में दिया गया है। रागका नाम इस पदमें १६६ नहीं है। औरोंमें राग रामकली वा रामकरी नाम दिया गया है।

केसवं क्लेसहं केसवंद्यंपदद्वंद्व[9] मंदाकिनी-मूल-भूतं ।
र्वदानंदसंदोह मोहापहं घोर-संसार-पाथोधि-पोतं ॥ ५
ोक संदेह पाथोदपटलानिलं[10] पाप पर्वत कठिन कुलिस रूपं ।
सज्जनं[11] कामधुकधेनु विश्रामप्रद नाम कलिकलुषभंजनमनूपं ॥ ६ ॥

---

१ यह शब्द ७४ और मु० तथा च० में नहीं है। २—१६६६ में 'राम जपु राम जपु' है। प्र० में 'राम जपु राम जपु राम जपु' है। वै० में 'जपु राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु' है। रा०, भा० आदि शेष सब प्रतियोंमें 'राम जपु' पाँच वार है, जैसा ऊपर पाठ दिया गया है। यह पद दस मात्रावाले झपताल नामके तालमें सरलतासे बैठता है। इस पदकी आगेवाली सब अर्धालियाँ प्रायः ४०-४० मात्राकी हैं। उनमें अन्तमें दो तीन मात्रायें किसी-किसी जगह बढ़ाना पड़ता है, जैसा कि किसी-किसी पदमें ऐसा करनेका गवैयोंका प्रचार है। उन अर्धालियोंके मेलके विचारसे पहली अर्धालीका भी ४० मात्राकी होना उचित जान पड़ता है। चालीस मात्राकी पूर्तिके लिये पहली अर्धालीमें 'राम जपु' का पाँच वार होना आवश्यक है। तभी इस ताल (झपताल) की चार आवृत्तियाँ प्रति अर्धालीमें हो सकेंगी।—(श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजीसे यह वात मुझे मालूम हुई)। अतएव हमने भी रा०, भा०, ह० आदिके पाठको रक्खा है। ३ कोसला इंद्र—७४, दीनजी,। कोसलेंद्र—प्रायः औरोंमें। ४ तनु—६६, रा०, ह०, वै०, दीन, वि०। तन—भा०, बे०, ज०, मु०, भ०। ५ जानकीरमन—६६, वै०, दीन। जानकीरवन—रा०, भा०, बे०, ह०, मु०, ७४, भ०, वि०, १५। * ६ स्मर भज नुमु—६६ (बहुत कठिनतासे पढ़ा जा सका था)। नम भज स्मर—७४, दीन,। नाम भज स्मर—भा०, बे०, ५१, मु०। समर भंजन—वै०, भ०, ह०, ज०, १५, वि०। समर भंजन स्मार—रा०। ७ धर—६६, मु०, दीन। वर—रा०, भा०, बे०, ह०, ७४, ५१, भ०, वै०, वि०। कर—प्र०, ज०। पर—१५। ८ विप्र-हित—६६, रा०, ह०, भा०, बे०, ७४, बक्सर। भक्तहित—प्र०, ज०, १५, आ०। ९ केश वंद्यं पद द्वंद्व—६६, ह०। केश वंद्यं पदं द्वंद्व—रा०। केश वंद्यं पदः द्वंद—भा०। बे० में 'केश वंद पदः' को 'केश वंदित 'पद' बनाया है। केश बंदित पद (वा पदं) द्वंद्व—प्रायः औरोंमें। १० पटलाविलं—वि०। (यह पाठ हमें किसी और पुस्तकमें नहीं मिला)। ११. सज्जन—६६। संत जन—प्रायः औरोंमें। १२ भंजनमनूपं—६६, प्र०। भंजन अनूपं—प्रायः औरोंमें।

धर्मकल्पद्रु माराम[13] हरिधामपथिसंबलं[14] मूलमिदमेवमेकं[15]
भक्ति वैराग्य विज्ञान सम दान दम नाम आधीन साधनमनेकं[16]
तेन तप्तं तेन[17] दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालं
जेन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिसमनवद्यमवलोक्य श्र
श्वपच खल भिल्ल[18] जमनादि हरि-लोक-गत
नाम बल बिपुल मति मल[19] न परं
त्यागि सब आस संत्रास भवपास असि निसित यह[20] नाम जपु दास तुल

शब्दार्थ—सकल सौभाग्य = अष्ट प्रकारके भोग अर्थात् भाग्य, सुगन्ध, स्त्री, वस्त्र, गीत, ताम्बूल, भोजन, भूषण वाहनका सुख। (वै०)। सकल सुख—नित्य सुख और जन्य जो धन, मित्रकी प्राप्ति, आरोग्य और भोगादिसे उत्पन्न होता सात्त्विक (ज्ञानादिद्वारा प्राप्त), राजस (जो विषय और इन्द्रि संयोगसे उत्पन्न होता है) और तामस (आलस्य, उन्मादादि प्राप्त) तीनों प्रकारके सुख। अणिमा आदि सिद्धियाँ, ऋद्धि मोक्ष, ज्ञान, विवेक, वैराग्य और विज्ञान भी सुख कहे गये यथा "अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख स्वर्ग ७।८३। ज्ञान विवेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जाना। आजु देउँ सब संसय नाहीं।'.'प्रभु कह देन सकल सही।" वद = कह। सार = तत्त्व, सारांश, निचोड़। कोसलें कोसला + इंद्र = अयोध्यापति। इन्द्र = स्वामी, राजा। जैसे नागें नागराज। कंजाभ = कंज + आभ। आभ = आभा, शोभा, कां छवि। मदनरिपु = कामदेवके शत्रु = कामारि श्रीशंकरजी। हरि

---

१३ द्रुमाराम—६६, रा०, प्र०, ज०, १५, आ०। द्रुमं नाम— बे०, ह०, ७४, ५१। १४ पथि—६६, रा०, प्र०, ५१, भ०, दीन, भा०। पथ—ह०, वै०, मु०, डु०, ७४, १५। १५ मेकं—६६, भा०, ७४, मु०, भ०, दीन, ७४। एकं—रा०, वै०, वि०, ह०, ५१। १६ मनें ६६। अनेकं—प्रायः औरोंमें। १७ तेन—६६, रा०, भा०, बे०। ह०, प्र०, ७४, १५, आ०। १८ भील—प्र०, ज०। १९ मल न—६६, मलिन—प्रायः औरोंमें। २० यह—६६, भ०। हरि—प्रायः औरोंमें।

हृदय; हृदयके; हृदयमें। यथा 'हृदि बसि राम काम मद गंजय। ७।३४।' 'हर हृदि मनस बाल मरालं। ३।११।८।', चंचरीक=भ्रमर, भौंरा; यथा 'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा।२।३२४।७।' भुअनैक=भुवन+एक=चौदहों भुवनोंके एकही वा एकमात्र। स्मर=स्मरण कर। नमु=नमस्कार कर। कारुनीक (सं० कारुणिक)=जिसका हृदय करुणासे भरा हो; करुणामय। धूमध्वज=धुआँ है ध्वजा जिसकी अर्थात् अग्नि। पीन=मोटे, पुष्ट और मांसल। कोदंड=धनुष; यथा 'कोदंड खंड्यो राम तुलसी जयति वचन उचारहीं।१।२६१।' चंड=प्रचंड, तीक्ष्ण। अयन=घर, धाम, स्थान। मयन=कामदेव। यथा—'जाहि दीन पर नेह करहु कृपा मर्दन मयन॥' वासना=कामनायें। कैरव=कुमोदनी; कुईं। तुषार=पाला। नागेंद्र=नाग (हाथी)+इंद्र (राजा, स्वामी)=गजराज; गजेन्द्र। पंचानन=सिंह। केशव=जिसके अंगसे ब्रह्मा और ईश उत्पन्न होते हैं।—'केशव' नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'केश्च ईशश्च केशौ तौ वहतीति केशवः।' अर्थात् ब्रह्मा और शिवको वहन (धारण रक्षण) करनेसे 'केशव' नाम है। "'क' इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्। आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात् केशव नामवान्॥ हरिवंश पु० २७६।४७।" अर्थात् क (ब्रह्मा) और सर्वप्राणियोंका ईश्वर तो मैं (शिव) हूँ, हम दोनों आपके अंगसे उत्पन्न हुए हैं; अतः आप केशव नामवाले हैं*। क्लेशहं=पंच क्लेशों (अविद्या), अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) के नाश करनेवाले। केश=क (ब्रह्मा)+ईश (शिव)=बिधि और हर। द्वंद्व=दो; युगल। मंदाकिनी—गंगाजीके

---

*'केशव' शब्दके और भाव—(१) "'सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत। अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः।४८। सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्त्माः।" (म० भा० शान्ति० ३४१)। भगवान् श्रीअर्जुनजीसे अपने कर्मजनित नामोंकी व्याख्या करते हुए 'केशव' नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बताते हैं,—'जगत्को तपानेवाले सूर्यकी तथा चंद्रमा और अग्निकी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब मेरा केश कहलाती हैं। उस केश से युक्त होनेके कारण सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं। [पाठान्तर—अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः'के]—

(आगे पृष्ठ १५२ में देखिए)

अनेक नामोंमेंसे एक नाम 'मंदाकिनी' भी है। मूलभूत=अ कारण। सर्वदानंद=सर्वदा आनन्द। मोहापहं=मोह अप अपह=विनाश करनेवाले।—☞यह पद समासान्त पदके अ प्रायः आता है जैसे यहाँ। पाथोधि=जलका अधिष्ठान, स पोत=नाव, जहाज। यथा 'राम बिरह सागर महँ भरत मगन होत। विप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत।७।१।' पाथो बादल, मेघ। पटलानिल=पटल+अनिल। पटल=समूह, 'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ११७।२।' अनिल=पवन। कामधुक=कामनारूपी दूध देने यथा 'सींचि कामधुक धेनु सुधामय पय बिसुद्धतर। क० ७।१ 'भक्तजन कामधुक धेनु।४६(८)।' भंजनमनूपं=भंजनं+अनू कल्पद्रुमाराम=कल्पद्रुम+आराम (बाग, उद्यान, वाटिका); 'परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत।' पथि=पथिक, या पथमें। मूलमिदमेवमेक=मूलं इदं एवं एक।=एक यही ही मू

---

(२) 'यस्मात्त्वया हतः केशी तस्मान्मच्छासनं शृणु। केशवो नाम नाम्ना ख्यातो लोके गमिष्यति॥' (हरिवंश-विष्णुपर्व २४।६५)।—(वे०भू०)

(३) 'को—ब्रह्मा, ईशो—रुद्रस्तौ वातः—प्रलये उपाधिरूपं मुक्ति प तिष्ठतः यत्र केश—वा—ड। परमात्मा' (विश्वकोश)। अर्थात् कः (ब्रह्मा), (रुद्र), (ये दोनों ही) प्रलयकालमें उपाधिरूप मुक्तिको छोड़कर जहाँ होते हैं, वह केशव अर्थात् परमात्मा है। (जा० ना०)

(४) 'केशाद् वोऽन्यतरस्याम्' (पाणि० ५-२-१०६)। इस सूत्रसे अर्थमें 'व' प्रत्यय होनेसे 'केशव' शब्द बनता है। भाव है 'प्रशस्त; अभिरूप वाला'। अथवा क (=ब्रह्मा)+अ (=विष्णु)+ईश (=शिव) अर्थात् जिसके वशमें हों वे केशव हैं। (जा० ना०)

(५) क (ब्रह्म)+ईश (शिव) ये जिसके पुत्र-पौत्र हों वह केशव है। कि पद्मपुराणका वचन है—'शम्भोः पितामहो ब्रह्म पिता शक्राद्यधीश्वरः'। हरिवंश (३।८८।४८) के 'को ब्रह्मेति समाख्यातः ईशोऽहं सर्वदेहि आवां तवांशसंभूतौ तस्मात् केशव नामवान्।' इस वचनानुसार केशव हैं। 'यस्मात् त्वयैष दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन। तस्मात् केशवनाम्ना त्वं ख्यातो भविष्यसि॥' (वि० पु० ५।१६।२३), इस वचनानुसार केशी के वधके कारण 'केशव' संज्ञा है (जा० ना०)

मूल = आदि कारण = असल पूँजी । = जड़ । साधनमनेकं = साधनं अनेकं । तेन = उसने, उसीमें । तप्तं = (पंचाग्नि उपवास आदि) तपश्चर्य्या कर ली । दत्तं = दान दिये । कृतं = कर लिये । कर्मजाल = कर्मकांड । जेन (येन) = जिसने । अनिशं = निरन्तर, लगातार । अनवद्य = अनिन्द्य । = निर्दोष । परसी = स्पर्श की । परसना = स्पर्श करना; छूना । संत्रास = सम्यक् प्रकारके त्रास । = अत्यन्त त्रास । निसित (निशित) = पैनी; तीक्ष्ण । पास (पाश) = बंधन ।

पद्यार्थ—राम (नाम) जप, राम (नाम) जप, राम (नाम) जप, राम (नाम) जप । अरे मूर्ख मन सदा-सर्वदा बारंवार राम (नाम जप । (अर्थात् निरन्तर राम राम राम जप) । रे शठ ! जीसे वेदके सार (रामनाम) को समस्त सौभाग्यों और सुखोंकी खान जानकर और विश्वास मानकर (इसे बारंबार) कह । १। ताजे (नये) खिले हुए नील-कमलकी कान्तिके समान शरीरवाले, कामारि श्रीशंकरजीके हृदय-कमलके भौंरे, श्रीजानकीजीके पति, सुखधाम, समस्त भुवनोंके एक-मात्र स्वामी, परम करुणामय कोसल (श्रीअवध) पति (श्रीरामचन्द्रजी) को सुमिर, उनका भजन (सेवा) कर और उनको नमस्कार कर ।२। (जो) दनुजरूपी वन (को जलाकर भस्म करने) के लिये अग्निरूप (हैं), घुटनेतक लंबे पुष्ट और मांसल भुजदण्डोंमें धनुष और प्रचण्ड बाण धारण किये रहते हैं; जिनके करतल, चरण, मुख और नेत्र अरुण कमल समान हैं । वे सद्गुणोंके धाम, और बहुतसे कामदेवों-की शोभाके अधिष्ठान हैं ।३। वासनावृन्दरूपी कुमोदिनीके लिये सूर्य-रूप, कामक्रोधमदरूपी कमलवनके (नाशके) लिये पालारूप, लोभ-रूपी अत्यन्त मतवाले गजराजके लिये सिंहरूप (अर्थात् आपके स्म-रणसे समस्त वासनाओं और कामक्रोधमदलोभका नाश हो जाता है), ब्राह्मणोंके हितैषी तथा संसार-भारके हरनेवाले हैं ।४। ब्रह्मा और शिव जिनके अंगसे उत्पन्न होते हैं, जो क्लेशोंके नाशक हैं, जिनके युगल चरण ब्रह्मा और महेशसे वंदित हैं, जिनके युगल चरण मंदा-किनी गंगाके मूल कारण हैं अर्थात् जिनके चरण नखसे गंगाजी निकली हैं । सदा आनंदघन, मोहके नाशक, भयंकर संसारसागरके लिये जहाजरूप हैं ।५। जिनका उपमा रहित नाम शोक संदेहरूपी मेघसमूह (के छिन्न-भिन्न करने) के लिये पवनरूप, पापरूपी कठिन पर्वतके (तोड़नेके) लिये कठोर वज्ररूप, सज्जनोंको (वाञ्छित पदार्थ-

रूपी दूध दुह लेनेके लिये) कामद्गौरूप, विश्राम देनेवाला औ कलिके पापोंका नाश करनेमें अनुपम है। अर्थात् इन कामोंमें श्रीरा नामके समान दूसरा नाम या दूसरा कोई साधन इनकी समानता का नहीं है।६। (श्रीरामनाम) धर्मरूपी कल्पवृक्षका बाग है, भगव द्धामके यात्रियोंके लिये राहखर्च है और एकमात्र यही सबका मू है। भक्ति, वैराग्य, विज्ञान, शम, दम, दान आदि जितने भी अने साधन हैं, वे सब रामनामके अधीन हैं।७। जिसने कालको देख-कर निरन्तर रात दिन निर्विकार श्रीरामनामामृतका पान किया उसने सब प्रकारके तप कर लिये, उसने निश्चय ही सब प्रकारके दान लिये, (अर्थात् उसे अब किसी भी प्रकारके दान करनेकी आवश्यकता नहीं रह गई), उसने (सारा वेदविहित) कर्मकाण्ड कर लिया।८ नामके अतुल बलसे (वाल्मीकि आदि) श्वपच, भील और यवनादि अनेक दुष्ट भगवद्धामको प्राप्त हुये; उनकी बुद्धिमें नामबलसे पापका स्पर्श भी न हुआ। तुलसीदासजी कहते हैं कि सब आशा और सब प्रकारके त्रासको छोड़कर भवबंधनके (काटनेके) लिये पैनी तलवार-रूप इस (राम) नामको जप।९।

नोट—१ पद ४५ में श्रीरामजीके भजन करनेका उपदेश दिया, यथा 'श्रीरामचंद्र कृपाल भजु मन...'। अब भजनकी रीति बताते हैं।—'सदा राम जपु...'।

टिप्पणी—१ 'राम जपु...मूढ़ मन...सठ...' इति। (क) मनको मूढ़ और शठ कहकर उपदेश देते हैं; क्योंकि यह बारंबार विषयोंमें पड़कर अपनी हानि करता है, चोटें खाता है, दुःख भोगता है फिर भी नहीं चेतता है, विषयोंमें सुख नहीं है यह अनुभव कर-करके भी उन्हींमें सुख मानने लगता है; और, जिस श्रीरामभक्तिमें, श्रीरामनाममें परम सुख है और जिससे स्वार्थ परमार्थ सारे सुख प्राप्त होते हैं उसको दृढ़तापूर्वक ग्रहण नहीं करता। जिसे अपना भला-बुरा, हानि-लाभ, आगा-पीछा नहीं सूझता, उसे 'मूढ़' कहते हैं। निम्न उद्धरणों से 'मूढ़' और 'शठ' के भाव खूब समझमें आजायेंगे।—

"ऐसी मूढ़ता या मनकी। परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओस-कन की॥...९०।"

"मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
याके लिये सुनहु करुनामय मैं जग जनम जनम दुख रोयो॥

सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो ।
बहु भाँतिन्ह श्रम करत मोह बस बृथहिं मंद मति बारि बिलोयो ॥
करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो ।
तृषावंत सुरसरि बिहाइ सठ फिरि२ बिकल अकास निचोयो ॥२४५।"
"कबहूँ तो मन विश्राम न मान्यो ।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो ॥
जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो ।
तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो ॥
जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यो ।
होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो ॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो ॥ ८८ ॥"

☞ शिक्षा नहीं सुनता, समझानेपर भी नहीं सुनता-समझता, विषयसंगसे दुःसह दुःख भोगता है, भवमें अधिकाधिक डूबता जाता है, जानकर भी अनजान बना है, अपना हठ नहीं छोड़ता फिर फिरकर उसी ओर ढरता है, श्रीरामनामामृत छोड़कर स्वर्ग आदि विषयके लिये जप, तप, यज्ञ आदि करता है, अमृत छोड़ विष माँगकर पीता है,—इसीसे बारंबार उसे मूढ़ और शठ संबोधित कर-करके उपदेश दिया है। यथा—

"सुनि मन मूढ़ सिखावन मेरो ।
हरिपदबिमुख काहूँ न लह्यो सुख सठ यह समुझु सबेरो ॥...
मिटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेह निबेरो ।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहि राम को चेरो ॥ ८७ ॥"
"मेरो मन हरि हठ न तजै ।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै ॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै ॥
लोलुप भ्रमत ग्रहप ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै ।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥
हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै ॥...८९॥"
"कबहुँ जोगरत भोगनिरत सठ हठि बियोग बस होई ।
कबहुँ मोह बस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई ॥

कबहुँ दीन मति हीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी
कवहुँ मूढ़ पंडित बिडंब रत कवहुं धरमरत ज्ञानी
कवहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै
संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरिकृपा न नासै ॥···८१॥
"तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत विषय विष माँगी।
सूकर श्वान शृगाल सरिस जनजनमत जगत जननि दुख लागी।१४०।"

☞ यहाँ एकही जगह बहुतसे उद्धरण दे दिये हैं, जिसमें पाठ
'मूढ़' और 'शठ' के यथार्थ भाव खूब समझ जायँ।

टिप्पणी–१ (ख) 'सदा राम जपु···' इति। यह दूसरे चरण अर्था
उत्तरार्द्धमें कहे हुये फलोंका साधन है। कैसे रामनाम जपैं?—य
यहाँ बताते हैं—'सदा जपु'। अर्थात् एक-दो बार ही कहकर सन्तो
न कर ले, 'वारंवार जप'। ऐसा करनेसे सकल सौभाग्य सु
प्राप्त हो जायँगे।

'सदा' शब्दसे जनाया कि निरन्तर तैलधारावत् जपे। सोते जागते
उठते बैठते, चलते फिरते सभी अवस्थाओंमें नामका जप चलता
रहे। कभी जिह्वा खाली न रहे।

यह अनन्यताका सूचक है; यथा 'अति अनन्य जे हरि के दासा।
रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा। वै० सं०।' भाव कि चातक
वृत्ति धारणकर रट। 'बरवै' में भी सदा जपनेका आदेश है; यथा
'कलि नहिं ज्ञान बिराग न जोग समाधि। राम नाम जपु तुलसी
नित निरुपाधि ।।४८।'

पुनः भाव कि 'सदा' जपनेसे तू धन्य माना जायगा; यथा 'धन्या
स्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्। कि० मं०।' सदा
जपनेसे उस फलका तुझे साक्षात्कार हो जायगा जो मैं कहता हूँ।

☞ पाँच बार 'जपु' पद देनेके भाव वैजनाथजी आदिने ये
कहे हैं— (१) 'जब श्रवणकी वृत्ति चलायमान हो तब प्रभुके वचनों
में कान लगाकर नाम जप। इसी तरह त्वक्, नेत्र, रसना और
नासिकाकी वृत्तिकी स्थिरताके लिये प्रभुके पदपरागका स्पर्श, श्याम
रूपावलोकन, उनके नेत्रोंकी कृपाकटाक्षमय गुणगान, और उनके
करकमलोंकी उदारताकी वासनामें क्रमशः उन्हें लगाकर नाम जप।
इस तरह बारंबार जप।'(वै०)। अर्थात् उनके मतानुसार पंचत्रिपयाँ

के निवारणार्थ एक-एकके लिये एकएक बार 'रामजपु' कहकर पाँचोंके लिये नामको समर्थ सुझाते हैं।

(२) प्राण पाँच हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। इन पाँचोंके साथ आत्मा है। पाँच बार 'राम जपु' कहकर उन पाँचोंको उपदेश किया। (चरखारी टीका)।

(३) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच विषय संसारमें आनेके कारण हैं। एक-एकके नाश करनेके लिये, मनको 'राम जपु' पदसे चेतावनी दी गई, ऐसा जान पड़ता है। (वि० ह०)।

टिप्पणी १ (ग) 'मूढ़ मन' इति। वेदान्तके अनुसार चित्तकी पाँच अवस्थायें हैं,—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध*। जिस समय मन चंचल रहता है, उस समय उसकी अवस्था 'क्षिप्त', जिस समय वह कामक्रोधादिके वशीभूत रहता है और उसपर तम वा अज्ञान छाया रहता है, उस समय 'मूढ़', जब चंचल होनेके समयमें भी बीच-बीचमें कुछ समयके लिये थिर हो जाता है उस समय 'विक्षिप्त', जब बिल्कुल निश्चल होकर किसी एक वस्तुपर जम जाता है उस समय 'एकाग्र' और जिस समय किसी आधारकी अपेक्षा न रखकर स्वतः बिल्कुल शान्त रहता है उस समय 'निरुद्ध अवस्था' कहलाती है। ☞ मूढ़ अवस्थामें चित्त तमोगुणके कारण निद्रायुक्त वा स्तब्ध रहता है।

१ (घ) 'सकल सौभाग्य सुख खानि' इति। भाव कि संपूर्ण सौभाग्य और सुख, मायिक और अमायिक, लौकिक और पारलौकिक सभी श्रीरामनामरूपी खानिसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र कहीं भी इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अन्य सब उपाय कलिमें 'अपाय' हैं। यथा 'एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे। ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे। ६६।', 'राम नाम कामतरु देत फल चारि रे। ६७।', 'कामतरु राम नाम जोइ जोइ माँगिहै। तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै। ७०।', 'भागु है अभागेहू को…' 'सेतु भवसागरको हेतु सुख सार को। ६९।'

---

* चित्तकी पाँच वृत्तियोंके नाम 'मूढ, विक्षिप्त, घोर, शान्त और अनुरोध' इस प्रकारभी कहे गये हैं। अष्टाङ्गयोगके साधनसे इन वृत्तियोंको समेटा जाता है।

पुनः, सकल सुख सौभाग्य तभी संभव हैं जब दोष-दुरि दुःख-दारिद्रय न रह जायँ। अतः सुख-सौभाग्यकी खानि कह जनाया कि नामजपसे दोष-दुरितादि नष्ट हो जायँगे। यथा 'दो दुरित दुख दारिद दाहक नाम। सकल सुमंगलदायक तुलसी राम बरवै० ५८।' पुनः, इससे यह भी जनाया कि इससे अधिक जीवन लाभ कुछ नहीं है। यथा 'एहि तें अधिक न एहि सम जीव लाहु। बरवै० ५७।'

१ (ङ) 'मानि विश्वास' इति। इससे पाया गया कि बारंबा समझानेपर भी इसे विश्वास नहीं होता, इसीसे उसे 'शठ' कहते पुनः भाव कि यह जप इतना सहज और सुलभ साधन है कि इस सबको जल्दी विश्वास नहीं होता। अतः कहते हैं कि विश्वास मान पुनः 'मानि विश्वास बद' का भाव कि विश्वासके विना विशेष फल साक्षात्कार नहीं होता, यथा 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। यह (विश्वास) भी जपके लिये आवश्यक बताया।

१ (च) 'जिय जानि' का भाव कि विना जाने विश्वास न होता और विना विश्वासके साधनमें प्रीति नहीं हो सकती। यथ 'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती।'; इसीसे प्रथम 'जिय जानि' कहकर तब 'मानि बिश्वास' और तत्पश्चात् 'व वेदसारं' कहा।

☞ पूर्वार्धमें नाम जपनेका उपदेशकर उत्तरार्धमें उसका महत्त्व दिखाकर मनको दृढ़कर उसपर आरूढ़ करना चाहते हैं।

१ (छ) 'वेद सारं' इति। श्रीरामजी एवं उनका 'राम' नाम वेदके सार तत्त्व हैं। यथा 'साधन फल श्रुतिसार नाम तव भवसरित कहं बेरो। सो पर कर काकिनी लागि सठ बेंचि होत हठि चेरो। १४३।', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा। १।१०।१।', 'बिधि-हरि-हरमय बेद प्रान सो। १।१९।२।', 'धरे नाम गुर हृदय बिचारी। बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी।१।१९८।१।'

टिप्पणी—२ 'कोसलेंद्र नव-नीलकंजाभ तनु···' इति। (क) श्रीरामनामजपका उपदेश देकर अब बताते हैं कि यह 'राम' नाम किसका है। जिनका यह नाम है उनका स्वरूप, गुण, प्रताप, प्रभाव आदि भी जान लेना आवश्यक है, तभी विश्वास हो सकेगा। नाम-जपके समय उपास्यके गुण, स्वरूप आदि पर ध्यान रहनेसे नाममें

विश्वासकी दृढ़ता बनी रहेगी। अतः नामीके स्वरूप और गुणोंका कथन करते हैं।

२ (ख) 'नवनीतकंजाभ तनु'—नये खिले हुये नील कमलकी आभाके समान शरीरकी शोभा और वर्ण है; यथा 'शृंगार-सर-तामरस-दामद्युति देह···।४४।', 'सोभासीव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा। १।२३३।१।'—विशेष भाव पूर्व आचुके हैं।

२ (ग) 'मदनरिपु कंज हृदि चंचरीक' इति। 'मदनरिपु' से कामके भस्म करनेवाले ऐसे समर्थ, निष्काम एवं पूर्णकाम जनाया। उनके हृदयकमलके चंचरीक कहनेका भाव कि ऐसे समर्थ, निष्काम एवं पूर्णकाम शंकरजी अपने हृदयकमलमें सदा इनका स्मरण और ध्यान करते हैं। चंचरीक कहकर श्रीरामजीका श्रीशिवजीके हृदयमें निरन्तर निवास दिखाया। यथा 'नील तामरस स्याम काम अरि। हृदयकंज मकरंद मधुप हरि। ७।५१।२।', 'संकर हृदि पुंडरीक निवसत (वा, निसि बस) हरि चंचरीक, निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई। गो० ७।३।' ☞ मिलान कीजिए एवं 'मानस पीयूष' में देखिए—'जन मन मंजु कंज मधुकर से। १।२०।१।' पुनः, हृदयकमलका भौंरा कहकर यह भी जनाते हैं कि जो हृदय कमलपत्र-समान निर्लिप्त रहता है, उसीमें श्रीरामभ्रमर वास करते हैं। 'मदन' नाम दिया क्योंकि कामदेवका मद यहाँ चूर-चूर हो गया।

२ (घ) 'जानकीरमन सुखभवन··' इति। 'जानकीरमण' अर्थात् 'जाकी कृपा-कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ', 'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी' और जो 'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता' हैं, उन श्रीजानकीजीके पति श्रीरामजी हैं, तब. उनका स्मरण करनेसे तुझे किस बातकी कमी रह सकती है? वे सुखभवन हैं, अतः 'सुख' शान्ति इन्हींके चरणोंसे मिल सकती है।

'भुअनैक प्रभु' हैं, अर्थात् दूसरा कोई समस्त भुवनोंका स्वामी नहीं है, अतएव हो न हो आखिर तुझे इन्हींकी शरण लेनी पड़ेगी, इनको छोड़ दूसरेके भजनसे कुछ भी लाभ नहीं होनेका। मिलान कीजिए—'भव-जलधि पोत चरनारबिंद जानकीरमन आनंदकंद ६४।' ☞ 'जानकीरमन' शब्द रामचरितमानसमें नहीं आया है, पर विनय, कवितावली आदिमें यह शब्द आया है। आगे पद २१२ में भी है—'तुलसीदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकीरमन।'

२ (ङ) 'स्मर भजु नमु'। तीन क्रियायें क्रमसे देनेका भाव कि जिन कोशलेन्द्र महाराजाधिराज श्रीरामचंद्रजीका ध्यान और स्मर श्रीशंकरजी निरन्तर करते हैं तू भी उनका स्मरण कर। वे श्रीजान जीके पति हैं और सुखभवन हैं, ऐसा जानकर उनको भ अर्थात् उनकी सेवा कर, और अखिल भुवनोंके स्वामी जानकर उन प्रणाम कर।

या यों कहें कि जैसे श्रीजानकीजी श्रीरघुनाथजीके वियोग निरन्तर राम नाम जपती रहीं; यथा 'नाम पाहरू दिवस निसि ध्या तुम्हार कपाट।', 'सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम। 'जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी॥ निज पद नयन दिये मन रामच महँ लीन।'; वैसे ही तू 'जानकीपति' का स्मरण कर जबतक सा त्कार न हो जाय। 'सुखभवन' जानकर भज, जैसे श्रीजानकी ऐसी ऐश्वर्यशालिनी होकर भी नित्य सरकारकी सेवा अपने क कमलोंसे करती थीं; यथा 'जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल स सेवा-बिधि गुनी॥ निज कर गृहपरिचरजा करई। रामचंद्र आ अनुसरई।', 'जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन ला और जब वे भुवन-पति हैं तब प्रणाम उचित ही है। अखिल भुवनप होनेपर भी वे परम कारुणीक हैं, इससे वे नमस्कार करतेही कर करेंगे। यथा 'भलो मानिहैं रघुनाथ हाथ जोरि जो माथो नाइहै

पुनः, 'जानकीरमन सुखभवन भुअनैक प्रभु' कथनसे शंका हो है कि तब तो उनकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ होगी, अतः कहा कि नहीं, परम सुलभ हैं, स्मरण प्रणाममात्रसे ही द्रवीभूत हो जाते हैं।

२ (च) 'परम कारुनीकं' इति। 'नमु' के बाद 'परम कारुणी कहकर जनाया कि प्रणाम करतेही अपना लेते हैं, यथा 'सकृत प्रना किहें अपनाए', क्योंकि बड़े ही करुणामय हैं। 'परम' विशेषण दे जनाया कि दुःख देखकर स्वयं तुरतही दुखित हो जाते हैं और हरण करनेमें किंचित् विलंब नहीं करते; यथा 'करुनामय रघु गुसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई।'

टिप्पणी—३ (क) करुणामय हैं, इसीसे 'दनुजवनधूमध्वज' हैं, वि धेनु-सुर-संत-भक्त-हित असुरों का नाश करते हैं, और इसी लिए स कोदण्ड आदि धारण किये रहते हैं।

३ (ख) 'अरुन कर चरन मुख नयन राजीव······' इति। वीर भी हो, पर यदि सुन्दर न हो तो उसके भजनमें मन नहीं रमता, अतः कहते हैं कि वे शोभानिधान हैं, उनके हाथ, मुख, चरण, नेत्र कमल समान हैं। संसारमें कामदेवके समान न तो कोई सुन्दर है और न मनको मोहित करनेवाला ही है, यथा 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें'—सो ऐसे-ऐसे अमित कामदेव भी श्रीरामजीके सौन्दर्यपर निछावर हो जाते हैं, यथा 'अंग-अंग पर वारिअहि कोटि-कोटि सतकाम।' पुनः, कामदेव श्यामवर्ण हैं और श्रीरघुनाथजी भी श्यामवर्ण हैं, अतएव अपरिमित शोभा-सौन्दर्य जतानेके लिये 'बहु मयन सोभा निधानं' कहा।

सौन्दर्य भी हो और उत्तम दिव्य गुण न हों, तो भी उसकी उपासना कौन करेगा? इसी भावसे 'गुन अयन' विशेषण दिया। अर्थात् भक्तवत्सल, प्रणतपाल, कृपाल, दीनवंधु, आर्तिहरण, कृपाल, सौन्दर्य-सुखमा-सदन, शरणागतवत्सल आदि गुणोंके धाम हैं।

☞ 'अरुन कर चरन मुख नयन राजीव' के भाव ४५ (१ ट, ठ), नोट ७ में आ चुके हैं। यहाँ तक शोभा सौन्दर्य और बाहरके शत्रुओंके नाशक आदि गुण कहे। आगे जीवके हृदयके दारुण शत्रुओंके नाशनमें समर्थ दिखाते हैं।

टिप्पणी—४ 'वासनावृंद कैरव दिवाकर···' इति। (क) मनुष्यके हृदयमें बहुत वासनायें हुआ करती हैं, यथा 'कोउ भल कहहु देउ कछु कोऊ अस वासना न उर ते जाई।११६।', 'बहु वासना बिबिध कंचुक भूषन लोभादि भरयो।६१।' बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओंके हृदयमें भी सूक्ष्म वासना घर बना लेती है। यथा 'बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं।' ज्ञानपनेका अहंकार रहता है, प्रतिष्ठाकी इच्छा रहती है। वासनाओंके रहते जीव सुख नहीं पाता। यथा 'हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे।८२।' अतएव कहा कि वासनावृन्दरूपी कुमुदिनीको झुलसा देनेके लिये सूर्यरूप हैं। मानसमें भी कहा है 'बहु वासना मसक हिमरासिहि।७।३०।६।' (ख) 'वासनावृंद··पंचाननं' में रूपककी माला है। (ग) 'लोभ अति मत्त

नागेंद्र पंचाननं' इति। लोभको अत्यन्त मतवाला गजराज कहा, लोभी इसकी पर्वा नहीं करता कि लोग क्या कहेंगे, लोभसे मदांध हो जाते हैं। मानसमें भुशुण्डीजीने कहा ही है कि ' तापस सूर कवि कोविद गुन आगार। केहि कै लोभ वि कीन्हि न एहि संसार। ७।७०।'

सिंहको 'पंचानन' कहनेका कारण लोग दो प्रकारसे बताते कोई तो 'पंच' का अर्थ 'विस्तृत' करके 'पंचानन' का अर्थ मुखवाला' करते हैं। 'पचि विस्तारे' (भ्वा० आ० से०), विस्तृतमाननमस्य' (अमर व्याख्या सुधा टीका)। और कोई पंजोंको भी जोड़कर पाँच मुख गिना देते हैं। ये कहते हैं कि चारों पंजोंसे वार करके मांस निकाल लेता है, अन्य पशु पंजोंसे ऐसा नहीं कर सकते।

४ (घ) 'बिप्र हित हरन संसार भारं' इति। इससे ब्रह्मण जनाया। 'बिप्रहित' और 'हरन संसार भारं' को अलग-अलग विशेषण मान सकते हैं और एक भी। विप्र विश्वामित्रके यज्ञकी की तथा विप्रोंके हितार्थ अवतार लेकर संसारका भार अप करते हैं। यथा 'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवता दोनोंके भाव पूर्व आचुके हैं।

टिप्पणी—५ 'केसवं क्लेसहं केसवंद्यं पदद्वंद्व…' इति। ('केशव' शब्दकी व्युत्पत्ति शब्दार्थमें दी जा चुकी है। 'केशव' यह बताकर कि ब्रह्मा और शिवजीकी-उत्पत्ति इन्हींसे हुई है उनका धारण रक्षण भी ये ही करते हैं, फिर 'क्लेशहं' यह भी भाव है कि इन दोनोंके क्लेशोंको हरण करते रहते हैं दोनों बड़े-बड़े वरदान दे-देकर स्वयं क्लेशमें पड़ जाते हैं, 'बेद पढ़ैं विधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं। क० तब-तब प्रभुने उनके संकट हरे। मानसिक क्लेशों तथा भवसे लिये ये दोनों प्रार्थना करते रहते हैं, यथा 'भव-बारन-दार प्रभो…॥ अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभे हरिये॥…दुख सो सुख मानि सुखी चरिये। ६।११० ब्रह्म 'मामभिरक्षय रघुकुलनायक।…भवबारिधि मंदर परमं दर। तारय संसृति दुस्तर।…६।११४।' (शिवजी), 'रघुनंद द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीन जनं', 'भवताप भयाकुल

जनं ।' (शिवजी) । पुनः 'क्लेशहं' का भाव कि आप जीवमात्रके पंचक्लेशोंके हरनेवाले हैं । (ख) 'केसवंद्यं पदद्वंद्व' इति । ब्रह्मा और शिव आपके चरणोंकी वन्दना करते हैं, यथा—'बिधि हरि हर बंदित पद रेनू । १ ।१४६।१।', 'चरन कमल बंदित अज संकर । ७ ।३५।७।', 'कोसलेंद्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवंदितौ । ७ मं० ।', 'जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपत्नी तरी । ७ ।१३ छं।'

५ (ग) 'पदद्वंद्व' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है । पद केशवंद्य हैं और मंदाकिनीमूलभूत भी हैं, यथा "(स्पृशामि) यत्पद्मज-शङ्करादिभिर्विमृग्यते रन्धित मानसैः सदा । ४३ । यत्पादपङ्कजपराग-पवित्रगात्रा भागीरथी भवविरञ्चिमुखान्पुनाति ।··· अ० रा० १ ।५।" (अर्थात् आपके जिन पदारविन्दोंका ब्रह्मा, शम्भु आदि सर्वदा एकाग्रचित्तसे अनुसंधान किया करते हैं, जिन चरणकमलोंके परागसे पवित्र हुई श्रीभागीरथीजी शिवविरंचि आदिको भी पवित्र कर रही हैं), 'नखनिर्गता मुनिवंदिता त्रैलोक्यपावनि सुरसरी । ७।१३।', 'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी । १।२११।' गंगाजीके अनेक नामोंसे एक नाम 'मंदाकिनी' भी है । इसमें स्नान करनेके लिये आनेवालोंको पद-पदपर अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं है । ऐसी जो शुचिताकी अवधि श्रीगंगाजी हैं, उनका यह माहात्म्य श्रीरामजीके चरणनख एवं रजके स्पर्शसे ही है, तब भला उन चरणोंका माहात्म्य कौन कह सकता है ? अतएव उनको भज ।

पुनः 'केशवंद्यं पद···' का भाव कि ब्रह्मा सृष्टिकी उत्पत्ति और शिवजी संहार करते हैं । ऐसे समर्थभी उनके चरणोंकी वन्दना करते हैं । इससे शिष्टपरिगृहीत जनाया ।

५ (घ) 'सर्वदानंदसंदोह०', यथा 'जानकीरमन आनंदकंद ।६४।', 'सुखसंदोह मोहपर ज्ञान-गिरा-गोतीत ।१।१६६।', 'चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन ।७।६८।', 'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह ।७।७६।', 'देव पूर्णानंदसंदोह अपहरन संमोह अज्ञान गुन सन्निपातं ।५३।', 'आनंदकंदाकर ।५१।' 'मोहापहं', यथा 'अति प्रबल मोहतम मार्तंड ।६४।', 'जासु कृपा छूटहिं मद मोहा ।४।१८।', 'अपहरन संमोह ।५३।'

५ (ङ) 'घोर-संसार-पाथोधि-पोतं' अर्थात् श्रीरामजीके चा कमल भवसागर पार करनेके लिये नौका वा जहाज हैं। 'यत्पादप्लवमेकमेवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां, वन्देऽहं तम कारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।१ मं०।', 'भवजलधिपोत चरनार ६४।' 'पोत' कहकर जनाया कि समुद्रको छोटी नदी सरीखा कर देते हैं।

६ (क) 'सोक-संदेह-पाथोद-पटलानिलं···' इति। शोक और सं को बादल कहनेका भाव कि ये हृदयाकाशको आच्छादित रहते हैं। शोकसंदेहरूपी बादलोंके लिये अनिलरूप ,और पापप लिये कुलिशरूप कहकर जनाया कि श्रीरामनाम शोक, संदेह पापोंके सहज नाशक हैं। मेघोंके झुण्डोंको पवन शीघ्र छिन्न-भिन्न देता है और वज्र पर्वतोंको चूर्ण कर डालता है। श्रीरामजीको पद १०६ में भी 'त्रिविध ताप संदेह सोक संसय भय हारी' कहा पापोंका भारीपन तथा कठोरता दरसानेके लिये पर्वतकी उपमा जाती है। यथा 'पाप पहार प्रगट भइ सोई'। 'पापपर्वत' से पाप अर्थ भी ले सकते हैं।

स्मरण रहे कि श्रीरामजीके चरणमें जो कुलिश चिह्न है, ज ध्यानमात्रसे पापरूपी पर्वत नष्ट हो जाते हैं—'वज्राद्वज्रमुत्पन्नं पापप हानिदम्। महारा० ४५।', 'ऐसे ही कुलिश पाप पर्वतके फोरिबे (भक्तिरसबोधिनी)—तब जिनके चरणका यह चिह्न है, उ सामर्थ्यका पार कौन पा सकता है?

६ (ख) 'सज्जनं कामधुक धेनु' का भाव कि जैसे कामधेनुसे जो कामना करो, वह देती है, वैसे ही श्रीरामनाममहाराज कामनाओंको तुरत पूरा करते हैं। यथा 'नाम रति कामधेनु तुलसी कामतरु, राम नाम है बिमोह तिमिर तरनि ।२४७।', 'रामकी सरबस मेरे रामनाम कामधेनु कामतरु मोसे छीन छाम को। क १७८।' कामधेनु—पद २२ 'कामधेनु कलि कासी' में देखिए।

६ (ग) 'बिश्रामप्रद' का भाव कि जीव सदा विषयवासनाओंके अनेक योनियोंमें भ्रमण करता फिरता है। उसे कभी विश्रा मिला। 'विश्राम क्यों न मिला?'—यह निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट जायगा।—

(१) "कबहूँ मन विश्राम न मान्यो ।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो ॥
जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो ।
तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो ॥
जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यो" ॥८८॥"

(२) "नाचत ही निसि दिवस मरयो ।
तबहीं ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धरयो ॥
बहु बासना बिबिध कंचुक भूषन लोभादि भरयो ।
चर अरु अचर गगन जल थल में कौन स्वाँग न करयो ॥"९१।"

(३) 'महामोह सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यो ।९२।'

श्रीरामनाम ऐसे भी शरण आये हुये जीवको विश्राम देते हैं । श्रीहनुमन्नाटकके मङ्गलाचरणमें भी श्रीरामनामको 'विश्रामस्थानमेकं' कहा है ।

टिप्पणी ६ (घ) 'कलि कलुष भंजनमनूपं' इति । अर्थात् कलिके घोर पापोंके नाशके लिये कोई भी अन्य साधन ऐसा समर्थ नहीं है, कलिने अन्य सब साधनोंको अपंग और व्यर्थ कर दिया है । यथा "और उपाय ते अपाय भये जैसे तम नासिबे को चित्रके तरनि ।", "नहि कलि करम न भगति बिवेकू । राम नाम अवलंबन एकू ।", "रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः । कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्रधर्मे खलु नाधिकारः ॥" (ब्रह्म सं०), "तीरथ अमित कोटि सम पावन । नाम अखिल अघपूग नसावन । ७ ।९२।" इसके समान पापनाशक कोई न होनेसे इसे 'अनूप' (उपमारहित) कहा । देवर्षि नारदजीने रामनामके संबंधमें यह वर माँग लिया है । यथा 'राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ-खग-गन बधिका । ३।४२।'

६ (ङ) 'जानकीरमन सुखभवन' से लेकर 'सज्जनं कामधुक धेनु' तक जो-जो विशेषण वा गुण यहाँ वर्णन किये गये हैं, इन सबोंकी चर्चा प्रायः मानस उत्तरकांडके उस गुणगानमें पाई जाती है जो अवधपुरवासी परस्पर एक दूसरेको भजनकी शिक्षा देते हुये करते थे ।—

प्रस्तुत पद	मानस उत्तरकांड दोहा ३०
जानकीरमन	जनकसुता समेत रघुबीरहि ।८

विनय प्रस्तुत पद	मानस उत्तरकांड दोहा ३०
सुखभवन भुवनैक प्रभु	सदा एकरस अज अबिनासिहि।
सर्वदानंदसंदोह	तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि।
दनुज बन धूमध्वज	दनुज गहन घन दहन कृसानुहि।
आजानु भुजदंड कोदंड-बर-चंड-बानं	धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि।
अरुन कर चरन मुख नयन राजीव	सोभा सील रूप गुन धामहि।
गुन अयन बहु मयन सोभानिधानं	जलजबिलोचन स्यामल गातहि
बासनाबृंद कैरव दिवाकर	बहु बासना मसक हिमरासिहि।
कामक्रोधमद्कंजकानन तुषारं	मनसिज करि हरि जन सुखदातहि।
लोभ अति मत्त नागेंद्र पंचाननं, मोहापहं	लोभ मोह मृगजूथ किरातहि
हरन संसारभारं	कस न भजहु भंजन भवभीरहि।
घोर संसार पाथोधि पोतं	भंजन महि भारहि ।१०
सोकसंदेहपाथोदपटलानिलं	संसय सोक निबिड़ तम भानुहि।
सज्जनं कामधुक धेनु	संतकंजबन रबि रनधीरहि।

टिप्पणी—७ 'धर्मकल्पद्रुमाराम हरिधामपथिसंबलं…' इति (क) सत्य, शौच, दया, दान, धृति, क्षमा, तप, दम, यज्ञ औ अक्षोभ, ये दस प्रकारके धर्म लक्षण कहे गये हैं। यथा 'धृ क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दश धर्मलक्षणम्।'—यह मनुद्वारा बाँधी हुई धर्मकी मर्यादा है। वि पद १० में देखिये। जप तप नियम योग आदि ये सब धर्म क गये हैं, यथा 'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति सं नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथमज्जन। जहँ लगि ध कहत श्रुति सज्जन ।७।४९।'

'धर्मकल्पद्रुमाराम' कथनका भाव कि जिन धर्मोंसे अर्थ-ध कामकी प्राप्ति हो सकती है, वे समस्त धर्मरूपी कल्पवृक्ष श्रीरामना रूपी बागमें ही लगे हुये हैं। श्रीरामनाममें ही सब धर्म स्थित और सबके फलकी प्राप्ति एकमात्र इसके अवलंबसे हो जाती यथा 'राम नाम लेत होत सुलभ सकल धरम॥ जोग मख वि बिरति वेद बिहित करम। १३१।', 'जथा भूमि सब बीज नखत निवास अकास। रामनाम सब धरममय जानत तुलसीदास दो० २९।' पुनः भाव कि विना रामनामके धर्म स्थित रह

नहीं सकता। एवं, धर्म एक कल्पवृक्ष मात्र है और रामनाम तो अगणित कल्पवृक्षोंका बाग है।

☞किसीभी धर्मके अनुष्ठानमें मंत्र, तंत्र, देश, काल, पात्र और दक्षिणा आदिमें जो न्यूनता रह जाती है, वह भगवन्नामकीर्तनसे पूर्ण हो जाती है। यथा- 'मंत्रतस्तंत्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव। भा० ८।२३।१६।' इस तरह भी नाम समस्त धर्मोंके लिये कल्पवृक्षोंका बाग है। सबकी न्यूनताकी पूर्ति इसीसे होती है।

विषयभूत त्रिगुणमय विभिन्न भोगोंकी कामनाओंसे जिनका ज्ञान अपहरण हो गया है, उन कामनाओंकी सिद्धिके लिये विविध देवोंका आराधन आदि अनेक धर्म शास्त्रोंने बताये हैं; इसीसे धर्मको कल्पवृक्ष कहा।

विविध वासनाओंमें बँधा हुआ मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर देवताओंकी आराधना करता है और अपने अभिलिषित भोगको पाता है। परन्तु अन्य देवाराधनादि धर्मोंका फल भी अन्तवाला होता है।

पुनः, श्रीरामनामको धर्मकल्पवृक्षका बाग कहनेका भाव कि रामनाम अगणित कल्पवृक्षोंके समान अत्यन्त अधिक फल देता है और अक्षय अविनाशी फल भी देता है, जो कल्पवृक्ष नहीं दे सकता।

[श्रीकान्तशरणजीने 'धर्मकल्पद्रुमाराम' का अर्थ 'धर्मोंके लिये कल्पवृक्ष का बाग' किया है। वे लिखते हैं कि "नामाराधनसे समस्त धर्मोंकी श्रद्धाका उदय होता है, फिर नामही के द्वारा उनकी सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है।...इसी दृष्टिसे भगवान्के स्मरणसे धर्ममें वृद्धि कही गई। जापकके हृदयमें पहले धर्मोंकी प्रवृत्ति नहीं रहती, परन्तु नामाराधन करते ही उनमें श्रद्धा लहलहा उठती है। पुनः नामहीसे उन धर्मोंके फलरूप सन्तोष, वैराग्य आदि गुण हृदयाकाशमें जगमगा उठते हैं। अतएव नाम धर्मोंके लिये कल्पतरुका बाग है। जो काम एक कल्पवृक्षसे होता है, वही अनेकसे, तब कल्पवृक्षका बाग क्यों कहा गया? उत्तर—प्रत्येक धर्मकी वृत्ति एवं फल तथा तात्पर्य भिन्न-भिन्न होते हैं; इसलिये भिन्न-भिन्न रुचिवालोंके लिये विविध कल्पवृक्षका समूह कहा गया।"]

७ (ख) 'हरिधाम पथि संबलं' इति। अर्थात् जैसे कोई यात्री कहीं जाना चाहे, तो यदि उसके पास राहखर्च न हुआ तो उसको

वहाँतक पहुँचना दुर्लभ है। ऐसे ही भगवद्धामके मुमुक्षु-यात्रियों लिये भी भगवद्धामके मार्गके लिये तोशा (यात्राखर्च) चाहि वह राहखर्च क्या है? श्रीरामनाम ही वह राहखर्च है; यथा 'सुमि सनेह सों तू नाम रामराय को। संबरु निसंबरी को सखा असहा को। ६६।' विना रामनामकें वहाँ पहुँचना भगवत्प्राप्ति हो परम दुर्लभ है। रामनामसे भगवद्धामकी प्राप्ति हो जाती है; य 'पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य। हनु० ना० मं०। 'तुलसी राम नाम सम मित्र न आन। जो पहुँचाव रामपुर त अवसान। बरवै ६७।'

७ (ग) 'मूलमिदमेवमेकं' इति। रामनाम ही एकमात्र सक मूल है। यथा 'एकहिं साधन सब रिधि सिद्धि साधि रे। ६६। 'नाम राम को अंक है०।'

७ (घ) 'भक्ति वैराग्य बिज्ञान···नाम आधीन साधनमनेकं' इति यथा दोहावल्याम्—'नाम रामको अंक है सब साधन हैं सून। अं गये कछु हाथ नहिं अंक रहे दस गून। दो० १०।' साधनोंके इ नामाधीनताको ग्रंथकारने आगे पद २२७ (४ में इस प्रकार दरसा है—'तुलसीके अवलंब नामही को एक गाँठि कोटि फेरे'। अर्था जैसे किसी वस्तुके बाँधनेमें डोरीके लपेटे चाहे जितने हों, पर उन ऊपर गाँठ एकही होती है जिससे वे सब लपेटे दृढ़ रहते हैं, वैसे साधन चाहे जितने हों, सबका आधार, सबको दृढ़ कर रखनेवा एक रामनाम ही है। नामके आधारपर ही सब साधन दृढ़ रह सक हैं। श्रीवैजनाथजी 'मूलमिदमेवमेकं' को 'साधन अनेकं' के सा लेकर अर्थ करते हैं कि भक्ति आदि समस्त साधनोंका निश्चय कर एकमात्र यही मूल है, क्योंकि कोई साधन बिना नाम-जपके सि नहीं हो सकता।

नाना कर्म भक्ति, वैराग्य, विज्ञान, शम, दम और दान आ साधन हैं। यथा 'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान नि नाई॥ नाना कर्म धर्म व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ भूतदया द्विज-गुर-सेवकाई। विद्या बिनय बिबेक बड़ाई। जहँ ल साधन कहे बखानी। ७।१२६।'—ये सब साधन नामाधीन हैं, बि रामनामके ये फलीभूत नहीं हो सकते। सब साधन शून्य '०' के समा हैं। श्रीरामनामरूपी अंकके साथ होने परही सब साधन मूल्यवा

होते हैं, अन्यथा नहीं। यथा 'एहि कलिकाल सकल साधनतरु है श्रमफलनि फरो सो। तप तीरथ उपवास दान मख जो जेहि रुचै करो सो॥ पायेहि पै जानिबो करमफलु भरि-भरि बेद परोसो। आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो॥ सुख सपनेहु न जोग सिधि साधत रोग बियोग धरो सो। काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।···१७३।' श्रीरामनामसे वैराग्य-योगादि जाग उठते हैं, यथा 'राग राम नाम सों बिराग जोग जागिहै।७०।' इत्यादि।

☞ यज्ञादि अनुष्ठानोंकी सिद्धिके लिये अन्तमें भगवत्‌मंत्र-जपका विधान है। यथा 'मन्त्रतस्तंत्रतश्छिद्र'···। भा० ८।२३।१६।' [ऊपर ७ (क) में देखिए]

नोट—२ 'सज्जनं कामधुकधेनु' से लेकर 'नाम आधीन साधनमनेकं' तक तीन चरणोंमें प्राय: श्रीहनुमन्नाटकके मङ्गलाचरणकी छाया है।—

"कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां,
पाथेयं यन्मुमुक्षो: सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां,
वीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥"

वहाँ (हनु० ना० में) 'कलिमलमथनं पावनं पावनानां' है और यहाँ 'कलिकलुष-भंजनमनूपं' है। वहाँ 'पाथेयं यन्मुमुक्षो:···प्रस्थितस्य' है और यहाँ 'हरिधामपथिसंवलं' है। वहाँ 'विश्रामस्थानमेकं' है और यहाँ 'विश्रामप्रद नाम' है। वहाँ 'जीवनं सज्जनानां' और यहाँ 'सज्जनं-कामधुक धेनु'। वहाँ 'बीजं धर्मद्रुमस्य' है और यहाँ 'धर्मकल्पद्रुमाराम' है।

नोट ३—यहाँ श्रीरामनामको 'विश्रामप्रद', 'कलिकलुषभंजन' और 'हरिधामपथिसंबल' कहा है। ये सब गुण रूप, लीला और धाममें भी हैं।

रूप — (क) 'विश्व विश्राम।५१।', 'त्रैलोकतिलक गुनगहन राम। कह तुलसिदास विश्रामधाम।६४।', 'पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।७।१३०।'

(ख) 'शापबस मुनिबधू पापहारी।४३।', 'सो करउ अघारी चिंत हमारी।१।१८६।', 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।५।४४।२।'

(ग) 'तनु तजि तात जाहु मम धामा ।३।३१।१०', राम तिन्हहूँ निज धामा ।६।४४।२', 'पुनि मम धाम पाइहहु संत सब जाहिं ।६।११५।'

लीला—(क) 'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि ।१।३१', 'रामच मानस एहि नामा । सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा ।१।३५।'

(ख) 'रामकथा कलिकलुष विभंजनि ।१।३१।'

(ग) 'जग मंगल गुनग्राम राम के । दानि मुकुति धन धाम के ।१।३२।'

धाम—(क) 'चारि खानि जग जीव अपारा ।
अवध तजे तन नहि संसारा ॥
सब बिधि पुरी मनोहर जानी ।
सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी ।१।३
(ख) 'बंदौं अवधपुरी अति पावनि ।
सरजू सरि कलि कलुष नसावनि ।१।१
'देखत पुरी अखिल अघ भागा ।७।२६।'
(ग) 'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी ।
मम-धामदा पुरी सुखरासी ।
'रामधामदा पुरी सुहावनि ।
लोक समस्त बिदित अति पावनि ।१।३

टिप्पणी—८ (क) 'तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं···' इति । कीजिये—'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् । गं० श्लो० २ ।' पुनश्च—

'ससागरं महीं दत्त्वा शुद्धकाञ्चनपूर्णिताम् ।
यत्फलं लभते लोके नामोच्चारस्ततोऽधिकम् ॥' (सौर सं०)
'कोटितीर्थानि दानानि कोटियोगव्रतानि च ।
'कोटियज्ञजपाश्चैव तपसः कोटिकोटयः ॥
कोटि ज्ञानैश्च विज्ञानैः कोटिध्यानसमाधिभिः ।
सत्यं वदामि तैस्तुल्यं रामनाम न वर्तते ॥' (महारा०)।
"अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यं तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते । ३।३३।७।"

अर्थात् सागरसहित स्वर्णमण्डित समस्त पृथिवीके दानके फलसे भी अधिक नामोच्चारणका फल है। (सौर सं०)। करोड़ों तीर्थ, दान, योग, व्रत, यज्ञ, जप, तपस्या, ज्ञान, विज्ञान, ध्यान और समाधि मिलकर भी श्रीरामनामके तुल्य नहीं हो सकते, यह मैं सत्य सत्य कहता हूँ। (महारा०)। श्रीदेवहूतीजी भगवान्‌से कहती हैं कि "अहो! जिसकी जिह्वापर आपका पवित्र नाम विराजमान रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है। जो भद्र पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, वास्तवमें उन्हींने तप किया है, उन्हींने हवन किया है, सब तीर्थोंमें स्नान किया है और वे ही सच्चे वेदपाठी हैं।" (भा०)।

८ ख) 'तेन सर्वं कृतं कर्म जालं' इति। ☞ 'कर्मजाल' में का 'जाल' शब्द बड़े मार्केका है। संपूर्ण कर्मकाण्ड एक 'जाल' ही है, जिसमें पड़कर जीवका निकलना कठिन हो जाता है। यहाँ यह बड़ा ही उपयुक्त शब्द पड़ा है। 'जाल' के अनेक अर्थ हैं—समूह, विस्तार, कांड, प्रपंच, जलचरों-पशुओं-पक्षियोंको फँसानेवाला जाल, इत्यादि।

८ (ग) 'जेन श्रीरामनामामृतं पानकृत'' इति। नामको अमृत कहा है। अमृत क्षीरसमुद्रके मंथनसे निकला है। इसका रूपक कि० मं० श्लोक २ में स्वयं ग्रन्थकारने यह दिया है—'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं। श्रीमच्छंभुमुखेन्दुसुन्दर वरे संशोभितं सर्वदा॥ संसारामय भेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं। धन्यास्तेकृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतं।'

श्रीरामनामामृत ब्रह्माम्भोधि अर्थात् वेदरूपी समुद्रसे निकला। वह अमृत देवताओंको बल देने और असुरोंका नाश करनेके लिये निकाला गया और यह (रामनामृत) जापकोंको अमर और कलिमलका नाश करनेके लिये निकाला गया। वहाँ देवता और दैत्योंने मंथन किया, यहाँ शिवजीने मंथन किया। यथा 'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। १।२५।', 'सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि बामदेव नाम घृतु है। २५४।' रामायण वेदका उपबृंहणरूप है, यथा 'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।' (श्रीलवकुशमङ्गलाचरण)। अतः मानसके उदाहरणानुसार भगवान् शंकर ही मंथन करनेवाले हैं। इन्होंने 'राम' ये दो अक्षर सार जानकर ले लिये। वह अमृत देवताओंके शोकको, उनके संकटोंको, उनके आवागमनको छुड़ानेमें

असमर्थ है, पर यह अमृत अन्वद्य है और अपने आश्रितोंके सिंधुको सुखाही डालता है और सदा उनकी रक्षा बाहर भीत शत्रुओंसे करता है, यथा 'रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल।'

श्रीरामनाम अमृत है। इसके विपर्ययमें विषय विष है। 'तुलसीदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय माँगी। १४०।'

☞ भगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ करते हुए आदिमें श्रीरामना महत्व कहकर जनाया कि इस ग्रन्थमें नामकी प्रधानता दिखायेंगे इसमें प्रायः उन्हींके नामोंसे भेंट होगी जिन्हें केवल रामनामा पानका अधिकार है। केवट, वानर, भील, भालु, पशु, पक्षी, जटा शवरी और व्याध आदि।

८ (घ) 'अवलोक्य कालं' इति। अर्थात् कलिकाल बड़ा कराल पापोंका आगार है। इसमें अन्य कोई साधन सफल नहीं हो सक इत्यादि विचारकर। यथा 'यह कलिकाल मलायतन मनु करि बिचार। श्रीरघुनायक नाम तजि नाहिंन आन अधार।', केवल मलमूल मलीना।...', इत्यादि। पुनः, 'काल' (अर्थात् मृ सदा सिरपर खड़ा है, न जाने किस समय प्राण हर ले यह सोचक कालका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, वह किसीको नहीं छोड़ यथा 'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेव अंडकटाह अमित लयकारी। कालु सदा दुरतिक्रम भारी। ७।९४। यह लोग नित्यही देखते हैं। अतः 'अवलोक्य' कहा। काल नि न जाय यह सोचकर अहर्निश नाम जपते हैं। इसीसे नाम अमृत कहा। भाव यह कि श्रीरामनामामृत पान करते रहनेसे क कुछ न कर सकेगा, श्रीरामनाम अपने जापकको अविनाशी गोदमें बिठाकर सदाके लिये अमर बना देगा, फिर जन्म-म नहीं होगा। काल एवं कलिकाल सदा श्रीराम तथा श्रीरामनामसे डरता यथा 'तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ३।१३।८।', 'राम नाम केसरी कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि पालि दलि सुरसाल। १२७।'

टिप्पणी—९ 'श्वपच खल भिल्ल-जमनादि' इति। (क) श्वपच श्वानमांसभोजी, मेहतर, भंगी। वाल्मीकि श्वपचकी कथा नाभास्वा

कृत भक्तमालकी भक्तिरसबोधिनी टीकामें आई है। जैमिनि-भारतमें यह कथा कही जाती है। भगवान्ने स्वयं इनका नाम प्रकट किया। श्रीयुधिष्ठिर महाराजका राजसूय यज्ञ ब्राह्मणों महर्षियों आदिके भोजन करनेसे पूर्ण नहीं हुआ, श्रीवाल्मीकि श्वपचके भोजन करनेपर ही वह यज्ञ पूर्ण हुआ। इसी तरह मूक चाण्डाल, धर्म व्याधा, कान्हा हलालखोर, व्रजोश्वपचिन आदि भी बड़े-बड़े उपासक श्वपचशरीरमें हो गये हैं। भगवान् ब्राह्मणरूपसे मूक चाण्डालके यहाँ नित्य क्रीड़ा करते थे, कान्हाके कंधेपर चढ़ा करते थे। कान्हा हलालखोरके प्रेमकी चर्चा भक्तमालमें भी आई है।

६ ख) 'खल' से गणिका, अजामिल, व्याध आदिको ले सकते हैं; यथा 'गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना। ७।१३०।', 'गज पिंगला अजामिल से खल गने धौं कवन ।२१२।' 'खल' को 'भिल्ल' का विशेषणभी मान सकते हैं, क्योंकि ये निर्दयी हिंसक होते हैं। भिल्लका विशेषण माननेसे 'खल भिल्ल' का भाव होगा कि इनमें धर्मबुद्धिका लेश न था, ये पापरत थे। यथा 'सपनेहु धर्मबुद्धि कस काऊ ।२।२५१।', 'हम जड़ जीव जीवगनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥ पाप करत निसिबासर जाहीं ।२।२५१।'— यह स्वयं कोलभीलोंने कहा है।

६ (ग) 'भिल्ल' से शबरको भी ले सकते हैं जो बड़ा हिंसक पापी था। एक दयालु भक्तने रामनाम कानमें सुनाया था जो उसकी सद्गतिका कारण हुआ। यह कथा प० पु० पातालखंड अ० २० में है। श्रीशबरीजीभी भील जातिकी थीं। 'भिल्ल' से कोल किरात जंगली जातियोंको भी लेते हैं। हमने 'भिल्ल' से 'भील' अर्थ ग्रहण किया है, क्योंकि श्रीरामचरितमानसमें इनको कोल-किरातसे अलग गिना है; यथा 'श्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात ।२।१६४।', 'कोल किरात भिल्ल बनबासी ।२।२५०।१।', 'कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी ।२।३२१।१।'

९ (घ) 'जमनादि' इति। एक यवनकी कथा वराह पुराणमें आई है। अन्त समय उसके मुखसे जो शब्द निकला उसके अन्तिम अक्षर 'राम' थे, इतनेही से उसके सब पाप नष्ट हो गये और वह मुक्त हो गया। यह रामनामके आभासमात्रका फल है। यथा 'दैवाच्छूकरशा-

वक्केन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो। हारामेण हतोऽस्मि भूमि जल्पंस्तनु त्यक्तवान्। तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवम्।…”, “अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकरके सावक ढका ढकेल्यो गिरो हिये हहरि हराम हो हरांम हन्यो हाय हाय करत परीगो फग्ग मैं॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो नामके बात बिदित है जग्ग मैं। क० ७।७६।’

‘आदि’ से कोल, किरात, आभीर, खस आदि अन्य पापयोनियोंके लोगोंका ग्रहण हो गया।

६ (ङ) ‘हरिलोकगत नामबल’ इति। ये सब भगवद्धामको हुए। यथा ‘पाई न केहिं गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना॥ जमन किरात खस श्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम तेपि पावन होहिं राम नमामि ते। ७।१३०’, ‘श्वपच सबर खस जड़ पावँर कोल किरात। रामु कहत पावन परम होत बिख्यात।२।१९४।’

माता श्रीदेवहूतिजी भगवान् कपिलदेवजीसे कहती “यन्नामध्येयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्। सद्यः सवनाय कल्पते (कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात्)। भा० कभी जिनके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे या जिनके स्मरण करनेसे साक्षात् चाण्डाल भी यज्ञका अधिकारी हो (हे भगवन्! उन आपका दर्शनकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता इसमें कहना ही क्या?)

६ (च) ‘मति मल न परसी’ से जनाया कि श्रीरामनाम पतितपावन हैं। यथा ‘पतितपावन राम नाम सों न दूसरो। श्रीरामनामके निरंतर जपसे पाप उनकी बुद्धिको छू भी नहीं

६ (छ) ‘त्यागि सब आस’ अर्थात् अन्य समस्त साधनोंका भरोसा छोड़कर; यथा ‘सब साधन फल कूप सरित सर सागर निरासा। रामनामरति स्वातिसुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा। ‘रामनाम छोड़ जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि कूर कौर रे।६६।’ सब आशा छोड़नेको कहते हैं, क्योंकि अन्य साधन हैं, उनमें परिश्रम ही हाथ लगता है। यथा कलिकाल सकल साधनतरु है श्रम फलनि फरो सो। तपतीरथ

दान मख जेहि जो रुचै करो सो। पाएहि पै जानिबो करमफलु भरि-भरि वेद परोसो । १७३ ।’

पुनः भाव कि सब कुछ तुझे श्रीरामनामसे ही प्राप्त हो जायगा, यथा ‘रामनाम कामतरु देत फल चारि रे। ६७ ।’, ‘एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे ।६९।’, ‘कामतरु रामनाम जोइ जोइ माँगिहै। तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै ।७०।’ ; अतएव अन्य सबोंका आशाभरोसा छोड़कर रामनामका जप कर।

९ (ज) ‘त्यागि संत्रास’ इति। भाव कि रामनाम त्रासका नाशक है, नामजापकके त्रासको तुरंत नामी किसी न किसी रूपसे आकर नष्ट कर डालते हैं। रामनामको मानसमें नृसिंहकी उपमा इसी विचारसे दी है। त्रासकी तो बात ही क्या वे उसके कारणका भी नाश कर डालते हैं और कहाँ तक कहें ‘रामनाम’ डरका भी डर है। यथा ‘लाभहू को लाभ सुखहु को सुख सरवसु पतितपावन डरहू को डर है ।२५५।’’, ‘रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल। जापकजन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल। १।२७।’’, ‘दितिसुतत्रास त्रसित निसि दिन प्रहलाद प्रतिज्ञा राखी। अतुलित बल मृगराज मनुजतन दनुज हत्यो श्रुति साखी ।९३।’ (प्रह्लाद नामजापक थे, इसीसे नामीने रक्षा की)।

९ (झ) ‘भवपास असि निसित यह नाम…’ इति। भव (संसृति) को पाश (.फंदा, बंधन) कहा, इसीसे नामको ‘असि’ (तलवार) कहा, तलवारसे बंधन कटता ही है। इसी तरह कलिकलुषको जाल कहकर नामका उसे काटना कहा है, यथा ‘बिनु श्रम कलिकलुषजाल कटु कराल कटत ।१२९।’ भवपाशके लिये ‘निसित असि’ की उपमा अन्यत्र स्मरण नहीं आती। भवसिंधुके पार करने, सुखा देनेके उदाहरण तो बहुत आये हैं।

‘यह’ अर्थात् श्रीराम (नाम)। इस नामके जपनेको कहनेका कारण यह है कि जो शक्ति और जो महत्व इस नाममें है वह अन्यमें नहीं है। यह नाम सब नामोंका प्रकाशक है। उलटे नामके जपके वाल्मीकिजी उदाहरण हैं, नामाभासमात्रका उदाहरण यवन है। इत्यादि की कथायें पूर्व आ चुकी हैं। इस नामके दोनों वर्ण छत्र और मुकुटरूपसे (‘ँ’, ‘ं’) सब वर्णोंपर विराजते हैं। इत्यादि महत्व विचारिए।

नोट—६ यहाँ 'जेन श्रीरामनामामृतं' से 'त्यागि''संत्रास' जपके सम्बन्धमें तीन बातें प्रधान बताईं।—एक तो निरंतर जप, सब आशाओंका त्याग और तीसरे सब त्रासका त्याग। यही श्रीरघुनाथजीने श्रीभुशुण्डीजी तथा वानर सखाओंको दिया है। 'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। अस विचारि मोहि परिहरि आस भरोस सब ।। कबहूँ काल न व्यापिहि तोही। भजेसु निरंतर मोही ।।', 'निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। मोहि डरपेहु जनि काहू ।।'

सू० शुक्ल—इस पदमें नामका माहात्म्य है। सब आशा छोड़ योगके सेवनसे कामादि सारी बाधायें दूर हो चित्त शुद्ध हो जा फिर उन्नति करता हुआ भक्त मुक्त हो जाता है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

४७ (८१) राग रामकली

ऐसी आरती राम रघुबीर[1] की करहि मन।
हरन[2] दुख द्वंद गोविंद आनंदघन ।।१।।
अचर चर रूप हरि सर्वगत[3] सर्वदा बसत इति वासना धूप
दीपनिजबोध गतक्रोध-मद-मोह-तम प्रौढ़ अभिमान चितवृत्ति
भाव अतिसय बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोष
प्रेम तांबूल गतसूल-संसय-सकल विपुल भव वासना बीजहारी
असुभ-सुभकर्म घृत कर्न[4] दसवर्त्तिका त्यागपावक सत्वगुन[5]
भक्ति विज्ञान-ज्ञानादि[6] दीपावली अर्पि[7] नीराजनं जगनिवासं

१—'रघुबीर' शब्द ७४ में नहीं है। २ हरनि-ह०। ३—सं० प्रतिमें नहीं है, पर विना उसके पद वैठता नहीं, इससे छूटा हुआ जान है। ४—कर्न-६६। पूर्न—प्रायः औरोंमें। ५ सत्वगुन—६६, भा०, वे०, प्र०, सतगुन—रा०। सतोगुन-५१,७४, ज०, १५, आ (—भ०)। ६ बिज्ञान ज्ञानादि रा० वैराग्य विज्ञान—प्रायःऔरोंमें। ७ अर्पि—६६, रा०, ५१, ७४, (—भ०)अर्चि—भा०, वे०, ह०, प्र०, भ०। ८—जगसनिवासं-६६ लेखप्रमाद जान पड़ता है।

विमल हृदि भवन कृत सांत पर्यंक सुभसयन बिश्राम श्रीरामराजा ।
छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया ।५
[9]एहि आरती निरत सनकादि श्रुति[10]सेष सिव
[11]देवरिषि अखिल मुनि तत्वदरसी ।
जोइ[12]करै सोइ[13]तरै परिहरै कामादि[14]मल,
वदति[15]इति अमल मति दास तुलसी ॥६॥

शब्दार्थ—आरती–किसी मूर्ति, देवता, आचार्य या गुरुजन आदिके ऊपर दीपकको घुमाना 'आरती' कहलाता है। इसका विधान यह है कि चार बार चरण, दो बार नाभि, एक बार मुखके पास तथा सात बार सर्वांगके ऊपर दीपक घुमाते हैं। यह दीपक या तो घीमें भीगी वत्तियोंसे अथवा कपूर रखकर जलाया जाता है। बत्तियोंकी संख्या नहीं है। श्रीअयोध्याजीमें कई स्थानोंमें एक सहस्र बत्तियोंतककी आरती उतारी जाती है, कहीं एक, कहीं दो, तीन, पाँच, सात इत्यादि वत्तियोंका नियम है। गोस्वामीजी इस रूपकमें 'दसवर्त्तिका आरती' लिखते हैं। द्वंद (द्वन्द्व)=दो परस्पर विरोधी वस्तुओंका जोड़ा, जैसे गर्मी-सर्दी, राग-द्वेष, दुःख-सुख, दिन-रात्रि इत्यादि। यथा 'रघुनंद निकंदय द्वंद घनं। महिपाल विलोकय दीन जनं। ७।१४।२०।', 'सुरवृंद-रंजन द्वंदभंजन मनुजतन अतुलित बलं।६।११२।'=झंझट, जंजाल; यथा 'द्वंदरहित गतमान ज्ञानरत विषय विरत खटाइ नाना कस।२०४। =दुःख, कष्ट। गोविन्द=इन्द्रियोंके स्वामी='इन्द्रियोंद्वारा जानने-योग्य'–(पं० रा० कु०)।=इन्द्रियोंके जाननेवाले, प्रेरक और प्रकाशक। यथा 'गोविंद गोपर द्वंद्वहर विज्ञानघन धरनीधरं।३।३२।' ☞ यह भगवान्‌का एक नाम है। बासना=भावना।=सुगन्ध, महक;

९–इहै—भा०, ते०। ७४ में नहीं है। १० श्रुति—६६। लेखप्रमाद व०, ह०, डु०, मु० वै. ७४, वि। सुक—भा., प्र., ज. भ., दीन। ११—प्र० में देव' नहीं है। १२ जोइ—६६, भा. वे. प्र., भ.। जो—७४, ज। रा, ५१, आ. (–भ.) में नहीं है। १३—सो–७४। १४ कामादि मल–६६, आ.। कामादि-खल–ने, ज.। कामादि सब—भा.। काम सब–प्र., ह, १५, ७४। १५ बदति—६६, रा., ५१, आ,। बदत–भा. ह., ज., ७४।

यथा 'दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत।' देवपूजनमें कपूर, अगर, गुग्गुल आदि गन्धद्रव्योंको जो धुआँ उठता है, एवं वह सुगन्धित द्रव्य 'धूप' है। ☞ धूपके लिये पाँच प्रकारके द्रव्योंमेंसे किसी न व्यवहार होता है।—१ निर्यास अर्थात् गोंद। जैसे राल। २ चूर्ण। जैसे जायफलका-चूर्ण। ३ गंध। जैसे ४ काष्ठ। जैसे अगर आदिकी लकड़ी। ५ कृत्रिम कई द्रव्योंके योगसे बनाई हुई धूप। ☞ कृत्रिम धूप कई होती है। जैसे, पंचांग धूप, अष्टाङ्ग धूप, दशांग धूप, द्वादशांग षोडशांग धूप। इनमेंसे दशांग धूप अधिक प्रसिद्ध है, दस द्रव्योंका मेल होता है। पद्मपुराणानुसार कपूर, कुष्ठ, गुग्गुल, चंदन, केसर, सुगंधबाला, तेजपत्ता, खस और दस द्रव्य होने चाहिए। सालका गोंद, मैनसिल, अगर, पद्माख, मोचरस, मोथा, जटामासी इत्यादि सुगंधित धूप देनेके काममें आते हैं। धूप देना=सुगंधित द्रव्यका देना। दीप=दीपक; दिया; चिराग। आरतीके समय उस ही देवताके सामने बत्तीका दीप जलाया जाता है, जो पूजनका एक अंग माना जाता है। ☞ इसीको दीपदान वा दिखाना कहते हैं। निज=अपना; आत्म-परमात्म, यथार्थ। बोध=स्वस्वरूप-परस्वरूपका ज्ञान। =आत्म-परमात्म-ज्ञान। अधिक बढ़ा हुआ। चित वृत्ति—योग और वेदान्तके चित्तकी पाँच प्रकारकी अवस्थाओंको 'वृत्ति' कहते हैं। चित्तवृत्ति निरोध ही योगका मुख्य लक्षण माना गया है।—'योग वृत्तिनिरोधः।' (योगसूत्र)।—पर यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ स्वभाव वा प्रकृति' है। प्रवर=अत्यंत श्रेष्ठ। छीजना= दुबला वा कम होना। यथा 'जाने ते छीजहिं कछु पापी। पावहिं जन परितापी। ७।१२२।३।', छीजहिं निसिचर दिन अरु निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती। ६।७१।३।' नैवेद्य—इसका है 'निवेदन किया गया या किया जाने योग्य पदार्थ। इसीको वा बालभोग भी कहते हैं। =देवताओंके निवेदनके लिये पदार्थ। ☞ घी, चीनी, श्वेतान्न, दधि, फल इत्यादि नैवेद्य कहे गये हैं। सुभ (शुभ)=मांगलिक। ☞ नैवेद्यके पदार्थ

होते हैं, जैसे नारियलकी गरी, पंचमेवा, घी, शकर आदि। अमंगल तामसी पदार्थोंका भोग न लगाना चाहिए। श्रीरमण=श्रीसीताजीके पति। ☞ 'श्री' नाम श्रीसीताजीका है। मानस और विनयमें इसका प्रयोग इस अर्थमें अनेक स्थलोंमें हुआ है। यथा—'तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी। ३।११।१८।' 'गुनसील कृपा परमायतनं। प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।' (शिवकृत स्तुति), 'वसहु हृदय श्री अनुज समेता। ३।१४।१०।', 'लेइ जानकिहि जाहु गिरिकंदर। आवा निसिचरकटक भयंकर। रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सरधनुपानी। ३।१८।११-१२।', तथा यहाँ 'ऐसी आरती रामरघुबीरकी करहिं' के संबंधसे 'श्रीरमण' श्रीजानकीपति हैं। तांबूल=पानकी वीड़ी। अर्थात् कत्था चूना लगा हुआ और उसमें सौंफका जीरा, कस्तूरी, गरी, सुपारी, लौंग, जावित्री और इलायची आदि सुगन्धित द्रव्य पड़ा हुआ जो पान होता है, उसे ताम्बूल, पानकी वीड़ी एवं पान भी कहते हैं। तांबूलपत्र पानके पत्तेको कहते हैं। बासना=विषयकी कामना, इच्छा वा आशा। वीज=मूल कारण। कर्न—यह शब्द संस्कृत शब्द 'करण' से लिया हुआ जान पड़ता है। 'करन' (करण)=इन्द्रियाँ। यथा 'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता। १।११७।५।'* वर्त्तिका=वत्ती। सत्वगुण=अच्छे कर्मोंकी ओर प्रवृत्त करनेवाला गुण। =साधु और विवेकशील प्रकृति। सत्त्व=सांख्यके अनुसार प्रकृतिके तीन गुणोंमेंसे एक जो सबमें उत्तम है और जिसके लक्षण ज्ञान, शान्ति और शुद्धता आदि हैं। ☞ इस गुणके कारण अच्छे कर्ममें प्रवृत्ति, विवेक आदिका होना, माना गया है। नीराजन (सं० नीरांजन)=आरती। जगनिवास=जगत् है निवासस्थान जिसका। =वासुदेव। शांति=मनोविकार रागद्वेषादि किसी प्रकारकी मानसिक वा शारीरिक हलचल उपद्रवादिके न रह जानेवाली अवस्था। पर्यंक=पलंग। सयन (शयन)=शय्या,

---

* गीताभाष्यमें 'करण'=ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि। (शांकर)।=दश वाह्येन्द्रिय और चार अन्तःकरण—(शंकरभाष्य)=मन सहित वाणी, हाथ और पैर आदि पंचकर्मेंद्रिय। (श्रीरामानुजभाष्य)। परन्तु यहाँ दशवर्त्तिकाके संबंधसे दश इन्द्रियाँ ही अर्थ ज्ञात होता है।

बिछौना, सेज । = सोना । = सोनेकी क्रिया । विश्राम = आ प्रमुख = प्रधान । = इत्यादि; इन मुख्योंके अतिरिक्त और यथा 'बंधुक सुमन अरुन पदपंकज अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि गी० १।२३।' तत्र = वहाँ । परिचारिका = सेविका, दासी । यत्र = त्याग—सांसारिक पदार्थों और विषयों आदिको छोड़ने की ☞ त्याग करनेवाला पुरुष निष्काम होकर परोपकारके अन्यान्य सब शुभ कर्म करता रहता है और विषयवासना सुखोपभोग आदिसे किसी प्रकारका सम्बंध नहीं रखता। गी अनुसार फलकी आशा न रखना 'त्याग' है ।

पद्यार्थ—रे मन ! द्वन्द्व दुःखके हरनेवाले, गोविन्द और आनन्द रघुकुलवीर श्रीरामचन्द्रजीकी आरती इस प्रकार कर ।१। चर-अ (जगत्) हरिका रूप है, वे सर्वत्र हैं और सदा सबमें बसे अर्थात् प्रभु ही व्याप्य और व्यापक दोनों हैं †—यह जो भावना सुगन्ध है, इसकी धूप दीजिये, (भाव कि चित्तमें सदा ऐसी भा रक्खो, यही धूप देना है) । स्वस्वरूप-परस्वरूप-ज्ञान दीपक है, (जिसके प्रकाशसे) क्रोध-मद-मोहरूपी अन्धकार नष्ट होकर भिमानमें पड़ी हुई चित्तकी वृत्ति (रूपी बत्ती) क्षीण होती जाती २। अत्यन्त निर्मल श्रेष्ठ भाव श्रेष्ठ मांगलिक नैवेद्य है, जो श्री रामचन्द्रजीको परम सन्तुष्ट करनेवाला है। प्रेम पानकी बीड़ा

---

† 'सर्वगत' और 'सर्वदा बसत' के एकार्थी होनेसे पुनरुक्ति-सी जान टीकाकारोंको अर्थ करनेमें अड़चन पड़ी, इससे उन्होंने केवल भावार्थ कहकर दिया है । अर्थान्तर ये हैं—'१ 'चराचररूप जो जंगम स्थावर है, उन रामचन्द्र सदा सबमें स्थित होके बसते हैं, यह जो दृढ़ भाव है ।' (च.) । २- चराचररूप हैं और सर्वभूतोंमें प्राप्त होकर सदा सबकालमें 'बसते हैं, यह (डु०) । ३–'चराचर यावत् जीवमात्र हैं, उन सबोंके अन्तर्गत जो हरिरूप सर्वदा बसता है, यह समताकी वासना जो शुद्ध मनकी चाह है वही धूप (वै०) ४--भगवान् चर और अचररूप, सर्वव्यापक और सदा रहनेवा (भ०) । ५--चराचर जीवमात्र भगवान्के रूप हैं, वे सदा सबमें स्थित हैं, बसी हुई इस इच्छाका धूप दीजिये । (वीर) । ६–अपनेमें यह भावना 'कर भगवान् रामचन्द्रजी जड़ चेतन सबमें सदा बसते हैं । (दीन) ।७–भगवान चेतन सबमें सदा बसते हैं' '। (वि०) ।

जिससे समस्त शूल और संशय दूर होते हैं और जो भव (जन्म-मरण)-वासनाके बीजकी, अर्थात् भवकी कारणरूप वासनासमूहको, हरनेवाली है*।३। शुभाशुभ कर्म घी है, (दसों कर्म-ज्ञान) इन्द्रियाँ दस बत्तियाँ हैं, त्याग अग्नि है, सत्वगुण प्रकाश है, भक्ति, विज्ञान और ज्ञान आदि दीपावली हैं—इनसे (अर्थात् भक्ति, विज्ञान, ज्ञान आदि दीपावलीमें शुभाशुभकर्मरूपी घीमें डूबी हुई दसों इन्द्रिय-रूपी बत्तियोंको रखकर और उन्हें त्यागाग्निसे जलाकर सत्वगुणरूपी प्रकाश उत्पन्न कर उसकी) जगन्निवासको आरती अर्पण करके निर्मल हृदयरूपी भवनमें शान्तिरूपी सुन्दर मंगलमय पलंगपर शुभ सजी हुई सेजपर श्रीरामराजाको विश्राम करा†। वहाँ क्षमा, करुणा आदि प्रधान दासियाँ (सेवामें रहती) हैं। जहाँ (अर्थात् जिस हृदयरूपी भवनमें) भगवान् रहते हैं, वहाँ भेद-माया नहीं जाने पाती (अर्थात् उसका वहाँ गुजर वा प्रवेश नहीं है)। ४-५। इसी आरतीमें श्रीसनक, श्रीसनातन, श्रीसनन्दन और श्रीसनत्कुमारजी, श्रुतियाँ, शेष, शिव, देवर्षि नारद और समस्त तत्वदर्शी मुनि लगे रहते हैं। जो भी यह आरती करे, वही कामादि विकारोंको छोड़कर भवपार हो जायगा।—निर्मल बुद्धिवाले तुलसीदासजी ऐसा कहते हैं।‡ ६

---

* अर्थान्तर—'कष्ट और सब प्रकारके संशयसे रहित और असंख्य भव-वासनाओंके बीजको नाश करनेवाले 'अटल अनुराग' का बीड़ा बनाकर अर्पण कर।' (दीन)।

† अर्थान्तर—१ 'भक्ति, वैराग्य, विज्ञान मंदिरके भीतर ताकोंकी दीपावली हैं, ऐसे नीरांजनसे जगनिवास भगवान्‌को अर्चिकर शान्तिरूप पर्यङ्क करै, जिसमें श्रीरामजीका अच्छी तरहसे शयन विश्राम है।' (पं० रा० कु०)। २—पलंगपर सुलाकर उन्हें विश्राम करा। (भ०)। ३ पलंगपर विश्रामहेतु शयन करावे। (वीर)। ४-पलंगपर शयन करा। (दीन)। ५-शयन कराके उन्हें विश्राम सुख दे। (वि०)

‡ अर्थान्तर—१ तुलसीदास कहते हैं कि सब निर्मल बुद्धिवाले ऐसा कहते हैं कि जो कामनाओंका त्याग करके करेगा, वही तरेगा। (वीर)। २—निर्मल मतिवाले परम ज्ञानियोंका सेवक तुलसी ऐसा कहता है। (दीन)।

नोट—१ इस भजनमें पूजनके षष्ठाङ्ग—धूप, दीप, तास्बूल, नीरांजन और शयन—कहे गये हैं। यह पड़ो पूजा हुई।

२. इस आरतीमें गोस्वामीजीने मानस-पूजा की है। आरती भक्ति और ज्ञानका दिव्य मिलन है।

३. इस पद्यमें 'आरती' और शरीरसंवंधी गुण-दुर्गुणमें सुन्दर साङ्गरूपक बाँधा गया है। अतः भक्तोंके लिये परम मन है।(वीर, दीन)।

४ अगस्त्यसंहितामें कही हुई पूजनविधिके अनुसार विनय करते हुए प्रथम अङ्गन्यासद्वारा मन थिर करनेके लिये नेत्र, मुख, कर, पद आदिमें इन्द्रियोंकी वृत्ति लगाई। (पद इन्द्रियोंको प्रभुमें लगाकर मन्त्रजप करना चाहिए। अतएव 'सदा जपु राम जपु…' यह उपदेश मनको दिया। (पद ४६)। मानसी पूजा कहते हैं। (वै०)।

५ यह पद्य रामभक्तोंके लिये परममननीय है। त्यागसे इं की गति अन्तर्मुखी होगी, अविद्याका नाश होकर कर्मोंका हो जायगा। यह परमहंसी साधना है। (दीन)।

टिप्पणी-१ 'ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।…' (क) 'आरती करहि' का भाव कि तू बहुत आर्त्त है, बहुत दुखी तुझे हम दुःखकी दवा बताते हैं कि 'आर्त्तिकी हरनेवाली' आरती फिर, किसकी आरती करें, यह बताते हैं कि 'राम रघुबीर' की 'राम' शब्दसे अद्वैतवादियोंके निर्गुण अथवा रमणाद्राम आदि बोध होता है। 'राम' कई हैं।—परशुराम, बलराम, शालग्राम। कहते हैं कि उन 'राम' की आरती कर जो रघुकुलमें 'त्याग, विद्या, पराक्रम और धर्म' इन पंचवीरताओंसे युक्त श्रीदशरथन होकर अवतरे हैं। वे दशरथनन्दन होकर इन्द्रियों द्वारा भी योग्य हुए, सबको सुलभ हुए, नहीं तो वे तो गोतीत हैं, अगोचर अव्यक्त हैं। उनको कौन जान सकता? उन सगुण ब्रह्म आरती कर। वे स्वयं आनन्दघन हैं और दूसरोंपर आनन्दकी करके उनके सारे दुःखद्वन्द्वोंको हर लेनेवाले हैं।

२ (ख) 'हरन दुख द्वंद्व' इति। मानस और विनय आदिमें द्वंद' का प्रयोग कतिपय अर्थोंमें किया गया है। द्वन्द्व स्वयं ही

रूप हैं। उदाहरण शब्दार्थमें आये हैं। पुनश्च यथा 'द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय। हृदि बसि राम काम मद गंजय ।७।३४।८।' विनयमें दुःखभी अनेक प्रकारके कहे गये हैं।—(१) इन्द्रियजनित दुःख। यथा 'तुलसिदास इंद्रियसंभव दुख हरे बनहि प्रभु तोरे ।११६।' (२)--द्वैतजनित संसृति दुःख। यथा 'जो निज मन परिहरै बिकारा। तौ कहँ द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा ॥१२४।'—इसीको मनसम्भव दारुण दुःख कहा है। यथा 'मन संभव दारुन दुख दारय। दीनबंधु समता विस्तारय ।७।३५।' (३)–दैहिक, दैविक, भौतिक एवं मन, वचन, कर्मके दुःख। जन्म-जरा-मरण, आदि त्रिविध दुःख। यथा 'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्बहे। भवखेदछेदनदच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे ।७।१३।' (वेदस्तुति)। (४) काल-कर्मस्वभाव-गुणकृत दुःख। यथा'काल कर्म गुन सुभाउ सबके सीस तपत। १३०।', 'रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाउ गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ।७।२१।' (५) कामक्रोधादिजनितदुःख। यथा 'मैं केहि कहउँ बिपति अति भारी ··· तम मोह लोभ अंहकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा ॥ अति करहिं उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि जानि अनाथा ।१२५।' 'लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराजबंधु खल मार। तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार ।.६३।' (६)—आशारूपी वा आशाजनित दुःख। यथा 'अब मोहि देत दयानिधि दारुन आस पिसाची।', 'आशा परमं दुःखं।' (७)–भवसंभव दारुण दुःख। यथा 'कहु केहि कहिय कृपानिधे भवजनित बिपति अति।···जद्यपि मैं अपराधभवन दुखसमन मुरारे। ११०।' (८) दारिद्रय दुःख। यथा 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'

☞इस प्रकार 'दुख द्वंद' के ये अर्थ होते हैं—(१) दुःख और द्वन्द्व। (२) द्वन्द्वकृत दुःख। (३) दुःखद्वन्द्व [(समस्त पद)। अर्थात् दुःख वा जंजाल; दुःखका भय।)] इत्यादि।

(ग) ☞'रघुबीर' के सम्बन्धसे 'हरन दुख द्वंद' कहा। अर्थात् पंचवीरतायुक्त हैं, अतएव निश्चय ही हरेंगे, इसमें किञ्चित् संदेह नहीं।

१ (घ) 'गोविंद' इति। अर्थात् इन्द्रियोंके स्वामी हैं, प्रेरक हैं, नियंता हैं तथा इन्हींको सत्तासे इन्द्रियोंकी सत्ता है, इन्हींके कारण सब इन्द्रियाँ चेतन हैं। यथा 'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल

एक तें एक सचेता ॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अवधपति सोई। १।११७।' श्रीरामजी 'गोविन्द' हैं, अतः जनित समस्त दुःखोंको हरण करेंगे। यथा "हृषीकेस सुनि ज़ाउँ बलि अति भरोस जिय मोरें। तुलसिदास इंद्रियसंभव हरें बनहि प्रभु तोरे ।११६।", "नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गताम्। गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः। म० भा० ३४२।७०।" अर्थात् पूर्वकालमें नष्ट होकर रसातलमें गई हुई को पुनः वराहरूप धारण करके प्राप्त कर देनेसे देवताओंने वाणीद्वारा 'गोविन्द' कहकर उस समय मेरी स्तुति की-थी। विन्दति इति गोविन्दः। जो पृथ्वीको प्राप्त करे, उसका नाम है)।—इस तरह यह प्राचीनकाल से भगवान्का नाम है। पद ४६ टि० १ (घ) देखिए।

१ (ङ) 'आनंदघन' इति। श्रीराम आनंदघन हैं। यथा सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप ।७।४७।', अतः वे दुःखद्व हरकर समता-भाव विस्तारेंगे। यथा 'मनसंभव दारुन दुख दीनबंधु समता बिस्तारय। ७।३५।' ☞ 'घन' के दोनों अर्थ, और समूह, यहाँ लग सकते हैं। आनन्दरूपी जलकी वृष्टि करते हैं, दुःख द्वन्द्वको हरणकर सब चराचरमें समता-भाव हृदयमें कर जीवको आनन्दमय बना देते हैं और आनंदरूप हैं।

[(च) किसी-किसीने 'गोविंद आनंदघन' को आरतीका मानकर अर्थ किया है कि यह आरती 'इन्द्रियोंको संयत करने तथा आनन्दघनको प्राप्त करानेवाली है'।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "श्रीरामजी सच्चिदा स्वरूप हैं।··· सद्रूप (सत् रूपकी भावनासे राग-द्वेष, मान- हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्व दुःखोंका हरण करते हैं; चित्-रूपकी से गोविन्दरूपसे साक्षात्कार होनेपर वे जीवके इन्द्रिय-अन्तः के अभिमानी होनेके विकारका हरण करते हैं। पुनः आनन्द भा नासे वे आनन्दकी वर्षा करते हैं।"]

२ (क) 'अचर-चर-रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत' इति। न्तर्गत श्रीसनकादिक कृत रामस्तुतिके "सर्व-सर्वगत सर्व बससि सदा हम कहँ प्रतिपालय।" इस अंशसे 'मलान करनेसे और भावार्थ स्पस्ट हो जाता है। यहाँ जो 'अचर-चर-रूप' है,

वहाँ 'सर्व' है। 'सर्वगत' दोनोंमें है। यहाँ जो 'सर्वदा बसत' है, वही श्रीसनकादिकजीका 'सर्व उरालय बससि सदा' है। इस तरह हमने जो अर्थ पद्यार्थमें किया है वही ठीक प्रमाणित होता है। इसी प्रकार आगे पद ५४ में भी 'सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्नो। भुवन भवदंग०' कहकर 'आदि मध्यांत भगवंत त्वां सर्वगतमीस पस्यंति जे ब्रह्मवादी' कहा है। 'सर्वगत' कहकर 'सर्वदा बसत' कहनेका आशय यह है कि भूत, भविष्य, वर्तमान, आदि मध्य अन्त, सभी कालोंमें सदा रहते हैं, ऐसा कोई समय नहीं है कि जब न रहते हों या न रहें।

भगवान् कैसे 'सर्वगत सर्वदा बसत' हैं यह भा० ११।११ के भगवद्वाक्योंसे स्पष्ट हो जायगा। वे उद्धवजीसे कहते हैं—'न तथा बद्धयते विद्वांस्तत्र तत्रादयन्गुणान्। प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सविताऽनिलः।१२।' (अर्थात्) जैसे आकाश सब जगह व्याप्त होता हुआ भी सबसे अलग है, जैसे सूर्य जल आदिमें प्रतिबिंबरूपसे रहता हुआ भी उसके कम्परूपी धर्मसे जुदा है, जैसे वायु सर्वत्र चलता हुआ भी निर्लेप है; वैसे ही आत्मा इस देहमें स्थित रहकर इन्द्रियोंके स्वभावानुसार उनके गुणोंको ग्रहण करता हुआ भी उन सबसे भिन्न है।

श्रुतिके प्रमाण भी सुनिये—'वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्नदृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥ श्वे० १।१३॥ तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः। एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।१५। सर्वव्यापिनमात्मनं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।···१६।" अर्थात् जिस प्रकार अपने आश्रय काष्ठमें स्थित अग्निका रूप दिखाई नहीं देता और न उसके सूक्ष्म स्वरूपका ही नाश होता है और ईंधनरूप कारणके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है, वैसेही इस देहमें प्रणवके द्वारा आत्माका ग्रहण हो सकता है।१३। जैसे तिलोंमें तेल, दहीमें घी, स्रोतोंमें जल और काष्ठोंमें अग्नि देखे जाते हैं, वैसेही सत्य और तपद्वारा बारंबार प्रयत्न करनेसे वह आत्मा दिखाई देता है।१५। सर्वव्यापी आत्माको दूधमें विद्यमान घीके समान देखता है।१६।

['सर्वगत सर्वदा बसत' अर्थात् कारणरूपसे सबसे भिन्न हैं। सूक्ष्मरूपसे अन्तर्यामी होकर सबके उरबासी हैं। (पं० रा० कु०)]

वे० भू० पं० रा० कु० दासजीका मत है कि “सर्वदा बसत
अनुरोधसे 'सर्वगत'का सुसंगत अर्थ यह होगा कि 'श्रीहरि
अचर सभी रूपोंमें जाकर अवतार लेते हैं। कुब्जाम्र एवं पीप
अवतार लेनेकी कथा पुराणों एवं आनन्द रामायणमें है। पाषा
अर्चाविग्रह एवं स्वयंव्यक्त शालग्राम तो भगवदवतार हैं
अचरमें जाना यही है और चररूपमें तो 'मीन कमठ सूकर नर ह
आदि सभी अवतार हैं ही।”

२ (ख) 'अचर चर रूप हरि' इति। चराचर सारा जगत् हरिरू
है। यथा 'जानत हूँ हरिरूप चराचर मैं हठि नयन न लावौं। १४
'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। कि० ३।'—इससे जना
कि विराट्रूपसे सब आपही हैं। उपनिषदोंमें भी जगत् अ
जीवको ब्रह्मका शरीर कहा है।—विशेष पद ५४ 'सर्वमेवात्र त्व
भूपालमनि' में देखिए।

चराचरको हरिरूप कहा है। रूपके अंग होते हैं। विश्व
भगवान्के अंगोंका वर्णन मानस लंकाकांड दोहा १५ में है। ज
'पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अंग-अंग बिश्रामा॥ भृकु
बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥ जासु घ्रा
अश्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥ श्रवन दि
दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥ अधर लो
जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला। आनन अन
अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥ रोमराजि अष्टा
भारा। अस्थिसैल सरिता नस जारा॥ उदर उदधि अधगो जातना
जगमय प्रभुका बहु कल्पना॥ अहंकार सिव बुद्धि अज मन स
चित्त महान। मनुज बास सचराचररूप राम भगवान।६।१५।'

२ (ग) चर-अचरको हरिरूप कहकर दोनों प्रकृतियोंको परमपुरु
के अधीन और एकरस जनाया। तथा परम पुरुषको सब प्रका
सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतिपादन किया।

२ (घ) 'इति वासना धूप दीजै' इति। पं० रामकुमारजीने '
बासना सर्वदा बसत' ऐसा अन्वय किया है और वीरकवि
'बसत इति बासना' का अर्थ 'हृदयमें बसी हुई ऐसी इच्छा' कि
है। परन्तु मेरी समझमें 'बसत' के पश्चात् 'इति' होनेसे 'बस
का अन्वय पूर्व आये हुये शब्दोंका साथ माँगता है। 'इति' श

पूर्वपदापेक्षी होकर 'वासना' से साकांक्ष्यसंबंध स्थापित करता है। 'वासना' के अर्थ 'भावना' और 'सुगंध' दोनोंही यहाँ गृहीत हैं। ['वासना' का अर्थ है—'वासयति कर्मणा योजयति जीव-मनांसि इति-वस-णिच्-युच्-टाप्।'—भावना, ज्ञान, संस्कार। न्यायशास्त्रके अनुसार वासनाका नाम है—'देहात्मबुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार। देवदत्तशा०)]

[श्रीवैजनाथ आदि टीकाकारोंके भाव—(१) धूपमें देवदार, गुग्गुल, कपूर, अगर, तगर, घृत और मिठाई आदि सुगंधित वस्तुयें मिलाकर अग्निपर रखकर उसकी सुगंधित धूम प्रभुको घ्राण करानेसे उसकी प्रसादी जब अपनी नासिकामें जाती है, तब उसके प्रभावसे अन्तःकरणकी कुवासनाका नाश हो जाता है और उसमें भक्तप्रेमकी वासना जागृत होती है। यहाँ क्षमा, दया, समता, शान्ति आदि ही धूपकी देवदार आदि सुगंधित वस्तुएँ हैं। इनको शुद्ध मन बटोरकर सन्तोषरूपी अग्निपर रक्खे। चराचरमात्रके अन्तर्गत व्यापक हरिरूप सदा बसता है, यह समताकी वासना जो शुद्ध मनकी चाह है, वही इसकी सुगंधित धूप है। इस धूप देनेके प्रभावसे तन, धन, घर, स्त्री, पुत्र, इन्द्रियसुख आदिकी जो कुवासना हृदयमें है, उसका नाश हो जायगा।" (वै०)

(२) 'इस चरणमें भगवान् श्रीरामजीके सत्‌रूपकी भावना है कि वे चराचरमें सत्तारूपसे सदा निवास करते हैं। अतः चराचर उनका शरीर एवं स्वरूप है।...सर्वत्र सत्तारूपसे विराजमान प्रभुकी पूजा करनेका साधन निष्काम कर्म है।...परमात्माके द्वारा जीवोंकी कर्मोचित जातियोंमें प्रवृत्ति होती है, वह सब जगत्‌में व्याप्त है; अर्थात् अपने वर्णोचित आराध्य व्यक्तियोंमें भी वह विराजमान है। अतः अपने कर्मके द्वारा उसकी पूजा होती है; इसमें आराध्य व्यक्ति देवदारु आदि सुगंधित वस्तु हुए, ज्ञानपूर्वक इनकी स्ववर्णोचित कर्मोंके द्वारा आराधना करनी ज्ञानरूपी अग्निपर रखकर सत्तारूप प्रभुको धूप देना है। इस तरह सबसे वासना छूटकर प्रभुमें ही होती है।..." (श्री० श०)

(३) धूपसे दुर्गन्ध दूर होती है। इस वासनासे भेदभाव छूटकर समता भाव आजायगा'। (भ०)]

तंत्रसारमें धूपनिर्माणका प्रकार यों बतलाया है—'गुग्गुलं स दारुमंत्रं मलयसंभवम्। ह्रीवेरमगरुं कुष्टं गुडं सर्गरं संघन हरीतकी नवनखी लाक्षा मांसी च शैलजम्। षोडशांगं विदु दैवे पैत्रे च कर्मणि॥' तंत्ररूपमें धूपबत्ती (अगरबत्ती बना विधिभी है। 'रोग रोगहररोगदकेशाः सुरतरुलघुजतुपत्रविशे वक्रविवर्जितवारिजमुद्रा धूपवर्तिरिह सुन्दरि भद्रा॥' अर्थात् हरीतकी, गुड़, जटामांसी, देवदारु, लाक्षा, अगरु, तेजपत्र, सरल नखी और मोथा मिलाकर धूप या धूपबत्ती बनाना चाहिए। (तंत्र शारदातिलक १-कलावती ४७)।☞ दाहिने हाथकी मध्यमा, अनामि और अंगुष्ठको मिलाकर धूप ग्रहण कर दिखाना चाहिए। अंगु अग्रभागसे धूप पकड़े। नेत्रोंके सामने उठाकर घण्टा बजा चाहिये। मंत्रोच्चारणके साथ 'जय' ध्वनि तथा स्वाहाकार करनी चाहिए। धूप दिखाकर देवताके वामभागमें स्थापित देना चाहिए।—'उत्तार्य दृष्टिपर्यन्तं घण्टां वामदिशिस्थिताम्। वाद वामहस्तेन दक्षहस्तेन चार्पयेत्॥ दीपं दक्षिणतो दद्यात् पुरतो न वामतः। वामतस्तु तथा धूपमग्रे वा न तु दक्षिणे॥" (रुद्रया तंत्र, तंत्रसार, प्रथम परिच्छेद)—(पं० जानकीनाथ शर्मा)।

टिप्पणी—२ (ङ) 'दीप निज बोध' '' इति। धूपोपचारके प दीपक जलाकर दिखाया जाता है। दीपकसे प्रकाश होता है, अंधका नष्ट होता है। वैसेही ज्ञानभी प्रकाशरूप है। मानसमें ज्ञानदीपक विस्तृत रूपक ही है। अतः 'निजबोध' को दीप कहा। 'निज बो आत्मज्ञान है जिसे 'निज स्वरूप', 'निज रूप' अर्थात् स्वस्वरू ज्ञान कहा है; यथा 'देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि नि स्वरूप अनुरागै॥ अनुराग जो निज रूप तें जगतें बिलक्षण देखि संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये। १३६।' वै० वि श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि 'निज बोध' से 'स्वस्वरूप-परस्वरू ज्ञान' अभिप्रेत है।

दीपक कान्ति प्रदान करता है। उससे अंधकारका नाश हो है। यथा 'दीपस्तमो नाशयति दीपः कान्ति प्रयच्छति। तस्माद्दी दानेन प्रीयतां मे जनार्दनः॥ प० पु० उत्तर। ३१।' अर्थात् दीप अं कारका नाश करता है, कान्ति प्रदान करता है, अतः दीपदान भगवान् मुझपर प्रसन्न हों।

आत्मबोधसे क्रोध-मद-मोहरूपी तमका नाश होता है। यथा 'आतम-अनुभव-सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥ प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा।७।११८। २-३।' और अभिमानमय चित्तवृत्ति क्षीण हो जायगी।

२ (च) जिस प्रकार दीपकका स्वरूप स्नेहयुक्तवर्त्तिस्थ होता है और वह निर्वात स्थानमें स्थित होकर स्वयं प्रकाशित होता है तथा दूसरोंको भी प्रकाश प्रदान करता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानभी निर्विषय होकर हृदयको प्रदीप्त करता है, मन-बुद्धिसहित सभी इंद्रियों-को प्रकाशित करता है और स्वयं प्रकाशित होता है। आत्मज्ञान-को दीपका रूपक वेदान्तमें भी दिया गया है। उपनिषद् ग्रन्थोंमें तो इसे तेजोमय परमप्रकाश कहा गया है। दीपदानका विधान और महत्व प० पु० उत्तर खण्ड, वराहपुराण, कालिकापुराण, विधान-पारिजात, गरुड़ पु० और विविध तन्त्रग्रन्थोंमें विशद रूपसे वर्णित है। (दे० द० शास्त्री)।

२ (छ) 'प्रौढ़ अभिमान चितवृत्ति छीजै' इति। स्वस्वरूपकी विस्मृति हो जानेसे जीव अपनेको देह अथवा देहको अपना घर समझने लगता है, देहाभिमानी हो जाता है, उसका चित्त देहाभिमान-मय हो जाता है। यथा 'जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो। मायावस स्वरूप बिसरायो।१३६।' ☞ स्वस्व-रूपज्ञान होनेसे चित्तकी अभिमानमय वृत्ति घटती जाती है। ☞ यहाँ चित्त दीया (दीपक) है जिसमें बत्ती रखकर जलाई जाती है। चित्तकी वृत्ति बत्ती है, जो जलनेपर घटती जाती है। 'निज-बोध' जलता हुआ प्रकाशमय दीपक है।

[वियोगी हरिजीने 'प्रौढ़ अभिमान' का अर्थ छोड़ दिया है, संभवतः मोह-मदमें ही इसे समझ लिया है। वे अर्थ करते हैं—"आत्मज्ञानका दीपक जलाकर क्रोध, अहंकार और अज्ञानके अंधकारका नाश कर दे"। दीनजी 'प्रौढ़ अभिमान' और 'चित्त वृत्ति' को पृथक्-पृथक् दो वस्तु मानते हैं। वीरकविजीने 'बढ़ा हुआ अभिमान और चित्तको चंचलता' अर्थ किया है। रामतत्त्वबोधिनीमें "प्रौढ़ अभिमानयुक्त चित्त वृत्ति' अर्थात् स्त्री-पुत्र-धन आदिमें अभिमानको लेकर जो चित्तकी वृत्ति स्थित होती है", उसे भी 'तम' माना गया है। और वैजनाथजी 'ढीठा अभिमान चित्तको वृत्ति अर्थात् अन्तर्दृष्टिकी मन्दता,

सो मिट जावे, रामतत्त्व देख पड़े"—ऐसा अर्थ करते हैं।
से तात्पर्य है कि जो सदा सिरपर चढ़ा बैठा रहता है।
टीका और पं० रामकुमारका वही मत है जो मेरा है]

२ (ज) 'छीजै' का भाव कि अभिमान प्रगाढ़ है, दिनों
घटता जाता है, दब जाता है। उसका पूर्णतया निर्मूल या
होना शरीरके रहते कठिन है, मौका पाकर फिर अंकुरित हो
है। यथा 'विषय-कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर
७।१२२।' सत्वगुणके उदय होनेपर वासनाओंरूपी भवबीज
शुभाशुभ कर्मों तथा समस्त संशयोंके नाश होने और भक्ति,
विज्ञानका पूर्ण विकास होनेपर उसका नाश-सा हो जाता है।

[पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—"...ज्ञानदीपकमें
ग्रंथि छूटनेके पश्चात् जीवका कृतार्थ होना कहा गया है।
सम्पूर्ण बत्तीका जलना है, वही यहाँ 'प्रौढ़ अभिमान चित्त
छीजै' से कहा गया है। किन्तु वह कार्य यहाँ आगे भक्तिके
होगा। 'प्रौढ़ अभिमान' का तात्पर्य यह कि उसका स्थूलांश
विज्ञान-दीपकतकमें ही छूट गया। सूक्ष्मांश रह गया, जो
साधनोंसे भी नहीं छूटा, प्रौढ़ होनेसे रह गया।" "इस चर
विज्ञानदृष्टिसे चिद्रूप भगवान्के अंशरूपमें अपने रूपकी भा
कही गई है।"

श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "प्रभुको दीपदान दिखानेसे
ज्योति जो अपनी दृष्टिमें पड़ती है, उसके प्रभावसे मोहादि नष्ट
जाते हैं। दीपमें रूईकी बत्ती जलती है। यहाँ जाग्रत्, स्वप्न
सुषुप्ति तीन अवस्थायें कपासके तीन फाल वा छिलके हैं, सत्व-
तम बिनौले हैं—इनको निकालकर तुरीयावस्थामें शुद्ध आत्म
दृढ़ता ही रूईकी दृढ़ बत्ती बनावे। शुद्ध बुद्धिरूपी घृतमें
विरहरूप अग्निमें उसे जलावे, इत्यादि निज बोधरूप दीपदान
अर्थात् शुद्ध आत्मरूपसे सुबुद्धिसहित चित्ताकी स्नेहमयवृत्ति भग
रूपमें लीन बनी रहे। अनुभवरूप प्रकाश दृष्टिमें पड़ते ही क्रोध
तम जाता रहेगा और प्रौढ़ाभिमानमय चित्तवृत्ति अन्तर्
मंदता मिटकर रामतत्व देख पड़ेगा।"]

टिप्पणी—३ 'भाव अतिसय बिसद प्रबर नैवेद्य सुभ'
(क) दीपदानके बाद नैवेद्य अर्पण किया जाता है। नैवेद्य

मांगलिक और पवित्र चाहिए। यहाँ भक्तका प्रभुमें अतिशय निर्मल श्रेष्ठ भाव होना श्रेष्ठतर पवित्र नैवेद्य है। नैवेद्यसे प्रभुको संतोष होता है, वैसेही भक्तके इस प्रकारके भावसे उनको परम सन्तोष होता है—ऐसा सन्तोष होता है कि फिर कुछ चाह नहीं रह जाती, वे भक्तके वश हो जाते हैं, उसके स्नेहमें बँध जाते हैं, उसे त्याग नहीं सकते। यथा 'बहुत नात रघुनाथ तोहि मोहि अब न तजे बनि आवे ।११३।', 'भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन। तजि ममता मद मान भजिय सदा सीतारवन। ७।९२।" 'प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। ७।९२।', 'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। ७।११९।'

☞ 'भाव' के दोनों अर्थ हैं—एक तो 'अन्तःकरणकी भावना'; जैसे, सेवक-सेव्य, अंश-अंशी इत्यादि। इसमें 'निष्ठा' भी आगई। दूसरे 'प्रेम'। इन दोनोंसे श्रीरामजीको परम संतोष होता है। यथा 'सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम राम परितोषे। १।३४२।६।', इत्यादि। भावपर रीझनेके अनेक प्रमाणोंसे भक्तमाल भरा हुआ है। चोरी आदिपर भी भगवान् रीझे हैं।—परन्तु 'प्रेम' को आगे 'तांबूल' कहा है, इस लिये 'प्रेम' अर्थ यहाँ ठीक नहीं है जो टीकाकारोंने किया है। यहाँ पहिला ही अर्थ गृहीत होगा।

३ (ख) श्रद्धाके साथ साधन-भक्तिको उन्नत करते रहनेसे धीरे-धीरे निष्ठा और रुचिकी प्राप्ति होती है। उसीको भाव-भक्तिके नामसे पुकारते हैं। विशेष शुद्ध सत्त्वस्वरूप, प्रेमरूप सूर्यकी किरणोंके समान दीप्ति तथा रुचि अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनकी अनुकूलताकी अभिलाषा, अथवा उनसे सुहृदभावकी इच्छा—इनके द्वारा चित्तको स्नेहमय करनेवाली भक्तिको 'भाव' कहते हैं। 'यथा 'भावरसामृतसिंधु' ग्रन्थे—'शुद्ध सत्वविशेषाद्वा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्। ।रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥' सूर्यके उदय होते समय जैसे किरणें सौम्य प्रकाशके रूपमें होती हैं, उसी प्रकार प्रेमकी सौम्यावस्थाको 'भाव' कहा जा सकता है। क्योंकि यही भाव धीरे-धीरे प्रेमदशाको प्राप्त होता है। यथा "प्रेम्णास्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते। सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रु पुलकादयः ॥" अर्थात् प्रेमकी पहली अवस्थाको ही 'भाव' कहा जाता है। इसमें अश्रुपुलकादि सात्विक भावोंका

स्वल्पमात्रामें उदय होता रहता है। अन्तःकरणका स्नेहमय हो भावका लक्षण है। भक्तोंके भेदके कारण ये रसात्मक भाव पाँच भा विभक्त हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार (कान्ता

३ (ग) किसी वस्तुके पानेके लिये सबसे पहले उसके साथ घनिष्ठ अतितीव्र संबंध स्थापित करनेकी आवश्यकता है। वैसे भाव, चाहे वह पिता-पुत्र, सखा-सख्य, सेवक-स्वामी, प्रिया-प्री इत्यादिका हो, चाहे संसारमें जितने भी नाते प्रेम के हैं, उनमेंसे भी हो, रघुनाथजीके साथ कोई न कोई नाता अवश्य स्थापित लेना चाहिए। भक्तजन ऐसा ही करते हैं। इतना ही नहीं अपना जो प्रेमसंबंध पुत्र, पिता, माता, भ्राता, प्रेमी वा प्रेमि प्रति हमने जोड़ रक्खा है, यदि वे समस्त नाते (भाव) हम उ हटाकर एकमात्र श्रीरघुनाथजीसे जोड़ लें, तब तो फिर कहना क्या? सोनेमें सुहागा!—'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये भावै॥ ७६॥"

एक भी नाता भगवान्से जोड़ लेनेसे भगवत्प्राप्ति उसी ज हो जा सकती है और अनेकों भाग्यशालियोंको हुई भी है। भा संख्या नहीं है। मित्रभाव ही नहीं, भगवान्के प्रति शत्रुभावसे उनकी प्राप्ति होती है। महर्षि पर्वतने तो रावणको यही सम्मति था कि शत्रु भावसे शीघ्र प्राप्ति होगी। रावण, कुंभकर्ण, मेघ हिरण्यकशिपु और शिशुपाल आदिको शत्रुभावसे ही तो भग प्राप्ति हुई।

पद्म पु. उत्तरखण्डमें श्रीशिवजीका वाक्य भी है—'भक्त्या स्नेहभावेन द्वेषभावेन वा पुनः॥ केऽपि स्वामित्वभावेन बुद्ध्या बुद्धिपूर्वकम्। येन केनापि भावेन चिन्तयन्ति जनार्दनम्। इह सुखं भुक्त्वा यान्ति विष्णोः सनातनम्॥' अर्थात् भक्तिसे, स्ने द्वेषभावसे, स्वामि-सेवक-भावसे अथवा विचारपूर्वक बुद्धिके द्वारा किसी भी भावसे जो जनार्दनका चिन्तन करते हैं, वे इस लो सुख भोगकर अन्तमें श्रीविष्णुके सनातन धामको जाते (१२८।२०-२२)।

३ (घ) सारांश यह कि भाव जो भी हो दृढ़ हो, प्रभु उस भावके लेते हैं—

"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी॥...
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥
५।४८।४-६॥"

संसारी संबंधोंमें ममत्व होना कच्चे धागेके समान है, जिसे टूटते देर नहीं लगती। स्वार्थबाधा आते ही वह बंधन टूट जाता है। विषयजनित सारा प्रेम अपने लिये होता है, न कि प्रेमास्पदके लिये। इसीसे वह टूटता भी शीघ्र है। कोई सम्बन्धी मरा, धन नष्ट हुआ, इत्यादि घटनाओंसे हमको दुःख होता है, क्योंकि हमारा उनमें ममत्व है। जिसमें ममत्व नहीं होता, उसके नाशसे हमें दुःख भी नहीं होता। अतः जब सबमेंसे हमारा ममत्व निकलकर अनन्त, अविनाशी, सर्वसंपन्न इत्यादि गुणविशिष्ट प्रभुमें लग जाता है, तब दुःख कहाँ? दुःख तो अनित्य पदार्थमें ममत्व होनेसे था और अब तो नित्यके साथ संबंध जोड़कर हम भी नित्य हो गए।—'न मे भक्तः प्रणश्यति'। अब तो इतने मात्रसे प्रभु हमारे माता, पिता, गुरु, भ्राता, भाई-बंधु, सखा, सुहृद इत्यादि सभी कुछ हो गए और हम उनके पुत्र, शिष्य, भाई, भाई-बंधु, सखा, सुहृद सभी कुछ बन गए।

☞ देवहूतीजीने भगवान् कपिलदेवसे भी ऐसा ही कहा है। वे कहती हैं कि आपका मार्ग केवल आपके गुणोंके श्रवणसे जाना जाता है। आप निश्चय ही मनुष्योंके भक्तिभावसे परिपूर्ण हृदय-कमलमें निवास करते हैं—'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज, आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्। भा. ३।९।११।'; आपके भक्तजन जिस-जिस भावनासे आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं। यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय। भा. ३।९।११।'

३ (ङ) भा. ११।१२।१३ में भगवान्ने स्वयं उद्धवजीसे भावकी श्रेष्ठता कही है—"उद्धव! गोपियोंमेंसे बहुतसी तो ऐसी थीं जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानती थीं। वे मुझे भगवान् न जानकर केवल प्रियतम ही समझती थीं। और जार।-भावसे मुझसे मिलनेकी

आकांक्षा किया करती थीं। उन साधनहीन हजारों अव केवल संगके प्रभावसे मुक्त परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हुई।

भा. ११।११।३३ में भी कहा है कि 'जो भक्त अनन्य निमग्न होकर भगवान्‌की आराधनाकर परम प्रेमके बलसे स उनके अपूर्व माधुर्यका आस्वादन कर रहे हैं, वे ही भाव सिद्ध भक्त हैं—यह मेरा मत है। मैं कौन हूँ? कितना बड़ा हूँ? कै —इन बातोंको जाने, चाहे न जाने, किंतु जो अनन्यभावसे मेरा करता है, वह मेरे विचारसे मेरा परम भक्त है।'

“ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥'...”

☞भाव-भक्तिकी साधनासे क्रमशः भक्तके चित्तमें रतिका उदय हो भावमय देहकी स्वतः ही स्फूर्ति होती है। जब रति गाढ़ होक मय भक्तिमें परिणत होती है, तब भक्त अपने कर्मानुसार भावम प्राप्तकर उस नित्य देहमें नित्य ही भगवत्संग प्राप्त करते हैं।

३ (च) देवदत्त शास्त्रीजी—“गोस्वामीजीने अतिशय विश भावोंका नैवेद्य लगाया है। यह भारतीय विज्ञानका उत्कृष्ट है। हम जिस समय जिस भावसे अपने स्वरूपका अनुभव क उसी तरहके भावसे जगत्‌को उपहार देनेके लिये मूर्ति बना लेते हैं। अनुभूत सत्यको प्रगट करनेके आलम्बनका नाम मू है। भाव, भाषा, राग, रागिनी, रंग-ढंग इत्यादि सभी उपादान हैं। आर्योंकी पूजा दैवी सम्पत्तिप्रधान है। सां मनुष्योंका ज्ञानाधार मस्तिष्क सदैव नाना प्रकारकी चिन्ताओं भावतरंगोंसे दोलायमान रहता है। ये तरंगें हमें मूल भाव अनुसार विभिन्न प्रकारके रंगोंमें अनुरंजित कर देती हैं। सत्य, दान, आदि दैवी भावोंके आवेशसे हमलोग विभिन्न हुआ करते हैं। इन सब द्वैत भावोंको एकत्रकर परमात्माके श्री में समर्पित कर एकनिष्ठ बन जाना भावोंका नैवेद्य चढ़ा गोस्वामीजी हमें सचेत कर रहे हैं कि—सावधान। आप ज्ञानीकी भाँति उदार बनाओ। सत्यमें प्रतिष्ठित हो। सर्वत्र एकरूपमें एक भावसे ग्रहण करो।”

[बैजनाथजी—नैवेद्य जो भगवान्‌को भोग लगाया जाता है पानेसे षट्रसकी चाह क्षुधा आदि सब मिट जाती है, सन्तो

ल बढ़ता है। यहाँ अपना परमोज्वल भाव परमोत्तम नैवेद्य है। यही प्रसादी पानेसे अपने उरमें परम संतोष होगा, आत्मरूप देह परम पुष्ट पड़ेगी और ज्ञानबल बढ़ेगा।]

३ (छ) "श्रीरमन परम संतोषकारी" इति। भाव कि जो श्रीकी भी श्री हैं, जिनसे लक्ष्मीजीका श्रियत्व है, 'हरि-हरहिं हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति' हैं, तब उनको किस बातकी कमी है? वे तो पूर्णकाम हैं। वे केवल भक्तहित भक्तका भाव ग्रहण करते हैं, उसके प्रेमको पान करते हैं। यथा 'तुम्ह परिपूरन-काम जानसिरोमनि भावप्रिय। जनगुनगाहक राम… १।३३६।', 'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।१।३२६।'

नोट—६ नैवेद्य देवताके दक्षिण भागमें रखना चाहिये, आगे या पीछे नहीं। कुछ ग्रन्थोंका मत है कि पक नैवेद्य देवताके बायें और कच्चा दहिने रखना चाहिए। अपने-अपने इष्टदेवका भोग लगाया हुआ प्रसाद पाने (खाने) का बड़ा फल है।

[पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि इस चरणमें ब्रह्मके आनंदरूपकी भावना कही गई।]

टिप्पणी—३ (ज) 'प्रेम तांबूल…' इति। नैवेद्यके पश्चात् मुखशुद्धिके लिये तांबूल अर्पण होता है। पानका बीड़ा खानेसे मुखमें सुगंध आती है, दुर्गन्ध दूर होती है। प्रेमरूपी तांबूलसे दुर्गन्धरूप विविध विषयवासनाएँ दूर होती हैं। ताम्बूल खावें भगवान् और उससे दूर हों वासनाएँ भक्तकी! क्या खूब! भाव यह कि उस प्रेम-तांबूल प्रसादको पानेसे भक्तके ये विकार दूर हो जाते हैं।

बाबू शिवप्रकाशजी लिखते हैं कि 'मुखकी वासना हरण करना परमेश्वरके विषयमें नहीं बनता। इस कारण परमेश्वरको समर्पणकर जो प्रसादका आस्वादन करते हैं, उनको नैवेद्य तांबूल आदि अपना गुण देते हैं।'

श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "भगवत्में शुद्ध प्रेम बना रहना पान-भोग है, जिसकी प्रसादी 'प्रेमानन्द' पानेसे त्रिताप, जन्म-मरण-दुःख इत्यादि शूल और समस्त प्रकारके संशय जाते रहेंगे।"

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी लिखते हैं कि "नागवल्ली क्रमुकं च खदिर सौध एवःच। एला लवंग कर्पूर जावित्री बरांकम्॥'

अर्थात् पान, सुपारी, कत्था, चूना, एलायची. लवंग, कपूर, जायफल और दारुचीनी, ये दशों वस्तुयें मिलाकर उत्तम तांबूल होती है। इसी प्रकार मानसी-पूजामें दशधा भक्तियुक्त दशों प्रेममय बना देना भगवान्‌को पान भोग लगाना है।

नोट—७ ☞ यहाँ प्रेमको तांबूल कहा है। इसी तरह श्रीप्रि जीने 'भक्तिरसबोधिनी', में भक्ति महरानीके शृङ्गारमें 'चा 'बीरी' कहा है। 'भगवान्‌की इन्द्रियतृप्ति करनेकी इच्छा, स सुख देनेकी इच्छा' का नाम 'प्रेम' है।

नोट—८ इससे चरम राष्ट्रीयता टपकती है। पानमें प्रथ कत्था, चूना, सुपारी और इलायची ये ही चार चीजें छोड़ी जा इन चारों वस्तुओंका रंग, गुण और उत्पत्ति इत्यादि विभिन्न हैं। किन्तु जब पानमें संयुक्त होते हैं, तो सब एकरंग, एकरूप और एकगुणके बन जाते हैं। पान लगाते यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि प्रातःकाल हो तो सुपारी दोपहर हो तो कत्था अधिक और रात्रि हो तो चूना अधिक छोड़ना च राजनिघंण्टमें लिखा है कि ताम्बूलके अग्रभागमें परमायु, मूल में यश और देशमें लक्ष्मी वास करती है। पान खानेपर तृतीय जो रस बनता है वह अमृततुल्य है, रसायन है।

यह तो हुई पानकी संक्षिप्त परिभाषा। अब गोस्वामी संयोजनापर भी ध्यान दीजिये। हमारे धर्ममें अमृत ज्ञानका। अतः पान ज्ञानका रूपक है। इलायची, कत्था, और चूना ये चतुर्वर्णके निदर्शक हैं। गोस्वामीजीका मन्त्र कि ज्ञानोपार्जन करो, जातीय संगठन करो, परस्पर अनु अनुरंजित (लाल) हो जाओ, तभी सकल संशय शूल गत ताम्बूल घनिष्ठ मैत्री विश्वस्त प्रेमका प्रतीक माना गया है। गोस्वामीजीने प्रेमसंगठनमें भगवत्प्रेममें ताम्बूलका रूपक नि किया है। (देवदत्ताशास्त्री)।

टिप्पणी—३ (क) 'गत सूल संसय सकल···' इति। शूल प्रकारके कहे गये हैं। यथा 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ ···विषय मनोरथ दुर्गम नाना। नाम को जाना॥ ७।१२१।२९-३२।' मोहादिके कारण जो दुर्गम विषयोंके मनोरथ उठते हैं, वे 'सब शूल' हैं। 'संसय'

ति। न्यायके सोलह पदार्थोंमेंसे 'संशय' भी एक है। दो या कई तोंमेंसे किसी एकका भी मनमें न बैठना, अर्थात् अनिश्चयात्मक ान वा संदेह 'संशय' कहलाता है। इससे इसकी संख्या नहीं कर कते। जैसे, संसार असत्य है तो तापत्रयका अनुभव क्यों होता ? 'राम' ब्रह्म हैं, तो 'नारि बिरह मति भोरि' कैसे हुये ? इत्यादि ंशय हैं। पद १२१ से कुछ समझमें आ जायगा, अतः उसे यहाँ द्धृत करते हैं—

"देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई॥
जौ जग मृषा ताप त्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रम ते दुख होइ बिसेषे॥
सुभग सयन सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै॥
कोटिहु नाव पार न पाव सो जब लगि आपु न जागै॥..."

पद १०६ 'संदेह सोक संसय भय हारी' भी देखिए।

सकल संशयोंका निर्मूल होना कहकर जनाया कि जो जड़-चेतन-ी गाँठी हृदयमें अनादिकालसे बँधी पड़ी है, वह कट जाती है ौर जीव सुखी हो जाता है। यथा 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते र्वसंशयाः। मुण्डक २।२।८।' (इस श्रुतिमें ब्रह्मका साक्षात् कर ने पर हृदय ग्रन्थिका टूटना और सारे संशयोंका नष्ट होना कहा या है। वही काम प्रस्तुत पदमें 'प्रेम तांबूल' से होना कहते हैं। ाङ्करभाष्यमें बुद्धिमें स्थित अविद्यावासनामय कामको अर्थात् दयमें जो कामनाएँ आश्रित हैं उनको 'हृदयग्रन्थि' कहा है। इस रह 'शूल' का भाव इसमें आगया। 'लौकिक पुरुषोंके ज्ञेय पदार्थ षयक संपूर्ण सदेह, जो उनके मरणपर्यन्त गङ्गाप्रवाहवत् प्रवृत्त होते हते हैं', इन्हींको 'सर्वसंशयाः' कहा है। प्रस्तुत पदमें जो 'संसय कल' है, वही श्रुतिका 'सर्व संशयाः' है।

३ (ञ) 'भव बासना बीज हारी' इति। वासनाएँ ही भव (जन्ममरण) ी कारण हैं। मरते समय जो बासना हृदयमें होती है, प्रायः उसीके अनुकूल योनिमें जन्म लेना पड़ता है। यथा—

"जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं।
ुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं॥१२३॥"
बहु बासना बिबिध कंचुक भूषन लोभादि भरयो।
चर अरु अचर गगन जल थलमें कौन स्वाँग न करयो॥६१॥"

‘अन्ते मतिः सा गतिः’ प्रसिद्ध ही है। प्रेमसे वासनाका नाश है। श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम करनेसे सांसारिक वासना अनुरागरूपी सरितजलधारामें बह जाती हैं। यथा ‘उर कछु बासना रही। प्रभुपदप्रीति-सरित सो बही ॥५।४६।६।’ श्रीराम नुरागमें लवलीन होना, उनमें निरन्तर नित्य नवीन प्रेम रखना ‘ताम्बूल’ अर्पण करना है।

वासना हृदयका मल’ है। विना श्रीरामपदानुरागके छूटता। अनुराग होनेसे भव और उसका बीज दोनों नष्ट हैं। यथा ‘तुलसिदास भवरोग रामपदप्रेमहीन नहिं जाइ’ ‘हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे।’’ र अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।८२।’

श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंसे कहा है कि ज प्रेमोन्मत्त होकर कभी हँसता, कभी रोता, कभी कीर्तन इत्यादि है तब उस भक्तिके प्रबल प्रभावसे वासनाबीजोंके दग्ध हो तथा चित्त और शरीरके भगवद्भावमें रंगे रहनेके कारण वह बन्धनोंसे छूटकर श्रीअधोक्षज भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। ७।७।३४-३६—‘निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा, भक्तिप्रयोगेण धोक्षजम्।३६।’—वही प्रेम यहाँ तांबूल है।

३ (ट) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि ‘ताम्बूल-भोजनसे शूल निवृत्त होती है, संशय दूर होता है और मुखकी वासना होती है।’

नोट—६ ताम्बूल अर्पण करनेके बाद नीरांजन अर्थात् होती है। आरती दीपदानमें घीमें डूबी हुई बत्तियाँ रखकर जलाकर उतारी जाती है। अब यहाँ रूपकमें घी, बत्तियाँ, दीपदान आदि क्या हैं सो बताते हैं।

टिप्पणी—४ (क) ‘असुभ सुभ कर्म घृत कर्न दसवर्तिका’’ शुभाशुभ कर्म घृत है। दशों कर्मज्ञानेन्द्रियाँ दस बत्तियाँ हैं। खूब घीमें डूबी हुई बत्तियोंसे की जाती है, जिससे घी औ अच्छी तरह जलनेसे खूब प्रकाश होता है, अन्यथा नहीं। शुभाशुभ कर्मोंमें दिनरात लिप्त रहती हैं। यही बत्तियों डूबना है। जैसे आरतीमें बत्ती दश, वैसेही इन्द्रियाँ दश। शु सवासिक कर्मोंके भस्म हो जानेसे इन्द्रियोंमें सत्वगुणका

होता है और वे सांसारिक विषयोंसे बहिर्मुख होकर भगवत्‌की ओर लगती हैं। आगे जो कर्म होते हैं, वे निष्काम शुभाशुभफल-वासनारहित होते हैं जो बन्धनकारक नहीं हैं। अग्निसे बत्तियाँ जलती हैं तब प्रकाश होता है, विना जले प्रकाश नहीं होता। वैसे ही विना त्यागके इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होंगी और न शुभाशुभ कर्म नष्ट होंगे। अतः त्यागको अग्नि, इन्द्रियोंको बत्तियाँ, शुभाशुभकर्मोंको घी और सत्वगुणको प्रकाश कहा।

['कर्न' पाठसे तो दशवर्त्तिकाका रूपक स्पष्ट ही है। 'पूर्ण' पाठ हो तो 'करण' का अध्याहार ऊपरसे करना होगा। वैजनाथजी 'वैराग्यसहित नवधाभक्तिको दस बत्तियाँ मानते हैं।']

४ (ख) '...भक्ति विज्ञान ज्ञानादि दीपावली...' इति। अब आरती उतारनेका पात्र दीपदान चाहिए, जिसमें दशों बत्तियाँ एक पंक्तिमें अलग-अलग दीपकोंमें रक्खी जायँ। आरतीके पात्र बने हुए मिलते हैं, जिनमें दीपकोंकी पंक्तिकी पंक्ति बनी रहती है; वही दीपावली है। इन्हीं दीपकोंमें एक-एक बत्ती रक्खी जाती है। इन दस बत्तियोंके रहनेके स्थान क्या हैं, सो बताते हैं।—ज्ञान, विज्ञान, भक्ति आदि वे दीपावली हैं। दस दीपक हैं, इसीसे तीन (भक्ति, ज्ञान, विज्ञान) को कहकर शेषको 'आदि' से जना दिया। बत्तियोंमें अग्नि लगा-लगाकर अर्थात् उन्हें जलाकर दीपावलीमें रखते हैं, तब उनसे भगवान्‌की आरती होती है। * भाव यह कि पहले त्याग-पावकसे जब सत्वगुणरूपी प्रकाश होने लगा तब इन्द्रियाँ भक्ति-विज्ञानादिमें स्थान पाने योग्य होती हैं। त्यागही पर समाप्ति नहीं है। भगवत्-समीपता प्राप्त न हुई, तब उनके जलनेसे कुछ अधिक लाभ नहीं। भगवान्‌की समीपताके लिये भक्ति आदिकी आवश्यकता है, इनसे सांसारिक विषयोंसे विमुख होकर इन्द्रियाँ प्रभुकी ओर लगेंगी। बत्तीमें लौ उठती है, वही इन्द्रियोंका भगवान्‌में लवलीन होना है।

[त० बो० टीकाका मत है कि "यहाँ आरतीके पात्रका रूपक नहीं कहा, ध्वनिसे फलित होता है कि बत्तीका अधिष्ठान आरतीका पात्र है। दशों इन्द्रियरूप बत्तियोंका अधिष्ठान शरीर है। इस शरीररूप मन्दिरमें सत्वगुणका उदय प्रकाशरूप है। त्यागका आश्रय

वैराग्य है। वैराग्यके स्वरूपका आविर्भाव होनेपर उसके बल पीछे त्याग होता है।"]

४ (ग) 'नीराजनं जगनिवासं' इति। आरती करनेमें 'जगनिवास' नाम दिया और आगे शयन-विश्राममें 'श्रीरामराया' पद दिया भेद साभिप्राय है। भक्ति-विज्ञान, ज्ञानादि दीपावलीमें इन्द्रियवर्ति जलेंगी, तब तो इन्द्रियाँ सर्वत्र एक प्रभुको ही देखेंगी,—'निजप्रभुम देखहिं जगत', 'मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवंत'—यह भा निरन्तर रहेगा। ज्ञान क्या है यह प्रभुने स्वयं श्रीमुखसे बताया कि "ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं। और, शयन विश्राम तो चराचररूपका हो नहीं सकता, शयन आ राजा महाराजाका उचित ही है। अतः 'श्रीरामराजा' को शय विश्राम कराना कहा। पुनः, उपक्रम है 'आरती राम रघुवीर की' उसका उपसंहार भी 'श्रीरामराया' पर जनाया। अर्थात् आरती यह पूरी हुई।

४ (घ) ☞ इस आरतीमें उपक्रम और उपसंहारके बीच 'गोविंद', 'आनंदघन', 'हरि', 'सर्वगत सर्वदा बसत' और 'श्रीरम क्रमसे 'राम रघुबीर' के विशेषणात्मक वा गुणक्रियासम्बंधी नाम साभिप्राय प्रयुक्त हुये हैं। 'गोविंद, आनंदघन' के भाव ऊपर क गये हैं। 'हरण दुःख द्वन्द्व' के संबंधसे 'हरि' नाम दिया। यह गु क्रियावाचक नाम है, अर्थात् जो जीवोंके क्लेशको हरे वह 'हरि' है धूआँ फैलता है। व्यापककी भावना ही की-जा-सकती-है, और सेवा क्या की जा सके? अतः वासनाके संबंधसे 'सर्वगत स बसत' पद दिया। 'श्री' ऐश्वर्य्यद्योतक नाम है। 'श्रीरमण' का भा ऊपर टि० ३ (छ) में दिया गया है।

टिप्पणी ५ (क) 'विमल हृदि भवन कृत सांत पर्यंक सुभ सयन' इति। आरतीके पश्चात् शयन होता है। भगवान् सोते थोड़े हैं, य भी उपासकोंकी माधुर्य उपासनाकी भावना है। उपासकोंकी कल्पनाके अनुसार भगवान् भी उनके प्रेमवश उनका प्रेम रखनेके लिये वैसा ही करते हैं—प्रेमवश रसास्वादन करते हैं। नामदेवके हाथसे दू पिया। धनाजीकी रोटी खाई, वृन्दावनसे गोपालजी साक्षी दे नीलाचल खुरदहा आये। जैमलजीके यहाँ मानसिक भावनानुसार पलंगपर शयन करते देखे गए। कर्माबाई तथा गोदा अंबाजीके

खिचड़ी खाते हैं। गोविन्ददासजीकी कढ़ी (डाकौरसे छः कोस पश्चिम) खाते हैं 'इत्यादि' भक्तपराधीनताकी कथायें प्रसिद्ध ही हैं। अतः विश्राम भी करते हैं। इसीसे 'विश्राम' करानेमें 'राजा' विशेषण दिया। ☞ सगुणोपासनाको ही यह गौरव प्राप्त है। भक्तके लिये धूप, दीप, नैवेद्य आदिके कारण सुकुमार सरकार महाराजाओंके महाराज अवश्य थक गये होंगे। अतः विश्राम कराया गया।

"विश्राम महलमें सुन्दर स्वर्ण मणिजटित पलंगपर कोमल सुगंधित शय्यापर, जहाँ अतर, फुलेल, उगालदान, पीकदान और दर्पण आदि सब वस्तुयें उपस्थित रहती हैं, होता है। यथा—

"लरिका श्रमित उनीद बस सयन करावहु जाइ।...
भूप बचन सुनि सहज सुहाये। जटित कनक मनि पलँग डसाये॥
सुभग सुरभि पयफेनु समाना। कोमल कलित सुपेती नाना॥
उपवरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनि मंदिर माहीं॥
रतनदीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनै जान जेइ जोवा॥
सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाये॥१।३५६।"

—यह पलंग और शय्याका किंचित् दर्शन है। महल भी मणिमन्दिर समान चाहिए। विमल हृदय ही वह महल है। 'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥१२५।'—ये चोरा जब तक हृदयमें रहते हैं, जबतक विषयवासनारूपी मल उसमें भरा रहता है, तबतक उसमें 'श्रीरामराजा' का निवास नहीं हो सकता। कहाँ तो चक्रवर्ती महाराज और कहाँ मैला घर!! वासना, मान-मद आदि ही हृदयका मल है। यथा 'हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुखत्यागे।८२।', 'हरि निर्मल मल ग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहिं सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥१८५।', 'जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम। तुलसी कबहुँ कि होत हैं रबि रजनी एक ठाम॥'

इसीसे भक्त कविने कामारि शिवजीसे प्रार्थना की है कि "करि कृपा हरिय भ्रमफंदु कामु। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि रामु॥१४।" अतः विमल हृदय जो मोहजनित मलसे बिल्कुल रहित है उस महलको 'विश्रामभवन' बनाया।

शान्ति (अर्थात् सहज सुख) निर्मल हृदयरूपी मणिमन्दिरमें बिछा हुआ सुन्दर पलंग है। खड़बड़में विश्राम नहीं मिलता।

'शुभ शयन' इति। मङ्गलमयी सुसज्जित सेज 'शुभ सेज' है। ऊपर मानसके उद्धरणमें सेजका उदाहरण भी है—'सेज रुचिर रचि राम उठाये'। [चरखारी टीकाकारने भी 'शयन' का अर्थ 'सेज' किया है पर 'शुभ शयन' का अर्थ किया है कि 'सुख ही सेज है।' प्रायः अन्य टीकाकारोंने शयनका अर्थ 'सुलाना' किया है। पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "शयन विश्राम", अर्थात् लेटे हुये विश्राम कर रहे हैं। विश्राम करनेके योगसे शयनका यहाँ लेटना ही अर्थ संगत है, निद्रायुक्त सोना नहीं। विश्राम करनेका यह भी भाव है कि अब जीवकी वासनाओंके अनुसार इसकी इच्छाकी पूर्त्ति करनेके लिये एवं इसके संग नाना योनियों में दौड़नेका उनका श्रम निवृत्त हुआ; यथा 'तू निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो।१३६।"] पद १२१ (३) में 'सुभग सयन' और २२४ में 'तू एहि बिधि सुख सयन सोइहै' शब्द आये हैं, वहाँ भी 'शयन' का अर्थ 'सेज' है।

'बिमल हृदि…' का खुलासा भाव यह हुआ कि हृदय शान्त होनेपर भगवान् उसमें स्थिर होते हैं, अन्यथा नहीं।

५ (ख) 'छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका…' इति। यह शयनागार है। यहाँ स्त्रियाँ ही सेवामें रहती हैं, यह 'परिचारिका' शब्दसे स्पष्ट किया। इससे सूचित किया कि यह महारानीजीका महल है जहाँ महाराज विश्राम करते हैं; इसीसे वहाँ सेवामें पुरुष नहीं रह सकते। परन्तु यहाँ महारानीका नहीं कहा। इसका भाव मानसके 'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत (देखियत) भिन्न न भिन्न।' से स्पष्ट हो जाता है। आरती 'राम रघुबीर' की कही, अतः अन्तमें भी 'राम राया' स्पष्ट कहा। पर 'श्रीराम' के 'श्री' में ध्वनिसे श्रीमहारानीजीका भी शयन साथ ही साथ सूचित कर दिया है। [चरखारीटीकाकारनें भी 'श्री' से महारानीजीका अर्थ लिया है। त० बो० टीकाका मत है कि "या, अपनी बुद्धि ही महारानीरूप है, उसको स्वामीके साथ शयन कराया।]

☞ क्षमा, करुणा आदि स्त्रीलिंगवाचक दिव्य गुण परिचारिकायें हैं, जो शयनागारमें सेवामें रहती हैं। परिचारिकायें अगणित हैं, इससे संख्या नहीं की। प्रधान परिचारिकायें ये हैं—श्रीरघुनाथजीके पक्षकी सखियोंमें श्रीचारुशीलाजी, श्रीसुभगाजी, श्रीवरारोहाजी,

श्रीहेमाजी, श्रीक्षेमाजी, श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीपद्मगंधाजी आदि प्रधान यूथेश्वरियाँ हैं। श्रीमहारानीजीके पक्षकी सखियोंमें श्रीप्रसादजी, श्रीकृपाजी, श्रीरूपलताजी, श्रीचन्द्रकलाजी, श्रीविमलाजी, श्रीसहजाजी, श्रीविश्वमोहिनीजी, श्रीअह्लादिनीजी, श्रीसंदीपिनीजी, श्रीउर्मिलाजी, श्रीचंपकलाजी, श्रीकरुणाजी, श्रीक्षमाजी, श्रीसुशीलाजी आदि प्रधान हैं। (श्रीकृपानिवासजी, श्रीप्रेमकलीजी, श्रीकरुणासिंधुजी तथा श्रीजानकीचरितामृत से)।

५ (ग) 'यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया' इति। उस शयनागारमें विपक्षी कोई नहीं रहने पाता। क्षमा-करुणा आदि सदा श्रीमहाराज-महारानीजीका रुख देखा करती हैं कि हमारी सेवा लें। ये सब जीवोंको प्रभुके सम्मुख करनेवाली हैं। 'भेद माया' जीवोंको विमुख करनेवाली है, यह (भेद माया) इनके मारे वहाँ रहने नहीं पाती।

'वहाँ भेद-माया नहीं रहती', इस कथनका यहाँ प्रयोजन क्या है? प्रयोजन यह है कि माया भी तो प्रभुकी दासी है; यथा 'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।७।७१। जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥', 'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा। ३।१५।५।', 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी। सो माया बस भयो गोसाईं। बँधेउ कीर मर्कट की नाईं।७।११७।'; इससे संभव है कि लोग समझें कि यह माया भी उन परिचारिकाओंमें होगी। अतएव इस संभवित संदेहकी निवृत्तिके लिये यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें उसका निषेध किया।

'यत्र हरि तत्र नहिं भेद-माया' का तात्पर्य यह है कि जिस प्राणीके हृदय-मंदिरमें श्रीरामजीका निवास होता है, उसको अविद्या माया नहीं व्यापती। यथा 'हरिसेवकहि न व्याप अविद्या।७।७८।२।'

यही माया जो जीवको ब्रह्मसे अलग करनेवाली है, जो जीवके हृदयमें बिमुखतारूपी भेद डालनेवाली है, यही 'भेद माया' है। 'ईश्वर कौन है? हम सब ही तो ईश्वर हैं', इत्यादि भेद है जो मायाने 'जीव' और 'ब्रह्म' के बीचमें डाल दिया है। 'हम उसका भजन क्यों करें? ईश्वर हमसे भिन्न कोई पदार्थ वा तत्व है ही नहीं।,' इत्यादि भेद हैं। भेद-बुद्धि उत्पन्न करनेवाली माया 'भेद माया' है। 'भेद मति'—

पद ७ देखिए। 'भेद माया' पद १० में भी आचुका है। यथा 'देहि कामारि श्रीरामपदपंकजे भक्तिमनवर्त गत भेदमाया।'

शाङ्करमतानुसार भेदमाया वह है जो जीव और ब्रह्मकी एकतामें विघ्न डालती है, अर्थात् जो जीवको ईश्वरसे भिन्न बताती है वही भेदमाया है।

☞ गोस्वामी तुलसीदासजी विशिष्टाद्वैत घरानेके हैं। वे श्रीनरहर्य्यानन्दजीके शिष्य हैं,जो अनन्त श्रीस्वामीरामानन्दजीके प्रिय शिष्य अनन्तानन्दजीके शिष्य थे। वे 'जीव अविनाशी है', यह मानते हैं। और यह भी मानते हैं कि 'जीव और ईश्वर एक नहीं हैं। और न जीव ईश्वर हो सकता है।' प्रमाण यथा 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी', 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ।७।१११।', 'ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया वस्य जीव सचराचर॥''परबस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥७।७८।४,७।'

जीव, ईश्वर और मायाका स्वरूप भगवान् श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीसे बताया है कि 'माया ईस न आपु कहँ जान कहिय सो जीव। बंध-मोक्ष-प्रद सर्बपर मायाप्रेरक सीव ॥३।१५।'

पुनश्च, 'यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा,
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्। बा०मं०'

'हरिसेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि व्यापइ बिद्या।
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर।'
'सरिता जल जल निधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।'

उपर्युक्त उद्धरणोंसे सिद्धान्त निकलते हैं कि—(१) ईश्वर अखण्ड-ज्ञान-स्वरूप है। जीव अखंडज्ञानस्वरूप नहीं है। जीवका धर्मभूत ज्ञान संकोच-विकासवाला है। इसका ज्ञान एकरस नहीं रह सकता। (२) ईश्वर मायाका प्रेरक है। उसकी प्रेरणासे माया जीवको व्यापती है। (३) ईश्वर मायाके वश नहीं है। जीव मायाके वश होनेवाला है। उसकी गति हरिके अधीन है। (४) ईश्वर ही जीवको मायाबंधनसे छुड़ानेवाले हैं। जीव स्वयं मायाके बंधनसे अपने पुरुषार्थसे नहीं छूट सकता। पर है वह भी अविनाशी!

“नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। श्वे० श्व० ६।१३।”. जीव अविनाशी है और ईश्वरसे भिन्न है। इसीसे जीवको अनेक कहा है। तब प्रश्न होता है कि ‘जीव है क्या ?’, ‘अविनाशी है तो रहता कहाँ है ?’—इसका उत्तरभी हमें मानसमें मिलता है—‘ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती ।१।२०।४।’ अर्थात् ब्रह्म और जीव दोनों एक नहीं हैं, दो हैं। पर दोनोंका स्वाभाविक ही सदा साथ है, वे एक-दूसरे से कभी अलग नहीं होते। जहाँ जीव है, वहीं उसके साथ ब्रह्म भी रहता है। चाहे जीव मायावश होकर उसे भलेही भूल जाय, पर वह जीवको कभी नहीं भूलता। यथा ‘तैं निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो। १३६।’ श्रुति भगवती कहती है—‘यस्याऽऽत्मा शरीरं’ (आत्मा जिसका शरीर है)। पुनश्च ऋग्वेद (मंडल १, सूक्त १६४, मंत्र २०; अथर्व वेद काण्ड ९, सूक्त ९, मंत्र २०) यथा—

“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । श्वे० ४।६।”
“समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। ७।”

अर्थात् सदा परस्पर मिलकर रहनेवाले दो सखा सुपर्ण (सुंदर गतिवाले पक्षी) एकही वृक्षको आश्रित किये हुए हैं। उनमेंसे एक तो उसके स्वादिष्ट फलोंको भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है। उस एक ही वृक्षपर जीव (देहात्मभावमें) डूबकर मोहग्रस्त हो दीनभावसे शोक करता है। जिस समय यह (अनेकों योगमार्गोंसे) सेवित अपनेसे भिन्न ईश्वर और उसकी महिमाको देखता है, उस समय शोकरहित हो जाता है।

[वी० विश्वनाथ ऐयरजी बी० ए० ‘तत्र नहिं भेद माया’ का भाव यह लिखते हैं कि “जहाँ भगवान् हैं वहाँ स्त्री-पुरुष, जाति-कुजाति, श्रेष्ठ-कनिष्ठ आदि भेदकी कोई माया नहीं रह सकती। यथा ‘हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्म विदो विदुः। छां० उ०।’ अर्थात् वह ब्रह्म पंचकोशोंसे परे विरज एवं निष्कल है, वह परम शुभ है। वह ज्योतियोंका ज्योति (‘सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।’) है। आत्मपरमात्मतत्ववेत्ता उसे प्राप्त करते हैं।]

टिप्पणी—६ (क) 'एहि आरती निरत सनकादि···' इति। 'सनकादि' से श्रीसनक, श्रीसनातन, श्रीसनन्दन और श्रीसनत्कुमार चारों भाई अभिप्रेत हैं। यथा 'जानि समय सनकादिक आये।७।३२।३।··· रूप धरे जनु चारिउ वेदा।५।···रहे तहाँ सनकादि भवानी। जहँ घट-संभव मुनिवर ज्ञानी।७।', 'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा।७।२७।१।', 'सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि आहहिं।७।४२।७।' सनकादि, शिव, शेष ये सब ब्रह्मविचारविशारद तथा ब्रह्मनिरत हैं। इन्होंने ब्रह्मका साक्षात्कार किया है। यथा 'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद।७।१२२।१२।'—यही भाव 'तत्त्वदरसी' का है।

६ (ख) 'जोइ करै सोइ तरै··' इति। तत्वदर्शी उपर्युक्त महात्माओंका उपर्युक्त षडंग आरतीमें निरत रहना कहनेसे सन्देह होता कि तत्वदर्शी महात्माओंका ही इस आरतीमें अधिकार है, अन्यका नहीं। अतः उसके निराकरणार्थ 'जोइ करै' कहा। अर्थात् इस आरतीका अधिकार सबको है।

६ (ग) 'सोइ तरै परिहरै कामादि मल' इति। यह इस आरतीकी फलश्रुति है। इस आरतीसे भवतरण होगा और कामादि-मलका परित्याग एवं नाश होगा।

६ (घ) 'वदति इति अमल मति दास तुलसी' इति। ऐसी आरतीका माहात्म्य वही कह सकता है, जिसकी बुद्धि निर्मल हो। मलिन बुद्धि की वहाँ गति ही नहीं है। अतएव फल कहनेमें अपनी बुद्धिको अमल कहा। लाला भगवानदीनजीने जो अर्थ किया है कि 'निर्मल मतिवाले परम ज्ञानियोंका सेवक तुलसी ऐसा कहता है', उससे यह भाव निकलता है कि मेरी बुद्धि उनकी ही कृपासे निर्मल हो गई है, अतएव मैं यह फलश्रुति कह रहा हूँ।

इसी प्रकार पद्य ४६ में वाणीको विशद विशेषण देकर 'हरिशंकरी मंत्रावली' की फलश्रुति कही है। यथा 'विष्नु-सिव-लोक सोपान सम सर्वदा वदत तुलसीदास बिसद बानी।' मानसमें अंबा श्रीजनकनन्दिनीजीसे निर्मल मति पा चुके हैं, यथा 'ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।१।१८।८।' और गंगाजीसे विमल वाणी पाई है, यथा 'तुलसी करु बानि विमल बिमल बारि बरनि। २० (३)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

४८ (८२)

हरति 'सब आरति[1] आरती' राम की ।
दहति[2] दुख दोष 'निर्मल[3] निकाम' की ।१
सुभग सौरभ धूप दीप बर मालिका ।
उड़त अघ बिहग[4] सुनि ताल करतालिका ॥२
भगत[5] हृदि[6] भवन अज्ञान तम हारिनी ।
बिमल - बिज्ञानमय तेज बिस्तारिनी ।३
मोह मद कोह कलि कंज हिमजामिनी ।
मुकुति की दूतिका देहदुति दामिनी ।४
प्रनत-जन कुमुद-बन इंदु-कर-जालिका ।
तुलसि अभिमान महिषेस बहु कालिका ।५

शब्दार्थ—आरति (आर्त्ति)=दुःख । आरती=नीराजन । (पद ४७ देखिए) निकाम—टि० १ (ग) में देखिए । सौरभ=सुगन्ध ।=सुगंधित । दीपमालिका=दीपावली ।=दीपदान वा आरतीके लिये जलाई हुई वत्तियोंकी पंक्ति । ताल=करतलध्वनि, ताली बजनेका शब्द ।=करताल, झाँझ । करतालिका=दोनों हथेलियोंका परस्पर आघातका शब्द ।=झाँझ, मजीरा, करताल ।=हाथकी फैली हुई हथेली, ताली । हारिनी=हरनेवाली । बिस्तारिनी=फैलाने वा बढ़ानेवाली । जामिनी (यामिनी)=रात्रि । हिम जामिनी=हेमन्तऋतु अर्थात् अगहन पूस मासकी रात्रि । हिम=पाला । यथा 'भइउँ

१—'सब आरति आरती'—रा०, ह० । 'सब आरती आरती'—भा०, बे०, ५१, ज०; आ० । आरति सकल आरती—७४ । सब आरति आरति आरति—६६ । २ दहति—६६, रा०, ५१, आ० । दहनि—ह०, ७४ । दहन—भा०, बे०, प्र०, ज०, भ०, बि०, १५ । ३ निर्मल निकाम—६६ । 'निर्मूल निःकाम'—ज०, १५ । निर्मूलिनी काम—रा०, ५१ । निर्मूलनी काम—भा०, बे०, ह०, ७४, प्र० । ४ बिहँग—६६, रा०, भा०, बे० । बिहंग—ह०, १५ । बिहँग—७४, आ०, ५१ । ५ भरत (=जो भर रहा है ।=भरते ही)—६६ । भक्त वा भगत—औरोंमें । ६ हृदय—भा०, ज०, १५ । हृदि—प्रायःऔरोंमें ।

सरोजबिपिन हिमराती ।२।१२।१।' मुकुति=मुक्ति। दूतिका=प्रेमीका संदेसा प्रेमिका तक वा प्रेमिकाका संदेसा प्रेमीतक पहुँचानेवाली स्त्री।=स्त्री और पुरुषको मिलानेवाली। तेज = कान्ति, दीप्ति; जो देखा या सहा न जा सके। यथा 'दुष्प्रेक्ष्यत्वं च येन स्यात्ततेजः समुदाहृतम्। भ० गु० द०।'

पद्यार्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी आरती 'निर्मल निकाम' के समस्त क्लेशोंको हरती है। दुःख और दोषोंको जलाती है।१। सुन्दर सुगंधित धूप (वा, सुंदर धूपकी सुगंध) और दीपोंकी सुन्दर पंक्ति (देखकर) तथा (झाँझ-करताल-ताली आदिका) ताल रूपी करतल ध्वनि सुनकर पापरूपी पक्षी उड़ जाते हैं।२। भक्तके हृदयरूपी मंदिरके अज्ञानरूपी अंधकारको हरनेवाली है, निर्मल विज्ञानमय तेजको फैलानेवाली है।३। मोह, मद, क्रोध और कलि (अर्थात् कलह एवं कलिकाल जो मोहादिका कारण है) रूपी कमलोंके लिये पाला, रात्रि एवं हेमन्तऋतुकी पालावाली रात्रि है। मुक्ति (रूपिणी नायिकाको लाकर उससे मिला देने। के लिये दूती है। (इसकी) देहकी कान्ति बिजलीके समान है।४। शरणागत जनरूपी कुमुदवन (को प्रफुल्लित करने) के लिये चन्द्रमाकी किरणसमूहके समान है। तुलसीदासजी कहते हैं कि अभिमानरूपी महिषासुरके लिये बहुतसी कालिकाओंके समान है।५।

नोट—१ 'पूर्व अन्तरंग आरतीका रूपक कहा। अब बहिरंग प्रत्यक्ष आरती कहते हैं; इसलिये इसमें रूपक नहीं है। बाह्य आरती का फल भी कहते हैं।'—यह मत श्री पं० रामकुमारजीका है। वा शिवप्रकाशजीका भी यही मत है। श्रीवैजनाथजीका मत है कि पूर्व जो आरती कही गई है, उसका माहात्म्य और फल इस पदमें कहते हैं। यही मत दीनजीका है।

२ पिछले पदमें आरतीके सब अंग कह आए। अतः यहाँ वे अंग पुनः न दुहराकर केवल 'धूप दीप बर मालिका' ही से आरतीके वे सब अंग जना दिये हैं। पुनः, पूर्व पदमें आरतीका विधान बताया कि किस प्रकारकी आरती करनी चाहिए और अब इस पदमें बताते हैं कि आरती करनेसे क्या लाभ होगा।—'हरति सब आरति' 'दहति दुख दोष' इत्यादि। पुनः, यहाँ केवल आरती उतारनेका माहात्म्य कह र हैं,हे अतः आरतीके समयका ही यहाँ वर्णन है।

इसीसे केवल धूप, दीपमालिका, ताल और करतालके नाम दिये गए हैं—यह बहिरंग आरती है।

नोट—३ पं० देवदत्त शास्त्रीजी लिखते हैं कि "पूर्वपदकी आरती मानसीपूजापरक है। मानसी पूजा बहिरंग पूजासे कहीं अधिक श्रेष्ठ होती है किन्तु वह ज्ञानियोंके लिये ही है। अज्ञानियोंके लिये तो बहिरंग पूजाही श्रेष्ठ है। गोस्वामीजीने यहाँ दोनों प्रकारकी पूजाका विधान किया है। मानसी पूजक जब विविधोपचारसे प्रभुकी मानासिक पूजा करता है और पूजा करते-करते जब भगवान्का साक्षात्कार होता है तब हाथमें लिये हुये पुष्पाञ्जलिको माथेमें लगाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष भगवान्को प्राप्तकर तत्काल बहिरंग अर्चनासे भी उनका स्वागत करता है। अतः तुलसीदासजी भी मानसिक अर्चना करते हुए ज्यों ही 'युगल सरकारके दिव्य दर्शन हृदय प्रदेशमें करते हैं, त्योंही बहिरंग अर्चना करके फलश्रुति कहते हुये पूजन समाप्त करते हैं।"

नोट—४ पद ४६, ४७, ४८ का यह क्रम रा०, ह०, ५१, प्र०, ७४, ज० और आ० में है। भा०, वे० और डु० में क्रममें उलट-पलट है। सं० १६६६ की प्रतिमें आधुनिक पद ४६ अट्ठावनवाँ पद है और आधुनिक पद ४७, ४८ क्रमश, ८२ व ८३ हैं। इसके अनुसार हमने जो क्रम दिया है यही ठीक है।

टिप्पणी—१ (क) 'हरति सब आरति आरती राम की' इति। 'आरति' (आर्त्ति) नष्ट करनेका अभिप्राय 'आरती' शब्दमें विद्यमान होनेसे यहाँ 'परिकराङ्कुर' अलंकार है। (वीर)। यमकालंकार भी है। (ख) 'दहति दुख दोष' इति। अकृत्यकरणादिक निषिद्धानुष्ठान 'दोष' हैं। वह मानसिक भाव जो अज्ञानसे-उत्पन्न होता है और जिसकी प्रेरणासे मनुष्य दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त होता है 'दोष' कहलाता है। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि 'दोष' माने गये हैं। पापका परिणाम दुःख है। जन्म, मरण, दारिद्र्य आदि दुःख हैं। आशाको परम दुःख कहा गया है। दुःख और दोष दोनोंको कहकर जनाया कि कारण और कार्य दोनोंका नाश कर देती है। न दोषही रह जाता है और न दुःख ही।

(ग) 'निर्मल निकाम की' इति। यही प्राचीनतम पाठ है। इ
कुछ लोग शंका करते हैं कि 'निर्मल निःकाम' का दुख-दोष-द
कैसा? पर यह संदेह यथार्थ नहीं है। स्मरण रहे कि आरती
भक्त ही करते हैं। जो भगवत्-विमुख हैं, वे आरती कब करने ल
फिर देखिए, कवि आगे स्वयं कहते हैं 'भगत हृदि भवन अज्ञान
हारिनी।'—अर्थात् आरतीको भक्तके हृदयके अज्ञानांधका
नाशक कहा है।

☞'निकाम' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें होता है—(१) नि
अर्थात् निष्काम, कामनारहित। (२) अत्यन्त; बहुत; यथा 'नि
श्याम सुंदरं भवाम्बुनाथ मंदरं।३।४। छंद।', 'कोपेउ समर श्री
चले बिसिख निसित निकाम।३।२०। छंद।' (३) निकम्मे;
'देहिं कैकयी खोरि निकामा।', "भागत अभाग अनुरागत वि
भाग जागत आलसी तुलसीहू से निकाम को। क० ७।७५।" (४)
अभिलषित। यथा 'निकामेष्टं यथेप्सितम् इत्यमरे'।

चारों अर्थ यहाँ लग सकते हैं। इस प्रकार 'निर्मल निका
अर्थ होंगे—(१) निर्मल और निष्काम। (२) अत्यन्त नि
(३) निर्मल और निकम्मे दोनों। (४) निर्मल अभिलाष
वाले।—इन सबोंके दुःख दोषोंको भस्म कर देती है।

दासकी तुच्छ बुद्धिमें तो इस पाठके अर्थमें बहुत ख
हैं। देखिए, श्रीसनकादिकजीको भी क्रोध आ गया, नारद
मोह हो गया।—ऐसे निर्मल निष्काम सन्तोंके मनोविकारों
जला देती है। इसीसे ये सब आरती करते हैं जैसा पिछले
कह आये हैं। आधुनिक पाठ 'निर्मूलिनी कामकी' का भाव '
दोष' में आ गया।*

---

* श्रीलमगोड़ाजी भी मुझसे सहमत हैं। वे कहते हैं कि "निर्मल नि
alliteration अनुप्रास अच्छा है और यहाँपर लुत्फ ही शब्द-अलंकार
जो तुलसीदासजीका ही हक और हिस्सा है। अर्थकी खूबी भी साथ ही
होती है।"

पिंगलके अनुसार संभवतः मात्रा कम पड़ती है, इसीसे 'निर्मल नि
'निर्मूलिनी' किया गया हो। अथवा लेखकने 'निर्मलनि काम' पढ़ा हो,
विज्ञोंने 'निर्मूलिनी काम' कर दिया हो, क्योंकि 'निर्मलनि' का कोई
नहीं लगता।

पं० श्रीकान्तशरणजी इसको 'राम' का विशेषण मानते हैं। 'निकाम' का अर्थ 'चाह' करते हुए वे लिखते हैं—"यहाँ अर्चारूप श्रीरामजीका 'निर्मल निकाम' यह विशेषण बहुत बड़े महत्वका है। अर्चारूपमें भगवान्‌की चाह बड़ी ही निर्मल रहती है, केवल अर्चकको सेवा करा कृतार्थ एवं पवित्र करना ही अभीष्ट रहता है। इस रूपमें आप अर्चकके सर्वथा परतंत्र रहकर उसकी थोड़ी भी सेवा ग्रहण कर उसे पवित्र करते हैं···। इस रूपमें भगवान्‌को अपने स्वार्थकी भावना तनिक भी नहीं रहती, केवल अर्चकको कृतार्थ करना ही चाहते हैं। इसीसे आप निर्मल चाह वाले हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'सुभग सौरभ धूप दीप बर मालिका ।०' इति। टीकाकारोंने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।—(१) 'सुंदर सुगंध जो धूप और श्रेष्ठ दीपोंका समूह उस आरतीके समयमें थपरीका ताल अर्थात् लयका शब्द सुनकर०'। (डु०)। अर्थात् आरती जिसके धूप और दीपावली अंग हैं उसके समय जो करतालका शब्द होता है उसे सुनकर। (२) 'जिसमें सुंदर-सुगंधरूपी धूप है और श्रेष्ठ दीपोंकी पंक्ति है, करतालका शब्द सुनकर०' (च०)। (३)—"आरतीका स्वरूप कहते हैं। 'सुभग-सौरभ धूप' है अर्थात् हरिरूपप्राप्तिकी वासना ही 'सुंदर सुगंधित धूप' है। 'दीप बर मालिका' अर्थात् सब कर्मोंको त्यागकर केवल रामस्नेहसे सर्वांग भक्ति करना श्रेष्ठ दीपमालिका है। दीपमालिकामें बत्तियोंकी पाँति है, वैसेही रामयश कीर्त्तन समय जो ढोल-झांझादिमें ताल मिलानेके हेतु प्रेमसे गाते समय ताली बजाते हैं वही हाथकी तालीका ताल है।०"—(वै०)। (४)—'वह सुंदर सुगंधयुक्त धूप और दीपकोंकी माला है। (उस समय) हाथकी तालीकी ताल सुनकर पाप०।'—(भ०, वि०)। (५) 'सुंदर सुगंधित धूप और उत्तम दीपमालिका हाथकी तालीरूप है जिसको सुनकर०'—(वीर)। (६)—'यह सुन्दर सुगन्धयुक्त धूपके साथ श्रेष्ठ दीपोंकी पंक्तिरूपा है'। (श्री० श०)

२ (ख) 'उड़त अघ बिहग···' इति। यहाँ पापको पक्षी कहा। ताली बजानेसे वृक्षपर बैठे हुये पक्षी उड़ जाते हैं। मानसमें श्रीरामकथाके संबंधमें भी ऐसा ही कहा गया है। यथा 'रामकथा सुंदर कर-तारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी।' (१।११४।१)

यहाँ शरीर ही वृक्ष है। इसमें जो पाप बस रहे हैं वे पक्षी है आरतीके समय झाँझ, करताल, घड़ी, घंट और करताली सभी व हैं। वही झाँझ आदिका ताल 'करतालिका' है। अथवा, ताल करतालिका है।

पुनः 'सुभग सौरभ धूप···करतालिका' इस पूरे अन्तरे भाव।—जैसे अग्निकी लौ और धूआँ देखकर पक्षी समझते हैं अग्नि लगी और शब्द सुनकर समझते हैं कि हमारे मारनेके लि बंदूक आदि अस्त्र चलाया गया है। अथवा, यह धुआँ और लौ अस्त्रका है जो हमें मारनेको चलाया गया और जो हमें मारने चाहता है।—यह समझकर पक्षी उड़ जाते हैं। वैसे ही धूप, दीपाव और तालको देख-सुनकर पाप सहज ही डरकर भाग जाते हैं। सह ही भाग जानेका भाव इस रूपकसे सूचित किया है।

[श्रीवैजनाथजीका मत है कि 'जीव किसान है। उसके परम अर्थात् शुभकर्मधर्मरूपी खेतीको पाप-पक्षी खा (चुग) लेते आरती उन पक्षियोंको उड़ा देती है।']

टिप्पणी—३ (क) 'भगत हृदि भवन···' इति। सं० १६६ प्रतिमें 'भरत हृदि भवन···' पाठ है। उस पाठका अर्थ होगा "हृदयमंदिरमें जो अज्ञानरूपी अंधकार भर रहा है, उसे···" अथ "हृदयरूपी मंदिरमें अज्ञानतमके भरते ही उसे हर लेनेवाली है 'भगत हृदि···' का अर्थ पद्यार्थमें दिया गया है। (ख) हृद भवन कहा। हृदयके अज्ञानपर अंधकारका आरोप किया ग प्रकाशसे अंधकारका नाश होता है, वैसे ही विज्ञानका विस्तार हों अज्ञानका नाश होता है। इसीसे आरतीमें 'विज्ञानमयतेज आरोप किया गया। पहले अज्ञानतमहारिनी कहकर तब दू चरणमें बताया कि किस रूपसे अज्ञानतमको हरती है। (ग) मा 'ज्ञानदीपक प्रसंग' में विज्ञानमय तेजराशि दीपकके आत्मानुभव सुप्रकाशसे प्रबल अविद्याके परिवार मोहादि तमका मिटना कहा वही काम यहाँ भगवान्‌की आरतीमात्रसे हो जाता है। यह सरल उपाय बताया।

टिप्पणी—४ (क) 'मोह-मद-कोह-कलि कंज···' इति। मोह, क्रोध और कलह कार्य हैं और कलि उनका कारण है। इस कार्य और कारण दोनोंका नाश कहा। कारणके न रह जानेसे

कार्यकी उत्पत्ति ही बंद हो जायगी। कमल रात्रिमें संपुटित हो जाता है, पर सवेरे फिर खिल उठता है। परन्तु पालेवाली रात्रि कमलोंको झुलस डालती है, फिर उन्हें विकसित होने योग्य नहीं रहने देती। अतः इस भावको दरसानेके हेतु मोहादि कमलोंके नाशके लिये आरतीको हिमयामिनीका रूपक दिया गया। यथा—'भइउँ सरोज बिपिन हिमराती।२।१२।१।' अन्तरा ३ में अंधकारहरणके संबंधसे हृदयको भवनसे रूपित किया था और यहाँ कमलके संबंधसे हृदयको सर जनाया और आरतीको हिमयामिनी।

४ (ख) 'मुकुति की दूतिका…' इति। ऊपर 'भगत हृदि भवन अज्ञानतमहारिनी' कहा और अगले चरणमें 'प्रनत जन-कुमुद-बन इंदु-करजालिका' कहा है, पर यहाँ बीचके अन्तरामें कोई नाम नहीं दिया कि किसके मोह-मद-कोह-कलिकी नाशक है और किसके लिये दूतिका है। आदिमें 'भगत' और अन्तमें 'प्रनत जन' पद देकर जना दिया है कि भक्तोंके हृदयभवनका अज्ञानतम हरती है, भक्तहीके हृदयसरके मोह आदि कमलोंको झुलस डालती और भक्तके लिये ही मुक्तिकी दूतिका है। अन्यके लिये नहीं।

[वैजनाथजी लिखते हैं कि "मुक्ति-नायिका कर्मी और ज्ञानी पुरुषोंको दुर्लभ है। आरती मुक्तिनायिकाकी प्राप्ति सहज ही करा देती है। 'देह दुति दामिनी' का भाव यह है कि इसका स्वरूप (इसकी प्रकाशमय छटा) जीवोंको सहजही मोहित करने लुभाने वाली है। तात्पर्य कि 'अत्यन्त सुलभ जो हरिपदवंदन भक्ति है उसमें जो सौलभ्य गुण है वही जीवोंको मोहित करनेवाली स्वरूपता है। अर्थात् जो केवल पदवंदन करनेसे भक्ति हुई तो इसमें कौन परिश्रम है ?' अतः इसे अवश्य करनी चाहिए।"] प्रायः 'अन्यान्य सभी टीकाकारोंने 'देह दुति दामिनी' को 'दूतिका' का विशेषण माना है, परन्तु दीनजीका मत है कि इसे 'मुक्ति' का विशेषण मानना अच्छा जँचता है।

टिप्पणी—५ 'प्रनत जन कुमुद-बन इंदुकरजालिका०' इति। प्रणतजनको कुमुदका वन कहा, इसीसे 'करजालिका' का रूपक दिया। वहाँ बहुतसे कुमुद, यहाँ बहुतसी किरणें।

अभिमान समस्त शूलों और शोकोंका देनेवाला है, मोह और भवका मूल है। यथा 'मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।

भजहु राम रघुनायक··· ।५।२३।', 'संसृतिमूल सूलप्रद नान सकल सोकदायक अभिमाना ।७।७४।६।' भक्तोंमें अभिमान न र पावे, इसका सुलभ उपाय भगवान्‌ने आरतीसे कर दिया। क्यों 'जन अभिमान न राखहिं काऊ।' यह उनकी प्रतिज्ञा है। महिषा के नाशके लिये तो एकही कालिका पर्याप्त थी, पर अभिमान महिषासुर एक कालिकासे अधिक प्रबल है, यह तो कालिक भी वशमें कर लेता है, बहुतसी कालिका मिलकर ही इसे सकती हैं। अतः आरती को 'बहु कालिका' रूप कहा। आरती एक-एक दीप-वर्त्तिका एक-एक कालिका है।

इन रूपकोंके भाव तथा महिषासुरकी कथा पूर्व आ चुकी पद १५ और १६ में देखिए।

नोट—५ वैजनाथजीने इस पदके प्रायः प्रत्येक चरणमें न भक्तिके अंग दिखाए हैं। आरतीको 'विराग प्रेम सहित नवधा रूपा' माना है।—

(१) 'हरति सब आरती' में दास्य। अर्थात् सेवक-स्वामि-भ वाली भक्तिसे सब आर्त्तिका नाश होता है।

(२) 'दहति दुख दोष···' में श्रवण भक्ति कही। हरियशश्र से दुःखका नाश होकर संतोष आनेपर कामना उठती ही नहीं।

(३) 'सुभग सौरभ धूप···' में कीर्तन भक्ति कही। कीर्त समय ढोल, झाँझ आदिमें ताल मिलानेके लिये जो ताली बजाते वही करतालिकाकी ताल है, उससे पाप भाग जाते हैं।

(४) 'भगत हृदि भवन···' में स्मरण भक्ति है। क्योंकि अज्ञा जो आत्मस्वरूप भूल गया है, वह प्रभुके स्मरणसे प्राप्त हो जाता

(५) 'बिमल बिज्ञानमय तेज···' में पदसेवन भक्ति कही। भक्तिसे अमल अनुभवमय तेज उरमें फैल जाता है।

(६) 'मोह मद कोह···' में अर्चन भक्ति कही। क्योंकि मोहादि नष्ट हो जाते हैं। अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

(७) 'मुकुतिकी दूतिका···' से वन्दन भक्ति कही। क्य हरिपदबंदन सुलभ है।

(८) 'प्रनतजन कुमुद···' से सख्य भावकी भक्ति कही, क्य सुग्रीव विभीषण आदि शरणागतोंको वचनरूपी किरणोंसे सुखी रक्खा।

(६) 'तुलसि अभिमान…' में आत्मसमर्पण भक्ति दिखाई। क्योंकि आत्म-समर्पण होनेपर देह स्वामीकी हो गई, तब देहाभिमान हो ही नहीं सकता।

नोट— ६ पं० जानकीनाथ शर्मा—"आरती ही क्यों?

आराधनाके साधनोंमें कहीं ५, कहीं १६, कहीं ६४ उपचार तक बतलाए गये हैं। इनमें आरती प्रमुख है। विशेष अवसरोंपर कभी-कभी केवल आरती ही की जाती है। वायुपुराणके अनुसार आरतीसे पूजाके सब दोष दूर हो जाते हैं। वायुपुराणके माघ-माहात्म्यमें लिखा है—'मुखं नीराजनैर्विष्णोः पश्यन्ति पुरुषास्त्रियः। ते धन्या कृतिनो लोके तेषां पुण्यमनन्तकम्। कर्पूरस्यार्तिकां भक्त्या विष्णोर्यस्तु निवेदयेत्। ब्रह्मलोकं समासाद्य भुक्त्वा भोगान्मनोरमान्। कोटिवारं सार्वभौमं सर्वसंपत्समावृत…विष्णोः सायुज्यमाप्नुयात्।' (२।६५-६६)। अर्थात् आरतीके समय भगवान्‌के श्रीमुखका अवलोकन करनेवाले स्त्रीपुरुष धन्य हैं। उनके पुण्योंकी सीमा नहीं है। जो भगवान् विष्णुकी कपूरसे आरती करता है, वह ब्रह्मलोकसे लौटकर कई बार सर्वभौम राजा होता हुआ विष्णुसायुज्यको प्राप्त होता है।

अग्निपुराणमें राजाके क्षेमके लिये महानीराजनका विधान है। सबकी पूजा नीराजनकी विधि है। विशेषकर जब सूर्य स्वातिनक्षत्रमें हों तो इन्द्र, वरुण, कुवेर, कुमार, गणेश तथा दिग्गजोंकी पूजा आदि करके महानीराजन करे,—'उल्मूकानां तु निचयं आदीपित दिगन्तरम्। राजा प्रदक्षिणं कुर्यात् त्रीन् वारान् सुसमाहितः॥'—इस तरह महानीराजनकर राजा उसकी तीन बार प्रदक्षिणा करे। इससे शान्तिकी शक्ति एवं शत्रुओंका मर्दन होता है।

इसीलिये गोस्वामीजी महाराजने यहाँ तथा मानस आदिमें भी 'करहिं आरती आरतिहर कें। रघुकुलकमलबिपिन दिनकर के। ७।६।७।', 'बार बार आरती उतारी। ७।१२।६।', 'कंचनथार आरती नाना।७।६।६।', 'कनकथार आरती उतारहिं। बार-बार प्रभु गात निहारहिं।६।७।४।', 'सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि।…।१।३१७।' आदिसे आरतीका वहुत बार वर्णन किया है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

---

४९ (५७) [हरि-शंकरी-नाम मंत्रावली]

देव दनुजबनदहन गुनगहन गोविंद नंदादि आनंददाताविनासी
संभु सिव रुद्र संकर भयंकर भीम घोर तेजायतन क्रोधरासी।
देव[2]नंत भगवंत (जगदंत)[3]अंतकत्रासससमन श्रीरमन भुवनाभिरा
भूधराधीस जगदीस ईसान बिज्ञानघन ज्ञान-कल्यानधामं।
देव बामनाव्यक्त पावन परावर प्रभो[4]प्रकट[5] परमातमा प्रकृतिस्वा
चंद्रसेखर सूलपानि हर अनघ अज अमित अविछिन्न वृषभेसगामी।
देव नीलजलदाभतनुस्याम बहुकामछबि राम राजीवलोचन कृपा
कंबु कर्पूर बपु धवल निर्मल मौलि
जटा सुरतटिनि सित सुमन माला ॥
देव बसन किंजल्क धर चक्र सारंग दर कंज कौमोदकी अति वि
मारकरिमत्तमृगराज त्रयनयन हर नौमि अपहरन संतापज्वाला[7]
देव कृष्ण करुनाभवन दवन[8]कालीय खल बिपुल कंसादिनिर्वंस
त्रिपुरमदभंगकर मत्तगजचर्मधर अंधकोरगग्रसन पन्नगारी।
देव ब्रह्म ब्यापक अकल सकल(पर)[9]परमहित ज्ञानगोतीत गुनवृ
सिंधुसुतगर्बगिरि बज्र गौरीस नव[10]दच्छमखमखिल[11]विध्वंस

---

१ दाताऽबिनासी—ह०, मु०, दीन। दाताबिनासी—रा०, भा०, ज०, ६६। २ देवनंत—६६, रा०, भा०, बे०, ज०। अनंत—ह०, ५१, नान्त—मु०, ७४। ३ जगदंत—६६ में छूट गया है, अन्य सबोंमें है। ४ ६६, ज०। प्रभु—१५। विभो—प्रायः औरोंमें। ५—प्रकट—६६, मु०, प्रगट—प्रायः औरोंमें। ६—कृपालं, मालं—ज०, १५, मु०, ७४। ७ ज्वाला—६६। संसार ज्वाला—रा०, ५१, डु०, वै०, दीन। संसार भा०, बे०, ह०, भ०, वि०।—'बिसाला' की जोड़में 'जाला' अधिक परन्तु 'संताप' के विचारसे 'ज्वाला' पाठ श्रेष्ठ है। ८ दमन—भा०, बे०, ज०, वै०। दवन—६६, रा०, मु०, आ०। ९—पर—६६ में छूट अन्य सबोंमें है। १० नव—६६, रा०, भा०, बे०। नौ—ज०। भव—ह०, ७४, आ०। ११ मखमखिल—६६, प्र०। मख अखिल—प्रायः

देव भक्तिप्रिय भक्तजनकामधुकधेनु हरि हरन दुर्घट बिकट बिपति भारी
सुखद नर्मद बरद बिरज अनवद्य खिल[12]
बिपिन आनंद बीथिन्ह बिहारी ॥८॥
देव इति[13] रुचिर हरिसंकरी नाम
मंत्रावली द्वंददुखहरनि आनंदखानी।
विष्नु सिव लोक सोपान सम सर्वदा
वदति[14] तुलसीदास बिसद[15] बानी॥९॥

शब्दार्थ—दहन = अग्नि । = जलानेवाले । नंदादि = नन्द आदि । ☞श्रीनन्दजी गोकुलके गोपोंके मुखिया थे, जिनके यहाँ श्रीकृष्णजीको उनका जन्म होनेपर श्रीवसुदेवजी जाकर रख आये थे। श्रीकृष्णजीकी बाल्यावस्था इन्हींके यहाँ बीती थी। श्रीयशोदाजी इनकी धर्मपत्नी थीं। कंसके भयसे ये श्रीकृष्णजीको लेकर वृन्दावन जाकर रहे थे। ☞'आदि' से और भी आठ नन्द एवं सब व्रजवासी स्त्री पुरुष ग्वाल और श्रीकृष्णजीके सखा सेवक इत्यादि भी सूचित कर दिये हैं। श्रीनाभास्वामीकृत भक्तमालमें उनके नामवाले छप्पय ये हैं—२१, २२, २३। नन्दोंके नाम—धरानन्द, ध्रुवनन्द, उपनन्द, अभिनंद, नन्द, सुनन्द, कर्मानन्द और धर्मानन्द। स्त्री पुरुष कुछ गोप गोपियों सखा आदिके नाम ये हैं—श्रीवृषभानुकुमारीजी, मधुमंगल, सुबल, सुबाहु, भोज, अर्जुन, श्रीदामा, रक्तक, पत्रक, अवरपत्रि, मधुकंठौ, मधुवर्त्त, चन्द्रहास, पयद, बकुल और रसदान आदि। गोविंद—नन्दादिके साहचर्यसे 'गोपेन्द्र' एवं 'गौओंके पालक' अर्थ संगत है। टीकाकारोंने प्रायः 'इन्द्रियोंके स्वामी', 'इंद्रियोंके चेतनकर्ता', 'इन्द्रियोंके प्रेरक' अर्थ किया है। गहन = समूह । = वन; यथा 'गहन उजारि पुर जारि सुत मारि तव कुसल गो कीस बरबेर जाको।

---

[12] खिल—६६, रा०, प्र०, ज०, मु०, ह०, डु०, ७४। (अन्वद्य)-खिल—भ०। ऽखिल—आ०। [13] इति—रा०, ६६, प्र०, ज०। प्रायः औरोंमें 'इति' नहीं है। [14] वदति—६६, रा०, वै०, ५१, दीन, वि०। वदत—भा०, वे०, ह०, प्र०, डु०, भं०, ७४, मु०। [15] विमल - भा०, वे०।

क० ६।२१।' भीम=भीषण, भयावन। ☞ यह श्रीशिवजीकी अष्ट मूर्त्तियोंमेंसे एकका नाम भी है।=बहुत बड़ा। जगदंत=जगत्‌ अन्त (विनाश) करनेवाले। अंतक=यमराज; काल। ईसान (ईशान)=जिसकी सत्तासे सबकी सत्ता है=नियन्ता; स्वामी। ☞ यह शिवजीकी अष्टमूर्तियों तथा ग्यारह रुद्रोंमेंसे एकका नाम है।--विशेष पद १२ में देखिये। 'जगदीस ईसान' (एक साथ लेकर भी अर्थ कर सकते हैं)=जगत्‌के पालनकर्ता लोकपालों एवं जगत्‌के ईश्वर ब्रह्मादिकके भी स्वामी। यथा—'नमामीशमीशान निर्वाणरूपं।', 'ब्रह्मेंद्र चंद्रार्क वरुनाग्नि वसु मरुत जममर्च्य भवदंघ्रि सर्वेधिकारी।१०।' वामनाव्यक्त=वामन अव्यक्त।=वामनरूपधारी अव्यक्त ब्रह्म। अव्यक्त=अप्रकट।=निर्गुण; यथा 'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।' परावर=पर अवर। पर=जो परे या दूर हो।=ब्रह्म।=अवतारी।=परलोक। अवर=अपर; ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरे पदार्थ।=अवतार।=इहलोक। ☞ इस तरह 'परावर' के कई अर्थ होते हैं—(१) अवतारी और अवतार सब कुछ। (२) इहलोक और परलोक। (३) सूक्ष्म और स्थूल, जड़ और चेतन। यथा 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावरनाथ। १।११६।' ☞ 'परावर' भगवान्‌का एक नाम भी है; यथा 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। मुं० २।२।८।' प्रकृति-स्वामी=प्रकृतिके प्रवर्तक या नियन्ता। चंद्रसेखर (चंद्रशेखर)=चन्द्र अवतंस=चन्द्र जिनके मस्तकका भूषण है। शेखर=मस्तक=शिरोभूषण। अविछिन्न=अटूट; अखण्ड। किंजल्क=कमलके केसरके रंगका।=पीत; पीला। यथा 'घनश्याम काम अनेक छबि लोकाभिराम मनोहरं। किंजल्क बसन किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं। श्रीकृष्ण गी० २३।' कौमोदकी=गदा। ☞ यह भगवान् विष्णुकी गदाका नाम है। दवन=दबाने, व्यथित और चूरचूर करनेवाले। कालीय (कालिय)=वह नाग जिसको श्रीकृष्णजीने कालीदहमें जाकर मर्दन किया था। निर्बंसकारी=बिना वंशका करनेवाले अर्थात् कुलसहित नाश करनेवाले। अधक=दितिके गर्भसे कश्यपजीका एक दैत्य पुत्र जिसके एक सहस्र शीश थे। ☞ यह अंधक इससे कहलाता था कि देखते हुये भी यह मदके मारे अंधोंकी तरह चलता था। स्वर्गसे पारिजात लाते समय यह

शिवजीके हाथों मारा गया। अंधकोरग=अंधक उरग=अंधकरूपी सर्प। पन्नगारी=पन्नग+अरि=सर्पोंके शत्रु गरुड़। अकल=कला रहित। सकल=कलाओं सहित। कला—पद ५६ (७ क)। पर=सर्वोत्कृष्ट; सबसे परे। वृत्ति=व्यापार, स्वभाव, प्रकृति। गुणवृत्ति=सत्व, रज, तम तीनों गुणोंके व्यापार। ☞स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये यज्ञकी चाह सत्वगुणकी वृत्ति है। विषयवासना राजस वृत्ति है। क्रोधादि होना तामस वृत्ति है। सिंधुसुत=जलंधर। कामधुक—'संत जन कामधुक धेनु···। ४६।' का शब्दार्थ देखिये। नर्मद=कल्याणप्रद।=केलिक्रीड़ाका आनंद देनेवाले।=क्रीड़ासुखका संयोग करानेवाले—(श्री० श०)। खिल=संपूर्ण, अखंड। विपिन आनंद=आनंदवन=काशी। वीथिन्ह=गलियोंमें। हरि-संकरी=हरि और शंकरकी। सोपान=सीढ़ी।

नोट—१ इस पद्यमें पूज्यपाद भक्त कविने हरि और हर दोनोंके नाम-रूपादिका गुणगान किया है। प्रत्येक पदके प्रथमचरणमें अर्थात् पूर्वार्धमें श्रीहरि भगवान्का और दूसरे चरण अर्थात् उत्तरार्धमें भगवान् शंकरका गुणगान है। दोनोंकी सम्मिलित स्तुति की है। इसीसे इस पूरे पद्यका नाम 'हरिशंकरी नाम मंत्रावली' है।

२—गोस्वामीजीने स्वयं इस भजनके अन्तमें इसका 'हरिशंकरी नाम मंत्रावली' नामकरण करके जनाया है कि इस पद्यमें हरि और हर दोनोंको समान मानकर दोनोंकी नाम-मंत्रावली दी गई है। प्रत्येक छन्दके पूर्वार्धमें हरिके विशेषणात्मक नाम और उत्तरार्धमें शंकरजीके नाम आये हैं। (विशेष नोट ६ में लिखा गया है)।

३—हरिशंकरी रागमें हरि और शंकरजीकी दुहरी नाम-मंत्रावली लिखकर तुलसीदासजीने अपनी काव्यमर्मज्ञता, संगीतप्रियता और दक्षताका अनूठा प्रत्यादर्श उपस्थित किया है। (दे० द०)।

४ हरिशंकरी लिखकर गोस्वामीजीने अपने हृदय, स्वभाव, कविकर्मक्रम और उपासनापद्धतिका पूर्ण परिचय दिया है। (दे० द०)

५ इस पद्यमें 'देव' शब्द ६६, रा०, भा०, बे०, प्र०, ज० प्राचीन हस्तलिखित पोथियोंमें आदिसे अन्ततक सब छन्दोंके प्रारंभमें है। ह० में 'देव' छन्द १, ४, ५ और ८ के आदिमें है, अन्य छन्दोंमें नहीं। छु०, भ० में प्रारम्भमें एक बार है। ७४ और आ० में नहीं है।

६ श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "शिवजीके साहचर्य्यसे य त्रिदेवगत विष्णुसे ही तात्पर्य है। दोनोंका तुल्यवर्णन करके दोनों अपनी अभेद भावना दिखाई है। अन्यत्र भी ऐसा ही वर्णन पा जाता है; यथा 'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।'' त्रया मेकभावानां यो न पश्यति वैभिदाम्। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शा मधिगच्छति। भा० ४।७।५०–५४।' अर्थात् विष्णु भगवान्ने द कहा है कि मैं, ब्रह्मा और शिव—ये तीनों ही जगत्‌के कारण है हम तीनोंका रूप एक (ब्रह्म) ही है। हम ही सब प्राणियों आत्मा हैं। जो हम तीनोंको अभेद भावसे देखता है, वह शा पाता है।"

मेरी समझमें 'हरि' से 'रामाख्यमीशं हरिं' को माननेसे क उपासनाको हानि नहीं पहुँचती; क्योंकि यहाँ दोनोंकी नाममंत्राव मात्र है। गोस्वामीजीने मानस और विनयमें जो-जो विशेषणात्म नाम वा गुण श्रीरामजीके कहे हैं, वे सब श्रीशङ्करजीके भी कहे है केवल एक जगह भेद दिखलाया है। पद ५२ में श्रीरामजीके यह स अवतार कहे भी गए हैं। (नोट—७ और टि० ६ (छ) देखिए)।

पदार्थ-(हरिनाममंत्रावली)–देव ! आप दनुजरूपी वनको जलाने लिये अग्निरूप, गुणोंके वन (अर्थात् भूरिगुण, सर्वदिव्यगुणसंप एवं गुणोंको ग्रहण करनेवाले, गौ, पृथ्वी और इन्द्रियोंके स्वा गोपेन्द्र, गोपालक नन्दादिको आनन्द देनेवाले और अविनाशी है (शङ्करनाममंत्रावली)—आप शम्भु (कल्याणके उत्पन्न करनेवाले शिव (कल्याण स्वरूप), रुद्र (भयंकर मूर्ति। ऐसा होते हुये भी), शंक (कल्याण करनेवाले), भीषण, भीम (बड़े रूपवाले), प्रचण्ड तेज स्थान अर्थात् बड़ेही तेजस्वी और क्रोधकी राशि हैं। (ये सब आप नाम हैं)। १। (हरिनाममंत्रावली) —देव ! आप अनंत हैं (अर्था आपका अन्त कोई नहीं पा सकता), षडैश्वर्ययुक्त हैं, जगत्‌का अ करनेवाले, कालके भयको मिटानेवाले, श्रीपति और चौदहों भुवनों को आनन्द देनेवाले हैं [††]। (शंकरमंत्रावली)–आप कैलाशपति, जगत

[††] संसारमें सर्वत्र रमनेवाले (सू० शु०)।

के स्वामी, ईशान, एवं जगदीश (लोकपालों आदि) के स्वामी, विज्ञानघन (अर्थात् ठोस विज्ञानरूप एवं विज्ञानरूपी जलसे भरे हुये मेघ) और ज्ञान† तथा कल्याणके निवासस्थान हैं।२। (हरिनाममंत्रावली)—देव ! प्रभो ! आप वामनरूपमें अव्यक्त ब्रह्म ही हैं, पावन हैं‡, परावर (अर्थात् अवतारी और अवतार, चर और अचर, इहलोक-परलोक सब कुछ आपही) हैं*। आप साक्षात् (वा, वेदोंमें प्रतिपाद्य, अतः प्रकट) परमात्मा और मायापति हैं। (शंकरमंत्रावली)—आप चंद्रमौलि, शूलपाणि (भक्तोंके त्रयःशूलके नाशके लिये हाथोंमें सदा त्रिशूल लिये रहनेवाले), क्लेशों और पापोंके हरनेवाले, निष्पाप, अजन्मा, (आदि-अन्त देशकालादि) सीमारहित, अखण्ड और नन्दीश्वरपर चलनेवाले हैं अर्थात् नन्दीश्वर आपका वाहन है।३। (हरिनाममंत्रावली)—देव ! आप नीले सजल मेघोंकी कान्तिके समान श्याम शरीर, बहुतसे कामदेवोंकी छविवाले, योगियों तथा चराचरमात्रको अपनेमें रमानेवाले और सबमें रमण करनेवाले, कमलनयन और कृपाल 'राम' हैं। (शंकरनाममंत्रावली)—आपका शरीर शङ्ख और कपूरके समान (पुष्ट, सचिक्कन, सुगन्धित) निर्मल गौरवर्ण हैं, सिरपर जटायें और श्वेतपुष्पमालाकार गंगा (सुशोभित) हैं।४। (हरिनाममंत्रावली)—आप पीताम्बरधारी हैं, चक्र, शार्ङ्गधनुष, शङ्ख, कमल और कौमोदकीनामक अत्यन्त विशाल गदाके धारण करनेवाले हैं। (शंकरनाममंत्रावली)—आप कामदेवरूपी मतवाले हाथीके लिये सिंहरूप, त्रिलोचन, त्रितापकी ज्वालाको हर लेनेवाले तथा संहारकर्त्ता क्लेशहरणकर्त्ता हर हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।५।

---

† विज्ञानघन ज्ञान = ज्ञानोंसे सघन ब्रह्मविद्यारूप। (सू० शु०)

‡ अव्यक्त पावन = मायाके पवित्रकर्त्ता। (सू० शु०)।

* यदि 'परावर प्रभो' को एक शब्द मानें, तो अर्थ होगा —पर [=सूक्ष्म चिदचित् अर्थात् कारणावस्थापन्न (सृष्टिके पूर्वकालीन) जीव और प्रकृति] तथा अवर [=स्थूल चिदचित् अर्थात् कार्य्यावस्थापन्न (सृष्टिके उत्तरकालीन) जीव तथा प्रकृति] दोनोंके प्रभु (समर्थ स्वामी) ! 'प्रभु' शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है—"ब्रह्मादीनां च सर्वेषां भोगमोक्षसमर्पणसमर्थः प्रभुरित्युक्तः सर्वेष्टफलदो मनुः।"

(हरिनाममंत्रावली)—देव ! आप करुणाधाम, कालिय नागके दमन करनेवाले, कंस आदि अगणित दुष्टोंका कुलसहित नाश करनेवाले कृष्ण हैं। (शंकरनाममंत्रावली)—आप त्रिपुरासुरके गर्वको तोड़नेवाले, मतवाले हाथीके चर्मको धारण करनेवाले और अंधकासुररूप सर्पको ग्रास करनेको गरुड़रूप हैं ।६। (हरिनाममंत्रावली)—देव ! आप ब्रह्म हैं, व्यापक हैं, कलारहित एवं समस्त कलाओंसे युक्त, पर (एवं अकल सकल दोनोंसे परे)[†], परम हितैषी, ज्ञान और इंद्रियों (की पहुँच) से परे, सत्व-रज-तम तीनों गुणोंके व्यापार वा स्वभावके हरनेवाले हैं। (शंकरनाममंत्रावली)—आप जलंधरके गर्वरूपी पर्वतके (चूर्ण करनेके) लिये वज्ररूप, गौरी श्रीपार्वतीजीके पति और दक्षके संपूर्ण नवीन यज्ञके विनाश करनेवाले हैं ।७। (हरिनाममंत्रावली)—देव ! आपको भक्ति प्रिय है, आप भक्तोंके लिये कामना (वांछित पदार्थ) रूपी दूध देनेवाली कामधेनु और दुस्साध्य कठिन भारी विपत्तिके हरनेवाले हरि हैं । (शंकरनाममंत्रावली)—आप सबको सुख देनेवाले [‡] कल्याण तथा (केलि क्रीड़ाका) आनन्द देनेवाले, वर देनेवाले, निर्विकार, अनिन्द्य, पूर्ण और काशीकी गलियोंमें विहार करनेवाले हैं ।८। देव ! तुलसीदास अपनी निर्मल वाणीसे कहता है[*] कि यह सुंदर 'हरिशंकरीनाममंत्रावली' अर्थात् श्रीहरि और श्रीशंकरजीके नामरूपी मंत्रोंकी पंक्तियाँ द्वन्द्व दुःखकी हरनेवाली, आनन्दकी खानि और विष्णुलोक तथा शिवलोकके लिये सदा सीढ़ीके समान तथा सब कुछ देनेवाली हैं[††] ।९ ।

[†] निर्गुण सगुण दोनोंसे परे । (सू० शु०) ।

[‡] सू० शुक्लने 'सुखद नर्मद' का अर्थ 'सुखदायियोंको आनन्द देनेवाला' किया है ।

[*] तुलसीदासजी कहते हैं कि निर्मल सरस्वती ऐसा कहती है (सू० शु०)।

[††] वीरकविजीने 'सर्वदा' को और रा० त० ब० ने 'सम' को 'सोपान' का विशेषण माना है । अर्थ—'सनातन सीढ़ी' (वीरकवि), 'समतल सीढ़ी' अर्थात् जिसमें चढ़नेमें क्लेश नहीं । (पं० रा० कु०) ।

टिप्पणी—१ ‘दनुजबनदहन…’ इति। (क) नन्द आदिके साहचर्यसे यहाँ ‘दनुज वन’ से कंस, पूतना, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, शिशुपाल और तृणावर्त आदि अभिप्रेत हैं—(विशेष पद ५२ टि० ७ घ देखिये)। और यों तो वे स्वाभाविक ही असुरोंके नाशक हैं; यथा ‘बीचहिं पंथ मिले दनुजारी ।१।१३६।४।’; ‘विनाशाय च दुष्कृतां’ उनका अवतार ही होता है।’ (ख) ‘गुन गहन’ से ‘भूरि दिव्य गुणोंवाले’ इस अर्थके अतिरिक्त ‘गुणगहनी’ अर्थात् ‘गुणगाहकत्व स्वभाववाले’ यह अर्थ भी है। भगवान् भक्तके गुणहीको लेते हैं, अवगुणपर दृष्टि नहीं डालते।—यह उनका स्वभाव है। श्रीत्रिलोचन भक्तजीके भी वचन हैं कि ‘उनकी तो बात बनि आवै सब उनहीं सों, गुण ही को लेत मेरे औगुण छिपाइए।’ (भक्तिरसबोधिनी टीका क० १८६)। (ग) ‘नंदादि आनंददाता’ इति। श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध इन आनन्ददायक चरित्रोंसे भरा हुआ है। (घ) ‘गोविन्द’ को भगवान्‌का नाम यहाँ मानें तो उसकी व्याख्या स्वयं भगवान्‌द्वारा की हुई इस प्रकार है—“पूर्वकालमें जब पृथ्वी जलमें डूबकर रसातलको चली गई थी, तब मैंने उसे (बाराहरूपसे) प्राप्त किया था। पृथ्वीका प्राप्त करानेवाला होनेसे देवोंने मेरा स्तवन ‘गोविन्द’ नामसे किया।” —४७ (१ घ) देखिए। भा० १०।२७ में श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इन्द्रने भगवान् कृष्णका अभिषेक किया और उनका ‘गोविन्द’ नाम रक्खा,—‘अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ।२३।’ अध्यायके अन्तमें वे ही कहते हैं कि इस भाँति ‘गौओं तथा गोकुलके नाथ श्रीगोविन्द’ का अभिषेक करके इन्द्र आज्ञा लेकर चला गया,—‘इति गो गोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः॥ अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ।२८।’ इस प्रकार ‘गौओं तथा गोकुलके स्वामी’ अर्थ है। श्रीजानकीनाथशर्माजी बताते हैं कि हरिवंशपुराणमें गौओंके इन्द्र होनेसे ‘गोविन्द’ नाम होना लिखा है। इन्द्रके वचन हैं—‘अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः। गोविन्द इति लोकास्त्वां स्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम्। हरिवंश २।१६।४५’ ‘संभु’। ‘सिव’, ‘रुद्र’, ‘संकर’, ‘भयंकर’ के भाव पूर्व श्रीशिववन्दनाके पदोंमें आचुके हैं और कुछ ऊपर पद्यार्थमें भी लिखे गए हैं।

१ (ङ) ‘रुद्र’ के जन्मकी कई प्रकारकी कथायें पूर्व लिखी जा चुकी हैं। प० पु० सृष्टि खण्डमें श्रीपुलस्त्यजीने श्रीभीष्मपितामहसे रुद्रोंका जन्म

इस प्रकार बताया है।—"सनकादिकको सृष्टिकार्यसे उदासीन देख कर ब्रह्माजीको महान् क्रोध हुआ, उनकी भौंहें तन गईं और ललाट क्रोधसे उद्दीप्त हो उठा। इसी समय उनके ललाटसे मध्याह्नकालीन सूर्यके समान तेजस्वी रुद्र प्रकट हुए। उनका आधा शरीर स्त्रीका था और आधा पुरुषका। वे बड़े प्रचंड थे और उनका शरीर बड़ा विशाल था। ब्रह्माजी उन्हें यह आदेश देकर कि 'तुम अपने शरीरके दो भाग करो', वहाँसे अन्तर्धान हो गए। रुद्रने अपने शरीरके दोनों भागोंको पृथक्-पृथक् कर दिया और फिर पुरुषभागको ग्यारह रूपोंमें विभक्त कर दिया। इसी प्रकार स्त्रीभागको भी अनेक रूपोंमें प्रकट किया। स्त्री और पुरुष दोनों भागोंके वे भिन्न-भिन्न रूप सौम्य, क्रू शान्त, श्याम और गौर आदि नाना प्रकारके थे।" (संक्षिप्त पद्म पुराणाङ्क पृष्ठ ५०)

१ (च) 'रुद्र' रूप बड़ा विकट, भयंकर, दुराधर्ष है। यथा 'रुद्रहि देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना। १।८६।४।' इसीसे 'रुद्र' कहकर फिर 'संकर' नाम भी दिया। अर्थात् रुद्ररूप होते हुए भी वे सबका कल्याण करते हैं। 'भयंकर भीम' में भाव यह है कि दुष्टोंको आप भय देनेवाले हैं। उनको आप 'कराल महाकालके भी काल' देख पड़ते हैं। आपका शरीर विशाल है और आपके कर्म भीम हैं। यथा 'भीषणाकार भैरव भयंकर''॥ अतुल बल विपुल विस्तार विग्रह''॥ काल अतिकाल कलिकालव्यालाद खग त्रिपुरमर्दन भीम कर्मभारी। ११(१,२,७)।', 'अखिल विग्रह उग्ररूप''। १०(७)।'

१ (छ) 'तेजायतन'—अर्थात् शरीरमें करोड़ों मध्याह्नकालके सूर्य्योंका-सा तेज है। यथा 'देव कुंदेंदु कर्पूर दर गौर विग्रह रुचि तरुन रवि कोटि तन तेज भ्राजै। १०।' क्यों न हो, सूर्य तो 'तेजराशि' ही हैं और ये तो तेजके अधिष्ठान ही हैं। पद २ व १० देखिए।

१ (ज) 'क्रोधरासी'—इस विशेषणसे जनाया कि आपको ज क्रोध आता है, तब तीनों लोक काँप उठते हैं। यथा 'सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका॥ १।८७।५।' क्रोध ही से प्रलय करते हैं और क्रोधसे ही तो आपकी उत्पत्ति हुई है; अतः क्रोध राशि होना स्वाभाविक है।

टिप्पणी—२ 'देवनंत भगवंत जगदंत…' इति। (क) 'देवनंत' प्राचीनतम पाठ है और कई प्राचीन हस्तलिखित पोथियोंमें भी पाया जाता है। अतः यह निश्चय है कि यह लेखप्रमाद नहीं है। 'देव' प्रत्येक छन्दके आदिमें है। जान पड़ता है कि 'देवानंत' (देव+अनंत) वा 'देवनांत' (देव न अंत) से चरणमें मात्रा बढ़ जानेसे देवानंत वा देवनांतके स्थानपर 'देवनंत' ह्रस्वाकार ही रहने दिया गया हो। इसीसे टीकाकारोंमें मतभेद है। किसीने 'अनंत' और किसीने 'नांत' पाठ रख लिया है। अर्थ प्रायः एकही है। 'भगवंत जगदंत' के साथ 'देवनंत' पाठ अच्छा भी लगता है। हरि अनंत हैं अर्थात् उनकी महिमा, नाम, रूप, गुण आदिका अन्त नहीं, किसीने अन्त नहीं पाया। यथा 'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥… तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा॥ तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा।७।९१।', 'हरि अनंत हरिकथा अनंता।१।१४०।५।', 'कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता। १।१९२।'

२ (ख) 'भगवंत जगदंत' इति। भगवंत अर्थात् षडैश्वर्य-सम्पन्न हैं। 'जगदंत'—यह भगवान् और अन्तक दोनोंका विशेषण माना जा सकता है। भगवान् भक्तोंके जगत् (संसार अर्थात् जन्म-मरण आदि) का नाश कर देते हैं और प्रलयकर्त्ता भी हैं। काल ब्रह्माण्डोंका नाशक है। 'अंतक' का अर्थ काल और यमराज दोनों है। अंतकत्रास = कालका भय एवं यमसाँसतिका भय। यथा 'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमरेसि भजेसि निरंतर मोही॥' यमसाँसति जैसे अजामिल आदिकी दूर की।

कालका डर सबको रहता है क्योंकि वह 'अंडकटाह अमित लयकारी' और 'सदा दुरतिक्रम भारी' है। ऐसा वह काल भी भगवान्से डरता रहता है। यथा 'तव भय डरत सदा सोउ काला।३।१३।८।' अतः 'अंतक (काल) त्रास समन' कहा।

यदि अंतकसे यम और अंतकत्राससे यमसाँसतिका अर्थ लें तो 'जगदंत' और 'अंतकत्रास समन' दो विशेषण माने जायँगे। उस हालतमें 'श्रीरमण' पदके साहचर्यसे यहाँ 'अंतकत्राससमन' से

अजामिल प्रसंग अभिप्रेत जान पड़ता है, क्योंकि उसमें नामाभ मात्रके प्रतापसे वह यमदूतोंकी साँसतिसे छूटकर निर्भय हो ग उसने अपने छोटे पुत्र 'नारायण' को पुकारा था, तो भी 'नारा नाम सुनकर श्रीमन्नारायणके पार्षदोंने तुरत वहाँ पहुँचकर यम-साँसतिसे बचा लिया था। 'श्रीरमण'—४७ (३ छ), ४७ तथा 'दीनदुखदमन श्रीरमन' १०६ (५ ग) में देखिए।

२ (ग) 'श्रीरमण' कहकर 'भुवनाभिरामं' कथनका यह भी है कि देवगण आदि श्रीरहित हो गये थे, समुद्रमंथनसे जब श्री निकलीं और आपने उनको अपनाया तब समस्त देवगण श्रीजीके कृपाकटाक्षको प्राप्तकर आनन्दित हुए। और यों तो वे जगत्के पालनकर्त्ता होनेसे समस्त ब्रह्माण्डके आनन्ददाता हैं यथा 'तपबल विष्णु भए परित्राता।१।१६३।२।', 'सिंधुसुता प्रियकंता 'पालन सुर धरनी अद्‌भुत करनी मरम न जानइ कोई।१।१८६

२ (घ) 'भूधराधीश', 'जगदीश', 'ईशान' के भाव पूर्व आ हैं। जगदीश हैं, यथा 'जगदातमा महेस पुरारी। जगतजनक हितकारी।१।६४।५।', 'विश्वनाथ मम नाथ पुरारी।१।१० 'लोकनाथं। १२ (४)।'

२ (ङ) 'विज्ञानघन'—'ज्ञान गुन अयन विज्ञानरूपं।११ ('विज्ञानघन।१० (४)।', 'विज्ञानभवन गिरिसुतारमन।१३ देखिए। पुनः, 'विज्ञानघन ज्ञान-कल्यान-धाम' का भाव कि आत्मानुभवसमूहरूप हैं और जीवोंके हितार्थ ज्ञान और कल्या धाम हैं। निष्कामको ज्ञान देते हैं और सकामियोंका कल्याण हैं। (वै०)। 'विज्ञानघन'—४४ (६क) देखिए।

टिप्पणी—३ 'देव वामनाव्यक्त···' इति। (क) शब्दार्थ प भाव आ चुके हैं। 'प्रकृति स्वामी'—मायाभी भगवान्की यथा 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥' (गीता दासी रघुबीर कै।७।७१।', 'ईस बस्य माया गुनखानी। अतः 'प्रकृति स्वामी' कहा। 'चन्द्रशेखर' मस्तकपर द्विजचन्द्र करनेके भाव 'बर बालनिसाकर मौलि भ्राज।१३ (५)।', 'बाल भाल। १० (१)।', 'ललित-लल्लाटपर राज रजनीसकल कलाधर (३) में देखिए। 'शूलपाणि', यथा 'त्रयः शूल निर्मूलनं शूलपा ७।१०८।' विशेष 'सोकसूंलनिर्मूलिनं सूलिनं।१२ (४)।', 'सूल

पिनाक-पानि । १० (४) ।' देखिए। 'वृषभेशगामी'—'वृषभजानं ।१० (४) । देखिए।

३ (ख) वामनावतार वर्तमान कल्पके वैवस्वत मन्वन्तरमें राजा बलिको छलनेके लिये हुआ था, जिसकी कथा 'छलन बलि कपट बटुरूप पावन ब्रह्म भुवनपर्यंत पदतीनिकरनं ।५२ (५) ।' में दी गई है। प्राचीनकालके एक सत्ययुग में वामनावतार महाबलिष्ठ दानव बाष्कलि को छलनेके लिये हुआ था। बाष्कलि बड़ा धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सत्यासत्य और न्यायान्यायके निर्णयमें बड़ा कुशल था। वह मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति तीनों शक्तियोंसे सम्पन्न था। राजनीतिके सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय इन छः गुणोंका उचित उपयोग करता था।···उसके राज्यमें अधर्म नहीं होने पाता था। तीनों लोकोंका राज्य छीनकर उसने दानवोंको यज्ञका भोक्ता बना दिया था।···इन्द्रका दुःख देख ब्रह्माजीने भगवान्‌का चिन्तन किया। तब भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा कि "मैं वामनरूप धारण करूँगा। तब इन्द्र मेरे साथ जाकर बाष्कलिसे मेरे लिये तीन पग भूमिकी याचना करें। मैं दान स्वीकार करके उसे राज्यसे वंचित करूँगा।"

अदितिके गर्भसे एक हजार दिव्य वर्षोंके उपरान्त वामनजी प्रकट हुए। इन्द्र उनको लेकर बाष्कलिके यहाँ गए। बाष्कलिने दोनोंको महलमें ले जाकर दोनोंका पूजन किया और आगमनका कारण पूछा। इन्द्रने कहा कि इन ब्राह्मण देवताने मुझसे तीन पग भूमि माँगी, किन्तु मेरा राज्य तो तुमने छीन लिया है, मैं निर्धन हूँ, इन्हें देनेके लिए मेरे पास कोई भूमि नहीं है। इस कारण तुमसे याचना करता हूँ। यदि तुम्हें अभीष्ट हो तो इनको दे दो।' बाष्कलिने बहुत नम्रता और प्रसन्नतापूर्वक सारा राज्य तक देना स्वीकार कर लिया शुक्राचार्य के बाधक होनेपर उन्होंने उत्तर दिया कि "प्रतिज्ञाका पालन सत्पुरुषोंका धर्म है। यदि ये भगवान् हैं और मुझसे दान लेकर देवताओंको समृद्धिशाली बनाना चाहते हैं, तब तो मेरे समान धन्य दूसरा कोई नहीं।···बचपनमें आपने उपदेश भी किया था कि 'शत्रावपि गृहायाते नाऽस्त्यदेयं तु किंचन्'। प० पु० सृष्टि० २५।१७१), शत्रु भी यदि घरपर आ जाय तो इसके लिए कुछ भी अदेय नहीं है।' मैंने आपके इस उपदेशको गाँठ बाँध लिया

था। और, वही सोचकर मैं सारा राज्य और प्राण भी देनेका निश्च
कर चुका। जिस दानके देनेमें कुछ भी कष्ट नहीं होता, वैसा दा
तो सभी देते हैं।"—यह सुनकर गुरु लज्जित हो गये।—शेष क
प्रायः वैसी ही है जैसी बलि-वामन की है। (संक्षिप्त प० पु०)।

टिप्पणी—४ 'देव नील जलदाभतनु श्याम···' इति। (क) 'नी
जलदाभतनु'—पद ४५ (२) 'नवनीलनीरदसुंदरं' की टि० २ (क,
देखिए। 'बहु काम छबि'—'कन्दर्प अगनित अमित छबि।' ४
(२ क), ४४ (३ घ) देखिये। 'राजीवलोचन' और 'कृपाला'—'नवकं
लोचन' तथा 'श्रीरामचन्द्र कृपाल' ४५ (१ झ), तथा ४५ (१
'राजीवलोचन।' ४४ (१ ख), 'नयन राजीव बहु सोभानिधानं'
४६ (३ ख) देखिए।

४ (ख) 'राजीवलोचन' के साथ 'कृपाला' का सम्बन्ध है। 'राजी
नयन' का प्रयोग प्रायः करुणा और भक्तभयहरणके सम्बन्धमें हुआ क
है। यथा 'राजिवनयन धरे धनु-सायक। भगत बिपति भंजन सु
दायक।१।१८।१०', 'निसिचर करि बरुथ मृगराजः। त्रातु सदा
भव-खग-बाजः॥ अरुन नयन राजीव सुवेषं।३।११।', 'महारा
राजीव बिलोचन मगन पाप संताप हौं।२२२।', इत्यादि। वैसे
यहाँ 'राजीव लोचन कृपाला' कहकर जनाते हैं कि भक्तभ
हरणार्थ सदा धनुष बाण धारण किये रहते हैं।

४ (ग) 'कंबु कर्पूर बपु··' इति। पद १० (२) 'देव कुंदेंदु क
दर गौर बिग्रह रुचिर तरुनरबिकोटि तन तेज भ्राजै।' तथा '
कुंदेंदु कर्पूर गौरं।१२ (२)।' देखिये। 'मौलि जटा सुरतटिनि
सुमनमाला'—'देव मौलि संकुल जटामुकुट विद्युच्छटा तटि
वर बारि हरिचरनपूतं।१० (३)।', 'सिरसि संकुलित कलकूट पिं
जटा पटल सतकोटि विद्युच्छटाभं।११ (२)।', 'देव भ्राज बिबु
पगा आपु पावन परम मौलि मालेव सोभा बिचित्रं।११ (३)' देखि
'कंबु कर्पूर··' में भिन्नधर्मामालोपमा और 'मौलि जटा···'
वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

टिप्पणी—५ 'देव बसन किंजल्क धर···' इति। (क)
चक्र, शङ्ख, पद्म, कौमोदकी और शार्ङ्ग पाँच आयुध गिनाए। इस
चतुर्भुजमूर्ति (भगवान् विष्णु और श्रीमन्नारायण) का ध्यान सू
किया। चार हस्तकमलोंमें उनके मुख्य चार आयुध शङ्ख, चक्र,

और पद्म हैं। शार्ङ्ग धनुष बायें कंधेपर है। तरकश कटिमें है। बाण इसीसे नहीं कहा। बाण कहते तो समझा जाता कि एक हाथमें बाण है। पद ६१ में केवल चार आयुधोंका ध्यान है. यथा 'चारि भुज चक्र कौमोदकी जलज दर सरसिजोपरि जथा राजहंसं। (३)।' चतुर्भुज भगवान् भी पीताम्बर ही धारण करते हैं। यथा 'निर्मल पीत दुकूल अनूपमं उपमा हिय न समाई। ६२।', 'अमल मरकत श्याम कामसतकोटि छवि पीतपट तडित इव जलद नीलं। ६१।'

५ (ख) श्रीकृष्णजीने युधिष्ठिरजीसे बताया है कि 'यह चक्र एक हजार अरोंवाला और वज्रकी नाभिवाला है। बारह वर्षतक मैंने कठोर ब्रह्मचर्यव्रत पालन करते हुए हिमालयमें भीषण तपस्या करके यह अस्त्र प्राप्त किया है। अश्वत्थामा इस चक्रको अपनी जगहसे टससे मस न कर सका था। मेरे सिवा इसको कोई धारण नहीं कर सकता।' (महा भा० सौप्तिकपर्व अध्याय १२)।

५ (ग) 'मार-करि-मत्त मृगराज' कहकर 'त्रयनयन' कहनेका भाव कि कामदेवको तीसरे नेत्रसे भस्म किया था। यथा 'तव शिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा। १।८७।६।' 'संतापज्वाला'—संतापमें जरा, जन्म, शोक, वियोग, दैविक, दैहिक, भौतिक सभी ताप आ गए। इनसे जीव सदा तप्तमान रहता है। यथा 'जरत फिरत त्रैताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो। २४३।', 'तुलसी रामप्रसाद सों तिहुँ ताप न तातो। १५१।' इसीसे संतापको अग्निकी ज्वाला कहा। आपके भजनसे संतापका नाश होता है। यथा-'न यावद् उमानाथपादारविंदं। भजंतीह लोके परे वा नराणां॥ न तावत्सुखं शांति संताप नाशं। ७।१०८।'; इसीसे पूर्व इससे रक्षाकी प्रार्थना कर चुके हैं। यथा 'पाप संताप घन घोर संसृति दीन भ्रमत जगजोनि नहि कोपि त्राता। त्राहि भैरवरूप रामरूपी रुद्र'''। ११।'

टिप्पणी—६ 'देव कृष्न करुना भवन''' इति। (क) 'करुणाभवन' कहकर व्रजवासियोंपर जो करुणावश कृपा की वह 'दवन कालीय...' से जनाया। कालियनाग कालीदहमें रहता था, जिसका जल उसके विषसे विषैला हो गया था। कालीदह यमुनाजीका एक दह (कुंड) था। भा० १०।१६, १७ में इसकी कथा विस्तारसे है।

(कथा)—गरुड़जीने जब अपनी माताका शोक निवा
करनेके लिये सर्पोंका संहार प्रारम्भ किया, तब नागकुलका सं
होते देख नागोंने सुलह कर-ली, जिसके अनुसार अपने-अ
परिवारकी रक्षाके लिये सब नाग पर्व-पर्वपर गरुड़को एक-
अपने हिस्सेका नाग देने लगे। कालियनाग समुद्रके मध्यमें
हुये रमणकद्वीपमें रहता था। इसने अपने विषवीर्यके अभिमान
गरुड़को अपनेसे हीन समझकर न तो अपने भागका नाग दि
और न औरोंकी दी हुई भेंट गरुड़के पास पहुँचने दी; स्वयंही स
दी हुई बलिको स्वयं ही खा गया। गरुड़ यह जानकर उस
मारनेको उद्यत हुये। यह भी युद्धके लिये तैयार हुआ। गरुड़
चोटसे अत्यन्त विह्वल होकर वह यमुनाजीके इस दहमें आ छि
क्योंकि गरुड़को सौभरि ऋषिका शाप था कि यदि वह इस द
किसी जीवको आकर खायँगे तो उनके प्राण निकल जायँगे।
इस शापका हाल केवल कालिय जानता था।

जबसे वह इसमें रहने लगा, इसके विषकी प्रचण्ड भा
इसका जल खौल-खौलकर ऊपर उछलता रहता था, जिससे उ
ऊपर आकाशमें चलनेवाले पक्षी भी मरकर गिर पड़ते थे।
विषैलेकण मिले हुए पवनके स्पर्शमात्रसे किनारेपरके जीव मर
थे। इसके कारण यमुनाका जल दूषित हो गया था।

एक बार भगवान् ग्वालबालोंसहित गौवें चराने कालिन्दीत
चले गए। घामकी तपनसे गौवें और गोप अत्यन्त प्यासे हु
निकट कहीं शुद्ध जल न होनेके कारण सबने कालीदहका जल
लिया, और सब मरगए। भगवान्ने यह देखकर उनको अ
अमृतवर्षिणी दृष्टि से जीवित कर दिया और कालीदहके जलको
करनेका विचारकर एक-ऊँचे कदंबके वृक्षपर चढ़कर उसमें
पड़े—इसमें भगवान्की करुणा अनुकंपा ही कारण थी। यथा 'अन्व
तद्राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्। पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्म
भा० १०।१५।५२।'– (भा० १०।१५।४७–५२ ; १०।१६।६)।

नागने यह जानकर कि मेरे घरपर किसी शत्रुने चढ़ाई की
बाहर पानीपर आकर उस क्रोधांध सर्पने भगवान्को अपने शरी
बंधनसे जकड़ लिया और मर्मस्थलोंको काटने लगा।
ब्रजवासियोंको इस लीलासे दुःखी देखकर आपने अपने शरी

स्थूल बनाकर नागके शरीर और फणोंको व्यथित कर दिया, जिससे उसने उनको छोड़ दिया और भयंकर फण उठाकर उनपर चोट करनेका अवसर देखता रहा। परन्तु भगवान् इसके पूर्वही उसके फणमण्डलपर चढ़कर नृत्य करते लगे। इस नागके सौ सिर थे। वह जिस सिरको उठाता, उसीको भगवान् अपने चरणकी चोटसे नीचा और शिथिल कर देते थे। इस विचित्र नृत्यसे नागके सब फण व्यथित हो गए। उसके मुखोंसे रुधिर बहने लगा। वह अचेत हो रहा था, तब उसकी स्त्रियोंकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उसे छोड़ दिया और उसको गरुड़से अभय करके रमणकद्वीपमें जाकर रहनेकी आज्ञा दी। तबसे दहका जल सबके योग्य हो गया।

६ (ख) शंका—प्रथम चरणमें श्रीकृष्णजीका नाम आ चुका है, अब यहाँ पुनः उनका नाम आया है। दो बार वर्णन करनेका क्या कारण है ?

समाधान—'तस्मिन्साकेतलोके विधिहरहरिभिः सन्ततं सेव्यमाने,
दिव्ये सिंहासने स्वे जनकतनयया राघवः शोभमानः।
युक्तो मत्स्यैरनेकैः करिभिरपि तथा नारसिंहैरनन्तैः,
कूर्मैः श्रीनन्दनन्दैर्हयगल. हरिभिर्नित्यमाज्ञोन्मुखैश्च।
यज्ञः केशववामनौ नरवरौ नारायणोधर्मजः,
श्रीकृष्णो हलधृक् तथा मधुरिपुः वासुदेवोऽपरः।
एतेनैकविधा महेन्द्र विधयो दुर्गादयः कोटिशः,
श्रीरामस्य पुरो निदेश सुमुखा नित्यास्तदीये पदे।'

इत्यादीनि वृहद्ब्रह्मसंहितावचनानि संगच्छन्ते अत्र नन्दनन्दनशब्दः नन्द नन्दयति विविधोक्त्या शोकत्याजनाद्वर्धयति। इति मथुरानिवासपरः। श्रीकृष्णशब्दो द्वारकानिवासिपरः इति न विरोधः।

(अर्थात्) उस साकेतलोकमें श्रीजानकीजी सहित श्रीराघवजी अपने दिव्य सिंहासनपर विराजमान रहते हैं। अनेकों त्रिदेव, मत्स्य, गजेन्द्रोद्धारक, अनन्त नृसिंह, कूर्म, श्रीनन्दनन्दन, हयग्रीव, ध्रुवोद्धारक, यज्ञ, केशव, वामन, धर्मपुत्र, नर नारायण, श्रीकृष्ण, हलधर, मधुकैटभनाशक और व्यूहात्मक वासुदेव—ये सब अनेकों रूपसे तथा करोड़ों महेन्द्र, ब्रह्मा और दुर्गा आदि श्रीरामजीके सम्मुख आज्ञा प्राप्त करनेके लिये खड़े रहते हैं।

वाल्मीकीय रामायण शिरोमणि टीकाकी भूमिकामें श्रीरामपर वर्णन करते हुये पं० श्रीशिवसहायजीने बृहद्ब्रह्मसंहिताका उद्धरण दे श्लोकोंमें आये हुये 'नन्दनन्दन' और 'श्रीकृष्ण' शब्दका पुनरु निवारण इस तरह किया है कि 'नन्दनन्दन' शब्द नन्दजीको आन देनेवाले मथुरानिवासी कृष्णपरक है और 'श्रीकृष्ण' शब्द (कं शिशुपाल आदिको मारनेवाले) द्वारिकानिवासी श्रीकृष्णपरक है।

पद ५२ (७) 'वृष्णिकुलकुमुदराकेस राधारवन' से भी यह सि होता है। राधारमणजी नन्दनन्दनकृष्ण हैं और वृष्णिकुलकुमुदराके द्वारकानिवासी चतुर्भुज कृष्ण हैं।

६ (ग) 'खल विपुल कंसादि निर्बंसकारी'—यह भी करुणा किया। बहुतसे दैत्यों तथा राक्षसोंने मनुष्यरूपसे ही द्वापरमें ज लिया था। उनके नाशके लिये यह अवतार हुआ। वत्सासु अघासुर, धेनुकासुर, केशी, शङ्खचूड़, अरिष्टासुर, व्योमासुर, भौमासु जरासन्ध, शिशुपाल, दन्तवक्र, नरकासुर, शम्बरासुर, इत्यादि ' बिपुल' हैं, जिनको 'कंसादि' के 'आदि' शब्दसे सूचित किया है। (कौरव दुर्योधनके भाई तथा कर्ण भी प्रायः पूर्वके असुर ही दुर्योधन कलिका अवतार था। कर्ण सहस्रकवची था। ये मनुष्य रूपमें जनमे थे। परन्तु यहाँ 'कंस' के साहचर्यसे प्रायः उपर्युक्त खल ही अभिप्रेत हैं)।—इन सबोंमें करुणाका प्रसंग है श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध देखिए।

६ (घ) 'त्रिपुरमदभंगकर' की कथा 'जारयो त्रिपुर एक ही बा ३ (२)।' में देखिए। 'मत्तगज-चर्म्म-धर' के भाव 'व्याघ्र-गजेन्द्र परिधान। १० (४)।' में देखिए। 'अंधक' की कथा शब्दार्थमें गई है। उसको 'उरग' (सर्प) की उपमा दी गई, इसीसे भगव शंकरको 'पन्नगारी' सर्पभक्षक गरुड़की उपमा दी।

टिप्पणी—७ 'देव ब्रह्म व्यापक···' इति। (क) ब्रह्म व्यापक कलारहित है। यथा 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा।···अकल अनाम अरूपा।७।१११।३।', 'व्यापक अकल अनीह अज नि नाम न रूप।१।२०५।', 'ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अभेद।१।५०।'

७ (ख) 'सकल पर'—श्रीवैजनाथजी आदि टीकाकारोंने इसे शब्द मानकर अर्थ किया है। हमने 'सकल' और 'पर' की दो विशे

मानकर अर्थ किया है। अकल भी हैं और सकल भी। और 'अकल सकल दोनोंसे परे' भी हैं। ब्रह्मकी यह विशेषता है कि उसमें दो विरोधी गुण एक साथ रहते हैं। सकल = कलाओंसहित = सम्पूर्ण, सब; अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। पर = सबसे श्रेष्ठ। 'सकलपर' एक शब्द माननेपर अर्थ होगा 'सबसे परे', 'सर्वश्रेष्ठ'।

७ (ग) 'ज्ञानगोतीत' इति। जीव अनादिकालसे अविद्याग्रस्त है। वह स्वयं अपने आपको, अपने स्वरूपको नहीं जान सकता। उसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति प्रभुकी कृपासे ही होती है। परन्तु यह ज्ञान भी सत्त्वात्मिका प्रकृतिकी ही एक वृत्ति विशेष है। प्रकृति ही में उसका अन्तर्भाव समझना चाहिये। सत्व-रज-तम प्रकृतिके गुण हैं न कि आत्माके। इन गुणों द्वारा ही जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और लय हुआ करते हैं। इस लिये ज्ञान आत्माका गुण नहीं, प्रकृति ही का गुण है। सत्वगुण ज्ञान है, रजोगुण कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान है। इसीसे ब्रह्म ज्ञानकी पहुँचसे बाहर है। (भा० ११।२२।१०-१३)। यथा—"अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्। स्वतो न संभवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्।१०।" 'ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः।११। प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनोगुणाः। सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यंतहेतवः।१२। सत्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते।''१३॥' ☞ ब्रह्म तथा उनके सब अवतार 'ज्ञानगिरागोतीत' हैं। यथा 'ज्ञान-गिरा-गोतीत अज माया-मन-गुन-पार।७।२५।'

७ (घ) 'गुनवृत्तिहर्ता' इति। यह सारा संसार गुणोंका बनाया हुआ है। मायाके इन गुणोंसे ही स्थूल और सूक्ष्म शरीर बना है। विषयोंकी सारी माया भी गुणोंका ही कर्म है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति बुद्धिकी ये तीन वृत्तियाँ गुणोंके अनुसार आया जाया करती हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों प्रकारके विकल्प गुणोंके परिणाम हैं। सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे मनकी ही जाग्रत् आदि अवस्थाएँ होती हैं। जीव इन अवस्थाओंको अपनी अवस्था समझकर बंधनमें पड़ जाता है। हरिभक्ति करनेसे प्रभु हमारे इस संसारका नाश करके हमको इन सबसे पार कर देते हैं। तीनोंमेंसे एकभी गुण जबतक रहता है तबतक संसारबंधन नहीं टूटता। यथा "येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः। भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते। भा०११।२५।३२।" (अर्थात् जो जीव

चित्तसे होनेवाले इन गुणोंको जीत ले, वह अखण्ड भक्तियोगद्वारा मेरी निष्ठा प्राप्त करके मेरे भावको प्राप्त हो जाता है), "मां योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते। गीता १४।२६।" (अर्थात् जो सत्यसंकल्प, परम दयालु, शरणागतवात्सल्य सिन्धु मुझ परमेश्वरकी ऐकान्तिक सर्वश्रेष्ठ भक्तियोगके द्वारा सेवा करता है, वह इन दुस्तर सत्वादि गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेके योग्य पात्र बन जाता है)।

७ (ङ) 'गुणवृत्ति' इति। सत्व, रज और तम तीनोंकी अलग-अलग वृत्तियाँ हैं। शम, दम, सहनशीलता, विवेक, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, वैराग्य, श्रद्धा (आस्तिकता), अनुचित कर्मोंसे लज्जा, दान, विनय आदि और आत्मप्रेम—ये सत्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। स्वर्गादिकी कामना, यज्ञ आदि उद्यम, मद, तृष्णा, गर्व, सुखके लिये देवताओंसे प्रार्थना, भेदबुद्धि, विषयभोग, युद्धादिका उत्साह, अपनी कीर्तिसे प्रीति, उपहास, पराक्रम प्रसिद्ध करना और बलके द्वारा उद्योग करना —ये रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं। क्रोध, लोभ, मूढ़ हिंसा, याचना, दंभ, भ्रम, कलह, शोक, मोह, दुःख, दीनता, आलस्य, दीर्घ आशा, भय और जड़ता—ये तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं। यथा 'शमोदमस्तितिक्षेक्षातपः सत्यं दया स्मृतिः।' से लेकर 'वृत्तयो वर्णित प्रायाः।' तक। (भा० ११।२५।२-५।।

७ (च) सत्व, रज और तम तीनों गुण जीवहीके हैं जो चित्तके विकारसे उत्पन्न होते हैं (भा० ११।२५।१२)।

७ (छ) गुण-वृत्तिहर्ता कहकर जनाया कि आप जीवकी गुण-वृत्तियोंका हरणकर उसे मोक्षका अधिकारी बना देते हैं।

७ (ज) 'सिंधुसुतगर्व-गिरि-वज्र-गौरीस' इति। सिंधुपुत = जलंधर। यह एक पौराणिक राक्षस है जो शिवजीकी कोपाग्निसे समुद्रमें उत्पन्न हुआ था। पद्मपुराणमें लिखा है कि यह जनमते ही इतनी जोरसे रोने लगा कि सब देवता व्याकुल हो गए। ब्रह्माजीने देवताओंको व्याकुल देख सिंधुके पास जा उसने पूछा कि यह किसका पुत्र है, सिंधुने कहा कि यह मेरा पुत्र है, आप इसे ले लीजिये। जब ब्रह्माजीने इसे लिया तो इसने उनकी दाढ़ी इतने जोरसे खींची कि उनके आँसू निकल पड़े। इसीलिये ब्रह्माने उसका नाम जलंधर रक्खा। बड़ा होनेपर इसने अमरावतीपर

अधिकार कर लिया। अन्तमें शिवजी इससे लड़ने गये। इसकी स्त्री वृन्दाने, जो कालनेमिकी कन्या थी, अपने पतिकी रक्षाके लिये ब्रह्माजीकी पूजा आरम्भ की। जब देवताओंने देखा कि वह किसी तरह नहीं मर सकता, तब विष्णुभगवान्ने जलंधरका रूप धारण कर वृन्दाको छला। वृन्दाने उस जलंधररूपधारी विष्णुको देखकर पूजन छोड़ दिया, तब शिवजीने उसके पतिको मार डाला। ☞ इस विषयमें पुराणान्तरोंमें कथामें कुछ भेद है।--

(१) एकमें ऐसा है कि वृन्दा परम सती थी, इसीसे शिवजी उसे न जीत पाते थे। शिवजीने भगवान्का स्मरण किया तब उन्होंने सहायता की। कहीं ऐसा कहा है कि वृन्दाने पूर्वजन्ममें पतिरूपसे भगवान्को वरण करनेके लिये तपस्या की-थी और उन्होंने उसे वैसा वर भी दिया था, सो इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उन्होंने जलंधररूप धारणकर उसे छला।

(२) दूसरी कथा यह है कि भगवान् यती बनकर उसके घरके पास बिचरने लगे। वृन्दाने उनसे पूछा कि मेरा पति कब जय पावेगा। यती बोले कि वह तो मार डाला गया। उसने कहा कि आप झूठ कहते हैं, मेरा पातिव्रत्य रहते उसे कौन मार सकता है? यतीने आकाशकी ओर दृष्टि की। दो वानर जलंधरका शरीर विदीर्ण करते देख पड़े और थोड़ीही देरमें उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े वृन्दाके समीप आ गिरे। यह देख वह विलाप करने लगी। तब यतीने कहा कि इसके अंगोंको तू जोड़ दे, तेरे सतीत्व धर्मसे वह जी उठेगा। उसने वैसा ही किया। अंगोंका स्पर्श करते ही भगवान्ने उसमें प्रवेशकर जलंधररूप हो उसका व्रत भंग किया। व्रतभंग होते ही शिवजीने जलंधरको मार डाला।—'छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुरकारज कीन्ह। १।१२३।'—बालकांड 'मानसपीयूष' में इसकी विस्तृत कथायें दी गई हैं।

७ (झ) 'नवदच्छमखमखिल··' इति। 'नव' का भाव कि दक्षने प्रजापतिनायक पद पानेपर जो नवीन यज्ञ आरंभ किया था उसे। 'अखिल' विध्वंसकी कथा श्रीरामचरितामानसमें विस्तारसे दी है। यथा 'समाचार जब संकर पाये। बीरभद्र करि कोप पठाये॥ जग्य बिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा॥ भै जगबिदित दच्छ गति सोई। जसि कछु संभु

बिमुख कै होई । १।६५।१–३।' ☞ 'मानसपीयूष' तिलक तथ भा० ४।५ में विस्तारसे है। संक्षिप्त कथा यह है—

एक बार मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें संपूर्ण महर्षि देवता, मुनि और अग्नि आदि एकत्रित हुये थे। उस सभाभवनमें दक्ष प्रजापतिके आनेपर ब्रह्मा और महादेवजीके अतिरिक्त सभा सदस्यगणने उठकर उनका सम्मान किया। महादेवजी बैठे ह रहे, इसको दक्षने अपना अपमान समझा और सभामेंही उस उनकी वहुत निन्दा करते हुये शाप दिया कि 'देवयज्ञोंमें इन्द्र उपे आदि देवताओंके साथ महादेव यज्ञका भाग प्राप्त न कर सकें। (भा० ४।२।१८)।

बहुत समय बीतनेपर दक्ष प्रजापतिनायक बनाये गए। त इनका गर्व और भी बढ़ गया। इनने श्रीशंकरजीका अपमा करनेके लिये वृहस्पतिसवयज्ञका आरंभ किया, जिसमें शंकरजीं छोड़ संपूर्ण ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितृगण और देवता आदिको निमंत्रि किया। (भा० ४।३।४)। श्रीसतीजीने पिताके यज्ञमें जानेकी आज्ञ माँगी। शिवजीने उनको बहुत समझाया, किन्तु उनके वहुत ह करनेपर उनको जाने दिया। वहाँ जानेपर, शंकरजीने जो कहा थ वह सत्यही देखनेमें आया। शिवजीका भाग यज्ञमें न देख उन्हों बहुत कटु वचनों द्वारा पिताकी निन्दा करके दक्षशुक्रसम्भव अप शरीरको योगाग्निसे तुरत भस्म कर दिया। सतीजीके साथ भेजे हुये शिवजीके पार्षदगणोंके यज्ञविध्वंसारम्भ करनेपर भृगुजीं यज्ञकी रक्षा की। (भा० ४।४)। समाचार पानेपर शिवजीं वीरभद्र रुद्रको उत्पन्नकर उन्हें अन्य रुद्रपार्षदोंसहित यज्ञविध्वं करनेको भेजा। इन्होंने जाकर यज्ञ विध्वंस किया और सम देवताओंको विधिवत् उनके कर्मोंका फल दिया। (भा० ४।५)।

७ (ञ) 'दच्छमख' कथनका भाव कि दक्ष समस्त प्रजापतियोंक अधिपति था, दूसरे उसके यज्ञके रक्षक भृगु आदि बड़े-बड़े मु थे; ऐसे समर्थोंके यज्ञको नष्ट कर डाला, कोई कुछ न कर सक 'नव' से यह भी जनाया कि यह यज्ञोंमें श्रेष्ठ वृहस्पतिसव-य था। ऐसा भारी यज्ञ पूर्व कभी नहीं किया गया था जिसमें ये स देवादि निमंत्रित हुये हों। दूसरे, शिवजीका भाग आगे बंद हो जा इस विचारसे यह यज्ञ किया था,—यह नवीनता इसमें थी।

टिप्पणी—८ 'देव भक्तिप्रिय···' इति। (क) भगवान्‌को भक्ति प्रिय है। यथा 'पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।···भगतिहि सानुकूल रघुराया। ७-११६। ४–५।', 'मागेहु भगति मोहि अति भाई। ७।८५।५।' (ख)—'भक्तजन कामधुक धेनु' इति। 'सज्जन कामधुक धेनु। ४६ (६)।' देखिए। पूर्व नामको 'कामधुक धेनु' कहा, यहाँ नामीको वही विशेषण दिया। भगवान् भक्तोंके लिये सुरतरु.सुरधेनु हैं; यथा 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। १।१४६।१।' 'कामधुक धेनु' से जनाया कि भक्तोंके पास आकर उनकी कामनायें पूरी करते हैं। नारदजीसे 'उन्होंने स्वयं कहा है—'कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिवर न सकहु तुम्ह माँगी॥ जन कहुँ कछु अदेय नहि मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे। ३।४२।४–५।' (ग) 'हरन.दुर्घट बिकट बिपति भारी'—जैसे परम भक्त श्रीशंकरजीको दुर्घट भारी संकट भस्मासुर द्वारा प्राप्त हुआ था, उसको आपने हरण किया। इसी तरह हिरण्यकशिपुने जो वर प्राप्त किये थे उनसे उसकी मृत्युकी जगह ही न रह गई थी। भक्त प्रह्लादको कैसे संकट पड़े। ऐसे दुर्घट संकटका हरण किया। इत्यादि। देवोंके संकट तो सदा हरते ही हैं।

८ (घ) 'सुखद नर्मद वरद···' इति। 'सुखद', 'नर्मद', 'वरद' को हमने तीन विशेषण पृथक्-पृथक् माने हैं। सूर्यदीन शुक्लने 'सुखदायकोंको आनन्द देनेवाले' ऐसा अर्थ किया है। वैजनाथजीने अर्थ किया है कि "सवासिक जनोंको धन-धाम-स्त्री-पुत्र-भोजन-भूषण-वाहनादि सुखके देनेवाले और निर्वासिकोंको 'नर्मद वरद' अर्थात् सुखदायक ज्ञान, भक्ति आदि वरके देनेवाले हो; यथा 'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि।"—इस तरह वे 'नर्मद' को 'वर' का विशेषण मानते हैं। भट्टजीने 'सुख देनेवाले, आनन्द देनेवाले, वरदेनेवाले' अर्थ किया है।

८ (ङ) 'बीथिन्ह बिहारी' अर्थात् काशीकी गलियोंमें विहार करते हैं। यथा 'पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामम्। ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्॥ जल्पञ्जल्पन्प्रकृतिविकृतौ प्राणिनां कर्णमूले। वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी।'

(स्कंद पु० काशीखण्ड†) भगवान शंकर मरते हुए प्राणियोंके कानों तारक ब्रह्म रामनाम देते हुये गलियोंमें फिरा करते हैं; * इस जीवोंपर करुणा सूचित की।

टिप्पणी—६ 'देव इति रुचिर हरि-संकरी नाम···' इति। (क 'इति' शब्द समाप्तिसूचक अव्यय है। इसे देकर जना दिया ग कि इस पदमें आदिसे लेकर छन्द ८ तक, अर्थात् 'देव दनुजकु दहन' से लेकर 'बिपिन आनंद बीथिन्ह बिहारी' तक, श्रीहरि औ श्रीशंकरजीकी नाममन्त्रावली ही है। गोविन्द, अनन्त, भगवं जगदन्त, अन्तकत्रासशमन, परावर, प्रभु, श्रीरमण, वामन, प्रकृ स्वामी, अव्यक्त, राम, चक्रादिधर, कृष्ण, परमात्मा, दवनकालि ब्रह्म, व्यापक, अकल, सकल इत्यादि सब 'हरिनाम' हैं। श्री शंभु, शिव, रुद्र, शंकर, भीम, ईशान, चन्द्रशेखर, शूलपाणि, ह कामारि, त्रयनयन, त्रिपुरारि, गौरीश, भूधराधीश, अंधकोरगग्रस दक्षमखमखिल-विध्वंसकर्ता, इत्यादि 'शंकर नाम' हैं।

६ (ख) 'हरि' और 'शंकर' गुणक्रियावाचक नाम देकर जना कि यह नाममंत्रावली जीवोंके पंचक्लेशोंको हरणकर उनका कल्य करनेवाली है।

नोट—७ प० पु० पातालखण्डमें श्रीरामाश्वमेधयज्ञके प्रकरण शिवभक्त वीरमणिकी सहायताके लिये जब शंकरजीने आ शत्रुघ्नजीकी सेनाका संहार किया और श्रीशत्रुघ्नजीके स्मर करनेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यज्ञदीक्षाके वेषमें ही युद्धभूमि आ उपस्थित हुये, तब उन्हें देखते ही श्रीशंकरजीने युद्ध करना ब कर दिया और भगवान् श्रीरामकी स्तुति करके उनसे क्षमा माँगी भगवान् श्रीरामजीने उस समय जो वचन कहे हैं वे गोस्वामीजी हार्दिक भावोंकी पुष्टि करते हैं। गुरु और भगवान्में भक्त अ नहीं मानता।

भगवान् कहते हैं—'भक्तकी रक्षा करके आपने भक्ति मर्यादाकी रक्षा की है. इसमें अनुचित कौनसी बात हुई कि

---

† यह श्लोक हमें स्कन्दपुराणकी छपी पुस्तकमें नहीं मिला। किन्तु प्रा टीकाकारोंने इसे स्कन्दपुराणका लिखा है, अतः हमने वही नाम दे दिया है।

* यथा 'मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम। अ० ६।१५।६२।'

लिये आप इस प्रकार दीनभावसे क्षमायाचना कर रहे हैं? फिर आपसे तो अपराधकी शंकाही नहीं हो सकती, आप तो सदा मेरे हृदयमें निवास करते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ, वास्तवमें हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, मूर्ख दुर्बुद्धि ही भेदबुद्धि रखते हैं। यथा 'ममास्ति हृदये' शर्वो भवतो हृदये त्वहम्। आवयोरनन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः। २८।२०।'

सम्भवतः इस भावको लेकर शैव-वैष्णवविरोधको शान्त करने तथा आपसमें प्रेमभाव उत्पन्न करानेके लिये इस 'हरि-शंकरी' पदकी रचना की गई हो। शैव हो चाहे वैष्णव हो हरि और हरमें भेदभाव रखनेसे उसको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। यथा—'त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् सशान्तिमधिगच्छति। भा० ४।७।५४।' (यह भगवद्वाक्य है। वे दक्षसे कहते हैं—हे ब्रह्मन्। जो वास्तवमें एक किन्तु कार्यभेदसे तीन रूप हैं, उन ब्रह्मा, विष्णु और महादेवमें जो पुरुष कुछ भी भेदभाव नहीं करता, वह शान्ति लाभ करता है।) अतएव शैव और वैष्णव दोनोंके कल्याणार्थ यह हरि-शंकरी पद लिखा गया।

नोट—८ ☞ एक बात और मार्केकी है कि जैसे श्रीमद्भागवतमें दक्षयज्ञविध्वंसके बाद एक अध्यायको छोड़कर हरि-शंकरीका माहात्म्य 'शान्ति लाभ' कहा गया है, वैसे ही यहाँ इस विनयपदमें भी 'दक्षयज्ञविध्वंस' वाले छन्दके बाद एक छन्द छोड़कर तब हरि-शंकरीकी फलश्रुति 'द्वंद्वदुखहरनि आनंदखानी' इत्यादि है।

टिप्पणी—९ (ग) 'नाम मंत्रावली' इति। ईश्वरके नाम स्वयं मंत्र ही हैं। जैसे 'राम' यह अकेला नामभी बिना बीजके ही मंत्र कहा जाता है। यथा 'बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥ महामंत्र जोइ जपत महेसू।१।१९।१-३।', "सप्तकोटि महामंत्राश्चित्तविभ्रमकारकाः। एक एव परोमन्त्रः श्रीरामेत्यक्षर द्वयम्॥ सारस्वत तंत्र। सी० रा० प्र० प्र०।" 'इति रुचिर' का 'इति' अव्यय भी यही सूचित कर रहा है। ☞ भगवान्के नाम उनके लोककी प्राप्ति करा देते हैं, यह निर्वाद सिद्ध है।

नोट—९ श्रीवैजनाथजी 'नाम मंत्रावली' का यह अर्थ करते हैं कि "जो नाम दोनों पक्षके कह आए, इनमें पूर्व प्रणवादय चतुर्थ्यन्त उच्चारण करनेसे सब मंत्र हैं। यथा 'ॐ गोविन्दाय नमः', 'ॐ

शिवाय नमः' इत्यादि मंत्रोंकी जो द्वय पंक्तियाँ हैं।"—परन्तु मे समझमें तो उनका यह अर्थ पदके शब्दोंसे नहीं निकलता है।

☞ 'मंत्रावली' का अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है और दोनों अर्थ यहाँ गृहीत हैं। 'अवली' का एक अर्थ है 'समूह', दूसरा 'पंक्ति' अतः 'मंत्रावली' = (नामरूपी) मंत्रसमूह। = (नाम) मंत्रोंकी पंक्ति जो ऊपर आई हैं, एक पंक्तिमें भगवान् हरिके नाम हैं, दूसरी श्रीशंकरजीके। इसी तरह इस पूरे पदमें दोनोंके नामोंकी आठ आ पंक्तियाँ हैं। सत्रहवीं और अठारहवींमें दोनोंका माहात्म्य है।

टिप्पणी—६ (घ) 'द्वंद दुखहरनि आनंदखानी' इति। 'द्वन्द्व दु पर विस्तृत व्याख्या पद ४७ के शब्दार्थ तथा ४७ (१ ख) में देखिए द्वन्द्व भारी दुख देते हैं, भवजालमें डालते हैं; इसीसे शंभु सनकादि समर्थ भी द्वन्द्वहरणकी प्रार्थना करते रहते हैं। यथा 'रघुनंद निकंदय द्वं घनं। महिपाल बिलोकय दीन जनं।७।१४।', 'द्वंद बिपति भवफंद बि जय।७।३४।८।' जैसे श्रीरघुनाथजी द्वन्द्वविपत्ति भवके हरनेवाले वैसेही यह नाममंत्रावली द्वन्द्वदुःखका हरण करती है। (वैजनाथजी के मतानुसार शुभाशुभकर्मबंधन द्वन्द्व दुःख हैं)। 'आनंदखानि' अर्थात् जैसे खानसे अगणित धातुकी प्राप्ति होती है, वैसेही इ हरिशंकरी मंत्रावलीसे आनंदही आनंदकी प्राप्ति होती है।

६ (ङ) 'विष्णु सिव लोक सोपान' इति। यहाँ यथासंख्यालंका से अर्थ करना होगा। यहाँ अन्तमें 'हरिशंकरी' शब्द आया है जिसमें प्रथम 'हरि' है तब 'शंकरी'। जान पड़ता है कि इसी क्रम निवाहनेके लिये इस पद्यभरके प्रत्येक पूर्वार्धचरणमें हरिकी औ प्रत्येक उत्तरार्धमें शंकरजीकी नाममंत्रावली दी गई है। अतः अन्व इस प्रकार होगा—'हरिनाममंत्रावली विष्णुलोकसोपान सम' औ 'शंकरनाम मंत्रावली शिवलोकसोपान सम' है। द्वन्द्वदुखहरनि आनंदखानि दोनों ही हैं।

६ (च) 'बदति तुलसीदास बिसद बानी' इति। 'बदति इति अमल म दास तुलसी।४७।' की टि० ६ (घ) देखिए। इसमें ध्वनित अर्थ भी है कि जिनकी बुद्धि निर्मल नहीं है, वे नाममंत्रावलीकी महि क्या जानें? अतः वे ऐसा नहीं कह सकते। मैं जो कह रहा हूँ निर्मल बुद्धि और निर्मल वाणीसे कह रहा हूँ। ये दोनों मुझे श्रीजनकनन्दिनीजी तथा गंगजीसे मिल चुकी हैं। इसी तरह 'बि

कथा श्रीरामचरितमानस' तभी कहा गया था जब बुद्धि निर्मल हो गई थी। यथा 'भइ कविबुद्धि बिमल अवगाही', 'संभुप्रसाद सुमति-हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी। १।३६।१।'

६ (छ) देवदत्तशास्त्रीजी—इस पदके द्वारा हरि (श्रीविष्णु) और शंकरजीका साम्य दिखाया है। कवि और भक्तकी दृष्टिमें भवसागर से पार होनेके लिये, विष्णु-शिव-सायुज्य प्राप्त करनेके लिये उपर्युक्त दोनों देवोंकी उपासना एकनिष्ठ होकर करनी चाहिए।

तुलसीदासजीके आदिपोषक और उद्बोधक श्रीशंकरजी ही हैं। उन्हींकी प्रेरणा और कृपासे ही उन्होंने रामरसायन प्राप्त किया है। अतः विनय प्रारम्भ करते ही अपने कर्त्ता-धर्त्ता अभिभावक श्रीशंकर जीकी स्तुति दिल खोलकर की। भावापन्न भक्तकी भावतरंगें अन्तः सलिला सरस्वतीकी भाँति अन्तर्हृदयमें तरंगायित होकर उनकी इष्टपूर्ति करती हैं। —युगलसरकारकी छवि ग्रन्थ-(विनय)-प्रणयन-कालमें ही दृष्टिगत हुई। भावावेशी भक्त पूजन-उपकरण न प्राप्तकर मानसिक पूजन करता है। पूजनके प्रभावसे अन्तर्पट उद्घाटित हो जाते हैं। कृतज्ञता और भावुकतावश अपने युग्म (इष्ट-अभिभावक) पूज्योंकी स्तुति पुनः करते हैं। यह मानसिक पूजाकी उत्तरपूजाका क्रम है। इसेही कविकर्म क्रम भी कह सकते हैं। यहींसे विनयके एक दूसरे अध्यायका एक दूसरी झाँकीका पटाक्षेप है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

५० (५९)

देव[1] भानुकुलकमलरवि कोटिकंदर्प्पछबि काल-कलि-व्यालमिववैनतेयं
प्रबल भुजदंड परचंड कोदंडधर-तून-बर-बिसिख बलमप्रमेयं ॥१॥
देव[1] अरुन राजीवदलनयन सुखअयन[2]
करुनासिंधु[3] स्याम तन कांतिकर बारिदाभं।
तप्त[4] कांचन वस्त्रसस्त्रविद्यानिपुन सिद्ध-सुर-सेव्य पाथोजनाभं॥२॥

---

[1] देव—६६, रा०, भा०, बे०, प्र०, ज०, ह०। भ०, वै०, ७४ में नहीं है। [2] सुखमा अयन—औरोंमें। [3] औरोंमें नहीं है। [4] सप्त—६६। लेखप्रमाद

देवमखिल[5]लावन्यगृह बिस्वबिग्रह परम प्रौढ़ गुन गूढ़ महिमा उदा
दुर्द्धर्ष दुस्तर दुर्ग[6] स्वर्गअपबर्गपति भग्नसंसारपादपकुठारं ॥
देव सापबस मुनिबधू मुक्तकृत बिप्रहित जज्ञरक्षनदच्छ पक्षक
जनक नृपसदसि सिवचापभंजन उग्र भार्गव[7]गर्ब गरिमापहर्त्ता ॥
देव[8]गुर गिरा गौरव सुदुस्त्यज[9]राज त्यक्तु श्री सकल[10]सौमित्रि
संग जनकात्मजा मनुजमनुसृत्य अज
दुष्टबधनिरत त्रैलोक्य त्राता ॥

देव दंडकारन्य कृत पुन्य पावन चरन हरन मारीच माया कुरं
बालि बलमत्त गजराज इव केसरी सुहृद सुग्रीव-दुखरासि-भंगं ॥
देव रिच्छ[11] मर्कट बिकट सुभट उद्भट समर
सैल संकास रिपु त्रास कार
बद्ध पाथोधि सुरनिकरमोचन सकुल लंकेस-[12]
दससीस-भुजबीस-हारी[13] ॥
देव दुष्ट बिबुधारिसंघार[14]अपहरनमहिभार अवतारकारनमनूपं[15]
अमलमनवद्य[16]मद्वैत[17]निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूपरूपं ॥
देव सेष श्रुति सारदा संभु नारद सनक गनत[18]गुन अंत नहिं तव
सोइ[19]राम कामारि प्रिय अवधपति सर्वदा
दास तुलसी त्रासनिधिबहित्रं ॥

जान पड़ता है । तस—औरोंमें । ५ देव अखिल—प्रायः औरोंमें । ६ दु
७४ में नहीं है । ७ भार्गव गर्ब—६६, भा०, ज०, ७४, १५ । भार्गवा
ह०, आ० । ८ देव देव—भा०, बे० । ९ सुदुस्त्यज राज—६६, रा० ।
राज्य—भा० । अमर सुदुस्त्यज राज (वा, राज्य)—ह०, बे०, ज०, १५,
७४, आ० । १० सकल—६६, रा०, भा०, बे०, प्र०, ज०, १५ ।
ह०, ५१, आ० । त्यक्त करि सहित—७४ । ११ रिच्छ—६६, भा० ।
ह०, रा० । रीछ—बे० । १२ लंकेस—६६ । दलन—प्रायः औरोंमें । १३
६६ । भारी—प्रायः औरोंमें । १४ संघात—औरोंमें । १५, १६, १७
अनवद्य, अद्वैत—प्रायः औरों में ।१८ गुनत—ज० । १९—७४ में नहीं है ।

शब्दार्थ—कंदर्प = कामदेव । व्यालमिव = व्यालं इव । वैनतेय = कश्यपजीकी विनता नामक स्त्रीके पुत्र गरुड़ ।—विशेष पद २ (४) 'सारथि पंगु दिव्य रथ गामी' में देखिये । परचंड (प्रचंड) = कठिन, भयंकर । बिसिख = बाण । बलमप्रमेयं = बलं अप्रमेयं = अपार बल । अप्रमेय = जो नापा न जा सके = अपरिमित । वारिदाभं = वारिद आभं = मेघोंकी कान्तिके समान । तप्त कांचन = तपाया हुआ सोना; खरा सोना । पाथोजनाभ=कमलनाभ = जिनके नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ । = श्रीमन्नारायण जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए । दुर्ग = दुर्गम; जिसपर बड़ा दुःख उठानेपर भी गम-गुजर कठिन हो । इसीसे 'किला', 'कोट' को 'दुर्ग' कहते हैं । प्रौढ़ = अच्छी तरह बढ़ा हुआ । = चतुर, निपुण । पच्छ = सहायता । भग्न = काटनेके लिये । कुठार = कुल्हाड़ा । पादप = पाद (पैर अर्थात् जड़) द्वारा जल पीने वा रस खींचनेवाला = वृक्ष । शाप = अहित कामनासूचक शब्द; आशिषका उलटा; बददुआ । मुक्त = (शापके बुरे प्रभावसे) छुटकारा । सदसि = सभा; यज्ञमंडप; घर । भार्गव = भृगवंशमें उत्पन्न = परशुराम । गरिमापहर्ता = गरिमा (= भारीपन; शेखी; गौरव) के अपहर्ता (= नाशक) । गुर (गुरु) = वह व्यक्ति जो अपनेसे वय, विद्या, बुद्धि, बल वा पदमें बड़ा हो । यहाँ यह शब्द 'पिता' अथवा 'पिता और माता' के लिये आया है । गौरव = गुरुता, महत्व, सम्मान, उत्कर्ष । सुदुस्त्यज (सुदुस्त्याज्य) = जिसका त्यागना अत्यन्त कठिन हो; जो किसीसे छोड़ा न जा सकने योग्य हो । 'दुः' किसी शब्दके पहले लगकर 'बुरा', 'कठिनाईसे' इत्यादि अर्थ पैदा कर देता है । जैसे—दुष्प्राप्य, दुस्तर । त्यक्त = त्यागकर । श्री-सकल = संपूर्ण राज्यश्री अर्थात् राजवैभव । श्री = लक्ष्मी, संपत्ति, विभूति । = अधिकार । मनुजमनुसृत्य = मनुज अनुसृत्य = मनुष्यका अनुकरण (नकल) वा नरनाट्य अर्थात् नरके समान आचरण करते हुये वा करके । = मनुष्योंकी तरह । माया = कपट, बनावटी; यथा 'तब मारीच कपट मृग भयऊ ।' ' 'माया मृग पाछे सो धावा । ३।२७।१,११।' कुरंग = हिरन । पुन्य = पवित्र, सुहावन, हराभरा । सुहृद (सुहृत्) = मित्र । भंगं = विनाश; विध्वंस करनेवाले । यथा 'पुनि सुग्रीव मिताई बालिप्रान कर भंग ।' रिच्छ (ऋक्ष) = रीछ, भालु । उद्भट = प्रचंड, प्रबल वा श्रेष्ठ । 'उद्' उपसर्ग शब्दोंके पहले लगकर उनमें अनेक

अर्थोंकी विशेषता उत्पन्न कर देता है। यहाँ 'उत्कर्ष, प्राबल्य त प्राधान्य' अर्थ देता है। उद्भट समर = रणोद्भट, रणमें प्रचण्ड संकाश = सदृश, समान। विबुधारि = विबुध (= देवताओं) शत्रु = असुर। अनूप कारण = कारण विशेष। संघार (संहार) = नाश। सुमिरामि (स्मरामि) = स्मरण करता हूँ। गनत = गणन करते, गान करते हैं। बहित्रं (वहित्र) = बड़ी नाव या जहाज। = बाहर करनेवाले।

पद्यार्थ—देव! आप सूर्यवंशरूपी कमलके (खिलानेके) लि सूर्यरूप हैं। करोड़ों कामदेवोंके समान आपकी छवि है। कलिका (एवं काल और कलि) रूपी सर्पके (भक्षणके लिये) आप गरुड़ हैं। आपके भुजदंड बड़ेही बलवान हैं। आप प्रचंड धनुष, अ (अर्थात् अक्षय) तरकश और बाण धारण किये हैं और आपका ब अपार है। १। देव! लाल कमलके दलके समान (लंबे अरुणारे द आपके नेत्र हैं। आप सुखके धाम और करुणाके समुद्र हैं। आप शरीरकी कान्ति सुन्दर सजल मेघोंकी कान्तिके समान है। आप वस्त्र तपाये हुये खरे सोनेके समान (पीला और कान्तिमान) है आप शस्त्रविद्यामें निपुण (पूरे पूरे कुशल), सिद्धों और देवताओं सेव्य और कमलनाभ हैं। २। देव! आप संपूर्ण शोभासौन्दर्य घर, विश्वमूर्ति (अर्थात् ब्रह्माण्ड आपका शरीर है, आप विराट् हैं), परम प्रौढ़ *, गम्भीर गुण और श्रेठ एवं बड़ी महिमावा दुर्धर्ष (किसीसे न जीते, आक्रमण या धर्षित किये जाने योग्य दुस्तर (जिसकी महिमाका कोई पार न पा-सके), 'दुर्गम (कठिनता भी न प्राप्त हो सकनेवाले', स्वर्ग और मोक्षके स्वामी और संसार वृक्ष (को काटने) के लिये कुल्हाड़ारूप हैं। ३। देव! आप (गौतम मुनिकी स्त्री (अहल्या) को, जो शापके अधीन (अर्थात् शा होनेसे पाषाणरूप) थी, शापके बंधनसे छुड़ानेवाले, विश्वामित्र विप्रोंके हितकारी, (विश्वामित्रकी) यज्ञरक्षामें चतुर और कु तथा उनके सहायक †, जनकमहाराजकी सभामें शिवधनुषको तो

---

* विशेष व्याख्या टि० ३ (ग) में है।

† अर्थान्तर—१ अति चतुर पक्षपाती होनेके कारण ब्राह्मणोंके हितके विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा की। (दीनजी)। २ अपने भक्तोंका करनेवाले। (वि०)।

और प्रचंड भयंकर स्वभाववाले परशुरामजीके गर्व और गरिमा एवं गर्वकी गरिमा (भारीपन) के हरने वाले हैं। ४। देव! पिताके वचनोंके गौरव (की रक्षा) के लिये अत्यन्त दुस्त्यज राज्य और संपूर्ण राज्यलक्ष्मीको त्यागकर भाई लक्ष्मण और श्रीजानकीजीको साथ लेकर, (साक्षात्) अजन्मा ब्रह्म, तीनों लोकोंके रक्षक आप मनुष्योंका अनुसरण करके दुष्टोंके वधमें तत्पर हुए। ५। देव! आपने अपने पावन चरणोंसे दण्डकारण्यको पवित्र और सुहावन कर दिया। आपही मारीच (और उस) के कपटमृगरूपके हरनेवाले, बलके मदसे मतवाले बालीरूपी मत्त गजराजके लिये सिंहसमान और मित्र सुग्रीवके दुःखसमूहके नाशक हैं। ६। देव! बाँके सुभट, रणमें प्रचण्ड, पर्वतसमान शरीरवाले शत्रुओंको भी त्रसित करनेवाले रीछ †† और बंदरोंसे समुद्रको बँधवाकर आपही देवसमूहको (रावणके बंदीखानेसे) छुड़ानेवाले और कुलसहित लंकापतिके दस सिर और बीस भुजाओंके हर लेने (काट लेने वाले (वा, दशशीश बीसभुजवाले रावणको कुलसहित नाशकरनेवाले) हैं। ७ देव! दुष्टों और दुष्ट असुरोंका संहार तथा भूभारका अपहरण आपके अवतारका अनुपम कारण है ‡। निर्मल, अनिन्द्य एवं निर्दोष, अद्वितीय, निर्गुण और सगुण (दोनों ही), नरराजरूपधारी ब्रह्म श्रीराम! मैं आपका स्मरण करता हूँ। ८। देव! शेष, श्रुति, शारदा, शम्भु, नारद और सनक (आदि) आपके गुणगान करते हैं, पर आपके चरित्रोंका अन्त नहीं पाते (एवं गुणोंकी गणना करते आपके चरितका अन्त नहीं पाते)। वही शिवजीके प्यारे, अयोध्यापति आप सदा तुलसीदासको (भव) त्रासरूपी समुद्रके पार करनेवाले जहाज (हैं वा होवें)। ९।

---

†† अथवा, 'आप रीछ और बंदरोंको (अपनी कृपासे) विकट सुभट बनाकर उनसे पर्वतसरिसशरीरवाले अति प्रचंड युद्ध करनेवाले शत्रुओंको त्रसित करनेवाले हैं। (वे० भू०)।

‡ अर्थान्तर—१ कारणविशेषसे अवतार लेनेवाले (दीनजी)। २— अनुपमकारण—विशिष्ट अवतार लेनेवाले। (वि०)। (३) हे अनुपम कारणरूप! (सू० शु०)।

टिप्पणी—१ (क) 'भानुकुलकमलरवि' इति। रावणने सूर्यकु नन्दन महाराज श्रीअनरण्यजीसे युद्ध माँगा। घोर युद्ध हुआ श्रीअनरण्यमहाराज उसके आघातसे जब पृथ्वीपर गिरे, तब रावण गर्वमें आकर अपनी प्रशंसा की। महाराजने उसको शाप दिया— 'यदि दत्तं यदि हुतं यदि मे सुकृतं तपः। यदि गुप्ताः प्रजाः सम्य तदा सत्यं वचोऽस्तु मे ॥ उत्पत्स्यते कुले ह्यस्मिन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् रामो दाशरथिर्नाम स ते प्राणान् हरिष्यति। वाल्मी० ७ २९-३०।'—(अर्थात्) (राक्षस! तूने अपने व्यङ्गपूर्ण वचनों इक्ष्वाकुकुलका अपमान किया है, अतएव मैं तेरे लिये असंगलजनक वचन कहता हूँ—) यदि मैंने दान दिया हो, होम किये हों, पु और तप किये हों, यदि धर्मके अनुसार न्यायपूर्वक प्रजापाल किया हो, तो मेरा यह वचन सत्य होकर रहे। "महात्म इक्ष्वाकुमहाराजके इस वंशमेंही दाशरथी श्रीराम प्रकट होंगे जो ते प्राणोंका अपहरण करेंगे।"

अनरण्य महाराजके पराजयसे भानुकुल संपुटित रहा। जब श्रीराम जीने उस कुलमें अवतीर्ण होकर उनके दिये हुये शापको रावणव करके सत्य किया, तब यह कुल पुनः विकसित हुआ। इसीसे राव वध करके श्रीअयोध्याजीमें प्रवेश करते समय श्रीरामजीको 'भानु कुलकमलदिवाकर' विशेषण दिया है। यथा 'इहां भानुकुलकमल दिवाकर। कपिन्ह देखावत नगर मनोहर ।७।४।१।' ब्रह्माजीने रावणवधपर स्तुति करते हुये कहा है— 'रघुबंसबिभूषन दूषनहा ६।११०।'

१ (ख) 'कोटि कंदर्प छबि'—'कंदर्प अगनित अमित छबि।' ४ (२ क), ४४ (३ घ) देखिये। 'कंदर्प' की उपमा इससे दी कि कामदेव भी श्यामवर्ण है और श्रीरामजीभी श्याम हैं।

१ (ग) 'काल कलि व्यालमिव वैनतेयं' इति। अर्थात् जैसे गरुड़ सर्प को देखकर तुरत उसपर झपटकर उसे भक्षण कर लेता है, वैसेही आप अपने भक्तोंके काल एवं कलिका नाश कर देते हैं। यथा 'का कराल व्याल खगराजहि ।७।३०।५।', 'ग्रसत कलिकाल (व्याल) राख सरन सोऊ ।१०६।' पद ६१ में भी भगवान्को 'कालगजराज मृगरा कहा है। कालसर्पग्रसितको भगवान्के सिवा कोई बचानेवा

नहीं है। यथा 'ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः भा० ११।८।४१।'

अतः हमने काल और कलि दोनोंको लिया है। अन्य टीकाकारोंने 'कलिकाल' अर्थ किया है। ☞ स्मरण रहे कि श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला (चरित) और धाम ये चारों ही कलिके नाशक हैं। प्रमाण यथा—'सज्जनं कामधुकधेनु विश्रामप्रद नाम कलिकलुषभंजनमनूपं। ४६।', 'रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल। जापकजन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल।१।२७।'; 'कालकलिव्यालमिव वैनतेयं' (रूप); 'रामकथा कलिपन्नगभरनो।१।३१।६।'; 'वंदउँ अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलिकलुष नसावनि १।१६।१।'

१ (घ) 'प्रबल भुजदंड परचंडकोदंडधर···' इति। रावणवधपर इन्द्रने 'प्रबल भुजदंड' विशेषण दिया है। यथा 'धृतत्रोनवरसरचाप। भुजदंड प्रबल प्रताप।६।११२।' पद ४४ के 'धर्मधुरधीर रघुबीर भुजबल अतुल हेलया दलित भूभार भारी' का भाव भी 'प्रबल' से जना दिया है। 'प्रचंड कोदंड' से यहाँ 'कठोर, कठिन (अर्थात् दूसरा न चढ़ा सके), दुष्टोंका संहारकरनेमें भयंकर और बड़ा भारी' जनाया। 'तून बर बिसिख'—'वर' दीपदेहलीन्यायसे तूण और विसिख दोनोंका विशेषण है। 'बर तूण' अर्थात् अक्षय बाणोंसे भरा हुआ अक्षय तरकश अर्थात् जिसमेंसे चाहे जितने बाण निकाले जायँ वह कभी खाली नहीं होता। 'बर विशिख' से स्वर्ण पुंखोंवाले, अमोघ, अत्यन्त तीक्ष्ण, वज्रके सदृश, पवन और मनके तुल्य वेगवाले, तथा वृद्धिको प्राप्त होनेवाले बाण सूचित किये। यथा हनुमन्नाटके 'सुवर्णपुंखाः सुभटाः सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमनः प्रवेगाः।७।८।', 'तूणेनैकशरो करेण दशधा सन्धानकाले शतं, चापेऽभूत सहस्र लक्षगमने कोटिश्च कोटिर्वधे। अन्ते अर्बनिखर्ब बाण विविधैस्सीतापतिश्शोभितः, ह्यतद्बाणपराक्रमस्य महिमा सत्पात्र दानं यथा" (भजनरत्नावली)। (बाणकी महिमा है कि तरकशमें रहनेपर एक है, हाथमें लेते ही वह दश, सन्धानकालमें सौ, चापमें लगतेही सहस्र, लक्षपर छोड़नेपर करोड़ों करोड़ों हो जाता है। इत्यादि)।

'बलमप्रमेयं', यथा 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जान नहि पाई।' (जयन्त), 'संकर चापु जहाज सागर रघुबर बाहुबल। १।२६१।'

टिप्पणी—२ (क) 'अरुन राजीवदल नयन'— 'नवकंजलोचन ४५ (२) ।', 'रामराजीवलोचन कृपाला । ४६ (४) ।' देखिए। ('सुखअयन'— 'जानकीरवन सुखभवन । ४६ (२) ।' टि० २ (देखिए। पुनश्च यथा 'सो सुखधाम राम अस नामा ।' इसे नयन विशेषणभी मान सकते हैं। (ग) 'श्याम तनकांतिकर वारिदाभं' वही भाव है जो 'कंदर्प अगनित अमित छवि नवनीलनीरदसुंदरं ४५ (२) ।' में है। (घ) 'तप्तकांचनवस्त्र' इति। तपाये जानेसे सोनेपर चढ़ता है, उसका मैल निकलकर शुद्ध सोना रह जाता है और उस खरे-खोटेकी परख हो जाती है। यथा 'कनकहि बान चढ़ै जि दाहे ।२।२०५।५।' उस तपाये हुये सोनेके रंगका सा पीत वस्त्र है अन्यत्र प्रायः तड़ितद्युतिकी उपमा और कहीं-कहीं कमलकेसर औ कनककी उपमायें दी हैं। यथा 'दिव्यतर दुकूल भव्य नव्य रुचि चंपकचय, चंचला कपाल कनकनिकर अलि किधौं हैं।' गी०७। विनयमें अन्यत्र प्रायः दामिनि-द्युतिकी उपमा है। भा० ८।६।४ भी तप्तस्वर्णकी उपमा आई है। यथा 'तप्तहेमावदातेन लसत्कौशे वाससा।' अर्थात् तपे हुये सोनेके समान कान्तिमान् पीताम्बरधारी

२ (ङ) 'शस्त्रविद्या निपुन' इति। शस्त्र प्रायः वे कहलाते हैं जिन पाससे आघात किया जाता है, जैसे खड्ग, तलवार। जो फेंक चलाये जाते हैं एवं जिससे कोई चीज फेंकी जाय, वे 'अस्त्र' क जाते हैं; जैसे बाण, शक्ति, धनुष। पुनः, अस्त्रको मंत्रोंद्वारा काम लाना होता है और शस्त्र उसके बिना। यथा 'अस्त्रमन्त्रैः प्रोक्त शस्त्रमुक्तं तु तैर्विना।'

पद ४४ में श्रीरामजीको 'सुभग सारंग सुनिषंग सायक सक्ति चा चर्मासि बरबर्मधारी' कहा है। वहाँ अस्त्र-शस्त्र दोनोंका धारण कर कहकर दोनों विद्याओंमें निपुण दिखाया है। और, मुख्य आयु श्रीरामजीके धनुष बाणही हैं जो अस्त्र हैं। उनके शत्रुओंने त उनको 'धन्वी' कहा है। यथा 'देखत बालक काल समाना। परम धी धन्वी गुन नाना। ३।२२।६।', 'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वि सकल लोक विख्याता। ६।४६।१।' कविने स्वयं भी कि०मं० में 'शोभ ढ्यौ वरधन्विनौ' कहा है। अतएव यहाँ अस्त्र-शस्त्र दोनों विद्याओं निपुण जनानेके लिये 'शस्त्रविद्यानिपुण' कहा। वाल्मी० १।१।१ में भी "(वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो) धनुर्वेदे च निष्ठितः।' कहा है। 'श

विद्या' से यहाँ 'यजुर्वेदका उपवेद धनुर्वेद' अभिप्रेत है, जिसमें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चलानेकी विधियाँ और लड़ाईके संपूर्ण भेदोंका वर्णन किया गया है।

२ (च) 'सिद्धसुरसेव्य' और 'पाथोजनाभं' से ऐश्वर्य दिखाया। 'सिद्धसुरसेव्य', यथा 'सिद्ध सुर मुनिबृंद वंदित सुखद सब कहँ सरन। २१८।', 'सिद्धवृंदारकावृंदवंदित सदा।५३।', 'अखिल मुनिनिकर सुर सिद्ध गंधर्व बर नमत नर नाग अवनिप अनेकं।५१ (७)।', 'ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं। सु० मं०१।'

२ (छ) 'पाथोजनाभ' की निरुक्ति इस प्रकार है—'यस्य हेममयी दिव्या कर्णिका मेरुरुच्यते। पार्थिवे भूरि पद्मं तु नाभावष्टदलं महत। यस्य नाभौ तदुत्पत्तिः पद्मनाभः स उच्यते।' अर्थात् सबका उत्पत्ति-स्थान भूमिरूप अष्टदलकमल जिसकी नाभिमें है और मेरुपर्वत जिस भूमिकमलकी स्वर्णमयी कर्णिका है। तात्पर्य कि नाभिकमलसे ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति होनेसे 'कंजनाभ', 'पद्मनाभ' इत्यादि नाम हुए। इसी नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई, यह स्वयं ब्रह्मदेवने भगवान्‌से कहा है। यथा 'यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम्। भा० ३।९।२।' वाल्मी० ७।१०४।७। में भी कहा है–'पद्मे दिव्येऽर्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि।' अर्थात् आपने अपने नाभिके सूर्यसदृश दिव्य कमलसे मुझको भी उत्पन्न किया।

टिप्पणी—३ (क) 'देवमखिल लावन्यगृह'—भाव कि संसारभरमें जो भी सुन्दरता कहीं-कहीं देखनेमें आती है, वह आपहीसे प्राप्त हुई है। अर्थात् आप 'सकलसौन्दर्यनिधान', 'सकल शोभाकी खान' हैं। यथा 'सुखमा-सुरभि सिंगारछीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवनछबि मनहु मही री। गी० १।१०४।', 'राजकुँअर दोउ सहज सलोने। इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने।२।११६।८।' मिलान कीजिए—'शृङ्गारसर तामरसदाम-द्युति देह।४४।', 'सकलसौभाग्यसौंदर्यसुखमारूप मनोभवकोटि गर्वापहारी।४४।'

३ (ख) 'विश्वविग्रह', यथा 'बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वास। लोककल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु। ६।१४।' से लेकर 'मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥' तक। विश्वरूप कहकर परा अपरा दोनों प्रकृतियोंका स्वामी, सर्वश्रेष्ठ, एकरस

एवं परम पुरुष जनाया। विशेष 'अचरचररूप हरि' ४७ (ग) देखिए।

३ (ग) 'परम प्रौढ़' इति। भाव कि समस्त बातोंमें अत्यन्त अधिक बढ़े हुये हैं और अत्यन्त दक्ष हैं। यथा कामसतकोटि सुभग तन' से 'राम अमित गुनसागर थाह कि कोइ।' तक। (७।९०-९२)। * यदि 'प्रौढ़' को 'गुन' का विशे मानें, तो 'परम', 'प्रौढ़ गुण' और 'गूढ़' तीनोंको पृथक्-पृथक् लेनेसे नामोंकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी।—'परो मा यस्मादसौ परम अर्थात् जिससे परे (बड़ा) कोई नहीं, उसका नाम 'परम' प्रौढ़ गुण = अधिक बढ़कर गुणवाले। और, ब्रह्मादिकको भी जिस यथार्थ ज्ञान नहीं है वह 'गूढ़' है।—यह अर्थ 'अन्यैर्दुरवबोधो गूढ़ इत्यभिधीयते' इस निरुक्तिके अनुसार है। अर्थात् तत्त्वज्ञोंसे इयत्ता करके जिसका स्वरूपज्ञान नहीं होता, उसको 'गूढ़' कहते 'गुन गूढ़' को एक साथ लेनेसे 'गुन गूढ़ महिमा उदारं' का होगा कि आपके गुणों और आपकी अतिशय महिमाकी थाह नहीं पा सकता। यथा 'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अनंत रघुनाथा॥···तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कोउ पाव कि थाहा॥', 'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़···'—यह 'गूढ़ गुण' की व्याख्या "आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना से 'असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ बरनी। १।११८।४-८।' तक—ये सब महिमाके उदाहरण हैं।

बाबू शिवप्रकाश और बैजनाथजीके मतानुसार "गूढ़=गु गुन गूढ़=ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, बल, शक्ति इत्यादि गुण गुप्त किये राजकुमारकीसी लीला करते हैं। (वै०)। सू० शुक्लके मतसे गूढ़' = सत्वरजतम गुणोंसे छिपे हुए। और श्री० शरणने 'रहस्या गुणवाले' अर्थ किया है।

---

* 'परम प्रौढ़' के और अर्थ—(१) अत्यन्त बलयुक्त-(डु०)। (अत्यन्त बढ़े हुये (गंभीर गुणकी)'-(वीरकवि)। (३) परम चतुर (वि०)। (४) बड़े मजबूत-(दीन)।

३ (घ) 'दुर्द्धर्ष दुस्तर दुर्ग' इति। यथा 'कालकोटिसततसरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत। धूमकेतुसतकोटि सम दुराधरष भगवंत। ७।९१।'—इस उद्धरणसे भाव स्पष्ट हो जाते हैं। आगे पद ५४ में 'दुर्ग दुर्धर्ष दुर्गतिहर्ता' भी कहा है। यहाँ श्रीरामजी स्वयं दुर्धर्ष, दुस्तर, दुर्ग बताये गये हैं। ५४ (७ ग) में और भी भाव देखिए।

३ (ङ) 'स्वर्ग अपवर्गपति' इति। 'स्वर्ग' और 'अपवर्ग' (मोक्ष) के देनेवाले एकमात्र हरि ही हैं। यथा 'वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्य-हेतुना॥ भा० ४।२१।३०।' भा० १०।६०।५२ में भी भगवान्‌को 'अपवर्गेश' कहा है। स्वर्गापवर्गदाता होनेसे दोनोंका स्वामी कहा। पुनः, स्वर्ग और मोक्ष दोनोंके स्वामी कहकर उनको त्रिपाद्विभूति एवं एकपाद्विभूति दोनों विभूतियोंका अर्थात् 'पर' और 'अवर' दोनोंका स्वामी कहकर उनको 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकाशनिधि प्रकट परावरनाथ। १।११६।' सूचित किया।

३ (च) 'भग्नसंसारपादपकुठारं' इति। ☞ यहाँ संसारको वृक्ष कहा। भा० ११।१२।२१–२३ में भगवान्‌ने उद्धवजीसे संसारवृक्षका रूपक इस प्रकार कहा है—यह संसारवृक्ष अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य है। इसका स्वरूपही है 'कर्मकी परंपरा।' मोक्ष और भोग इसके फल हैं। पाप और पुण्य इसके दो बीज हैं। असंख्य वासनायें इसकी जड़ें हैं और सत्व, रज, तम तीनों गुण इसके तने हैं। पंचभूत इसकी मोटी-मोटी प्रधान शाखाएँ हैं, शब्दादि पंच विषय रस हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ शाखाएँ हैं तथा जीव और ईश्वर दो पक्षी हैं, जो इसमें घोंसला बनाकर निवास करते हैं। इस वृक्षमें वात, पित्त और कफरूप तीन तरहकी छाल है। सुख और दुःख इसके दो प्रकारके फल हैं। यह विशाल वृक्ष सूर्यमंडल तक फैला हुआ है। इसके आगे लोकातीत स्थान है। इसीसे मुक्त पुरुष सूर्यमंडल भेदकर आगे जाते हैं। जो विषयवासनाओंमें फँसे हुये हैं, वे इस वृक्षका दुःखरूप फल भोगते हैं। जो परमहंस हैं, विषयोंसे विरक्त हैं, वे राजहंससमान हैं इसका सुखरूप फल भोगते हैं। मानस उत्तरकांडमें संसार-विटपका रूपक इस प्रकार वेदोंने कहा है—

'अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंचवीस अनेक पर्न सुमन घने।

फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ।७।१३।'

आगे पद २०२ में द्वैतको मूल, भयको कांटे और शोकको भ तरुका फल कहा है।

नोट—१ यहाँ 'संसार' (भव, जन्ममरणादि) पर वृक्षका आ करके श्रीरामजीमें कुठारका आरोपकर पूर्णरूपसे एकरूपता दि है। जैसे कुल्हाड़ेसे वृक्ष समूल काट गिराया जाता है, वैसेही श्र अपने आश्रितोंके भवको समूल नष्ट कर देते हैं। यहाँ समअभे रूपकालंकार है।

२ यहाँ श्रीरामजीको कुठार कहा और आगे पद २०२ में श्रीरा भक्तिको तीक्ष्ण कुठार कहा है। यथा 'द्वैतमूल भय सूल सोक भवतरु टरइ न टार्‍यो। रामभजन तीछन कुठार लेइ सो नहिं निवार्‍यो। (२)।' श्रीरामभजनको 'तीक्ष्ण' कुठार कहकर भ विशेषता दिखाई।

टिप्पणी—४ (क) 'देव सापबस मुनिबधू मुक्तकृत' इति। 'पापबस मुनिबधू सापहारी।'—४३ (३ ख, ३ ग) में देखिए। 'पापबस' कहकर 'शापहारी' कहा था, और यहाँ शापित अहल्या 'मुक्तकृत' अर्थात् शापसे मुक्तकर उसको सद्गति देना कहा। "सिला सापसंतापबिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति १०० ४)।', 'परसि जासु पदपंकजधूरी। तरी अहल्या कृत अघभूरि १।२२३।'

४ (ख) 'विप्रहित' इति। पहिले यज्ञरक्षा हुई है, तब अहल्योद्धा परन्तु यहाँ क्रम उलटा है। इस क्रमभंगका कारण यह जान पड़ता कि प्रभुका ऐश्वर्य वर्णन करते आ रहे हैं, अतः उसीके साथ यह ऐ भी कहा। 'विप्रहित' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता अहल्योद्धार करके महर्षि गौतमका हित किया और ताड़का सु आदिको मारकर विप्र विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा की। इससे श्रीराम को ब्रह्मण्यदेव जनाया। विश्वामित्रजीने ताटकावधपर कहा भी है 'प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना।' विश्वामित्रका हित, यथा 'रिषि हित सुकेतसुताकी। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी। १।२४।४।' 'विप्रहि से अन्य सब मुनियोंका भी हित जनाया। यथा 'तहँ पुनि क दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया।१।२१०।७.'

४ (ग) 'यज्ञरक्षनदक्ष' इति । दक्षता इससे सिद्ध है कि इन्होंने स्वयं मुनिसे निर्भय यज्ञ करनेको कहा । यथा 'प्रात कहा मुनि सन रघुराई । निर्भय जज्ञ करहु तुम्ह जाई ।' 'आप रहे मखकी रखवारी । १।२१०।' मारीचको विना फलके बाणसे समुद्रपार फेंक दिया, सुबाहुको पावकास्त्रसे जला दिया । (मा. पी. १।२१०।१-४ देखिए)। वाल्मी. १।३०।४ और अ० रा० १।५।४ में बताया है कि यह यज्ञ छः दिन-रात्रिका था । अतएव छः दिनरात आप निरन्तर रक्षामें रहे, बराबर जागते रहे । विश्वामित्रजीने स्वयं श्रीजनकजीसे कहा है कि 'मख राखेउ सब साखि जग जिते असुर संग्राम ।१।२१६।'

४ (घ) 'पक्षकर्ता' का भाव कि विप्रहित करनेमें उचित अनुचितका विचार न करते हुये इनकी सहायता करते थे । जैसे कि ताटका स्त्री थी, पर उसका भी वध किया । यह केवल विश्वामित्रकी आज्ञा पालन और उनके हितार्थ किया । वाल्मीकीय से यह स्पष्ट है । ☞ स्मरण रहे कि यद्यपि भगवान् समदृष्टि हैं तो भी भक्तद्रोहीको वे अपना शत्रु ही मान लेते हैं, उसके अपराधको नहीं सह सकते । यथा 'जो अपराध भगत कर करई । रामरोषपावक सो जरई ।२।२१८।५।', 'जद्यपि सम नहि राग न रोषू ।'' तदपि करहिं सम विषम बिहारा । भगत अभगत हृदय अनुसारा ।२।२१९।३,५।', उसको दंडदेनेमें वे किसी बातका विचार नहीं करते । वाल्मी० ३।१० में भगवान्ने स्वयं यह अपनी बान आश्रितरक्षणके संबंधमें रक्षोवधसमर्थन प्रसंगमें श्रीसीताजीसे कहा है ।

४ (ङ) 'जनकनृपसदसि सिवचापभंजन' इति । 'सदसि' से जनाया कि एकान्तमें नहीं किन्तु राजाओंकी भरी सभामें सबके सामने धनुषको तोड़ा । इससे मानसकथित कथाप्रसंग सूचित किया । मन्दोदरीने भी कहा है—'जनकसभा अगनित भूपाला । रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला । भंजि धनुष जानकी बिआही ।६।३५।१०-११।' श्रीजनकमहाराजके दूतोंने भी कहा है—'सीय स्वयंबर भूप अनेका । समिटे सुभट एक तें एका ।।'' तीनि लोक महँ जे भट मानी । सभ कै सकति संभुधनु भानी ।।''तहाँ राम रघुबंसमनिसुनिअ महामहिपाल । भंजेउ चाप प्रयास बिनु''।१।२९२।'

४ (च) 'उग्र भार्गव गर्व गरिमापहर्ता' इति । इसमें वह सब भाव हैं जो 'सहित भृगुनाथ नत माथ भारी ।४३ (३ ङ)' में कहे गये हैं ।

वहीं देखिए। क्षत्रियकुलको भयकारी, कठिनकरनीवाले (यथा 'गर्भ
अर्भक दलन परसु मोर अति घोर'), करालवेष और निर्दयी
सरोष स्वभाववाले होनेसे 'उग्र' कहा। यथा 'सांत बेष करनी कठिन
न जाइ सरूप। धरि मुनितनु जनु बीररस आयेउ जहँ सब भूप ॥१।२
देखत भृगुपति बेष कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला ॥
सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी ॥…सु
नाग नगरनरनारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥…भृगुपति
सुभाव सुनि सीता। अरध निमेष कलप सम बीता ॥१।२६९-२७
'काल कराल नृपालनके धनुभंग सुने फरसा लिये धाए।' (क० १

'गर्बगरिमापहर्त्ता'—इससे वाल्मीकीय आदि रामायणोंकी
भी जना दी। आवेशावतारका जो तेज परशुरामजीके शरीरमें था,
सब श्रीरामजीने विष्णुचाप चढ़ाते ही हरण कर लिया। परशुराम
बहुत बिनती की, इससे उनका वेग नहीं हरण किया, केवल
तपलोक और भगवत्-आवेशको हरण किया, जिससे अब वे साधा
मुनि रह गए। इसीसे तो अपराध क्षमा कराके और 'कहि जय जय
रघुकुलकेतू। भृगुपति गए बनहिं तपहेतू ॥' गरिमापहर्त्ता, यथा '
पति केरि गरब गरुआई। सुरमुनिवरन्हि केरि कदराई ॥…संभु
बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई ॥ रामबाहुबल
अपारू। चहत पार नहि कोउ कनहारू ॥ संकरचापजहाज सागर
वर बाहुबल। बूड़ सो सकल समाज चढ़ा जो प्रथमहि मोहबस।१।२६
अर्थात् उनके गर्बका सब भारीपन श्रीरामबाहुबलरूपी समुद्रमें
गया। अप्रमेय बल देख वीरताका गर्व रफूचक्कर हो गया। इ
'जामदग्न्यमहादर्पदलनः' आपका एक नाम है (प० पु० उ० २८
अष्टोत्तरशतनाम)। ☞ यहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्षवर्णन होनेसे '
अलंकार' है।

टिप्पणी–५ 'देव गुर गिरा गौरव…' इति। (क) इस च
दिखाया कि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन परम धर्म है, उसकी भारी म
है; अतएव यह सबका परम कर्तव्य है। विष्णुभगवान्ने नरो
ब्राह्मणसे मूक चाण्डालके यहाँ अपने दर्शन होनेका रहस्य बत
हुए कहा है कि "देवताओंमें भी पिता और मातासे बढ़कर
नहीं है। जिसने मातापिताकी आराधना की है वही पुरुषोंमें श्रेष्ठ
वह मेरे हृदयमें रहता है और मैं उसके हृदयमें। हम दोनोंमें

अन्तर नहीं रह जाता। इहलोक और परलोकमें वह मेरे ही समान पूज्य है।…एक दिन भी जिसने मातापिताकी भक्तिकी है वह मेरे धामको प्राप्त होता है। (प० पु० सृ० ४७।२८)। माता सर्वतीर्थमयी और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है। मातापिताकी परिक्रमासे समूची पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। और उनको साष्टाङ्गप्रणाम करनेसे अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है। पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। (प० पु० सृ० ४७।९-१२)। मातापिताकी आराधना न: करके पुत्र यदि तीर्थ और देवताओंका सेवन करे, तो उसे कोई फल नहीं मिलता।—यह मातापिताका 'गौरव' है। श्रीवचनामृत भी है—'चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके॥', 'मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥…साधन एकु सकल सिधि देनी॥' श्रीकौसल्या अंबाने भी कहा है—'पितु आयसु सब धरमक टीका।'

पितामाताके वचनके पालनार्थ राज्यका त्याग आदि ४२ (४ ख) में देखिए।

५ (ख) 'सुदस्त्यज राज०' का भाव कि अवधराज्यके सुख और ऐश्वर्यको इन्द्रतक ललचाते थे, तब भला वह जिसे प्राप्त हो वह इसे कब छोड़ सकता है? यथा 'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथधन सुनि धनद लजाई।२।३२४।६।' ऐसे राज्यको भी आपने 'बटाऊ की नाईं' त्याग दिया। यथा 'औध तजी मगवासके रूख ज्यों, पंथके साथ ज्यों लोग लोगाई।…राजिवलोचन राम चले तजि बापको राज बटाउ की नाईं। क. २।१'

भा० ११।५।३४ के 'त्यक्त्वा सुदस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।' इस पूर्वार्धकी छाया 'गुरगिरागौरव सुदुस्त्यजराजत्यक्तु' में है। अर्थ है कि जो देवताओंकी भी अभीष्ट है, जिसे वे भी त्याग नहीं सकते, ऐसी राज्यलक्ष्मीको त्यागकर केवल धर्मकी रक्षाके लिये आप पिताके वचनोंसे वनको पधारे। 'त्यक्त श्रीसकल' में राज्यलक्ष्मीके साथही साथ अपने भूषण-वस्त्र और कनक भवन आदि सभी ऐश्वर्यका त्याग कहकर विशेष उदासी वेष बल्कल वस्त्र और कोपीन आदिका धारण करके जाना सूचित कर दिया। यथा 'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर। बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर।२।१६५।' कैकेयीजीने यही बर माँगा

था। यथा 'तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम वनवा
२।२६।'

५ (ग) 'सौमित्रि भ्राता संग जनकात्मजा' इति। भाई लक्ष्
और श्रीजानकीजीका साथ कहकर श्रीरामजीमें इन दोनोंका परम
दिखाया। 'संग' से यह भी भाव झलकता है कि ये दोनों अपनेसे
करके साथ हुए, क्योंकि वरदान केवल 'रामवनवास' का था,
लिये वरदान नहीं माँगा गया था। इनका हठ देखकर
श्रीरामजीने साथमें लिया। यथा 'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तज
काह बसाइ।२।७१।...मन क्रम बचन चरनरत होई। कृपा
परिहरिअ कि सोई।', 'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न
अहिं प्रान।२।६६।...देखेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगा
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान।६७।'

पुनः, सुदुस्त्यज राज्यश्रीके त्याग और भ्राता तथा स्त्रीके
वनगमनका हेतु आगे और भी बताते हैं कि 'दुष्टवधनिरत त्रैलो
त्राता' हैं। विना जनकसुताजीके रावणकुलका संहार न होता
विना भाईके मेघनादवध न होता। अतः इनको भी साथ लिया।

५ (घ) 'मनुजमनुसृत्य अज' इति। रावणको वरदान है
वह मनुष्यके सिवा किसीसे न मरे, (यथा 'रावन मरन मनुज
जाचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा।१।४६।१।'), और संसा
ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो उसे मार सके। अतः त्रैलोक्यस्वामी
नररूप धारणकर नरकेसे चरित करते हैं, जिससे रावणपर अवता
हाल गुप्त रहे। यथा 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु
किये चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।७।७२।', 'नर तन
संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।२।१२७।६।'—
(१ ट) देखिए। (वैजनाथजी लिखते हैं कि "अज मनुज हुए।
कि जैसे मनुजी धर्मपक्षपर आरूढ़ रहे, वैसे ही 'स्मृति' अर्थात्
लेकर मनुसमान धर्म स्थापित करनेके लिये दुष्टवधमें निरत हुये"

५ (ङ) 'दुष्टवध निरत' इति। राज्यको छोड़कर स्त्री और
सहित वनगमन कहकर मनुष्यकी तरह आचरण करते हुए दुष्ट
तत्पर कहा। इस कथनसे यह भी जनाया कि दुष्टोंका वध तो
भ्रूकुटिविलासमात्रसे कर सकते हैं, तो भी आश्रितोंके वचनकी प्रति
के लिये नरनाट्य कर रहे हैं। इसके आगे दण्डकारण्यका

करना कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'दुष्टवधनिरत' से यहाँ 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।', वाल्मी० ३।६।२५ के 'तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान्।' (मैं तपस्वियोंसे शत्रुता रखनेवाले राक्षसोंका युद्धमें संहार करना चाहता हूँ) तथा 'प्रतिज्ञातस्त्वया वीर'''ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम्। वाल्मी० ३।९।१०।' (यह श्रीसीताजीने उनसे कहा है), श्रीरामजीके इन वचनोंका संकेत है।

टिप्पणी—६ (क) 'देव दंडकारन्य कृत पुन्य पावन''' इति। इसमें पद ४३ (४ के 'दंडक विपिन धन्य कृत पुन्य कानन विहारी।' के सब भाव हैं, वहाँ देखिए। यहाँ 'कृत पुन्य पावन' का 'दंडकारन्य' के सम्बन्धमें एक साथ अन्वय हो सकता है। जैसे पद ४३ में 'धन्य पुन्यकृत' है, वैसेही यहाँ 'कृत पुन्य पावन' कहा गया। 'पावन' का अर्थ 'पुनीत, पवित्र' होगा और 'पुन्य' का अर्थ होगा 'सुहावन, छविपूर्ण'। जैसा कहा है—'दंडक वन पुनीत प्रभु करहू। उग्र स्राप मुनिवर कर हरहू।', 'दंडकवन प्रभु कीन्ह सुहावन', और 'गिरि वन नदी ताल छवि छाए।' इत्यादि।

पद ४३ में श्रीरामजीका दण्डकारण्यको 'धन्य पुन्य' करना कहा था। और यहाँ उनके पावन चरणोंका उसे पवित्र करना कहा। आगे भी कहा है—'दंडक पुहुमि पायँ परसि पुनीत भई, उकठे बिटप लागे फूलन फरन।२५७।' इसी भाँति मानसमें पहले 'दंडकवन प्रभु कीन्ह सुहावन।१।२४।७।', 'दंडकवन पुनीत प्रभु करहू। उग्र स्राप मुनिवर कर हरहू॥ बास करहु तहँ रघुकुलराया।३।१३।१६-१७।' कहा, और आगे कहते हैं—'जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडककानन पावनकारी। ४।४२।६।' वस्तुतः दोनोंमें कुछ भेद नहीं है। चरण एक अंग है। काननविहारी चरणसे ही तो चलकर विहार करेंगे, वास करनेमें भी तो चरणसे भूमिपर चलेंगे। दंडकारण्यकी कथा ४३ (४ च) में और 'पुन्य पावन' के भाव ४३ (४ घ, ङ) में देखिए।

६ (ख) 'हरन मारीच माया कुरंग' इति। मायाके संबंधसे 'हरन' क्रिया दी। वस्तुतः इसके वधमें दोनों बातें हुईं, माया भी हर ली गई और मारीचके प्राणभी हर लिये गये। यह श्रीरामबाणकी महिमा है। एकही बाणने दोनों काम किये। कपटमृगको मारकर

उसके रुचिर मृगचर्मको ले लिया, क्योंकि प्राणप्रियाने इसी इच्छा प्रकट की-थी । और मृगके मारे जानेपर मारीच राक्षसरूप भी प्रकट करके उसका भी नाश किया । अर्थात् और दोनों रूप हर लिये गए । यथा 'तब तकि राम कठिन मारा । धरनि परयो करि घोर चिकारा ', 'प्रान तजत प्रगटे निजु देहा । सुमिरेसि राम समेत सनेहा ।···निज पद दीन्ह कहुँ दीनबंधु रघुनाथ ॥', 'हेम को हरिन हनि फिरे रघुकुल लषन ललित कर लिय मृगछाल । गी० ३।६।'—अतः मारीच मायाकुरंग दोनोंका हरण कहा ।

६ (ग) 'बालि बल मत्त गजराज०' इति । बालीको बल मद था, यथा 'अस कहि चला महा अभिमानी । त्रिनु समान सुग्रीव जानी ।', 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन कर न काना ॥ मम भुजबल आश्रित तेहि जानी । मारा चहसि अभिमानी ।' (कि०) । इसीसे 'बल मत्त' कहा । बालिको गज कहा, इसीसे प्रभुको 'केसरी' (सिंह) कहा । सिंह मस्त हाथी मारता ही है । यहाँ 'धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है ।

'सुहृद सुग्रीव' कहकर बालिके वधका कारण बताया कि मित्र है, दुःखी है और 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्ह बिलोकत पातक भारी ।' (कि०) । अतः इनका दुःख हरण कि दुखराशि—'नतग्रीव सुग्रीव दुःखैक बंधो । २७ (२) ।', 'बालि बलसालि बध करन सुग्रीव राजा । ४३ (७) ।' में देखिए।

टिप्पणी—७ 'देव रिच्छ मर्कट···' इति । (क) 'सुभट उद्भट समर सैल संकास' को प्रायः सभी टीकाकारोंने 'मर्कट' का विशेषण माना है । परन्तु इसे 'रिपु' का विशे माननेसे रीछों बन्दरोंकी विशेष उत्कृष्टता प्रमाणित होती है वानरोंमें जो रावण-मेघनाद आदिसे सामना करनेका, उनको देनेका बल है, वह श्रीरामकृपासे, श्रीरामप्रतापसे ही है, नहीं देवताओं आदिका दुःख उन्होंने अबतक स्वयं ही क्यों न दूर दिया होता । श्रीरामजीने प्रथम तो किष्किंधासे प्रस्थान करते बल दिया । यथा 'रामकृपा बल पाइ कपिंदा । भए पच्छजुत गिरिंदा । ५।३५।३।' शुकने भी कहा है—'रामकृपा अतुलित तिन्हहीं । तृन समान त्रैलोकहिं गनहीं । ५।५५।२।'

रामप्रतापका स्मरणकर रावणकी सभामें पद रोपा। तत्पश्चात् 'जातुधान अंगद पन देखी। भय व्याकुल सब भये बिसेषी। ६।३४।१३।' श्रीहनुमान्‌जीने भी अपने संबंधमें कहा है—'नाँघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचरगन बधि बिपिन उजारा॥ सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥''तव प्रताप बड़वानलहि जारि सकै खलु तूल। ५।३३।'

७ (ख) 'बद्ध पाथोधि सुर निकर मोचन'—'बद्ध सागरसेतु अमर मंगल हेतु''। २५ (६)।' तथा 'पाथोधि कृत सेतु कौतुक हेतु। ४३ (८ ख) में देखिए। दूसरेके लिये तो यह बड़ा दुष्कर अद्भुत कार्य हुआ, पर श्रीरामजीके लिये यह एक कौतुक वा विनोदमात्र था।

७ (ग) 'सुर-निकर-मोचन''' इति। समस्त देवोंको रावणके वंदीगृहसे छुड़ाया और रावणका कुलसहित नाश किया। यथा 'रावन सकुल समूल बहायो। विबुध समाज निवाजि बाहँ दै वंदिछोर बर बिरद कहायो। गी० ६।२१।' सिर और बाहु सब हर लिये। यथा 'लै सिर बाहु चले नाराचा। सिर-भुज-हीन रुंड महि नाचा। ६।१०२।२।', 'दससीसबिनासन बीस भुजा। ७।१४।'— विशेष 'दलित दसकंठ''। ४३ (८)।' देखिए।

अभिमान रहते हुये भगवान् अपनाते नहीं, न मोक्ष मिलता है रावणको दस सिर और बीस भुजाओंका भारी अभिमान था। मानसके अंगद-रावण-संवादमें इन दोका अभिमान बारंबार प्रकट किया है। यथा 'बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥''सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस। हुने अनल अति हरष बहु बार साखि गौरीस। ६।२८।' अंगदजीने कहा भी है—'सिर अरु सैल कथा चित रही। ताते बार बीस तैं कही। ६।२६।७।'—अतएव प्रभुने अभिमानकी वस्तुका हरण करके तब उसको मुक्ति दी।

७ (घ) लंकेशका वध होनेपर देववृन्द रावणकी कैदसे छूटे। पर यहाँ 'सुरनिकरमोचन' प्रथम कहकर तब लंकेशवध कहा गया। क्रमभंगका मुख्य कारण यहाँ छन्दानुरोध है। फिर भी समाधान यों किया जा सकता है कि विभीषणजीका तिलक समुद्रतटपर कर देने और उनको लंकेश संबोधित करनेसे देवताओंको विश्वास हो

गया कि अब रावण मारा गया इसमें संदेह नहीं, क्योंकि श्रीरा
सत्यसंकल्प हैं। यह 'अस कहि राम तिलक तेहि सारा।
बृष्टि नभ भयउ अपारा। ५।४९।' से ध्वनित है। अतः देवगण
समयसे अपनेको रावणबंधनमें मुक्त मानने लगे। इस
'सुरनिकरमोचन' पहले कहा। अथवा, देवता जेलमें बंद न थे कि
गए। उन्हें रावणके यहाँ जाकर नित्य हाजिरी देना और जो
वह देता वह करनी पड़ती थी, यही उनका बंदी होना था।
'वेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत, पुजावन रावन सों नित आवैं।
देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिर नावैं। (क० ७
'सुर नर असुर नाग खग किन्नर सकल करत मेरो मन भा
गी० ६।३।'—यह बंधन रावणशीशबाहुहरणके पूर्वही छूट ग
मेघनादवध हो जानेपर देवगण विमानपर चढ़-चढ़कर प्रकट
रणभूमिपर आये, यथा 'तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा॥ चढ़ि बि
आये नभ सर्बा॥ बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुनाथ बिमल
गावहिं॥ जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्ता
लं० ७६।' अतएव 'सुरनिकरमोचन' प्रथम कहा। रावण तो अब
चिन्ताग्रस्त है, देवता अब हाजिरी नहीं देते हैं। अथवा, समुद्र
कहकर उसका कारणविशेष 'सुरनिकरमोचन' कहा। 'निर्भय
देव समुदाई' यह आश्वासन भगवान्ने गगनगिराद्वारा दिया था।
कारण सेतुबंधनका कहकर तब 'सकुल लंकेस दससीस भुज बीस
से बताया कि देवोंको बंधनमुक्त कैसे किया। [पद ६४ में
'सुररंजन भंजन भूमिभार' कहा है। इस तरह 'सुरनिकरमोच
जनाया कि देवताओंको भूमिभार भंजनद्वारा आनंद
करते हैं।]

टिप्पणी ८ (क) 'देव दुष्टबिबुधारिसंघार अपहरन मह
इति। 'दुष्ट बिबुधारि' से रावण तथा उसके सुत, परिवार,
आदि सभी दुष्ट असुरोंको कह दिया। परद्रोही भूमिभार हैं,
'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक पर
१।१८४।५।' भगवान्ने आश्वासन दिया था कि अवतार ले
महिभार हरण करूँगा। यथा 'हरिहौं सकल भूमि गरु
निर्भय होहु देव समुदाई। १।१८७।' और उन्होंने रावणादि
भूमिभार थे उन्हें मारकर यह कार्य पूर्ण किया। इसीसे रावण

श्रीब्रह्मादिने 'अवतार उदार अपार गुनं। महिभारविभंजन ज्ञानघनं। ६।११०।', 'जय हरनधरनीभार। महिमा उदार अपार। ६।११२।' कहकर स्तुति की है।

८ (ख) 'अपहरन··· अवतारकारनमनूपम' — अवतारका यह अनुपम कारण है। यथा 'जब-जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा। १।१२१।', 'कारनमनूपम' में भाव यह है कि कारण तो न जाने कितने और क्या-क्या होते हैं, कोई कह नहीं सकता। यथा 'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥१।१२१।२।', किन्तु भूमिभारापहरण अनुपम कारण है, क्योंकि आकाशवाणीने सबको सुनाकर कहा है और गीतामें भी भगवान्‌ने यही कारण स्पष्ट कहा है। यथा 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे। गीता ४।८।' अर्थात् साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका नाश तथा धर्मकी अच्छी प्रकार स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ।

[पं० श्रीकान्तशरणजीने 'अनुपम' को 'अपहरनमहिभार' का विशेषण मानकर अर्थ किया है कि "महिभार अपहरण करना आदि अनुपम कार्य जिनके अवतारके कारण हैं"]

आप 'निर्गुण सगुण' दोनोंही हैं—४३ (१ ट), ५० (७ च) देखिए।

८ (ग) 'सुमिरामि नरभूपरूपं' इति। 'अमलमनवद्य' आदि विशेषणात्मक नाम देकर 'सुमिरामि नरभूपरूपं' कथनका भाव कि मैं तो आपके सगुण साकार राजाधिराजरूपका ही स्मरण करता हूँ। मिलान कीजिए—'मोहि भाव कोसलभूप श्रीरामसगुनसरूप' (इन्द्रकृतस्तुति), 'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥' (श्रीशिवजी), 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानौं जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ।' (श्रीअगस्त्यजी)।

टिप्पणी—६ (क) 'देव सेष श्रुति सारदा संभु···' इति। ये सब गुण गाया करते हैं, पार नहीं पाते। यथा 'सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। १।१२।', 'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह, यः पार्थिवान्यपि

कविर्विममे रजांसि ।···।४०। नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजा मायाबलस्यपुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन्गुणान् दशशतानन आदि शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्। ४१।' (भा० २।७)। (ब्रह्मा नारदजीसे कह रहे हैं कि जिस महामनस्वीने पृथिवीके रजःकणों भी गिन लिया है, वह भी भगवान्‌के पराक्रमोंकी गणना नहीं सकता। उन पराक्रमी पुराणपुरुषकी मायाके प्रभावका अन्त तो और सनकादिक भी नहीं जानते। शेषजी सहस्रमुखसे उनका गुणगा करते हुये भी उनका पार न पा सके), 'रामनाम गुन चरित सुहाए जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ जथा अनंत राम भगवाना तथा कथा कीरति गुन नाना। १।११४।३-४।'

६ (ख) गुणगानके प्रमाण।—शेषजीने श्रीवात्स्यायन श्री प्रवरसे श्रीरामजीका चरित तथा श्रीरामाश्वमेधकी कथा विस्ता कही है। (प० पु० पातालखंड)। श्रुतियोंने श्रीरामतापनीयोपनिष श्रीरामरहस्योपनिषत् आदि में कहा है। मानसमें भी वेदोंने है—'हम तव सगुन जस नित गावहीं। ७।१३।' शारदाही तो सब जिह्वापर बैठकर आपके चरित प्रकट किया करती हैं। भगव शंकरने ही तो रामचरितमानस, अध्यात्मरामायण और म रामायण आदि कहे हैं। नारदजीका प्रमाण मानसमें ही है, 'नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहहीं ७।४२।' नारदरामायण भी सुनी जाती है। सनकादिकके गुणगा श्रीरामस्तवराज प्रमाण है। पुनः यथा 'शुक सनकादि सेष अरु सार बरनि पवनसुत कीरति नीकी।' (रामायणजीकी आरती)। इन सबोंका चरित गाना सुनना मानसमें बारंबार कहा गया है।

६ (ग) 'सोइ राम कामारिप्रिय'–'सोइ' अर्थात् जिनका गुण शेष गान करते हैं, वेही राम'। श्रीरामजी कामारि महादेवजीके प्रिय अर्थात् शिवजीके इष्टदेव हैं। यथा 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीर सेवत जाहि सदा मुनिधीरा॥···कहि नेति निगम पुरान आग जासु कीरति गावहीं॥ १।५१।', 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ सिव नायउ माथ। १।११६।', 'छमासील जे पर उपकारी। ते मोहि प्रिय जथा खरारी। ७।१०६।५।'

'कामारि' से जनाया कि जिन्होंने कामदेवको भस्म कर ऐसे समर्थ शङ्करजी, जिन्हें कोई कामना नहीं है, जो पूर्णकाम

निष्काम हैं, वे भी श्रीरामजीकी उपासना करते हैं; अतएव मैं भी उन्हींकी शरण हूँ, वे ही मेरे त्रासको मिटावेंगे।

६ (घ) 'अवधपति सर्वदा' इति। श्रीदीनजीने इसको एक शब्द मानकर अर्थ किया है—"सदैव कालीन अयोध्याके राजा'। यह अर्थ भी ठीक और संगत है। मानसमें भी कहा है—'सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १।११७'—इसके 'अनादि' में 'सर्वदा' का भाव आ जाता है। इस प्रकार 'अवध' की भी अनादिता सूचित हुई। ☞ ऊपर 'अंत नहिं तव चरित्रं' से चरित्रको अनन्त कहा गया। यहाँ 'सर्वदा' विशेषण देकर श्रीअवध धामका भी अनादि अनंत होना जनाया। रूप और नाम भी अनन्त हैं। यथा 'जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना। १।११४।', 'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा। ७।६१।' ☞ स्मरण रहे कि नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों सच्चिदानन्दविग्रह हैं। 'सर्वदा' का भाव कि त्रेतायुगसे ही ये अवधपति नहीं हुए, किंतु अनादि कालसे अवधपति हैं। पुनः, 'सर्वदा' को पृथक् भी 'सब कुछ देनेवाले' अर्थमें तथा आगेके 'त्रासनिधि वहित्रं' के साथ लेकर तीन वार अन्वय कर सकते हैं।

६ (ङ) 'दासतुलसी त्रासनिधिवहित्रं' इति। क्या त्रास है जिससे रक्षा चाहते हैं? उत्तर—(१) भवका त्रास है, यथा 'ग्रसत भवव्याल अति त्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारिजानं। ६१।', 'परम कठिन भवव्याल ग्रसित हौं त्रसित भयउ अति भारी। ६२।' (२) अपने कर्मोंका त्रास है, यथा 'करम कपीस बालि बली त्रास त्रस्यो हौं। १८१.'—('भव' को समुद्र और श्रीरामजी एवं श्रीरामपदारविन्द आदिको नाव आदि कतिपय पदोंमें कहा भी है; यथा 'भवजलधिपोत चरनारविंद। ६४।', 'घोरसंसारपाथोधिपोतं। ४६ (५)।', 'भवसिंधु दुस्त जलरथं। १३६।' इत्यादि)। (३)—'त्रास' का समुद्रसे रूपक पद ५३ में भी है। यथा 'त्रासपाथोधि इव कुंभजातं।' वहाँ 'अपहरन संमोह अज्ञान गुनसन्निपातं' कहकर तब 'त्रास पाथोधि…' कहकर जनाया है कि इन्हीं सबोंका मुझे त्रास है।

सू० शुक्ल—इस पदमें सगुण ब्रह्मका निर्गुण ब्रह्मसे अभेद वर्णन किया है।…परमात्मा राम अद्वितीय, सर्वव्यापी, सगुण,

निर्गुण, सर्वरूप, सबके साक्षी होनेसे सगुण निर्गुणसे भी
अनिर्वचनीय हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

५१

देव जानकीनाथ रघुनाथ रागादि तम तरनि तारुन्य तनु तेज धा
सच्चिदानंद आनंदकंदाकरं बिस्व-बिश्राम रामाभिरामं ॥
देव नील-नव बारिधर सुभग सुभ
कांतिकर पीत कौसेय बर बसनधारी
रत्नहाटकजटित मुकुट मंडित मौलि भानु सत सहस[1] उद्योतका
देव श्रवन-कुंडल भाल-तिलक भ्रू
रुचिर अति अरुनअंभोजलोचनविसा
बक्र[2] अवलोक[3] त्रैलोक्यसोकापहं मारहर[4]-हृदय मानस मरालं ।
देव नासिका चारु सुकपोल द्विजबज्रदुति अधरबिंबोपमा मधुर हा
कंठ दर चिबुक बर बचनगंभीरतर सत्यसंकल्प सुरत्रासनासं॥४
देव सुमन सुबिचित्र नवतुलसिकादलयुतंमृदुलबनमाल उर भ्राजमा
भ्रमत आमोद बस मत्त मधुकर निकर मधुरतर मुखर कुर्वंति गानं॥
देव सुभग श्रीवत्स केयूर कंकन हार किंकिनी रटनि[5] कटितट रसा
बामदिसि[6] जनकजासीन सिंहासनं कनक मृदु बल्लिमिव[7] तरुतमा

---

[1] कोटि—७४,। [2] वक्र—रा०, भा०, वे०, ५१, ज०; त्रि०। वक्त्र-
वै०, ह०, डु०, भ०, दीन, ७४। [3] अवलोक—रा०, डु०, वि०, ५१, मु०,
१५। अवलोकि—भा०, वे०, ह०, ७४, वै०। आलोक—दीन। अवलोक्य-
[4] हर-रा०, भा०, वे०, मु०, ५१। अरि—ह०, ७४, ज०। रिपु—प्र०, १५, आ
☞ 'हर' दीपदेहली है। मारहर हरहृदया। [5] रटनि—रा०, भा०, ह०,
७४, आ०। रटति—डु०, १५। रटत-त्रे०, प्र०, ज०। ☞ सिंहासन
विराजमान हैं, अतः 'रटनि' उत्तम पाठ है। [6] दिस—रा०, भा०। दि
ज०। दिशि—आ०। [7] बल्लिमिव—भा०, ७४, ह०, वै०। वत—रा०, आ

देव आजानु[८]भुजदंडकोदंड मंडित वाम बाहु दक्षिन पानि बानमेकं
अखिल मुनि निकर सुरसिद्धगंधर्वबर नमत नर नाग अवनिप अनेकं

देव अनघ[९] अविछिन्न सर्वज्ञ सर्वेस खलु सर्वतोभद्रदातासमाकं ।
प्रनतजनखेदविच्छेदबिद्यानिपुन नौमि श्रीराम सौमित्रि साकं ॥८॥

देव जुगलपदपद्म सुखसद्म पद्मालयं चिन्ह कुलिसादि सोभाति भारी ।
हनुमंत हृदि बिमलकृत[१०]परम मंदिर सदा दास तुलसी सरन सोकहारी

शब्दार्थ—तारुन्य (तारुण्य)=तरुण अवस्थाका; दोपहरका; मध्याह्नकालीन। तरनि (तरणि)=सूर्य। 'तरनि तारुण्य'—'तरुन रविकोटि तन तेज भ्राजै।१० (२)।' देखिए। आनंदकंदाकर=आनंदकंदकी खान। कांतिकर=तेजोमय, दीप्तिमान, चमचमाता हुआ।=छबिपूर्ण, शोभा उत्पन्न करनेवाला। रामाभिरामं=रामा (श्रीजानकीजी) को आनन्द देनेवाले। कौसेय (कौषेय)=रेशमका बुना हुआ (वस्त्र)=रेशमी। हाटक=सुवर्ण; सोना। यथा 'नाँघि सिंधु हाटकपुर जारा।' रत्न—ये नौ प्रकारके माने गए हैं। 'निघण्टु रत्नाकर' में उनके नाम इस प्रकार हैं—'वज्रं विद्रुम मौक्तिक मरकतं वैदूर्य गोमेदकम्। माणिक्यं हरिनीलपुष्य दृषदौ रत्नानि नाम्ना नव॥' अर्थात् हीरा, मूँगा, मोती (मुक्तामणि), मरकत (पन्ना), वैदूर्य्य (लहसुनिया), गोमेद, माणिक्य, नीलम और पुष्यराग (पुखराज) ये नौ रत्न हैं। इनका प्रभाव नवग्रहोंपर पड़ता है। एक-एक रत्न एक-एक ग्रहकी शान्ति करनेवाला है। हीरा शुक्रकी, मूँगा मंगलकी, मोती चन्द्रकी, मरकत बुधकी, वैदूर्य केतुकी, गोमेद राहुकी, माणिक्य रविकी, नीलम शनिकी और पुष्यराग गुरुकी शान्ति करता है। ये सब कुछ विशिष्ट छोटे चमकीले बहुमूल्य पदार्थ हैं, जिनका व्यवहार आभूषणों आदिमें जड़नेके लिये होता

नव-प्र०, वे०, ज०। ८—आजानु-रा०, भा०, मु०, आ०। पीत-बे०। बृहद-७४। ९ अनघ-रा०, बे०, प्र०, ५१, ७४, आ०। अनवद्य-भा०, ह०, भ०।
१०—कृत-७४ में नहीं है। ७४ में 'बिमल हनुमंत हृदि' पाठ है।

है * इन नवरत्नोंके अतिरिक्त स्फटिक, सूर्यकान्ति आदि रत्नोंके नाम भगवान् एवं देवताओंके संबंधमें कहे जाते हैं। उद्योतकारी=प्रकाश करनेवाला।=चमकदार। अंभोज=कमल। वक्र=टेढ़ी; तिरछी। अवलोक (अवलोकन)=दृष्टि। वज्र=हीरा; बिजली। मारहर=कामदेवके नाशक।=शिवजी। कपोल=गाल। सुकपोल=सुंदर गाल। द्विज=दाँत। अधर=होंठ, ओष्ठ। बिंबोपमा=बिंबु उपमा। बिंब=बिम्बाफल।=त्रिकोलका फल—(डु०)। =एक फल जो कुँदरू समान होता है, वैजनाथजी इसका अर्थ 'कुँदरू' लिखते हैं। श्री शरणजी लिखते हैं कि 'यह कुँदरूकाही एक भेद है, यह मोटे लाल मिर्चाकी भाँति दो इंचका होता है।' उपमा=समानता। गंभीर=गहरा।=गूढ़ाशय भरा एवं गौरवका।=प्रामाणिक। संकल्प=दृढ़ निश्चय; पक्का विचार; प्रतिज्ञा। वनमाल—प्रायः तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात और कमल इन पाँच प्रकारके फूलोंकी बनी हु माला जो गलेसे चरणोंतक लंबी होती है। (श० सा०)। आमोद=दूरसे आनेवाली महक, सुगंध। =आनन्द। 'मुखर'—इस शब्द अर्थ संस्कृतभाषामें प्रायः बुरे अर्थमें होता है अर्थात् बहु बोलनेवाला, बकवादी। मानसमें इसका प्रयोग इस अर्थमें भी हु है। यथा 'गिरा मुखर तन अरध भवानी। १।२४७।५।' और 'ध्वनि' व 'शब्द' अर्थमें भी इसका प्रयोग तुलसी-ग्रन्थावलीमें हुआ है, यद्य हिन्दी शब्दसागरमें यह अर्थ नहीं है। यथा 'चारु पुरटमनिरचि बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई। ७।७५।' कुर्वंति=कर हैं। श्रीवत्स=पीतरोमावली। 'केयूर'=बाँहमें पहिननेका आभूषण जिसे बिजायठ, बजुल्ला, अंगद, बाजूबंद इत्यादि कहते हैं। कंकण=कलाईमें पहननेका एक आभूषण। रटनि=किसी शब्दके बारंबार उच्चारण करनेकी क्रिया। =बारंबार एकसा शब्द। किंकिणि=क्षुद्रघंटिका, करधनी; जेहर। रसाल=मधुर, रसीला, मनोहर, श्रवणरोचक। जनकजासीन=जनकजा आसीन। आसीन=

---

* रत्नोंका विस्तृत लक्षण-फलादिनिरूपण मुक्तिकल्पतरु, बृहत्संहि भावप्रकाश, गरुड़ पु० पूर्व खंड (अध्याय ६८–८०) तथा विष्णुधर्ममें हुआ है। ये सभी रत्न बलदानवसे हुए हैं। इसकी कथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० गरुड़ पुराण पूर्व खण्ड अ० ६८ में है। (पं० जानकीनाथ शर्मा)।

विराजमान, बैठी हुईं। वल्लिमिव=वल्लि इव। बल्लि=लता। तमाल—पद १४ शब्दार्थ देखिए। मंडित=भूषित। बानमेकं=बानं एकं। अवनिप = अवनि (पृथ्वी)+प (पालनकर्ता, पति)= राजा। अनघ=निष्पाप। अविच्छिन्न=अखंड। सर्वेश=सर्व+ईश। सर्वतोभद्रदातासमाकं=अस्माकं (हमारे) सम्यक् प्रकारके कल्याणोंके देनेवाले। विच्छेदविद्या=काट या छेदकर टुकड़े-टुकड़े करने अर्थात् नाश करनेकी विद्या। विद्या=कला, शास्त्र। साकं=सहित। —यह शब्द श० सा० में नहीं है। अमरकोश ३।४।४ 'सार्धं तु साकं सत्रा समं सह'। सद्म=घर। पद्मालय=पद्मा (लक्ष्मीजी)+आलय (निवास स्थान)। कुलिसादि=कुलिश आदि। सोभाति=शोभा+ अति। परम=प्रधान; सबसे बढ़ा चढ़ा हुआ।

पद्यार्थ—हे देव ! हे श्रीजानकीनाथ ! हे श्रीरघुनाथजी ! आप रागद्वेष आदि रूपी अंधकारके नाशके लिये मध्या कालके (प्रचण्ड) सूर्यके समान हैं। आपका तरुण शरीर तेजका स्थान है *। आप सच्चिदानन्द (स्वरूप), आनन्दकन्दकी खान, विश्वमात्रको विश्राम (देनेवाले) और श्रीजानकीजीको आनंद देनेवाले हैं (एवं सबमें रमने और सबको अपनेमें रमानेवाले तथा प्रिय और परम सुन्दर हैं)। १। हे देव ! आप नवीन सजल नीले मेघोंके समान सुन्दर (श्यामवर्ण) हैं। मांगलिक प्रकाशमान, उत्तम रेशमी पीतवस्त्र (पीताम्बर) धारण किये हैं †। सैकड़ों सूर्य्योंके समान प्रकाश करनेवाला रत्नोंसे जड़ा हुआ सोनेका मुकुट आपके मस्तकपर शोभित है। २। हे देव ! आपके कानोंमें कुण्डल, ललाटपर तिलक, अत्यन्त

---

* अर्थान्तर—१ तरुण शरीरवाले और तेजके स्थान। (भ०, वि०)। २ 'अंधकारके लिये आपका शरीर मध्याह्नकालके सूर्यके समान तेजका स्थान है' (वीर)। ३ अंधकारके लिये दोपहरके सूर्यके समान तेजधाम हैं। (दीन)।

† अर्थान्तर—१ मेघके समान सुन्दर मंगलमय तनकी ज्योति प्रकट करनेवाले हों। (वै०)। २ शरीरकी शुभ कान्ति नवीन काले बादलके समान है। (दीनजी)। ३ मेघके समान सुन्दर माँगलिक शोभा उत्पन्न करनेवाले। (वीर)। ४ मेघके समान शरीरकी कान्ति है। (वि०)। ५ उनका शरीर नवीन नील रंगवाले सजल मेघके समान और मांगलिक कान्ति विस्तार करनेवाले हैं। (श्री० श०)

सुन्दर भौंहें और लाल कमलके समान बड़े-बड़े नेत्र हैं। तिरछी चितवन तीनों लोकोंके शोकोंको हरनेवाली है। आप कामदेवके नाशक शिवजीके हृदयरूपी मानसरोवरके हंस हैं। ३। देव! आपकी नासिका सुन्दर, कपोल सुन्दर, दाँत हीरेके समान चमकीले और मजबूत, होंठ बिंबाफलके समान (लाल), मुस्कान मन्द और मीठी, कण्ठ शङ्ख समान (त्रिरेखायुक्त, पुष्ट, सचिक्कन और चढ़ाव-उतार-वाला), ठोढ़ी सुन्दर और वचन विशेष गम्भीर हैं। आप सत्यसंकल और देवताओंके भयके नाशक हैं। ४। देव! नवीन तुलसीदलों युक्त सुन्दर रंगबिरंगोंके फूलोंकी अत्यन्त विलक्षण कोमल वनमाल आपके वक्षस्थल पर शोभायमान है, जिसकी सुगंधके वश होकर मत-वाले भौंरोंके समूह (चारों ओर मड़राते हुए) अत्यन्त मधुर ध्वनि गुंजार कर रहे हैं। ५। देव! आप सुन्दर श्रीवत्स, (भुजदण्डोंपर) बाजूबन्द, (कलाईमें) कंकण, (हृदयपर मणि, मुक्ता, मोतीं तथा वैजयन्ती) हार और कटिभागमें रसीलें शब्द करनेवाली करधनी पहिने हैं। सिंहासनपर आपके बाईं ओर श्रीजनकनन्दिनीजी तमालवृक्षपर सटीहुई कोमल स्वर्णलताके समान विराजमान हैं। ६। देव! आपके भुजदंड घुटनेतक लंबे हैं, बाएँ बाहूपर कोदंड धनु और दाहिने हाथमें एक बाण शोभित है। समस्त श्रेष्ठ मुनि, सुर सि और गंधर्वोंके समूह, अनेक मनुष्य, नागदेव और राजालोग आपको प्रणाम करते हैं। ७। देव! निष्पाप, अखण्ड, सर्वज्ञ, सबके ईश्वर निश्चय ही हम सबोंको सब प्रकार कल्याण प्रदान करनेवाले शरणागत प्राणियोंके दुःख-चिन्ता-शोकके नाश करनेकी विद्या निपुण श्रीरामचन्द्रजी! लक्ष्मणसहित आपको मैं नमस्कार करता हूँ। ८। देव! श्रीलक्ष्मीजीके निवासस्थान और सुखके धाम आपके दोनों चरणकमलोंमें कुलिश आदि रेखाओंकी अत्यन्त भारी शोभा है। श्रीहनुमान्‌जीके निर्मल हृदयमें सदाके लिये अपना 'परम मन्दिर' बनानेवाले अर्थात् सदा उनके हृदयमें निवास करनेवाले और शरणागत तुलसीदास एवं शरणागतमात्रके शोकके हरनेवाले हैं (एवं, शरणशोकहारी प्रभुकी मैं तुलसीदास शरण हूँ)। ६।

नोट—१ इस पदमें श्रीसीतालक्ष्मण सहित श्रीरामजीकी शोभा का वर्णन होनेसे यहाँ त्र्यायतन ध्यान है। (दीन)

२ इसमें सगुण परमात्मा परब्रह्म श्रीरघुनाथजीका भावनापूर्वक ध्यान है। भक्तोंका मन ऐसे ही ध्यानसे सहजमें स्थिर होता है। (सू० शुक्ल)।

३ इसमें सिंहासनासीन श्रीरामजीका नखशिख वर्णन है। सिरसे लेकर चरणतककी शोभा कही गई है। यहाँ शृंगाररस का ध्यान है।

टिप्पणी—१ (क) 'जानकीनाथ रघुनाथ' इति। भाव कि आप परम योगी, ज्ञानी और भक्तराज श्रीजनकमहाराजकी कन्या, सृष्टिमात्रकी उद्भवस्थिति संहारकर्तृ एवं सर्वश्रेयस्करी जगजननि श्रीजानकीजीके पति हैं, तब आपकी महिमा क्या कही जाय? सभी रघुवंशी वीर, उदार, शरणपाल आदि शुभगुणसंपन्न होते आये, ऐसे रघुकुलके नाथ हैं। पुनः; ये दोनों नाम देकर इनसे इस अवतारमें पितृ और श्वसुर दोनोंकी श्रेष्ठता दिखाई।—विशेष भाव पूर्व आ चुके हैं। 'जनकसुतावर', 'जानकीरमन' ४५ (२ च), ४६ (२ घ-ङ) में देखिए।

१ (ख) 'रागादि तम तरनि' इति। 'रागादि' के 'आदि' शब्दसे रागके साथी द्वेष, अभिनिवेश और अस्मिताको भी गिना दिया है। सांसारिक विषयोंकी चाहका नाम राग है, अर्थात् सुखद वस्तुकी ओर प्रवृत्ति 'राग' है। महर्षि पतंजलिने इसे पंचक्लेशोंमेंसे एक माना है। उनके मतसे जो व्यक्ति सुख भोगता रहता है, उसकी प्रवृत्ति और अधिक सुख प्राप्त करनेकी ओर रहती है। इसी प्रवृत्तिका नाम उन्होंने 'राग' रक्खा है। इसका मूल अविद्या और परिणाम क्लेश है। अतः इसे 'तम' कहा। रागादिको तम कहा, इसीसे रघुनाथजीको सूर्य कहा गया। ('तम तरनि' के भाव पूर्व आ चुके हैं। 'तम-तुहिन-हर किरनकेतू। ४०।(१)।' देखिए)। इसी तरह पद ६४ में 'रागादि' को सर्पगण कहा, इसीसे वहाँ रघुनाथजीको पन्नगारि कहा गया; यथा 'रागादि सर्पगन पन्नगारि'।

१ (ग) 'सच्चिदानंद आनंदकंदाकर' इति। कोई-कोई इससे 'समस्त सच्चिदानन्द आनंदकंद ईश्वरोंके आकर' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् सब अवतार आपसे होते हैं। इस तरह श्रीरामजीको समस्त अवतारोंका अवतारी सूचित किया। मिलान कीजिये पद ५३ के 'सच्चिदानंद मूलं' से। सच्चिदानंद– ४३ (१ क, १ ग) देखिए।

१ (घ) 'आनंदकंदाकर' इति। कंद = कं (जल) + द (देनेवाले =मेघ। यथा 'जज्ञोपवीत बिचित्र हेममय मुक्तामाल उरसि मो भाई। कंद तड़ित बिच जनु सुरपति धनु रुचिर बलाकपाँति च आई। गी० १।१०६।६।' आनंदकंद=आनन्दरूपी मेघ=आनंदरू जलकी वर्षा करनेवाले मेघ। आनन्दकन्दाकर=जितने भी आनंदकं हैं, उन सबकी खान आपही हैं। इस खानसे ही सब आनंदरू जलकी वर्षा करनेवाले होते हैं। मिलान कीजिए—'जो आनन्दसिं सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी।१।१९७।' सुषुप्तिगत आत्मा स्थितिप्रसंगमें श्रुति भगवती कहती है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। बृ० ४।३।३२।' (अर्थात् इस आनन्द मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं।) [श्रीदीनजी ने 'आनंदके बादल और खानि' ऐसा अर्थ किया है।]

१ (ङ) 'विश्वविश्राम' इति। श्रीरामजी सारे विश्वके विश्रामदाता हैं, यथा 'सो सुखधाम राम अस नामा। अखिललोक दायक बिश्रामा।१।१९७।६।' भवमें पड़े हुये अनेक योनियोंमें भटकते हु जीवको आपही विश्राम देनेवाले हैं। यथा 'तव विषम माया सुरासुर नाग नर अगजग हरे। भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।'—इन सबोंको विश्रामदायक हैं।

१ (च) 'रामाभिरामं' इति। 'राम अभिरामं' और 'रा अभिरामं' दो तरहसे इसका पदच्छेद होता है। दीनजीने 'रमाने वाले और प्रिय' अर्थ किया है। बैजनाथजीने 'राम' को संबोधन माना है। 'अभिराम'=आनंददायक; मनोहर, रम्य, प्रिय। राम= सबमें रमण करते हैं और जिनमें योगी आदि सभी रमते हैं। रा अभिरामं=श्रीजानकीजीको आनंद देनेवाले। प्रथम 'जानकीना कहकर श्रीजानकीजीका आपको आनन्द देना कहा। श्रीरामजी स्वामी हैं, उनकी सेवा करके वे उनको सुख देती हैं। यथा 'पति अनु कूल सदा रह सीता।'''जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चर कमल मन लाई॥'''जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर सेवा बिधि जानइ॥७।२४।' और यहाँ 'रामाभिरामं' कहकर श्रीरामजीका उनको आनन्द देना कहा। इस प्रकार दोनोंमें परस्प अन्योन्य प्रेम दिखाया। [कोई-कोई 'जानकीनाथ' और 'रामाभिरा में पुनरुक्ति मानकर 'रामाभिरामं' के अर्थ इस प्रकार करते हैं

(१) ऐसे सुन्दर रामजी हैं (भ०)। (२) सबमें रमते हुये रामजी हैं (सू० शु०)। (३) रमानेवाले और मनोहर हैं। (श्री०श०)]

टिप्पणी—२ (क) 'नील नव बारिधर…' इति। इससे जनाया कि जैसे काले-काले सजल मेघोंके बीचमें बिजलीकी छटा, वैसेही आपके घनश्याम शरीरपर पीताम्बरकी छटा छा रही है। यहाँ राजसिंहासनासीन श्रीरघुनाथजीकी शोभा वर्णन की-जा-रही-है; अतः यह वर्णन राज्याभिषेक समयकी छबिके वर्णनसे मिलता-जुलता है। मिलान कीजिए—

"नव अंबुधर वर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥७।१२।"

'सुभ कांतिकर' को दीपदेहली न्यायसे शरीरकाभी विशेषण मान सकते हैं।—विशेष 'नव नील नीरद सुंदरं। पटपीत मानहु तड़ित रुचि सुचि …।४५ (२)।' तथा 'श्याम तन कांति वर बारिदाभं। ५० (२)।' देखिये। वही सब भाव यहाँ हैं।

२ (ख) 'रत्नहाटकजटितमुकुट… '—'जयति कलधौत मनि मुकुट…। ४४ (५)।' की टि० ५ (ख) देखिये। 'भानु सत सहस उद्योतकारी', यथा 'भानुकोटिप्रतीकाशं किरीटेन विराजितम्। रत्नग्रैवेय केयूरं रत्नकुण्डलमण्डितम्। श्रीरामस्तवराज श्लोक १३।' अर्थात् करोड़ों सूर्यके समान जिसमें प्रकाश है ऐसा किरीट सुशोभित है। ग्रीवाका भूषण अमूल्य रत्नजटित है। केयूर और कुण्डलभी रत्नों से शोभित हैं। इससे जनाया कि जो रत्न जड़े हैं उनमें से प्रत्येकमें कई कई सूर्योंका सा प्रकाश है, इसीसे मुकुटमें सैकड़ों सूर्योंका प्रकाश है।

टिप्पणी—३ (क) 'भ्रू रुचिर अति' इति। अर्थात् भौंहें कमान सरीखी टेढ़ी हैं। भृकुटीका बाँकापन और कर्णपर्यन्त लंबी होना ही उसकी सुन्दरता है। यथा 'बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए। ७।७७।', बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। १।२३३।', 'चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। १।२१६।', 'भृकुटि मनोजचापछबिहारी। १।१४७।४।' (ख) 'अरुन अंभोज लोचन बिसालं'—'नवकंज लोचन।' ४५ (१) नोट ७, टि० १ (ञ, ट, ठ); 'नयन राजीव। ४६ (३)।', 'राजीवलोचन ४६ (५)।' और 'राजीवदलनयन। ५० (२)।' में देखिए।

‘बक्र अवलोक त्रैलोक सोकापहं’ इति। ‘बक्र अवलोक’ से कृपाकटा सूचित किया। यथा ‘प्रेम सों पीछें तिरीछे प्रियाहि चितै चितु दै लै चित चोरें। क० २।२६।’, ‘जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबि दुख ते निरबहे। ७।१३।’, ‘तुलसी बंक बिलोकनि मृदु मुसुकानि कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि। बरवै १०।’ इसी ‘ अवलोक’ को कहा है–‘चितवनि चारु मार-मनहरनी। भावति हृ जाति नहिं बरनी। १।२४३।३।’, ‘हुलसति हिय हँसनि चारु चितव तिरछौहैं। गी० ७।४।’ तथा ‘जियकी जरनि हरत हँसि हेरत २।२३६।८।’ (ग) ‘मारहर हृदयमानसमरालं’—कामके नाश शंकरजीके हृदयरूपी मानससरके हंस हैं अर्थात् सदा ऐसे निष्का निर्मल हृदयमें विचरते विहार करते हैं। हंस मानससरको नहीं छोड़ वैसेही श्रीरामजी शंकरजीके हृदयमें सदा निवास करते हैं। य ‘हर हृदिमानस बालमरालं। ३।११।८।’

टिप्पणी—४ (क) ‘नासिका चारु’ इति। शुकतुंड, तोतेकी चों सरीखी उन्नत नासिका सुन्दर कही जाती है, यथा ‘नासिक सुभ मनहु सुक सुंदर चितवत चकि आचरज अपारु। गी० ७।१ ‘चारु भ्रू नासिका सुभग सुक आननी। गी० ७।५।’ वैसी ‘नासिक जनाई। पुनः, ‘चारु’ का भाव कि सुंदर है, वर्णन नहीं की-जा-सकती (ख) ‘कंठ दर’; यथा ‘रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवा। जनु त्रिभुव सुखमाकी सीवाँ।’—विशेष भाव पूर्व आ चुके हैं। (ग) ‘अंभो लोचन बिसालं’ में वाचकलुप्तोपमा, ‘बक्र अवलोक…’ में प्र उल्लास और ‘मारहर हृदय…’ में परंपरित सम अभेदरू अलंकार है।

४ (घ) ‘बचन गंभीरतर’—वाणीकी शोभा गम्भीरतामें है गम्भीरतामें मेघोंकी उपमा दी जाती है; यथा ‘प्रभु प्रताप उर रनधीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा॥ ६।७४।१२।’ गम्भीरमें आशय भरे तथा भयमोचनका भाव भी होता है; यथा ‘गगन गि गँभीर भइ हरनि सोक संदेह। १।१८६।’, ‘ब्रह्म गिरा भइ गग गँभीरा। ७।११४।५।’ वैसेही श्रीरामजीके वचन मेघोंके समान गंभी भयमोचन और गंभीर होते हुये भी मधुर हैं। यथा ‘भाई सों क बात कौसिकहि सकुचात, बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं। गी १।७१।६।’, ‘बचन गंभीर मृदु हास भव भानिनी। गी० ७।५।’,

वचन भगत भयहारी। ५।४६।', 'कंबु ग्रीव छबिसीव चिबुक द्विज अधर कपोल, बोल भयमोचन। गी० ७।१६।'

४ (ङ) वचनको गंभीरतर कहकर 'सत्यसंकल्प' विशेषण देनेका भाव कि जो कुछ बोलते हैं वह सत्यके नियमसे बोलते हैं, जैसी कहनी वैसी करनी। जो कहते हैं उसे पूरा कर दिखाते हैं। 'सत्य संकल्प' कहकर 'सुरत्रासनाश' कहा। इस तरह 'बचन गंभीर···नाशं' से मानसके, "गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह॥ जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर वेसा॥··· हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देवसमुदाई॥ गगन ब्रह्म बानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना॥ १।१८६-१८७।', इस गंभीर, अभयद, सत्य वाणीकी ओर लक्ष्य कराया गया है। इसीसे विभीषणजीने रावणका त्याग करते समय कहा है, 'राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि। ५।४१।' लंकाकांडमें भी यह विशेषण है,—'सत्यसंध छाड़े सर लच्छा। ६।६७।३।' प्रतिज्ञा तो कई बार मानसमें देख पड़ती है। जैसे, कैकेयीजीको वचन दिया कि मैं पिताका वचन रखनेके लिये वन जाऊँगा। यथा 'जौं न जाउँ वन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा। २।४२।२।', इसीपर श्रीदशरथमहाराजने कहा है—"जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रतरघुराई। २।८२।१।'; फिर दण्डकारण्यमें मुनियोंको वचन दिया। यथा 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पनु कीन्ह। ३।९।' श्रीरघुनाथजीकी वाणी सदा गंभीर है, परन्तु उस समयकी आकाशवाणीमें यह विशेषण है और उससे सुरोंका हृदय शीतल हुआ है, इसलिये वह प्रसंग विशेष संगत है।

टिप्पणी—५ (क) 'सुमन सुबिचित्र नवतुलसिकादलयुतं···' इति। मिलान कीजिये गीतावली उत्तरकाण्डके—"सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई। तरु तमाल अधि बिच जनु त्रिबिध कीर पाँति रुचिर हेमजाल अंतर परि ताते न उड़ाई। ३।", "कंबु कंठ, उर बिसाल, तुलसिका नवीन माल मधुकर बर बास बिबस उपमा सुनु सो री। जनु कलिंदजात नीलसैल ते धसी समीप कंदबृंद बरषत छबि मधुर घोरि घोरी। ७।'—इन सुन्दर उद्धरणोंसे।

गीतावलीमें 'तुलसिका प्रसून रचित' वनमाल कहा गया श्रीरामस्तवराजमें तुलसी, कुन्द और मन्दार (देववृक्षविशेष) पुष्पोंकी मालाका उल्लेख है। यथा 'तुलसीकुन्दमन्दारपुष्पमा लंकृतम्। १६।' गीतावलीमें 'तुलसिका और प्रसून' और श्रीराम राजमें 'मन्दार आदि पुष्प' ऐसा अन्वयकर लेनेसे यहाँ भी पंचप्र के पुष्पोंसे रचित वैजयन्ती वनमाला हो जाती है। अमरव्या सुधामें 'आपादपद्मं या माला वनमालेति सा मता' इतना ही है। अ चरणकमलोंतक लंबी माला 'वनमाला' कहलाती है। इस व्या कोई शंका नहीं रह जाती। ☞ गोस्वामीजीने सबके मतोंकी 'सुमन नवतुलसिकादलयुतं' से कर दी है। श्रीयामुनाचार्यजीने तुलसीकी वनमालाका ध्यान किया है—लसत्तुलस्यो वनमलोज्ज्वल आलवंदार० ३६)। (ख) 'आमोदबस'—उपर्युक्त उदाह 'बर बास बिबस' ही यहाँका 'आमोदवस' है। (ग) 'मधुकर नि मधुरतर मुखर कुर्वंति गानं'—गीतावलीमें कुंचित कचकी शो संबंधमें ऐसीही उत्प्रेक्षा की गई है। यथा 'मनहुँ चंचरी कंजवृंदप्रीति लागि गुंजत कल गान तान दिनमनि रिझयो री।

टिप्पणी-६ (क) ☞ श्रीवत्स—भगवान् (विष्णु, नारा महाविष्णु और श्रीरामजी) के बाईं ओर वक्षःस्थलपर अङ्गुष्ठप्र श्वेत वा पीत बालोंका दक्षिणावर्त भौंरेकासा चिह्न। श्रीमद्भाग जहाँ स्वरूपवर्णनमें 'श्रीवत्स' शब्द आया है, वहाँ फिर भृगुचर भृगुलता नहीं आया और जहाँ भृगुचरण कहा गया है वहाँ श्रीवत्स नहीं कहा गया। इससे कुछ लोगोंका अनुमान है कि एकही हैं। इसी प्रकार मानसमें भी दोनोंका एकसाथ वर्णन नहीं है। यथा 'उर मनिहार पदिककी सोभा। बिप्रचरन देखत लोभा। ११९९८।', 'उर श्रीवत्स रुचिर वनमाला। पदिकहार मनिजाला।'—(यह ध्यान मनुशतरूपाजीके सामने प्रकट ब्रह्म श्रीरामका है)। परन्तु कुछ विद्वान् महानुभावोंका मत है साकेतविहारी श्रीरामजीके वक्षःस्थलपर श्रीवत्स अर्थात् दक्षि पीत रोमावलीका गुच्छा है। अवतारमें अभेद सूचन करने (ब्रह्म-) अवतारको गुप्त रखनेके लिये अवतार लेनेपर भृगु धारण किया गया है। उन अनुभवीमहानुभावोंके मतसे पीतरो और भृगुचरण एकही वस्तु नहीं हैं। 'श्रीवत्स' श्रीजीका चिह्

श्रीरामरसरंगमणिजीने श्रीरामस्तवराज 'भावप्रकाशिका टीकामें "श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्ताहारोपशोभितम्। १४।' के 'श्रीवत्स' पर लिखा है कि "छातीपर बाईं ओर श्वेतरोमावलियोंकी भ्रमरी समान महासौभाग्यभूत महापुरुष लक्षण 'श्रीवत्स' नामका है। यह श्रीजानकीजीका प्रिय चिह्न है। श्रीहरिदासाचार्यकृत भाष्यमें भाष्यकार लिखते हैं—"महापुरुषत्वद्योतको वक्षोवर्तिपीतरोमात्मक चिह्नविशेषः श्रीवत्सशब्देनोच्यते। अत्र श्रीवत्सस्य तत्रापि कौस्तुभस्य नित्यविभूषणस्य धारणत्वोक्तेः।" (श्लोक १५ पृष्ठ ८१ सं० १९८६ की छपी)। अर्थात् 'महापुरुषत्वको सूचित करनेवाला यह जो पीतरोमावर्त्तरूपी चिह्नविशेष वक्षस्थलमें स्थित है, वह श्रीवत्स नामसे कहा जाता है। यहाँ जैसे श्रीवत्स और कौस्तुभका धारण करना कहा गया है, वैसेही परात्पर श्रीरामजीके नित्य विभूषणोंमें इन दोनोंका उल्लेख किया गया है। इससे यह सिद्ध है कि वेही परमात्मा यहाँ अवतीर्ण हुए हैं।' अमरव्याख्यासुधामें 'श्रीयुक्तो वत्सः श्रीवत्सः महत्त्व लक्षणं श्वेतरोमावर्तविशेषः।' ऐसी व्याख्या है।

६ (ख) 'किंकिनीरटनि कटितट रसालं' इति। श्रीरघुनाथजी सिंहासनासीन हैं, तब शब्द कैसा? इसी विचारसे हमने 'रसीले शब्दोंवाली करधनी' अर्थ किया है। लाला भगवानदीनको छोड़ अन्य टीकाकारोंका ध्यान इस ओर नहीं गया है। प्रभु बैठे हैं, इसीसे 'रटनि' पाठही शुद्ध है, रटति नहीं। गीतावलीमें फाग खेलनेके प्रसंगमें 'हाटकघटित जटित मनि कटितट रट मंजीर।' कहा है; क्योंकि वहाँ 'खेलत फागु अवधपति अनुज सखा सब संग'। विन्दुमाधवजीकी स्तुतियों में 'रटति' पाठ है। यथा 'कटितट रटति चारु किंकिनि, रव अनुपम बरनि न जाई।६२।', 'मेखल कटितट रटति मधुर बानी।६३।' किन्तु पद ६१ में केवल 'रतनजटित मनि मेखला कटिप्रदेसं।' है।

६ (ग) 'बामदिसि जनकजासीन' यहाँ कहा और आगे 'नौमि श्रीरामसौमित्रिसाकं' कहा है। इससे यहाँ 'राम बाम दिसि जानकी लषन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर। दो० १।' इस ध्यानकी स्तुति है। श्रीजानकीजीको सर्वत्र वामदिशामें ही गोस्वामीजीने लिखा है, कहीं भी दक्षिण भागमें नहीं। सिंहासन-

पर श्रीरामवामदिशामें विराजमान् कैसी शोभित हैं, यह 'क
मृदुबल्लिमिव तरु तमालं' से बताया।

६ (घ) 'कनकमृदु···'इति। यहाँ 'तमाल' से श्याम तमाल अभि
है। पद १४ में 'बर बसन नील नूतन तमाल' में भी श्यामताकी
उपमा है। श्रीरामजीका ऊँचा कद श्यामवर्ण तमालतरुवत्
श्रीजनकजाजीका कनकवर्ण गौर शरीर कोमल कनकलता समान
कनक कोमल नहीं होता और श्रीमहारानीजी कोमलाङ्गी हैं,
मृदु विशेषण दिया। लता वृक्षपर लपटी होती है। इस
'कनकलता' की उपमा देकर जनाते हैं कि महारानीजीका
श्रीरघुनाथजीके कन्धेपर है। श्रीरामजीसे सटी बैठी हुई
हाथ धरे हुये श्रीजानकीजीकी शोभा ऐसी देख पड़ती है,
श्यामतमालपर सुवर्णलता छा रही है।

मिलान कीजिए—

'सो राम बाम विभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनकपंकज कीक ली ॥६।

पद ६२ में बिंदुमाधवजीके पास लक्ष्मीजीकी शोभा भी ऐसी
दिखाई गई है जैसी इस पदमें श्रीराम-जानकीजीकी। यथा 'हेम
जनु तरु तमाल ढिग नील निचोल उढ़ाई। ६२ (१२)।' यहाँ
और गम्योत्प्रेक्षा अलंकार है।

टिप्पणी—७ 'अखिल मुनि···अनेकं' इति। सुर गंधर्व आ
स्वर्गलोक, नागसे पाताल और 'नर अवनिप अनेकं' से मर्त्य
अर्थात् तीनों लोकोंके निवासियोंका प्रणाम करना कहकर त्रैलोक्य
जनाया। 'आजानुभुजदंड कोदंडमंडित··' कहकर मुनि निक
सिद्ध आदि का नमन (प्रणाम) कथन करके जनाया कि
भुजदण्डों और कोदण्ड तथा शरसे मुनि सुर आदिकी रक्षा की,
वे सब प्रणाम करते हैं। ये सब प्रणाम करते हैं, यथा
नाकपाल वसुपाल किरीटजुष्टपादांबुजं रघुपतिं शरणं प्र
भा० ६।११।२१।'

टिप्पणी—८ 'अनघ अविछिन्न सर्वज्ञ सर्वेस' इति। (क) श्री
अनघ हैं, यथा 'अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित
सक्ति करुनामय। ६।१०६।६', 'जय भगवंत अनंत अनामय।
अनेक एक करुनामय। ७।३४।२।', 'शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं।

श्लो० ।' 'निष्पाप' का भाव कि आपको शुभाशुभकर्म बाधित नहीं कर सकते, आप पापपुण्यसे परे हैं। यथा 'कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा ।' (नारदवाक्य), 'गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू' (सुरगुरु वाक्य)। जैसे श्रीराम अनघ हैं, वैसे ही उनके चरित भी। यथा 'सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ। १।१२०।'

८ (ख) 'अविछिन्न' (अविच्छिन्न) = विच्छेदरहित, अखंड। यथा 'जो सुनि होइ रामपद प्रेम सदा अविछीन। ७।११६।' श्रीरामजी अखण्ड हैं, सर्वत्र पूर्ण हैं।—"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।" (ईशोप० शान्ति पाठ)। पूर्णसे पूर्ण निकला, निकलाभो पूर्ण, बचा भी पूर्ण। यही भाव आगे पद १०७ में 'देस काल पूरन महा बंद बेद पुरान। सबको प्रभु सब मों बसै, सब की गति जान। (५)।' से जनाया है।

८ (ग) 'सर्वेश' इति। 'अशक्तानां च शक्तानां वैरूप्यं शरणैपिणाम्। अश्नुते परिहर्तुं यः स सर्वेश इतीरितः।'—इस निरुक्तिके अनुसार 'समर्थ एवं असमर्थ संपूर्ण शरणागतजनोंको अविलंबसे विकलता दूर करके तत्काल संपूर्ण मनोरथ पूर्ण करके सर्वप्रकारसे रक्षा करनेसे श्रीरघुनाथजीका नाम 'सर्वेश' है। पुनः, सर्वेश = सबके स्वामी। यथा 'सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। १।५१।', 'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुवर सब उर अंतरजामी। १।११६।२।', 'है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।' 'सबको प्रभु सब मो बसै सब की गति जान।१०७।' पुनः सर्वेश = सबके शासनकर्ता।

८ (घ) 'सर्वतोभद्रदाता' कहकर जनाया कि आप समस्त कल्याणोंके निधान हैं। जहाँ जो भी कल्याण देखा जाता है, उस सबके देनेवाले आपही हैं, और सब तो स्वयं मायाके वशमें हैं, वे दूसरेका कल्याण क्या कर सकते हैं? आगे पद ५३ में भी कहा है—'सकल सौभाग्यप्रद सर्वतोभद्रनिधि सर्व सर्वेश सर्वाभिरामं। (१)।', पुनश्च यथा 'उमा राम सम हित जग माहीं। गुर पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥ ४।१२।१।', 'जग सुपिता सुमातु सुगुरु सुहित मीत सबको दाहिनो दीनबंधु न काहू को बाम। ७७।'

'श्रीरामजी कल्याणकी तो जन्मभूमि ही हैं। वे कल्याणोंका सम्यक् आयोजन करनेवाले हैं।'—यह समस्त जनपदोंके वाक्य हैं। यथा 'कल्याणाभिजनः।', 'सम्यग्योक्ता श्रेयसां' (वाल्मी०

२।२।३५, ४२)। अतः 'सर्वतोभद्रदाताऽस्माकं' कहा, हम सब कल्याण आप ही कर सकते हैं।

८ (ङ) 'प्रनत जन खेदविच्छेदविद्यानिपुन' इति। यथा 'भव छेदनदक्ष हमकहँ रक्ष राम नमामहे। ७।१३।'—इस उद्धरणसे भाव स्पष्ट हो जाता है। प्रणत भवसे घबड़ाकर ही शरणमें है, उसकी इस चिन्ताको प्रभु दूर कर देते हैं। इस विशेषणका यह है कि मैं भवसे पीड़ित हूँ, इसकी चिन्तासे मेरी रक्षा कीजि

विभीषणजीको लात मारी जानेसे तथा सुग्रीवजीको बालिके और स्त्रीके छिन जानेसे खेद था। यथा 'कहा भयो तात लात बड़ो भाई है।···गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति··। ५।२६।', 'बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। गी० ५। 'आयो सरन सुखद पदपंकज चौंथे रावन बाज के। गी० ५। 'बालित्रास व्याकुल दिनराती। तन बहु व्रन चिंता जर ४।१२।३।', 'सोकश्रमसींव सुग्रीव आरतिहरन। गी० ५।४३। विभीषण और सुग्रीव शरणमें आये, दोनोंने प्रणाम किया; उनको अपनाकर उनके दुःख दूर किये। प्रभुका विरद है—' प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येत मम ॥ वाल्मी० ६।१८।' इसी तरह जो भी शरणमें जाता उसको शोच नहीं रह सकता। यथा 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयो शोचितुम। भा० १०।५१।४४।' (भगवान् मुचुकुन्दजीसे कहते हैं जो मेरी शरण आ जाता है, वह फिर शोच करने योग्य रहता)।

यहाँ खेदविच्छेदविद्यामें निपुण कहकर जनाया कि किसप्र किसका खेद मिट जायगा यह जाननेमें आप कुशल हैं। सुग्री चिन्ता विना दुंदुभि-अस्थिको ढहाकर अङ्गुष्ठमात्रसे फेंके सप्ततालवृक्ष बेधे नहीं जा सकती थी, अतः सर्वप्रथम ये दोनों करके उनकी चिन्ता मिटाई। विभीषणजीको उठाकर हृदयसे कुशल पूछ उनको 'लंकेश' संबोधित कर उनका तिलक कर बस इतनेसे ही उनका शोक जाता रहा।

☞ मिलान कीजिए पूर्व पद ४४ के 'अधम आरत पतित पातकपीन, सकृत नत मात्र कहैं पाहि पाता। (६)।' ४३ के 'नमत पद रावनानुज निवाजा। (७)।' से।

८ (च) 'नौमि श्रीराम सौमित्रि साकं' इति। यहाँ 'श्री' से श्रीजानकीजीको भी जना दिया। क्योंकि ऊपर 'वाम दिसि जनकजासीन' कह आये हैं। फिर यहाँ 'सर्वतोभद्रदातासमाकं···' के साथही साथ 'श्रीरामसौमित्रिसाकं' कहा, क्योंकि यह ध्यान कल्याणस्वरूप है और ग्रन्थकारको ऐसा हुआ भी। यथा 'राम बाम दिसि जानकी···सुरतरु तुलसी तोर। दो० १।' श्रीजानकीजी जीवोंको प्रभुके सम्मुख होनेकी प्रेरणा करती हैं। लक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य माने गये हैं, क्योंकि इन्होंने आचरणद्वारा जीवोंको प्रवृत्तिका मार्ग दरसाया है।

टिप्पणी—९ (क) 'देव जुगल पदपद्म सुखसद्म पद्मालयं' इति। दोनों चरणकमल सुखके स्थान हैं। यथा 'कबहिं दिखाइहौ हरि चरन। समन सकल कलेस कलिमल सकल मंगल करन।२१८।', 'पदकंज द्वंद्व मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे। ७।१३।' भाव यह कि जो इन चरणोंका ध्यान करते हैं, उनको लौकिक पारलौकिक सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। 'पद्मालय' से यह भाव भी निकलता है कि श्रीलक्ष्मीजी आपके चरणोंमें चिह्नरूपसे वस गई हैं। श्रीरामजीके दाहिने चरणकमलमें अंगुष्ठकी सीधमें एँड़ीके पास अष्टकोणके ऊपर लक्ष्मीका चिह्न है। आगे पद ८६ में भी कहा है—'जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरिपदपंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ। (३)।', किन्तु वहाँ 'हरि' से भगवान् विष्णु या श्रीमन्नारायणका अर्थ ले सकते हैं। लक्ष्मीजीका वहाँ चरणोंकी सेवा करना ठीक ही है।

९ (ख) 'चिह्न कुलिसादि' इति। श्रीरामजीके चरणोंमें अड़तालीस चिह्न हैं। प्रत्येक चरणमें चौबीस चिह्न हैं। श्रीजानकीजीके बाएँ चरणमें जो चिह्न हैं, वे ही श्रीरामजीके दक्षिण पदमें हैं और जो उनके दक्षिणपदमें हैं, वेही इनके बाएँमें हैं। इतने चरणचिह्न किसी और अवतारमें नहीं हैं। श्रीकृष्णजीके चरणकमलोंमें केवल उन्नीस हैं, ११ एकमें, ८ दूसरे में। बिल्वमंगलजी 'श्रीकृष्णकर्णामृत' ग्रंथमें भी इतने ही लिखते हैं।

गोस्वामीजीने प्रायः चारका ही ध्यान किया है। मानसमें तो सर्वत्र चारका ही उल्लेख है, किन्तु गीतावलीमें एक पदमें ऊर्ध्वरेखा-

को भी कहा है, यथा 'सकल सुचिन्ह सुजन सुखदायक ऊपरे विसेषि बिराजति। ७।१७।' विन्दुमाधवजीके चरणमें पाँच कहे वहाँ 'यव' चिह्नभी है। श्रीरामजीके चरणोंमें कुलिश, ध्वज, अंकु और कमल ये ही प्रायः सर्वत्र कहे गये हैं और ये चारों दक्षि चरणमें हैं। कुलिशादिसे ये चारों अभिप्रेत हैं। यथा 'ध्वज कुलि अंकुस कंज जुत वन फिरत कंटक किन लहे। ७।१३।', 'ललित अं कुलिसादिक चारी। ७।७६।', इत्यादि।

६ (ग) 'सोभाति भारी' इति। शोभा ऐसी है कि 'मुनि मन मधु रहत तहँ छाए।' श्रीरामचरणांकमालामें प्रत्येक चरणचिह्नकी शो वर्णित है। अंगुष्ठमूलमें वज्र चिह्न है, जो 'चपलावरण महासु दायक' है। अंकुशके ऊपर 'चित्रविचित्र रंगका महा मनोहर पा जनमनभावन' ध्वज चिह्न है। अनामिकाके सन्मुख 'श्यामरं लोचनसुखदायक मनवशकारी' अंकुश चिह्न है। कमल चिह्न प मनोहर गुलाबी रंगका है जो नेत्रोंको सुखकारी है।

गीतावलीमें इनकी शोभाको तीर्थराजकी त्रिवेणीका 'भँव तरंगविलास' कहा है। यथा 'अंकुस कुलिस कमल ध्वज सुंदर भँव तरंग बिलासा। मज्जहिं सुर सज्जन मुनिजनमन मुदित मनोहर बासा ७।५।' और भी शोभा सुनिये—'पदुमराग रुचि मृदु पदतल ध्व अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति। रही आनि चहुँ बिधि भगतन जनु अनुराग भरी अंतरगति। गी० ७।१७।', 'कंज कुलिस ध्व अंकुस रेख चरन सुभचारि। जनमनमीन हरन कहँ बंसी र सँवारि। गी० ७ २१।' ☞ कुलिशादि चिह्नोंके उद्देश्य ये हैं—वज्र भक्तोंकी पापराशिरूपी पर्वतको विदीर्ण करनेवाला है। अंकुश भक्तों चित्त (मन) रूपी मत्तगजका दमन वा वशमें करनेवाला है कमलका उद्देश्य ध्यान करनेवाले भक्तोंके चित्तरूपी भ्रमरको लुभा और उनके लिये भक्तिनिधिका संपन्न करना है। ध्वजचि अभयदाता है, मानो समस्त अनर्थोंको परास्त करके फहरानेवा विजय ध्वजा है। इत्यादि।

६ (घ) 'हनुमंत हृदि विमल कृत परम मंदिर', श्रीहनुमान्‌जी निर्मल हृदयको अपने निवासका परम मंदिर बना लिया। अर्थ यह उनका खास महल है, हेडक्वार्टर है। इनके हृदयमें सदा

धारी होकर रहते हैं, यथा 'प्रनवउँ पवनकुमार खलबनपावक ज्ञानघन। जासु हृदय आगार बसहिं राम सरचापधर।'

'हृदि विमल'—आपका हृदय निर्मल है, इससे जनाया कि आप विशुद्ध विज्ञानी हैं, आपने काल कर्म गुण और मायाको मथ डाला है, आप मन, कर्म और वचनसे श्रीरामचरणानुरागी हैं, आप निष्काम प्रेमी हैं। यथा 'वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ।', 'जयति काल गुन कर्म माया मथन, निश्चल ज्ञानव्रत सत्यरत धर्मचारी। २६।', 'श्रीरामप्रियप्रेमबंधो।२८।', 'बचनमानसकर्म सत्यधर्मव्रती जानकीनाथचरनानुरागी।२६।', 'रामपदपद्ममकरंद मधुकर।२६।', 'रामपरिपूरनचंद-चकोर को।३१।', 'हनुमंतप्रेमवापी मराल।६४।'

श्रीरामजी निर्मल हृदयमें निवास करते हैं, वहीं उनको विश्राम मिलता है। सकामहृदयवालोंकी तो कामनाओंकी पूर्तिमें ही लगे रहना पड़ता है, इससे वहाँ विश्राम कहाँ? निर्मल हृदय भगवान् शंकरका भी है, वहाँ भी निवास करते हैं, हनुमान् यद्यपि शंकरजीके ही अवतार हैं, तथापि शंकरजीके हृदयको परममंदिर न बनाकर श्रीहनुमान्जीके हृदयको परममंदिर बनाया। क्योंकि इसी रूपमें वे नित्य सेवक हैं और श्रीरामसेवाकी लालसासे ही यह अवतार हुआ है।

६ (ङ) 'हनुमंत हृदि··परम मंदिर' कहकर 'सरन सोकहारी' कहा। इसमें यह भी ध्वनित भावार्थ है कि इस 'परम मंदिर' में रहनेसे अब शरणागतोंकी रक्षा श्रीहनुमान्जी ही करते रहते हैं, आपको कष्ट नहीं उठाने देते, इसीसे आपको यहीं परम विश्राम मिलता है। इसीसे आपको 'रामहित रामक्तानुवर्ती (पद २७), 'भक्त कामदायक श्रीरामप्रियपेमबंधो।२८।' इत्यादि कहा है। 'मंदिर' में पूजा होती है। यह हृदय 'परम मंदिर' है, जैसी पूजा सेवा यहाँ होती है, ऐसी अन्यत्र कहीं नहीं, इसीसे तो आप हनुमान्जीके ऋणिया बन गये,—'कपि सेवा बस भए कनौड़े'। यह भी भाव है। 'सदाहनुमदाश्रयः' श्रीरामके अष्टोत्तरशतनामोंमेंसे एक नाम है। (प० पु० उ० २८१।३२)। निरन्तर श्रीहनुमान्जीके हृदयमें निवास करनेसे यह नाम हुआ जान पड़ता है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

५२

देव कोसलाधीस जगदीस जगदेकहित
अमित गुन बिपुल बिस्तार लीला।
गायंति तव चरित सुपवित्र श्रुति सेष
सुक संभु सनकादि मुनि मननसीला ॥१॥

देव बारिचरबपुषधर भक्तनिस्तारपर[1] धरनिकृतनाव महिमातिगुर्वी।
सकल जज्ञांसमय[2]उग्रबिग्रहक्रोड[3] मर्दि दनुजेस उद्धरन उर्वी ॥२॥

देव कमठ अति बिकट तनु कठिन पृष्ठोपरि[4]
भ्रमत मंदर कंडुसुख मुरारी।
प्रगट कृत अमृत गो इंदिरा इंदु बृंदारकाबृंद आनंदकारी ॥३॥

देव मनुज-मुनि-सिद्ध-सुर-नागत्रासक दुष्ट दनुज द्विजधर्ममर्ज्जाद[5]-हर्त्ता।
अतुल मृगराज बपु धरित बिदरित अरि भक्त प्रहलाद अहलादकर्त्ता॥

देव छलन बलि कपट-बटु-रूप वामन[6] ब्रह्म भुवनपर्जंत[7] पदतीनि करनं।
चरननखनीर त्रैलोक्य[8] पावन परम बिबुध जननी दुसह सोक हरनं।४

देव छत्रियाधीस-करि-निकर बर[9]
केसरी परसुधर बिप्र-ससि-जलदरूपं।
बीस भुजदंड दससीस खंडन चंडबेग सायक नौमि राम भूपं।६

---

१ पर—रा०, ह०, ५१, ७४, मु०, १५, आ०। प्रद—भा०, वे०, प्र०, ज०। २—जज्ञांग—ह०। ३ कोल—ज०, ७४। ४ पृष्ठोपरी—ज०, ७४, मु०। पृष्ठोपरि—भा०, रा०, वे०, दीन,। ५ मर्ज्जाद—रा०, ह०। मर्जाद—७४, ज०। मर्य्याद—भा०, वे०, मु०, दीन,। ६ वामन—रा०, ह०, ५१, ७४, १५, मु०, द०त०। बावन—ज०, प्र०। पावन—भा०, वे०। ७ भवन—भा०। ८ त्रैलोक्य—रा०, भा०, वे०, आ०। त्रैलोक—प्र०, ज०। ९ वर—रा०, ह०, ५१, ७४, १५, आ०। नर—भा०, वे०, प्र०, ज०, भ०।

देव भूमिभर[10] भारहर प्रकट परमातमा ब्रह्म नररूपधर[11] भक्तहेतू।
बृष्निकुलकुमुदराकेस राधारवन[12] कंसबंसाटवी धूमकेतू।७
देव प्रबल पाखंड महिमंडलाकुल देखि
निंद्यकृत अखिल मख कर्मजालं।
सुद्ध बोधैक घन ज्ञानगुनधाम अज बुद्ध[13]
अवतार बंदे कृपालं।८
देव कलिकाल जनित मल मलिन मन
सर्व नर मोहनिसि निविड़जमनांधकारं।
विष्नुजस पुत्र कल्की दिवाकर उदित
दास तुलसी हरन विपति भारं।९।

शब्दार्थ—जगदेकहित = जगत् एक हित = जगत्‌के एकमात्र हितकर्त्ता। विपुल विस्तार = बहुत बड़ी लंबी चौड़ी। विस्तार = फैलाव; बड़ी। गायंति = गाते हैं। मननशील = भगवत् स्वरूप, रूप, गुण और विभूतिके मनन करनेवाले। = मनन स्वभाववाले। बारिचर = पानीमें रहनेवाले जीवजन्तु। यहाँ 'मत्स्य, मीन, मच्छ' से तात्पर्य है। चर = चलने वा विचरनेवाला। निस्तार = उद्धार, रक्षा। महिमाति = महिमा अति। गुर्वी = भारी, श्रेष्ठ। यज्ञांशमय = यज्ञकी सामग्रियोंसे भरा हुआ। क्रोड़ = सूकर, वराह। दनुजेस = दानवराज हिरण्याक्ष। उद्धरण = उबारने, ऊपर करने वा उद्धार करनेवाले। कमठ = कछुआ, कच्छप। कठिन=कठोर, कड़ी। पृष्ठोपरि = पृष्ठ (पीठ) + उपरि (ऊपर) कंडु = खाज, खुजली। इंदिरा = लक्ष्मी। त्रासक = त्रास देनेवाला। मर्जाद (मर्याद) = सदाचार, नियम, प्रतिष्ठा, गौरव। अतुल = जिसकी तुलना, समता या उपमा न हो; अनुपम। यथा 'मुनि रघुपति छबि

---

[10] धर—ह०। भर—प्रायः औरोंमें। [11] घर—रा०, ह०, ५१, ज०, ७४, आ०। धरि—भा०, बे०, १५, प्र०। [12] रवन—रा०, भा०, वे०, मु०, भ०, १५। रमन—५१, ह०, ७४, ज०, दीन। [13] बुद्ध—रा०, वे०, ह०, ५१, ७४, मु०, डु०, वै०, दीन। बौद्ध—भा०। बौध—प्र०, १५, भ०, वि०। बोध—ज०।

अतुल बिलोकी। भये मगन मन सके न रोकी।—विशेष टि० ४ (ग) में देखिए। बपु = शरीर, देह। अहलाद (अह्लाद) = आनंद। छलना = धोखे या भुलावेमें डालकर ठगना। कपट = असलीको छिपाकर वनावटी। पर्जंत (पर्यंत) = तक। करनं (करणं) = करनेवाले। हरनं (हरणं) = हरनेवाले। वामनः—प्रसिद्ध प्रधान दशावतारोंके गणनाक्रमसे पाँचवें अवतारका नाम। पद ४९ (३) टि० ३ (ख) देखिए। छत्रियाधीस (क्षत्रिय अधीश) = क्षत्रिय जातिके राजा। परसुधर = परशुराम।—पद ३८ (३) में देखिए। ससि (शस्य) = धान्य, धान। = खेती, फसल। यथा 'ससिसंपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी।३।१५।५।' चंड = उग्र, प्रखर, तेज। वेग = तेज़ चाल। भर = भरणपोषणकर्ता। = भारी। बृष्णिकुल = यादववंश। वंशाटवी = वंशरूपीवन एवं बाँसोंका वन। निंद्य = निन्दा करने योग्य। आकुल = व्याप्त। = व्याकुल। यथा 'जरत सुर असुर नरलोक सोकाकुलं मृदुलचित अजितकृत गरल पानं।११।' कर्मजालं—'तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।४६ (८)' देखिए। निबिड़ = प्रगाढ़, सघन। जमन (यवन) = एक म्लेच्छ जाति।—विशेष ४६ (६) टि० ६ (घ) में। विष्णुयश = वह ब्राह्मण जो ब्रह्मयशका पुत्र था और जिसके यहाँ कल्कि अवतार होता है। सम्भल मुरादाबादमें देवशर्माकी कुँआरी कन्यासे कल्कि अवतारका होना कहा जाता है, परन्तु गोस्वामीजी 'विष्णुयश पुत्र' कहते हैं।

पद्यार्थ—देव! कोशलाधीश (अयोध्यापति)! जगत्के स्वामी, जगत्के एकमात्र हितकारी! (कृपा, दया, क्षमा, करुणा, सौशील्य, सौहार्द, सौलभ्य और वात्सल्य आदि) आपके अनन्त (असंख्य) गुण हैं। आपकी लीलाका बहुत बड़ा विस्तार (फैलाव) है *। श्रुति, शेष, शुकदेवजी, शंकरजी, सनक-सनन्दन-सनातन-सनतकुमारजी, और मननशील मुनि आपके सुन्दर परम पवित्र चरित्रोंको गाते हैं। १। देव! भक्तके निस्तार (रक्षा) में तत्पर मत्स्यशरीरधारी† आपने

---

* अर्थान्तर—१ तुमने अपने अगणित गुणोंसे (गुणोंकी—वि०) अपार लीला फैलाई है। (भ०)। २ अनंत गुण और लीलाका बहुत बड़ा वस्तार है। (वीर)।

† प्रायः टीकाकारोंने 'धर' का अर्थ 'धरकर' किया है। (भ०, व०, वीर, वै० इत्यादिने)

पृथिवीको नाव बनाया। आपकी महिमा अत्यन्त भारी है। यज्ञके सम्पूर्ण अंशोंसे परिपूर्ण भरे हुए ‡ भयंकर उत्कट सूकरशरीरसे दैत्यराज हिरण्याक्षको मारकर पृथ्वीका उद्धार करनेवाले (आपही हैं)। २। देव! आश्रितविरोधिनाशक मुरारी! अत्यन्त विकट कच्छपशरीरमें अपनी पीठपर मन्दराचलके घूमनेसे आपको खाज (खुजलाने) का-सा सुख हुआ। (क्षीरसमुद्र मथवाकर उसमेंसे) अमृत, कामधेनु, गौ, लक्ष्मी और चन्द्रमा (प्रभृति) को प्रकटकर आप देवसमूहको आनन्दित करनेवाले हुए।३। देव! मनुष्य, मुनि, सिद्ध, सुर और नागदेवोंको त्रास देनेवाले, त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) धर्ममर्यादाके नाशक दुष्ट दैत्य (हिरण्यकशिपु ऐसे) शत्रुको आपने अनुपम एवं अद्भुत (नृ-) सिंहशरीरधारी हो विदीर्णकर (अर्थात् नखोंसे उसके शरीरको चीर फाड़कर) भक्त प्रह्लादको आनन्द देनेवाले हुए।४। देव! राजा बलिको छलनेके लिये कपट ब्रह्मचारीरूपसे ब्रह्मलोकतक † तीनही डग करनेवाले (अर्थात् तीनही पगमें समस्त लोकोंको नाप लेनेवाले) वामन (आपही हैं)। हे देवमाता (अदितिजी) के दुःसह शोकके हरनेवाले! आपके चरणनखका (नखसे स्पर्श किया हुआ) जल तीनों लोकोंको परम पावन करनेवाला है। ५। देव! क्षत्रियराजारूपी हाथियोंके झुन्ड(को विदीर्ण करने) के लिये श्रेष्ठ सिंहरूप और ब्राह्मणरूपी शस्यके लिये मेघरूप परशुराम (आपही हैं)। रावणकी बीस भुजाओं और दस सिरोंके खंडन करनेवाले प्रचण्ड वेगवान् बाणोंवाले राजा श्रीरामचन्द्रजी! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। ६। देव! भक्तोंके लिये नररूप धारण करनेवाले परमात्मा ब्रह्म पृथ्वीका भारी बोझ हरनेके लिये प्रकट हुए। यदुवंशरूपी कुमुद (को प्रफुल्लित करने) के लिये पूर्णचन्द्ररूप और कंशवंशरूपी वनको (जलाडालनेके

---

‡ वियोगीजीने 'उग्रविग्रह' को 'दनुजेस' का विशेषण माना है। अर्थान्तर-१ तुम संपूर्ण यज्ञोंके अंशोंसे पूर्ण हो—(भ०)। २-आप सब प्रकारके यज्ञोंके अंशरूप हैं। (वि०)। ☞ 'सकल यज्ञांशमय' विग्रहका विशेषण है। सारा शरीर यज्ञमय है। वियोगीजी लिखते हैं कि "यज्ञका अर्थ कर्म होता है। भगवान् सब कर्मोंके भोक्ता और साक्षी हैं। इसीसे आपका नाम यज्ञपति है।"

† अर्थान्तर—परब्रह्म सोई (अर्थात् परब्रह्म होते हुए आपने)—वै०।

अतुल बिलोकी। भये मगन मन सके न रोकी।—विशेष टि० ४ (ग) में देखिए। बपु = शरीर, देह। अहलाद (अह्लाद) = आनंद। छलना = धोखे या भुलावेमें डालकर ठगना। कपट = असलीको छिपाकर बनावटी। पर्जंत (पर्यंत) = तक। करनं (करणं) = करनेवाले। हरनं (हरणं) = हरनेवाले। वामनः—प्रसिद्ध प्रधान दशावतारोंके गणनाक्रमसे पाँचवें अवतारका नाम। पद ४६ (३) टि० ३ (ख) देखिए। छत्रियाधीस (क्षत्रिय अधीश) = क्षत्रिय जातिके राजा। परसुधर = परशुराम।—पद ३८ (३) में देखिए। ससि (शस्य) = धान्य, धान। = खेती, फसल। यथा 'ससिसंपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी।३।१५।५।' चंड = उग्र, प्रखर, तेज। वेग = तेज चाल। भर = भरणपोषणकर्ता। = भारी। बृष्णिकुल = यादववंश। वंशाटवी = वंशरूपीवन एवं बाँसोंका वन। निंद्य = निन्दा करने योग्य। आकुल = व्याप्त। = व्याकुल। यथा 'जरत सुर असुर नरलोक सोकाकुलं मृदुलचित अजितकृत गरल पानं।११।' कर्मजालं—'तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।४६ (८)' देखिए। निबिड़ = प्रगाढ़, सघन। जमन (यवन) = एक म्लेच्छ जाति।—विशेष ४६ (६) टि० ६ (घ) में। विष्णुयश = वह ब्राह्मण जो ब्रह्मयशका पुत्र था और जिसके यहाँ कल्कि अवतार होता है। सम्भल मुरादाबादमें देवशर्माकी कुँआरी कन्यासे कल्कि अवतारका होना कहा जाता है, परन्तु गोस्वामीजी 'विष्णुयश पुत्र' कहते हैं।

पद्यार्थ—देव! कोशलाधीश (अयोध्यापति)! जगत्‌के स्वामी, जगत्‌के एकमात्र हितकारी! (कृपा, दया, क्षमा, करुणा, सौशील्य, सौहार्द, सौलभ्य और वात्सल्य आदि) आपके अनन्त (असंख्य) गुण हैं। आपकी लीलाका बहुत बड़ा विस्तार (फैलाव) है *। श्रुति, शेष, शुकदेवजी, शंकरजी, सनक-सनन्दन-सनातन-सनतकुमारजी, और मननशील मुनि आपके सुन्दर परम पवित्र चरित्रोंको गाते हैं। १। देव! भक्तके निस्तार (रक्षा) में तत्पर मत्स्यशरीरधारी† आपने

---

* अर्थान्तर—१ तुमने अपने अगणित गुणोंसे (गुणोंकी—वि०) अपार लीला फैलाई है। (भ०)। २ अनंत गुण और लीलाका बहुत बड़ा वस्तार है। (वीर)।

† प्रायः टीकाकारोंने 'धर' का अर्थ 'धरकर' किया है। (भ०, व०, वीर, वै० इत्यादिने)

पृथिवीको नाव बनाया। आपकी महिमा अत्यन्त भारी है। यज्ञके सम्पूर्ण अंशोंसे परिपूर्ण भरे हुए ‡ भयंकर उत्कट सूकरशरीरसे दैत्यराज हिरण्याक्षको मारकर पृथ्वीका उद्धार करनेवाले (आपही हैं)। २। देव! आश्रितविरोधिविनाशक मुरारी! अत्यन्त विकट कच्छपशरीरमें अपनी पीठपर मन्दराचलके घूमनेसे आपको खाज (खुजलाने) का-सा सुख हुआ। (क्षीरसमुद्र मथवाकर उसमेंसे) अमृत, कामधेनु, गौ, लक्ष्मी और चन्द्रमा (प्रभृति) को प्रकटकर आप देवसमूहको आनन्दित करनेवाले हुए। ३। देव! मनुष्य, मुनि, सिद्ध, सुर और नागदेवोंको त्रास देनेवाले, त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) धर्ममर्यादाके नाशक दुष्ट दैत्य (हिरण्यकशिपु ऐसे) शत्रुको आपने अनुपम एवं अद्‌भुत (नृ-) सिंहशरीरधारी हो विदीर्णकर (अर्थात् नखोंसे उसके शरीरको चीर फाड़कर) भक्त प्रह्लादको आनन्द देनेवाले हुए। ४। देव! राजा बलिको छलनेके लिये कपट ब्रह्मचारीरूपसे ब्रह्मलोकतक † तीनही डग करनेवाले (अर्थात् तीनही पगमें समस्त लोकोंको नाप लेनेवाले) वामन (आपही हैं)। हे देवमाता (अदितिजी) के दुःसह शोकके हरनेवाले! आपके चरणनखका (नखसे स्पर्श किया हुआ) जल तीनों लोकोंको परम पावन करनेवाला है। ५। देव! क्षत्रियराजारूपी हाथियोंके झुन्ड-(को विदीर्ण करने) के लिये श्रेष्ठ सिंहरूप और ब्राह्मणरूपी शस्यके लिये मेघरूप परशुराम (आपही हैं)। रावणकी बीस भुजाओं और दस सिरोंके खंडन करनेवाले प्रचण्ड वेगवान् बाणोंवाले राजा श्रीरामचन्द्रजी! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। ६। देव! भक्तोंके लिये नररूप धारण करनेवाले परमात्मा ब्रह्म पृथ्वीका भारी बोझ हरनेके लिये प्रकट हुए। यदुवंशरूपी कुमुद (को प्रफुल्लित करने) के लिये पूर्णचन्द्ररूप और कंशवंशरूपी वनको (जलाडालनेके

---

‡ वियोगीजीने 'उग्रविग्रह' को 'दनुजेस' का विशेषण माना है। अर्थान्तर—१ तुम संपूर्ण यज्ञोंके अंशोंसे पूर्ण हो—(भ०)। २-आप सब प्रकारके यज्ञोंके अंशरूप हैं। (वि०)। ☞ 'सकल यज्ञांशमय' विग्रहका विशेषण है। सारा शरीर यज्ञमय है। वियोगीजी लिखते हैं कि "यज्ञका अर्थ कर्म होता है। भगवान् सब कर्मोंके भोक्ता और साक्षी हैं। इसीसे आपका नाम यज्ञपति है।"

† अर्थान्तर—परब्रह्म सोई (अर्थात् परब्रह्म होते हुए आपने)—वै०।

लिये) अग्निरूप श्रीराधारमण (आप ही हैं)। ७ देव! प्रबल पाखण्डसे पृथ्वीमंडलको व्याप्त एवं व्याकुल देखकर संपूर्ण यज्ञकर्म-काण्डको दूषित ठहरानेवाले, शुद्ध बोधमें एकही, ज्ञानघन, गुणधाम, अजन्मा, कृपाल बुद्ध अवतार (आप) की वन्दना करता हूँ। ८ देव! कलिकालजनित पापोंसे मलिन मन सब मनुष्योंके सघन मोहरात्रिके यवनरूपी प्रगाढ़ अंधकारके (नाशकरनेके) लिये विष्णुयशके पुत्र कल्किरूपी उदित सूर्य मुझ तुलसीदासके विपत्ति-समूहके हरनेवाले हों! (भाव कि जो आप प्रत्येक युगमें किसी न किसी रूपसे उदय हुआ करते हैं और कलिकालमें भी कल्किरूपसे उदित होंगे, वे मेरे तथा सबोंकी विपत्तिको हरें)। ६।

नोट—१ इस पदमें दशों मुख्य अवतारोंको श्रीरामजीके ही अवतार कहते हुये क्रमसे उन दशों अवतारोंसे आपकी ही वन्दना की है। मानसमें देवताओंका भी ऐसा कथन है। यथा 'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब-जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइ नसायो। ६।१०६।८।'

२ मन महाचंचल है, किसी तरह वशमें नहीं होता। रुचि भी मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न होती है। भगवान्‌के सभी अवतार पूर्ण हैं किसीमें भी मन लग जाय तो चित्त प्रकाशित और बेड़ा पार हो जायगा। भगवान्‌के अवतार, नाम, रूप, चरित सभी अनन्त हैं। उनमें मुख्य दश माने गये हैं। गोस्वामीजीने इन्हीं दस अवतारोंका वर्णन यहाँ किया है। इस तरह वे श्रीरामजीको सबका अवतारी मानते हैं।

टिप्पणी—१ 'देव कोसलाधीस···' इति। (क) 'देव' शब्दका मुख्य अर्थ 'क्रीड़ाशील' (कौतुकप्रिय, लीलाविहारी) है, क्योंकि 'दिव' धातु प्रधानरूपसे क्रीड़ार्थक ही है। 'बिपुल बिस्तार लीला' के सम्बंधसे 'देव' शब्द यहाँ सार्थक है। (ख) 'कोसलाधीश' तो श्रीदशरथजी भी हैं। श्रीकौशल्याजीके पिताने जबसे दक्षिण कोशल श्रीदशरथजीको दहेजमें दिया, तबसे यह नाम उनका विख्यात हुआ। 'जयति कोसलाधीस कल्यान कोसलसुता कुसल।'—४३ (२ ग) तथा ४३ नोट ५ देखिए। अतः फिर 'जगदीश' कहा। 'जगदीश' भी बहुत हैं। यथा 'बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा। १।१७७।३' (ब्रह्मा), 'माया ब्रह्म जीव जगदीसा। १।६।७' (लोकपाल), 'संकर

जगतबंद्य जगदीसा । १।५०।६।', 'जौं जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा । १।१२१।४।' (विधाता)। अतएव 'जगदेकहित' कहकर अव्याप्ति दोष मिटाया। अर्थात् जिनने कोसलपुरीमें अवतार ले-लेकर जगत्मात्रका हित किया, जिनके सिवा कोई दूसरा रावणादिका नाश कर ही न सकता था, आप वही जगदीश हैं जो कोसलाधीश हुए। यथा 'श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।···।२।१२६।', 'जौ भगवंत लीन्ह अवतारा। ३।२३।३।', 'निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा। ७।६२।८।'

पुनः भाव कि आप केवल अयोध्याके अधिपति नहीं हैं, किन्तु जगत्मात्रके ईश हैं। कोसलाधीश बनकर आपने केवल अवधवासियोंका ही नहीं, किन्तु सारे जगत्का हित किया। यथा 'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गये सब सोका। ७।२०।७।', 'रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। कालकर्मसुभावगुनकृत दुख काहुहि नाहिं। ७।२१।'

१ (ग) 'जगदेकहित' इति। सारे जगत्के हित हैं, यह 'अमित गुन विपुल विस्तार लीला' से दिखाते हैं। अर्थात् आपके गुणगण और लीलाके विस्तारका कारण 'जगत् हित' ही है। यथा 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं। १।१२२।१।' राजर्षि सत्यव्रतने मत्स्य भगवान्से यही कहा है। यथा 'सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः। भा० ८।२४।२६।' (आपके सब लीलावतार जीवोंके अभ्युदयके लिये हैं)। टि० २ (ख) भी देखिए। पुनश्च यथा 'सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम्। वाल्मी० २।५८।३२।' अर्थात् संपूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर सर्वलोकप्रिय श्रीरामका परित्याग करके।

१ (घ) 'अमित गुन बिपुल बिस्तार लीला' इति। आपके दिव्य कल्याण गुणोंका अन्त एवं मिति नहीं। यथा 'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा।' 'बिपुल बिस्तार··' का भाव कि आपने जो चरित इस अवतारमें किये, उतना ही चरित्र नहीं है, किन्तु आप असंख्यों अवतार क्रीड़ाहेतु लेकर चरित करते हैं। यथा—'भावयत्येष सत्त्वेन लोकान्वै लोकभावनः। लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु। भा० १।२।३४।', 'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः। भा०

१।३।२६।', 'यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि। तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः। भा० १०।४०।१६।'—अर्थात् 'संपूर्ण लोकोंकी रचना करनेवाले भगवान् देवता, तिर्यक् और मनुष्यादि योनियोंमें लीलावतार धारणकर सत्त्वगुणद्वारा समस्त जीवोंका पालन करते हैं।', 'सत्त्वनिधि भगवान्के अगणित अवतार हैं, जैसे कि कभी क्षीण न होनेवाले सरोवरसे छोटे छोटे स्रोत निकला करते हैं।', 'क्रीड़ा करनेके लिये आप जो जो रूप धारण करते हैं, उनके यशको गा-गाकर मनुष्य शोकरहित हो जाते हैं'। 'बिस्तार लीला', यथा 'जग बिस्तारहिं बिमल जस रामजन्म कर हेतु। १।१२१।' इन शब्दोंसे जनाया कि दशो अवतार आपके ही लीलावतार हैं।

१ (ङ) 'चरित सुपवित्र' का भाव कि श्रुतिशेषादि अपनेको सदा पवित्र बनाये रखनेके लिये आपके अत्यन्त पवित्र चरित्रोंको गाते हैं। श्रुतिशेषादिका गाना कहकर चरित्रोंकी परम पावनता एवं उत्कृष्टता दर्शित की।

१ (च) 'श्रुति शेष शंभु शुक सनकादि मुनि' इति। पूर्व प ५० (६) में भी प्रायः ये नाम आये हैं। यथा 'सेष श्रुति सारदा संभु नारद सनक गनत गुन अंत नहिं तव चरित्रं।'—इसमें शुक और मुनिके बदले शारदा और नारद हैं। श्रीशुकदेवजो श्रीमद्भागवतके वक्ता हैं, जिसमें श्रीरामजीके सभी अवतारोंकी कथा है। मुनिगणका रामगुणगान करना भी शुकदेवजीने कहा है। यथा 'यस्यामल नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। भा० ६।११।२१।' मानसमें भी कहा है—'प्रभु जे मुनि परमारथबादी।' सकल करहिं रघुपति गुनगाना। १।१०८।५-६।'—विशेष ५० (६ क, ख) में देखिए।

नोट—३ 'मत्स्यावतार' इति। ब्रह्माजीके सोनेका जब समय आ गया और उन्हें नींद आने लगी उस समय वेद उनके मुखसे निकल पड़े और उनके पास ही रहनेवाले हयग्रीव नामक दैत्यने उन्हें चुरा लिया। ब्राह्मनामक नैमित्तिक प्रलय होनेसे सारे लोक समुद्रमें डूब गए। श्रीहरिने हयग्रीव की चेष्टा जान ली और वेदोंका उद्धार करनेके लिये मत्स्यावतार ग्रहण किया। द्रविड़ देशके राजर्षि सत्यव्रत बड़े भगवत्परायण थे। वे केवल जल पीकर तपस्या कर रहे थे। येही वर्तमान महाकल्पमें वैवस्वत् मनु हुए। एक दिन कृतमाला

नदीमें तर्पण करते समय उनके अंजलिमें एक छोटी-सी मछली आगई, उन्होंने उसे जलके साथ फिर नदीमें छोड़ दिया। उसने बड़ी करुणासे प्रार्थना की कि मुझे जलजंतु खालेंगे, मेरी रक्षा कीजिए। राजाने उसे जलपात्रमें डाल लिया। वह इतनी बढ़ी कि कमंडलमें समवाई न रही, तब राजाने बड़े मटकेमें रक्खा। दो घड़ीमें वह तीन हाथकी होगई तब उसे एक बड़े सरोवरमें रख दिया। थोड़ी ही देरमें उसने महामत्स्यका आकार धारण किया। जिस किसी जलाशयमें रखते उसीसे वह बढ़ जाती। तब राजाने उसे समुद्रमें छोड़ दिया। उसने बड़ी करुणासे कहा आप मुझे इसमें न छोड़ें, मेरी रक्षा करें। तब उन्होंने प्रश्न किया कि "मत्स्यरूप धारण करके मुझे मोहित करनेवाले आप कौन हैं? आपने एकही दिनमें ४०० कोसके विस्तारका सरोवर घेर लिया। आप अवश्यही सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं।··· आपने यह रूप किस उद्देश्यसे ग्रहण किया है?"

✓ भगवान्ने कहा—आजसे सातवें दिन तीनों लोक प्रलयकालीन समुद्रमें डूब जायेंगे। तब मेरी प्रेरणासे एक बड़ी भारी नाव तुम्हारे पास आवेगी। उस समय तुम समस्त प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरोंको लेकर सप्तर्षिसंहित उसपर चढ़ जाना और समस्त औषधियों और बीजोंको साथ रख लेना। जबतक ब्रह्माकी रात्रि रहेगी तबतक मैं तुम्हारी नौकाको लिये हुये समुद्रमें विहार करूँगा और तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा। यह कहकर मत्स्य अंतर्धान होगया।

✓ प्रलयकालमें वैसाही हुआ जैसा भगवान्ने कहा था। मत्स्यभगवान् प्रगट हुए। उनका शरीर सोनेके समान देदीप्यमान था और शरीरका विस्तार चार लाख कोसका था। शरीरमें एक बड़ी भारी सींग भी थी। वह नाव वासुकिनागसे सींगमें बाँध दी गई। सत्यव्रतजीने भगवान्की स्तुति की। भगवान्ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने स्वरूपका संपूर्ण परम रहस्य ब्रह्मतत्त्व उपदेश किया। जो मत्स्यपुराणमें है। ब्रह्माकी नींद टूटनेपर भगवान्ने हयग्रीवको मारकर जिन श्रुतियोंको वह चुराकर पातालमें ले गया था उन्हें लेकर ब्रह्माको लौटा दीं। (भा० ८.२४)

☞ महाभारत वनपर्वमें जो कथा मार्कण्डेयजीने कही है, उस उपर्युक्त कथासे केवल इतना भेद है कि—उसमें मत्स्यभगवा वैवस्वत् मनुके समीप आकर प्रकट हुए जहाँ वे तप कर रहे थे औ यहाँ सत्यव्रतजीकी अंजलिमें प्रकट होना कहा है। दूसरे यह भि उसमें नाव रस्सीसे बाँधी गई और इसमें वासुकीनागसे।—यह क चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें जो मत्स्यावतार हुआ उसकी है, य 'रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे। नाव्यारोप्य महीमय्या पाद्वैवस्वतं मनुम्। भा० १।३।१५।' अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तरके अन्त समुद्रकी बाढ़से प्रलय होनेपर उन्होंने मत्स्यरूप धारण किया औ पृथिवीमयी नौकापर वैवस्वत मनुको चढ़ाकर उनकी रक्षा की।

भा० २।७।१२ में भी ब्रह्माजीने कहा है कि पिछले कल्पके अन्त वैवस्वत मनुने मत्स्यावतार देखा था। वे पृथिवीरूप नौकाके आश्र होनेसे सभी जीवसमूहके आश्रय हुए। वे मत्स्य भगवान् मेरे मुख प्रलयकालीन भयंकर जलमें गिरे हुए वेदोंको ग्रहणकर विहार क रहे।—'मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः 'क्षोणीमयो निखिलजी निकायकेतः। विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे आदाय तत्र विजह ह वेदमार्गान्॥'

☞ भा० ८।२४ में श्रीशुकदेवजीने परीक्षित महाराजसे बता है कि सत्यव्रत राजर्षि ही इस कल्पमें सूर्यपुत्र श्राद्धदेव हुए हैं, जिन् भगवान्ने 'मनु' का पद दिया है। (श्लो० ११ व ५८)।

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें दो बार मत्स्यावतारकथाका प्रसंग आ है। एक बार कार्तिकमासकी श्रेष्ठताके प्रसंगमें श्रीकृष्णजीने नारद-संवादवाली मत्स्यावतारकी कथा कही है। वह इस प्रक है—समुद्रका एक पुत्र शङ्ख था। इसने देवताओंको परास्त कर उनको स्वर्गसे निकाल दिया, सब लोकपालोंके अधिकार छीन लिये देवता मेरुगिरिकी कन्दराओंमें जा छिपे, शत्रुके अधीन न हुए तब दैत्यने सोचा कि 'देवता वेदमन्त्रोंके बलसे प्रबल प्रतीत होते हैं अतः मैं वेदोंको अपहरण करूँगा।' ऐसा निश्चय करके वह वेदों हर लाया। ब्रह्माजी कार्तिककी प्रबोधिनी एकादशीको भगवान् शरण गए। भगवान्ने आश्वासन दिया और मछलीके समान रू धारण करके आकाशसे वे विन्ध्यपर्वतनिवासी कश्यपमुनिकी अञ्जलि गिरे। मुनिने करुणावश उसे क्रमशः कमण्डल, कूप, सर, सरि

आदि अनेक स्थानोंमें रखते हुए अन्तमें उसे समुद्रमें डाल दिया। वहाँ भी वह बढ़कर विशालकाय हो गया। तदनन्तर उन मत्स्यरूपधारी भगवान्ने शङ्खासुरका वध किया और उसे हाथमें लिये वे बदरीवनमें गए। वहाँ संपूर्ण ऋषियों को बुलाकर आदेश दिया कि 'जलके भीतर बिखरे हुए वेदोंकी खोज करो और रहस्यों सहित उनका पता लगाकर शीघ्रही ले आओ।' तब तेज और बलसे सम्पन्न समस्त मुनियोंने यज्ञ और बीज सहित वेदमन्त्रोंका उद्धार किया। जिस वेदके जितने मन्त्रको जिस ऋषिने उपलब्ध किया, वही उतने भागका तबसे ऋषि माना जाने लगा। सब ऋषियोंने आकर प्राप्त किये हुए वेद ब्रह्माजीसहित भगवान्को अर्पण कर दिये। (सं० प० पु० पृष्ठ ७०६-७१०)।

दूसरी बार अध्याय २६० में श्रीपार्वतीजीके प्रश्न करनेपर भगवान्के वैभव अवतारोंकी जो कथायें श्रीशिवजीने कही हैं, उनमें मत्स्यावतारकी कथा इस प्रकार है—दितिके मकर, हयग्रीव, महाबली हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, जम्भु और मय आदि पुत्र हुए। मकरने ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीको मोहित करके उनसे संपूर्ण वेद ले लिये। इस प्रकार श्रुतियोंका अपहरण करके वह महासागरमें घुस गया। फिर तो सारा संसार धर्मशून्य हो गया।···ब्रह्माकी प्रार्थनासे भगवान् मत्स्यरूप धारण करके महासागरमें प्रविष्ट हुए और मकर दैत्यको थूथुनके अग्रभागसे विदीर्ण करके मार डाला और अङ्गउपाङ्गों सहित सम्पूर्ण वेदोंको लाकर ब्रह्माजीको समर्पित कर दिया। (सं० प० पु० पृष्ठ ८७१) ☞ कल्पभेदसे सभी कथाएँ ठीक हैं।

नोट—४ दशों अवतारोंकी तिथि, मास, युग, मन्वन्तर आदि इस प्रकार हैं—'मत्स्य' अवतार कृतयुगमें आषाढ़ शु० ११ को प्रातःकालमें पुष्पभद्रामें हुआ। इसके बाद किसी अन्य कृतयुगमें आश्विन कृ० २ प्रातःकालमें कच्छप अवतार समुद्रमें हुआ। वराहावतारभी किसी कृतयुगमें ही भाद्रपद शु० ५ को हरिद्वारमें मध्याह्नकालमें हुआ। नृसिंहावतार मुलतानमें वैशाख शु० १४ को मध्याह्नकालमें हुआ। यह अवतार किसी सत्ययुग त्रेताकी संधिमें हुआ।—ये चार अवतार भिन्न-भिन्न सत्ययुगमें क्रमसे हुए।

इसी तरह त्रेतामें क्रमसे स्वारोचिष मन्वन्तरमें श्रीवामन (भाद्र शुक्ल १२ मध्याह्न समय प्रयागमें), वैवस्वत मन्वन्तरके १६ वें त्रेतामें

श्रीपरशुराम (वैशाख शु० ३ मध्याह्नकालमें यमुनिया ग्राममें) औ श्रीरामजी (चैत्र शुक्ल ६ मध्याह्नकालमें श्रीअयोध्यापुरीमें) वैवस्व मन्वन्तरके चौबीसवें त्रेतामें (यथा 'चतुर्विंशयुगे चापि विश्वामित्र पु सरः' । हरिवंश ।१।४१।१२१।' वायु० पु० ७०।४८, ब्रह्मपु० २१३।१ मत्स्य ४७।२४५, ब्रह्माण्ड पु० ३।८।५४, ३।७३, ६२; देवी भाग० ५ १६।१६ भी इसके प्रमाण हैं) हुए। तथा वैवस्वत मन्वन्तरके अट्ठाई सवें द्वापरमें भाद्र कृ० ८ को अर्धरात्रिके समय मथुरामें श्रीकृष्ण और कलियुगमें (?) पौष शु० ७ प्रातःकाल कीकट गयामें बुध भग वान्‌का अवतार हुआ। श्रीकल्कि अवतार कलियुगमें भाद्र शुक्ल को संबलग्राम मुरादाबादमें होता है।

इसी उपर्युक्त क्रमसे श्रीरामजीके दशों अवतारोंकी लीला व गाई गई है।

टिप्पणी—२ (क) 'भक्तनिस्तारपर' इति। यहाँ 'भक्त' से श्रीसत्य व्रतजी महाराज अभिप्रेत हैं। क्योंकि यह अवतार इन्हींकी अंजलि प्रकट हुये थे, जब ये सिंधु तीर संध्या कर रहे थे। कृतमाला नदी जलसे तर्पण करते समय अथवा सूर्य्य भगवान्‌को अर्घ्य देते सम उनकी अंजलीमें आ गिरे थे। अलौकिक नौकापर मत्स्यभगवान् उपदेश और आज्ञासे सप्तर्षि और औषधियों समेत राजा बैठे थे। इस तरह भगवान्‌ने उस महाजलार्णवमें उनकी रक्षा की-थी।

पुनश्च, एक बार यह अवतार वैवस्वत मनुके लिए हुआ। कथा ऊपर दी गई हैं।

२ (ख) इस अवतारमें भगवान्‌ने श्रीमुखसे सनातन ब्र और आत्मतत्वका विवेचन निस्सन्देह विधिसे सुनाकर सप्तर्षि और सत्यव्रत दोनोंका हित किया। यथा 'अश्रौषीदृषिभिः साकमात्म तत्त्वमसंशयम्। नाऽव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम्। भा० ८ २४।५६।' शुकदेवजी स्वयं कहते हैं कि एकान्तभक्तोंके प्रिय जगत्पति मत्स्यरूप भगवान् प्रलयसमुद्रमें विहार करके राजाका हि करनेके लिए बोले। (श्लो० ३१)। वनस्पतिबीजों और जीवोंके सू शरीरोंकी रक्षा करके और वेदोंको लाकर ब्रह्माका हित किया। और चरित जो भी कहेंगे या सुनेंगे, उनका भी हित होगा। यथा 'अव तारो हरेर्योऽयं कीर्त्तयेदन्वहं नरः। सङ्कल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति

परमां गतिम्। श्लो० ६०।'—इस तरह 'जगदेकहित' को यहाँ भी सिद्ध किया।

२ (ग) 'धरनि कृत नाव' से जनाया कि वह नाव पृथिवी ही थी। यह ऊपर नोट ३ में उद्धृत 'नाव्यारोप्य महीमय्याम्' (भा० १।३।१५), 'क्षोणीमयो' (भा० २।७।१२) इन अंशोंसे स्पष्ट है। पृथ्वीको नाव बना दिया, यह भी भारी महिमा है। अतः 'महिमाति गुर्वी' कहा।

२ (घ) वाराहावतार इति।—ब्रह्मासे सृष्टिक्रम प्रारंभ करनेकी आज्ञा पाए हुए स्वायंभुव मनुने पृथ्वीको प्रलयके एकार्णवमें डूबी हुई देखकर उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे और मेरी प्रजाके रहनेके लिये पृथ्वीके उद्धारका प्रयत्न करें जिससे मैं आपकी आज्ञाका पालन कर सकूं। ब्रह्माजी इस विचारमें पड़कर कि पृथ्वी तो रसातलमें चली गयी है, इसे कैसे निकाला जाय, वे सर्वशक्तिमान श्रीहरिकी, मनही मन, शरण गए। उसी समय विचारमग्न ब्रह्माजीकी नाकसे अंगुष्ठप्रमाण एक वराह बाहर निकल पड़ा। और क्षणभरमें पर्वताकार विशाल शरीर हो गजेन्द्र सरीखा गर्जन करने लगा। शूकररूप भगवान् पहले तो बड़ी वेगसे आकाशमें उड़ गए। उनका शरीर बड़ा कठोर था, त्वचापर कड़े-कड़े बाल थे, सफेद दाढ़े थीं, उनके नेत्रोंसे तेज निकल रहा था। उनकी दाढ़ें बड़ी कठोर थीं। फिर अपने वज्रमय पर्वत समान कठोर कलेवरसे उन्होंने जलमें प्रवेश किया। बाणोंके समान पैने खुरोंसे जलको चीरते हुए वे जलके पार पहुँचे। रसातलमें समस्त जीवोंकी आश्रयभूता पृथ्वीको उन्होंने वहाँ देखा जिसे कल्पान्तमें शयन करनेके लिये उद्यत श्रीहरिने अपने ही उदरमें लीन कर लिया था। पृथ्वीको अपनी दाढ़ोंपर लेकर वे बाहर आए। जलसे बाहर निकलते समय उनके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये महापराक्रमी हिरण्याक्षने जलके भीतर ही उनपर गदासे आक्रमण किया। भगवान्ने उसे लीलाहीसे मार डाला। श्वेत दाढ़ोंपर पृथ्वीको धारण किये जलसे बाहर निकले हुए तमालके समान नील वाराह भगवान्को देखकर ब्रह्मादिकको निश्चय हो गया कि ये भगवान् ही हैं। वे सब हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। भा० ३।१३।१४–३३।

२ (ङ) 'सकलयज्ञांशमय उग्र विग्रह' इति। भा० ३।१३।३४–३९ में व्यासजीने ब्रह्मा, मरीचि आदि ब्रह्मवादी ऋषियोंद्वारा स्तुतिप्रसंगमें इस विषयमें प्रकाश डाला है। भगवान् वाराहके अंगोंमें जो यज्ञ-

सामग्री ऋषियोंको दिखाई पड़ी उसका वर्णन उन्होंने स्तुतिमें किया है—आपके रोमकूपोंमें संपूर्ण यज्ञ लीन हो रहे हैं। यह आप यज्ञमय स्वरूप दुराचारियोंके लिये दुर्दर्श है। इसकी त्वचामें छन् रोमावलीमें कुश, नेत्रोंमें घृत और चारों चरणोंमें (होता, अध्व उद्गाता और ब्रह्मा इन) चारों ऋत्विजोंके कर्म हैं। (३४-३५)। थूथनही स्रुक् है। नासिकाके छिद्रोंमें स्रुवा, उदरमें इ (भक्षणपात्र), कर्णछिद्रमें चमस (सोमरसभक्षणपात्र), मुख प्राशित्र (ब्रह्मभागपात्र), कंठछिद्रमें ग्रह (सोमपात्र) है। अग्निहो आपका चर्बण है। (३६)। आपका बारंबार प्रकट होना ह दीक्षा है। ग्रीवा उपसद है। दाढ़ें प्रायणीय (दीक्षाके अनन्तर इष्टि) और उदयनीय (यज्ञसमाप्तिकी 'इष्टि) हैं। जि प्रवर्ग्य (प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जानेवाला महावीर नाम कर्म) है। शिर सभ्य (होमरहित अग्नि) और आवस (औपासनाग्नि) हैं। प्राण चिति (इष्टकाचयन) है। (३७)। सो आपका वीर्य है, प्रातः सवनादि तीन सवन आसन हैं। सप्तधा (अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरा और आप्तोर्याम नामक) सात संस्थाएँ हैं। आपके शरीरकी संधि संपूर्णसत्र हैं। इस प्रकार आप संपूर्ण यज्ञ (सोमरहित याग) औ क्रतु (सोमसहित याग) रूप हैं। यज्ञानुष्ठान ही आपके अंगों गठन है। ३८। संपूर्ण देवता, संपूर्ण मंत्र, मंत्रद्रव्योंके आश्रय, द्रव्य स्वरूप, सर्वयज्ञमय, सर्वक्रत और क्रिया स्वरूप आपको नमस्का है। यथा 'यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ३४।' से 'नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवताद्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ३६।' तक।—यह सब 'सकल यज्ञांशमय विग्रह' का भावार्थ है।

कालिकापुराणमें सुना जाता है कि विस्तृत कथा है। उ समय सामग्रियोंकी संख्या आठ हजार थी। हरिवंश ३।३४।३५ से ४२ तक भी यज्ञविग्रह वाराह शरीरका रम्य चित्रण है। जहाँ वराहावतारका वर्णन है, प्रायः सर्वत्र यज्ञमय शरीर ही प्रदर्शित है।

२ (च) 'उग्र बिग्रह क्रोड़' इति। वज्रमय, पर्वतसमान कठो कलेवर; बड़ी कठोर दाढ़ें और बाणोंके समान पैने खुर तथा वि राल विग्रह होनेसे 'उग्र' कहा। टि० २ घ देखिए।

२ (छ) 'मर्दि दनुजेस उद्धरन उर्वी'—वराहभगवान् जलमें डूबी हुई पृथ्वीको अपनी दाढ़ोंपर उठाकर रसातलसे जलके बाहर ज्योंही निकले त्योंही उनके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये असह्यविक्रम हिरण्याक्षने गदासे उनपर आक्रमण किया। तब चक्रके समान प्रदीप्त क्रोधसे युक्त होकर उन्होंने उस दैत्यको इस प्रकार लीलाहीसे मार डाला जैसे सिंह हाथीको मार डालता है—'जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं स लीलयेभं मृगराडिवाम्भसि। भा० ३।१३।३२', 'क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्षमाम्। भा० ११।४।१८।' का अनुवाद ही 'मर्दि दनुजेस उद्धरन उर्वी' है। दोनोंका शब्द क्रम भी एक ही है। हतो=मर्दि। दितिज=दनुजेस। उद्धरत=उद्धरन। क्षमाम्=उर्वी। 'अम्भसः' श्लोकमें अधिक है, बिना उसके भी काम चल जाता है।

'उद्धरन उर्वी'—पृथ्वीको दाढ़ोंपर उठाकर ले आये, इतना मात्र ऊपर बताया गया, पर इतनेसे तो सृष्टिकार्य हो नहीं सकता। अतः मुनीश्वरोंके स्तुति कर चुकने पर वराह भगवान्ने उस पृथ्वीको अपने खुरोंसे आक्रान्त जलपर स्थापित कर दिया और अन्तर्धान हो गए। —'सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम्॥ ' रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः॥ भा० ३।१३।४६-४७।'—यह 'उद्धरन उर्वी' का भाव हुआ।

२ (ज) इससे भी विश्वका हित हुआ. यह भा० १।३ के 'द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्। उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः। ७' से स्पष्ट है। सूतजी कहते हैं कि इस विश्वके अभ्युदयके निमित्त रसातलको गई-हुई पृथिवीका उद्धार करनेके लिये यज्ञेश्वरने सूकररूप धारण किया।

नोट—५ कुछ लोगोंने लिखा है कि "वराहावतार लेनेके बाद जब भगवान्ने अपना वह शरीर छोड़ा तब उनके भिन्न-भिन्न अंगोंसे यज्ञकी सामग्री बन गई।"—ऐसा लिखना उचित नहीं है। वराह भगवान्का सारा शरीर यज्ञांशमय था। ☞ स्मरण रहे कि भगवान्के स्वरूप, रूप और गुण सभी दिव्य हैं। उसमें कार्यकारण भाव नहीं है। उनका इच्छागृहीत दिव्य अंग है। सरकार श्रीरामजीके सत्यसंकल्पसे दिव्य मंगल विग्रह प्रकट होता है और कार्य करके अपने स्वरूपमें तिरोधान होता है। ☞ प्रलयावस्थामें यज्ञ सामग्री ही श्रीअंगमें लीन हो गई थी। सृष्टिकालमें यज्ञवाराह मूर्ति भगवान्ने

यज्ञविस्तारहेतु अपने श्रीअङ्गसे वही सब यज्ञोपकरण (सामग्रियाँ) प्रकट कर दीं। उनके अंगोंमें श्रीसनकादि महर्षियोंको वे सब देख पड़ीं जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणोंसे प्रकट हो चुका है।

नोट—६ कई लोग कुतर्क करते हैं कि "पृथ्वी पातालमें (जलार्णवमें) डूब गई थी तो मर्त्यलोकके चराचर जीव मुनि मनुष्य आदि कहाँ थे ?—"हिरण्याक्षने किस पृथ्वीका हरण किया था ?"

समाधान—जिसपर मर्त्यलोकके चराचर प्राणी मुनि-मनुजादि निवास करते हैं, वह पृथ्वीका स्थूल शरीर है। जैसे पृथ्वी अपने स्थूल शरीरको छोड़कर अपने सूक्ष्म शरीरको गायके रूपमें करके देवलोकको गई थी,—'धेनुरूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी। १।१८४।७'—उसी प्रकार पृथ्वीदेवीका आत्मासहित सूक्ष्म शरीर पातालके जलमें डूबा था और उसके स्थूल देह (मृतकवत् शरीर) पर चराचर प्राणी स्थित थे। जैसे मनुष्यके मृतक शरीरमें रोम, केश, नख आदि नहीं बढ़ते, उसी प्रकार सूक्ष्मरूप एवं आत्मा-रहित पृथ्वीपर कुछ पैदा नहीं होता था, जिससे मर्त्यलोकके सब प्राणी पृथ्वी विना व्याकुल थे। (वे० भू०)।

नोट—७ 'कमठ' (कच्छप) अवतार।—जब दैत्योंके तीक्ष्ण शस्त्रोंसे देवगण संग्राममें मरने लगे और प्राण छूट जानेसे फिर पृथ्वीसे न उठ सके। जब दुर्वासाजीके शापसे इन्द्रसहित तीनों लोक श्रीरहित हो गये *। तब इन्द्रादि ब्रह्माजीकी शरण गए। ब्रह्माजी सबको लेकर अजित भगवान्‌के धामको गए और उनकी स्तुति की। (भा० ८।५)।

---

* दुर्वासाजीके शापकी कथा वि० पु० १।६ में इस प्रकार है।—एकबार बिचरते हुए दुर्वासाजीने देवराज इन्द्रको ऐरावतपर सवार सामने आते हुये देख सुन्दर सुवासित माला, जो वे पहिने हुये थे, उसे उतारकर इन्द्रके ऊपर फेंक दी। इन्द्रने उसे ऐरावतपर डाल दिया। ऐरावतने उसे सूँघकर पृथ्वीपर फेंक दिया। यह देख दुर्वासाने शाप दिया—"तूने मदमत्त होकर न तो मेरी दी हुई शोभा-धाम मालाका आदर किया, न इस कृपाके लिये कृतज्ञ हुआ और न इसे शिरपर धारण किया। इसलिये तेरी त्रैलोक्यश्री नष्ट हो जायगी। तूने मालाको पृथ्वीपर फेंका, अतः यह तेरा त्रिभुवन भी शीघ्रही श्रीहीन हो जायगा।" यथा "त्रैलोक्यश्रीरतो मूढ़ विनाशमुपयास्यति। १४।'' 'तढस्मात्प्रणष्टलक्ष्मीकं त्रैलोक्यं ते भविष्यति। १६।"

भगवान्‌ने उनको यह युक्ति बताई कि दैत्य और दानवोंके साथ सन्धि करके क्षीरसिंधुको मिलकर मथनेका उपाय करो। मन्दराचलको मथानी, और वासुकीनागको नेती बनाओ। उससे कालकूट निकलेगा, उसका भय न करना और अनेक रत्न निकलेंगे, उनका लोभ न करना। अन्तमें अमृत निकलेगा, वह युक्तिसे मैं तुमको पिला दूँगा। देवताओंने जाकर बलि महाराजसे संधि कर ली। अब देवता और दैत्य मंदराचलको उखाड़कर ले चले, पर थक गए, तब भगवान्, प्रगट होकर, उसे उठाकर गरुड़पर रखकर सिंधु तटपर पहुँचे। (भा० ८।६)। वासुकी भी अमृतके लोभसे नेती बने। (भा० ८।७।१)।

जब समुद्रका मंथन होने लगा तब बड़े-बड़े देवता और असुरोंके पकड़े रहनेपर भी अपने भारकी अधिकता और नीचे कोई आधार न होनेके कारण मन्दराचल समुद्रमें डूबने लगा। इस प्रकार अपना सब किया कराया मट्टीमें मिला देख उन सबोंका मन टूट गया। उस समय भगवान्‌ने यह देखकर कि यह विघ्नराजकी करतूत है, उन्होंने तुरंत अत्यन्त विशाल एवं विचित्र कच्छपका रूप धारण कर समुद्रमें प्रवेश करके अपनी एकलाख योजन वाली पीठपर मन्दराचलको ऊपर उठा लिया। तब देवता और असुर फिर बड़े वेगसे समुद्रको मथने लगे। भगवान् कच्छपको पीठपर मंदरका घूमना ऐसा जान पड़ता था, मानों कोई उनकी पीठको खुजला रहा हो। (भा० ८।७।६-१०)

टिप्पणी—३ (क) 'कठिन पृष्ठोपरि भ्रमत मंदर कंडु सुख' इति। इसमें भा० २।७।१३; ८।७।१० तथा भा० १२।१३।२ का भाव भरा हुआ है।—'पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः। यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति। १२।१३।२।'—इस श्लोकमें श्रीसूतजीका अनुसन्धान है। वे कहते हैं—जिस समय भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया था, उस समुद्रमंथनके लिये जो मन्दराचल मथानी बनाया गया था उसके (अत्यन्त वेगसे घूमते समय उसके पत्थरके टुकड़ोंकी) नोकोंसे जो रगड़ आपकी पीठपर हो रही थी, उससे भगवान्‌को ऐसा सुख हुआ जैसा खाजके खुजलानेसे लोगोंको सुख मालूम होता है। पर्वतकी रगड़से सुख मालूम होनेसे वे सो गए। उनके श्वासकी गति बढ़ गई, वे खर्राटे लेने

लगे। जिस मन्दराचलके भ्रमण करनेसे समुद्र आज दिनभी (ज्वार-भाटारूपसे) उछलता ही रहता है, आजतक उसे विश्राम नहीं मिला, उसी मन्दराचलकी रगड़से भगवान् कच्छपरूपमें सुख पाकर सोने लगे थे। भगवान्‌की वह श्वासवायु आप सब भक्तोंकी रक्षा करें। भा० २।७ में ब्रह्माजीने नारदसे और ८।७ में श्रीशुकदेवजीने श्रीपरीक्षितजीसे ऐसा ही कहा है।—'पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकपाणकण्डूः। २।७।१३।' (अर्थात् भगवान्‌ने कच्छपरूप धारणकर अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण किया। उस समय उस पर्वतके घूमनेकी खुजलाहटसे वे निद्रा सुखका अनुभव करने लगे), 'बिभ्रत् तदावर्तनमादिकच्छपो मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः।८।७।१०।' अर्थात् अप्रमेय कच्छप भगवान् उस कंपित पर्वतके फिरनेको अपनी पीठका खुजलाना-सा मानते थे।

उपर्युक्त उद्धरणोंकी छाया विनयके 'कंडु सुख' में है। वे सब भाव कविने यहाँ जना दिये।

३ (ख) 'मुरारी' इति। यहाँ अपनी पीठपर मन्दराचलको समुद्रमें धारण करने और पीठपर उसके घूमनेसे सुख माननेमें 'मुरारी' नाम दिया। क्योंकि 'मुरारि' शब्दका अर्थ है—'आश्रित-विरोधियोंके नाशक।' अपने आश्रित देवताओंके विरोधी दैत्योंका नाश करनेके लिये क्षीरसागरको मथनेकी सलाह दे चुके हैं। अतएव कच्छपरूप धारणकर मन्दराचलको सँभालते और पीठपर उसके भ्रमणसे प्रसन्नता ही मानते हैं। लोग खाजके खुजलानेमें सुख मानते ही हैं, यह सब जानते हैं।

☞ प० पु० उत्तरखण्ड अ० ४० में 'मुर' दैत्यकी कथा है। इन्द्रने क्षीरशायी विष्णुभगवान्‌से उसकी कथा इस प्रकार कही है—"पूर्वकालमें ब्रह्माजीके वंशमें तालजंघ नामक एक महान् असुर उत्पन्न हुआ था, जो अत्यन्त भयंकर था। उसका पुत्र 'मुर' दानव नामसे विख्यात हुआ। वह भी अत्यन्त उत्कट, महापराक्रमी और देवताओंके लिये भयंकर है। उस दैत्यने समस्त देवताओंको परास्त कर स्वर्गलोकसे निकाल दिया है और वहाँ एक दूसरे ही इन्द्रको सिंहासनासीन कर दिया है। इसी तरह उसने दूसरे ही चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु और वरुण भी बनाये हैं। उसने सब कोई दूसरे ही कर लिये हैं।"

"भगवान्‌ने यह समाचार पाकर चन्द्रावतीमें जाकर सैकड़ों दैत्योंका नाश किया और फिर बदरिका आश्रममें जाकर सिंहावती नामकी गुफामें जाकर सो रहे। मुर दैत्य उनको मार डालनेके विचारसे वहाँ जा पहुँचा। उसी समय भगवान्‌के शरीरसे एक रूपवती सौभाग्यशालिनी और दिव्य शस्त्रास्त्रसे युक्त कन्या वहाँ आई। दोनोंमें युद्ध छिड़ गया और वह दैत्य भगवत्तेजसे उत्पन्न उस कन्याकी हुंकारमात्रसे राखका ढेर हो गया।—यह कन्या साक्षात् एकादशी थी।"—जान पड़ता है कि तभीसे भगवान्‌का नाम 'मुरारि' हुआ।

भा० १०।५९ में भी एक 'मुर' दैत्यकी कथा है। सम्भवतः यह भौमासुर (नरकासुर) का सैनिक था। भौमासुरकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुरी स्टैलिनग्रेड (रूस) से कहीं चढ़बढ़कर सुरक्षित थी। फिर मुर दैत्यने उसके चारों ओर दस हजार घोर सुदृढ़ जाल (mines) बिछा रक्खे थे। मुरके पाँच सिर थे। वह प्रलयकालीन सूर्य और अग्निके समान प्रचण्ड तेजस्वी था। वह जलमें सोया करता था। भगवान् कृष्णने उसका वध किया।

☞ परन्तु कच्छपावतार 'सत्ययुगमें हुआ था। इससे उस प्रसंगका 'मुरारि' नाम पद्मपुराणके 'मुर' दैत्यके संबंधसे मिला हुआ ही अभिप्रेत है।

३ (ग) 'प्रगट कृत अमृत गो इंदिरा इंदु···आनंदकारी' इति। इस कथनसे जनाते हैं कि भगवान्‌हीने अमृत, गौ आदि प्रगट किये। भा० ८।५।७–१० से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि 'चाक्षुष नामक छठे मन्वन्तरमें जगत्पति भगवान्‌ने उस समय वैराजकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे 'अजित' नामका अंशावतार ग्रहण किया था; उन्हींने समुद्रमंथन करके देवताओंके लिये अमृत निकाला था। तथा वे ही कच्छपरूप धारण करके मंदराचलरूपी मथानीके आधार बने थे।' फिर ८।७ में उनका कथन है कि "मंदराचलको पीठपर उठानेके साथही समुद्रमंथन संपन्न करनेके लिये भगवान्‌ने असुरोंमें असुररूपसे, देवताओंमें देवरूपसे, वासुकीमें निद्रारूपसे प्रवेशकर और पर्वतके ऊपर दूसरे पर्वतके समान बनकर सहस्रबाहु भगवान् अपने हाथोंसे उसे दबाकर स्थित होगए।—इस प्रकार भगवान्‌ने पर्वतके ऊपर उसे दबारखनेवालेके रूपमें, नीचे उसके आधार कच्छपरूपमें, देवता और असुरोंके

शरीरमें उनकी शक्तिके रूपमें, पर्वतमें दृढ़ताके रूपमें और नेती बने हुए वासुकिनागमें निद्राके रूपमें (जिससे उसे कष्ट न हो) प्रवेश करके सब ओरसे सबको शक्तिसंपन्न कर दिया ।··· इतनाही नहीं किन्तु देवता और आसुरोंके समुद्रमंथनसे भी जब अमृत न निकला तब अजित नामधारी भगवान् स्वयं मंथन करने लगे ।— तब उसमेंसे कालकूट[1], सुरभि[2] (कामधेनु), उच्चैः श्रवा[3], ऐरावत[4], कौस्तुभनामक[5] पद्मरागमणि, पारिजात[6], (कल्पवृक्ष,[7] चूत[8] और संतान[9] देववृक्ष ❀), अप्सराएँ[10] लक्ष्मी[11], वारुणी[12] (सुरादेवी), चंद्रमा[13], धन्वन्तरिजी[14] (कलशमें अमृत[15] लिये हुए), तथा तुलसी[16] † और पाञ्चजन्यशङ्ख[17] इत्यादि प्रगट हुए। इनमेंसे यहाँ चारका नाम दिया, क्योंकि देवताके आनंदके कारण मुख्य ये ही हैं। अमृत देवताओंके लिये ही निकाला गया था, जिससे वे दैत्योंसे अधिक बली होगए। इसी लिये आनंदकारी वस्तुओंमें उसे प्रथम कहा। देवपूजित सुरभि कामधेनु अग्नि-होत्रकी सामग्री उत्पन्न करनेवाली थी। इस लिये ब्रह्मलोकतक पहुँचानेवाले यज्ञोंके लिये उपयोगी पवित्र, घी, दूध आदि प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मवादी ऋषियोंने उसे ग्रहण किया। ··समुद्रमंथनसेही लक्ष्मीजीका प्रादुर्भाव हुआ जो खिलेहुए कमलपर विराजमान थीं और हाथमें कमल लिये थीं। उनकी प्रभा चारों ओर छिटक रही थी। साक्षात् क्षीरसमुद्रने दिव्यपुरुषके रूपमें प्रगट होकर उन्हें एक सुन्दर माला भेंट की, जिसके कमल कभी मुर्झाते नहीं थे। विश्वकर्माने उनके समस्त अंगोंमें आभूषण पहना दिये। स्नानके पश्चात् जब वे दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके सब प्रकारके आभूषणोंसे आभूषित हुईं तब इन्द्रादि सभीने उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा की। (भा० ८।८)। वे हाथोंमें कमलकी माला लेकर उसे सर्वगुण-संपन्न पुरुषके गलेमें डालने चलीं। दुर्वासा, ब्रह्मा, इंद्र, परशुराम, शिबि, कार्तवीर्य, सनकादिक, मार्कण्डेय, हिरण्यकशिपु और शंकरजी इत्यादिमेंसे उन्हें कोई भी न जँचा। सबमें एक न एक दोष ही उन्हें देख पड़ा। रहे भगवान् विष्णु। 'उनमें सभी मंगलगुण नित्य निवास करते हैं, पर

❀ स्कं० मा० के० में ये भी तीन नाम हैं। अ० ६—११ देखिए।

† प० पु० सृष्टिमें यह भी है। औरोंमें नहीं है। पाञ्चजन्यशङ्ख म० भा० आदि २१।११ में है, अन्यमें नहीं है।

वे तो मुझे चाहते ही नहीं'—ऐसा विचार करके उन्होंने भगवान्को वह माला पहना दी। (भा० ८।८।१७-२३)। *

☞ पद्म० पु० सृष्टिखण्डमें पुलस्त्यजीने भीष्मजीसे जो कथा कही है उसमें कुछ अन्तर है। वहाँ ब्रह्माजीने भगवान्से कहा है कि—"मेरे द्वारा दी हुई इस लक्ष्मीदेवीको आपही ग्रहण करें। मैंने देवताओं और दानवोंको मना कर दिया है, वे इन्हें पानेकी इच्छा नहीं करेंगे। आपने जो स्थिरतापूर्वक इस समुद्रमंथनके कार्यको संपन्न किया है इससे आपपर मैं बहुत संतुष्ट हूँ।"—यों कहकर वे लक्ष्मीजीसे बोले 'देवि! तुम भगवान् केशवके पास जाओ। मेरे दिये हुए पतिको पाकर अनंत वर्षोंतक आनंदका उपभोग करो।' ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मीजी सबके देखते-देखते श्रीहरिके वृक्षस्थलमें चली गईं और भगवान्से बोलीं—'देव! आप कभी मेरा परित्याग न करें। मैं सदा आपके आदेशका पालन करती हुई आपके वक्षःस्थलमें निवास करूँगी।'—यह कहकर लक्ष्मीजीने कृपापूर्ण दृष्टिसे देवताओंकी ओर देखा जिससे वे शील आदि उत्तम गुणोंसे संपन्न होकर सुखी हुए।

चंद्रमाको भी देखकर समस्त देवता आनंदित हुए थे।—(प० पु० सृ०)।

टिप्पणी—४ (क) 'देव मनुज मुनि सिद्ध सुर नाग त्रासक' इति। मन्दराचलकी घाटीमें जाकर हिरण्यकशिपुने घोर तप किया जिससे देवलोक भी तप्त हो गए। ब्रह्माजीने जाकर उससे वर माँगनेको कहा। उसने कहा कि मैं चाहता हूँ कि "आपके बनाये हुये किसी भी प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो। भीतर, बाहर, दिनमें, रातमें, आपके बनाये हुए प्राणियोंके अतिरिक्त और भी किसी जीवके अस्त्र-शस्त्रसे, पृथ्वी या आकाशमें, कहीं भी मेरी मृत्यु न हो, युद्धमें कोई भी मेरा

---

* म० भा० आदि० १८ में श्रीउग्रश्रवाजीने जो कथा शौनकादिसे कही है उसमें लक्ष्मी, सुरा, चन्द्रमा और उच्चैः श्रवाका आकाशमार्गसे देवलोकमें चला जाना कहा है। (श्लो० ३७)। पद्म० पु० सृष्टिखंडमें बलिका उच्चैः श्रवाको लेना, दैत्योंका कमलनयनीके रूपमें प्रकट हुई वारुणीदेवीको ग्रहण करना और शंकरजीका अगणित किरणोंवाले शीतलप्रकाशयुक्त चन्द्रमाको अपनी जटाओंका आभूषण बनानेके लिए लेना लिखा है।

सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियोंका एकछत्र सम्राट् बनूँ। इन्द्रादि सब लोकपालोंमें जैसी आपकी महिमा है वैसी ही मेरी हो। तपस्वियों और योगेश्वरोंको जो अक्षय ऐश्वर्य प्राप्त है, वही मुझे भी दीजिये। (भा० ७।३।३५-३८)"—ब्रह्माजीने 'एवमस्तु' कहकर उसके माँगे वर उसको दिये।

वर प्राप्तकर उसने संपूर्ण दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर, नरेन्द्रगण, गंधर्व, गरुड़, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितृगणोंके अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचपति, भूत और प्रेतोंके नायक तथा सम्पूर्ण जीवोंके स्वामियोंको जीतकर अपने वशीभूत कर लिया। इस प्रकार उस विश्वजित् असुरने अपने पराक्रमसे संपूर्ण लोकपालोंके स्थान छीन लिये। स्वयं इन्द्रभवनमें रहने लगा। (भा० ७।४।५-८)।—अतएव 'मनुज मुनि सिद्ध सुर नाग त्रासक' कहा। यथा 'देवासुरमनुष्येन्द्रान्गन्धर्वगरुडोरगान् ॥ सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन्पितृपतीन्मनून् ।···सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित्···।' उसके शासनसे सब उद्विग्न हो गए। यथा 'तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः। श्लो० २१।' 'उग्रदण्डसंविग्नाः' होनेसे 'त्रासक' कहा गया। उपर्युक्त उद्धरणमें देव, मनुज, मुनि, सिद्ध, नाग सबके नाम आये हैं, सभी उसके उग्रशासनसे त्रासित थे।

४ (ख) 'द्विजधर्ममर्जादहर्त्ता' इति। जब भगवान्ने वराहावतार लेकर हिरण्याक्षको मार डाला, तब उसके बड़े भाई हिरण्यकशिपुको बड़ा दुःख हुआ, उसके रोषका ठिकाना न रहा। उसने दैत्योंको आज्ञा दी कि "आजकल ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी बहुत बढ़ती हो गई है। जो लोग तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और दान आदि शुभ कर्म कर रहे हैं, उन सबोंको मार डालो। विष्णुकी जड़ है 'द्विजातियोंका धर्म-कर्म'। और वही धर्मका परम आश्रय है।—'विष्णुर्द्विजक्रियामूलो धर्मस्य च परायणम्। भा० ७।२।११।' जहाँ जहाँ ब्राह्मण, गौ, वेद-वर्णाश्रम-धर्म-कर्म हों, उन सब देशोंको जाकर जला दो।—'यत्रयत्र द्विजा गावो वेदावर्णाश्रमाः क्रियाः। तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत। भा० ७।२।१२।' दैत्योंने जाकर वैसा ही किया। इसीसे 'द्विजधर्ममर्जादहर्ता' कहा। 'द्विज' से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों द्विजातियोंके धर्मोंकी मर्यादाका नाशक कहा। ब्राह्मणोंका धर्म था तप, जप, स्वाध्याय वेदपाठ, वैदिक, कर्म करना कराना

इत्यादि। क्षत्रिय यज्ञादि करते, ब्राह्मणोंकी रक्षा करते, वैदिक कर्म-धर्म करते। वैश्यका धर्म दान देना आदि। ये कर्मधर्म करनेवाले मार डाले जाते थे।

४ (ग) 'अतुल मृगराज बपु धरित' इति। विष्णुसहस्रनामके भगवद्गुणदर्पणभाष्यमें 'अतुलो निरुपम स्मृतः' इस निरुक्ति प्रमाणानुसार तथा 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इस तैत्तिरीय ब्राह्मणके मंत्रके प्रमाणसे 'अतुल' नामका अर्थ है 'निरुपम' अर्थात् उपमा वा तुल्यतारहित। अतुल मृगराज = अद्भुत सिंह = शरभ। 'स्वाज्ञातिलङ्घिनः पुंसः शिक्षणाच्छरभः स्मृतः'—इस निरुक्तिके अनुसार अपनी स्थापित मर्यादाके उल्लंघन करनेवाले असुरोंके विनाशकका 'शरभ' नाम है। अतएव 'धर्ममर्यादहर्ता' के संबंधसे 'अतुल मृगराज' का अर्थ 'शरभ' किया गया। (वे० शि०)।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि नृसिंहजीके तीन नाम हैं—'अतुलः शरभो भीमः'; इसीसे नृसिंहजीके वर्णनमें 'अतुल' पद दिया। 'भीम' नामका अर्थ है 'भीमो यस्माद्बिभ्यति तु शरभात पवनादयः'। अर्थात् जिस सिंहरूपधारी सरकारके तेजसे आज्ञा उल्लंघन करनेवाले असुर तथा अधिकारी पवन आदि थर-थर काँपते हैं, उसका नाम 'भीम' है।

भा० १०।४०।१९ में भी 'अद्भुत सिंह' नाम 'नृसिंह' जीके लिये आया है,—'नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह।' अतः 'अतुल मृगराज' = अद्भुत सिंह। 'अद्भुत' इससे कि वह न तो मनुष्य ही कहा जा सकता था और न पशु ही; यथा 'अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्। भा० ७।८।१८।' हिरण्यकशिपुने भी देखकर कहा था—'अहो! यह न तो मनुष्य ही है और न पशु ही, तब यह विचित्र नृसिंहरूपधारी जीव कौन है?'—'नायं मृगो नापि नरो विचित्रमहो किमेतन्मृगेन्द्ररूपम्। श्लो० १९।'

४ (घ) 'बिहरित अरि भक्त प्रहलाद अहलादकर्त्ता' इति। हिरण्यकशिपुके पुत्रोंमेंसे प्रह्लादजी जन्मसेही भगवद्भक्त थे। पाँच वर्षकी अवस्थाहीमें वे अपने पिताको भगवद्भक्तिका पाठ सुना रहे थे। अपने शत्रु विष्णुका इसे भक्त जानकर उसने यह निश्चय कर लिया कि यह अपना शत्रु है जो पुत्ररूपसे प्रगट हुआ है, अतः उसे मार डालनेकी आज्ञा दी। पर दैत्योंके सब उद्योग व्यर्थ हुए। तब हिरण्य-

कशिपुको बड़ी चिंता हो गई। उसने उन्हें बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर सर्पोंसे डसवाया, कृत्या राक्षसी उत्पन्न कराई कि प्रह्लादको खा ले, पहाड़ोंपरसे नीचे गिरवाया। शंबरासुरसे अनेकों प्रकारकी मायाका प्रयोग कराया, विष दिलाया, दहकती आगमें जलवाया। समुद्रमें डुबाया। इत्यादि अनेक उपाय मार डालनेके किये, पर उनका बाल भी बाँका न हुआ। गुरुपुत्रोंकी सलाहसे वे वरुणपाशसे बाँधकर रक्खे जाने लगे कि कहीं भाग न जायँ और गुरुपुत्र उन्हें अर्थ, धर्म और कामकी शिक्षा देने लगे। छुट्टीके समय प्रह्लादजीने समवयस्क असुरबालकोंको भगवद्भक्तिका स्वरूप बताया जिसे सुनकर सब सहपाठी असुरबालक भगवत्निष्ठ होगए। यह देखकर पुरोहितने जाकर सब हाल हिरण्यकशिपुसे कहा। सुनते ही उसका शरीर क्रोधके मारे थर-थर काँपने लगा और उसने प्रह्लादजीको अपने हाथसे मार डालनेका निश्चयकर उनको बहुत डाँटा फिड़का और पूछा कि 'तू किसके बलपर मेरी आज्ञाके विरुद्ध काम किया करता है?' प्रह्लादजीने उसे सर्वात्मा, सबके बल, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के स्वरूपका उपदेश किया। वह क्रोधसे भरकर बोला—"देखूँ वह तेरा जगदीश्वर कहाँ है! अच्छा, क्या कहा, वह सर्वत्र है? तो इस खंभेमें क्यों नहीं दीखता? अच्छा, तुझे इस खंभेमें भी दिखाई देता है। मैं अभी तेरा सिर अलग करता हूँ, देखता हूँ तेरा वह हरि तेरी कैसे रक्षा करता है? वे मेरे सामने आवें तो सही। इत्यादि कहते-कहते जब वह क्रोधको न सँभाल सका तब वह सिंहासनपरसे खड्ग लिये कूद पड़ा और प्रह्लादजीके यह कहतेही कि हाँ वह खंभेमें भी है, उसने बड़ी जोरसे खंभेको एक घूँसा मारा। उसी समय खंभेसे बड़ा भारी शब्द हुआ। घूँसा मारकर वह प्रह्लादको मारनेके लिये झपटा था, परन्तु उस अपूर्व घोर शब्दको सुनकर वह घबड़ाकर देखने लगा कि शब्द करनेवाला कौन है! इतनेमें उसने खंभेसे निकले हुए एक अद्भुत प्राणीको देखा। वह सोचने लगा—'अहो, यह न तो मनुष्य है न सिंह। फिर यह नृसिंहरूपमें कौनसा अलौकिक जीव है?' वह इस उधेड़-बुनमें लगाही हुआ था कि उसके बिल्कुल सामने नृसिंह भगवान् खड़े हो गए। नृसिंहजीके रूपका वर्णन इस प्रकार भा० ७।८।१९-२३ में दिया है—"तपाए हुए सोनेके समान पीली आँखें, दाढ़ें बड़ी पैनी,

तलवारकी तरह लपलपाती हुई छुरेकी धारके समान तीखी जोभ, टेढ़ी भौंहें, कान निश्चल एवं ऊपरको उठे हुए, फूलीहुई नासिका और पर्वतकंदराके समान खुला हुआ मुंह, बड़ेही भयंकर फटे हुए जबड़े, स्वर्गका स्पर्श करनेवाला विशाल शरीर, नाटी मोटो गरदन, छाती चौड़ी, कमर बहुत पतली, सारे शरीरपर चन्द्र समान चमकोले रोएँ, चारों ओर सैकड़ों भुजाएँ फैली हुई थीं जिनके बड़े-बड़े नख आयुधका काम देते थे।"

भगवान् उससे बड़ी देर तक खेलवाड़ करते रहे। अन्तमें संध्या समय उन्होंने बड़े उच्चस्वरसे प्रचण्ड भयंकर अट्टहास किया जिससे उसकी आँखें बंद होगईं। उसी समय झपटकर भगवान्ने उसे पकड़कर राजसभाद्वारकी ड्योढ़ीपर ले जाकर अपनी जङ्घाओंपर गिराकर अपने नखोंसे उसके पेटको चीरकर उसकी आँते गलेमें डाल लीं। उस समय उनकी शोभा 'हाथीको मारकर गलेमें आँतोंकी माला पहने हुए मृगराजकी-सी थी।'—'असृग्लवाक्तारुणकेसराननो यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः। भा० ७।८।३०।'

नोट—८ संभवतः भागवतमें आई हुई श्रीनृसिंहजीकी इस शोभाका ध्यान आजानेसे 'अतुल मृगराज वपु धरित विहरित' कहा गया हो।

९ 'भक्त प्रहलाद अहलादकर्ता' इति। ☞ प्रह्लादकी प्रतिज्ञाकी रक्षा की। यथा 'दितिसुत त्रास त्रसित निसि दिन प्रहलाद प्रतिज्ञा राखी। अतुलित बल मृगराज मनुज तन हत्यो मनुज श्रुति साखी। ९३।', 'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं'''। भा० ७।८।१८।'

टिप्पणी—५ (क) 'छलन बलि कपट बटु रूप वामन०' इति। 'छलन' और 'कपट बटु रूप धारण' के भाव श्रीवामनावतारकी कथासे स्पष्ट हो जाते हैं। महात्मा बलि भक्तराज थे, ब्राह्मणभक्त थे। इसीसे वे अन्य किसी प्रकार जीते न जा सके थे। 'छल' किया गया, यह स्वयं वामन भगवान्ने स्वीकार किया है।

☞ श्रीवामनावतारकी कथा भा० ८।१५ से २३ तक इस प्रकार है—दैत्यराज बलिको जब इंद्रने मार डाला और शुक्राचार्य्यजीने उनको संजीवनी विद्यासे जिला लिया तबसे वे गुरुके साथ समस्त भृगुवंशी

ब्राह्मणोंकी सेवा करने लगे जिससे प्रभावशाली भृगुवंशी अत्य प्रसन्न हुए और राजा वलिसे उन्होंने विश्वजित् यज्ञ कराया। ब्राह्मणों कृपासे यज्ञसे उन्हें युद्धकी समस्त सामग्री प्राप्त हुई। शुक्राचार्यजी एक दिव्य शंख और प्रह्लादजीने एक दिव्य पुष्पमाला दी। इस तर सुसज्जित हो सेना सहित उन्होंने जाकर अमरावतीको घेर लिया देवगुरु बृहस्पतिजीके आदेशानुसार देवताओं सहित इंद्रने स्वर्ग छोड़ दिया और कहीं जा छिपे। विश्वविजयी हो जाने पर भृ वंशियोंने उनसे सौ अश्वमेध यज्ञ कराए। इस तरह प्राप्त समृद्ध राज लक्ष्मीका उपभोग वे बड़ी उदारतासे करने लगे। (भा० ८।१५। ११, २३,३०-३६)।

अपने पुत्रोंका ऐश्वर्य्य, राज्यादि छिन जानेसे माता अदि बहुत दुखी हुईं। अपने पति कश्यपजीके उपदेशसे उन्होंने पयो किया। भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा कि—"ब्राह्मण और ईश्वर बलि अनुकूल हैं, इस लिये वे जीते नहीं जा सकते। मैं अपने अंश तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे सन्तानकी रक्षा करूँगा।—'स्वां पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान् गोप्ताऽस्मि···। ८।१७।१८।' भाद्रपद शु० १२ मध्याह्नकाल अभिजित् मुहूर्तमें भगवान् प्रकट हुए। (८।१८।५) और कश्यप-अदितिके देखते-देखते उसी शरीरसे बामन (बौना ब्रह्मचारीका रूप धारण कर लिया, ठीक वैसेही जैसे कोई नट अप वेष बदल ले। (श्लो० १२)। इधर राजा बलि नर्मदा नदीके तटपर 'भृगुकच्छ' नामक क्षेत्रपर भृगुवंशियोंके आदेशानुसार श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। ठीक उसी समय हाथमें छत्र, और जलसे भरा कमण्डलु लिये हुए, वामन-भगवान्‌ने अश्वमे यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया। वे कमरमें मूँजकी मेखला और गले यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। बगलमें मृगचर्म था और सिर जटा थी। राजा बलिने स्वागत वाणीसे उनका अभिनंदन कि और चरणोंको पखारकर चरणतीर्थको मस्तकपर रक्खा। फि बटुरूपधारी भगवान्‌से बोले—'ब्राह्मणकुमार! ऐसा जान पड़ता कि आप कुछ चाहते हैं। आप जो चाहते हों अवश्यही वह आप मुझसे माँग लीजिये।' ब्रह्मचारी वामनजी बोले कि मैं तीन डग पृथ्वी (अपने पैरोंके तीन डग) चाहता हूँ। समझानेपर भी वामनजीने कहा कि धन उतनाही संग्रह

चाहिये जितनेकी आवश्यकता हो। जो ब्राह्मण स्वयंप्राप्त वस्तुसे ही संतुष्ट हो रहता है उसके तेजकी वृद्धि होती है, नहीं तो पतन हो जाता है। (८।१६।२६)। शुक्राचार्य्यजीके वहुत समझाने पर भी कि ये वटुरूपधारी तुम्हारे शत्रु हैं, ये सब छीनने आए हैं, अपनी जीविका छिनती देख असत्य बोलकर उसकी रक्षा करनी निन्दनीय नहीं है, राजाने असत्य बोलना, देनेको कहकर फिर नकार जाना, स्वीकार न किया। तब शुक्राचार्यने राजाको शाप दे दिया। (८।२०।१४।) तो भी महात्मा वलि अपने वचनसे न डगे और हाथमें जल लेकर तीन पग पृथ्वीका संकल्प कर दिया। संकल्प होतेही वामनरूप बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि भगवान्‌की इन्द्रियोंमें और शरीरमें सभी चराचर प्राणियोंका दर्शन होने लगा। सर्वात्मा भगवान्‌में यह सारा ब्रह्माण्ड देखकर सब दैत्य भयभीत हो गए।··· उन्होंने एक डगसे वलिकी सारी पृथ्वी नाप ली, शरीरसे नभ और भुजाओंसे दिशाएँ घेर लीं। दूसरे पगसे स्वर्ग नाप लिया। तीसरा पैर रखनेके लिये बलिकी कोई भी वस्तु न बची। भगवान्‌का दूसरा पगही ऊपरको जाता हुआ महर्लोक जनलोक और तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें पहुँच गया। यथा 'क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ॥ ८।२०।३३। पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि। उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ।३४।'

ब्रह्माजीने विश्वरूप भगवान्‌के ऊपर उठे हुए चरणका अर्घ्यपाद्यसे पूजन और प्रक्षालन किया। ब्रह्माके कमंडलका वही जल विश्वरूप भगवान्‌के पदप्रक्षालनसे पवित्र होनेके कारण गंगाजीके रूपमें परिणत होगया। (अध्याय २१)।

वलिके सेनापतियोंने, यह जानकर कि यह भिक्षुक ब्रह्मचारी तो हम लोगोंका बैरी है जो अपनेको छिपाकर देवताओंका काम करना चाहते हैं और राजा तो यज्ञमें दीक्षित होनेसे कुछ कहेंगे नहीं, वामन भगवान्‌पर अस्त्र चलाया, पर भगवत्पार्षदोंने उनको खदेड़ा। बलिने दैत्योंको समझाबुझाकर लड़ाई करनेसे रोक दिया। भगवान्‌का इशारा पाकर गरुड़ने वरुणपाशसे बलिको बाँध दिया। तत्पश्चात् भगवान् बलिसे बोले—दो पगमें तो मैंने तुम्हारी सब पृथ्वी सब लोकोंकी नाप ली, तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी न होनेसे अब तुम नरक

भोगोगे।...इत्यादि रीतिसे वामनजीने बहुत तिरस्कार किया प राजा धैर्यसे विचलित न हुए। उन्होंने सुन्दर उत्तर दिया। भगवा बहुत प्रसन्न होकर ब्रह्माजीसे बोले—'मैं जिसपर बहुत प्रसन्न हो हूँ उसका धन छीन लिया करता हूँ।...मैंने इसका धन छीन लि राजपदसे अलग कर दिया, तरह-तरहके आक्षेप किये, शत्रुओं इसे बाँध लिया, भाईबंधु छोड़कर चलेगए, इतनी यातनाएँ इ भोगनी पड़ीं—यहाँतक कि इसके गुरुदेवने भी इसे शाप दे दि परन्तु इस दृढ़व्रतीने प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। मैंने इससे छल भरी वातें क मनमें छल रखकर धर्मका उपदेश किया, परन्तु इस सत्यवादीने अप धर्म न छोड़ा।...' फिर राजा वलिको सुतललोकमें रहनेकी आज्ञ दी और अपूर्व वर दिये। राजा वलिके आप द्वारपाल वन गए (अध्याय २२)।

इस तरह वलिसे स्वर्गका राज्य लेकर इन्द्रको देकर अदिति कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र वनकर सारे जगत्‌का शास करने लगे। कश्यप और अदितिकी प्रसन्नताके लिये तथा संपूर्ण प्राणियों अभ्युदयके लिये समस्त लोकों और लोकोंके स्वामीके पदप वामनजीका अभिषेक कर दिया गया। (अध्याय २३)।

५ (ख) अपनी दृष्टि और अंगकान्तिसे भक्तोंको सुख प्राप्त क देनेसे 'वामन' नाम है। 'चरननख-नीर त्रैलोक्य पावन परम'-पद (में 'विष्णुपदसरोजजा' की टिप्पणी देखिए, विस्तारसे वहाँ लिखा ज चुका है। श्रीवामनावतारमें चरणप्रक्षालनके जलको गंगा कहा है और उस प्रसंगमें श्रीशुकदेवजीने उसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवा भी कहा है;—'धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रत नरेन्द्र। स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगव विशदेव कीर्तिः। भा० ८।२१।४।' (अर्थ ऊपर कथामें आ गया है)

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि यहाँ 'परम' सरकारका नाम है अर्थात् जिससे परे कोई नहीं है। इस तरह पदार्थ होगा कि 'पर होते हुए भी देवमाताका शोक (वामनरूप होकर) हरण किया।

५ (ग) वे० भू० पं० रामकुमारदासजी लिखते हैं कि वाम भगवान्‌के त्रिविक्रम होकर त्रिलोकोंके अतिक्रमण करनेकी क वेदोंमें बड़े विस्तारसे है। कुछ स्थलनिर्देश ये हैं—

(१) 'अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्तधामभिः ।' (सामवेद १८।२।६।, ऋ० १।२२।१६)।

(२) 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसरे।' (सामवेद १८।२।१, ऋ० १।२२।१०, यजु० ५।१५, अथर्व ७।२६।४, तै० सं० १।२।१३।१।

(३) 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्।' साम १८।२।२, ऋ० १।२२।१८, अथर्व ७।२६।५, यजु० ३४।४३, तै०'ब्रा० २।४।६।१ ।

(४) 'विष्णोः कर्माणि पश्यतु यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा।' यजु० ६।४,१३।३।।३, ऋ० १।२२।१६, साम १८।२।३ अथर्व ७।२६।६, तै० सं० १।३।६।२।

(५) विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्तं विचक्रमास्त्रेधोरुगायः।' ऋ० १।१५४।१, अथर्व ७।२६।१, यजु० ५।१८, तै० सं० १।२।१३।२।)

पं० जानकीनाथशर्मा कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मणके प्रथम हविर्यश काण्डमें 'वामनो ह विष्णुरास' आदिसे तो यह कथा और ही रोचक तथा स्पष्ट कर दी गयी है।

५ (घ) ☞ स्मरण रहे कि वामनावतार लेकर छलसे भगवान्‌ने बलिसे सारी पृथ्वी ले तो ली, परन्तु इससे यह बात सिद्ध कर दी कि सन्मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको याचनाके सिवा और किसी उपायसे समर्थ पुरुषभी अपने स्थानसे नहीं हटा सकते, ऐश्वर्यसे च्युत नहीं कर सकते। दैत्यराज बलिने अपने सिरपर स्वयं भगवान्‌का चरणधोवन धारण किया था। ऐसी स्थितिमें उन्हें जो इन्द्रपदवी मिली, यह उनके लिये कोई बड़ी बात न थी। कितने महान् थे वे! अपनी प्रतिज्ञासे गुरुका शाप भी उन्हें विचलित न कर सका। और तो क्या, भगवान्‌का तीसरा पद पूरा करनेके लिये उन्होंने उनके चरणोंपर सिर रखकर अपने आपको समर्पित कर दिया। (भा० २।७।१७-१८)। छलनेका फल कविने स्वयं यों कहा है—

"भलो भले सों छल किए, जनम कनौड़ो होइ।
श्रीपतिसिर तुलसी लसति, बलि बावनगति सोइ। दो० ३६५।
बिबुध काज बावन बलिहि छलो भलो जिय जानि।
प्रभुता तजि बस भे तदपि मन की गइ न गलानि। दो० ३६६।"

और भी उपदेश मिलता है कि बड़ा जिसको ग्रहण कर लेता है, अपना लेता है, वह भी बड़ा हो जाता है। यथा 'बड़ो गहे ते होत बड़ ज्यों बावन कर दंड। श्री प्रभुके संग सों बढ़ो, गयो अखिल ब्रह्मंड। दो० ५३२।' राजा बलिको अपनाया तो वे त्रिलोकीमें प्रात: स्मरणीय हो गए और द्वादश परम भागवतोंमें गिने गए। उनकी महिमा की प्रशंसा करनेको कौन समर्थ है कि भगवान् जिनके द्वारपाल हैं और जिन्हें नित्य दर्शन देते हैं? इन्द्र बापुरा क्या चीज़ है!

इस अवतारके चरितसे भक्तहितकारी अनेक उपदेश जीवोंको दिये गए हैं।

५ (ङ) 'बिबुधजननी दुसह सोकहरनं' इति। वामनजीकी कथामें देवमाता अदितिजीके शोकका कारण कह आये हैं। पुत्रोंकी राज्यश्री छिन जानेसे किस माताको दुसह दुःख न होगा? वामनरूपसे भगवान्ने स्वयं अदितिके पुत्र होकर बलिसे तीनों लोकोंका राज्य छलकर पुनः इन्द्रको दे दिया। अतः 'शोकहरण' कहा।

टिप्पणी—६ (क) 'छत्रियाधीस करि निकर बरकेसरी०' इति। कहते हैं कि हैहयवंशका नाश करनेको स्वयं भगवान्हीने परशुराम रूपमें आवेशावतार ग्रहण किया था। भा० ९।१५ में शुकदेवजी कहते हैं कि यद्यपि क्षत्रियोंने उनका कोई बड़ा भारी अपराध नहीं किया था, फिर भी वे लोग बड़े दुष्ट, ब्राह्मणोंके अभक्त, रजोगुणी और विशेष करके तमोगुणी हो रहे थे। यही कारण था कि वे पृथ्वीके भार हो गए थे, और इसीके फलस्वरूप भगवान्ने परशुरामरूपसे उनका नाश करके पृथ्वीका भार उतारा। क्षत्रियोंके संहारका आरंभ इस प्रकार हुआ कि—

हैहयवंशके राजा 'अर्जुन' ने अनेक प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा करके भगवान् दत्तात्रेयको प्रसन्न कर लिया था और उनसे हजार भुजाएँ तथा कोई भी युद्धमें पराजित न कर सके—यह वर प्राप्त कर लिया था। इंद्रियोंका अबाधबल, अतुल संपत्ति, तेजस्विता, वीरता, कीर्ति और शारीरिक बल भी उनकी कृपासे प्राप्त हो गया था। वह योगेश्वर हो गया। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूलरूप धारण कर सकता था, वायुकी तरह सर्वत्र बेरोक टोक के बिचरा करता था। (भा० ९।१५।१७-१९)

एक दिन शिकार खेलते हुए वह जमदग्निजीके आश्रमपर पहुँचा। ऋषिके पास एक कामधेनु थी। उसके प्रतापसे उन्होंने सेनासहित राजाका सत्कार किया। ऋषिका ऐश्वर्य अपनेसे बढ़ा-चढ़ा देख उन्होंने अभिमानवश सेवकोंको आज्ञा दी कि कामधेनुको छीनकर ले चलो, मुनिसे माँगा भी नहीं। सेवक कामधेनुको छीन ले गए। उनके चले जानेके बाद परशुरामजी आए। सब वृत्तांत सुनतेही वे क्रोधसे भरे हुए फरसा और धनुषबाण लेकर बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़े—जैसे कोई किसीसे न दबनेवाला सिंह हाथियोंपर टूट पड़े। (भा० ९।१५।२३-२८)। नगरमें प्रवेश करते समय ही ये वहाँ पहुँच गए। उसने भयंकर सत्रह अक्षौहिणी सेना भेजी। परशुरामजीने क्षणभरमें उसे काट डाली। तब वह स्वयं सेना लेकर आया और हजारों हाथोंसे बाण चलाए। परशुरामजीने एकही धनुषसे छोड़ेहुए बाणोंसे उसके सब बाण काट डाले। आखिरमें उसके सब हाथ काट डाले, फिर सिरभी फरसेसे उतार लिया। उसके दस हजार लड़के डरकर भाग गए। परशुरामजीने कामधेनु लाकर पिताको दे दो। (श्लो० ३६)।

एक बार जब परशुरामजी बाहर गए हुए थे, सहस्रार्जुनके लड़कोंने आकर जमदग्निजीका सिर काट लिया और लेगए। ऋषिपत्नी रेणुका सिर पीट-पीटकर रोने लगी—'परशुराम! बेटा परशुराम! शीघ्र आओ।' करुण क्रंदन सुन वे शीघ्रतासे आश्रमपर आए। पिताको मारा हुआ देख और पिताके शरीरको भाइयोंको सौंपकर उन्होंने फरसा लेकर क्षत्रियकुलके संहारका निश्चय किया। यह देखकर कि वर्तमान क्षत्रिय अत्याचारी होगए हैं, उन्होंने पिताके वधको निमित्त बनाकर इक्कीस बार निःक्षत्रिय करके पृथ्वी ब्राह्मणोंको देदी। (भा० ९।१६।१०-२२)।

६ (ख) 'विप्रससि जलदरूपं' इति। परशुरामजी क्षत्रियोंका नाश कर-करके पृथ्वी ब्राह्मणोंको बाँट देते थे। इसीसे 'विप्रससि-जलद' विशेषण दिया गया। भा० ९।१६ में लिखा है कि उन्होंने यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय भगवान्‌का यजन किया। यज्ञांमें उन्होंने पूर्व दिशा होताको, दक्षिण दिशा ब्रह्माको, पश्चिम अध्वर्युको, उत्तर दिशा सामगायक उद्गाताको, अग्निकोण आदि विदिशाएँ ऋत्विजोंको, कश्यपजीको मध्यभूमि, उपद्रष्टाको आर्यावर्त और दूसरे सदस्योंको अन्यान्य दिशाएँ प्रदान कीं।—इसीसे विप्रशस्यके लिये मेघरूप कहे

गए। अर्थात् विप्ररूपी धान वा खेती क्षत्रिय राजाओंके अत्याचाररू अवर्षासे सूख रही थी, उसको परशुरामरूपी मेघने क्षत्रियसंहाररू जल वर्षाकर अत्याचारको मिटाकर और सारी पृथ्वी विप्रोंको दे विप्रशस्यको हराभरा कर दिया।

६ (ग) 'चंडबेग सायक' इति। शब्दार्थमें दिये हुये 'चंड' के सभी अर्थ यहाँ उपयुक्त हैं। क्रुद्ध, अति वेगवान् और उग्र अर्थों उदाहरण; यथा 'सायक एक नाभिसर सोखा। अपर लगे भुज सि करि रोषा। ६।१०२।१।', 'चले बान सपच्छ जनु उरगा। ६।६१।१।', 'छ मुकुट ताटंक तब हते एक-ही बान। सबके देखत महि परे मरम कोऊ जान॥ अस कौतुक करि रामसर प्रबिसेउ आइ निषंग। ६।१३।' (ऐसे वेगवान् थे कि किसीने उनका आना-जाना कुछ न जाना); 'राम मारगनगन चले लहलहात जनु व्याल। ६।९०।', 'तान्यो चाप श्रवन लगि, छाँड़े बिसिख कराल। ६।९०।', 'रघुनायक सायक चले मानहु काल फनीस। ६।१०१।', 'छन महुँ प्रभुके सायकन्हि काटे बिक पिसाच। पुनि रघुबीर निषंग महुँ प्रबिसे सब नाराच। ६।६७।'

६ (घ) 'नौमि राम भूपं' इति। 'भूपं' से जनाया कि यहाँ राज सिंहासनासीन श्रीदशरथात्मज श्रीरघुकुलावतंस श्रीरामकी वन्दना है।

किसी-किसीका कथन है कि ''इस पदमें गोस्वामीजीकी अनन् उपासनाका एक अनूठा परिचय है। यद्यपि सब अवतार श्रीरामजी ही हैं, तथापि नमस्कार केवल 'रामभूप' को किया गया है।—'नौमि रामभूपं'। 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लो हाथ।'—इ कथाप्रसंगको भी यह 'नौमि रामभूपं' प्रमाणित कर रहा है।"— परन्तु आगे बुद्धदेववाले पदमें भी 'वन्दे कृपालं' कहा है। ☞ य भी स्मरण रहे कि 'नौमि' क्रिया-पद है और स्वरूपके बोधक पद द्वितीयान्त पद है। इस लिये 'नौमि' का सब रूपोंमें अन्वय मान जा सकता है। एक ही पदके साथ अर्थ करनेसे आग्रहगृहीत अ होनेसे सर्वमान्य नहीं होगा। यह भी याद रहे कि भक्तमहाकविजी जड़चेतन सभीको श्रीराममय जानकर प्रणाम किया है, फिर भ अपने इष्टदेवके अवतारोंको प्रणाम क्यों न करते?

टिप्पणी—७ (क) 'भूमि-भर-भार-हर' इति। 'भर' को भार विशेषण मानकर ऊपर अर्थ किया गया है। 'भूमिभर' को यदि पृथक् एक शब्द मानें तो 'भूमिके धारणपोषण करनेवाले और

पृथ्वीका भार हरनेवाले' अर्थ होगा।—'भंजन भुवन भार। ३७ (२)।', 'भूभारहारी। ३८ (१)।' तथा 'हेलया दलित भू भार भारी। ४४ (४) में विशेष भाव देखिए। श्रीरामावतारमें रावणादि भूमिभार थे और श्रीकृष्णावतारमें कंस आदि तथा दुर्योधनादि कौरव भूमिके भार थे। 'भूमिभर भारहर' यही गीताका 'विनाशाय च दुष्कृताम्' है।

७ (ख) 'नररूपधर' का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारोंने 'नररूप धरकर' किया है, किन्तु गोस्वामीजीने प्रायः ऐसे अर्थमें सर्वत्र ह्रस्व इकारका प्रयोग किया है। जैसे कि 'धरि' 'हरि' 'करि' इत्यादि। 'नररूपधारी' होना, यह गीताका 'सम्भवामि युगे-युगे' है। और 'भक्तहेतू' यह गीताका 'परित्राणाय साधूनां' है। परमात्मा राम भी 'नररूपधारी' हुए और श्रीकृष्ण भी नररूपधारी होकर वृन्दावनमें रहे। 'नररूप' धारी होनेके भाव पूर्व ४३ (१ ट) और ५० (५ घ) में देखिए।

७ (ग) 'परमात्मा ब्रह्म' इति। संपूर्ण देहधारी इन्हींसे सत्तावाले हैं अर्थात् इन्हींसे सबका वजूद कायम (स्थिति) है, इसीसे भगवान्‌का नाम 'परमात्मा' है।

'ब्रह्म' इति। संपूर्ण जगत्‌में अपने स्वरूप, रूप और गुणोंसे व्याप्त तथा बढ़नेवाले और आश्रितको बढ़ानेवाले होनेसे 'ब्रह्म' नाम है।

☞ 'देव भूमि भर भारहर प्रकट परमातमा ब्रह्म नररूपधर भक्तहेतू' दीपदेहरीन्यायसे श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों अवतारोंके लिये आया है।

नोट—१० वेदान्त शिरोमणि श्रीरामानुजाचार्य्यजी (वृन्दावन) लिखते हैं—"श्रीपरशुरामावतारपर्य्यन्त वर्णन करके श्रीरामावतार और श्रीकृष्णावतार वर्णन समय 'प्रकट परमात्मा ब्रह्म' शब्द कहनेका भाव भा० १-१ से स्पष्ट हो-जाता-है। वहाँ शौनकादि महर्षियोंने सूतजीसे प्रश्न किया है—"ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः। १७।', "अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः। लीलाविदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया। १८।' अर्थात् हे बुद्धिमान् सूतजी! लीलामात्रसे कला धारण करनेवाले हरि ईश्वरके अवतारोंकी कथा, श्रद्धावाले हमलोगोंसे वर्णन करो। इस प्रश्नको आदर देते हुए अध्याय ३ में सूतजी कहते हैं कि—"ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा

महौजसः । कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥ (१।३।२७)।' अर्थात् सनकादि प्रभृति ऋषिवर्ग तथा स्वायंभुवादि मनुगण और इन्द्रादि देवसमूह अथच महान्पराक्रमी इक्ष्वाकु प्रभृति राजा लोग, ये सब श्रीहरिके ही आवेशरूप कलावतार हैं। प्रजापति पशुपति सब उपचित पुण्यविशेष जीवोंके अंदर परमात्माके आवेशावतार हैं—जीव निरपेक्ष स्वयं कला—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन (परशुरामजी भी आवेशही हैं), आवेशावतार होते भी इनकी कलावतारके साथ गणना है—जैसे रामावतार कृष्णावतार पूर्णावतार होते हुए भी कलावतारके साथ दश (की) संख्यापूर्तिमें उनकी भी गणना है। आगे सूतजीके वचन हैं कि—'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' अर्थात् कृष्णस्तु पुनः रामः भगवान् स्वयम्। अर्थात् 'एते ऋषयो मन्वादयः सर्वे पुंसः नारायणस्य अंशकलाः (आवेशावताराः) चकरात्। मत्स्य कूर्मादयः जीव निरपेक्ष पुंसः स्वयं कलावताराः। रामकृष्णनृसिंहास्तु पूर्ण षाड्गुण्य मूर्तयः। इति ऋग्वेदस्याखिल श्रुति प्रामाण्यात्, इत्यादि अनेक श्रुति स्मृति पाञ्चरात्रादि प्रमाण होनेसे तथा पाञ्चरात्रागमके 'दाशरथीसंहितोक्त रामावतार, कृष्णावतार पूर्णतमावतार होनेसे 'प्रकट परमातमा ब्रह्म' शब्दसे वहु मान करते हैं। ☞ इन दोनों नामोंमें श्रुति प्रमाण है।

राम = 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते ॥' (इति रामतापनी उप०)।

कृष्ण = 'कृषिर्भू वाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्णमित्यभिधीयते।"

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी कहते हैं कि "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' में जो 'तु' का अर्थ 'पुनः' किया गया है वह केवल 'श्रीरामजी' को क्षीराब्धिशायीका अवतार सिद्ध करनेके लिये ही। क्योंकि 'तु' का अर्थ 'पुनः' तो होता ही नहीं, प्रत्युत 'तु' का प्रयोग तो–'भेद', 'अवधारण' (निश्चय), और पादपूर्त्तिके लिये ही होता है, यथा–'तु स्याद्भेदेऽवधारणे' इत्यमरकोशे। (३।३।२५१)। पुनश्च यथा–'तु हि स्म ह वै पादपूर्णे' इत्यमरकोशे।३।४।५।; अतः यहाँ 'तु' पादपूर्त्तिमें होगा अथवा निश्चयार्थमें। अर्थात् यह निश्चय है कि उक्तानुक्त सर्व अवतार पुरुषावतार नारायणके कला अंशसे हैं। 'च' और कृष्ण तो पुरुषावतार शब्दसे कथित क्षीराब्धिशायी

भगवान् नारायण ही हैं, यथा 'एष नारायणः साक्षात्क्षीराब्धिनिकेतनः नागपर्यंकमुत्सृज्य ह्यगतो मथुरा पुरीम् ॥' (गोपाल ता० उ०)। और दाशरथी श्रीरामजीके लिये तो उनका वर्णन करते हुए स्वयं व्यासजीने ही लिख दिया है कि—'अतः परम्'। (भा० १।३।२२)। अर्थात् अतः=एभ्यः सर्वेभ्योऽवतारेभ्यः परम् ॥'—इसलिये 'कृष्णस्तु' के 'तु' का अर्थ 'पुनः रामः' करना आग्रह-गृहीत है।

'एते चांशकलाः०' के प्रथम 'नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया। समुद्र निग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्' कहकर दाशरथी श्रीरामजीके लिये क्षीराब्धीशसे भी 'पर' कहा गया है।

तब यहाँ कृष्णावतारके वर्णनमें 'ब्रह्म' शब्द क्यों दिया गया? इसका उत्तर यह है कि—"ब्रह्म-शब्द इसलिये दिया गया है कि प्रायः कुछ शास्त्रवेत्ताओंका निश्चय है कि ब्रह्म-वाचक शब्द वही है जिसमें 'सत्, चित्, आनंद' तीनों ही हों। और, कृष्ण-शब्दमें चित्-वाचक कोई शब्द नहीं आता। यथा—'कृषिर्भू वाचको शब्दोणश्च निर्वृत्ति वाचकः। द्वयोरेकं महाविद्ये कृष्ण इत्यभिधीयते॥' इससे कोई यह न मान बैठे कि भगवान् कृष्ण ब्रह्म नहीं हैं।—अतः कृष्ण भगवान्के विशेषणोंमें परमात्मा और ब्रह्म शब्द दे दिये गए हैं। यही समाधान 'वामन' आदि नामोंके लिये भी पर्याप्त है। (इस संदर्भका विशद स्पष्टीकरण 'मानस सिद्धांत' पुस्तिकामें प्रकाशित है)।

☞ नोट—११ हमारी समझमें तो सभी पूर्णावतार हैं और सभी परब्रह्म परमात्मा श्रीरामके ही अतवार हैं। सबमें सब शक्ति है, पर उतनी ही शक्ति प्रकट की जाती है जितनेसे काम है और जितनेके लिये अवतार हुआ। भक्तमालकार श्रीनाभाजीके गुरुदेव तथा उपनिषद् भाष्यकार आचार्य श्रीहरिदासजीका मत भी ऐसा ही है। भक्तमाल और श्रीहरिदासजी कृत श्रीरामतापनीयोपनिषद् भाष्य तथा श्रीरामस्तवराजभाष्य देखिये।

☞ अगले पदोंमें भी 'परमात्मा' और 'ब्रह्म' शब्द श्रीरामजीके लिए आए हैं। इसीसे हमने इस चरणको दीपदेहरी माना है और वह दीपदेहरी स्पष्ट ही है।

देवदत्त शास्त्रीजी कहते हैं कि 'श्रीमद्भागवत कृष्णचरित प्रधान पुराण है, यदि इसमें शिवपुराण, विष्णुपुराण आदि पुराणोंके नायकोंकी भाँति श्रीकृष्णको स्वयं ब्रह्म कहा गया तो कोई बेजा नहीं।'

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "प्रगट परमात्मा ब्रह्म" इस पदका भाव यह है कि इस अवतारमें गीतामें एवं जगह-जगह भगवान्ने अपना परंब्रह्म परमात्मपरत्व स्पष्टरूपसे कहा है।" – (इनका यह कथन ठीक ही है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तो बराबर अपनेको छिपाया है, यद्यपि भक्तों और प्रेमियोंसे वे न छिप सके। इसीसे तो उनका नाम 'गुप्त' और 'अव्यक्त' आदि भी है।)

नोट—श्रीराम और श्रीकृष्णको सभी जानते हैं। इसलिये उनके अवतारकी कथा विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखी जाती। विनयमें इनके चरित यत्रतत्र आये हैं।

टिप्पणी—७ (घ) 'वृष्णिकुल कुमुदराकेश०' इति। कंसने यह जानकर कि वसुदेवके आठवें पुत्रसे उसकी मृत्यु होगी, उसने अपनी बहिन देवकी और बहनोई वसुदेवको कैदमें रक्खा। उन्होंने वचन दिया कि जो पुत्र पैदा होंगे उनको वे कंसके हवाले कर देंगे। भगवान्ने प्रकट होकर वसुदेवजीसे अपनेको नंदजीके यहाँ पहुँचा देनेको कहा। उनकी मायासे वसुदेवजीकी बेड़ियाँ खुल गईं, पहरेदार सोगए। कृष्णजी नंदके घर पहुँचा दिये गए। कंसको खबर होनेपर उसने पूतना, वृकासुर, बकासुर, अघासुर (जिसने बकासुर और पूतनाका बदला लेनेके लिये अजगररूप धारण किया था); अरिष्टासुर (जो बैल बनकर गया था), केशी (जिसने घोड़ेका रूप धारण किया था) और व्योमासुर (मयका पुत्र जो ग्वाल बनकर जा मिला था) को भेजा। ये सब श्रीकृष्णजीके हाथोंसे मारेगए। तब उसने अक्रूरको भेजकर दोनों भाइयों और नंदजीको धनुषयज्ञ और दंगल देखनेके लिये बुलाया। और यहाँ अपने महावतोंको आज्ञा दी कि द्वारपर ही कुवलयापीड़ हाथीसे उनको कुचलवा डालें। इत्यादि। मथुरामें आकर श्रीकृष्णजीने धनुष तोड़ा और सैनिकोंको मार डाला फिर महावत सहित कुवलयापीड़को मार उसके दांत निकाल हाथमें लिये हुए वे रंगभूमिमें पहुँचे। यहाँ चाणूरसे कुश्ती लड़े और उसे मारा। बलरामजीने मुष्टिकको मारा। 'शल, प्रशल आदि सब पहलवान मारे गए।' फिर श्रीकृष्णजीने मंचपर चढ़कर

कंसकी चोटी पकड़ उसे गिराकर मारा। कंसके कंक और न्यग्रोधादि आठ भाई भी मैदानमें आए; वे भी मारे गए। इस तरह कंसवंशका नाश किया। अपने पिता माताको कैदसे छुड़ाकर उनको आनंद दिया। इस तरह यादवकुलरूपी कुमुद जो कंस रूपी सूर्य द्वारा संपुटित हो गया था, उसको चंद्ररूप होकर पुनः प्रफुल्लित किया। कुमुद=कु; कोकावेली। यह चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रफुलित होता है; इसीसे चन्द्रमाका नाम 'कुमुदबंधु' भी है।

७ (ङ) 'राधारमण' कहकर जो लीलाएँ गोपियोंके साथ कीं वे तथा महारास आदि सब लीलायें जना दीं।

७ (च) 'कंसबंसाटवी धूमकेतू' इति। कंसवंशको बाँसोंका जंगल कहा; इसीसे भगवान्‌को धूमकेतु (अग्नि) कहा। कंस और उसके आठ भाई यही कंसका वंश था, वह सब नाशको प्राप्त हो गया।

☞ कंस आदि बहुतसे असुर ही हैं जो नरराज बनकर बड़ा अत्याचार कर रहे थे, इन्हीं सबके वधके लिये तथा गीताज्ञानप्रचार और अधर्मी राजाओंके नाश, इत्यादिके लिये श्रीकृष्णावतार हुआ।

टिप्पणी-८ (क) 'बौद्ध' अवतारकी कथा। एक बार दैत्योंने इन्द्रसे पूछा कि किस कामके करनेसे हमारा राज्य स्थिर रह सकता है। शुद्ध भावसे इन्द्रने उत्तर दिया कि तुम यज्ञ और वेदविहित आचार करो। तब दैत्योंने महायज्ञ प्रारम्भ किया। भा० २।७।३७ में ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है कि देवताओंके शत्रु दैत्यगण जब वेदमार्गका सहारा लेकर वेदमार्गमें स्थित रहकर मयदानवके बनाये हुये अदृश्य अलक्षित गतिवाले पुरोंमें रहकर लोगोंको नष्ट करेंगे तब भगवान् उनकी बुद्धिमें मोह और लोभ उत्पन्न करनेवाला बुद्धवेष धारणकर उन्हें कितनेही उपधर्मोंका उपदेश करेंगे। यथा 'देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः। लोकान्घ्नतां मति विमोहमतिप्रलोभं, वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्॥' अक्रूरजीनेभी 'दैत्यदानवमोहिने' विशेषण 'बुद्ध' जीको दिया है (भा० १०।४०।२२)। यज्ञ करनेके अधिकारी न होते हुये भी यज्ञ करनेवाले दैत्योंको अनेक प्रकारके तर्क वितर्कोंसे (नास्तिकवादसे) मोहित करेंगे। यथा 'वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्। भा० ११।४।२२।'

८ (ख) 'प्रबल पाषंड महि मंडलाकुल देखि'-ऊपर (क) में जो कहा गया दैत्योंके उन यज्ञकर्मोंको ही 'प्रबल पाषंड' कहा है, क्योंकि

ऊपरसे तो वे यज्ञ कर रहे हैं, भीतरसे कपट है। देवताओंका अधिकार छीनने, स्वर्गपर अधिकार कर लेने, देवताओंका यज्ञ भाग स्वयं हड़पने. आदिके विचारसे ही वे यह सब करते थे।

८ (ग) यह अवतार मगध देशमें 'अजन' वा 'जिन' के यहाँ हुआ। यथा 'ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् । बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति। भा० १।३।२४।'

कोई तो इनको और गौतम बुद्धको एकही मानते हैं और कोई पृथक् दूसरे मानते हैं। वे० भू० पं० रामकुमारदासका मत है कि 'शुद्धोधन क्षत्रियके पुत्र सिद्धार्थ गौतम बुद्धसे तीन हजार वर्ष पहले कीकटमें ब्राह्मणके घरमें भगवान्‌का 'बुद्ध' अवतार हुआ था।' पं० जानकीनाथ शर्मा लिखते हैं कि स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड ३५।१२० में भगवान् बुद्धके मातापिताका नाम क्रमशः अञ्जनि और हेमसदन लिखा है। यह भी लिखा है कि भगवान् बुद्ध विक्रमादित्यसे ६०० वर्ष पीछे होंगे।' [भगवान् विष्णुके अंशावतार इन 'बुद्ध' के संबंधमें स्कन्दपुराणमें लिखा है कि ये 'धर्मका पालन करेंगे। महात्मा बुद्धके अनेक उत्तम चरित्र स्मरणीय होंगे। अपने भक्तोंके लिए अपनी यशोगाथा छोड़कर वे स्वर्गलोकको चले जायँगे, भक्तजन उन्हें सर्वपापापहारी बुद्ध कहेंगे।' (संक्षिप्त स्कन्दपुराण)]

८ (घ) 'निंद्यक्रत अखिल मखकर्मजालं' इति। भगवान्‌ने सन्यासीका रूप धरकर यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया। यज्ञ करनेवालोंने परिचय प्राप्त किया। तब आपने उत्तर दिया—"तुम जो यह यज्ञ कर रहे हो, इसमें प्राणियोंका वध होता है। देखो, जीवहिंसाके कारण मैं कितना सचिन्त रहता हूँ। भूमिको झाड़ूसे बुहारकर पैर रखता हूँ।" इस उपदेशसे उन्होंने यज्ञ करना छोड़ दिया और 'अहिंसा परमो धर्मः' मान लिया।"—(यह उद्धरण याद नहीं कहाँका है)। 'गौतम बुद्ध' ही यदि दशावतारवाले 'बुद्ध' हैं तो इनके सम्बन्धमें जो श० सा० में लिखा है कि "इनके समयमें कर्मकाण्डका जोर बहुत बढ़ चुका था और यज्ञों आदिमें पशुओंकी हत्या बहुत होने लगी थी। इन्होंने इस निरर्थक हत्याको रोककर लोगोंको जीवमात्रपर दया करनेका उपदेश किया।"—इसमें भी 'निंद्यक्रत०' का भाव आजाता है।

८ (ङ) भगवान्‌ने स्वयं बुद्ध अवतार लेकर असुरोंको यज्ञादि वेदविहित कर्मोंसे हटानेके लिये वेदप्रतिपादित कर्मोंकी निन्दा की,

तो वे भी निंदित होगए। यथा 'अतुलित महिमा वेद की तुलसी किये बिचार। जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार। दो० ४६४।' तब और जो हिन्दू होकर निन्दा करेंगे, उनको क्या फल मिलेगा यह समझनेकी बात है।

८ (च) 'शुद्धबोधैक घन···' इति। इसी तरह भा० १०।४०।२२ में श्रीअक्रूरजीने बुद्धदेवको 'शुद्ध' विशेषण दिया है, यथा 'नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने।' श्रीतुलसीदासजीकी विशेष उदारता यहाँ दृष्टिगोचर हो रही है। इन्होंने शुद्ध, बोधैकघन, ज्ञान-गुणधाम और अज, इतने विशेषण दिये हैं। गीतगोविन्द' में श्रीजयदेवजीने जो 'सदय हृदयं दर्शित पशुघातम्' कहा है, वह यहाँ 'कृपालं' विशेषणसे सूचित किया गया है।

टिप्पणी-९ (क) 'काल कलिजनित मल-मलिन०' इति। मानस उत्तरकांडमें इसका पर्याप्त वर्णन है।

"कलिमल ग्रसे धरम सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कलपि करि प्रगट किये बहु पंथ॥
भए लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।७।९७" से
"श्रुतिसंमत हरिभगतिपथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥१००।···
नृप पापपरायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥···
सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥१०१।···
सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।१०२।" तक

तथा 'कलि केवल मल मूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन मीना।' (बा०), 'सो कलिकाल कठिन उरगारी। पापपरायन सब नरनारी॥' (उ०) और 'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कवनिहु जतन न जाई।' (विनय)।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे कलिकालके पापोंसे मनका मलिन होना और मनुष्योंका मोह- (अज्ञान)-ग्रस्त होना स्पष्ट है।

'मलिन-मन-सर्व-नर', यथा 'इत्थं कलौ गतप्राये जनेतु खरधर्मणि। भा० १२।२।१६।' अर्थात् इस तरह जब सभी लोग अधर्मी हो जायँगे (घोर कलियुग अपनी अवधिपर पहुँच जायगा)।

६ (ख) 'मोह निसि निबिड़ जमनांधकारं' इति। मोहको रा और यवनोंको उस रात्रिका निबिड़ अंधकार कहा, इससे कल्कि भगवान्में सूर्य्योदयका आरोप किया गया। सूर्य रात्रि और उसके अंधकारका नाश करते हैं, वैसे ही कल्कि अवतार लेकर भगवान् मोह और यवनोंका नाश करेंगे, जिससे पुनः सत्ययुगका व्यापार होने लगेगा।

६ ग) 'विष्णुयशपुत्र कल्कि' इति। कलियुगके अन्तमें जब सत्पुरुषोंके घर भी भगवान्की कथामें बाधा होगी, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पाखण्डी हो जायँगे और शूद्र राजा होंगे, यहाँतक कि कहीं भी 'स्वाहा', 'स्वधा' और 'वषट्कार' की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ेगी। जब राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायँगे, तब कलियुगका शासन करनेके लिये भगवान् बालकरूपसे शंभल ग्राममें विष्णुयशके घरमें अवतार ग्रहण करेंगे। यथा 'यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः, पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः। स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान्युगान्ते। भा० २।७।३८', 'अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु। जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः। भा० १।३।२५।', 'शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः। भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति। भा० १२।२।१८।' बालकका नाम 'कल्की विष्णुयशा' होगा। मनके द्वारा चिन्तन करते ही उनके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जायँगे। यथा 'मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च॥ ९४। उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणिकवचानि च।...म० भा० वन० १९०।" परशुरामजी 'उनको वेद पढ़ावेंगे। शिवजी शस्त्रास्त्रोंका संधान सिखावेंगे, साथ ही एक घोड़ा और एक खड्ग देंगे। तब कल्कि भगवान् ब्राह्मणोंकी सेना साथ लेकर संसार में सर्वत्र फैले हुए म्लेच्छोंका नाश करेंगे। पापी दुष्टोंका नाश करके वे सत्ययुगके प्रवर्तक होंगे। वे ब्राह्मणकुमार बड़े ही बलवान्, बुद्धिमान और पराक्रमी होंगे। धर्मके अनुसार विजय प्राप्तकर वे चक्रवर्ती राजा होंगे और इस संपूर्ण जगत्को आनन्द प्रदान करेंगे। (म० भा० वन० १९०।९५-९६)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

५३ राग धनाश्री

देव[1] सकल[2] सौभाग्यप्रद सर्वतोभद्रनिधि सर्व सर्वेस सर्वाभिरामं ।
सर्वहृदिकंजमकरंदमधुकर रुचिररूप भूपालमनि नौमि रामं ॥१॥
देव सर्वसुखधाम गुनग्राम बिश्रामप्रद नाम सर्वास्पदमतिपुनीतं[3] ।
निर्मलं सांत सुविसुद्धबोधायतन क्रोधमदहरन करुनानिकेतं ॥२॥
देव अजित निरुपाधि गोतीतमव्यक्त विभु[4]-मेकमनवद्यमजमद्वितीयं।
प्राकृतं प्रगट परमातमा परमहित प्रेरकानंत[5] वंदे तुरीयं ॥३॥
देव भूधरं सुंदरं श्रीवरं मदनमदमथन सौंदर्जसीमातिरम्यं ।
दुष्प्राप्य[6]दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर्क्य दुःपार संसारहर सुलभ मृदु भावगम्यं॥४
देव सत्यकृत सत्यरत सत्यब्रत सर्वदा पुष्ट संतुष्ट संकष्टहारी ।
धर्मवर्मनि ब्रह्मकर्मबोधैक[7]विप्र[8]पूज्य ब्रह्मन्य जनप्रिय मुरारी॥५॥
देव नित्य निर्मम नित्य मुक्त निर्मान हरि ज्ञानघन सच्चिदानंदमूलं।
सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष कूटस्थ गूढ़ार्चि भक्तानुकूलं ॥६॥
देव सिद्ध साधक साध्य वाच्यवाचकरूप मंत्रजापकजाप्य सृष्टि स्रष्टा।
परम कारन कंजनाभ जलदाभतनु सगुन निर्गुन सकल दृश्य[9]द्रष्टा ।
देव व्योम व्यापक विरज ब्रह्म बरदेस बैकुंठ वामन विमल ब्रह्मचारी
सिद्ध बृंदारकाबृंद बंदित सदा-खंड[10]-पाषंड निर्मूलकारी ॥८॥

१—आ, और ७४ में 'देव' शब्द पद भरमें नहीं है। २ सकल—रा०, डु०, आ०। सर्व—भा०, वे०, ह०, प्र०, ज०, ७४। ३—सर्वास्पद मतिपुनीत—रा०, ह०, ५१, ज०, ७४, मु०, आ०। सर्वास्यप्रद०—१५। सर्वास्यवद०—भा०, वे०। ४ वपु—ज०, १५। ५—प्रेरकानंत—रा०, ७४, आ०। प्रेरकानंद—भा०, वे०, ह०, प्र०, ज०। ६ दुः प्राप दुः प्रेक्ष दुस्तर्क—ज०। ७ बोधक—रा०। ८ विप्र पूज्य—रा०; भा०, प्र०, वै०, भ०, वि०। विप्र प्रिय—वे०। द्विज पूज्य—ह०, १५, ज०, ५१, मु०, डु०, ७४, दीन।

देव पूर्नानंदसंदोह अपहरन संमोह अज्ञान गुन-सन्निपातं
वचनमनकर्मगतसरन तुलसीदास त्रासपाथोधि इव कुंभजातं ॥

☞ नोट—१ इस पदमें आये हुए-१ सर्वतोभद्रनिधि, २ सर्व, सर्वेश, ४ सर्वाभिराम, ५ विश्रामप्रद, ६ अजित, ७ अव्यक्त, ८ विभु, एक, १० अनवद्य, ११ अज, १२ अद्वितीय, १३ परमात्मा, १४ आनन्द, तुरीय, १६ सुलभ, १७ पुष्ट, १८ सन्तुष्ट, १९ ब्रह्म, २० ब्रह्मण्य और मुरारी आदि सब शब्द श्रीसरकार श्रीरामजीके नाम हैं। साधार अर्थोंसे जो टीकाकारोंने किये हैं इन शब्दोंका यथार्थ बोध नहीं हो इसीसे हम लोग भगवान्‌के गुणोंका यथार्थ मनन स्मरण करनेसे वं रह जाते हैं। अतः हम पद्यार्थमें इन शब्दोंके अर्थ प्रायः न दे टिप्पणियोंमें इनके अर्थ लिखेंगे और अमुक नाम क्यों प यह भी हम निरुक्त और भगवद्‌गुणदर्पणभाष्यके प्रमाणानुस लिखनेकी चेष्टा करेंगे। यह नाममंत्रावली ही है, जैसे हरिशंकरीपद जो विशेषण दिये गए उनको तुलसीदासजीने 'नाममन्त्रावली' दिया है।

२ गीतामें जो 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्ते मामुपासते। एकत्वे पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ।९।१५।' (अर्थात् दूसरे महा ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा करते हुए भी बहुत प्रकारसे पृथक्-पृथक् (जगत्‌के आकारमें) स्थित मुझ विश्वतोमुख परमेश्वरकी भावसे उपासना करते हैं, यह कहा है, उसीके अनुसार यहाँ कारका वर्णन किया गया है।

"नानारूपविभागसे रहित अत्यन्त सूक्ष्म जड़-चेतन वस्तु जिसका शरीर है, ऐसे सत्यसंकल्प श्रीवासुदेव भगवान् ही 'मैं वि नाम रूपोंमें विभक्त स्थूल जड़-चेतन-शरीरवाला होऊँ', इस प्रक संकल्प करके, वही एक देव मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर आदि विचित्र जगत्‌को, अपना शरीर बनाये हुए स्थित है"—इस

---

९ दृष्टि—प्र०, ज०। १० खंड—रा०, ह०, १५, ज०, ५१। खंडि वे०, ७४, भा०। ☞ दो प्रकार पदच्छेद हो सकता है—'सदा अखंड और 'सदा पाषंडखंड'। 'सदा' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लग —'बंदित सदा', 'सदा अखंड', 'सदा खंडपाषंडनिर्मूलनकारी'। खंड=

समझनेवाले महात्मा भगवत-स्वरूपकी उपासना जिस प्रकार करते हैं, वह यहाँ दिखाया गया है। टिप्पणी ६ के पश्चात् नोट ३,४ भी देखिए।

शब्दार्थ—सर्वहृदिकंज=शर्व (श्रीमहादेवजी) के हृदयरूपी कमलके। सर्वास्पदमति = सर्वं आस्पदं अति। आस्पद = स्थान; आश्रय। गोतीतमव्यक्त = गोतीत (इन्द्रियोंसे परे) + अव्यक्त। विभुमेकमनवद्यमजमद्वितीयं = विभुं एकं अनवद्यं अजं अद्वितीयं। प्राकृतं = सत्य-संकल्पसे। सर्वभक्षक = काल, यथा 'अगजग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल-कलेवा ।७।६४।७।' अध्यक्ष = स्वामी। कूटस्थ = अन्तर्व्याप्त, जगत्‌में चराचरमें गुप्तरूपसे स्थित। (श. सा.)। = निर्विकार। ☞ सांख्यमें 'कूटस्थ' ऐसे आत्मा-पुरुषको कहते हैं जो परिमाणरहित हो और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्त तीनों अवस्थाओंमें एकसमान रहे। न्यायमें परमेश्वरको 'कूटस्थ' कहा है और उसे जन्म-मरणरहित अर्थात् किसीसे न उत्पन्न होनेवाला माना है। गूढ़ार्चि = गूढ़ (गुप्त) + अर्चि (अग्निकी शिखा, तेज, प्रकाश) = अपने ऐश्वर्यरूपी तेजको गुप्त रखनेवाले। = जिसका अर्चन, पूजन, उपासना कठिन है। (वीर)। = अत्यन्त तेजवाले। (वि०)। साध्य = जिसका एवं जिसके लिये साधन किया जाय। साधन—इनके नाम ४६ (७ घ) में देखिए। जापक = जप करनेवाला। जाप्य = जिसका एवं जिसके लिये जप किया जाय। परम कारण = श्रीमन्नारायण जो सृष्टिके अशेष कारण हैं नके भी कारण और जिनका कोई कारण नहीं है। = 'अशेष कारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्। १ मं० श्लो०।' खंड = समूह। यथा पद्मखंड पद्मापधति' (भक्तमाल)। 'सदा अखंड' = सदा सर्वत्र र्ण। विशेष 'अविछिन्न' ५१ (८ ख) में देखिए। संमोह—सम्यक् कारके मोह। = महामोह।

पद्यार्थ—देव! संपूर्ण सौभाग्योंके देनेवाले, 'सर्वतोभद्रनिधि', चराचरके शरीरमें व्यापक होनेसे जगत्‌रूप) सर्व, 'सर्वेश', वको सब प्रकारसे आनंद प्रदान करनेवाले, शिवजीके हृदयकमल-करंदके भौंरे, सुन्दर राजराजेश्वररूप श्रीरामजी! मैं आपको मस्कार करता हूँ।१। सब सुखोंके (निवासस्थान) घर, गुणोंकी राशि अर्थात् भूरिगुण, (समस्त थके हुये चेतनोंको अपनेमें)

विश्राम देनेवाले, सबके आश्रय और अत्यन्त पुनीत नामवाले *
निर्मल, शान्त, अत्यन्त विशुद्ध ज्ञानके धाम (एवं अत्यन्त विशु
और ज्ञानके धाम), क्रोध और मदके हरनेवाले और करुणाके
हे देव! (आपको नमस्कार है)। २। किसीसे न जीते जाने योग्य त
अजिता पुरी श्रीअयोध्याजीके पति, उपाधिरहित (अर्थात् मायाके
अधीन नहीं), इन्द्रियों (की पहुँच) से परे, 'अव्यक्त', 'विभु
(अनन्तब्रह्माण्डपालनसमर्थ), 'एक', अनिन्द्य, अजन्मा, (चेतन
चेतनविशिष्ट एक ब्रह्म होनेसे) 'अद्वितीय (नामवाले) †, अपने स
संकल्पसे प्रकट-हुये परमात्मा ‡, सबके परम हितकारी, (सर्व-अ
प्रेरक, देशकालवस्तु त्रिविधपरिच्छेदशून्य, सबसे परे 'तुरीय' दे
आपकी मैं वन्दना करता हूँ। ३। हे देव! आप पृथ्वीके धार
करनेवाले, सुन्दर, श्रीजानकीजीके पति, कामदेवके घमंड
तोड़नेवाले, सौन्दर्य और रमणीयताकी अन्तिम सीमा (अथवा
सौन्दर्यकी सीमा और अत्यन्त रमणीय) †† दुष्प्राप्य, दुर्

---

* अर्थान्तर—१ शान्तिके देनेवाले, वड़े ही पवित्र और सर्वस्वदान
नामवाले। (वि०)। २–पवित्र मतिवालोंके लिये आपका नाम सब प्रकार
आधार है। (दीन)। ३–आपका नाम सर्व साधन सिद्धि आदिका मन्दिर
अति पुनीत है। (वै०)। ४–सबकी प्रतिष्ठारूप हो। (सू० शु०)
५–सब कुछ देनेवाले। (श्री० श०)।

† अर्थान्तर—१ अद्वितीय ऐसे एक तुम्ही समर्थ हो। (भ०)।
एकही सामर्थ्यवान् और अद्वितीय। (दीन)। ३—केवल, अजन्मा
अद्वितीय हो। (वि०)। नोट—प्रायः लोगोंने 'एक' और 'अद्वितीय' शब्द
पर्यायी समझकर 'एक' को 'विभु' और अन्वद्यका विशेषण मानकर
किया है।

‡ अर्थान्तर—१ परमात्मा जीवोंके परम हितके लिये प्रकृतिमंडलमें
हुए। (वै०)। २—प्राकृतं=जीवोंका शरीर (धारण करनेवाले) (दीन
३—परमात्मा होते हुए भी हितकार्योंके लिए प्राकृतरूप (नरशरीर)
करनेवाले। (वि०)। ४–परमात्मा होते हुए भी अपनेको प्राकृत
समान प्रकट करनेवाले। (श्री० श०)।

†† अर्थान्तर—१ सौन्दर्यकी अति रम्य सीमा। (दीन)। २—
अत्यंन्त रमणीयताकी हद। (वीर)। ३–सुन्दरताकी सीमा और बड़े
हो। (भ०)।

(जिसकी ओर कोई देख न सके), दुस्तर्क्य (तर्कना करके भी जिसे कोई जान नहीं सकता), दुष्पार (जिनके नाम, रूप, लीला, महिमा और गुण आदिका पार कोई पा नहीं सकता), दुस्तर संसार (आवागवन आदि) के हरनेवाले, सुलभ, मृदु और (मृदु) भावसे प्राप्त होने योग्य हैं। * ४। देव! आप सदा सत्यकृत (सत्यकर्म करनेवाले वा सच्ची करनीवाले) ‡, सत्यरत (सत्यमें अनुराग रखनेवाले और उसपर तत्पर), सत्यव्रत, आश्रितरक्षणादि गुणोंसे सदा परिपूर्ण ††, सन्तुष्ट (पूर्णकाम एवं श्रीदशरथनन्दनपनेकी विभूतिसे प्रसन्न होनेवाले), संकटके हरनेवाले, धर्मरूपी कवचके धारण करनेवाले, वेदविहित कर्मकाण्डकी जानकारीमें अद्वितीय (एवं वेद और कर्मके ज्ञानमें एक ही), विप्रपूज्य (ब्राह्मणोंसे पूजित), ब्रह्मण्यदेव, भक्तोंके प्यारे एवं भक्तोंको प्रिय माननेवाले और आश्रितविरोधियोंके शत्रु हैं। ५। देव! आप नित्य (अविनाशी), ममतारहित, नित्य मुक्त, निर्मान, भक्तोंके क्लेशोंके हरनेवाले, ज्ञानघन (अर्थात् परिपूर्ण अखण्ड ज्ञानकी ही मूर्त्ति), सत् चित् आनन्दके मूल (कारण), सबके रक्षक, सबको खा लेनेवाले कालके भी स्वामी, कूटस्थ, निर्विकार, अपने तेजको छिपाये हुए और भक्तोंपर प्रसन्न रहनेवाले हैं। ६। देव! आपही सिद्ध, साधक और साध्य, वाच्य-वाचकरूप, मंत्र, जापक और जाप्य, सृष्टि और स्रष्टा

---

* १ प्रीति द्वारा प्राप्त होते हो। (वै०)। २-प्रेमभावद्वारा सुलभ। (दीन)। ३-प्रेममाधुरीसे वश होनेवाले। (वि०)।

‡ अर्थान्तर—१ सत्यव्रत धारण किये हो, इसीसे सत्य ही आचरणमें लगे हो और सत्यकृत हो अर्थात् जो कुछ कहते हो, वही करते हो। (वै०)। २-सत्यकृत = जिसकी सत्तासे जगत् सत्य है। (रामदास)। यथा 'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।' ३-सत्यके उत्पन्न करनेवाले। (भ०)। ४-'सत्यके कर्ता अर्थात् आपके सत्यसे जगत् है इससे कारणरूप'। (डु०)।

†† अर्थान्तर—१ दृढ़ करके (संतुष्ट हो)। (वै०)। २-सदा ही पुष्ट अर्थात् दिव्य सामर्थ्यवान्। (वि०)। ३-सदैव दृढ़रूपा (सू० शु०)।

(सृष्टि रचनेवाले) हैं ❀❀ । आपही समस्त कारणोंके कारण पर कारण हैं । आप ही कमलनाभ हैं । श्याम मेघोंकी कान्तिके सम श्यामशरीरवाले, सगुण और निर्गुण, संपूर्ण दृश्य और उसके द्र भी आप ही हैं । ‡ ७। देव ! (आकाश आपका शरीर और आ उसके अन्तर्यामी होनेसे) व्योम और व्यापक ❀, विकाररहि सदा शुद्ध, ब्रह्म, वरदाताओंके भी स्वामी अर्थात् उनको भी वर देनेवाले तथा उनके वरदानोंकी रक्षा करनेवाले, वैकुण्ठना वाले, वामन, निर्मल, ब्रह्मचारी † आपही हैं । निर्मल ब्रह्मचारी, सि और देववृन्दसे सदा वन्दित, सदा अखण्ड, तथा पाषण्डसमूह जड़से उखाड़ डालनेवाले हैं । ८। देव । आप पूर्णानन्दसमूह हैं महामोह, अज्ञान और गुणकृत सन्निपातके विनाशक हैं, भवत्रासरू समुद्रको सोख लेनेके लिये अगस्त्यरूप हैं । तुलसीदास मन-कर्म वचनसे शरणमें प्राप्त है । (भाव कि इसके सम्मोह, अज्ञान गुणसन्निपात और भवत्रासको हर लीजिये) । ९ ।

टिप्पणी-१ 'देव सकलसौभाग्यप्रद...' इति । (क) 'सक सौभाग्य',—'सकल सौभाग्य सुखखानि ।' ४६ (१) टि० १ (ग)

❀❀ अर्थान्तर—१ सृष्टिकर्ता हो । (भ०) । २-संसारके रचनेवाले ब्र हैं । (वीर) । ३-सृष्टिके उत्पादक । (दीन) ।

‡ सब सांसारिक दृश्यके देखनेवाले हो । (भ०) । २-समस्त देखने योग्यको देखनेवाले हो (वीर) ।

❀ अर्थान्तर—१ 'तुम आकाशके समान व्यापक हो । (भ०) । आकाशके समान फैलेहुए । (वीर) । ३ आकाशमें सर्वत्र व्याप्त । (दीन) ४ आकाशभरमें आपही रम-रहे हो । (वि०) ।

† 'विमल ब्रह्मचारी' को 'वामन' का विशेषणभी मानकर अर्थ किया सकता है । क्योंकि वामनजी ब्रह्मचारीका रूप धरकर बलिको छलने गए थे यथा 'छलन बलि कपट बटुरूप वामन । ५२।' परम सन्तोषी ब्रह्मचारी बने थे बहुत प्रलोभन देने और समझानेपरभी अपने पैरोंसे नापकर तीन डग पृथ्वी से अधिक न माँगी । यही 'विमलता' है ।

पुनः, 'विमल ब्रह्मचारी' (नारद, शुक, सनकादिको) उत्तरार्धके साथ ले सकते हैं । श्रीरामजीभी ब्रह्मचारी कहे जा सकते हैं । टिप्पणी ८ (ङ) देखिए ।

'सकल सौभाग्य सौंदर्य सुखमारूप।' ४४ शब्दार्थ तथा ४४ (३ घ) में देखिए। पूर्व 'सकल सौभाग्योंकी खानि' एवं 'रूप' कह आये। खानिसे पदार्थ निकलते हैं, रूप उनको देता है; अतएव यहाँ 'सकल सौभाग्योंका देनेवाला' कहा।

१ (ख) 'सर्वतोभद्रनिधि' इति। मूर्त्तियोंकी प्रतिष्ठामें 'सर्वतोभद्र' नामका एक यन्त्र बनता है। इसके बीचमें प्रधानरूपसे भगवान् ही पूजे जाते हैं। उस यंत्रके आप 'निधिरूप' हैं। अतः 'सर्वतोभद्रनिधि' कहे गए। 'सर्वतः भद्रनिधि' अर्थात् 'सब ओरसे मंगलरूप', 'सब प्रकारसे कल्याणके अधिष्ठान'—यह साधारण अर्थ हैं। पद ५१ (८) में 'सर्वतोभद्रदाताऽसमाकं' कहा था, अर्थात् हम लोगोंको सबप्रकारसे कल्याणदाता हैं। और यहाँ उसका कारण बताया कि आप 'सर्वतोभद्रनिधि' ही हैं। 'सर्वतोभद्रदातासमाकं' का भाव भी 'निधि' कहनेसे यहाँ आगया।

वीरकविने इसका अर्थ 'यज्ञपुरुष' किया है। औरोंने साधारण अर्थ दिया है।

१ (ग) 'सर्व' इति। "चराचरशरीरेषु व्याप्तिमान् 'सर्व' ईरितः।" अर्थात् चराचर स्थावर और जंगम सबके शरीरोंमें व्याप्त अर्थात् मौजूद होनेसे आपका 'सर्व' नाम है। जैसे जिसभी शरीरमें जीव रहता है, उसीके नामसे वह पुकारा जाता है।—'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। गीता ११।४०।' अर्थात् आप सबको व्याप्त कर रहे हैं, अतः आप 'सर्वरूप' हैं, सब आप ही हैं। इससे जनाया कि आप अनन्त शक्ति और अपरिमित पराक्रमसे युक्त हैं। यथा 'अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं…। गीता ११।४०।' सर्वरूप होते हुये भी आप वह सब हो नहीं जाते, यथा— 'सब रूप सदा सब होइ न सो। लं० ११०।', 'रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा। लं० ११०।'

१ (घ) 'सर्वेश' इति। 'अशक्तानां च शक्तानां वैरूप्यं शरणैषिणाम्। अश्नुते परिहर्तुं यः स सर्वेश इतीरितः।'—इस निरुक्तिके अनुसार "समर्थ और असमर्थ सम्पूर्ण शरणागत जनोंको, अविलम्बसे विकलता दूर करके तत्काल सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करके सर्वप्रकारसे रक्षा करनेसे श्रीसरकारका नाम 'सर्वेश' है।"

१ (ङ) 'सर्वाभिरामं' इति। वात्सल्य, स्वामित्व, सौशील्य, सौलभ्य, ज्ञान, शक्ति पूर्त्ति प्राप्ति, दया प्रभृति आत्मगुण तथा सौन्दर्य, सौकुमार्य,

लावण्य, यौवनादि, माधुर्य्यादि विग्रह (अंग)-गुणादि एवं दिव्य चेष्टा सबको सब प्रकारसे आनंद प्रदान करनेसे श्रीरामजीका 'सर्वाभिराम' नाम है। यथा 'रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्। घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः। वाल्मी० २।३।२६।' (अर्थात् जो अपने सौन्दर्यसे पुरुषोंकी दृष्टि तथा उदारता आदि गुणोंसे चित्तको हरण कर लेते हैं, जैसे घामसे तपीहुई प्रजाको मेघ अह्लादित करता है।)

१ (च) 'सर्वहृदिकंजमकरंद मधुकर' इति। 'शर्व' श्रीशिवजीका नाम है। कमलमें मकरंद रस रहता है, जिसकी सुगंध पर भौंरा लुब्ध रहता है। वह मकरन्दके पान करनेमें इतना मुग्ध रहता है कि रात्रिमें कमलके भीतर बंद हो जाता है, तो भी पंखुड़ियोंको काटकर बाहर निकलनेकी चाह नहीं करता। यहाँ शंकरहृदय कमल है उसका अनुरागरस कमलका मकरन्दरस है, जिसके वश हो श्रीरघुनाथजी सदा उनके हृदयमें निवास करते हैं। यथा 'संकर हृदिपुंडरीक निवसत हरिचंचरीक। गी० ७।३।" 'मदन-रिपु-कंजहृदि चंचरीकं।' ४६ (२ ग) देखिये।

१ (छ) 'रुचिररूप भूपालमनि' इति। दोनोंको पृथक्-पृथक् मान कर भी अर्थ कर सकते हैं। अर्थात् सुन्दर देदीप्यमान रूपवाले और राजाओंमें शिरोमणि। रूप तो आपका अनुपम है ही, इसकी छवि वर्णन प्रायः बहुतसे पदोंमें आचुका है। श्रीअत्रिजी, श्रीसुतीक्ष्णजी, श्रीअगस्त्यजी, श्रीशंकरजी आदिने भूपरूपकी प्रशंसा करते हुये वर माँगा है। यथा—'अनूपरूपभूपतिं नतोहमुर्विजापतिं। प्रसीद मे नमामि ते पदाब्जभक्ति देहिमे।' (अत्रिजी), 'भूपरूप तब राम दुरावा।' जो कोसलपति राजिवनयना। करहु सो राम हृदय मम अयना। (सुतीक्ष्णजी), 'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु रामनृप मम उर अंतर॥ मुनिरंजन महिमंडल मंडन।' (शङ्करजी), 'मोहि भा कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप।' (इन्द्र), 'नृपनायक दे बरदानमिदं' (ब्रह्माजी), इत्यादि। भूपालमणि कहनेका भाव कि आप राजा हैं मैं आपकी प्रजा हूँ, आपका यशगायक हूँ, मागध सूत भाट इत्यादि हूँ, आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। मैं वर माँगता हूँ, मुझे वर दीजिए मेरे त्रासको दूर कीजिए।

१ (ज) 'नौमि रामं' इति। भाव कि सकृत प्रणाम करनेसे आप अपना लेते हैं। यथा 'सकृत प्रनाम किहें अपनाये।' (श्रीभरतवाक्य)। मैं प्रणाम करता हूँ, मुझे भी अपनाइये।

टिप्पणी—२ 'देव सर्वसुखधाम गुनग्राम…' इति। (क) 'सर्वसुखधाम'—'सकल सौभाग्य सुखखानि' ४४ (३ घ), ४६ श०, ४६ (१ ग), 'सुखभवन' ४६ (२ घ.) में देखिए।

२ (ख) 'गुनग्राम', यश और चरित पर्य्यायवाची हैं। यथा रामचरितमानसमें 'कामचरित चिंतामनि चारू।' कहकर उसीको आगे 'जगमंगल गुनग्राम राम के।' (१।३२।१–२) कहा है।

२ (ग) 'विश्रामप्रद' इति। यह दीपदेहलीन्यायसे 'गुणग्राम' और 'नाम' दोनोंके साथ अन्वयार्थमें लिया जा सकता है, (क्योंकि चरित और नाम दोनों-ही विश्रामप्रद हैं। यथा 'वुध विश्राम सकलजनरंजनि। रामकथा कलिकलुष विभंजनि।१।३१।', 'पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।७।१३०।', 'सज्जनं कामधुकधेनु बिश्रामप्रद नाम कलिकलुषभंजनमनूपं।'४६ (६ ग), और दोनोंसे पृथक् भी यह श्रीरामजीका एक नाम वा गुण है।

'पापानि तत्फलान्येव श्रान्ता भोक्तु च ये जनाः। तेषां विश्राम भूमित्वात् विश्रामः प्रकीर्तितः॥' अर्थात् पाप और उसके फल दुःख भोग करते-करते थके हुये चेतनांको भी अपनेमें विश्राम देनेसे श्रीरामजीका नाम 'विश्रामप्रद' है। यथा 'तुम सुखधाम राम श्रमभंजन। हौं अति दुखित त्रिबिध श्रम पाई।२४२।'

इस तरह 'गुणग्राम विश्रामप्रद' का अर्थ होगा—'गुणोंकी राशि अर्थात् अनन्त गुणाकर और विश्राम देनेवाले।'

२ (घ) 'सर्वास्पदमतिपुनीतं' इति। श्रीरामजीका नाम लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, सुख-संपत्ति, समस्त साधनों इत्यादि सभी पदार्थोंका आधार है। पुनः, 'सर्वास्पद' अर्थात् वर्ण, आश्रम, जाति, स्त्री वा पुरुष कोई भी हो सबको आश्रयदाता है, सबको सब कुछ इसीसे प्राप्त हो सकता है। यथा, 'भक्ति वैराग्य विज्ञान सम दान दम नाम आधीन साधनमनेकं।' ४६ (७ घ) देखिए।

श्रीरामनाम अत्यन्त पवित्र हैं, अनन्तकोटि तीर्थभी सब मिलकर भी इसके पावन गुणकी समता नहीं कर सकते। यथा 'तीरथ अमित

कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपूगनसावन ।७।६२।', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अतिपावन पुरान श्रुति सारा।१।१०।१।'

२ (ङ) निर्मल = स्वभावसे ही कर्ममलरहित। 'सुविशुद्ध बोधायतन' —इनको दो विशेषण अलग-अलग भी मान सकते हैं। अर्थात् अत्यन्त विशुद्ध हैं और ज्ञानके धाम हैं। यथा 'तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये। भा० ४।२२।३८।' अर्थात् उस नित्यमुक्त, अत्यन्त शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और स्वभावसे ही कर्ममलरहित भगवान्की मैं शरण हूँ। (श्रीपृथुमहाराजके प्रश्न करनेपर श्रीसनत्कुमारजीने आत्मतत्त्वका उपदेश देते हुए ऐसी भावना करनेको कहा है)।—इसमें 'निर्मल', 'विशुद्ध' और 'बोधायतन' तीनोंकी भावना है। हमने 'सुविशुद्ध' को 'बोध' का विशेषण भी माना है। यथा 'विशुद्धबोधविग्रहं। ३.४ छन्द।', 'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ।'

'क्रोधमदहरन', यथा 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया। ३।३६।३।'

३ 'देव अजित निरुपाधि···' इति। (क) 'अजित' इति। प्राकृतों द्वारा न जीते जाने योग्य 'अपराजिता, अजिता वा अयोध्या' नामक पुरीमें निवासस्थान होनेसे श्रीरामजीका 'अजित' नाम है। यथा 'प्राकृतैर्न जिता या सा यस्यास्तीत्यजितापुरी। अजितस्तेन विज्ञेयः सप्तार्णो मुक्तिदो मनुः। (भ. गु. द. भा.)।' इस तरह 'अजित'= अयोध्यानाथ। 'देवानां पूरयोध्या' श्रुतिः। तथा 'अधि परमपदं पुरीमयोध्याममृतवृतामपराजितामुशन्ति' इत्यादि रङ्गराजस्तवप्रमाणानुसार 'अजित' नामका अर्थ 'अयोध्यापति' होता है। साधारण अर्थ है—'जो किसीसे जीता न जा सके।'

३ (ख) 'निरुपाधि'—पूर्व चरितको 'निरुपाधि' पद ४३ (६) में कहा था, यथा 'गृध्र-सबरी भक्ति बिबस करुनासिंधु चरित निरुपाधि त्रिविधार्तिहर्ता।', अब यहाँ चरितनायकको भी 'निरुपाधि' कहा। अर्थात् रूप और चरित दोनों निरुपाधि हैं। ४३ (६ ङ) देखिए।

३ (ग) 'अव्यक्त' इति। साधारण अर्थ है 'अप्रकट'। श्रीरामजीका 'अव्यक्त' नाम इससे है कि मनुष्यरूपसे प्रकट होनेसे वे अपने प्रभावको छिपाते हैं। प्रमाण यथा 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्'। वाल्मी० ६। १२०।११ में श्रीरामजीने ब्रह्मादिसे ऐसा कहा

है। इसीसे भगवद्गुणदर्पणभाष्यमें लिखा है कि 'मनुष्यत्वेन सर्वत्र परभावाप्रकाशनात्। बुधैरव्यक्त इति च कथितस्तत्त्वपारगैः।'

३ (घ) 'विभुमेकं' इति। अनन्तकोटिब्रह्माण्डपालनमें समर्थ होनेसे 'विभु' नाम है। 'द्वितीय स्वसजातीय-राहित्यादेक उच्यते' अर्थात् श्रीरामजीकी महिमाके तुल्य दूसरा नहीं होनेसे तथा चेतनाचेतनमें अकेले विचरनेसे 'एक' नाम है। अरबीमें इसीको 'लासानी' कहते हैं।

३ (ङ) 'अन्वद्य' = निर्दोष, अनिन्द्य। 'धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, पृथिवी, हाथी, कोश, नाना प्रकारकी संपत्ति तथा सम्पूर्ण अर्थ और भोगसामग्री इस क्षणिक आयुवाले मनुष्यका क्या प्रिय कर सकती हैं? वे तो स्वयं अस्थिर हैं। यज्ञादिसे प्राप्त स्वर्गादि लोक भी नाशवान् हैं। अतः ये काई निर्मल निर्दोष नहीं। जिनमें कोई दोष देखा सुना नहीं जाता वे एक परमेश्वर ही हैं।'—यह श्रीप्रह्लादजीने असुरबालकोंसे बताकर उपदेश दिया कि उन परमेश्वरको एकनिष्ठ भक्ति भावसे भजो। यथा 'रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः। सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः।३९। एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः। तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं, भक्त्यैकयेशं भजतात्मलब्धये।४०।' (भा. ७।७)। अतः 'अन्वद्य' कहा।

३ (च) 'अज'—'स्तम्भजात्वादितरवन्नजातत्त्वादजः स्मृतः' अर्थात् भक्त प्रह्लादके रक्षणार्थ खम्भसे प्रकट होने तथा इतर जीवोंकी तरह पैदा नहीं होनेसे 'अज' नाम है।

३ (छ) 'अद्वितीय' इति। चेतनाचेतनविशिष्ट एक ब्रह्म होनेसे 'अद्वितीय' नाम है। यथा प्रभाविशिष्ट एक सूर्य, पुत्रपौत्रादियुक्त एक सम्राट् और फेनतरंगादियुक्त एक समुद्र। 'एकमेवाद्वितीयं' इस श्रुतिमें बतलाया गया है कि ब्रह्मका जोड़ीदार अथवा उसके समान दूसरा नहीं है।

३ (ज) 'प्राकृतं प्रगट' इति। 'प्राकृत' के कई अर्थ हैं—'अपने स्वभावमें स्थित रहकर' अर्थात् स्वाभाविक; माया अर्थात् संकल्पसे, स्वेच्छासे; इत्यादि। इस तरह 'प्राकृतं प्रगट' के अर्थ होंगे—(१) आश्रितरक्षण जो आपका सहज स्वभाव है, उसीके कारण स्वाभाविक ही भक्त, भूमि, भूसुर, सुरभि आदिकी रक्षाके लिये प्रकट

होते हैं। (२) अपने सत्यसंकल्पसे, अपनी इच्छासे प्रकट होते हैं, यथा 'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। ४।२६।', "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। गीता ४।६।' (अर्थात् अपने स्वभावको साथ लेकर अपनी माया अर्थात् अपने संकल्पसे प्रकट होता हूँ)।

वेदनिघंटुके 'माया वयुनं ज्ञानं। वे० नि० ध० व० २२।' इस प्रमाणसे 'माया' का अर्थ है 'ज्ञानरूप सत्य संकल्पसे।' यथा 'तुम्हहि लागि धरिहउँ नरबेसा। १।१८७।१।' अथवा, प्राकृत मनुष्यके-से चरित करनेसे 'प्राकृतं प्रगट' कहा। मिलान कीजिये—'कहहु करहु जस प्राकृत राजा।', 'करत चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।'

श्रीस्वामी शंकराचार्यके मतानुसार ब्रह्म 'अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको अपने वशमें रखकर अपनी लीलासे ही शरीरवाला-सा जन्म लिया हुआ-सा हो जाते हैं।'—'प्राकृतं प्रगट परमात्मा' में उपर्युक्त सभी भावोंका ग्रहण हो जाता है।

वैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'प्राकृतमण्डलमें प्रगट हुए।' और भट्टजी 'भक्तोंके बड़े हितके लिये परमात्मासे मनुष्यरूपमें प्रगट हुए।' ऐसा अर्थ करते हैं।

३ (झ) 'परमात्मा' इति। संपूर्ण प्राणियोंकी सत्ता जिनसे धारण होती है और जिनकी सत्ता किसीके अधीन नहीं है, जो संपूर्ण आत्माओंका ईश्वर है—ऐसा होनेसे श्रीरामजीका 'परमात्मा' नाम है। यथा 'येन भूतान्यात्मवन्ति नायमन्ये न चात्मवान्। अतोह्यात्मेश्वरत्वाच्च 'परमात्मा' प्रकीर्तितः॥' (निरुक्त)। पुनः, 'परो मा अस्येति परमः परमश्चासौ आत्मा परमात्मा।'—कर्मधारय समासके अनुसार अर्थ होगा—"इनके अधीन सब हैं और ये स्वयं परम स्वतंत्र (आज़ाद) और अद्वितीय (लासानी) हैं; अतः इनका 'परमात्मा' नाम है।

'प्रगट परमात्मा' से ब्रह्म रामका अवतार और 'परम हित' से अवतारका हेतु कहा। 'परमहित', यथा 'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार। १।१३२।' जीवका परम स्वार्थ, परम लाभ, परम हित यही है कि वह मन, वचन कर्मसे षट्विकारोंसे बचकर गंगाप्रवाहके समान अविच्छिन्नगतिसे अकारण, अनन्यगतिक निष्काम अनुराग

करे। यथा 'स्वारथ साँच जीव कहँ एहा। मन क्रम बचन रामपद नेहा। ७।९६।१।', 'लाभ कि किछु हरिभगति समाना। ७।११२।' भगवान्में जो निष्काम भक्ति करते हैं, उनको वे अपने चरणोंका अनुराग ही नहीं, किन्तु अपने चरण ही सौंप देते हैं। अतः 'परम हित' नाम है।

३ (ञ) 'प्रेरकानंत' इति। प्रेरक = किसी काममें प्रवृत्त या नियुक्त करनेवाला, उत्तेजना देनेवाला, दबाव डालकर काम करानेवाला। श्रीरामजी सबके हृदयके प्रेरक हैं। यथा 'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन। ७।११३।१।', 'तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।८६।'*

'अनंत' इति। 'देशतः कालतो वापि गुणतो वस्तुतोपि वा। अवधिर्यस्य नास्तीति सोऽनन्तः समुदाहृतः।—' इस निरुक्तिके अनुसार देशतः कालतः वस्तुतः त्रिविधपरिच्छेदशून्य होनेसे 'अनन्त' नाम है। अर्थात् सब देशमें, सब कालमें तथा सब वस्तुमें जिसकी अवधि नहीं है। गीता अ० १० में 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य में।४०।', यजुर्वेद में 'अथैतस्यैवान्तो नास्ति यद्ब्रह्म' और तै० उ० में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा है।

३ (ट) 'वंदे तुरीयं' इति। प्राणियोंकी चार अवस्थाएँ मानी गई हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय। चौथी अवस्था तुरीय है, जिसमें देव, मनुष्यादि समस्त भेदज्ञानका नाश हो जाता है और आत्मा समाधि-ज्ञानानन्दादिस्वस्वरूपावस्थित होता है। सबसे परे होनेसे श्रीसरकारका 'तुरीय' नाम है। महर्षि अत्रिजीने भी 'तुरीयमेव केवलं' कहकर स्तुति की है। (३।४ छंद)।

टिप्पणी—४ 'देव भूधरं सुंदरं श्रीवरं…' इति। (क) भूधर = पृथ्वीको धारण करनेवाले।' यथा 'भार धरन सतकोटि अहीसा। ७।९२।८।' शेषजी आपसे शक्ति पाकर पृथ्वीको धारण करते हैं। यथा 'जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन।

---

* श्रीमद्भागवतमें महाराज पृथुजीके वाक्य हैं कि 'मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत और हमारे पितामह महाराज अंग तथा ऐसे ही ब्रह्मा, प्रह्लाद, महेश और बलि आदि अन्य महापुरुषों के मत में सब कार्य गदाधारी भगवान्की प्रेरणासे ही होते हैं। यथा 'मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः। प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः॥ ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च। प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता। भा० ४।२१।२८-२९।'

५।२१।६ ' 'सुंदरं' कहकर 'श्रीवरं' कथनका भाव कि इसीसे तो श्रीजीने आपको वरण किया। 'श्री' जानकीजीका नाम है।

४ (ख) 'मदनमदमथन सौंदर्जसीमातिरम्यं' इति। मदमथन-संबंधमें कामदेवका 'मदन' (मद न) नाम यहाँ सार्थक है। मदन शब्द ही मदका न रह जाना सूचित कर देता है। 'मदमथन' के साथ ही 'सौन्दर्य सीमा', विशेषण रखनेसे पाया गया कि मदनको जो अपने अति सौन्दर्य का गर्व था, वह चूर-चूर हो गया।–'सकलसौभाग्य सौंदर्यसुषमारूप मनोभव कोटि गर्बहारी। ४४ (३)।' का भाव इसमें है। ४४ (३ घ) देखिए। मानसमें भी कहा है—'अंग अंग पर वारियहि कोटि कोटि सत काम।' 'अति रम्यं' में रमणीयताकी मूर्ति तथा 'अखिल लावण्यगृह।५० (२)।' का भाव है। 'सीमा' कथनका भाव कि लाखों वर्षके बूढ़े तपस्वी मुनि भी जिनको शृंगाररहित वनवासी वेषमें ही देखकर अत्यन्त मोहित हो गये थे, तब शृंगार-युक्त राजाधिराजरूपका कहना ही क्या? [वैजनाथजी 'भूषरं' से शेष अर्थात् लक्ष्मणजी, 'श्री' से श्रीजानकीजी और '(श्री) वरं' से श्रीरघुनाथजीका भाव ग्रहणकर क्रमसे 'सुंदर', 'सौंदर्य सीमा' और 'अतिरम्य' को यथासंख्यालंकारसे उनमें घटाते हैं। अर्थात् लक्ष्मणजी सुन्दर हैं, श्रीजी सुन्दरताकी सीमा हैं और श्रीरघुनाथजी 'अति रम्य' अर्थात् अत्यन्त सुन्दररूपसे प्रकट हुए।]

४ (ग) 'दुष्प्राप्य दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर्क्य दुःपार संसार हर' इति। कुयोगियोंको दुर्लभ हैं, यह 'दुष्प्राप्य' से जनाया। तेज ऐसा है कि कोई उनकी ओर ताक नहीं सकता, जिसे वे दिव्य दृष्टि दें, वही यथार्थ दर्शन कर सकता है। यथा 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। गीता ११।८।' इसीसे 'देवदानवदुर्दर्शः' एक नाम ही है।

भा० ११६।२२ में भगवान्‌ने कहा है कि 'अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।' अर्थात् जिनकी वासनायें पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं, उन कुयोगियोंको मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। मानसमें भी कहा है—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा। सुं०।'

'दुस्तर्क्य' अर्थात् मन, बुद्धि और वाणीसे तर्कना द्वारा अनुमान करके भी वे जाने नहीं जा सकते। यथा 'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।। महिमा निगम नेति कहि

कहई ।१।३४१।७-८ ।', 'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जात न सोई ॥ राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी ।१।१२१।'

'दुःपार'—यह भगवान्के लिये स्वतंत्ररूपसे 'दुस्तर' अर्थमें आया है और साथ ही 'संसार' का विशेषण भी है। मिलान कीजिये— 'काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत ।७।६१।' संसार = आवागमन, जन्ममरण होनेकी परंपरा = मायाप्रपंच। संसार दुःपार है, यथा 'वाक्यज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई ।१२३।' 'संसारहर' अर्थात् शरणागत जीवोंके भवका नाश कर देनेवाले।

[वैजनाथजी इन विशेषणोंका भाव यह लिखते हैं—"दुष्प्राप्य' से धामकी प्राप्ति कठिन बताई। धाम संसारका हरनेवाला है, यथा 'अवध तजे तन नहिं संसारा।' गुणग्राम दुष्प्रेक्ष्य हैं अर्थात् बुद्धिद्वारा लीलाका जानना कठिन है, पर श्रवणकीर्तन करनेसे सुलभ है। नाम दुस्तर्क्य है; अर्थात् इसके प्रभावको कोई तर्कद्वारा जानना चाहे तो दुर्घट है। पर उच्चारण करनेमें कोमल है। रूप दुःपार है, इसकी महिमाका पार कोई पा नहीं सकता। पर यह भावगम्य है, प्रीति करनेसे प्राप्त हो सकता है।]

४ (घ) 'सुलभ मृदु भावगम्यं' इति। अत्यन्त साध्य होनेसे 'सुलभ' नाम है। यथा 'सर्वेषां सुप्रवेशत्वात् सुलभः परिकीर्तितः ।' भगवान्ने कहा भी है—'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः । गीता ९।२६।'

'भावगम्यं', यथा 'भजामि भाववल्लभं ।३।४।' (अत्रिः), 'प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।....भाव बस्य भगवान सुखनिधान करुनाअयन ।७।९२।' भाव भगवान्को प्रिय है, अतः भावद्वारा वे गम्य हैं। 'भाव'—'भाव अतिसय बिसद....परम संतोष कारी।' ४७ (३ क, ख, ग, ङ) देखिए। 'मृदु' = कोमल। भगवान्का शरीर कोमल, स्वभाव कोमल तथा अंग-अंग कोमल हैं। 'मृदु' को 'भाव' का विशेषण भी मान लें और अलग भी ले लें तो विशेष उत्तम है।

नोट—३ 'देव सकल सौभाग्यप्रद' से लेकर 'वंदे तुरीयं' तक भूपालमणि श्रीरामजीका ऐश्वर्य, उनका ब्रह्म होना; कहकर 'सुंदरं सौंदर्य सीमातिरम्यं' से उनका माधुर्य कहा। 'दुष्प्राप्य दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर्क्य

दुःपार' से उनकी प्राप्ति, दर्शन आदि दुर्लभ बताया। 'संसारहर' कह कर प्राप्त एवं उपासना करने योग्य बताया। फिर 'मृदुभावगम्यं' यह उनकी प्राप्तिका साधन बताया। श्रीरामजी बड़े मृदुल कोमल स्वभाव के हैं। यथा 'मृदुल सुभाव सील रघुपतिको सो बल मनहिं दिखावौं।१४२।'

टिप्पणी—५ 'देव सत्यकृत, सत्यरत, सत्यव्रत…' इति। (क) श्रीमद्भागवतमें देववृन्दने जो गर्भस्थित भगवान् कृष्णकी स्तुति की है, उसके "सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये। सत्त्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः। भा० १०।२।२६।' इस श्लोकमें आये हुए विशेषणोंका भाव यहाँ 'सत्यकृत…' से जना दिया है। (अर्थात् आप सत्यसंकल्प हैं, सत्यपरायण हैं, त्रिकालमें सद्रूप हैं, पंचभूतोंके उत्पन्न करनेवाले और उनमें स्थित रहते हुये भी उनके नष्ट हो जानेपर शेष रहनेवाले, समदृष्टि, वाणीके प्रवर्तक, सब प्रकारसे सत्यमूर्ति, हम आपकी शरण हैं।)

पुनः, 'सत्यकृत' इति। वाकों (कर्ममात्रको प्रकाशित करनेवाले मन्त्रों) और अनुवाकों (मन्त्रोंका अर्थ खोलकर बतानेवाले ब्राह्मण-ग्रन्थोंके वाक्य), निषदों (कर्मके अङ्ग आदिसे सम्वन्ध रखनेवाले देवता आदिका ज्ञान करानेवाले वचनों) और उपनिषदोंमें तथा सत्य बात बतानेवाले साममन्त्रोंमें जिनको 'सत्य' और 'सत्यकर्मा' कहते हैं;—'यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च। गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु। म० भा० शा० ४७।२६।' इसके अनुसार 'सत्यकृत'='सत्यकर्मा'।

'सत्यरत' अर्थात् कभी सत्यसे विचलित न होनेवाले। सत्यके अतिरिक्त उस (सत्य) के तेरह भेद माने गये हैं। सत्य, समता, दम, मत्सरताका अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, दूसरेके दोष न देखना, त्याग, ध्यान, आर्यता (शिष्टाचार), धैर्य, अहिंसा और दया—ये सब सत्यके स्वरूप हैं। इनसे कभी डगते नहीं।

'सत्यव्रत' अर्थात् सत्यप्रतिज्ञ हैं, 'सत्यका व्रत' धारण किये हैं। यथा 'सत्यसंध दृढ़ व्रत रघुराई।२।८२।१।' 'रामो द्विर्नाभिभाषते। वाल्मी० २।१८।३०।' ('राम दो तरहकी बात नहीं करता है' यह उन्होंने स्वयं केकयीजीसे कहा है। माधुर्यमें 'सत्यकृत०' का भाव यह

ले सकते हैं कि आप मन-कर्मसे 'सत्य' में आरूढ़ हैं।—'जो कछु कहहु-करहु तुम्ह साँचा'।

सत्यपरायण पुरुषही संसारका उद्धार करनेमें समर्थ होता है; इसीसे 'सत्यकृत०' कहकर आगे 'पुष्ट संतुष्ट' नाम देते हैं।

जैसे यहाँ 'सत्यकृत, सत्यरत और सत्यव्रत' तीन नाम कहे, वैसेही 'सत्यवाक् सत्यविक्रमः। सत्यव्रतो···। प० पु० उ० २८१।३२।' में श्रीरामजीके तीन नाम आये हैं। अतः, सत्यकृतसे 'सत्यविक्रम' (सत्यपराक्रमी) और सत्यरतसे 'सत्यवाक्' (सत्यवादी) का ग्रहण कर सकते हैं। 'सत्यव्रत' अर्थात् सत्यका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले।

५ (ख) 'पुष्ट संतुष्ट संकष्टहारी' इति। 'गुणैर्यो ह्यानृशंस्याद्यैः पूर्णः पुष्टः इतीरितः।' के अनुसार आश्रितरक्षण आदि गुणोंसे परिपूर्ण होनेसे 'पुष्ट' नाम है। और 'लाभाद्दाशरथित्वस्य जगतः पालनस्य च। मनुष्यत्वेपि यः प्रीतः स 'तुष्ट' इति कथ्यते।' अर्थात् दशरथनन्दनपनेके लाभसे, सब प्रजाके पालनरूप अधिकृताधिकार (अर्थात् अयोध्यानाथपनेके राज्याभिषेकसे पैतृकसंपत्तिरूप सम्राट्पनेकी हैसियत) से प्रजापालनमें जितना संतुष्ट होते हैं, उतना परमपदनाथपनेके महत्वसे समस्तब्रह्माण्डनाथपनेमें नहीं होते। दशरथपनेकी विभूतिसे सदा प्रसन्न होनेसे श्रीसरकारका नाम 'संतुष्ट' है। यह भाव—'पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्। वाल्मी० १।१५।३२।' (अर्थात् महाराज दशरथको अपना पिता बनाना निश्चय किया), 'कुलोचितमतिः क्षात्रं धर्मं स्वं बहु मन्यते। वाल्मी० २।१।१६।' (कुलपरंपराके धर्मोंके पालनमें उनका अनुराग है। प्रजारक्षणरूप क्षात्रधर्मको वे अपना धर्म मानते हैं और उसका पालन करते हैं) तथा 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्। वाल्मी० ६।१२०।११।—इत्यादि प्रमाणोंसे पुष्ट होता है।

विष्णुसहस्रनाममें 'सदा तुष्टः सदापुष्टः' ये दो नाम भगवान्‌के आये हैं और एक नाम 'नित्यतृप्तः' भी है। उनके भाव यहां 'पुष्ट संतुष्ट' में हैं। श्रीरामजीके संबंधमें उपर्युक्त व्याख्या पूर्ण घटित है। साधारण भाव यह भी है कि क्षुधा-पिपासा तथा आधि-व्याधिसे रहित होनेके कारण सदा 'पुष्ट' शरीरवाले और निरन्तर आपमें ही सदा संतुष्ट वा तृप्त रहनेवाले होनेसे 'पुष्ट' 'संतुष्ट' नाम है।

[टीकाकारोंने साधारण शब्दार्थ दिया है जो ये हैं—पुष्ट संतुष्ट= 'दृढ़ करके पूर्णकाम'-(वै०)।=दिव्य नित्य देह और पूर्णकाम -(डु०, भ०)।=दृढ़ और पूर्णकाम-(वीर)।=दिव्य सामर्थ वान् और संतोषी। (त्रि०)]

५ (ग) 'धर्म वर्मनि' इति। धर्म ही है कवच जिसका। मानसमें भगवान्ने विभीषणजीसे कहा है कि हम धर्मरथपर सवार हैं। धर्ममय रथके रूपकमें 'कवच अभेद बिप्र गुर पूजा' बताया है (लं० ७६।१०)। विप्रगुरुपूजा धर्म है। आपमें ये दोनों धर्म परिपूर्ण हैं इनके अतिरिक्त भी जितने धर्म हैं, सभीमें आप कुशल हैं। अ 'धर्मधुरधीर' हैं, इसीसे 'धर्मवर्मनि' नाम हुआ। मानसमें दो भाइयोंके लिये यह विशेषण आया है। यथा 'मायामानुषरूपि रघुवरौ सद्धर्मवर्मौहितौ। कि० मं०।' वहाँ भी 'गोविप्रवृन्दप्रियौ' साथ ही आया है।

५ (घ) 'ब्रह्मकर्मबोधैक' इति। इसके दो प्रकारसे अर्थ हो सक हैं। एक तो—'ब्रह्म' (अर्थात् वेदके) कर्मकांडके एकही जानकार दूसरे—'ब्रह्म हो और कर्मकांडके एक ही ज्ञाता हो।' परन्तु आगे 'विरज ब्रह्म' भी नाम आये हैं, इससे यहाँ यह अर्थ करनेसे पुनरु होगी; अतः यह अर्थ गृहीत नहीं है। इसलिये दूसरा अर्थ होगा— 'ब्रह्मबोधैक+कर्मबोधैक=ब्रह्मके बोधक प्रतिपादक वेदान्त उपनिष और कर्मप्रतिपादक मीमांसा वेदत्रयीके ज्ञानमें आप एकही अर्था अद्वितीय हैं। ब्रह्मकर्म=वेदविहित कर्म।

५ (ङ) 'विप्रपूज्य ब्रह्मन्य' इति। ब्राह्मण आपको पूजते हैं, य 'ब्रह्मवृन्दैकदेवं। लं० मं० १।', 'पुनि करि वहु प्रकार प्रभु पूजा मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा।३।१२।१२।' (अगस्त्य), 'करि पू कहि बचन सुहाये।' (अत्रि), इत्यादि। पुनः, विप्र आपके पूज्य है यह 'ब्रह्मण्य' शब्दसे जनाया। इसलिये विप्रपूज्यका उपर्युक्त व एक अर्थ लिया गया। भृगुचरण प्रहार सह लिया, विश्वामित्रके य की रक्षा की और विप्रहितार्थ ही स्त्री ताड़काका वध किया। इत्यादि ब्राह्मणोंको माननेसे 'ब्रह्मण्य' कहे जाते हैं। विप्रका हित करनेके लि पिताको छोड़कर उनके साथ आनेपर विश्वामित्रजीने कहा है—'ब्र ब्रह्मन्यदेव मैं जाना।' ब्रह्मण्य=ब्राह्मणनिष्ठ, ब्राह्मणोंमें श्रद्धा रखने वाले। पुनः, "जीवात्मा प्रकृतिश्चापि ब्रह्मेति व्यपदिश्यते। ताभ्यां

स्थितिभोगादेस्सर्वावस्थासुकारणम् 'ब्रह्मण्यः' स च विज्ञेयस्सप्तार्णो भोगदायकः ॥'—जीवात्मा और प्रकृतिका भी नाम ब्रह्म है। जीवात्मा और प्रकृति (माया) दोनोंकी स्थिति तथा भोगादि सर्वावस्थामें कारण होनेसे सरकारका नाम 'ब्रह्मण्य' है। और 'ॐ ब्रह्मण्याय नमः' यह सप्ताक्षरी मंत्र संपूर्ण भोगका देनेवाला है।

५ (च) 'जनप्रिय मुरारी' इति। जन (भक्त) प्रिय है। महाराज अम्बरीषजीके प्रसंगमें भगवान्‌ने दुर्वासाजीसे कहा है—'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ भा॰ ९।४।६३। नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् तेषां गतिरहं परा ।६४।' अर्थात् मैं भक्तोंके अधीन होनेके कारण परतंत्र-सा हूँ। मैं भक्तोंको प्रिय हूँ, इसलिये उन साधु भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है, वे मेरे प्रिय हैं। भक्तोंका एक मात्र आश्रय मैं ही हूँ, इसलिये उन साधु भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने आपको चाहता हूँ और न लक्ष्मीको। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही अनन्यगतिक भक्त अपनी भक्तिसे मुझे बाँध रखते हैं—'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ।६६।' ···अधिक क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त मेरे हृदय हैं और उनका हृदय स्वयं मैं ही हूँ।—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।६८।' वे मेरे सिवा कुछ नहीं जानते और मैं उनके सिवा और कुछ नहीं जानता।—यह 'जनप्रिय' का भाव है। मानसमें भी कहा है—'पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।'

'मुरारी'—आश्रितविरोधी 'मुर' दैत्यके नाशक होनेसे 'मुरारि' नाम है। 'मुर' दैत्यकी कथा 'कंडुसुख मुरारी ।५२ (३ ख)' में देखिए।

टिप्पणी - ६ 'देव नित्य निर्मम नित्यमुक्त निर्मान···' इति। (क) 'नित्य, नित्य मुक्त' इति। नित्य = उत्पत्ति-विनाश-रहित = अविनाशी और सदा एकरस। एकपाद्विभूतिके भी जीव नित्य हैं, पर 'नित्य मुक्त' नहीं कहे जा सकते। देखिए, श्रीसनकादिकजी, ब्रह्माजी और शंकरजी भी जीवन्मुक्त हैं, पर भगवत् इच्छासे वे भी मायाके वशीभूत हो जाया करते हैं। यथा 'सिव बिरंचि कहँ मोहइ

को है बपुरा आन ।७।६२।' और, भगवान् सदा मायापति हैं, माय
परे स्वच्छन्द हैं, माया उनके पास फटक नहीं सकती। इसीसे
'नित्य मुक्त' कहे गए।

भगवान्ने उद्धवजीसे बद्ध और मुक्त जीवका भेद जो बतलाया
उसे हम यहाँ लिखे देते हैं, उससे 'नित्यमुक्त' का अर्थ भली भाँ
समझमें आ जायगा। वे कहते हैं—"वह भेद दो प्रकारका है।
तो 'नित्य मुक्त ईश्वरसे जीवका भेद' और दूसरा 'मुक्त बद्ध जीव
भेद'। पहिला सुनो। –जीव और ईश्वर, बद्ध और मुक्तके भेदसे भिन्न
होनेपर भी एकही शरीरमें नियन्ता और नियंत्रितके रूपसे स्थित हैं।
समझो कि 'शरीर एक वृक्ष है। उसमें हृदयका घोंसला बनाकर
और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होनेके का
समान हैं और कभी न बिछुड़नेके कारण सखा हैं। इनके नि
करनेका कारण केवल लीला ही है। इतनी समानता होनेपर भी
तो शरीररूपी वृक्षके फल सुख-दुःख आदिका भोक्ता है, परन्तु ई
उन्हें न भोगकर कर्मफल सुख-दुःख आदिसे असंग और
साक्षीमात्र रहता है।—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं
परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशी
ऋग् १।१६४।२०।'

"अभोक्ता होनेपर भी ईश्वरकी यह विलक्षणता है कि वह
ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदिमें भोक्ता जीवसे बढ़कर है। साथ ही
यहभी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्व
और इसके अतिरिक्त जगत्को भी जानता है, परन्तु भोक्ता जीव न
अपने वास्तविक रूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्त (जगत्)
इन दोनोंमें जीव तो अविद्यासे युक्त होनेके कारण नित्य बद्ध है
ईश्वर विद्यास्वरूप होनेके कारण 'नित्यमुक्त' है।

"ज्ञानसंपन्न पुरुषभी मुक्तही है। उस जीवन्मुक्त पुरुषके लक्ष
हैं:—वे न तो किसीके सतानेसे दुखी होते हैं और न पूजा क
सुखी। वे समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी भेददृष्टिसे ऊपर
गये हैं। वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और
बुरी बात सुनकर किसीको झिड़कते ही हैं। वे न तो कुछ भला
बुरा काम करते हैं, न कुछ भला या बुरा कहते हैं और न सोच
हैं। वे व्यवहार में अपनी समान-वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें ही

रहते हैं और जड़के समान, मानो कोई मूर्ख हो। इस प्रकार विचरण करते रहते हैं। (भा० ११।११।४-१०)।

६ (ख) 'निर्मम' 'निर्मान' इति। यहाँ 'नि' उपसर्ग अभाव-सूचक है। निः = रहित। निर्मम = ममत्वरहित। निर्मान = मान-रहित। 'मान' के दो अर्थ हैं। एक,-'तौल, परिमाण, पैमाना, नाप'। दूसरा, 'मान, बड़ाई, अहंकार'। इस तरह, निर्मान = अपरिमित, अप्रमेय। अमानी, अर्थात् 'अपने समान दूसरा न होने का अभिमान नहीं है जिसको'। अमान ऐसे हैं कि अज निर्विकार परं ब्रह्म परमात्मा जगत्-जनक होते हुये भी मीन, कमठ, सूकर, वामन आदि शरीर भी धारण करनेमें किंचित् संकोच नहीं होता।—'ज्ञाननिधान अमान मानप्रद ।७।३३।', 'बानि बिस्मरनसील है मानद अमान की। ५२ (३ ख, शब्दार्थ) देखिए।

६ (ग) 'हरि' इति। (१) 'भक्तानां दुःखहरणाद्वर्णश्रैष्ठ्याद्धरिः स्मृतः।' अर्थात् भक्तोंके दुःख हरनेसे और अति श्रेष्ठ अंगकान्ति श्यामसुन्दर वर्ण होनेसे भी 'हरि' नाम है। (२) 'इलोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम्। वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः। म० भा० शा० ३४२।६८।' अर्थात् यज्ञमें 'इलोपहूता सह दिवा' आदि मंत्रसे आवाहन करनेपर मैं अपना भाग हरण (स्वीकार करता हूँ) तथा मेरे शरीरका रंगभी हरित है, इसलिये मुझे 'हरि' कहते हैं। (३) तामस नामक चौथे मन्वन्तरमें हरिमेधा ऋषिकी पत्नी हरिणीके गर्भसे 'हरि'के रूपमें भगवान्‌ने अर्थ ग्रहण किया। इसी अवतारमें उन्होंने ग्राहसे गजेन्द्रकी रक्षा की थी। (भा० ८।३०। इससे भी भगवान्‌का एक नाम 'हरि' हुआ। (४) गोवर्धन पर्वतपर सदा पूजित होनेसे भी 'हरि' ,नाम है। 'अष्टोत्तरशतनाम'में 'सर्वतीर्थमयो हरिः' यह भी नाम आया है। (प० पु० उ० २८१।४४)।

६ (घ) 'सच्चिदानंदमूलं' इति। टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं—(१) सत् चित् आनन्द और इन सबोंके कारण भी। (ढु०)। (२) सच्चिदानन्द और सबके मूल (कारण)। वै०, मा०)। औरोंने उन्हींका अनुकरण किया है।

'सच्चिदानन्दमूल'का भाव यह है कि 'राम'में ही सत् चित् आनन्द तीनोंही घटित होते हैं। शेष जितने नाम हैं, उनमें तीनों घटित नहीं होते। तीनोंकी सिद्धिके लिये 'राम' नामका, रामतापिन्युपनिषत्-

की श्रुतिका ही आश्रय लेना पड़ता है।—अतएव 'राम'जीने 'सच्चिदानन्दोंका मूल' कहा।

श्रीहरिदासाचार्यजीने 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते…' (रा० पू० ता० ६) इस श्रुतिके भाष्यमें "सच्चिदानन्द शब्द 'राम' नामहीमें घटित होता है" इस बातको जिस तरह समझाया है, उसका संक्षिप्तांश यह है।—

"उपर्युक्त श्रुतिमें तथा 'ब्रह्मात्मिका सच्चिदानन्दाख्या' इस श्रुतिमें और "चिद्वाचको रकारस्यात्सद्वाच्याकार उच्यते। मकारानन्दवाची स्यात् सच्चिदानन्दमव्ययम्।' इस स्मृतिमें कहा गया है कि 'राम' नाम सत्, चित् और आनन्द तीनोंका वाचक है। जो इन तीनोंका वाचक होता है वही ब्रह्मका साक्षात् वाचक होता है। अतएव अन्य भगवन्नाम तीनोंके साक्षात् वाचक न होनेसे गुण-कर्मद्वारा गौणरूपसे ब्रह्मके वाचक हैं। जैसे,—'वेवेष्टीति विष्णुः' विष्णु नाम व्यापक गुणद्वारा "हरतीति हरिः' हरि नाम भक्तदुःखहरत्वगुणद्वारा और 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरेक्यं महाविद्ये कृष्णरित्यभिधीयते।' कृष्णनाम सत् और आनन्द वाचकद्वारा गौणरूपसे ब्रह्मके वोधक हैं। इसी तरह अन्य भगवन्नामभी गौणरूपसे ही ब्रह्मके वाचक हैं।"

६ (ङ) 'सर्वभक्षाकाध्यक्ष', यथा 'काल करम जिव जाकें हाथा। लं० ६।', 'तात राम नहिं नरभूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला। ५।३६।१।', 'उमा काल मर जाकी ईछा। लं० १०१।१।'

६ (च) 'कूटस्थ' इति। देव-मनुष्यादि शरीरोंमें रहते हुये भी उनसे भिन्न होनेके कारण उन उन देवादि शरीरोंके भेदसे सम्बन्ध न रखने एवं उनके रूपमें चिन्तन किये जानेके अयोग्य होते हुए भी सब शरीरोंमें एक-सा रहनेसे 'कूटस्थ' नाम है। (श्रीरामानुजाचार्यजी) पुनः, "जो वस्तु ऊपरसे गुणयुक्त प्रतीत होती हो और भीतर दोषोंसे भरी हो उसका नाम 'कूट' है। संसारमें भी 'कूटरूप' 'कूटसाक्ष्य' इत्यादि प्रयोगोंमें कूट शब्द (इसी अर्थ में) प्रसिद्ध है। वैसे ही जो अविद्यादि अनेक संसारोंकी बीजभूत अन्तर्दोषोंसे युक्त प्रकृति 'माया' अव्याकृत आदि शब्दोंसे कही जाती है, उसका नाम 'कूट' है। उस कूट (नामक माया) में जो उसका अधिष्ठातारूपसे स्थित हो रहा हो, उसका नाम 'कूटस्थ' है। (गीता १२।३ शाङ्करभाष्य) शब्दार्थमें भी देखिए।

६ (छ) 'भक्तानुकूलं' इति। ऊपर भगवान्‌को 'जनप्रिय' कहा है। श्रीरामजी जनोंके प्यारे हैं और जन इनको प्रिय हैं, अतः ये जनपर सदा अनुकूल रहते हैं। यथा 'राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुरान साधु सुर साखी ।२।२१६।७', "तुलसी रामहिं आपु तें सेवककी रुचि मीठि। दो० ४८।', 'स्वभक्तकल्पपादपं ।३।४ छंद।' भक्तानुकूलं; यथा 'जानेउं स्वामि सहज अनुकूला ।२।३००।३।' इससे यह भी जनाया कि आपकी अनुकूलताके कारण आपके भक्त मायामें नहीं भूलते, आपके भक्तोंको त्रिविध ताप वा शूल नहीं व्यापते और आपके भक्तोंको कुछ भी अगम नहीं है। यथा 'सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला ।३।३६।४।', 'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न व्याप त्रिविध भवसूला ।५।४७।६', 'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्हकू अनुल ।५।३३।'

नोट - ३ 'देव सिद्ध साधक साध्य...' इति। ☞ इस पदमें यहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां० ३।१४।१।' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मराम कोसलाधीश श्रीदशरथनन्दनको 'सिद्ध-साधक-साध्य', 'वाच्य-वाचक', 'मंत्र जापक-जाप्य', 'सृष्टि और स्रष्टा', 'दृश्य-द्रष्टा' और 'व्योम-व्यापक' आदि सब कुछ कहा गया है। आगे पद ५४ में भी ऐसा ही बताया गया है।

समस्त साध्य और साधनोंका पर्यवसान श्रीराममें है। सारी तपस्याएँ, सारे यज्ञ, योग आदि साधन उन्हींकी प्रसन्नताके लिए और उन्हींकी ओर ले जानेवाले हैं। उन साधनोंसे जितने लोकोंकी प्राप्ति होती है, वे भी श्रीराममें ही कल्पित हैं। वे सर्व वाच्योंके वाचक हैं। समस्त लौकिक वैदिक शब्द उन्हींको कहते हैं। वे दृश्यजगत्‌में व्याप्त होनेसे सर्वस्वरूप हैं और सबमें रहते हुएभी, सर्वस्वरूप होते हुए भी, द्रष्टामात्र हैं। साक्षीमात्र हैं, निर्विकार हैं, निर्लिप्त हैं।

४ वियोगीहरिजीका मत है कि "यहां अद्वैतवेदान्तके अनुसार ब्रह्मका निरूपण किया गया है। सृष्टि-स्रष्टा एवं दृश्य-द्रष्टाका ऐक्य अद्वैत सिद्धान्तके अन्तर्गत अध्यात्मवादसे प्रमाणित होता है। गोस्वामीजीने मायावादका यत्रतत्र खूब ही वर्णन किया है, जैसा कि इस ग्रंथमें आगे पाया जायगा, पर जीव और ब्रह्मकी एकता उन्होंने कहीं

नहीं दिखाई। शाङ्करवादकी तरह उनका सिद्धान्त केवल ज्ञानमय नहीं है, उसमें भक्तिका जो अखण्ड राज्य है, वह सोनेमें सुगन्धका काम कर रहा है।

टिप्पणी—७ 'सिद्ध साधक साध्य···' इति। (क) 'सिद्ध' इति। "स्वरूपेणैव भक्तानां सिद्धत्वात् 'सिद्ध' उच्यते।" अर्थात् उपाय साधन बिना ही भक्तोंको स्वतः प्राप्त होनेसे 'सिद्ध' नाम है। प्रमाण यथा 'विभीषणेनाशु जगाम संगमम्। वाल्मी० यु० १८:३६।' अर्थात् श्रीरामजी शीघ्र आगे बढ़कर विभीषणसे मिले। (विभीषणजीने क्या साधन किया था ?)' 'अयमेव ह्युपायैश्च सिद्धिस्स्यात् साध्यते यतः।' भक्तोंकी सिद्धिके लिये स्वयं उपाय होनेसे आपका नाम 'साध्य' है

[बैजनाथजी लिखते हैं—"ज्ञानदेशमें साध्य ब्रह्म, साधक मुमुक्षु और सिद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। उपासना देशमें साध्य ईश्वर, साधक भक्त और सिद्ध भक्तिकी प्राप्ति है। कर्मदेशमें साध्य त्रिदेवादि, साधक यज्ञादि कर्मकर्ता और सिद्ध फलप्राप्ति है।"

श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "साध्यके संपादनमें ही सिद्ध और साधक दोनोंकी श्रद्धा रहती है। जैसे ब्रह्मकी प्राप्तिमें ब्रह्म साध्य है और सिद्ध और साधक इन दोनोंको एक ब्रह्ममें ही श्रद्धा रहती है। अतएव ब्रह्मश्रद्धासे ये दोनों भी ब्रह्म संज्ञासे कहे जा सकते हैं, यथा 'यच्छ्रद्धः स एव सः। गीता १७।३।"]

७ (ख) 'वाच्य वाचक' इति। बैजनाथजीका मत—"ऊपर जो तीनों साधक कह आए, उन तीनोंके न्यारे-न्यारे वाचक हैं। कर्मियोंके वाचक, यथा 'स्वर्गादिफलप्राप्तिकामनया यज्ञादि कर्ममहं करिष्ये।' ज्ञानीका वाचक, यथा 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः। गीता। ६।२९।' भक्तोंका वाचक, यथा 'राजाधिराज रघुनन्दन रामचन्द्र दासोहमद्य भवतः शरणागतोऽस्मि।' (सनत्कुमारसंहिता)।"

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—श्रीरामजी वाच्य हैं और उनका नाम उन्हींका परिचायक होनेसे उन्हींमें श्रद्धानिष्ठ है। अतएव उन्हींका रूप है—'न भिन्नो नाम नामिनोः।'

७ (ग) 'मंत्रजापक जाप्य सृष्टि स्रष्टा' इति। 'मन्तारं त्रायत इति मन्त्रश्चाप्यभिधीयते।' अर्थात् सदा श्रीनाम और मंत्र जपनेवालेकी रक्षा करनेसे 'मंत्र' नाम है। कर्मानुसार विचित्र सृष्टि करनेसे

'स्रष्टा' नाम है। यथा "कर्म वैचित्र्य तत्सृष्टीन् 'स्रष्टा' स्यात् सृजतीति यः।" (निरुक्त)।

[वैजनाथजी—"कर्मी जापकोंके मंत्र प्रणवादि देवनाम चतुर्थ्यन्त, ज्ञानी जापकोंका मन्त्र सोऽहं हंस, और उपासकोंके मन्त्र षडक्षरादि। कर्ममें जाप्य देवादि, ज्ञानमें ब्रह्म और भक्तके जाप्य ईश्वर। इत्यादि सब आपके ही रूप हैं। अर्थात् विना आपके प्रकाशके कुछ हो नहीं सकता। क्योंकि सृष्टि (संसाररचना) और स्रष्टा उसके उपजानेवाले सब आप ही हैं।"

श्रीकान्तशरणजी—मंत्र रामजीमें ही निष्ठ है। जापकभी श्रीरामजीमें श्रद्धानिष्ठ है—इससे मंत्र और जापकभी रामरूप ही हैं। सृष्टिके तीन कारण हैं—उपादान, सहकारी और निमित्त। ये तीनों श्रीरामजी ही हैं। जैसे कि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म श्रीरामजी उपादान कारण हैं; यथा 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छां० ३।२।१।'—इस वेदवाक्यमें सत् रूप सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मकी स्थिति कही गई है। 'एकं' और 'अद्वितीयं'से उपादान और निमित्त कारण भी उसीको कहा है। पुनः 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।' छां० ६।२।३।' अर्थात् उसने बहुत होनेका संकल्प किया। इसमें निमित्त कारण उसीको कहा है। तथा उत्पत्ति आदिके साधनीभूत षडैश्वर्य भी उसी ब्रह्ममें रहते हैं। अतएव सहकारी कारण भी वही हुआ। सत् वाच्य ब्रह्मका परिणाम होनेसे जगत् श्रीरामजीका ही स्वरूप है।]

७ (घ) 'परम कारन' इति। "जीवानां चक्षुरादीन् यो हेतून् कारयतीति सः प्रोच्यते कारणेति।" अर्थात् जीवोंको नेत्रादि इन्द्रियाँ और उनमें 'देखना' आदि शक्ति प्रदान करनेसे 'कारण' नाम है। पुनः, सृष्टि और प्रलयरूप समस्त विकार आपहीसे उत्पन्न होनेसे और आपमेंही सबका लय होनेसे आपका नाम 'कारण' है। यथा 'यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः। यस्मिश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः। म० भा० शा० ४७ ६८।' शब्दार्थ भी देखिए।

७ (ङ) 'कंजनाभ'—सबके उत्पत्तिस्थान भूमिरूप अष्टदलकमल जिसके नाभिमें है, जिस कमलकी स्वर्णमयी कर्णिका मेरुपर्वत है। अर्थात् कमलनाभिसे ब्रह्माण्डके उत्पन्न होनेसे 'कंजनाभ' नाम है। "यस्य हेममयी दिव्या कर्णिका मेरुरुच्यते। पार्थिवे भूरि पद्मं तु नाभावष्टदलं महत्॥ यस्य नाभौ तदुत्पत्तिः पद्मनाभः स उच्यते।"

विशेष 'पाथोजनाभ।' ५० (२ छ) में देखिए। नाभिसे श्रीब्रह्माजी का आश्रयरूप सर्वलोकमय कमल उत्पन्न हुआ, यथा 'यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम्। भा० ३।२८।२५।'

'जलदाभतनु'—'नव नील नीरद सुंदरं।४५ (२)', 'नील नव वारिधर''।५१ (२)।' देखिए।

७ (च) 'सगुन निर्गुन' इति। श्रीरामजी सगुण और निर्गुण दोनों हैं। निर्गुणरूप कोई सगुणरूपके अतिरिक्त दूसरा नहीं है। ज्ञानशक्त्यादि तथा सौशील्यवात्सल्यादि अनन्त कल्याण गुण होनेसे वे 'सगुण' कहलाते हैं और प्राकृतिक सत्व-रज-तम-गुण नहीं होनेसे 'निर्गुण' नाम है। यथा 'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।' (वि० पु० १।६।४४)। विशेष ४३ (१ ट,घ) में देखिए। पूर्व पद ५० (८) में भी श्रीरामजीको 'निर्गुण सगुण' दोनों कहा है।

७ (छ) 'दृश्य द्रष्टा' इति। सारा जगत् दृश्य है। 'द्रष्टा' कहनेका भाव भीष्मपितामहके 'यो निषण्णो भवेद् रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः। इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्ट्रात्मने नमः। म० भा० शा० ४७।६३।' इस वाक्यमें है। अर्थात् जो रात्रिमें भी जागते वा बैठे रहते हैं और दिनके समय साक्षीरूपमें स्थित रहते हैं तथा जो सदा ही सबके भले-बुरे को देखते रहते हैं, उन द्रष्टारूप परमात्माको प्रणाम है।

टिप्पणी—८ 'देव व्योम व्यापक बिरज ब्रह्म''' इति। (क) "आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति ब्रह्मसूत्रम्। आकाश आपसे प्रकट है, आपका शरीर है, आप उसके अन्तर्यामी हैं। अतएव 'व्योम' नाम है। चेतनाचेनन संपूर्ण व्याप्य वस्तुमें सदा मौजूद (उपस्थित) रहनेसे 'व्यापक' नाम है। ४३ (१ ख) देखिए। सदा शुद्ध होनेसे 'विरज' नाम है।

८ (ख) 'ब्रह्म' इति। "व्यक्ताव्यक्तसमष्ट्यादि पुरुषांश्चैव नित्यशः। गुणैश्च कल्याणतमैर्ब्रह्म बृंहयतीति च॥ रूपैस्स्वरूपेण गुणैर्विभवैश्च स्वयं मुहुः। ब्रह्मेति स तु वा 'ब्रह्म षड्गुण सन्ततिप्रदः।"—इस निरुक्तिके अनुसार प्रकट और अप्रकट संपूर्ण जगत्में अपने स्वरूप (आत्मा) रूप गुणोंसे व्याप्त होने तथा खुद (स्वयं) बढ़नेवाले और आश्रितको बढ़ानेवाले होनेसे 'ब्रह्म' नाम है। स्थूल-सूक्ष्म व्यक्ताव्यक्त संपूर्ण जीवोंको नित्य अपने कल्याण गुणोंसे बढ़ाते हैं। ४३ (१ क, घ) भी देखिए।

८ (ग) 'बरदेश'=बरद (वरदेनेवाले ब्रह्मा और रुद्रादि) के ईश (स्वामी)। अथवा, वरद और ईश दो नाम हैं। "वरदोऽभीष्टद स्मृतः।" इस निरुक्तप्रमाणसे भुवनकर्म-धुरन्धर ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदिको अभीष्ट वर देनेसे 'वरद' नाम है। और, संपूर्ण चेतन (जीव) आपकी आज्ञाके अधीन होनेसे 'ईश' नाम है।

८ (घ) 'बैकुंठ' इति। भा० ८।५।१-६ में बताया है कि रैवत नामक पाँचवें मन्वन्तरमें हिरण्यरोमा और वेदशिरा आदि सप्तर्षि थे। उनमेंसे शुभ्रऋषिकी पत्नीका नाम 'विकुण्ठा' था। उन्हींके गर्भसे वैकुण्ठ नामक श्रेष्ठ देवताओंके साथ अपने अंशसे स्वयं भगवान्‌ने वैकुण्ठ नामक अवतार धारण किया। उन्हींने लक्ष्मीजीकी प्रार्थनासे उनको प्रसन्न करनेके लिये वैकुण्ठधामकी रचना की थी। अतः 'वैकुण्ठ' नाम हुआ।

पुनः, "संश्लेष प्रतिघातश्च कुंठि धात्वर्थ उच्यते। विगतः स च येषान्ते विकुंठाः स्युरुदीरितः। तेषामेवैष इति हि 'वैकुण्ठः' परिकीर्त्तितः।"—इस निरुक्तिके अनुसार 'जिनके संगसे फिर वियोग न हो; अर्थात् जिनको देखकर अथवा जिनकी दृष्टि पड़नेपर जीव दूसरी तरफ देखनेयोग्य एवं दूसरा कोई भी कार्य करने योग्य न रह जाय।

पुनः, "मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना। वायुश्च तेजसा सार्द्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम। म० भा० शा० ३४२।८०।" अर्थात् मेरा संयोग कराया जलसे पृथ्वी, तेजसे वायु, वायुसे आकाश अलग नहीं होता, इससे मेरा नाम 'वैकुण्ठ' है। पं० रामनारायणदत्त शास्त्रीजी लिखते हैं कि 'विगता कुण्ठा पञ्चानां भूतानां मेलने असामर्थ्यं यस्य सः विकुण्ठः, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः—पाँचों भूतोंको मिलानेमें जिनकी शक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, वे भगवान् वैकुण्ठ हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार भगवान् 'वैकुण्ठ' कहलाते हैं।

पुनः, श्रीरामजीके प्रेममें सब सबको छोड़ देते हैं; यथा 'राघवं वानुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत। वाल्मी० २।४८।२७।' (श्रीरामजीके साथ जाकर लौटे हुये पुरुषोंको देखकर उनकी स्त्रियाँ कहती हैं कि आप श्रीरामजीके साथ वनको जायँ, अथवा ऐसी जगह चले जायँ जहाँसे आप लोगोंकी खबर ही न मिले), 'नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम्। पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाप्यनन्दत।

श्लो० ५।' (अर्थात् चोरी गई हुई वस्तुके मिल जानेसे, अथवा बहुत अधिक धन मिल जानेसे वे प्रसन्न न हुए। पहले-पहल पुत्र उत्पन्न करनेसे माता भी प्रसन्न नहीं हुई), 'अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्त्तारो भ्रातरस्तथा। सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन्। वाल्मी० २।४१।१६।', अर्थात् बालक माँ-बापको भूल गए। पतियोंको स्त्री याद नहीं आती थी और भाई भाईका स्मरण नहीं करते थे। सभी सब कुछ छोड़कर केवल श्रीरामका ही चिन्तन करने लगे। -इससे उनका नाम 'वैकुण्ठ' है।

८ (ङ) 'वामन'—अपनी दृष्टि और कान्तिसे भक्तोंको सुख प्राप्त कर देनेसे 'वामन' नाम है। ५२ (५ क, ख) भी देखिए। 'बिमल ब्रह्मचारी' इति। एक पत्नीव्रत तथा दमभवन होनेसे ब्रह्मचारी कहा। देखिए, श्रीसीताजीके साथ रहते हुए भी वे दशहजार वर्ष ब्रह्मचर्य धारण किये रहे। तत्पश्चात् एक ही बार दो युग्म पुत्र उत्पन्नकर फिर ब्रह्मचर्य धारण किये रहे। श्रीसीताजीको वाल्मीकि आश्रममें भेजनेके बाद उन्होंने ब्रह्मचर्य धारण करके एक हजार वर्षसे अधिक अखण्ड रूपसे अग्निहोत्र किया। यथा 'तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः। त्रयोदशाब्धसाहस्रमग्निहोत्रमखंडितम्। भा० ९।११।१८।' भीष्मपितामहजीके 'ऋतवादी भवेन्नित्यं ज्ञाननित्यश्च यो नरः' इस सिद्धान्तानुसार सदा सत्य बोलनेवाला और नित्यज्ञानमें स्थित रहनेवाला सदा ब्रह्मचारी है, ये दोनों गुण श्रीराममें हैं ही। (भ० भा० शान्ति २२१।११)।

पुनः, 'बिमल ब्रह्मचारी' को उत्तरार्धके साथ यदि ले लें, तो देवर्षि नारद, श्रीशुकदेवजी, श्रीसनकादिकजी 'बिमल ब्रह्मचारी' में आ जाते हैं। इसे 'वामन' का विशेषण भी मान सकते हैं; किन्तु दास इन सबोंको पृथक्-पृथक् श्रीरामजीके ही विशेषण मानता है।

८ (च) 'सिद्ध बृंदारकावृंद वंदित…' इति। यथा 'अखिल मुनि निकर सुरसिद्ध गंधर्व बर नमत नर नाग अवनिप अनेकं। ५१ (७)'-वहाँ जो 'निकर सुर गंधर्व नर नाग' हैं, वही यहाँ 'वृन्दारकावृंद' से जना दिया। वहाँ 'नमन' (प्रणाम) करना कहा था, यहाँ उनका वन्दना (स्तुति आदि) करना भी कह दिया।

'सकल दृश्य द्रष्टा व्योम-व्यापक सदा अखंड' रूप कहते हुये 'सिद्ध वृन्दारकावृंद वंदित' इन शब्दोंसे यह भी भाव दर्शित होता

है कि सिद्धोंके वृन्द जो आपके यथार्थ तत्वको समझते हैं वे बड़ी-बड़ी स्तुतियोंसे आपकी वन्दना, आपका स्तवन, कर रहे हैं और कितने ही देववृन्द आपके इस विश्वरूपको देख समझकर विस्मित होकर वन्दना करते हैं।

भीष्मपितामहजीने भी श्रीरामका देवताओं, देवर्षियों आदि द्वारा पूजित और सेवित होना कहा है। यथा 'स प्रजानुग्रहं कृत्वा त्रिदशैरभिपूजितः ॥७। व्याप्य कृत्स्नं जगत् कीर्त्या सुरर्षिगणसेवितः।' (म. भा. द्रोण. ५९); अर्थात् समस्त प्रजाओंपर अनुग्रह करके वे देवताओं द्वारा पूजित हुए। देवर्षिगणसे सेवित श्रीरामने अपनी कीर्तिसे संपूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर दिया था।

वैजनाथजी इन दोनों चरणों 'देव व्योम···निर्मूलकारी' का भावार्थ यह कहते हैं कि "व्योम व्यापक विरज जो ब्रह्मका निर्गुण-रूप है और वैकुण्ठनिवासी चतुर्भुज तथा विमल ब्रह्मचारी वामनरूप और पाषण्डसमूहका खंडनकर निर्मूल करनेवाला बौद्धरूप इत्यादि जितने सगुण रूप हैं तथा सिद्धवृन्दारकावृन्द ये सब आपकी वन्दना करते हैं।"

[पं० श्रीकान्तशरणका मत है कि ऊपर जितने सगुण रूप (वैकुंठ, वामन, बौद्ध) कहे गये, उन सबोंके प्रति 'सिद्धवृन्दारकावृंद वंदित' कहा गया है। वियोगीजीने भी वैजनाथजीके मतानुसार 'खंडपाषंड-निर्मूलकारी' से 'बुद्ध' अवतारका ग्रहण किया है। यह भाव पद ५२ (८) 'प्रबलपाषंड महि मंडलाकुल देखि निन्द्यकृत अखिल मख कर्मजालं।···बुद्ध अवतार वंदे कृपालं।' के आधारपर कहा गया है।]

८ (छ) 'खंडपाषंड निर्मूलकारी' इति। श्रीरामजीके गुणग्राम ही पाषंडसमूहको भस्म कर देते हैं, यथा 'कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड ।१।३२।' और श्रीरामजी तो इन सबोंके कारण काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंका ही नाश कर देते हैं। यथा 'काल करम सुभाव गुन-भच्छक। ७।३५'। दंभपाषंड आदि सब मायाके सुभट हैं, यथा 'व्यापि रह्यो संसार महँ माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड ७।७१।' भगवान्‌के भक्तोंको अविद्या माया नहीं व्यापती, यथा 'हरिसेवकहिं न व्याप अविद्या ।७।७९।२।'

अवतारके समय खरदूषणरावणादिने पाषंड किये, यथा 'भट कटत तन सत खंड। पुनि उठत करि पाखंड ।३।२०।', 'जब कीन्ह तेहि पाषंड, भए प्रगट जंतु प्रचंड ।' इत्यादि । इन सबोंका भी नाश किया। और जब जब पाषंड फैलता है, तब तब अवतार लेकर उसको निर्मूल करते हैं।

'सदा' के साथ संधि करके 'सदाखंड' ऐसा भी ले सकते हैं। सदा अखंड। श्रीरामजी अखंड हैं. यथा 'व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता। ७।७२।'

टिप्पणी—६ 'देव पूर्नानंदसंदोह···' इति। (क) 'पूर्णानन्दसंदोह' अर्थात् वेदप्रसिद्ध निरवधि आनन्द गुणवाले। श्रीरामजीको 'पूर्णानन्द' कहनेका भाव कि अधिकृताधिकार ब्रह्मारुद्रादिका आनन्द इनके सङ्कल्पाधीन होनेसे परिमित है। स्वतः सिद्ध निरवधि आनन्दकन्द होनेसे श्रीरामजीको पूर्णानन्दसंदोह कहते हैं। मानसमें भी आनंद-संदोह नाम आया है—'चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन। ७।६८', किन्तु शिवजीकी भी स्तुतिमें 'चिदानंदसंदोह मोहापहारी ७।१०८।' आया है। यहाँ 'पूर्णानन्दसंदोह' नाम देकर उपर्युक्त भाव सूचित किया है।

६ (ख) 'अपहरन संमोह अज्ञान गुनसंनिपातं' इति। गुण सन्निपातसे अज्ञानकी वृद्धि होती है, जिससे सम्मोह होता है। अतः इसका अन्वयार्थ इस प्रकार होता है—'गुणसन्निपात, तज्जनित अज्ञान, तदनुसम्मोह अपहरण।' संमोहका कारण अज्ञान है और अज्ञानका कारण है गुणसन्निपात। श्रीरामजी तीनोंके विनाशकर्ता हैं। ☞ आत्माके ऊपर यही प्रधान मालिन्य है। इसीकी निवृत्तिकी यहाँ प्रार्थना की गई है। इस मालिन्यके धुल जानेसे स्वस्वरूप-परस्वरूपका ज्ञान प्रकाशित हो जायगा।

जैसे मणिका मल साफ करदेनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें ज्योति पैदा की गई है (वह तो उसमें प्रथमसे ही है), उसी तरह विकारादि दोषोंके नाश कर देनेसे आत्मामें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कही जा सकती, वह तो उसका धर्मही है। विकारादि त्याज्य गुणोंके नष्ट हो जानेपर ज्ञान प्रकाशित हो जाता है, उत्पन्न नहीं होता। गुणसाकर्य ही दोषावह है। शुद्ध सत्व तो ज्ञानवर्द्धक है। यथा 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानं। गीता १४।१७।'

६ (ग) 'गुण संनिपातं' इति। सन्निपात = वात, पित्त, कफ तीनोंका एकसाथ बिगड़ना। = त्रिदोष। वास्तवमें यह कोई अलग रोग नहीं है, बल्कि एक विशेष अवस्था है जो ज्वर या और किसी व्याधिके बिगड़नेपर होती है। इसमें रोगी अंडवंड बकता है तथा उछलता कूदता भागता इत्यादि है। उसका चित्त भ्रान्त हो जाता है।

जैसे वात, पित्त, कफ त्रिदोष हैं, वैसेही सत्व, रज, तम तीन गुण हैं। जैसे जबतक वातादिमेंसे एक भी स्वस्थानपर ठीक है, तबतक सँभलनेकी आशा है, पर जब तीनोंका प्रकोप होता है तब सन्निपात होता है। वैसे ही जबतक सत्वगुण स्थानपर बना हुआ है, रज और तम दो बिगड़े हैं, तबतक जीवके सँभलनेकी आशा है। जब सत्त्वभी बिगड़ा, तब मनुष्य भूल जाता है कि उसका क्या कर्तव्य है, उसे किसकी लज्जा करनी चाहिए, इत्यादि। यही 'गुणकृत सन्निपात' है।

श्रीमद्भागवत ११।२५ में सत्व-रज-तम गुणोंकी अधिकांश वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करके फिर भगवान्‌ने तीनों गुणोंके संमिश्रणसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन उद्धवजीसे किया है। सत्व, रज, तम तीनोंकी वृत्तियोंके नाम ४६ (७ ङ) में दिये जा चुके हैं। इनके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन भा० ११।२५।६ 'सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः' में है। अर्थात् 'मैं हूँ और यह मेरा है' इस प्रकारकी बुद्धि तीनों गुणोंका संमिश्रण है। ये तीनों गुण चित्तके विकारसे जीवमें उत्पन्न होते हैं, इनमें आसक्त होकर जीव बंधनमें पड़ जाता है। —'चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते। श्लो० १२।'

म० भा० वन० २१२ में धर्मव्याधने विप्रवर कौशिकसे तीनों गुणोंका स्वरूप थोड़ेमें इस प्रकार बताया है-'मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम्। प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ।४।' अर्थात् 'तमोगुण मोह उत्पन्न करनेवाला है। रजोगुण कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है। सत्त्वगुणमें प्रकाशकी बहुलता है, अतः यह सबसे श्रेष्ठ है।' तमोगुणी मनुष्य आलसी, अविवेकी, क्रोधी और इन्द्रियोंके वश होता है! रजोगुणी प्रवृत्तिमार्गकी बातें करता और उसीकी सलाह देता है, कुछ न कुछ करनेकी इच्छा रखता है, मानी, स्तब्ध और दूसरोंपर रोब जमानेवाला होता है। सात्त्विकीमें ज्ञान (प्रकाश)

की बहुलता है। यह बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, क्रोधरहित, दूसरोंके दोष न देखनेवाला होता है। नये-नये कार्य आरंभ करनेकी उत्सुकतासे रहित और धीर होता है। लौकिक व्यवहारोंमें पड़ने का कष्ट नहीं उठाता। उसमें वैराग्यके लक्षण तथा आर्जव (सरलता) आ जाते है, अहंकार मृदु (ढीला) पड़ जाता है। वह संशयरहित हो जाता है। (श्लो० ५-१०)।

६ (घ) यदि गुणका साधारण अर्थ लें, तो भाव होगा कि "गुणवान् होनेपर बहुत कम ऐसे होते हैं, जो सावधान रहें। गुणका मद बढ़ जाता है जिससे मनुष्य अपनीही प्रशंसा बड़बड़ाने लगता है। जैसे सन्निपातमें लोग वही बका करते हैं जो उनके दिमागमें भरा रहता है। यथा 'संनिपात जलपसि दुर्वादा। लं ३।१६।', 'गुनकृत संनिपात नहिं केही। उ० ७१।१।'—

६ (ङ) 'गुणकृत संनिपात' आदि सब मायाका परिवार है, इनका छूटना रामकृपापर निर्भर है, यथा 'गुनकृत संनिपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।'...'यह सब माया कर परिवारा।'...'छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।७।७१।'—अतः गोस्वामीजी श्रीरामजीकी कृपाके ही अभिलाषी हैं। अपने कर्तव्यसे नहीं, किन्तु केवल शरणागतिसे। नहीं तो वे गीतावाक्य 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। १४।२६।' का सहारा लेते। ४६ (७घ) 'गुणवृत्तिहर्ता' में देखिए।

अथवा, यह भी कह सकते हैं कि 'मन कर्म वचनसे मैं आपकी शरण हूँ'—यही अव्यभिचारिणी ऐकान्तिक भक्ति है; अतएव संमोह आदिका हरण कीजिए।

[वैजनाथजीने यह अर्थ किया है—संमोह = संपूर्ण प्रकारके मोह। अज्ञान गुण सन्निपात = कामक्रोधलोभादि अज्ञानके गुणद्वारा जो सन्निपात है।]

६ (च) 'त्रासपाथोधि इव कुंभजातं' इति। पूर्व पद ५० (६) में 'दासतुलसी त्रासनिधि बहित्रं' कहा था। उसी प्रकार यहाँ 'तुलसीदास 'त्रास पाथोधि इव कुंभजातं' कहा। वहाँ सागरसे पार करनेकी और यहाँ उसे सोख लेनेकी प्रार्थना की गई है। जबतक नाव या जहाज़रूप हैं, तबतक समुद्र बना हुआ है और उसका भयभी बना है, और जब वह सूख गया तब डूबनेका भयही न रह

गया। दोनों बारकी प्रार्थनाके मिलानसे प्रकट होता है कि अभीतक प्रार्थना स्वीकार नहीं हुई, इससे प्रार्थी बहुत आतुर है, घबड़ाया हुआ है। इसीसे पूर्व तो 'त्रास' को निधि कहा था और यहाँ पूर्वसे बड़ी दिखानेके लिये उससे बड़ा शब्द 'पाथोधि' प्रयुक्त किया गया। इसी तरह पूर्व 'बहित्रं' और अबकी 'इव कुंभजातं' इतने वर्णों और मात्राओंवाला शब्द दिया। 'कुंभज'—१२ (५ पद्यार्थ की टिप्पणी), ४० (३ ग) देखिए। क्या 'त्रास' है ? निज कर्मोंका, अज्ञानगुण-सन्निपातका और भवका त्रास है—५० (६ ङ) देखिए।

[श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "अगस्त्यजीने तीन बार राम नाम लेकर समुद्रको सोखा है। तदनुसार श्रीगोस्वामीजीने मन, वचन और कर्म इन तीनों प्रकारोंसे प्रपत्ति की है।]

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

५४

देव[1] विश्वविख्यात विश्वेस विश्वायतन विश्वमर्याद व्यालारिगामी[2]
ब्रह्म वरदेस वागीस व्यापक विमल विपुल बलवान निर्वानस्वामी॥
देव प्रकृति महतत्त्व सब्दादि गुन देवता
ब्योम मरुद्ग्नि अमलांबु[3] उर्वी।
बुद्धि मन इंद्रिया[4] प्रान चित्तात्मा काल परमानु चिच्छक्ति[5] गुर्वी।२
देव सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त[6] गतभेद विष्नो।
भुवन भवदंग[7] कामारिवंदित पदं[8] द्वंद मंदाकिनी-जनक जिष्नो॥३॥

१—'देव'—आ० और ७४ में यह शब्द पद भरमें नहीं है। प्राचीन हस्तलिखित सब प्रतियोंमें है। २ व्यालारिगामी—रा०, भा०, बे०, वै०, भ०, वि०। व्यालादगामी—हु०, मु०, दीन। व्यालाद = सर्पभक्षक। ३—अबलांबु—भा०। ४—इंद्रिया—रा०, ह०, ज०, भ०। इंद्रिय—भा०, बे०, ७४, आ०। ५ चितसत्ति—ज०। ६ व्यक्तमव्यक्त—रा०, भा०, बे०, आ०। ☞ व्यक्त अव्यक्त-७४, ह०, ५१। ७ भवदंग—रा०, भा० ('दंश' पर हरताल देकर 'दंग' बनाया है), मु०, वै०, वि०। भवदंस—बे०, ह०, प्र०, १५, भ०, दीन। ८ पदं—रा०, भा०, बे०, १५। पद—ह०, ५१, आ०, ७४।

देव आदि मध्यांत भगवंत त्वं[9]सर्वगतमीस पस्यंति ये[10]ब्रह्मवादी।
जथा पट-तंतु घट-मृत्तिका सर्प-स्रग दारु-करि कनक-कटकांगदादी ॥
देव गूढ़ गंभीर गर्वघ्न गूढार्थ वित गुप्त गोतीत गुर ज्ञान ज्ञाता[11]।
ज्ञेय ज्ञानप्रिय[12] प्रचुर गरिमागार घोरसंसारपर[13]-पारदाता ॥५
देव सत्य संकल्प अतिकल्प कल्पांतकृत कल्पनातीत अहितल्पवासी।
बनजलोचन बनजनाभ बनदाभ वपु
बनचरध्वजकोटि लावन्यरासी[14] ॥६

देव सुकर[15] दुःकर दुराराध्य दुर्व्यसनहर दुर्ग दुर्द्धर्ष दुर्गार्त्तिहर्त्ता।
वेदगर्भार्भकादभ्रगुनगर्ब[16] अर्बाक[17] पर गर्व-निर्वाप कर्त्ता ॥७
देव भक्त अनुकूल भवसूलनिर्मूलकर तूल-अघ-नाम-पावकसमानं[18]।
तरल-तृष्णा-तमी तरनि धरनीधरन सरनभयहरन करुनानिधानं[19]॥
देव बहुल बृंदारकाबृंद[20] बंदारु पद बंद्य मंदारमालोरधारी।
पाहि मामीस संताप संकुल सदा दास तुलसी प्रनत रावनारी॥९

---

९ त्वां—रा० । त्वत्—ज० । १० ये—रा०, भा०, वे०, ५१, ह०, आ० जे—७४, ज० । ११ दाता—रा०, ह० । १२—ज्ञेय गा ज्ञान—भा० । ज्ञे गावन – रा० । ज्ञेय ज्ञा विज्ञान—वे० । ज्ञय ज्ञान—प्रायः औरोंमें । १३ परि—ज० कर—वै०, वि० । पर-प्रायः औरोंमें । १४ रूप—७४, ज० । १५ स्वकर—प्र० ज० । १६ गर्भ—रा० । १७ अर्वाग—५१, ७४, आ० (—डु०) । अर्वाक—प्रा० औरोंमें । १८ समाना । १९ निधाना—रा० । २० वृंदारकावृंद वंदार प० वंद्य—रा० । वृंदारकावृंद वंदारु पद वंदि—भा० । वृंदार वृंदारकावृं पद वंदि—वे० । वंदारु वृंदारकावृंदपदद्वंद्व—मु०, वै०, ह०, ७४, डी० ५१, डु० । वृंदारकावृंद वंदारु पदद्वंद्व—भ०, वि० ।

☞ नोट—इस पदमें जो क्रम है वह रा०, ह०, ५१, ७४, आ० के अनुसार है । भा०, ज० और १५ में छंद '।३।' प्रथम है '।२।' उसके पश्चात् है ।

☞ ह० में 'देव' शब्द छंद '।१।' और '।२।' के आदिमें है, अन्यमें नहीं है ।

नोट—१ इस पदके प्रत्येक चरणमें अनुप्रास अलंकारकी छटा देखने ही योग्य है। (दीनजी)

२ इस पदमें श्रीरामजीको 'परम कारण' मानकर विनय की-गई है। यही समस्त दर्शनोंका सार है। (दीनजी)।

३ इसमें निर्गुण और सगुणरूपमें अभेद मानकर स्तुति की है। (सू० शु०)।

४ 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४।३।' तथा 'सातँव सम मोहि मय जग देखा।' के अनुसार यहाँ श्रीरामजीका स्वरूपवर्णन है। भक्त इस तरह जगत्को निज प्रभुमय देखते हैं। भक्त अज, एक, अद्वैत, निर्गुण, सगुण तथा इन दोनोंसे परे भूपालमणि दशरथनन्दन कोशलाधीश रघुकुलावतंस श्रीरामब्रह्मको ही सबमें देखता है, अद्वैतवादियोंके निराकार, निर्विशेष किसी अन्यको नहीं। यह यहाँके अद्वैतवादकी विशेषता है।

शब्दार्थ—विश्वेश = विश्व-ईश। विश्वायतन = विश्व आयतन। आयतन = घर; विश्राम स्थान। मंदाकिनी जनक = मन्दाकिनी गंगाके उत्पन्न करनेवाले।—'पदद्वंद मंदाकिनीमूलभूतं।' ४६ (५ ग) देखिए। सर्वगतमीस = सर्वगतं ईश = जो सबमें प्राप्त (व्याप्त) है वह ईश्वर। पट = वस्त्र। तंतु = सूत। मृत्तिका = मट्टी। स्रग = माला; कुंडल। दारु = लकड़ी। कटकांगदादी = कटक-अंगद-आदि = कड़ा, बाजूबन्द आदि। 'आदि' से सभी अन्य स्वर्णभूषणोंको जना दिया। ब्रह्मवादी = ब्रह्मज्ञानी, वेदान्ततत्त्वके जानने-समझनेवाले। गर्वघ्न = गर्वके नाशक। प्रचुर गरिमागार = प्रचुर (= समूह; अतुल) गरिमा (महिमा, गौरव, महत्व) के आगार (घर, भण्डार)। पर = परे, दूर, अलग। = परायण, प्रवृत्त, लिप्त, पड़े वा लीन।—यहाँ ये दोनों अर्थ हैं। संसारपर = संसारसे परे। = संसारमें लिप्त। संकल्प = काम करनेकी वह इच्छा जो मनमें उत्पन्न हो। = दृढ़ निश्चय वा विचार। यथा 'एहि तन सती भेंट मोहि नाहीं। शिव संकल्प कीन्ह मन माहीं। १।५७।२।' सत्यसंकल्प = जिसकी सोची, बिचारी या कही बात कभी असत्य न हो, जो इरादा इच्छा करे वह पूरी हो, 'सब कुछ जिसके ज्ञान या संकल्पमें स्थित है' उसे 'सत्यसंकल्प' कहते हैं। अतिकल्प = ब्रह्माकी आयुकी पूर्ति होनेपर उस कालका नाम।

=महाकल्प। तल्प=शय्या, सेज। अहितल्प=शेषशय्या। कल्पनातीत=कल्पनासे परे। कल्पना=वह शक्ति जो अन्त करणमें ऐसी वस्तुओंके स्वरूप उपस्थित करे जो उस समय इन्द्रियोंके सामने उपस्थित नहीं होतीं। =अनुमान। बन (वन)=जल। वनज =कमल। वनजनाभ=कमलनाभ, पद्मनाभ। —'पाथोजनाभ' ५० (२ छ, शब्दार्थ) देखिए। बनदाभ=वन (जल)+ द (दाता)+आभ (कान्ति)=जलदाभ=मेघोंकी कान्ति। वनचर= जलचर=मीन, मछली। वनचरध्वज=वारिचरकेतु; मीनध्वज; मछली जिसकी ध्वजाका चिह्न है।=कामदेव। सुकर=सुसाध्य; सुलभ; सहजमें प्राप्त होनेवाले। दुःकर=दुष्कर, कठिन, दुर्लभ, दुस्साध्य। दुराराध्य=जिसकी आराधना उपासना पूजा कठिन हो। यथा 'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।' दुर्व्यसन=बुरे विषयोंके प्रति आसक्ति। =वे कठिन दोष जो कामक्रोधादि विकारोंसे उत्पन्न हुये हों। ☞मनुजीने अठारह व्यसन गिनाये हैं। दस कामज (मृगया, जुआ, दिनका सोना, परनिन्दा, स्त्रीप्रसंग, मद्यपान, नृत्य, गीत, वाद्य और व्यर्थ इधर-उधर घूमना) और आठ क्रोधज (शेष सब व्यसन)। (श० सा०)। ब्रह्माजीने 'त्रिवर्ग' नामक ग्रन्थमें क्रोध और कामसे उत्पन्न होनेवाले दस प्रकारके उग्र व्यसन कहे हैं-'क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च। दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह। म० भा० शान्ति ५६।५६।' मृगया, द्यूत (जूआ), मद्यपान और स्त्रीप्रसङ्ग ये कामज हैं और वाणीकी कटुता, उग्रता, दण्डकी कठोरता, शरीरको कैद कर लेना, किसीको सदाके लिये त्याग देना और आर्थिक हानि पहुँचाना—ये छः क्रोधज हैं। —'वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च। आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च। श्लो० ६१।' मंत्रियोंके लक्षण कहते हुए भीष्मपितामहजीने कहा है कि सूत मन्त्री 'अत्यन्त भयङ्कर सात प्रकारके व्यसनोंसे बहुत दूर रहनेवाला हो,—'वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम्। म० भा० शान्ति ८५।११।'—त्रिवर्गमेंके उपर्युक्त चार कामज और 'पारुष्यं, उग्रत्वं तथा अर्थदूषणं' ये तीन क्रोधज सातकी गणनामें ले सकते हैं। दुर्व्यसनमें इन 'उग्र' एवं 'सुघोर' व्यसनोंका भाव है। वेदगर्भार्भकादभ्र=वेदगर्भ (ब्रह्मा) के अर्भक (पुत्र) का अदभ्र (अपार, बहुत अधिक)। यथा 'सुनु अदभ्र-करुना वारिजलोचन मोचन भय

भारी। ११३।' अर्वाक (सं० अव्यय)=पीछेका, इधरका।=निकट, समीप। अर्वाकपर=नवीन दूसरा। अथवा, अर्वाक=निर्वाक्=निरुत्तर (करनेका)। पुनः, अर्वाकपर=अर्वाक्+अपर=अपरा और परा विद्याओंका। (भ०)। निर्वापकर्ता=वीज सहित नाश करनेवाले; हरनेवाले। पुनः, वेदगर्भार्भक=ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं। अर्वाकपर=अवाप्तकाम होनेसे जिन्हें बोलनेको आवश्यकता नहीं पड़ती। तरल=चंचल; स्थिर न होनेवाली। तृष्णा=हवस। तमी=रात्रि। यथा 'निल तमीचर निकर पेरि डारे सुभट घालि घानी। २१।' वृंदारका=देवता। वंदारु=पूजनीय। मन्दार—स्वर्गके पाँच देववृक्षोंमेंसे एक यह भी है। मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष, और हरिचन्दन ये पाँच देववृक्ष हैं। यथा 'पंचेते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनः।' (अमरकोश)। भूलोकके बड़े मदारके फूलके भीतरकी घुण्डी वा कीलकी मालाभी वड़ी सुन्दर और मन्द-मन्द सुगंधयुक्त होती है, तव भला दिव्य मन्दारपुष्पमालाका कहनाही क्या '? सम्भवतः यह वृक्ष मदारके आकारका होगा, इसीसे मदारवृक्षकाभी नाम 'मंदार' है।

नोट—५ इस पदके शेष बहुतसे शब्द वेदान्त आदिके हैं, तथा वड़ी व्याख्या चाहते हैं। विना विस्तृत व्याख्याके भगवान्के गुणोंका यथार्थ वोध नहीं हो सकनेसे विनयके इन पदोंका आनंद पाठकको नहीं मिलता और वह इन्हें क्लिष्ट समझकर छोड़ देता है। यास्कमुनिरचित निरुक्तशास्त्र तथा भगवद्गुणदर्पणभाष्य आदिमें इन शब्दोंकी जो व्याख्या है, उसके अनुसार इन शब्दोंके भाव टिप्पणियोंमें लिखे गये हैं। वहुतसे शब्द पद ५३ में आचुके हैं।

पद्यार्थ—हे देव! आप जगत् प्रसिद्ध हैं, सारे विश्वके स्वामी हैं, विश्वमात्र आपका निवासस्थान है एवं आपही सारे विश्वके निवासस्थान (आश्रय) हैं, आप विश्वकी मर्यादा हैं और आपही गरुड़गामी हैं। आप ब्रह्म हैं, (ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि) वरदाताओंके स्वामी, वाणीके पति, सबमें व्याप्त (अन्तर्यामीरूपसे रहनेवाले), निर्मल, महान् वलवान् और मोक्षके स्वामी (अर्थात् मोक्षके देनेवाले और उसके मालिक) हैं। १। देव! प्रकृति, महत्तत्व, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध (इन्द्रियोंके विषय पंचतन्मात्रा), (सत्व, रज, तम) गुण एवं पंचभूतोंके गुण, (मन और इन्द्रियोंके) देवता,

आकाश, पवन, अग्नि (तेज), निर्मल जल (अर्थात् जलतत्व) और पृथिवी—(ये पंच महाभूत), बुद्धि, मन, (श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये पंच ज्ञानेन्द्रिय, तथा पद, कर, मुख, गुदा और शिश्न ये पंच कर्म इन्द्रियाँ, सब मिलकर दशों) इन्द्रियाँ, (हृदयमें प्राणवायु, गुदामें अपान वायु, नाभिमें समान वायु, कंठमें उदान वायु और सर्वशरीरमें व्यानवायु इति) पंचप्राण, चित्त, आत्मा, काल, परमाणु और सबसे गौरववाली श्रेष्ठ चित्‌शक्ति। २। व्यक्त (प्रकट कार्यरूप जगत्) और अव्यक्त (अप्रकट कारणरूप सूक्ष्मावस्था), निश्चयही यह सब, हे भूपालशिरोमणि! हे विष्णो!, भेदरहित आपका ही रूप है। हे सर्वविजेता! (सारा ब्रह्माण्ड, चौदहों) भुवन आपका अंग है। मंदाकिनी की उत्पत्तिके स्थान आपके युगल चरण कामारि महादेवसे वंदित हैं (अर्थात् श्रीशिवजी आपके चरणोंकी वन्दना करते रहते हैं)। ३। हे देव! हे भगवन्! ब्रह्मवादी सर्वगत ईश्वर-आपको आदि, मध्य और अन्त (तीनों कालों वा अवस्थाओं) में † इस प्रकार देखते हैं, जैसे कपड़ेमें सूत, घड़ेमें मृत्तिका, सर्प (वा, सर्पस्त्रग) में सर्प, लकड़ीके हाथीमें लकड़ी, और सोनेके कड़े और बाजूबन्द आदिमें सुवर्णको। ४। देव! आप गूढ़ हैं (अर्थात् ब्रह्मादिक तत्त्वज्ञभी आपका यथार्थ स्वरूप नहीं जान पाते ऐसे छिपे हुए तथा समस्त भूतोंके अन्तरात्मा हैं), गंभीर हैं (अर्थात् ऐसे शान्त और सौम्य हैं कि कोई आपकी थाह नहीं पा सकता) (रावणादिके) गर्वके नाशक और (आश्रितोंके) गुप्तधन तथा संरक्षणके सर्वोपायके ज्ञाता हैं; गुप्त (अर्थात् बहुतही छिपे हुए, माधुर्यमें ऐश्वर्यको छिपाये हुए) और इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर हैं। आप गुरु, ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय (जिसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जानने योग्य) हैं; ज्ञान आपको प्रिय है। आप प्रचुर महिमाके घर वा भण्डार हैं, भयंकर संसारसे परे हैं और जो घोर संसारमें लिप्त हैं उनको उससे पार करनेवाले हैं। ५। देव! आप सत्यसंकल्प हैं, कल्प (प्रलय) और महाकल्प दोनोंका अन्त

---

† 'आपही आदि हैं, आपही मध्य हैं, आपही अंत हैं। हे ईश! ब्रह्मवादी आपको'—इस प्रकारभी अर्थ हो सकता है। हमने टिप्पणीमें दोनोंके भावार्थ दिये हैं।

करनेवाले और कल्पनासे परे हैं (अर्थात् मन बुद्धिसे कोई आपका अनुमान नहीं कर सकता)। (पुरुषावतारसे) शेषशय्यापर निवास करनेवाले आपही हैं। आप कमलनयन, पद्मनाभ, मेघोंकी आभा (कान्ति) के समान श्याम कान्तिमान् शरीरवाले और करोड़ों कामदेवोंके समान सौन्दर्यशोभाकी राशि हैं। ६। देव ! आप (भक्तोंके लिये) सुसाध्य और (दुष्टोंके लिये) दुस्साध्य हैं *। आपकी आराधना कठिन है। आप बुरे विषयकी आसक्तिके हरनेवाले, दुष्प्रवेश्य, दुर्दमनीय, कठिन दुःखोंके निवारण करनेवाले † और श्रीसनकादिकके अपार निजगुणगर्व तथा ब्रह्माजीको अवाक् करनेके नवीन गर्वको जड़से नाश करनेवाले हैं ‡ (एवं ब्रह्मा आपके पुत्र हैं, पूर्णमनोरथ होनेसे आप अवाकी हैं और गर्वके हरनेवाले हैं)। ७ देव ! आप भक्तोंपर अनुकूल रहते हैं, भव (आवागमन) के क्लेशके निर्मूल करनेवाले हैं। पापरूपी रूईके लिये आपका नाम अग्निसमान है (अर्थात् सहजहीमें तुरंत सब पापोंको नष्ट कर देता है)। आप चंचल तृष्णारूपी रात्रिके लिये सूर्यरूप, पृथ्वीके धारण करनेवाले, शरणागतभयहारी और करुणाके अधिष्ठान हैं। ८ देव ! आपके पूजनीय चरणारविन्द समूह-देववृन्दोंसे वन्दनीय हैं (अर्थात् समस्त देववृन्द आपके चरणोंकी वन्दना किया करते हैं)। आप स्वर्गके मन्दारनामक देववृक्षके फूलोंकी माला धारण किये रहते हैं। हे ईश (अर्थात् जिसकी आज्ञाके अधीन समस्त जीव हैं) ! हे रावणारि ! सदा संतापसे परिपूर्ण आपका दास मैं तुलसीदास आपको प्रणाम करता हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। ९।

---

* अर्थान्तर—१ सुकर = रक्षा आदि सुखद कर्म करनेवाले। दुःकर = दुष्टोंके लिये दुःखद कर्म करनेवाले। (वै०)। २—आपकी आराधना बड़ी कठिनतासे पूरी होती है। (वि०)।

† तुम्हारी किलाबन्दीका तोड़ना कठिन है तो भी उस दुःखरूपी किलाके हर्ता हो। (सू० शु०)

‡ ब्रह्माके पुत्र सनकादिकको जिसे अपनी परा और वे अपरा विद्या का गर्व था, उसके खर्व करनेवाले भी आपही हैं। (वि०)। २—वेद-गर्भ-अर्भक = गायत्रीके सेवकोंके संचित गुणका गर्व व पहिले पीछेका गर्व नष्ट करते हो। (सू० शु०)।

नोट—६ इस पदमें जो स्तुति की-गई है, वह गीताके "ज्ञानयज्ञे चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुख ।९।१५।" में कही हुई उपासनाके अनुसार की गई है। श्लोकका अर्थ है कि "और दूसरे महात्मा ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा करते हुये भी बहु प्रकारसे पृथक् पृथक् रूपसे जगत्के आकारमें स्थित मुझ विश्वतोमुख परमेश्वरकी एकत्वभावसे उपासना करते हैं।"—अभिप्राय यह है कि नाम-रूपके विभागसे रहित अत्यन्त सूक्ष्म जड़चेतन-वस्तुमात्र जिसका शरीर है, ऐसे सत्यसंकल्प श्रीवासुदेव भगवान् ही 'मैं विवि नामरूपोंमें विभक्त स्थूल, जड़चेतन शरीरवाला होऊँ' इस प्रकारका सङ्कल्प करके वही एक देव मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर आदि नाम विचित्र जगत्को अपना शरीर बनाये हुए स्थित हैं; इस प्रकार समझनेवालोंकी उपासना के ढंगकी यह विनय है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि "सब अवस्थाओंमें स्थित जड़-चेतन प्रकृति-पुरुष ईश्वरके शरीर होनेके कारण उनके रूपमें परमपुरुष ही कार्यावस्थायुक्त और कारणावस्थायुक्त जगत्रूपमें स्थित हो रहा है। इसी अर्थको समझानेके लिए कितनी ही श्रुतियाँ कहती हैं कि 'कार्यरूप और कारणरूपसे स्थित समूचा जगत् वह परमपुरुष ही है"। विनयके प्रस्तुत पदमें श्रीरामजी ही इस रूपसे स्थित हैं।

टिप्पणी—१ 'विश्वविख्यात विश्वेस'..." इति। (क) 'विश्व विख्यात'—आजभी सुराज्यको 'रामराज्य' की उपमा दी जाती है। आदर्श मानव, मर्यादापुरुषोत्तम कहकर आजभी वे सर्वत्र पुकारे जाते हैं। उनका नाम जगत्भरमें प्रसिद्ध है। पद ४६ (७) के 'जयति जय भुवनदसचारि यश जगमगत पुन्यमय' का भाव 'विश्वविख्यात' में है।

१ (ख) 'विश्वेश' विश्वमात्रके स्वामी हैं, यथा 'तुम्ह ब्रह्मादिजनक जगस्वामी। १।१५०।३।', 'सुर नर मुनि सचराचर स्वामी। ३।१४।६।' पूर्व पद ४४ (३) में का 'विश्वोपकारी' विशेषण 'विश्वेश' होनेको प्रमाणित करता है। 'विडंवित करी विश्वबाधा' और 'लोक लोक किये रहित संका' ४३ (५,८) भी प्रमाण हैं।

१ (ग) 'विश्वायतन०' इति। सारे ब्रह्माण्डमें रहनेसे विश्वको घर कहा और सारे विश्वका निवास आपमें है, यथा 'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ।१।२०१।' मर्याद = सींवा; गौरव, प्रतिष्ठा।

विश्वमर्याद = विश्वकी सीमा वा हद एवं विश्वके गौरव। 'सीमा' में भाव यह है कि विश्वकी गति आपही हैं, जो आपतक पहुँचा उसने विश्वकी थाह पा ली। 'गौरव' का भाव कि अवतार लेकर आपही इसकी रक्षा करते हैं, धर्मसंस्थापन करते हैं, इसका गौरव आपही हैं और आपसे ही है। पुनः, 'विश्वमर्याद' अर्थात् विश्व आपहीमें प्रतिष्ठित है।—'एष सेतुर्विधरणः।' (बृह० उ०)। पुनः, विश्वको अपने आचरणसे मर्यादा (आदर्श) की शिक्षा देनेसे 'विश्वमर्याद' नाम है। यथा 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं। भा० ५।१६।५।' (अर्थात् आपका यह अवतार मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिए हुआ), 'स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरन्। भा० १०।६।५५।' (अर्थात् स्वयं गृहस्थाश्रमके धर्मका पालन करके औरोंको भी सिखलाते थे)।

१ (घ) 'व्यालारिगामी' इति। अमृत लिये जाते देख इन्द्रने गरुड़जीसे मित्रता कर ली। इन्होंने कहा कि मैं अमृत सर्पोंके पास रख दूँ, मेरी माँ दासित्वसे छूट जाय, तब तुम वहाँसे अमृत उठा ले जा सकते हो। इसपर इन्द्रने प्रसन्न होकर इनको वर दिया कि बड़े-बड़े सर्प तुम्हारे भक्ष्य हों। तभीसे व्यालारि, व्यालाद खग, पन्नगारि आदि गरुड़के नाम हुए।

☞ माताको दासित्वसे छुड़ानेके लिये अमृत प्राप्त करके भी स्वयं उसको न पिया, यह निर्लोभता देख भगवान् प्रसन्न हो गए और वर दिया कि तुम मेरी ध्वजामें रहो और बिना अमृत पिये ही अजर अमर रहो और गरुड़से कहा कि तुम मेरे वाहन बन जाओ। तभीसे भगवान् गरुड़गामी कहलाए।

१ (ङ) 'ब्रह्म वरदेश'–५२ (७ ग), ४३ (१ घ), ५३ (८ ग) देखिए। वरदाताओंमें मुख्य विधि, हरि, हर जो बड़े-बड़े वर देते हैं। कठिन तपका फल प्रायः ये ही दिया करते हैं। यथा 'विधिहरिहर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लुभाए। १।१४५' श्रीरामजी इनके भी स्वामी हैं। यथा 'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक ते एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। १।५४।७-८।'

'ईश' का भाव कि कठिनसे कठिन वर जो ब्रह्मादि दे देते हैं, उन वरदानोंकी लज्जा रखते हुए विश्वकी रक्षा अद्भुत शरीर धारण कर-

करके करते हैं। एवं जिनको त्रिदेव भी न लुभा सके उनको भी वर देनेवाले होनेसे 'वरदेश' नाम है। ५३ (८ ग) भी देखिए।

१ (च) 'बागीश' इति। वागीश=वाक्+ईश=वाक्पति। 'ईश' अर्थात् स्वामी, इष्टदेव, प्रेरक वा अधिष्ठाता। श्रीरामजी वाणीके स्वामी, इष्ट और प्रेरक हैं। यथा 'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी। १।१०५।४।', 'व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। ७।५८।७।', 'देव वरद वनदाभ बागीस बिश्वात्मा···। ५६।', 'जेहिपर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी। १।१०५।६।', 'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई। १।११।४।'

☞ महाकवि हर्षने नैषध (सर्ग ११।६६) में सरस्वतीको विष्णु-पत्नी लिखा है। यथा 'देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।' (अर्थात् जिसने विष्णु भगवान्का वामभाग पवित्र किया है, वह वाग्देवी दम्यन्तीजीसे बोली)। इसपर सरस्वतीके रुष्ट होनेपर महाकविने उत्तर दिया—'किमर्थं एकस्मिन्नवतारे नारायणं पतिं चकृषे त्वं, पुराणेष्वपि विष्णुपत्नीति पठ्यसे। ततः सत्ये किमिति कुप्यसि॥' अर्थात् एक अवतारमें सरस्वतीने भगवान्को पति बनाया है, ऐसा व्यासजीने लिखा है, तब तुम मुझसे क्यों कुपित होती हो।

ब्रह्मवैवर्त ब्रह्मखण्ड अ० ३ में एक कल्पमें सरस्वतीका जन्म परमात्माके मुखसे होना लिखा है और प्रकृतिखण्डमें इनको भगवान्की स्त्रीभी कहा है। गंगाके शापसे ये मर्त्यलोकमें अपने एक अंशसे सरस्वती नदी और एक अंशसे ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माकी स्त्री हुईं।—'लक्ष्मीः सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्या हरेरपि।२।६।१७।'

विष्णु स० ना० में भी दोनों अर्थोंके बोधक दो नाम, 'सर्ववागीश्वरेश्वरः' (अर्थात् ब्रह्मा आदि सभी वागीश्वरोंके भी ईश्वर) और 'वागीश्वरीपतिः' (अर्थात् वाणीकी अधीश्वरी सरस्वती देवीके स्वामी), आये हैं। अतः दोनों अर्थ संगत हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजी 'ब्रह्म वरदेश वागीश' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'ब्रह्मवरद' = वेद वरदेनेवाले अर्थात वेद पढ़ानेवाले। 'वागीश' = हयग्रीव। यथा 'वागीशाख्या वासुदेवस्य मूर्त्ती।' (श्रीहयग्रीवस्तोत्र)।

अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि "वागीश" (सरस्वतीजीके पति ब्रह्मा) को ब्रह्म (वेद) रूपी वर देनेवाले स्वामी।"

१ (छ) 'विपुल वलवान', यथा 'मरुत कोटिसत बिपुल बल ७।६१।' कैसा ही दुर्घट कार्य क्यों न हो, उसके करनेमें श्रम न होना 'विपुल वल' का चिह्न है।—'वलमप्रमेयं।' जो पद ५० (१) में कहा है, वही यहाँ 'बिपुल बल' से जनाया।

.१ (ज) 'निर्वाण स्वामी' इति। मोक्षके मालिक हैं, अर्थात् मुक्तिके दाता एकमात्र आपही हैं। यथा 'साधक सिद्ध विमुक्त उदासी। कवि कोविद कृतज्ञ सन्यासी। जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्म निरत पंडित विज्ञानी॥ तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी।७।१०४।' देखिए, कैसे मोक्षदाता हैं कि स्वयं तो अवधके सभी प्राणियोंको, कीटपतंगादि तकको अपने साथ अपने धामको ले गए। (वाल्मी० ७। सर्ग १०६-११०)। और, अब भी पुरवासियोंको अपना धाम देते हैं। यथा 'मम धामदापुरी सुखरासी।', 'अवध तजे तन नहिं संसारा।' भक्ति करनेवालेको सर्वत्र मोक्ष देते हैं।

२ (क) 'प्रकृति महतत्त्व शब्दादि गुन देवता···' इति। भगवान्के द्वारा प्रेरित होकर प्रकृति समस्त चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। (गीता ९।१०)। जगत्की कारणरूपा यह प्रकृति, (गन्ध आदि गुणोंवाले) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशके रूपमें तथा मन (आदि इन्द्रियोंके रूपमें) और महत्तत्व एवं अहङ्कारके रूपमें—इस प्रकार आठ भेदोंमें विभक्त है। (गीता ७।४)। प्रकृति स्वभावसे ही गुणमयी है। यह सत्व, रज, तम गुणों तथा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, और शब्दादि विकारोंको उत्पन्न करती है।

२ (ख) ज्ञानेन्द्रियोंके (आकाशादि भूत) तथा ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके अध्यात्म, अधिभूत (विषय) और अधिदैवत (अधिष्ठातृदेवता)।

ज्ञानेन्द्रिय

भूत	अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत
आकाश	श्रोत्र	शब्द	दिशाएँ
वायु	त्वचा	स्पर्श	विद्युत (वायु)
तेज	नेत्र	रूप	सूर्य
जल	रसना	रस	चन्द्रमा (जल)

पृथ्वी	नासिका	गंध	वायु (पृथ्वी)

कर्मेन्द्रिय

भूत	अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत
आकाश	वाक्	वक्तव्य	अग्नि
वायु	दोनों हाथ	कर्म (कर्तव्य)	इन्द्र
तेज	दोनों पैर	गन्तव्य स्थान	विष्णु
जल	उपस्थ	वीर्य (मैथुनजनित आनन्द)	प्रजापति
पृथ्वी	गुदा	मलत्याग	मित्र

☞ यह म० भा० आश्व० ४१ और शान्ति० ३१३ के अनुसार है। कोष्टकभेद शान्ति पर्वमें है। वैजनाथजीके मतानुसार श्रव (श्रोत्र), रसना, नासिका और गुदाके देवता क्रमशः आकाश, वरु अश्विणीकुमार और यमराज हैं।

'गुण' इति। गुणों (सत्त्व, रज, तम) के स्वरूप ५३ (६ ग) और उनकी वृत्तियाँ ४६ (७ घ, ङ और शब्दार्थ) में देखिए। व्योम, मरुत्, अग्नि, अंबु और उर्वी पंचभूत आकाशादिके ही पर्याय शब्द हैं। शब्दादिको अधिभूत, तन्मात्रायें और विषय भी कहते हैं। इनक ग्रहण इन्द्रियद्वारा होता है जिसे अध्यात्म कहा है। इन्द्रियोंके देवता होते हैं, यथा 'इंद्रियद्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना। ७।११८।' इन्हींको अधिदैवत कहा है। 'शब्दादि' के 'आदि' से स्पर्श, रूप, रस और गन्धका ग्रहण हो गया।

'अमलांबु'—'अमल' विशेषणको पिछले तीन 'व्योम, वायु, अग्नि' और आगेके 'उर्वी' के साथ भी समझना चाहिए। 'अमल' शब्द देकर यहाँ सूक्ष्म पंचभूतोंका ग्रहण जनाया। इन्द्रियगोचर स्थूल पंचभूतसे यहाँ तात्पर्य नहीं है।

पचभूतों तथा तन्मात्राओं आदिके गुण भा० ३।२६ तथा म० भा० शान्तिपर्वमें दिये हैं। यहाँ उनके लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

✓ 'उर्वी'=पृथ्वी। पृथ्वीका नाम 'उर्वी' पड़नेका कारण श्रीकृष्णजी ने यह बताया है कि जब परशुरामजीने पृथ्वी कश्यपजीको दे दी और कश्यपजीने उसे ब्राह्मणोंको सौंप दिया, तब कोई बलवान् रक्षक न रह जानेसे अराजकता फैल गई। पापियोंके अत्याचारसे पृथ्वी रसातलकी ओर भागने लगी। भयके मारे उधर भागती हुई देखकर महामनस्वी कश्यपने अपने उरुओंका सहारा देकर उसे रोक दिया।

इससे पृथ्वीको धारण करनेसे वह 'उर्वी' नामसे प्रसिद्ध हुई।—'धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता।' (म० भा० शान्ति ४९.७३)।

नोट—७ 'बुद्धि मन इंद्रिया प्राण चित्तात्मा काल···' इति। (क) कोई महत्तत्वको ही चित्त और कोई उसीको बुद्धि कहते हैं। परन्तु इस पदमें ये तीनों शब्द आये हैं, अतः ये तीन पृथक्-पृथक् तत्व ज्ञान पड़ते हैं। (ख) मन, बुद्धि और चित्त आदिके भेद इस प्रकार हैं–

(१) मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चारके रूपमें एकही अन्तःकरण अपनी (संकल्प, निश्चय, चिन्तन और अभिमानरूप) चार प्रकारकी वृत्तियोंसे लक्षित होता है। यथा 'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्। चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया। भा० ३ २६।१४।' (कपिलवाक्य)।

(२) चिन्तन मनका और निश्चय बुद्धिका लक्षण है; क्योंकि मनुष्य इस जगत्‌में मनके द्वारा चिन्तन की-हुई वस्तुओंका बुद्धिसे ही निश्चय करते हैं, निश्चयके द्वारा ही बुद्धि जाननेमें आती है। (म० भा० आश्व० ४३।२४-२५'। हृदयमें स्थित चेतन (आत्मा) मनके कार्यमें सहायता करता है। निश्चय द्वारा बुद्धिका और ज्ञानद्वारा महत्तत्वका ग्रहण होता है। इनके कार्योंसे ही इनकी सत्ताका निश्चय होता है—'बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा। निश्चित्य ग्रहणाद् व्यक्तमव्यक्तं नात्र संशयः। श्लो० ३५।'

(३) वैकारिक अहंकारके विकृत होनेपर उससे 'मन' उत्पन्न हुआ, जिसके संकल्पविकल्पोंसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। फिर तैजस् अहंकारमें विकार होनेपर उससे 'बुद्धितत्व' हुआ। बुद्धिकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके कारण पदार्थोंके स्फुरणका ज्ञान, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग करा देना, संशय, विपरीत ज्ञान, निश्चय, स्मृति और सुषुप्ति—ये इस बुद्धिके लक्षण कहे गए हैं। (भा. ३।२६। २७, २९।) ❀

❀ योग, वैराग्य, स्मरण, ज्ञान, विज्ञान, उच्चाटन चित्तके; जप, यज्ञ, तप, त्याग, आचार और अध्ययन बुद्धिके; कर्म, अकर्म, विकर्म, नियम, संकल्प, विकल्प मनके; और मान, क्रोध, ईर्ष्या, पारुष्य, अहिंसा और दृढ़ वैराग्य अहंकारके विभाग वा धर्म हैं। (वि०, दीनजी)।

टिप्पणी—२ (ग 'इंद्रिया'—यह प्राकृतभाषाके अनुसार 'इन्द्रिय' का बहुवचन है। इन्द्रिया=इन्द्रियाँ। जैसे 'बिषया'=विषयों, उपाया=बहुतेरे उपाय। यथा 'बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती ।७।१०१।११', 'बहु कल्प उपाया करि अनेकु। बिनु संभु कृपा नहिं भो बिवेकु ।१३', 'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ।७।७८।८।' इन्द्रियोंके नाम ऊपर टि० २ (ख) में आचुके हैं। इन्द्रियाँ तैजस अहंकरकी कार्य हैं। कर्म और ज्ञानके विभागसे उनके दो भेद हैं—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। उनमें कर्म प्राणकी शक्ति है और ज्ञान बुद्धिकी। (भा० ३।२६।३१)

२ (घ) 'प्राण' इति। 'पंचाच्छरी प्रान' २२ (७) देखिए। प्राण भी तैजस अहंकारका ही कार्य है और बुद्धिभी; किन्तु बुद्धि ज्ञानशक्तिरूपा और प्राण क्रियाशक्तिरूप है, ज्ञान बुद्धिकी शक्ति है और कर्म प्राणकी शक्ति है। यह भेद है। (भा० २।५।३२, ३।२६।३१)। प्राण पाँच हैं, पाँचों वायुके विकार हैं। उनके कार्य इस प्रकार हैं—प्राणवायुके द्वारा मनुष्य एक स्थानसे दूसरे पर जाता है, व्यानवायुसे बलपूर्वक होनेवाला कार्य करता है। अपान शरीरमें ऊपरसे नीचेको ओर जाता है। समान हृदयमें स्थित है और उदानसे मनुष्य उच्छ्वास लेता है तथा कण्ठ-तालू आदि स्थानभेदसे शब्दोच्चारण करता है। इस प्रकारसे ये पाँचों वायु प्रत्येक देहधारीसे भिन्न-भिन्न क्रियायें कराते हैं। (शान्ति-पर्व भृगु-भरद्वाजसंवाद)।

२ (ङ) 'चित्तात्मा' इति। चित्तात्मा = चित्त + आत्मा। 'आत्मा' के अर्थमें बहुत मतभेद है। भगवान् कपिलदेवने चौबीस तत्व ये गिनाये हैं—पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायें, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, दश कर्मज्ञानेन्द्रिय। यह समूह प्रकृतिरूप ब्रह्मका कार्य होनेसे प्राकृत कहलाता है। इसके सिवा 'काल' को पच्चीसवाँ तत्त्व कहा है। जिनकी प्रेरणासे गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृतिमें गति उत्पन्न होती है, वे भगवान् 'काल' कहलाते हैं। (भा० ३।२६।११, १५, १७)।

गोस्वामीजीने इन चौबीसमेंसे केवल 'अहंकार' तत्वको स्पष्ट नहीं लिखा, पचीसवें 'काल' को भी लिखा है। कपिलदेवजीकी गणनाकी पूर्तिके लिये 'चित्त' के साहचर्यसे 'चित्तात्मा' के 'आत्मा' से यहाँ 'अहंकार' अर्थ ग्रहण करना होगा। पं० रामकुमारजीने यही अर्थ किया है।

भगवान्‌ने २८ तत्व गिनाये हैं--पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पंचभूत (ये नौ करण), पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, (ज्ञान तथा कर्मरूप) मन (ये ग्यारह), पंचतन्मात्रायें और (सत्व, रज, तम) तीन गुण। गोस्वामीजीकी गणनामें 'पुरुष' और 'अहंकार' के सिवा शेष २६ स्पष्ट आये हैं। भगवान्‌की गणनाकी पूर्तिके लिये हमें चित्तके साहचर्यसे 'आत्मा' का 'अहंकर' अर्थ लेना होगा और 'काल' को भगवान्‌ने 'पुरुष' माना है। 'आत्मा' शव्द जीव और परमात्मा दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, इससे 'आत्मा' के यदि 'अहंकार और पुरुष (जीव)' दोनों अर्थ कर लें, तो भी संगति बैठ जाती है।

वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते हैं कि 'जीवात्माके कोश होनेसे 'आत्मा' शव्दसे कहा गया।'

२.च) 'काल' इति। एक अर्थ तो ऊपर कहा गया कि जिनकी प्रेरणासे प्रकृतिमें गति उत्पन्न होती है, वे ही भगवान् 'काल' कहलाते हैं। "कुछ लोग कालको 'पुरुष' का प्रभाव अर्थात् उसकी संहारकारिणी शक्ति वताते हैं। देहादिमें आत्मत्वका अभिमान करके अहंकारसे मोहित और अपनेको कर्ता माननेवालेको निरन्तर इस 'काल' का भय रहता है।" (भा० ३।२६।१७-१८)।

सात्त्विक, राजस और तामस जितने भी भाव हैं, वे सव कालकी प्रेरणासे प्राणियोंको प्राप्त होते हैं। मृत्यु भी कालका हुक्म वजाती है। काल मनुष्यके कर्मोंका अनुसरण करता है।' (महाभा० अनु० मृत्यु वाक्य)। शान्तिपर्वमें व्यासजी शुकदेवजीसे कहते हैं-"सृष्टिके प्रारम्भमें अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य, अजर-अमर, अविकारी, अतर्क्य और ज्ञानातीत ब्रह्म ही था—वह कालस्वरूप है। कालके कला, काष्ठा आदि जितने भी भेद हैं, वे सब उसीके अवयव हैं।' काल भी भगवान्‌की एक विभूति है। अनर्थ प्राप्ति करानेकी इच्छासे जो जीवोंकी आयुकी गुणना करते हैं, उनमें भगवान्‌ने अपनेको 'काल' वताया है। यथा 'कालः कलयतामहम्। गी० १०।३०।' भगवान्‌का परम ऐश्वर्यरूप देखकर अर्जुनने पूछा कि 'उग्ररूपधारी आप कौन हैं और इस घोररूपके प्रकट करनेमें आपका क्या अभिप्राय है?', भगवान्‌ने उत्तरमें कहा है कि मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ, लोकोंका संहार करनेके लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ।-कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। गीता ११।३२।'

२ (छ) 'परमाणु' इति । 'चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा। परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः । भा० ३।११।१ ।' अर्थात् जो कार्यरूप पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंका अन्तिम भाग है (जिसका कोई और विभाग नहीं हो सकता) तथा कार्यावस्थाको अप्राप्त, असंयुक्त एवं नित्य है, उसे 'परमाणु' जानना चाहिए। उनके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्यको भ्रमवश साकार वस्तुकी प्रतीति होती है।

नैयायिकोंका मत है कि दरवाजेकी दरारसे जो सूर्यकिरणें छन-कर जाती हैं, उनमें उड़ते हुए जो सूक्ष्मतम कण दिखाई देते हैं उनका साठवाँ भाग 'परमाणु' कहलाता है—'जालान्तर्गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । तस्य षष्ठितमो भागो परमाणुर्विधीयते ॥'

२ (ज) 'चिच्छक्ति गुर्वी' इति । अर्थात् श्रेष्ठ चित्‌शक्ति । ब्रह्मकी वह शक्ति, वीर्य, वा बीज जो वे जीवोंके अदृष्टवश क्षोभको प्राप्त हुई गुणोंकी साम्यावस्थारूपिणी अव्यक्त प्रकृतिमें स्थापित करते हैं, जिससे तेजोमय महत्तत्व उत्पन्न होता है, वही 'चित् शक्ति' है। यथा 'दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परःपुमान् । आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् । भा० ३।२६।१९।'

पुनः, चिच्छक्ति = वह चेतनाशक्ति जिसको चराचरमें डालकर भगवान् इस संसारको चेतन बनाते हैं। यथा 'त्वत्तो जातं पुराणाद्यं जगत् स्थास्नु चरिष्णु च । चेतनाशक्तिमाविश्य त्वमेनं चेतयस्यहो। प० पु० पाताल० २२।३० ।'

पुनः, गीतामें अपनी विभूतियोंको गिनाते हुए भगवान्‌ने कहा है कि 'भूतानामस्मि चेतना ।१०।२२ ।' अर्थात् चेतनायुक्त भूतोंकी जो चेतना है वह मैं हूँ। (शाङ्करभाष्यकारका मत है कि कार्यकारण-के समुदायरूप शरीरमें सदा प्रकाशित रहनेवाली जो बुद्धिवृत्ति है उसका नाम चेतना है।)

अग्निमें जलानेकी, जलमें डुबानेकी, खड्गमें काटनेकी तथा इसी तरह सब जड़ चेतनोंमें जो जिस कार्यकी शक्ति है, वह प्रभुकी ही शक्ति है। इसे 'चित् शक्ति' कह सकते हैं।

[श्रीकान्तशरणजीका मत है कि 'यहाँ चित् शक्तिसे परमात्मा की वह शक्ति कही गई है, जिसके कारण प्राणियोंको दुःख-सुखका अनुभव होता है एवं निर्जीव जड़ पदार्थोंसे उनकी विलक्षणता सिद्ध होती है।]

अ० रा० ६।१४।२४ में भी 'चिच्छक्ति' शब्द आया है। वहाँ बताया है कि श्रीरामजी अपनी इस चित् शक्तिसे सबके साक्षी हैं। यथा 'चिच्छक्त्या सर्वसाक्षिकः।'

टिप्पणी—३ 'देव सर्वमेवात्र त्वद्रूप...' इति। (क) "सर्वमेवात्र (सर्व-एव-अत्र अर्थात् यह सब और अन्य सभी) व्यक्ताव्यक्त" कथनसे स्पष्ट है कि 'प्रकृति' से लेकर 'चिच्छक्ति गुर्वी' तक जो कुछ कहा गया है वह सब व्यक्त और अव्यक्तमें आ गया। जो गोचर है वह सब व्यक्त और जो अगोचर है वह सब अव्यक्त है। इन दोनोंका समुदाय व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय कहा गया है। यथा 'महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाश्रयात्। ४४। इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा। इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः। ४५। सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः। चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः। ४६।' (म० भा० शान्ति० ३२९ श्रीनारदशुकसंवाद)। अर्थात् पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, महत्तत्त्व, पंचप्राण और सत्त्व-रज-तम गुण इन सत्रहके समुदायको अव्यक्त कहते हैं। इनके साथ मन, अहंकार और इनके आश्रय इन्द्रियोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन सब विषयोंको मिलानेसे जो चौबीस तत्त्वोंका समूह होता है उसे व्यक्ताव्यक्तसमुदाय कहते हैं।

३.(ख) 'त्वद्रूप'—ये सब पृथक्-पृथक् भी और इनका समुदाय ब्रह्माण्ड भी आपका रूप है। यथा "खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः। भा० ११।२।४१।", (अर्थात् आकाश, अग्नि, जल, पृथिवी, वायु, तेज, जीव, दिशा, लता, वृक्षादि, नदी, समुद्र तथा और भी जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का शरीर है। अतः अनन्य भावसे उन सबमें हरिको प्रणाम करना चाहिए); 'त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः, प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च। सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्, नान्यत्त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्। भा० ७।९।४८।' (श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—हे भूमन्! वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, जल, पंचतन्मात्रा, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकाररूप संपूर्ण जगत् तथा सगुण निर्गुण सब एकमात्र आप ही

हैं। अधिक क्या, जितने भी पदार्थ मन या वाणीके विषय हैं, उनमेंसे कोई भी आपसे पृथक् नहीं है)।

अन्तर्यामीका निरूपण करती हुई श्रुति भगवती भी उपर्युक्त सबको ब्रह्मका शरीर कह रही है। यथा 'यस्य पृथिवी शरीरं···।३।', 'यस्यापः शरीरं। ४।', 'यस्याग्निः शरीरं···। ५।', 'यस्यान्तरिक्षं शरीरं। ६।', 'यस्य वायुः शरीरं। ७।', 'यस्य द्यौः शरीरं। ८।', 'यस्य आदित्यः शरीरं।९।','यस्याकाशः शरीरं।१२।','यस्य तमः शरीरं।१३।', 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं। १५।', 'यस्य प्राणः शरीरं। १६।', 'यस्य वाक् शरीरं। १७।', 'यस्य चक्षुः शरीरं। १८।', 'यस्य श्रोत्रं शरीरं। १९।', 'यस्य मनः शरीरं। २०।', 'यस्य त्वक् शरीरं। २१।', (बृ० अ० ३, ब्रा० ७)।—सब प्रभुका शरीर होनेसे प्रभुका रू कहा गया। प्रभु सबके भीतर रहकर सबका नियमन करते हैं।

व्यक्त और अव्यक्त सब आपका शरीर है, आपही समष्टिरू हैं और व्यष्टिरूप भी हैं; व्यक्तस्वरूप भी हैं और अव्यक्त भी। यथा- 'स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः। वि० पु० ६।५ ८६।', 'व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्वं समष्टिव्यष्टिरूपवान् वि० पु० ५।१।४६।'

नोट—८ नानात्वका भ्रम हो जानेपर ही 'यह गुण है', 'यह दोष है' इस प्रकारकी कल्पना होती है। जो गुणबुद्धि और दोषबुद्धिसे ऊपर उठ गए हैं, उनको समस्त प्रतीयमान विश्व श्रीरामरूपही देख पड़ता है। मानसमें भी कहा है—'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। कि० ३।', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७.११२।', 'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखियहिं देखिअ सो अविवेक। ७।४१।', 'सातँव सम मोहि मय जग देखा। ३।३६।३।' प० पु० सृष्टि ३६।१३४-१३५ में भगवान्ने मार्कण्डेयजीसे कहा है—'यत्किञ्चित्पश्यसे विप्र यच्छृणोषि च किंचन। यच्चानुभवसे लोके तत्सर्वं मामनुस्मर।'. देखा, सुना एवं अनुभव सब मेरा ही स्वरूप समझो।

टिप्पणी—३ (ग) 'भूपालमणि' इति। 'रुचिर रूप भूपालमणिं नौमि रामं।' ५३ (१ छ) देखिए। यह विशेषण देकर जनाया कि सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म, निर्गुण-सगुण दोनोंसे परे ब्रह्म, सबमें साक्षीरूपसे व्याप्त, सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्म, स्थूलचिदचिद्विशिष्ट

ब्रह्म, अद्वैत, एक और अद्वितीय ब्रह्म, सांख्यशास्त्रप्रतिपादित ब्रह्म, संपूर्ण दर्शनशास्त्रप्रतिपादित ब्रह्म, वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्म इत्यादि-इत्यादि सब दशरथात्मज राम आप ही हैं। मिलान कीजिये (हनु० ना० १।३,४)—

"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥
तं रामं रावणारिं दशरथतनयं लक्ष्मणाग्र्यं गुणाढ्यं,…"

३ (घ) 'गत भेद' इति। व्यक्त और अव्यक्त सभीको प्रभुका रूप कहनेसे प्रभुमें भी व्यक्ताव्यक्तके विकारोंका संदेह होता, अतः 'गत भेद' से विकारका निराकरण किया। इसका भावार्थ ऊपरकी टिप्पणियोंमें आ गया। औरोंने जो अर्थ दिये हैं वे यहाँ लिखे जाते हैं।—

(१) भा० १०।६३।३८ के 'एक' 'अद्वितीय' के अर्थको समझाते हुये भागवतांकमें भगवान्को "स्वजातीय, विजातीय और स्वगत तीन प्रकारके भेदोंसे रहित बताया है। ब्रह्मकी कोई जाति नहीं है और वह सभीमें है, इसलिये उसका किसीसे विजातीय संबंध नहीं कह सकते। स्वगत संबंध वह है जैसा शरीरके अवयवोंमें परस्पर संबंध होता है; जैसे मुख और हाथपैरका। ब्रह्म यह भी संबंधरहित है।" (भागवतांक)।

(२) भट्टजी अर्थ करते हैं—"हे राजाओंके मणि! तुम प्रगट हो, तुम ही अप्रगट हो, तुम भेद (अनेक बुद्धि) करके रहित हो।"

(३) "आप प्रकट (स्थूलचिदचिद्विशिष्ट) और अप्रकट (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट) अवस्थामें भेदरहित (एकरस, अद्वैत) भावसे स्थित रहते हैं।" (श्री० श०)।

(४) आप अभेदरूपसे सबमें रम रहे हैं (वि०)

☞ मिलान कीजिये—'सकल बिकाररहित गतभेदा।२।६३।८।' विशेष ३ (ङ) में देखिए।

३ (ङ) 'विष्णो' इति। यह सम्बोधन भी यहाँ सार्थक है। 'सर्वमेवात्र त्वद्रूप' और 'गतभेद' के संबंधसे यह गुणवाचक नाम दिया गया। विष्णुका अर्थ है 'व्यापक'। चराचरमें व्याप्त होनेसे सबको प्रभुका रूप कहा, इस भावको दर्शित करानेके लिये 'विष्णो' संबोधित

किया। भाव यह कि 'चाहे गुणमयी वस्तु हो चाहे दोषमयी, चाहे बुरी, गन्दी, घृणित हो, चाहे सुन्दर, भली, मनोरम हो सभीमें आपका निवास हो रहा है, एक समान सबमें हैं। अतः सब आपका ही रूप है।'

पुनः, "संपूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान, समस्त आकाश और पृथिवीको व्याप्त कर रखनेवाले, सबसे बढ़कर कान्तिमान होनेसे तथा इससे कि समस्त प्राणी अन्तमें आपको ही प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं और सबका अतिक्रमण करके आपके ही स्थित रहनेसे आपका नाम 'विष्णु' है। यथा 'गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत। व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम। ४२। अधिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत। क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः। ४३।' (म० भा० शान्ति ३४१)।

['विच्छ गतौ' (तुदादि), 'विच्छ दीप्तौ' (चुरादि), 'विषु सेचने' (भ्वादि), 'विष्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादि), 'विश प्रवेशने' (तुदादि), 'ष्णु प्रस्रवणे' (अदादि)—इन सभी धातुओंसे 'विष्णु' शब्दकी सिद्धि होती है। अतः गति, दीप्ति, सेचन, व्याप्ति, प्रवेश तथा प्रस्रवण—ये सभी अर्थ 'विष्णु' शब्दमें निहित हैं। ('राम')]

टिप्पणी—३ (च) 'भुवन भवदंग···' इति। भुवन चौदह हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, अतल, वितल, रसातल, सुतल, तलातल, महीतल और पाताल।—पद ४४ श० देखिए। चौदहों लोक आपके अंग हैं। यथा 'लोक कल्पना वेद कर अंग-अंग प्रति जासु। ६। १४। पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग-अँग बिश्रामा॥···' अध्यात्म रा० ३।९।३६-३९। में भी ऐसा वर्णित है। यथा 'त्वमेव सर्वकैवल्यं लोकास्तेऽवयवाः स्मृताः। पातालं ते पादमूलं पार्ष्णिस्तव महातलम्। ३६। रसातलं ते गुल्फौ तु तलातलमितीर्यते। जानुनी सुतलं राम ऊरू ते वितलं तथा। ३७। अतलं च मही राम जघनं नाभिगं नभः। उरः स्थलं ते ज्योतींषि ग्रीवा ते मह उच्यते। ३८। वदनं जनलोकस्ते तपस्ते शङ्खदेशगम्। सत्यलोको रघुश्रेष्ठ शीर्षण्यास्ते सदा प्रभो। ३९।'—इसमें सब भुवनोंको और अंगोंको दिखाया है, अर्थ सरल है। ❀

❀ 'भवदंश' पाठका अर्थ होगा कि ब्रह्माजी आपके अंशसे उत्पन्न हैं, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।', "सो

३ (छ) 'कामारिवंदित पदं द्वंद मंदाकिनीजनक···' इति। 'केशवंद्यं पदद्वंद मंदाकिनीमूलभूतं।' ४६ (५ ख, ग) में देखिए। यहाँ 'भुवन भवदंग', 'कामारिवंदित···' और 'जिष्णो' को एक साथ कहनेसे वामनावतार लेनेवाले भी सूचित किया। चौदहों भुवनोंको दो ही पैरमें आपने नाप लिया, चरणनखस्पर्शसे गंगाजी हुईं, जिनको शिवजीने अपने सिरपर धारण किया। तीनों लोक इन पैरोंसे जीतकर बलिके बैरी देवताओंको दे दिया। अतः 'जिष्नो' (सर्वविजेता) संबोधन दिया। पद ५२ (५) 'वामन ब्रह्मभुवनपर्जंत पदतीनिकरनं, चरननखनीर त्रैलोक्य पावन परम' में कथा आ चुकी है। 'त्रिविक्रमः' श्रीरामका एक नाम भी है।

'जिष्णु' भी भगवान्‌का एक नाम है। इसका अर्थ है 'सबको जीतनेवाला।' भा० ११।४ में योगीश्वर द्रुमिलजीने अवतारोंका वर्णन करते हुये राजा निमिसे कहा है कि सीतापति श्रीराम सदा विजयी हैं—'सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः। २१।' अष्टोत्तरशतनामोंमेंसे 'जैत्रः' (विजयशील) श्रीरामका एक नाम ही है,—'जानकीवल्लभो जैत्रो जितामित्रो जनार्दनः।' (प० पु० उ० २८१।३१)।

टिप्पणी—४ 'देव आदि मध्यांत भगवंत त्वं···' इति। (क) आप ही आदि, मध्य, अन्त हैं तथा सबके आदि-मध्य-अन्तमें सदा

भुवनोंको उत्पन्न करते हैं; अतएव भुवन आपके अंशके अंशका अंश हुआ। अथवा, भगवान्‌की महिमाके दससहस्र भागोंमेंसे एक भागके फिर दसहजार भाग करनेपर बचे हुये अंशमात्रसे समस्त विश्वशक्तिकी स्थिति होनेसे भुवनको अंश कहा। 'यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता। वि० पु० १।६।५३।' गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि इस संपूर्ण जगत्‌को मैं अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हूँ।—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। गीता १०।४२।' वेदमंत्र भी कहते हैं कि समस्त भूत परमेश्वरका एक पाद है—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि। तै० आ० ३।१२।' [श्रीकान्तशरणजीका मत है कि उपर्युक्त व्यापकत्वपर यह जाननेकी आवश्यकता हुई कि जगत्‌को उस ब्रह्मसे क्या संबंध है, अतः कहते हैं कि ब्रह्माण्ड आपका अंश है।···अंश=भाग। जो वस्तु जिसके भागकी होती है, उसे उसीके लिये रहना चाहिए। अंश अपने अंशीके लिये रहता है। वैसे ही जगत्‌को श्रीरामजीका भोग्यभूत बनकर रहना चाहिए, तभी वह शुद्ध रहता है।]

देखे जाते हैं, आपकी साहिबी, आपका स्वामित्व आदि-मध्य-अंत सबमें देखा जाता है।

किसके आदि, मध्य और अन्त हैं? वही जिनका ऊपर उल्लेख कर आये हैं—'प्रकृति महत्तत्व' से लेकर 'भुवन भवदंग' तक सारी सृष्टिके, सारे जगत् के आप आदिमध्यान्त हैं। यथा 'अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परंतप।', 'अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।' (वाल्मी० ६।११७।६,१४)। ब्रह्माजी कहते हैं—'हे परंतप! आदि, मध्य और अन्तमें भी आपही दिखाई देते हैं। आप अविनाशी ब्रह्म हैं। सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें सत्यरूपसे विद्यमान हैं। 'दृश्यसे सर्वभूतेषु। श्लो० २०।' सब प्राणियोंमें आपही दिखाई देते हैं। पुनश्च 'आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये। भा० ११।२८।१८।' (अर्थात् जो इस जगत्के आदि और अन्तमें है वही मध्यमें है, जगत् उससे अलग नहीं, क्योंकि अपने प्रकाशक और कारणसे पृथक् वह अपनी सत्ता नहीं रख सकता)। तथा च 'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी। ७८ (३)।'

गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि सर्गोंका अर्थात् जिनका सृजन किया जाय उनका आदि मध्य अन्त मैं ही हूँ—'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।१०।३२।' इसके 'आदि अंत मध्य' के अर्थ भाष्यकारोंने ये कहे हैं।—(१) ''सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मैं हूँ।' (श्रीशाङ्करभाष्य)। (२) सर्गोंका आदिकारण मैं हूँ। सदा सृजन किये जानेवाले सब प्राणियोंके जो भिन्न-भिन्न स्थानोंपर पृथक्-पृथक् स्रष्टा हैं, वे स्रष्टा मैं ही हूँ। इसी प्रकार अन्त हूँ (अर्थात्) सदा नष्ट होनेवालोंके जो पृथक्-पृथक् संहार करनेवाले हैं, वे भी मैं ही हूँ। मध्यका अर्थ यहाँ पालन है, अर्थात् सदा पालन किये जानेवाले सब प्राणियोंके जो पृथक्-पृथक् पालनकर्ता हैं, वे मैं ही हूँ।" (श्रीरामानुजभाष्य)।

इसका अर्थ यह भी है कि सृष्टिके पूर्व भी आप ही थे और सृष्टिके न रह जानेपर भी आप ही रहते हैं। मध्यमें तो रहते ही हैं।—यह ऐश्वर्य है। अतः 'भगवंत' (ऐश्वर्य संपन्न, षडैश्वर्यवाला) संबोधन दिया।

४ (ख) 'सर्वगतमीम पश्यंति···' इति । जैसे यहाँ 'आदि-मध्यान्त त्वं' कहकर 'सर्वगतमीश···घटमृत्तिका···' कहा है, वैसे ही भा० ११।२८।१८ में उपर्युक्त 'आद्यन्तयोरस्य···' कहकर 'यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य। तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानाऽपदेशैरहमस्य तद्वत् ।१९।' यह कहा है। अर्थात् 'जैसे जबतक स्वर्णके कुण्डलादि नहीं बनते, तबतक उसका एक ही नाम रहता है; आभूषण बननेपर उसके अनेक नाम हो जाते हैं और मिटनेपर फिर भी स्वर्ण ही कहलाता है। इसलिये उससे बने हुए पदार्थ दूसरी वस्तु नहीं माने जा सकते। क्योंकि सोना ही उनके आदि, मध्य और अन्तमें है। इसी प्रकार इस बहुरूप जगत्में आदि, मध्य तथा अन्ततः रहनेवाले मुझको समझना चाहिए।' ब्रह्मवादी वे हैं जो समत्वबुद्धिसे युक्त हैं, जो शुभकर्मोंका अनुष्ठान तो करते हैं, परन्तु उनसे सुख पानेकी इच्छाको त्याग देते हैं। यथा 'तथा हि बुद्धियुक्तानां शाश्वतं ब्रह्मवादिनाम्। अन्विच्छतां शुभं कर्म नराणां त्यजतां सुखम्। म० भा० शान्ति० २९५।१० ।'

४ (ग) 'सर्वगतमीश···जथा पट तंतु' इति । पट-तन्तु अर्थात् जैसे सूत वा तागोंके तानेबानेमें वस्त्र ओतप्रोत रहता है, वैसे ही यह सारा पिण्ड परमात्मा परब्रह्म दशरथात्मज राममें ओत-प्रोत है। जैसे बिना सूतके वस्त्रका अस्तित्व नहीं है, किन्तु सूत बिना वस्त्रके भी रह सकता है; वैसे ही इस जगत्के न रहनेपर भी आप रहते हैं, आपके बिना इसका अस्तित्व नहीं है। अतः यह दृश्य जगत् आपका ही स्वरूप है। यथा 'यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितान-संस्थः। भा० ११।१२।२१ ।' (अर्थात् जैसे वस्त्र तन्तुओंमें ओतप्रोत रहता है, इसलिये उससे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार जगत् भी ईश्वर-से भिन्न नहीं है)।—भा० ११।१२।२१ के इस अर्थके अनुसार 'पट-तन्तु' का भावार्थ लिखा गया। किन्तु प्रस्तुतपदमें यहाँ यह बताया जा रहा है कि ब्रह्मवादी इस प्रतीयमान् जगत्में आपको आदि, मध्य और अन्तमें कैसा देखते हैं। अतः 'पट-तंतु' का अर्थ यहाँ 'वस्त्रमें सूत' यही अर्थ विशेष संगत है और यही हमने भी किया है। वस्त्रके आदि मध्य अंतमें सूत ही सूत है, सूतका ही परिणाम वस्त्र है, वैसे ही सृष्टिके आदिमध्यान्तमें आप ही हैं, आपका ही परिणाम यह सारी सृष्टि है।

४ (घ) 'घटमृत्तिका', 'दारु-करि', 'कनक-कटकांगदादी'–इनके भी भाव 'पट-तंतु' (वस्त्रमें सूत) की तरह समझ लें। घटमें मट्टी ओतप्रोत है, घट मट्टीमय है, मृत्तिकाका ही परिणाम घट है, बिना मट्टीके घटकी स्थिति ही नहीं, अस्तित्व नहीं, वैसे ही बिना आपके जगत्का अस्तित्व नहीं। जैसे मृत्तिका घटमें सर्वत्र व्याप्त, वैसे ही आप जगत्में सर्वत्र व्याप्त हैं। जैसे घटके न रहनेपर भी मट्टी रहती है, वैसेही दृश्यमान् जगत्के न रहनेपर भी आप रहते हैं। इत्यादि। इसी तरह लकड़ीके हाथीमें लकड़ी, सोनेके कड़ों बाजूबन्दों आदिमें सोना ही सोना तो है। हाथी लकड़ीका और कटकादि स्वर्णके परिणाम हैं।—भा० ८।६।१० में भी घट-मृत्तिकाका दृष्टान्त आया है। यथा "त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य आसीत्त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे। त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥" अर्थात् यह संसार आपके स्वतंत्र स्वरूपमें पहले था, अभी है और आगे भी रहेगा। जैसे घड़ेके आदि, मध्य और अंतमें मट्टी ही है, वैसे ही इस विश्वके आदि, मध्य और अन्तमें प्रकृतिसे परे आप ही रहनेवाले हैं।

४ (ङ) "सर्पस्रग" इति। यहाँ इस चरणमें 'सर्प-स्रग' ही एक ऐसा दृष्टान्त है, जिसमें कठिनाईका सामना पड़ता है। टीकाकारोंने इसपर प्रकाश नहीं डाला है, गोल रह गए हैं। हम यहाँ पहले टीकाकारोंके अर्थ देते हैं—

(१) 'पुष्पमालामें जैसे सर्पज्ञान कर जो बनावरी की' (डु०)।

(२) 'यथा सर्प सत्य है। उसके भ्रमसे स्रग, दाम, माला, रस्सी आदि अँधेरेमें सर्पही सरीखा भासते हैं. सो भ्रममात्र ही है, ऐसे ही संसारव्यवहार भ्रममात्र ही है, सारांश एक ईश्वर ही है।' (वै०)।

(३) 'जैसे सर्पमें माला'—(भ०, वि०)। (४) 'जैसे मालामें सर्प' (ह०, दीन)।

(५) "जो वेदान्ती हैं, वे ऐसा ही देखते हैं जैसे साँप और माला। अर्थात् आप सबमें विद्यमान हैं जैसे कपड़ेका असली कारण सूत है, घड़ाका मृत्तिका, कृत्रिम सर्प और हाथीमें रस्सी और काठ, आभूषणोंमें स्वर्ण कारणरूप है, इसी प्रकार दृश्यमान पदार्थोंमें आप ही को कारणरूप देखते हैं।" (वीर)।

(६) "जैसे डोरेमें वस्त्र, मिट्टीमें घड़ा, मालामें सर्पका भ्रम, लकड़ीके हाथीमें हाथीका भ्रम, सोनेमें कड़े बज्जुले आदि" (सू० शुक्ल)।

(७) पं० श्रीकान्तशरणजी—मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। 'मैं अरु मोर तोर तैं माया…' (मा० अरण्य १५) से मायाका स्वरूप दिखाया कि जगत्‌मात्र ईश्वरका शरीर है, किन्तु किसी अदृश्य शक्तिके वश अनन्त जीव 'मैं मोर तैं तोर' के व्यवहारमें लीन देख पड़ते हैं। विद्या दृष्टिसे भगवान्‌के शरीररूपमें जानी हुई प्रकृतिको विद्या माया और उससे उल्टी (अविद्या) दृष्टिसे पृथक् नानात्व दृष्टिसे देखी हुई प्रकृतिको अविद्या माया कहा है। यह माया त्रिगुणात्मिका है। इसके तीनों गुणोंसे सृष्टिके कार्य होते हैं। प्रकृतिके द्वारा ब्रह्म ही जगत् व्यापार करता है, उसमें बल ब्रह्मका ही रहता है। अतः भगवान्‌के शरीररूपमें जगत्‌को देखना यही विद्या-मायाका जानना है। विराट्‌रूप दिखाना विद्या-मायाका कार्य स्पष्टरूपसे कहा गया है। यथा 'यतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित व्यापी माया।…' 'हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि व्यापै विद्या।' (७।७८)।—इस प्रसंगमें विद्यामाया द्वारा विराट् रूप दिखाया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त 'पट-तंतु' आदि उदाहरणोंसे भगवान्‌का परिणाम एवं शरीररूप जगत् कहा गया है, वह विद्यामायाकी दृष्टिसे कहा गया है।

अब अविद्यात्मक दृष्टिका उदाहरण 'सर्प स्रग' के प्रसंगसे दिखाया जाता है। यह विद्यामायाका पूर्वपक्ष एवं विपर्यय दृष्टि है। उसमें जगत् एक भगवान्‌के शरीररूपसे देखा जाता है और इसमें जगत्‌को स्वतंत्र सत्तावान् एवं नानात्वरूपमें देखा जाता है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है—'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह इति जगत्।' देहसे सुत आदि और गेहसे वित्त आदि आ ही जाते हैं। यही इसकी चराचररूपता है। चर-अचर जगत्‌को पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानकर उन प्रत्येकके उपकारानुसार आसक्त होकर ऋणी होकर दुःख पाना और अपकारानुसार द्वेषसे नाना दुःख पाना अविद्या कल्पित नानात्व जगत् है। इसीको यहाँ 'सर्प स्रग' के उदाहरणसे कहा है।…

[और भी बहुत कुछ लिखकर उन्होंने स्वयं अपने पूरे लेखका सारांश जो लिखा है उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं—]

"सारांश—जैसे तन्तु ही वस्त्ररूपमें परिणत होता है, सोना ही कड़े आदि भूषणोंके रूपमें परिणत होता है, और मृत्तिका घटरूपमें परिणत होती है, वैसे ही सद्रूप श्रीरामजी सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टरूपसे स्थूलचिदचिद्विशिष्ट जगत्‌रूपमें परिणत होकर नाना रूपों और रंगोंसे देख पड़ते हैं। और वही चराचरके व्यष्टिरूपरूपी पुष्पोंसे गुथे हुए मालारूप हैं। किन्तु लोग उन्हें न जानकर जगत्‌को स्वतंत्र मान उससे रागद्वेष आदि विकारोंसे दुःख पाते हैं; यही उनका मालाको सर्प मानकर उससे दुःख पाना है। उनके भ्रमसे वह स्रग ही सर्परूप भासित होता है। यह स्रगका सर्परूपमें परिणत होना है। अतएव जगत्‌को विराट्‌रूपमें देखना विद्यामाया और उसे नानात्वरूपमें देखना अविद्यामायाका कार्य है।"

नोट—६ मालामें सर्प या सर्पमें मालाको देखना—यह तो भ्रम है। यथा 'स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अविचारे। १२२।' वेदान्तदर्शनमें संसारका अनित्यत्व सिद्ध करनेके संबंधमें ही रजत-सीप, रविकरवारि और रज्जु-सर्प ('रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः') आदि दृष्टान्त आये हैं।—'यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति, मायाविवेकविधुति स्रजि वाहिवुद्धिः। भा० ४।२२।३८।' में भी माला और सर्पका दृष्टान्त इसी आशयसे दिया गया है। श्रीसनत्कुमारजी पृथुमहाराजसे कहते हैं कि "जिस परमात्मामें यह कार्यकारणरूप संपूर्ण प्रपंच, जो कि विवेक होनेपर नहीं रहता, मालामें सर्पबुद्धिके समान मिथ्या ही भासता है"।—परन्तु प्रस्तुत पदमें अनित्यत्वका दर्शन यहाँ नहीं करा रहे हैं। प्रत्युत यहाँ तो बताते हैं कि ब्रह्मवादी लोग (अविद्याग्रस्त लोग नहीं) आपको सर्वगत किस प्रकार देखते हैं—जैसे वस्त्रमें सूततन्तुको, मट्टीके घड़ेमें मृत्तिकाको, लकड़ीके हाथीमें लकड़ीको और सुवर्णके कड़े आदि आभूषणोंमें सुवर्णको आदि, मध्य और अंत तीनों कालों और अवस्थाओंमें ओतप्रोत देखते हैं।

इसी प्रकार हमें 'सर्प-स्रग' का भी अर्थ करना चाहिए। यह दृष्टान्त उपर्युक्त दृष्टान्तोंके बीचमें आया है। सर्प और मालामें सर्वगतत्वका भाव कैसे हो सकेगा? मालामें सूत (धागा) तो अवश्य सबमें प्राप्त होता है—'सूत्रे मणिगणा इव'। सर्पकी मालामें

अवश्य सर्प सर्वगत हो सकता है। पर यह अर्थ भी कुछ हृदयग्राही नहीं है। क्योंकि सर्पकी माला (शिवस्वरूपके वर्णनके सिवा अन्यत्र) देखने-सुननेमें नहीं आती।

हाँ। 'स्रग' का अर्थ 'कुण्डल' या 'मण्डल' यदि लें तो अर्थ ठीक बैठ जाता है। सर्प कुण्डली बाँधकर जब बैठता है, तब उसे 'सर्पकुण्डल' कहते हैं। उसमें सर्पही सर्वगत है। ब्रह्मसूत्र में "उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ३।२।२६।" आया है। 'सर्पस्रग' से 'अहिकुण्डल' समझ लें तो भावार्थ बैठ जाता है। प्रस्तुत चरणमें पट-तंतु आदि सभी दृष्टान्त ऐसे हैं जो सर्वत्र सबके दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए 'सर्पस्रग' का भी वैसाही अर्थ लेना उचित होगा।**

[छतपर या दीवारकी खूँटीपर लटकता हुआ सर्प भी मालाकार देखनेमें आता है। उसे भी 'सर्पस्रग' चाहे मान लें। सँपहरेकी पिटारीमें भी सर्प गोलाकार मालाकार पड़े देखे जाते हैं। यदि स्रगका अर्थ माला ही हो तो इस तरह समझ सकते हैं। दासकी तुच्छ बुद्धिमें 'सर्पकुण्डल' ही सर्पस्रग है। बड़ा माला कई फेरेमें रक्खा हुआ सर्पकुण्डलवत् होता भी है। सर्प और स्रगमें आकारगत समानता है।]

पंद्रह सोलह वर्ष हुये जब मैंने इस विषयपर इतना लिखा था। पर यह शंका मनमें जमी रही। कुछ वर्ष हुए जब एकायक श्रीशाङ्करभाष्य रत्नप्रभाभाषानुवाद मेरे दृष्टिगोचर हुआ। 'जन्माद्यस्य यतः' में सिद्धान्तमें वे लिखते हैं—"यद्यपि जन्म आदि जगत्के व्यवहार हैं तथापि उनका कारण ब्रह्म है। जो सर्प है, वही माला है—इस बाध-समानाधिकरणसे* ब्रह्मका

** मेरे इस अर्थको पढ़कर देवदत्तशास्त्रीजीने भी इसे पसन्द और ठीक अर्थ स्वीकार किया है।

* समानाधिकरण=एक है अर्थरूप आश्रय जिनका ऐसे दो शब्द। यह दो प्रकारका होता है—मुख्य और बाध। एक सत्ता और स्वरूपवाले वास्तव भेदरहित दो अर्थोंके बोधक वाक्यगत दो पदोंका मुख्य समानाधिकरण होता है। जैसे, घटाकाश और महाकाश, कूटस्थ और ब्रह्मका। भिन्न सत्तावाले दो पदार्थोंकी एक विभक्तिके बलसे एकताके बोधक वाक्यगत दो पदोंका बाध समानाधिकरण है। जैसे स्थाणु और पुरुषका (स्थाणुरयं नायं पुरुषः), सर्प और मालाका (यो भुजङ्गः सा स्रक्); तथा ब्रह्म और जगत्का (यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्म)।

तटस्थ ‡ लक्षण सिद्ध होता है। तथा सत्य, ज्ञान, आदि यद्यपि भिन्नार्थक हैं तो भी उनका पर्यवसान ब्रह्ममें है। (जिस प्रकार एकही देवदत्तको पुत्र-पौत्र, पिता-पितामह, भाई, जामाता, श्वसुर, पति—भिन्नार्थक शब्दोंसे पुकारनेमें कोई विरोध नहीं है, इसी प्रकार लोकप्रसिद्ध भिन्नार्थक शब्दोंसे पुकारनेमें कोई विरोध नहीं है)।"

टिप्पणी—५ 'देव गूढ़ गंभीर'...' इति। (क) ब्रह्मा आदि तत्त्वज्ञों को भी आपके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेसे 'गूढ़' नाम है। यथा 'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा ।।२।१२७।' पुनः, (२) गूढ़ = गुप्त; सब प्राणियोंमें छिपा हुआ; अर्थात् समस्त भूतोंका अन्तरात्मा। यथा "सर्वभूतेषु गूढः। श्वे० ६।११।" (परन्तु 'गुप्त' विशेषण भी यहाँ आया है)।—५० (३ ग) देखिए।

५ (ख) 'गंभीर' इति। शान्त, सौम्य एवं जिसकी थाह न मिल सके। यथा 'सिंधु कोटि सत सम गंभीरा ।७।९२।', 'कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा ।१।५३।२।' पुनः, 'महागम्भीर्ययुक्तत्त्वाद् गंभीर इति कथ्यते। भ० गु० द० भा०।' जैसे निर्मली-फलके संयोगसे बरसाती मलिन जल स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही जिनके संश्लेषसे अनादि अविद्या कलुषित संसारी जीव भी स्वच्छ गंभीर हो जाता है, तब स्वतः भगवान् राघवकी स्वच्छता गंभीरताका कहना ही क्या?

५ (ग) 'गर्वघ्न' इति। = गर्वके नाशक। यथा 'उर अंकुरेउ गर्वतरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। १।१२९।५।', 'उग्र भार्गव-गर्वगरिमापहर्त्ता ।५०।४।' बालि और रावणके गर्व उन्हें मारकर नष्ट किये। यथा 'अस कहि चला महा अभिमानी ।४।८।१।' 'लंकेस अति बल गर्व। किय बस्य सुरगंधर्व। ६।११२ छं०।' 'जामदग्न्यमहादर्प-दलनः' आपका एक नाम ही है। (प० पु० उत्तर २८१।३४)।

५ (घ) 'गूढार्थ' इति। 'अन्तर्हितो निधिरसित्ववशेषपुंसाम्', 'आत्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम्।', इत्यादि प्रमाणानुसार 'आप'

---

‡ तटस्थ = 'तद्भिन्नत्वे सति तद्बोधकत्व' = उसके स्वरूपसे पृथक् होते हुये भी उसका बोधक। पुनः, 'यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति व्यावर्त्तकत्वम्' = जबतक लक्ष्य है तबतक न रहता हुआ भी अन्य पदार्थोंसे लक्ष्यका भेद करनेवाला।

त्कालके धनसरीखा दासोंके हृदयमें अत्यन्त प्यारसे छिपाकर रक्खे जानेसे 'गूढार्थ' नाम है। गूढ़=गुप्त; छिपा हुआ। अर्थ=धन। गूढ़ार्थ=आश्रितोंके गुप्त धन।

५ (ङ) 'वित' इति। आश्रितोंके संरक्षणार्थ सर्वोपायके ज्ञाता होनेसे 'वित' नाम है। यथा भागवते 'सर्वोपायविदीश्वरः।' जैसे प्रह्लादजीकी रक्षाके लिये अद्भुत शरभरूपसे खम्भेसे निकले।❀

५ (च) 'गुप्त' इति। (१) 'तद्गौरवज्ञैः पूर्वगुरुभिः कुत्र किंवा लक्षणे गुप्तः। भ० गु० द० भा०।' अर्थात् श्रीसरकारके गुण और महत्वके ज्ञाता पूर्वाचार्य्योंने कहा है कि भगवान् ऐसे लक्षणोंसे युक्त हैं, अतः 'गुप्त' कहे जाते हैं। पुनः, (२) 'गुप्त' नाम इससे भी है कि "श्रीसरकारके वैभवके ज्ञाता श्रीवसिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रादिके आशिर्वादद्वारा सर्वदा सुरक्षित होनेसे आपको कोई जान नहीं पाता। यथा 'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ। १।४८।', 'मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥··· मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥···गुर प्रसाद सब बिद्या पाई॥···सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौशिक कृपा सुधारे। १।३५७।' (श० सा० में 'गुप्त' का एक अर्थ 'सुरक्षित' भी है, वह अर्थ भी इस प्रकार घटित होता है)। गोतीत-पद ४९ (७) टि० ८ (ग) देखिए।

५ (छ) 'गुरु' इति। (१) ब्रह्मा, इन्द्र और वरुण आदि देवोंको वेदोंद्वारा अधिकारोंका बोध करानेसे 'गुरु' नाम है; यथा 'ब्रह्मेन्द्र वरुणादीनां गुरुर्वेदोपदेशनात्।', 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। श्वे० ६।१८।' (जो ब्रह्माके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है), 'अहममरवरार्चितेन धात्रा यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः। हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः। (वि० पु० ३।७।१५)। (यमराज दूतोंसे कहते हैं कि देवपूज्य भगवान्ने मुझे

❀ अर्थान्तर – गूढ़ार्थ वित='अन्तर्यामीरूप होकर सबके हृदयके जानकार।' (डु०)।=कर्म वचनमें जो गुप्त अर्थ हैं उनके जाननेवाले। (वै०, म०)।=छिपे अर्थके जाननेवाले। (वीर)। यथा 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ। २।२५४।५।'

'यम' नामसे लोकोंके पुण्य-पाप निर्णय करनेके लिये नियुक्त किया है। मैं परम गुरु श्रीहरिके पराधीन हूँ, स्वतंत्र नहीं हूँ। भगवान् मेरा भी नियंत्रण करनेमें समर्थ हैं।) भगवान्‌ने रसातलसे सभी वेदोंका उद्धार किया और उन्हें ब्रह्माजीको प्रदान किया, फिर वे प्रकृतिस्थ हो गए। यथा 'जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः। प्रादाच्च ब्रह्मणे राजन्! ततः स्वां प्रकृतिं गतः।' (हयशिरोपाख्यान)। इससे भी गुरु हैं। तथा च 'कमल्यादिगुरुं वन्दे कमलागृहमेधिनम्' (अर्थात् किन्हीं उन आदिगुरुकी वन्दना करता हूँ जिनकी साक्षात् लक्ष्मी ही गृहिणी हैं)।— वे० शि०)।

(२) संपूर्ण संप्रदायोंके प्रवर्तक आद्याचार्य होनेसे 'गुरु' नाम है। यथा 'सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमामस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।', 'कमप्यादिगुरुं वन्दे कमलागृहमेधिनम्।' पुनः, (३) सबसे अधिक होनेसे भी 'गुरु' नाम है। पुनः, (४) भा० ८।२२।४-५ में राजा बलिने भगवान्‌से कहा है कि "अपने पूजनीय गुरुजनों द्वारा दिया हुआ दंड तो जीवमात्रके लिए अत्यन्त वांछनीय है, क्योंकि वैसा दण्ड माता, पिता, भाई और सुहृद भी मोहवश नहीं दे पाते। आप छिपे रूपसे अवश्य ही हमं असुरोंको श्रेष्ठ शिक्षा दिया करते हैं। अतः आप हमारे परम गुरु हैं। जब हम लोग धन, कुलीनता, बल आदिके मदसे अंधे हो जाते हैं, तब आप उन वस्तुओंको हमसे छीनकर हमें नेत्र दान करते हैं।"—इस भावसे भी 'गुरु' नाम है।—'त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः। यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत्। ८।२२।५।' पुनः, (५) 'सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' (पातंजल योगसूत्र)। अर्थात् सर्वकालमें विच्छेदरहित (एकरसरूप) सबके गुरु होनेसे गुरु कहा। अ० रा० में वसिष्ठजीने भी कहा कि आप समस्त गुरुओंके भी गुरु हैं। यथा 'गुरुर्गुरूणां त्वं देव।२।२।२६।' 'जगद्गुरु' आपके अष्टोत्तरशतनामोंमेंसे एक नाम ही है,।—'जितेन्द्रियो जितक्रोधो जितलोभो जगद्गुरुः। प० पु० उत्तर० २८१।३७।' अपने आदर्श चरित्रोंसे सम्पूर्ण जगत्‌को शिक्षा देनेके कारण भी जगत्‌मात्रके गुरु हैं।

५ (ज) 'ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय' इति। आश्रितोंके अशेषदोषगोपन-सामर्थ्य होनेसे 'ज्ञान' नाम है। कालत्रयमें सर्वदा सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति प्रवृत्ति-प्रभृतिके सर्वदा जाननेसे 'ज्ञाता' नाम है। यथा 'वेदाहं

समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन। गीता ७।२६।' अर्थात् मैं बीते हुए, वर्तमान और भविष्यमें होनेवाले सब भूतोंको जानता हूँ, पर मुझे कोई नहीं जानता। और, संपूर्ण विद्यावेद्य होनेसे 'ज्ञा, ज्ञेय' नाम है। अर्थात् संपूर्ण विद्याओं द्वारा आपही जाननेयोग्य हैं। यथा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। गीता १५।१५।'

पुनः, शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहजीने जो स्तुति की है, उसमें 'ज्ञान और ज्ञेय' स्वरूपकी व्याख्या इस प्रकार है—"पंचकोपस्थित आन्तरतम आत्माका ज्ञान होनेपर शुद्ध बोधद्वारा विद्वान् पुरुष जिन्हें प्राप्त करते हैं उन 'ज्ञानस्वरूप' परब्रह्मको प्रणाम है। जो ज्ञानमय महान् अंधकारसे परे और ज्ञानालोकसे अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले आत्मा हैं, जिन्हें जान लेनेपर मनुष्य मृत्युके चंगुलसे छूट जाता है, उन 'ज्ञेयरूप' परमात्माको नमस्कार है। यथा 'आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम्। यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः। ७८।', 'महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्। यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः।४१।' (म० भा० शा० ४७)। *

५ (झ) 'ज्ञानप्रिय' 'प्रचुर गरिमागार' 'घोर संसारपर पारदाता' इति। ज्ञान आपको प्रिय है, इसीसे मानसमें कहा है कि ज्ञानी भक्त भगवान्‌को विशेष प्रिय है। यथा 'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा। १।२२।७।' प्रचुर महिमागार—इसीको पूर्व 'महिमाति गुर्वी। ५२।', तथा 'महिमा उदारं। ५०।' से कहा गया है। ५२ (२ ग), ५० (३ ग) देखिए। 'संसारपर पारदाता' में 'घोर संसार पाथोधि पोतं।' ४६ (५ ङ) और 'हरन भव-भय दारुनं।' ४५ (१ ज) के भाव हैं‡।

---

*अर्थान्तर—१ श्रेष्ठ ज्ञान और ज्ञानके कर्त्ता अर्थात् चैतन्य जीव। (द्वु०)। २ ज्ञानके जाननेवालोंके गुरु। (वै०)। ३ श्रेष्ठ ज्ञानके ज्ञाता हैं। (भ०)। ४ गुरु, ज्ञान और उसके ज्ञाता। (भ०)। ५ महान् ज्ञाता और ज्ञेय एवं ज्ञान। (वि०)। ६–'यः सर्वज्ञः स सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुं० १।१।६)। (श्री० श०)

‡ भुशुण्डीजीने सिद्धान्तरूपसे यह बात कही है। यथा 'विनिश्चितं वदामि ते, न अन्यथा वचांसि मे। हरिं नरा भजंति येऽति दुस्तरं तरंति ते।।' 'पारदाता' कहकर जनाया कि संसार बड़ा दुस्तर है, भगवान् ही पार लगा देते हैं।

'संसारपर' से जनाया जो संसारमें अत्यंत आसक्त हैं, भवप्रवाह-में बहे जा रहे हैं उनको भी पार लगा देते हैं। इसीसे रावणवधके पश्चात् देवताओंने प्रार्थना की-है कि 'भव प्रबाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे।

५ (ञ) 'पारदाता' कहकर संसारको नदीरूप जनाया। संसार-नदीका रूपक इस प्रकार है—संसार सरिता है, रूप इसका किनारा है, मन स्रोत है, स्पर्श द्वीप, रस प्रवाह, गंध कीचड़, शब्द जल और स्वर्ग दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौकाकी, क्षमारूपी लग्गी, धर्मरूपी रस्सी या लंगरकी तथा त्यागरूपी अनुकूल पवनके सहारेसे शीघ्र पार की-जा सकती-है। (नारद-शुक संवाद म० भा० शान्ति ३२६।३८-३६)। मानसमें भववारिधसे तरनेमें ये उपकरण कहे हैं- 'नरतन भववारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥ करन-धार सद्गुर दृढ़ नावा। ७।४४।' भवसागरपार होनेके लिये श्रीराम-चरणारविन्द, श्रीरामनाम, श्रीरामचरित, सन्तसंग आदि सभीको नाव कहा गया है। यथा 'भवजलधिपोत चरनारविंद। ६४।', 'घोर भव नीर निधि नाम निज नाव रे। ६६।', 'भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा। ७।५३।३।', 'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए। ७।१२५।', 'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्हके चरन। २०३।', 'तुलसिदास हरि गुरु करुना··। ११५।'

'भव आपगा' का रूपक आगे पद ५६ में कविने स्वयं भी दिया है। यथा 'घोर अवगाह भव आपगा पापजलपूर··मकर षड्वर्ग गो नक्र चक्राकुलं सुभ असुभ दुःख अति तीव्रधारं।'

टिप्पणी—६ 'देव सत्य संकल्प अतिकल्प कल्पांतकृत··' इति। (क) 'सत्यसंकल्प'—शब्दार्थमें देखिए। 'अतिकल्प··' पूर्व पद १० (५), ११ (७) तथा मानसमें श्रीशंकरजीकी वन्दनामें भी 'महाकल्पांत ब्रह्मांडमंडलदवन', 'सकल लोकांत कल्पांत सूलाग्रकृत' और 'कलातीत कल्यान कल्पांतकारी। ७।१०८।', ऐसा कहा है। यहाँ श्रीरामजीको भी कल्प और महाकल्पका अंत करनेवाला कहा है। इसमें कोई संदेह नहीं। श्रीरामजीके किंचित् बलको पाकर ही शंकरजी संहार किया करते हैं, यथा 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा। ५।२१।', नहीं तो श्रीरामजीकी तो महिमा अपार है, वे तो 'रुद्रकोटि सत सम संहरता' हैं। (७।६२।६।)

विश्वरूपवर्णनमें तो प्रलय आदिको उनकी क्रीड़ा कहा है। यथा 'उत्पति पालन प्रलय समीहा। ६।१५।६।' ब्रह्माण्ड पुराण उत्तर खण्डान्तर्गत अध्यात्मरा० तथा वाल्मी० रा० में कालद्वारा ब्रह्माजीने कहा है कि पूर्वकालमें समस्त लोकोंका संहार कर एकमात्र आप ही रह गए थे, फिर आपने मायाके संयोगसे प्रथम अपने पुत्र मुझको तथा जलमें शयन करनेवाले 'अनन्त' नामक शेषनागको रचा। यथा 'पुरा त्वमेक एवासीर्लोकान् संहृत्य मायया। अ० रा० ७।८।२४। भार्यया सहितस्त्वं मामादौ पुत्रमजीजनः। तथा भोगवतं नागमनन्तमुदकेशयम्। २५।', 'संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि। महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः। वाल्मी० ७।१०४।४।'—विनयमें भी श्रीरामजीको 'उरगनायकशयन।', 'बिहगराजगामी' (५५), 'सत्य संकल्प कल्पांतकारी' (५६) कहा है।

'अतिकल्प' में अव्ययीभाव समास है। इसमें पूर्वपद अव्यय 'अति प्रधान' होता है। = महाकल्प। 'सत्यसंकल्प' के साथ 'अतिकल्प'...' कहकर जनाया कि आप प्रलय और महाप्रलय संकल्पमात्रसे करते हैं।

६ (ख) 'कल्पनातीत, अहितल्पवासी ...' इति। नैयायिकोंकी कल्पनासे परे हैं अर्थात् तर्क द्वारा कोई अनुमान नहीं कर सकता। इसमें पद ५३ (४) के 'दुस्तर्क्य' का भाव है। यथा 'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी। १।३४१।७।', 'अहितल्पबासी' अर्थात् शेषशायी श्रीमन्नारायण भी आप ही हैं। जब सृष्टिरचनाकी इच्छा होती है तब श्रीरामजी प्रथम चतुर्भुज श्रीमन्नारायणरूप होकर क्षीरसागरमें शेषशय्यापर शयन करते हैं, फिर उनके नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है।—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम्। म० भा० शान्ति ३४१। ४०।' अर्थात् 'नर' से उत्पन्न होनेसे जलको 'नार' कहते हैं। वह जल प्रथम मेरा अयन (निवासस्थान) होनेसे 'नारायण' नाम है।

६ (ग) 'वनचरध्वज कोटि लावन्यरासी' में 'मनोभव कोटि गर्वापहारी।४४।' तथा 'मदन-मदमथन सौंदर्यसीमातिरम्यं।५३।' का भाव है।—४४ (३ घ); ५३ (४ ख) देखिए।

७ (क) 'सुकर दुःकर दुराराध्य' में 'दुष्प्राप्य, सुलभ मृदुभावगम्यं। ५३।' के भाव हैं। ५३ (४ ग, घ.) देखिए। पुनः, 'सुकर' से जनाया

कि सहजमें प्रसन्न हो जाते हैं, यथा 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। १३५।', 'अधम आरत दीन पतित पातकपी सकृत नतमात्र कहे पाहि पाता ।४४।' पुनः, 'सुकर दुःकर' से जनाय कि आप अपनी कृपासे सुलभ हैं और यदि कोई अपने पुरुषार्थसे आपको प्राप्त करना चाहे तो असंभव है। देखिए, जो शिवादिके ध्यानमें नहीं आते वे ही अपनी कृपासे केवट, किरात आदिको सहज ही प्राप्त हुए।

७ (ख) 'दुर्व्यसनहर' - काल - कर्म-गुण-स्वभाव ही सब दुर्व्यसनों आदिके कारण हैं। श्रीरामजी 'काल कर्म सुभाउ गुन भच्छक' हैं। (७।३५।८)। शरण होते ही वे सब दुर्व्यसनोंको छुड़ा देते हैं, क्योंकि वे आश्रितवात्सल्यजलधि हैं, गो-वत्सकी तरह आश्रितके समस्त दुर्व्यसन उनके भोग्य हैं।

७ (ग) 'दुर्ग दुर्धर्ष दुर्गार्तिहर्ता' इति। 'दुष्प्रवेशतया दुर्गः पापिभिस्तु कदाचन'—इस निरुक्तिके अनुसार अविद्यादि आवरणोंके कारण पापियोंको सदा दुष्प्रवेश्य होनेसे 'दुर्ग' नाम है। गीतामें कहा है—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।७।२५।', अर्थात् मनुष्यादि शरीरोंकी हेतुरूप जो 'योग' नामक माया है, उस योग मायासे भलीभाँति ढका हुआ मैं सबको प्रत्यक्ष नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि जिनकी वासनायें पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं, उन कुयोगियोंको मेरा दर्शन दुर्लभ है।—'अविपक्व कषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।१।६।२२।' मानसमें भी कहा है—'कुयोगिनां सुदुर्लभं ।३।४ छंद।', 'जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई ।५।४४।४।'—ये सब भाव 'दुर्ग' में हैं।

'दुर्धर्ष' इति। 'दुर्विज्ञेय गतिर्यस्मात् दुराधर्षः प्रकीर्तितः' अर्थात् गाम्भीर्यातिशयसे कोई पता न लगा सके। यथा 'गाम्भीर्यात्साग रोपमम्। वाल्मी०।', 'समुद्र इव गाम्भीर्ये' (वाल्मी० १।१।१७)। पुनः 'अपाम्निधिवदक्षोभ्यः दुराधर्ष इतीरितः।' अर्थात् समुद्रके समान अक्षोभ होनेसे 'दुराधर्ष' नाम है। पुनः, दुर्धर्ष=जिसका दमन कोई नहीं कर सकता। यथा 'धूमकेतु सतकोटि सम दुराधरष भगवंत। ७।६१।'—५० (३) भी देखिए। [वि० स० ना० में 'समस्तदेवता दुर्गः' एक नाम है। उसके अनुसार परम दृढ़ किलेके समान समस्त

आश्रितोंकी रक्षा करनेवाले होनेसे भी 'दुर्ग' नाम कहा जा सकता है]

७ (घ) 'वेदगर्भार्भकादभ्रगुनगर्व अर्वाक पर०' इति। (१) श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि "वेदगर्भार्भक" भी एक नाम है। वेदगर्भ = ब्रह्मा। अर्भक = पुत्र। वेदगर्भार्भक = ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं। यथा 'अहं ते हृदयं राम। वाल्मी० ६।११७।२३।' हृदय = पुत्र। अदभ्रगुणगर्व = अपार गुणसे गर्वीले। अर्वाकपर = अवाकी = अवाप्तसमस्तकाम। अर्थात् पूर्णमनोरथ होनेसे बोलनेकी जरूरत नहीं। यथा 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। छां० ३।१४।२।' (अर्थात् वह ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशशरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, संपूर्ण जगत्‌को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्‌रहित और संभ्रमशून्य है)।

निर्वापकर्ता = हर्ता। गर्व निर्वापकर्ता = ईश्वराभिमानी ब्रह्मरुद्रादि देवों अथवा आसुरप्रकृति रावणादिका गर्व हरनेवाले। यदि 'पर' का अन्वय 'गर्व' के साथ कर लें तो अर्थ होगा 'शत्रु या दूसरोंके गर्वके हरनेवाले'।

(२) 'वेदगर्भार्भकादभ्र··निर्वापकर्ता' का अर्थ 'सनकादिकके गर्वके नष्ट करनेवाले' लें, तो भा० ११।१३।१७-४० में जो कथा भगवान्‌ने उद्धवजीसे कही है, वह प्रसंगानुकूल होगी। वह कथा यह है—"एक बार सनकादिकने अपने पिता ब्रह्माजीसे प्रश्न किया कि 'चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं। ऐसी स्थितिमें जो भवसागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको अलग कैसे करे ?"—ब्रह्माजीकी बुद्धि उस समय कर्मप्रधान थी। इससे वे इस निष्कर्म वस्तुका विचार न कर सके, इस प्रश्नका मूल कारण न समझ सके। उन्होंने उसका उत्तर देनेके लिये मेरा चिन्तन किया, तब मैं हंसका रूप धारणकर उनके सामने प्रकट हुआ। मेरी वन्दना करके सनकादिकने मुझसे पूछा—'को भवान् ?' आप कौन हैं ?

मैंने उत्तर दिया कि तुम्हारा यह प्रश्न ही व्यर्थ है; क्योंकि यदि तुम्हारा यह प्रश्न आत्माके संबंधमें है, तो आत्मवस्तु तो एक ही है, उसमें अनेकता है ही नहीं, तब इसका उत्तर भी यदि मैं दूँ तो किस जाति, गुण अथवा व्यक्तिका आश्रय लेकर दूँ। और, यदि तुम यह प्रश्न शरीरके विषयमें कर रहे हो, तो समस्त शरीर पंच-भूतात्मक होनेके कारण वास्तवमें अभिन्न ही हैं। तुम लोग तत्त्व-दृष्टिसे यह समझो कि मनसे, वाणीसे, इन्द्रियोंसे जो कुछ प्रतीत होता है वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न कुछ है ही नहीं। (श्लोक २२-२४)। इसमें संदेह नहीं कि चित्त गुणों अथवा विषयोंके चिन्तनमें ही मग्न रहता है और गुणोंने भी अपनी सत्ता चित्तकी सत्तामें मिला दी है। परन्तु चित्त और गुण न तो जीवके स्वभाव हैं और न स्वरूप ही। वे तो उसके अज्ञान कल्पित शरीरमात्र हैं। विषयों-का निरन्तर सेवन करनेसे चित्त विषयोंमें प्रविष्ट हो गया है। अपने शुद्ध स्वरूपको जानकर चित्त और विषय दोनोंका त्याग कर देना चाहिए। आत्मासे उनका कोई संबंध नहीं। (श्लोक २५, २६)। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, जो गुणों (सत्त्व, रज, तम) के अनुसार आया जाया करती हैं। जीव इन तीनोंसे परे उनका साक्षी मात्र है। इन अवस्थाओंको वह अपनी अवस्था समझकर बँध जाता है। जब यह अनुभव हो जाता है कि मैं तीनोंसे परे तुरीय तत्व हूँ, तब गुण और चित्तका एक साथ त्याग हो जाता है, उन्हें अलग करना नहीं पड़ता। यह जानकर कि अहंकार ही बंधन तथा सारे अनर्थोंका मूल है, मनुष्य संसारचिंतनसे विरक्त होकर तुरीय आत्मचिन्तनमें स्थिर हो जाय। जबतक मनुष्यकी नानात्व भ्रान्ति मिट नहीं जाती तबतक वह अज्ञानी जागता हुआ भी सोया ही हुआ है। (श्लोक २७-३१)। बिना अपने स्वरूपमें स्थित हुए चित्त और गुणोंके अलग करनेकी समस्या हल नहीं हो सकती। हृदयमें रहनेवाले अहंकारको ज्ञानखड्गसे काट डालो।

टिप्पणी—८ (क) 'भक्त अनुकूल'—'भक्तानुकूलं'. ५३ (६ छ) देखिए। (ख) 'भवसूलनिर्मूलकर' इति। जन्म-मरणमें जो पीड़ा होती है, बार-बार अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेका दुःख, द्वैतजनित संसृतिदुःख, अपार शोक, संदेह, संशय आदि, अनेक दुर्गम विषय मनोरथ तथा अन्य समस्त भवजनित दुःख 'भवशूल' हैं। अथ

'भवसूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि-हठि चल्यो। बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं॥''आगे अनेक समूह संसृति उदरगत जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥ शोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत्त सोवही। १३६।', 'जौ निज मन परिहरै विकारा। तौ कहाँ द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा। १२४।', 'कहु केहि कहिय कृपानिधे भवजनित विपति अति। इंद्रिय सकल विकल सदा निजनिज सुभाउ रति। १२५।', 'विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना। ७।१२१।३२।'

श्रीरामजीका स्मरण भजन करनेसे वे भवजनित शूलोंको मिटा देते हैं। यथा 'जाको नाम लिये छूटत भव-जन्म-मरन-दुखभार। ९८।' प्रभु 'भवशूलनिर्मूलकर' हैं, इसीसे ब्रह्मा, शिव, सुर, सिद्ध आदि सभीने भवसे रक्षा करनेकी प्रार्थना की है। यथा 'भवप्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे। ६।१०९।' (सुरसिद्धादि) 'भव-वारनदारनसिंह प्रभो।''भवतारन कारनकाजपरं। ६।११०।' (ब्रह्माजी), 'भवबारिध मंदर परमं दर। बारय तारय संसृति दुस्तर। ६।११४।' (शिवजी), 'तव नाम जपामि नमामि हरी। भव-रोग महागद मान अरी। रघुनंद निकंदय द्वन्द्वघनं। ७।१४।' (शिवजी), 'भवखेदछेदनदच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे। ७।१३।' (वेद), 'द्वंद विपति भवफंद विभंजय। ७।३४।८।' (सनकादिक), 'त्रातु सदा नो भव खग बाज: ३।११।६।' (सुतीक्ष्णजी)।

८ (ग) 'तूल अघ नाम पावक समानं' इति। अर्थात् जैसे रूई का ढेर अग्निसे क्षणमात्रमें बिल्कुल जल जाता है, वैसे ही नाम पापराशिको सहज ही क्षणभरमें भस्म कर डालता है। यथा 'जासु नाम पावक अघ तूला।२।२४८।२।', 'रामेति नाम यच्छ्रोत्रे विश्रम्भादागतं यदि। करोति पापसंदाहं तूलं वह्निकणो यथा॥ प० पु० पाताल० २०।८०।' अर्थात् श्रीराम यह नाम यदि कानमें भी पड़ जाय तो वह पापोंको ऐसा भस्म कर देता है, जैसे कि अग्निका कणमात्र रूईको भस्म कर देता है।

श्रीरामनाममें अघसमूहोंको तुरत और सहजमें ही भस्म कर देनेकी शक्ति दिखानेके लिए 'तूल'-'पावक' का दृष्टान्त दिया। ईंधन (लकड़ी) कितनो ही सूखी हो, शरीर कितना ही कोमल हो, इत्यादि

अन्य कोई वस्तु इतनी शीघ्र अग्नि भस्म नहीं कर सकती। इसीसे नामनिष्ठ गोस्वामीजीने उनका दृष्टान्त नहीं दिया। नाममें अचिन्त्य शक्ति है।

इस दृष्टान्तको देकर उन्होंने चरितकी अपेक्षा नामको विशेष सूचित किया। चरितके संबंधमें उन्होंने ईंधन-अनलका दृष्टान्त दिया है। यथा 'कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड।१।३१।' ☞ हमें कई पुराणों रामायणोंमें खोज करनेपर 'तूल-पावक' का नामसंबंध एक यही उपर्युक्त श्लोक मिला था।

८ (घ) 'तरल तृष्णा तमी तरनि' इति। तृष्णाको तरल विशेषण दिया, क्योंकि यह सदा एक विषयसे दूसरे, दूसरेसे तीसरेके लिये, इसी तरह निरन्तर दौड़ती रहती है, कभी इसको तृप्ति नहीं होती। यह मनुष्यको पागल-सा बना देती है, इसका पेट कभी नहीं भरता। यथा—'तृष्ना केहि न कीन्ह बौरहा। ७।७०।८।', 'सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कर मति इन्ह कृत न मलीनी। ७।७१।६।' 'तृष्ना उदर बृद्धि अति भारी। ७।१२१।३६।', 'सो प्रगट तन जर्जर जरा वस ब्याधि सूल सतावई। सिर कंप इन्द्रियसक्ति प्रतिहत वचन काहु न भावई॥ गृहपालहूतें अति निरादर खानपान न पावई। ऐसिहु दसा न विराग तहँ तृष्ना तरंग बढ़ावई। १३६।', तृष्णा कभी पूरी नहीं होती, एक पूरी होते ही दूसरी आ लगती है, कभी चैन नहीं लेने देती। इसीसे उसे 'तरंग' कहा।

ऐसी तृष्णा भी श्रीरामजीकी कृपासे सहजमें ही जाती रहती है, यह दिखानेके लिये 'तमी-तरणि' की उपमा दी। सूर्योदयसे अन्धकार सहज ही नष्ट हो जाता है। यथा 'राम नाम मोदक सनेह सुधा पागिं है। पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै। ७०।'

८ (ङ) 'धरनीधरन', यथा 'भार धरन सतकोटि अहीसा। ७।६२।८' 'त्वं धारयसि भूतानि वसुधां च सपर्वताम्। वाल्मी० (पं०) ६। १२०।२२।', 'जड़ पंच मिलै जेहि देह करी, करनी धौं लखु धरनीधर की। जन की कहु क्यों करिहैं न सँभार जो सार करै सचराचर की। क०७।२७।' यह रूपके सम्बन्धमें कहा। इसी तरह नाम और चरित के सम्बन्धमें कहा है। यथा 'कमठ सेष सम धर बसुधाके। १।२०।७' (रकार, मकार), 'बिस्व भार भर अचल छमासी। १।३१।१०।'

'धरणीधर' नाम इससे भी है कि आपने वाराह रूप धारणकर अपनी दाढ़ोंपर पृथ्वीको धारण किया था और फिर उसे अपनी शक्तिसे जलपर स्थापित किया था।

८ (च) 'सरन भय हरन करुनानिधानं' इति। शरणका भय हरते हैं। यथा 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।', 'मम पन सरनागत भयहारी। ५।४३।८।', 'भय हरन' कहकर उसका कारण बताया कि 'करुणानिधान' हैं, शरणमें आते ही करुणा उमड़ आती है, फिर उसका दुःख देख नहीं सकते। विभीषणजीके शरण आनेपर कविजीने इसको स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। यथा 'करुनाकर की करुना भई। मिटी मीचु लहि लंक संक गइ, काहू सों न खुनिस खई। गी० सुं०।' जयन्त, सुग्रीव आदिके भी भय करुणावश दूर किये हैं। यथा 'अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी॥...जद्यपि द्रोह कियो सुरपतिसुत कहि न जाइ अति भारी। सकल लोक अवलोकि सोकहत सरन गये भय टारी॥...कपि सुग्रीव बंधुभय व्याकुल आयो सरन पुकारी। सहि न सके दारुन दुख जनके हत्यो बालि सहि गारो॥...१६६।'

टिप्पणी—९ 'देव बहुल बृंदारकावृंद वंदार...' इति। (क) देवताओंकी बहुत जातियाँ हैं, जैसे कि—यक्ष, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, नाग, आदित्य, सिद्ध, वसु, मरुत आदि। प्रत्येक जातिके पृथक्-पृथक् वृन्द और गण हैं। फिर इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि दिक्पालों लोकपालोंका अपना-अपना समाज पदाधिकारानुसार पृथक्-पृथक् है। इत्यादि जितने भी सब वृन्द हैं, उन सबोंसे वंदित जनाया। यथा 'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा। १।५४।' प्रत्यक्षरूपसे भी ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि विपुल देववृन्दोंका सेवा स्तुति वन्दना करना मानसमें प्रेमियोंने पढ़ा ही है। इतना ही नहीं, सेवा आदिके लोभसे वानर, भालु, कोल-किरात, भील और मनुष्य आदिके रूपसे भी आ-आकर सेवा की है। शिवजी हनुमान हुए, ब्रह्माजी जाम्बवान् हुए, इत्यादि।

९ (ख) पद ५१ (७) में 'अखिल मुनि निकर सुर सिद्ध गंधर्व बर नमत नर नाग' जो कहा था वही यहाँ 'बहुल बृंदारकावृंद' से सूचित किया गया। फिर पद ५३ (८) 'सिद्ध बृंदारकावृंद बंदित सदा' कहा

और यहाँ 'बहुल बृंदारकावृंद बंदारु पद वंद्य' कहा है। पूर्व दो पदोंमें रूपको प्रणाम और रूपकी वन्दना कही। ५३ (८ च) में उसके भाव लिखे गये हैं। यहाँ चरणोंकी वंदना कही है। इसका कारण यह है कि श्रीरामका ऐश्वर्य देखकर चित्त सहम जाता है, प्रार्थी समीपताके योग्य अपनेको नहीं देखता, पर जब यहाँ उनको 'भक्त अनुकूल, भवशूलनिर्मूलकर, शरणभयहरण, करुणानिधान' सुना, तब समीप चरणोंतक पहुँच चरणोंकी वन्दनाकर अपनेको चरणशरणमें आया हुआ जनाता है।

६ (ग) 'मंदारमालोरधारी' इति। यहाँ केवल मन्दार जो एक देववृक्षविशेष है, उसके पुष्पोंकी मालाका उल्लेख है। न तो इसमें 'तुलसिकाप्रसूनरचित' और न 'तुलसिकादलयुतं' तथा न 'वनमाल' ही शब्द है। सर्वप्रथम पद ५१ में वनमालका ध्यान कराया गया है। यथा 'सुमन सुविचित्र नवतुलसिकादलयुतं मृदुल वनमाल उर भ्राजमानं। ५१ (५)।' परन्तु प्रस्तुत पदमें वैसे कोई शब्द नहीं हैं जिससे पञ्चरंगके पाँच प्रकारके फूलोंकी वनमाला ही यहाँ भी अवश्य समझी जाय। ५१ (५ क) में 'वनमाल' पर विचार लिखे जा चुके हैं। कोई भी माला जो चरणोंतक लम्बी हो उसे वनमाल कहते हैं। इसके अनुसार मन्दारपुष्पोंका ही वनमाल यहाँ मेरी समझमें है।

'बहुल बृंदारकावृंद बंदारु पद वंद्य' कहकर 'मन्दारमालोरधारी' शब्दोंके रखनेसे सूचित होता है कि देवताओंने मन्दारपुष्पोंकी माला पहनाई है जो चरणतक लंबी है। माला पहनाकर वन्दना की है।

पाठकोंको जो माला रुचै जिसमें मन्दारपुष्पहीकी प्रधानता हो, उसे समझ लें।

६ (घ) 'पाहि मामीस संताप संकुल सदा ··' इति। यहाँ 'ईश' और 'रावणारी' सम्बोधितकर रक्षाकी प्रार्थना करनेमें भाव यह है कि जैसे रावणसे विभीषणजीको रक्षा करनेको कोई दूसरा समर्थ न था, (यथा—'राखि बिभीषन को सकै अस काल गहा·को।१५२।') वैसेही मुझ सन्तप्तकी रक्षा महामोहरूपी रावणसे करनेको एकमात्र आपही समर्थ हैं। मैं प्रणत हूँ, चरणोंकी शरण हूँ, अतएव मेरी रक्षा कीजिए।—ऐसे ही आगे पद १८१ में भी प्रार्थना की है। यथा 'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं। त्राहि तुलसीस त्राहि तिहूँ ताप तयो हौं।'—इसमें भी 'ईश' और 'रावण' शब्द आये हैं।

'संताप' ही 'तिहूँ ताप' है और 'संकुल' (परिपूर्ण, भरा हुआ, व्याप्त) का भाव 'तयो हौं' में है।

पुनः, 'पाहि मां' कहनेका भाव कि प्रणतके मुखसे 'पाहि' निकलते ही प्रभु शीघ्र रक्षा करनेको उद्यत हो जाते हैं। यथा 'सकृत नतमात्र कहे पाहि पाता।४४ (६)।', 'दास तुलसी सदय हृदय रघुवंसमनि पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन तरन। गी० ५।४३।', अतः 'पाहि मामीस''''प्रनत' कहा।

'संताप संकुल सदा' का भाव कि मोह समस्त व्याधियोंका मूल है, वह अपनी सेनासहित सदा पीड़ित किये रहता है। यथा 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।''''पीड़हिं संतत जीव कहँ सो किमि लहै समाधि। ७।१२१।''''नास न पावहिं जनपरितापी॥' और मुझे तो इनके राजा महामोहने ही संतप्त कर रक्खा है। रावण तो एक ही कालमें था, कुछ युगोंमें ही था और विभीषणको तो इसने अपने मरणकालके कुछ दिन ही पूर्व सताया था, पर महामोह तो अनादिकालसे मुझे संतप्त किये चला आ रहा है, किसी भी योनिमें पीछा नहीं छोड़ा और अव भी पीछे लगा है। अतएव इससे मेरी रक्षा कीजिए। 'सदा' का अन्वय 'पाहि', 'संकुल' और 'प्रनत' तीनोंके साथ कर लें। अर्थात् जव तक मैं शरणमें न आया था, तवतक संताप सहा सो उचित था, पर अव तो मैं सदा आपकी शरण हूँ, यथा 'तजि आस भो दास रघुप्पति को दसरत्थको दानि दया दरिया। क० ७।४६।', 'जानकीनाथ बिना तुलसी, जग दूसरे सों करिहौं न हहा है। क० ७।१०१।', 'हौं तो बिनु मोल्ल ही विकानो वलि बारे ही ते ओट रामनाम की ललाट लिखि लई है। (बाहुक ३८), इत्यादि। अतएव अव आप सदा रक्षा करें।—'अव रावरो कहाइ न बूझिये सरनपाल सासति सहौं।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

५५

देव[1] संतसंतापहर विश्वविश्रामकर राम कामारि-अभिरामकारी।
सुद्धबोधायतन सच्चिदानंदघन सज्जनानंदवर्द्धन खरारी॥१॥

---

[1] देव—इस पद भरमें यह शब्द ५.१, वै०, दीन, वि०, भ०, ७४, मु० में नहीं है। रा०, भा०, वे० में है।

देव सीलसमताभवन बिषमता-मति-समन राम रामारमन[२] रावनारी।
खड्ग-कर-चर्म वर वर्म धर रुचिर-कटि-तून सर सक्ति सारंगधारी।२।
देव सत्यसंधान निर्वानप्रद सर्बहित सर्वगुनज्ञानविज्ञानसाली।
सघनतम घोर संसार भर सर्वरी नाम[३] दिवसेसखरकिरनमाली[४]।।३।।
देव तपन[५] तीछन[६] तरुन[७] तीव्र तापघ्न तपरूप तनु[८] भूप तमपर तपस्वी।
मानमदमदन मत्सरमनोरथमथन मोह अंभोधिमंदर मनस्वी ।४।
देव बेद बिख्यात बरदेस बामन बिरज बिमल बागीस बैकुंठ स्वामी।
कामक्रोधादिमर्दन बिबर्धन-छमा सांत[९]-बिग्रह बिहगराजगामी ।५।
देव परम पावन पापपुंजमुंजाटवी अनल[१०] इव निमिष निर्मूलकर्त्ता।
भुवनभूषनदूषनारि भुवनेसभूनाथ[११] श्रुतिमाथ जय भुवनभर्त्ता ।६।
देव अमल अबिचल अकल सकल संतप्त कलि बिकलता भंजनानंदरासी
उरगनायकसयन तरुनपंकजनयन छीरसागरअयन सर्बबासी ।७।
देव सिद्धकबिकोबिदानंददायक पदद्वंद मंदात्म मनुजैर्दुरापं।
यत्र[१२] संभूत अति पूत जल सुरसरी दर्सनादेव अपहरति पापं ।८।
देव नित्य निर्मुक्त संजुक्त गुन निर्गुनानंत भगवंत न्यामक नियंता।
बिस्वपोषनभरन बिस्वकारनकरन सरन तुलसीदास त्रासहंता।९।

नोट—१ इस पदमें 'रूप' और 'नाम' के सहारे श्रीरामजीके परम कारणरूपकी विनय की गई है। उपासकोंको प्रत्येक पदका मुख्य सिद्धान्त समझ लेना चाहिए। (लाला भगवानदीन)।

---

[२] रामारमन—भा०; बे०, ह०, ज०, श्रा०। रामारवन—रा०, १५। रमारमन— ५१, डु०, वै०। सीतारमन—७४। [३] नाथ—बे०। [४] किरिनमाली—ह०, ज०। [५] तपन—रा०, ह०, ५१, श्रा०, ७४। तप्त—भा०, बे०, ज०। [६] तीक्ष्न—भा०, बे०, ह०, श्रा०। तीक्ष्ण—रा०। [७] तरनि—ज०। [८] तनु—रा०, ह०, ५१, ज०, ७४, मु०। तन—भा०, बे०। [९] शांत—रा०, ह०, ७४, १५। सांति—भा०, बे०, ५१, मु०, ज०। [१०] अनलमिव—वै०। [११] भुवनाथ—ज०। [१२] यत्र—रा०, भा०, बे०, १५, ह०, ५१। जत्र—ज०, ७४, भ०।

शब्दार्थ—वर्द्धन = वृद्धि करनेवाले, बढ़ानेवाले। रामा—श्रीजानकीजीका एक नाम है। पद ५१ (१) में भी 'रामाभिरामं' आया है। सत्यसंधान = अचूक निशानावाले। शाली = पूर्ण, युक्त। जैसे—'संपत्तिशाली'। 'सामशाली'—४४ (१) देखिए। दिवसेस (दिवसईस) = दिनके स्वामी = सूर्य। तपन = सूर्य। यथा 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः इत्यमरे।' तापघ्न = तापके नाशक। तम = अविद्या माया, मोह। मंदर = मन्दराचल; पर्वत। मनस्वी = मनको जीतनेवाला। = जितमनस्क। = विचारशील (दीन, वि०)। = स्वेच्छा (स्वच्छंद) चारी (वीर)। = सदा प्रसन्न मनवाला। (वै०)। तम पर = अविद्यासे परे। = परतम प्रभु = सर्वश्रेष्ठ। विरज, वामन, वरदेश, वैकुंठ—५३ (८ क, ग, ङ), ५२ (५ क, ख), ५३ (८ घ) देखिए। बागीश—५४ (१ च) देखिए। बिमल = दिव्य कल्याणगुणप्रकाशक; माया-विकाररहित। विवर्धन = खूब वृद्धि करनेवाले। विहगराज = पक्षिराज, गरुड़। मुंज = मूँज जिसकी रस्सी बनती है, चारपाई बुनी जाती है। अकल = टि० ७ (क) में देखिए। उरगनायक = सर्पराज, शेषजी। दुरापं = दुःप्राप = अप्राप्य; कठिनतासे प्राप्त होनेवाले या न प्राप्त होनेवाले।—(यह शब्द श० सा० में नहीं है)। = दुर्लभ (ह०)। मंदात्म = जिसकी आत्मा मोहसे जड़ हो रही है। दर्शनादेव = दर्शनाद् एव = दर्शनमात्रसे ही। निर्मुक्त—'नित्यमुक्त' ५३ (६ क) देखिए। नित्य निर्मुक्त—जीव साधन करके मुक्त होते हैं, किन्तु आपको कभी भी न बंधन था, न है और न होगा, यह भाव 'निर्मुक्त' में है।

पद्यार्थ—देव श्रीरामचन्द्रजी ! आप सन्तोंके सन्तापके हरनेवाले, विश्व (को बनाकर उसी) में विश्राम करनेवाले‡ सबमें रमण करनेवाले एवं योगी आदि जिसमें रमण करते हैं, कामके शत्रु श्रीशिवजीको आनन्दित करनेवाले, निर्मल ज्ञानके घर, सच्चिदानन्द- घन (अर्थात् सत् चित् आनंदकी वर्षा करके औरोंको भी सच्चिदा-

---

‡ अर्थान्तर—१ संसारमें शान्ति स्थापित करनेवाले। (दीन, वि०)। २ संसारको स्थिर सुख एवं शान्ति प्रदान करनेवाले। (श्री० श०) ३ संसारमें आराम करनेवाले। (सू० शु०)। ४ संसारको विश्राम करानेवाले। (भ०)। ५ संसार अर्थात् भवभ्रमित जीवोंको थिर सुख देनेवाले हो। (वै०)।

नन्दनरूप बनानेवाले एवं सत् चित् आनन्दके समूह), सज्जनोंके आनन्दके बढ़ानेवाले, और खरारी (अर्थात् परम अजेय, महामायापति और परमाशोभासौंदर्यवाले) हैं। १। देव श्रीरामचन्द्रजी! आप शील समताके निवासस्थान, बुद्धिकी विषमता (अर्थात् किसीको शत्रु, किसीको मित्र और किसीको उदासीन समझना, इत्यादि भेदबुद्धि) के नाशक, श्रीजानकीजीके पति, रावणके शत्रु, हाथोंमें तलवार और उत्तम ढाल, शरीरमें श्रेष्ठ (अभेद्य) कवच धारण किये, सुन्दर कमरमें तरकश (कसे) और बाण, शक्ति तथा शार्ङ्ग धनुष धारण किये हैं। २। देव! आप सत्यसंधान (अर्थात् जिनके बाण लक्ष्यपर कभी विफल नहीं होते, निशाना नहीं चूकते) † मुक्तिके देनेवाले, सबके हितकारी और सर्वगुणज्ञानविज्ञानशाली हैं (अर्थात् समस्त दिव्य कल्याणगुणोंसे युक्त और परिपूर्ण ज्ञान विज्ञानवाले हैं)। सघन अंधकारसे पूर्ण भयंकर भारी संसाररूपी रात्रिके लिये आपका नाम तीक्ष्ण किरणसमूहवाला सूर्य्य है । ३। देव! आप तरुण (मध्याह्नकालके) तीक्ष्णसूर्यके तेज कठिन तापके नाशक *, तपोमूर्त्ति, नृपशरीरधारी, मोहसे परे एवं परतम प्रभु और तपस्वी हैं। हे जितमनस्क! आप मान-मद-मदन (काम) मत्सर (ईर्ष्या,

---

† अर्थान्तर—१ सत्य प्रतिज्ञावाले। (वै०, भ०)। २ सत्यसंध। (दीन) सत्यसंकल्प । (वि०)। ३ सत्याचरण । (वीर)।—ये सब अर्थ 'सत्यसंध' के हैं। मेरी समझमें सत्यसंध और सत्यसंधान पर्य्यायवाची शब्द नहीं हैं।

* अर्थान्तर - १ अत्यन्त गर्म है तपन जिसकी, तरुण (अर्थात् नित्यनवीन) तीव्र ताप अर्थात् नित्य नई अत्यन्त गर्म है तपन जिसमें ऐसी संसारके तापके नाशक हैं। (वै०)। २ तुम्हारी तपन बड़ी तेज है, फिर तुम संसारके नये नये और तीव्र सन्तापोंके हरनेवाले हो। (भ०)। ३ तापरूपी तीक्ष्ण तरुण सूर्यके तापको नशानेवाले। (वीर)। ४ आपका तेज बड़े तीक्ष्ण और तरुण सूर्यके तेजको नाश (अर्थात् मात) कर देता है। (दीन)। ५ आपका तेज बड़ा ही तीक्ष्ण है। संसारके नित्य नूतन और प्रचंड तापके आप नाशकर्ता हैं। (वि०)। ६ अपनी तीक्ष्ण तपनसे महातीव्र त्रैताप नाशते हो। (सू० शु०)। ७ आप अपने प्रतापके द्वारा तरुण तीक्ष्ण सूर्यके समान हैं परन्तु अपने आश्रितोंके तीव्र तापोंका नाश करनेवाले हैं (श्री० श०)।

(डाह)-मनोरथ (मनकी वासनायें)-मोहरूपी समुद्रको मथनेके लिये मन्दराचलरूप हैं।४। देव! आप वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, (ब्रह्मादि) वरदाताओंके स्वामी हैं, वामन अर्थात् अपनी दृष्टि तथा श्रीअंगकान्तिसे भक्तोंको सुख देनेवाले, एवं वामनरूपधारी भी आप ही हैं। सदा विशुद्ध, निर्मल, वाणीके स्वामी, प्रेरक एवं अधिष्ठाता, वैकुण्ठपति, कामक्रोधादिके नाशक, क्षमाकी वृद्धि करनेवाले, शान्तस्वरूप (सौम्यमूर्त्ति) और पक्षिराज गरुड़पर चलनेवाले हैं (अर्थात् गरुड़ आपके वाहन हैं)।५। देव! आप परम पावन, पापसमूहरूपी मूँजके वनको अग्निके समान निमिषमात्रमें जड़से नाश करनेवाले, त्रैलोक्यभूषण, दूषण राक्षसके शत्रु (अर्थात् उसको मारनेवाले) एवं दूषणोंके नाशक, समस्त भुवनोंके स्वामी (अर्थात् ब्रह्माण्डनायक), पृथ्वीपति, श्रुतियोंके मस्तक, समस्त भुवनोंके पालन पोषण रक्षण करनेवाले (श्रीरामजी) आपकी सदा जय हो।६। देव! आप शुद्ध स्वरूप, किसी प्रकार न चलायमान होनेवाले, कलारहित संपूर्णकलाओंसे युक्त, कलिके (एवं कलि द्वारा) संतप्त लोगोंकी व्याकुलताके नाशक और आनन्दकी राशि हैं। आपही शेषशायी हैं, ताजे पूर्ण खिले हुए कमलके समान आपके नेत्र हैं, क्षीरसागर आपका ही स्थान है और आप सर्वत्र (चराचरमात्रमें) रहनेवाले हैं।७। देव! आपके युगल चरण, जहाँसे उत्पन्न हुई अत्यन्त पवित्र जलवाली गंगाजी दर्शनमात्रसे पापोंको हर लेती हैं, सिद्ध, कवि और कोविदोंको आनन्द देनेवाले और नीचात्मा मनुष्यको दुर्लभ हैं।८। देव! आप नित्य हैं, निर्मुक्त (सदा मायाबंधनसे मुक्त), दिव्यगुणसंपन्न एवं 'संयुक्त गुण' नामधारी, मायिक हेय गुणोंसे रहित, अनन्त, भगवंत (सम्यक् ऐश्वर्य संपन्न) नियामक और नियन्ता (अर्थात् सबकी रुचि रखते हुए, अपने आज्ञाधीन सबको अपने वशमें रखते हुए सबको अपने नियमों पर चलानेवाले); विश्वमात्रका धारण-पोषण करनेवाले, विश्वके कारण (उत्पन्न करनेवाले) और करण (उत्पत्तिकी सामग्री), जीवोंको शरण देनेवाले और शरणागत तुलसीदासके त्रासके नाशक हैं।९।

टिप्पणी—१ 'देव संत संतापहर...' इति। (क) 'संत' वे हैं जो मानस आदिमें कथित सन्त लक्षणोंसे युक्त हों। सच्चे सन्तोंके लक्षण—यथा "विषय अलंपट सील गुनाकर। परदुख दुख सुख

सुख देखे पर ॥ सम अभूतरिपु बिमद विरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥ कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मम भगति अमाया। सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥ बिगत काम मम नाम परायन। सांति विरति बिनती मुदितायन ॥ सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपदप्रीति धर्म जनयत्री॥ ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर ॥ सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं। निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज। ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुख पुंज ।७।३८।' अरण्यकांडमें भी श्रीरामजीने नारदजीसे संतलक्षण कहे हैं। दोहा ४५ (७) से ४६ (८) तक।—'तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहँ देह न गेह।'—ऐसे सन्तोंको संताप कहाँ? पर यदि दैवयोगसे कभी आ पड़े; तो प्रभु उसे स्वयं दूर करते हैं। अम्बरीष महाराज, प्रह्लादजी, युधिष्ठिरजी, नारदजी आदि उदाहरणमें लिये जा सकते हैं। इनकी कथायें प्रख्यात हैं। 'संताप'= दैहिक, दैविक और भौतिक सभी ताप।—४० शब्दार्थ और ५६ (५ ग) में देखिए।

१ (ख) 'विश्वविश्रामकर' इति। विश्वभरमें व्याप्त होनेसे, चराचरमात्रमें निवास करनेसे, विश्वमें विश्राम करनेवाला कहा। ५४ (१) में जो 'विश्वायतन' कहा था, वही भाव यहाँ 'विश्वविश्रामकर' से जनाया। घरमें आराम किया जाता ही है। 'कर' का अर्थ है 'करनेवाला'। (टीकाकारोंके अर्थ पद्यार्थकी पाद-टिप्पणीमें दिये गए हैं) *—५४ (१ ग) देखिए।

---

* (१) 'विश्वको विश्राम देनेवाले' अर्थ करें, तो इसमें पद ५१ (१) 'विश्वविश्राम' टि० १ (ङ) का भाव होगा। वहाँ 'कर' शब्द नहीं है।

(२) "जैसे अनिर्वचनीय ब्रह्म संसारका प्राण 'ॐ कार' रूप हुआ, ऐसे ही भक्तोंके चतुष्टय-अन्तःकरण और इन्द्रियोंको विश्राम देनेवाला उनके प्रेमयोगसे परमप्रिय रूप दशरथनन्दन राम हुआ। जैसे अग्नि सगुणनिर्गुण रूपसे विहार करता है, वैसे ही अनिर्वचनीय परमात्मा सगुण-निर्गुणरूप तरंगोंसे कल्लोल करता है।"—(सू० शु० ने अगले पद ५६ की व्याख्या इस प्रकार की है। हमने उसे 'विश्रामकर' की व्याख्यामें उचित समझकर यहाँ लिखा है)।

१ (ग) 'राम' इति। यह शब्द आगे फिर आया है। अतएव यहाँ 'राम' का अर्थ ही ग्रहण किया गया है। 'स्वगुणैः रम्यते राम ईरितः।' तथा 'रम्यतेऽस्मिन् सदा सर्वैर्गुणरूपवशीकृतैः।' इस निरुक्तिके अनुसार 'आपके रूप और गुणसे वशीभूत होकर सब आपमें रमण करते हैं, इससे आपका नाम 'राम' है तथा "अपनी अचिन्त्य शक्तिसे आप सबमें रमण करते हैं, इससे भी आपका 'राम' ऐसा नाम है"—ये अर्थ हैं। वाल्मी० २।५३।१ में कहा है कि 'रामो रमयतां श्रेष्ठ' रमण करानेवालों आनंद देनेवालोंमें राम श्रेष्ठ हैं। अन्यत्र 'गुणाभिरामं रामं च' अर्थात् श्रेष्ठ गुणोंसे शोभित होनेसे 'राम' कहे गए हैं। पुनश्च वाल्मी० २।१।३३ 'गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥' (अर्थात् राम अपने गुणोंसे ऐसे शोभित होते हैं, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे शोभाको प्राप्त होता है)।

पुनः, रा० पू० ता० उपनिषद १।६ के अनुसार 'राम' का अर्थ इस प्रकार है—"रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥ तथा रामस्य रामाख्या भुविस्यादथ तत्वतः॥" अर्थात् जिस सच्चिदानन्द अनन्त स्वरूपमें योगी लोग स्थिर हो जाते हैं, उस सच्चिदानन्द परस्वरूपका नाम 'राम' है। वह ही ये दाशरथी राम हैं।

१ (घ) 'कामारि अभिरामकारी' इति। 'कामारि' का भाव कि कामनारहित हैं, निष्काम हैं, ऐसे शंकरजीको भी आनन्द देनेवाले हैं, यथा 'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ वेष कृत सिव सुखद।७।८८।' इसी तरह और भी जो निष्काम भक्त हैं, उनको भी आनंद देते हैं। पुनः 'राम' कहकर 'कामारि अभिरामकारी' कथनका भाव कि आपके रूप और गुणके वशीभूत होकर शंकरजी आपमें ही आनंद मानते हैं। यथा 'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप-सील-निधि तेज बिसाला॥... संकर सोइ मूरति उर राखी ॥१।७६-७७।' हृदयमें बसकर उनको आनन्द देते हैं। यथा 'शर्वहृदिकंजमकरंदमधुकर रुचिर रूप भूपालमनि। ५३ (१)।', 'मदनरिपुकंजहृदि चंचरीकं।४६ (२)।', 'मारहरहृदयमानस मरालं।५१ (३)।' यही वर शिवजीने माँग लिया है। यथा 'बसहु रामनृप मम उर अंतर। लं० ११४।'

१ (ङ) 'शुद्धबोधायतन सच्चिदानंदघन' इति। ज्ञान जो भगवत्प्राप्तिका साधन है, वह भी तो सत्वात्मिका प्रकृतिकी ही एक वृत्तिविशेष है,

उसका भी अन्तर्भाव प्रकृतिमें होगा। सत्वगुण ज्ञान है। अतः वह भगवान्का स्वरूप नहीं हो सकता। इसलिये 'शुद्धबोधायतन' कहा। पूर्व आये हुये 'शुद्धबोधैकघन ज्ञान गुणधाम ।५२ (८)।', 'सुविशुद्धबोधायतन ।५३।' तथा आगे ५६ (१) 'विमल विज्ञानविग्रह' तथा यहांके 'शुद्धबोधायतन' में भावसाम्य है। ५३ (२ ङ) देखिए।

'शुद्ध' और 'बोधायतन' को दो शब्द भी मान सकते हैं। आप शुद्ध हैं और 'ज्ञानधाम' हैं—यह अर्थ होगा। 'ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी ।१।५१।२।' ज्ञान होनेपर विशुद्ध बोधके द्वारा विद्वान् पुरुष जिन्हें प्राप्त करते हैं, वे 'ज्ञानधाम', 'ज्ञानस्वरूप' 'शुद्धबोधायतन' नामसे कहे जानेवाले परब्रह्म आपही हैं। 'शुद्ध' यथा 'स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः' (वि० पु० १।६।४४) अर्थात् जो समस्त शुद्ध पदार्थोंसे भी परम शुद्ध है। 'सच्चिदानंदघन'–सच्चिदानंदमूलं ५३ (६ घ)। 'सच्चिदानंद-आनंदकंदाकरं ।५१ (१ ग-घ)।', ४३ (१ क, ग) देखिए।

१ (च) 'सज्जनानंदवर्द्धन खरारी' अर्थात् सज्जनोंको संसार 'निजप्रभुमय' दिखाई देकर आनंद देते हैं, इसीसे फिर 'खरारी' नाम दिया। तात्पर्य कि जैसे खर आदिके संग्राममें सब राक्षसोंको सब 'राम' ही दिखाई देने लगे थे, वैसे ही इनको सर्वत्र परम शोभासुषमारूप श्रीरामजीका ही दर्शन होता है। अपनी अपार शोभासे उनके आनंदको बढ़ाते रहते हैं।—यहाँ आनन्दही आनंदका प्रसंग होनेसे यह भाव है।

पुनः, 'खरारी' से खरदूषण आदि तथा अन्य खलोंका संहार कहा। इनका संहारकर सज्जनोंके दुःखोंको हरकर उनको आनंद देनेसे 'सज्जनानंद' को बढ़ानेवाले कहा। पुनः 'सज्जनाश्रय' आपका एकनाम है। (वि० स० ना०)। सत्पुरुषोंको शरणदाता होनेसे भी 'सज्जनानंदवर्द्धक' कहा।

टिप्पणी—२ (क) 'सील-समता-भवन' इति। साधारणतया 'शील' का स्वरूप यह है—मन-कर्म-वचनसे किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना; सबपर दया करना; अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरोंके लिए हितकर न हो अथवा जिसके करनेमें संकोचका अनुभव होता हो, उसे कदापि न करना; जो कर्म जिस प्रकार करनेसे मानवसमाजमें प्रशंसा हो उसे इसी प्रकार करना। यथा 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतद्

प्रशस्यते ॥ यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् । अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥ तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि । शीलं समासेनैतत्... । म० भा० शान्ति० १२४।६६-६८।' धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी ये सब शीलके आधारपर टिके रहते हैं।—'धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम् । शीलमूला महाप्राज्ञ··· । श्लो० ६२।'—यह लक्ष्मीजीने प्रह्लादजीसे कहा है।—अतः 'शीलभवन' कहनेसे धर्म-सत्य-सदाचार-बल और श्री सबके निवासस्थान सूचित किया।—'गुन सील कृपा परमायतनं।७।१४।' (श्रीशिवजी)।

'समता'—शत्रु, मित्र और उदासीनके प्रति चित्तमें समान भाव होना 'समता' गुण है। समतापूर्ण बर्ताव करनेवाला पुरुष लोकोंमें श्रेष्ठ और योगी गिना जाता है, उसमें सत्य, शम, दम, धीरता, स्थिरता, निर्लोभता और आलस्यहीनता आदि गुण प्रतिष्ठित होते हैं तथा भगवान् सदा उसके भीतर विराजमान रहते हैं। (प० पु० सृष्टि० ४७)। 'समताभवन' का भाव कि जिस समताका यह प्रभाव है, उसके निवासस्थान आपही हैं, यह गुण आपकी कृपासे प्राप्त होता है। इसीसे श्रीसनकादिकजी माँगते हैं—'दीनबंधु समता बिस्तारय। ७।३४।४।'

गीतामें भगवान्ने कहा है कि मैं सब प्राणियोंमें सम हूँ, न मेरा कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय है; 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।९।२९।' भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्यजीने 'सम' और 'द्वेष' की व्याख्या इस प्रकार की-है। "जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं, तथा जाति, स्वभाव, आकार और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा 'सम' भाव है। 'यह प्राणी जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिए मेरा द्वेषपात्र नहीं है। अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है। तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यंत श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है।"

भगवान्ने अपनेको सभी प्राणियोंके प्रति समान होना इसी भावसे कहा है। श्रीस्वामी शंकराचार्यजी भी लिखते हैं कि 'समोऽहं …प्रियः' का भाव यह है कि "मैं अग्निके समान हूँ। जैसे अग्नि अपनेसे दूर रहनेवाले प्राणियोंके शीतका निवारण नहीं करता, पास आनेवालोंका ही करता है, वैसे ही मैं भक्तोंपर अनुग्रह किया करता हूँ, दूसरोंपर नहीं।"

गीताके अनुसार भगवान्के 'समता-भाव' का अर्थ यही है, नहीं तो उनका अवतार ही 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' होता है।

२ (ख) 'बिषमता मति समन' का भाव कि स्वयं समताभवन हैं और अपने आश्रितोंकी विषम बुद्धिका नाश कर उनको अपना प्रिय बनाते हैं। इसीसे तो सनकादिकने प्रार्थना की है कि 'मन संभव दारुन दुख दारय। दीनबंधु समता विस्तारय॥ आस त्रास इरिषादि निवारक। ७।३५।'

२ (ग) 'राम रामारमन रावनारी' इति। स्वयं शील समताभवन हैं, भक्तोंकी विषम बुद्धिको निवारण करते हैं, पर उनमें बिषम व्यवहार देखा-सुना जाता है। इस शंकाके निराकरणके लिये 'रामारमन रावनारी' कहा। अर्थात् सम होनेपर भी वे भक्त और अभक्तके अनुसार सम और विषम होते हैं। यथा 'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥…तदपि करहिं सम बिषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा।२।२१९।', 'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।' आप श्रीजानकीजीके पति हैं। श्रीजानकीजी आपकी अनन्य भक्ता हैं। रावणने उनको हरणकर उनका अपराध किया। अतः आपने उसको अपराधका दण्ड दिया। इससे समताभावमें कोई त्रुटि नहीं आती। रावणवध होनेपर देवगणने यही बात कही है। यथा 'विश्वद्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गएउ कुमारगगामी॥ तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एकरस सहज उदासी।६।१०९।४-५।'

'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।' इस नियमके अनुसार उसको उसके कर्मका फल दिया गया।—ऐसी दुष्टता करनेपर भी यदि वह शरणमें आ जाता, तो प्रभु अपने 'सम' भावसे उसे. अवश्य अपना लेते। वे सबके लिए सम हैं, पर अ

उनके पास आवे तो !—यह भाव गीताभाष्यके उपर्युक्त उद्धरणके अनुकूल है ।

वर्म = कवच । लोहेकी कड़ियोंके जालका पहनावा जिसे योद्धा लड़ाईमें पहनते हैं । चर्म—११ (५) शब्दार्थमें, तून (तूण, त्रोण)—५० (१ च), 'सुनिषंग' ४४ शब्दार्थमें देखिए । शार्ङ्ग-४४ शब्दार्थ देखिए ।

टिप्पणी—३ (क) 'सत्यसंधान' 'निर्वान प्रद' इति । संधान = धनुषपर बाण चढ़ानेकी क्रिया; बाणके लक्ष्य करनेका व्यापार; निशाना । सत्यसंधान = जिसका बाण लक्ष्यपर विफल नहीं जाता । 'सत्य संधान' कहकर 'निर्वानदाता' शब्द देनेका भाव यह भी है कि जो राक्षस आपके बाणोंसे मरते थे, वे मोक्ष पाते थे । यथा 'रघुबीर सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही । सुं० ३ ।', 'निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहिं बस करी ।३।२६ ।' जब क्रोध करनेपर मोक्ष देते हैं, तब भक्तके मोक्षकी बात ही क्या ? यथा 'सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो । सो एक राम अकाम हित निर्वानप्रद सम आन को ।७।१३० छं० ।' ☞ पिछले पदमें 'निर्वाण-स्वामी' कहकर स्तुति की थी, अब यहाँ निर्वाणका देना कहा । वस्तुका स्वामी ही उसे दे सकता है । पूर्व मोक्ष प्रदान करनेका अधिकार रखनेवाले कहा था, यहाँ अधिकारका प्रयोग कहा । ☞ 'रावनारी' हुए, अतः 'खड्ग चर्म··शार्ङ्गधारी' हुए, अस्त्रशस्त्र धारण करनेपर 'सत्यसंधान' हुए और रावणका वधकर उसे निर्वाण-पद दिया । ये सब क्रमसे कहे ।

३ (ख) 'सर्वहित' इति । यथा 'हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी । ७।४७।५।', 'उमा राम सम हित जग माहीं । गुर पितु मातु बंधु कोउ नाहीं ।४।१२।१।', 'प्रजानां च हिते रतः । वाल्मी० १।१।१२।' (अर्थात् प्रजाका हित करनेमें सदा तत्पर), 'सम्यग्योक्ता श्रेयसां । वाल्मी० २।२।४२।' (अर्थात् यथावत् सभीका कल्याण करनेवाले हैं), 'वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः । वाल्मी० २।१।३८।' (अर्थात् वे प्रजाकी वृद्धि चाहनेवाले हैं, सबप्राणियों-पर समान भावसे दया करते हैं), 'प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य । वाल्मी० २।२।३०।' (अर्थात् चन्द्रमाके समान सब प्रकारकी प्रजाको समान-

भावसे सुखी रखते हैं)। विशेष 'विश्वोपकारी ।' ४४ (३) टि० ३ (ग) देखिए ।

३ (ग) 'सर्वगुणज्ञानविज्ञानशाली'—यथा 'स च सर्वगुणोपेतः' 'यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः' (वाल्मी० १।१।१७, १२)। विशेष 'गुणगेह।' ४४ (३ ख) तथा ४३ (१ ञ) में देखिए।

३ (घ) 'सघन तम घोर संसार भर···' इति। घोरसंसारभर= भारी भयंकर संसार। संसार भारी भयंकर है। यथा 'अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी । १२१।', भर=भारी । =पूर्ण। इसका अन्वय सर्बरी और संसार दोनोंके साथ हो सकता है।

☞ भयंकरता और अंधकार क्या हैं ? महामोह आदि अविद्या सघन अंधकार है। चौरासीलक्षयोनियोंमें बारंबार भ्रमना इसकी भयंकरता है। यथा 'देव प्रबल अहंकार दुर्घट महीधर महामोह गिरिगुहा निबिड़ अंधकारं । ५९ (६) ।', 'मोह तम तरनि ।१०।', 'मोह-मद-कोह-कामादि खल संकुला घोर संसार निसि किरनमाली ।५६ (१) ।' का पूरा भाव यहाँके 'सघन तम···' में है।

टिप्पणी—४ 'देव तपन तीक्षन तरुन···' इति। (क) संस्कृत शब्द 'तपन' का अर्थ 'सूर्य' है। सूर्यका एक नाम 'तपन' भी है। 'तपन' पाठ ठीक और उत्तम है। 'तप्त' पाठमें 'तरुण' का अर्थ 'तरुण सूर्य' करना पड़ेगा, परन्तु ऐसा प्रयोग संभवतः कहीं नहीं किया गया है। 'तपन' का अर्थ 'गर्मी' भी होता है।

'तपन तीक्ष्ण तरुण तीव्र तापघ्न' कहकर जनाया कि सूर्यसे अधिक प्रकाश आपमें है, यथा 'मरुतकोटिसम विपुल बल रविसत-कोटि प्रकास ।७।९१।', 'सूर्यकोटिप्रतीकाशं । (५३)' (विष्णुसहस्रनाम) इससे आपके तेज और प्रतापको सूर्यकी अपेक्षा अत्यंत प्रबल प्रचंड जनाया। मानसमें उसका विस्तृत वर्णन सबने पढ़ा ही है। यथा 'जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा। ७।३१।१।' से 'यह प्रताप रबि जाके उर जब करै प्रकास ।७।३१।' तक। श्रीरामस्तवराजमें भी 'दाशरथिं सहस्रादित्य तेजसम् । ११।' कहा है।

मानसमें भी कहा है कि सूर्य उतना ही तपते थे जितनी आवश्यकता होती थी। यथा—'बिधु महि पूर मयूखन्हि, रबि तप जेतनेहि काज ।७।२३।'—यही प्रचण्ड सूर्यके तापका नाश करना है। अतएव

'तपन तीच्छन तरुन तीव्रतापघ्न' पाठ ठीक ही है।—इस अर्थमें एक शब्द भी ऊपरसे मिलानेकी आवश्यकता नहीं है।

'तपन तीक्ष्ण तरुण' और 'तीव्रतापघ्न' को दो गुण मानकर अर्थ सीधा-सादा यह होगा कि 'आप मध्याह्नकालके तीक्ष्ण सूर्य हैं और तीक्ष्ण तापों अर्थात् संतापोंके नाशक हैं'। तापसे तापत्रय अर्थ प्रायः कहा गया है। वैजनाथजीने 'संसारको ताप' अर्थ किया है।

[श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि तरुण तीक्ष्ण सूर्यके समान कहकर श्रीरामजीके प्रतापका स्मरण किया गया है। यथा 'जबते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।', 'जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥' 'तीव्रतापघ्न' का भाव कि प्राकृत तरुण सूर्य तो तापकर होता है, परन्तु श्रीरामप्रतापरूपी तरुण तीक्ष्ण सूर्य विलक्षण है, यह अपने समक्ष तीक्ष्ण तापकर संसाररूपी सूर्यके तेजको नष्ट कर देता है। संसार सूर्य, यथा 'ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।]

'तपरूप'=तपस्याकी मूर्ति, तपोमूर्ति।=तेजधाम; तेजस्वी। यथा 'रागादितमतरनि तारुन्य-तन-तेजधामं। ५१ (१)।' तपसे तेज होता ही है, यथा 'बिनु तप तेज कि कर बिसतारा।७।९०।५।' पुनः, 'तप आलोचने' धातुसे निष्पन्न 'तप' शब्द ज्ञानवाची है। तपरूप = ज्ञानरूप। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।' तथा 'तपसा चीयते ब्रह्म।' (मुं० १।१।९, १।१।८।) इन प्रमाणोंसे सर्वज्ञतारूप ज्ञानविकार ही तप है, आयासरूप तप नहीं है। (शाङ्करभाष्य)। तपस्वी = पूर्ण ज्ञानी। पुनः, 'तापस बेष बिसेष उदासी' धारण करनेसे 'तपस्वी' कहा।—इसके अनुसार 'शास्त्रानुकूल भोगोंके संकोचरूप कायक्लेश' का नाम 'तप' है। श्रीकृष्णजीने भी श्रीरामजीको महातपस्वी कहा है। यथा 'स चतुर्दशवर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः। म० भा० शान्ति २९।५१।' (अर्थात् महातपस्वी श्रीरामने चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करके)। श्रेष्ठ पुरुषोंके मतमें शरीरको शोषण करनेवाला उपवास तप नहीं है, त्याग और विनय ही उत्तम तप है,—'आत्मतन्त्रोपघातस्तु न तपस्तत्सतां मतम्॥ त्यागश्च संनतिश्चैव शिष्यते तप उत्तमम्। म० भा० शा० २२१।४-५।' और श्रीराममें ये दोनों गुण हैं, 'पिता बचन तजि राज उदासी। दंडक बन बिचरत अबिनासी'

यह त्याग और 'विनय सील करुना गुनसागर' यह तो परशुरामजीने ही स्वीकार किया है।—इससे भी 'तपरूप' हुए।

'तपरूप' कहकर जनाया कि अत्यन्त तेजस्वी हैं, अपने तेजसे सदैव प्रकाशित हैं।—'अमिततेजसि', 'दीप्यमानः स्वतेजसा' (म० भा० द्रोण० ५६।२,११ नारदवाक्य)।

'तमपर' अर्थात् अज्ञानमय महान् अंधकारसे परे। 'तपस्वी'—'तपरूप' की व्याख्यामें यह भी आ गया है।

४ (ख) 'मान-मद-मदन-मत्सर-मनोरथमथन०' इति। (१) आत्माभिमान एवं प्रतिष्ठाकी चाह 'मान' है,—'मानस्त्वात्माभिमानिता। म० भा० वन ३१३।६४।', 'परस्मादुत्कर्षचिन्तनेनौनत्यं मान उच्यते।' (२) 'मद' प्रायः रूप, यौवन, जाति, विद्या और महत्व पाँच प्रकारका कहा गया है जो भक्तिमार्गके लिये कंटक माने जाते हैं। यथा 'जातिविद्यामहत्त्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन परित्याज्या पञ्चैते भक्तिकंटकाः।' मद बहुत प्रकारका हो सकता है। वामनजीने सातके नाम गिनाकर 'आदि' कह दिया है। यथा 'जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः। यद्यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः। भा० ८।२२।२६।' अर्थात् यदि जन्म, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, प्रभुता और धन आदिका अभिमान न हो, तो यह मेरी दया ही माननी चाहिए। भाव यह है कि जाति (कुल) आदिका अभिमान हो जाना ही 'मद' का होना कहा जाता है,—'कुलाज्ज्ञानात् तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम्। म० भा० शा० १६३।१६।' (३) 'मदन (काम)'—जन्म-मरणरूप संसारका कारण जो वासना है, उसका नाम 'काम' है। दूसरेकी संपत्ति आदि देखकर न सह सकना, उससे हृदयमें जलन होना 'मस्तर' है। यथा 'कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः। म० भा० वन० ३१३।६८।', 'मत्सरोऽन्य शुभद्वेषे', 'परसंपत्त्यसहने मत्सरः।' काम संकल्पसे और मात्सर्य सत्यका त्याग तथा दुष्टोंका संग करनेसे उत्पन्न होता है। (४) 'मनोरथ'—मान-मद-मत्सरके साहचर्यसे यहाँ विषयोंके नाना मनोरथ वा संकल्प अभिप्रेत हैं। (५) 'मोह'—धर्ममूढ़त्व ही मोह है, यह अज्ञानसे उत्पन्न होता और पापकी आवृत्तिसे बढ़ता है,—'मोहो हि धर्ममूढत्वं।', 'अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात् प्रवर्तते।' (म० भा० वन ३१३।६४, शान्ति

१६३।११)। गीतामें कहा है कि तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं;—'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।१४।१७।' अर्थात् परम्परासे बढ़े हुए तमोगुणसे प्रमाद (असावधानताके कारण होनेवाली असत्कर्ममें प्रवृत्ति), प्रमादसे विपरीत ज्ञानरूप मोह, उससे तमोगुणकी औरभी वृद्धि और उससे फिर अज्ञान (ज्ञानका अभाव) होता है। (श्रीरामानुजभाष्य)। 'अनात्मामें आत्माभिमान मान लेना और समस्त चेतनाचेतन वस्तु परम पुरुषका शरीर होनेसे वही जिसका आत्मा है, उसे अतद्रूप मान लेना (उसीका स्वरूप न मानना)' इत्यादि विपरीत ज्ञानरूप मोह है।

मान, मद, मदन, मत्सर, मनोरथ और मोह ये सब समुद्र हैं, इन सबोंका मंथन करनेके लिये आप मन्दराचलरूप हैं। अथवा, मानमदादिका मंथनमात्र कहकर मोहको समुद्र कहा, क्योंकि मोहही मानमदादिका मूल है, मोहके ही ये सब पुत्र-पौत्रादि हैं। यथा 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।···काम बात कफ लोभ अपारा।···विषयमनोरथदुर्गम नाना।···परसुख देखि जरनि सो छई।···दंभ कपट मद मान नहरुआ ।७।१२१।'—विशेष टि० ५ (घ) में देखिए।

टिप्पणी—५ (क) वामन आदिके भाव पद ५२, ५३, ५४ में आ चुके हैं। (ख) 'वरदेश' कहकर 'वामन' कहनेका एक भाव यह भी है कि आपके बलपर ही ब्रह्मादिक वर देते हैं। इसलिये आपको सभी प्रकारके रूप धारण करने पड़ते हैं। यह भी दिखाते हैं कि धर्मात्मासे भगवान्‌की भी नहीं चलती, इसीसे वरदेश होते हुये भी उनके भिक्षुक बने। वामनरूपसे बलिको छला था, इसीसे कहा कि आप 'विरज' हैं। अर्थात् यह न समझो कि उनमें रजोगुण आदि विकार हैं तभी तो छल किया। यहाँ 'भक्तपरतन्त्र', 'भक्तपराधीन' गुण दिखाया है। देवमाता अदितिका शोक हरने, उनको आनन्द देने तथा अपने परम भक्त राजा बलिको पूर्णतया अपना लेनेके लिये 'वरदेश' होकर भी भीख माँगी।

५ (ख) 'विरज, विमल···' इति। यहाँ इस चरणमें 'विरज', 'विमल' दो नाम दिये और फिर आगे चलकर 'देव अमल अविचल' में 'अमल' नाम दिया है। ये तीनों पर्य्याय शब्द एक ही पदमें आये हैं, अतः इनमें कुछ सूक्ष्म भेद अवश्य है। टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न

अर्थ किये हैं जो ये हैं–विरज = रजोगुणरहित (वै०, भ०, श्री० श०)। = मायासे परे (दीन)। = निर्मल (वीर) = विरक्त (वि०, पो०)। विमल = निर्मल (वै०, वीर, दीन, वि०, श्री० श०) । = विकाररहित (भ०)। अमल = रजोगुण, तमोगुण, कामादि मलरहित शुद्धस्व (वै०, भ०) । = विकाररहित (दीन, वि०, श्री० श०)। = निर्मल (वीर)।

श्रीहरिहरप्रसादजीका मत है कि 'विरज' से नित्य अवध साकेतविहार जनाया, 'विमल' से 'अघ-अविद्यादि माया स्पर्श भी नहीं कर सकती' यह जनाया।

गोस्वामीजीके मतानुसार 'निर्मल' और निर्विकार दो पृथक्-पृथक् गुण हैं। यथा 'नौमि करुनाकरं गरल गंगाधरं निर्गुनं निर्मलं निर्विकारं। १२।', अतः 'निर्मल' का अर्थ 'निर्विकार' नहीं हो सकता। मेरी तुच्छ बुद्धिमें भेद इस प्रकार है कि निर्दोष होनेसे 'विरज' नाम है। निर्दोष, यथा 'तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। २।४३।३।' षट्विकाररहित होनेसे 'अमल' नाम है और मायारहित सदा स्वतः शुद्ध स्वरूप होनेसे 'विमल' नाम है।

५ (ग) 'वैकुंठ स्वामी' इति। वैकुण्ठ भगवान्‌का एक नाम भी है। ५३ (८ घ) देखिए। परन्तु यहाँ 'वैकुंठ' धामका नाम है। वैकुण्ठ बहुत हैं। महानारायणोपनिषत्‌में व्यूहोंके विभिन्न नामोंसे अनेक लोक कहे गए हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—नित्य वैकुण्ठ, पादविभूति वैकुण्ठ, ब्रह्ममय वैकुण्ठ, क्षीराब्धि वैकुण्ठ, रमावैकुण्ठ. कारण वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ, विरजापार गोलोक, अनादि-पादविभूति वैकुण्ठ, त्रिष्वक्सेन वैकुण्ठ, विद्यामयानत् वैकुण्ठ, सुदर्शनवैकुण्ठ, ब्रह्मविद्यावैकुण्ठ, आनन्दवैकुण्ठ, तुलसीवैकुण्ठ शुद्धबोधानंद वैकुण्ठ। (महाना० अ० १-७)।–वैकुण्ठपति भी आप ही हैं। यथा 'यद्यपि सब वैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना। अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। ७।४।३-४।' [बागीश–५४ (१ च) में देखिए]

५ (घ) 'कामक्रोधादिमर्दन···' इति। ऊपर 'मान-मद-मदन···' के लिये मन्दराचलरूप कहा और अब यहाँ फिर 'काम' आदिका मर्दन कहते हैं। काम और मदन पर्याय शब्द हैं, दोनों एक ही वस्तु हैं। दो बार कहनेका भाव कि पूर्व मानमदमदनादिरूपी समुद्रके मंथनमें सहायक होना कहा। मंदराचलरूप हो कामादिरूपी समुद्रको क्षुब्ध

कर दिया। मंथनमें सहायक होकर भक्ति, ज्ञान, विवेक; और वैराग्य आदि रत्न भक्तोंके लिये प्रकट कर दिये। फिर भी समुद्र तो अभी बनाका बना ही है। अतः यहाँ उसका 'मर्दन' भी कहकर जनाया कि उसका नाश भी कर देनेवाले हैं, जिससे भक्तको फिर उनका भय नहीं रह जाता।

'कामक्रोधादि०' से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता आदि देहधारियोंके सभी शत्रुओंका विनाश करनेवाला कहा। इनमें काम-शत्रु सबसे प्रबल है, अतः उसे प्रथम कहा। संकल्प तथा भोगोंके चिन्तनसे कामकी उत्पत्ति है, यही मनुष्योंको प्रेरित करके सर्वत्र भटकाता रहता है, इसीसे क्रोध तथा तृष्णा आदि अन्य सब दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कामादिकें नाशसे शान्ति, दया और क्षमा आदि गुणोंकी वृद्धि होती है। इसीसे 'कामक्रोधादिमर्दन' कहकर 'विवर्धन छमा' कहा।

इसमें नारदजीका उदाहरण ले सकते हैं—प्रथम तो श्रीरामकृपासे उन्होंने काम और क्रोधको जीता, फिर अहंकार हो गया। विश्वमोहिनीको देख उन्हें काम और लोभ उत्पन्न हो गए, हरगणोंको क्रोधमें शाप दे दिया, इष्टदेवको दुर्वचन कहे। साथ ही मोह-मद-मान-मत्सर भी आ बसे थे। यथा 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी' 'हृदय रूप अहमिति अधिकाई', 'देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई।', 'परसंपदा सकहु नहि देखी' (यह जो भगवानसे कहा है वह स्वयं उनमें घटित हो रहा है)। 'जब हरि माया दूरि निवारी' तब चरण पकड़े, क्षमा माँगी और हरगणोंपर अनुग्रह कर उनको वर दिया।

५ (ङ) 'शान्त विग्रह' इति। अर्थात् आपमें क्रोध, द्रोह और मोहका सर्वथा अभाव है। कोई कठोर वचन कह दे तो भी कुछ कहते नहीं। आपका चित्त सदा शान्त रहता है, आप अक्रोधी हैं। कठोर कहनेवालेसे भी प्रेमपूर्वक भाषण करते हैं। यथा 'स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते। उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते। वाल्मी० २।१।१०।', 'प्रशान्तं। भा० ५।१६।४।'

५ (च) 'विहगराजगामी' इति। वैकुण्ठस्वामी होनेसे यह विशेषण भी उपयुक्त है।

टिप्पणी—६ 'देव परम पावन पापपुंज मुंजाटवी अनल' इति। (क) 'पावन' का एक अर्थ पद्यार्थमें दिया गया। यह प्रभुका एक नाम भी है। 'यस्स्वसंबंधि गङ्गादीन पावनान् लोकपावनान्। स 'पावन' इति ख्यातः पावनत्व प्रदौ मनुः॥' (निरुक्त)।—इसके अनुसार 'अपने श्रीचरणसम्बन्धी गंगादिकोंको तथा संतोंको एवं सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले होनेका महत्व प्रदान करते हैं, इससे 'पावन' नाम है। यथा 'पावनः सर्वलोकानां त्वमेव रघुनन्दन।' 'ईदृशस्त्वं रघुश्रेष्ठ पावनः सर्वदेहिनाम्' (अर्थात् समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाले तो आपही हैं। रघुश्रेष्ठ! ऐसे माहात्म्यशाली आप समस्त देहधारियोंको पवित्र करनेवाले हैं)।—ये महर्षि अगस्त्यके वाक्य हैं। (वाल्मी० ७।८२।६,१२। पं०)। 'परम' भी एक नाम है। ५० (३ ग) देखिए। अर्थात् जिससे परे कोई नहीं है। अथवा, 'पावनं पावनानां' (हनु० १।१) अर्थात् समस्त पावनोंको भी पावन करनेवाले होनेसे 'परम पावन' कहा। पुनः भाव कि स्वयं पावन हैं और दूसरोंके पापपुंजोंको नष्ट करके उनको शुद्ध बना देते हैं। इससे 'परम पावन' कहा।

६ (ख) 'निमिष निर्मूलकर्ता' से सूचित करते हैं कि प्रभुके सम्मुख होते ही समस्त पाप जल जाते हैं। यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं। ५।४४।२।' मूँज खूब सूखी हो तो वह आग जल्द पकड़ लेती है, और वनका वन जला डालती है, फिर भी इतनी जल्दी नहीं। रामसम्मुख होते ही पाप जल जाते हैं, यह दिखानेके लिये 'निमिष' पद दिया गया। यद्यपि निमेष भी बहुत है।

☞इस स्तुतिमें श्रीरामजीको 'निर्वानप्रद', 'परम पावन', 'पापपुञ्ज' 'अनल इव' 'निर्मूलकर्ता' कहा गया है। यह रूपका गुणगान है। नाम, लीला और धाममें भी ये सब गुण कविने दिखाये हैं।—

निर्वाणप्रद

नाम राम राम कहि तन तजहिं पावहिं पद निर्वान। ३।२०
लीला रामचरनरति जो चहै अथवा पद निर्वान।
भावसहित सो यह कथा करउ श्रवनपुटपान।७।१२८।
धाम अवध तजे तन नहिं संसारा।१।३५।४,
ममधामदा पुरी सुखरासी।७.४।७.

(संसारमें फिर न आना निर्वाण है)।

परम पावन

नाम 'अति पावन पुरान श्रुतिसारा ।१।१०।२।',
'तीरथ अमित कोटि सम पावन ।७।९२।२।'
लीला 'पावन गंगतरंगमाल से ।१।३२।',
'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा ।७।१२६।'
'...जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा ।७।१३०।'
धाम 'पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि । लं० ११९।९।',
'लोक समस्त विदित अति पावनि ।१।३५।३।'

अनल इव

नाम 'तूल अघ नाम पावक समानं ।५४(८) ।'
लीला 'रामकथा कलि कलुष विभंजनि ।१।३१।५।...
दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड । १।३२।' तक
धाम 'देखत पुरी अखिल अघ भागा ।७।२९।८।'
(अग्निसे भी शीघ्रता इसमें अधिक है)।

६ (ग) 'भुवन भूषन' इति । वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भूमण्डलमें श्रीरामकी समता करनेवाला कोई नहीं था,–'भूमावनुपमः', उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाताने संसारके समस्त पुरुषोंके सारतत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है,—'लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः', वे अपने सद्गुणोंसे वैसेही सुशोभित हो रहे थे जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे प्रकाशित होते हैं,—'गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः', ...श्रीराम उन-उन नाना प्रकारके विलक्षण, सज्जनोचित, असंख्य तथा लोकोत्तर गुणोंसे, जो अन्य राजाओंमें दुर्लभ हैं, विभूषित थे, –'इत्येवं विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः। शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः ।' (वाल्मी० २।१।९, १८, ३३, ४१)।–अतः 'भुवनभूषण' कहा। ☞ श्रीरामजी जिसे अपना लेते हैं, वह भुवनभूषण हो जाता है, यथा 'राम कीन्ह आपन जबही ते। भयउँ भुवन भूषन तबही ते ।२।१९६।' (यह निषादराजने कहा है), तब स्वयं उनका क्या कहना ? इसमें भीष्मपितामहजीके 'त्रिदशैरभिपूजितः ॥ व्याप्य कृत्स्नं जगत् कीर्त्या सुरर्षिगणसेवितः ।...अति सर्वाणि भूतानि रामो दाशरथिर्बभौ । म० भा० द्रोण० ५९।७, ८, १२।' का भी

भाव जना दिया। अर्थात् उनकी कीर्तिने जगत्को व्याप्त कर रक्खा था, संपूर्ण प्राणियोंसे बढ़कर वे शोभा पाते थे, देवताओं तथा ऋषियों द्वारा वे सम्मानित और सेवित थे।

इसीसे तो श्रीहनुमान्जी नित्य आपकी स्तुति इस प्रकार करते हैं- "ॐ नमो भगवते उत्तम श्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति। भा० ५।१६।३।" (अर्थ) "ॐ हम पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीरामको प्रणाम करते हैं। वे सत्पुरुषोंके लक्षण और स्वभावसे युक्त, संयतचित्त, साधुताकी कसौटी और ब्राह्मणभक्त हैं। उन लोकपूजित महापुरुष महाराज रामको हमारा बारंबार प्रणाम है।"

श्रीशुकदेवजी भी कहते हैं कि "उनके समान भी किसी दूसरेका प्रभाव नहीं। उनके पवित्र यश अबतक ऋषि लोग राजसभाओंमें गाया करते हैं। देवता तथा राजा लोग अपने मुकुटोंसे उनके चरणोंकी सेवा करते हैं। मैं उनकी शरण हूँ।" यथा "नेदं यशो रघुपतेः सुरयाञ्चयाऽऽत्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः।...२०। यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादांबुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये।२१।" (भा० ९।११)।

इस तरह 'भुवनभूषण' से उपर्युक्त गुण सूचित करते हुए उन्हें उत्तम श्लोक, मर्यादा पुरुषोत्तम, आदर्श पुरुष, महापुरुष जनाया।

६ (घ) 'भुवनभूषन दूषणारि' से जनाया कि दूषणके वधसे आप संसारमें भूषणरूपसे शोभित हुए और सारा भुवन जो दूषित था वह पुनः भूषित हो गया; क्योंकि दूषणादिकी मृत्यु किसीसे न हो सकती थी। इनके वधसे ही रावणके चित्तमें शंका हो गई थी कि 'इन्हहिं को मारै बिनु भगवंता।'

६ (ङ) 'भुवनेस भूनाथ श्रुतिमाथ जय भुवनभर्त्ता' इति। दूषणादिका वध किया। आप त्रिभुवनके स्वामी हैं। खरदूषणादिसे तीनों लोक संतप्त थे, सर्वत्र ये पहुँचते थे। यथा 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते।३।१९।३।' अतः उनसे रक्षा करनेसे तथा संपूर्ण भुवनोंका शासन करनेवाले होनेसे 'भुवनेश' कहा। ऐसे समर्थ ब्रह्माण्डके स्वामी होकर भी आप नररूप धरकर भूतल

बने। राजकुमाररूपसे अधर्मियोंका संहार किया और वेदधर्मको पुनः स्थापित किया। धर्मसंस्थापन 'भू-नाथ' होनेका कारण है; इसीसे 'भूनाथ' कहकर 'श्रुतिमाथ' कहा। यथा 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुतिसेतु।', 'श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीस…'। 'श्रुतिमाथ' अर्थात् समस्त श्रुतियाँ जिनका कथन करती हैं। तात्पर्य कि जो समस्त वेदोंके तत्त्व हैं, जिनको वेद निर्गुण-सगुण वर्णन करते हैं, वे ही चतुर्भुजरूप धारणकर सृष्टिकी इच्छासे क्षीरसागरमें बसते हैं। 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। संभूतं षोडश कलमादौ लोकसिसृक्षया। भा० १।३।१।' उस सहस्रशीर्षापुरुषका शिर वेद है, यथा भागवते 'छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति। भा० २।१।३१।' इसलिये भगवान्‌को 'श्रुतिमाथ' कहते हैं। पुनः, श्रुतिमाथ=समस्त श्रुतियोंके मस्तक, पुरुषसूक्त। शिरोभाग अर्थात् जिसको श्रुतियोंने मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना है। यथा 'वेदानां प्रबला मंत्रास्तस्माद्ध्यात्मवादिनः। तस्माच्च पौरुषंसूक्तं न तस्माद्विद्यते परम्।' पुनः, जैसे मस्तकसे शरीर सजीव, वैसे ही आपसे वेद सजीव। इसीसे 'श्रुतिमाथ' आपका एक नाम है।

जब श्रुतिसेतुकी रक्षा हुई तब भुवनका भरणपोषण हुआ, जो वेदविहित कर्मोंके न होनेसे मरणप्राय हो रहा था। दुष्टोंका वध करके माधुर्यमें भी भुवनभर्ता हुए।

टिप्पणी—७ (क) 'अमल अविचल अकल सकल' इति। अमल अर्थात् षट्विकाररहित। उपर्युक्त टि० ५ (ख) देखिए। 'अकल सकल'—भाव कि (१) 'चन्द्रमाकी तरह आपकी कला घटती बढ़ती नहीं, आप सदा सम्पूर्ण कलावाले हैं। (२) आपकी शक्ति कला-काष्ठा और मुहूर्त आदि काल-कर्मका विषय नहीं है, यथा 'कलाकाष्ठामुहूर्त्तादिकालसूत्रस्य गोचरे। यस्य शक्तिर्न…। वि० पु० १।९।४५।' ऐसा होते हुए भी कला-काष्ठादिमें आपकी ही शक्ति सत्ता होनेसे वे सब आपही हैं; इससे 'सकल' नाम है। (३) 'अकल' अर्थात् अवयवशून्य ब्रह्म आपही हैं, 'निष्कल' आपका एक नाम है। यथा 'निर्गुणो निष्कलोऽनन्तोऽभयोऽचिन्त्योऽचलोऽक्षितः। प०पु० उत्तर ७२।१२७।'—४६ (७ ख) देखिए।

'अविचल' अर्थात् मर्यादासे विचलित न होनेवाले, तथा करोड़ों

हिमालयोंकी भाँति अचल होनेसे 'अविचल' नाम है। उपर्युक्त श्लोकमें 'अचल' नाम आया है।

७ (ख) 'संतप्त…'—अर्थात् दैहिक दैविक भौतिक तापोंसे, विषयाग्निसे जलते हुए। कालद्वारा ऐसे संतप्त जीवोंकी व्याकुलताका नाश करते हैं और स्वयं आनन्दराशि हैं।

७ (ग) 'उरगनायकशयन…'इति। उरगनायकशयनसे स्थान ज्ञात न हुआ, अतः क्षीरसागरअयन कहा। क्षीरसागरअयनसे एक ही स्थान नियत होता है, अतः सर्ववासी कहा। भाव कि स्थान तो वही है, पर आप सर्वत्र रहते हैं। अथवा, वह तो शयनागार है और निवास तो सर्वत्र है। एक जगह भी हैं और सर्वव्यापक भी हैं तथा सबमें पूर्ण हैं-यही आपमें विलक्षणता है।—इस तरह इन विशेषणोंसे "ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥" (ॐ वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है क्योंकि पूर्णसे पूर्णकी ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्णका पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही वच रहता है), ईशावास्योपनिषत्के इस शान्तिपाठका भाव दरशाया।

पुनः भाव कि योगमायाका आश्रय लेकर श्रीशेषजीके सहस्र फणोंसे बने हुए पर्यङ्कपर शयन करनेवाले निद्रास्वरूप परमात्मा भी आप ही हैं,—'यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते। फणसहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः। म० भा० शा० ४७।४९।'

७ (घ) 'उरगनायकशयन…' का रहस्य,—"मूलप्रकृति ही शेषशय्या है। तीनों वेदोंका ही गरुड़ नाम है, जो अन्तर्यामी परमात्माका वहन करते हैं।"

८ 'देव सिद्धकविकोविदानंददायक…' इति। (क) सिद्ध अर्थात् जो अष्टाङ्गयोगद्वारा सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। 'कवि' अर्थात् क्रान्तदर्शी, सूक्ष्मद्रष्टा, त्रिकालज्ञ। कोविद अर्थात् सब विद्याओंके पंडित। आपके युगलचरण इनको आनन्ददायक हैं, क्योंकि ये उनकी महिमाको जानते हैं। ये चरणोंका स्मरण करते हैं, उनका गुणगान करते हैं, अपने मनको उनका मधुप बनाये रहते हैं और उन चरणकमलोंके मकरन्दको पान करते हैं। यथा 'अरुनपदकंजमकरंद मंदाकिनी मधुप-मुनिवृंदं कुर्वंति पानं। ६० (३)।'

८ (ख)–'मंदात्म मनुजैर्दुरापं' नीचात्माओंको दुर्लभ कहकर जनाया कि सिद्ध कविकोविदको सुलभ हैं, इनको प्राप्त होते हैं।

८ (ग) 'यत्रसंभूत अतिपूतजल सुरसरी', अर्थात् जिनके चरणनखके स्पर्शके कारण यह जल तीनों लोकोंको पावन करनेवाला है। यथा 'नखनिर्गता मुनिवंदिता त्रैलोक्य पावनि सुरसरी।७।१३।', 'चरननख-नीर त्रैलोक्य पावन परम।५२ (५)।'

८ (घ) 'दर्शनादेव हरति पापं'–यह महिमा है कि दर्शनमात्रसे पापको हर लेती हैं। यथा 'देखत दुख-दोष-दुरित-दाह-दारिद-दरनि। २० (२)।' दर्शनसे पाप दूर होते ही हरिलोकमें उनके लिये नींव पड़ जाती है। यथा 'ओककी नीव परी हरिलोक विलोकत गंग-तरंग तिहारे। क० ७।१४५।'–विशेष 'जगदखिलपाविनी। १८ (२)।', 'हरति पाप··। १९ (१)।' देखिए।

'यत्र संभूत··पापं' यह माहात्म्य गंगाजीका कहकर चरणोंका महत्व दर्शाया कि चरणनखके धोवनका यह माहात्म्य है, तब साक्षात् उन चरणोंका महत्व कौन कह सकता है? अतएव जिनको वे चरण प्राप्त हो रहे हों उनके आनन्दका क्या कहना।

९ (क) 'देव नित्य निर्मुक्त···' इति। मायापार, स्वच्छन्द, अपने वास्तविक स्वरूपको और जगत्को जाननेवाला, एकरस और विद्यास्वरूप होनेसे 'नित्यनिर्मुक्त' कहा। ५३ (६ क) देखिए। 'नित्य और निर्मुक्त' ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। अविनाशी और एकरस होनेसे 'नित्य' कहे गए। मुक्त पुरुषोंकी गति परमात्मा होनेसे 'निर्मुक्त' नाम है। 'नित्य मुक्त' जो ५३ (६) में कहा है, वही यहाँ 'निर्मुक्त' है। भगवान् नारायणने नारदजीसे 'मुक्त पुरुष' का लक्षण यह बताया है–'ये हीनाः सप्तदशभिर्गुणैः कर्मभिरेव च। कलाः पञ्चदश त्यक्त्वा ते मुक्ता इति निश्चयः।' अर्थात् जो (दश इन्द्रिय, पाँच प्राण, मन, बुद्धि इन) सत्रह गुणोंसे, सब कर्मोंसे रहित हो पन्द्रह कलाओंको त्याग करके स्थित हैं, वे ही मुक्त हैं, यह शास्त्रका सिद्धान्त है। (म० भा० शान्ति ३३४।४०)। परन्तु ऐसे मुक्त पुरुष भी भगवत्की इच्छासे मायाके वश हो जाते हैं, अतः ये नित्य मुक्त (निर्मुक्त) नहीं हैं।

९ (ख) 'संजुक्तगुन निर्गुनानंद' इति। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, शील, क्षमा, दया, आर्यव, करुणा, वात्सल्य, सत्य, शम, दम, समता प्रभृति समस्त दिव्य कल्याण गुणोंसे युक्त होनेसे 'संयुक्तगुण'

कहा। 'संयुक्तगुण' भगवान्‌का एक नाम भी है। नारदजीने भी सर्वगुणसम्पन्न कहा है,–'स च सर्वगुणोपेतः कोसल्यानन्दवर्धनः।' (वाल्मी० १।१।१७)।

निर्गुणानंत (निर्गुण-अनंत)। 'निर्गुण' अर्थात् स्वभावसे सत्त्वादि मायिक गुणोंसे रहित हैं, निर्गुण होनेके कारण समस्त शरीरोंमें स्थित रहकर भी आप उन-उन शरीरोंके स्वभावसे लिप्त नहीं होते। गीतामें बताया है कि परमात्मा निर्गुण है, परन्तु गुणोंका भोक्ता भी है–'निर्गुणं गुणभोक्तृ च। १३।१४।' किन्तु इन सत्त्वादि गुणोंके द्वारा वह परमात्मा भोगा नहीं जाता। वह तो इन गुणोंका स्रष्टा और इनसे उत्कृष्ट है।–'एतान् गुणांस्तु क्षेत्रज्ञो भुङ्क्ते नैभिः स भुज्यते। निर्गुणो गुणभुक् चैव गुणस्रष्टा गुणाधिकः। म० भा० शांति ३३६।२८' मायिक गुणोंसे रहित होनेसे 'निर्गुण' कहे जानेके प्रमाण, यथा "स्थितोऽपि नीरक्षीरवज्जगतो स्पर्शनाद्‌गुणैः उक्तस्स 'निर्गुण' इति सप्तार्णः पावनत्वदः निरुक्त" अर्थात् दूधमें जलके समान सारे जगत्‌में मिलकर रहते हुए भी सत्वादि गुणोंसे रहित होनेसे 'निर्गुण' नाम है। पुनश्च 'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। वि० पु० १।६।४४। अर्थात् जिस परमात्मामें सत्व आदि प्राकृत् गुणोंका सर्वथा अभाव है।

'संजुक्तगुन निर्गुन'–परमात्मा सर्वगुणसम्पन्न भी है और निर्गुण भी,––'स हि सर्वगुणश्चैव निर्गुणश्चैव कथ्यते।' (म० भा० शान्ति० ३३४।४१)। दोनोंको कहकर आपको 'परब्रह्म' जनाया।

६ (ग) 'अनंत भगवंत' इति। जिसका अन्त नहीं एवं जिसका अन्त किसीने नहीं पाया वह 'अनंत' है। भगवंत=भगवान्। "सर्व हेय प्रत्यनीक कल्याणगुणवेत्तया। पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ 'भगवान्' इति शब्द्यते।" अर्थात् त्याज्य मायिक दोष-गुणोंके विरोधी, (जैसे अंधकारका प्रकाश विरोधी), और दिव्य कल्याणगुणोंसे युक्त तथा संपूर्ण पूज्योंसे भी पूज्यतम होनेसे 'भगवान्' (भगवंत) नाम है।

पुनः, 'भगवंत' से जनाया कि समस्त कारणोंके कारण महाविभूतिसंज्ञक ब्रह्म आपही हैं, क्योंकि उन्हींके लिये यह शब्द मुख्यतः प्रयुक्त हुआ है। यथा 'शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते। मैत्रेय भगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणे॥ वि० पु० ६।५।७२।' पुनः, 'भ'= पोषणकरनेवाला और सबका आधार। 'ग'=कर्मफल प्राप्तकराने

वाला, लय करानेवाला और रचयिता। संपूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, श्री, यश, ज्ञान और वैराग्य इन छः का नाम 'भग' है। इन छहोंसे युक्त और हेय गुणों तथा उनके क्लेशोंसे रहित होनेसे 'भगवंत" नाम है।

६ (घ) 'न्यामक नियंता' इति।—न्यामक (नियामक)=नियमबद्ध करनेवाला। नियंता=नियंत्रण करनेवाला। नियमोंके वनानेवाले और अपने वनाये हुये नियमोंपर ब्रह्मादि सबको चलानेवाले, सवको विभिन्न कर्मोंमें लगानेवाले, सवके प्रेरक, सवके स्वामी, सर्वनियोजक होनेसे 'नियामक' नाम है। 'नियंता' का भाव है कि 'सवको अपने नियंत्रण (काबूमें वा अधीन) रखनेवाले, सव प्राणियोंका एक समान शासन करनेवाले, नियमोंपर न चलनेवालोंको दण्ड देनेवाले' होनेसे 'नियंता' नाम है। नियन्ता होनेसे सव दंडके भयसे अपने-अपने काममें लगे रहते हैं। यथा 'मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात। भा. ३।२५।४२।' (भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि मेरे ही भयसे वायु चलता है, मेरे ही भयसे सूर्य तपता है, मेरे ही भयसे मेघ वरसता है और अग्नि जलाता है तथा मेरे ही भयसे सर्वत्र विचरता है। श्रुति भी इस संवंधमें प्रमाण है। यथा "महद्भयं वज्रमुद्यतं··। कठ० २।६।२। भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।३।" अर्थात् 'वह ब्रह्म महान् भयरूप है और उठे हुए वज्रके समान है। इसके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है।' तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अपने सामने स्वामीको हाथमें वज्र उठाये देखकर सेवकलोग नियमानुसार उसकी आज्ञामें प्रवृत्त होते रहते हैं, उसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, इन्द्र, लोकपाल, सारा जगत् ही अपने-अपने अधिष्ठाताओंके सहित एक क्षण भी विश्राम न लेकर नियमानुसार आपकी आज्ञामें चलते हैं। आप ऐसे नियन्ता शासक हैं।

"दैवतेषु च सर्वेषु तत्तदिच्छा परोचयन्। मन्दाधिकारिणो योऽसौ 'नियन्ता' स्यान्नियच्छति॥" इस निरुक्तिके अनुसार संपूर्ण देवता तथा छोटे अधिकारवालोंकी भी रुचि रखते हुए सवको अपनी आज्ञाके अधीन रखनेसे 'नियंता' नाम है।—'यो यो यां यां तनुं भक्त

श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। गी ७।२१।' (अर्थात् जो जो भक्त जिस-जिस तनु—देवतारूप मेरे शरीर-को श्रद्धाके साथ पूजना चाहता है, उस उसकी उस श्रद्धाको मैं ही अचल स्थिर कर देता हूँ)। (वेदान्तशिरोमणि)।

श्रीयामुनाचार्य स्वामीने भी कहा है—'यदण्डमण्डान्तरगोचरं यद्दशोत्तराण्यावरणानि यानि च। गुणाः प्रधानं पुरुषः परम्पदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः।' (आलवन्दार १७)। अर्थात् ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डके भीतरकी समस्त विषयों-वस्तुओंका समुदाय, ऊपर ऊपर जो दशगुणे ब्राह्माण्डके आवरण (जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्व), सत्त्वादि गुण, प्रधान (मूलप्रकृति), पुरुष (क्षेत्रज्ञ, जीव), परमपद (नित्य विभूति) और सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् आपका दिव्य मंगलविग्रह—ये सब आपकी विभूति अर्थात् ऐश्वर्य हैं। ये सब आपके नियाम्य (नियमनके योग्य) हैं अर्थात् आपकी इच्छाके अधीन स्थितिवाले हैं और आप इनके नियामक हैं। (पं० भागवताचार्यकृत टीका)।

६ (ङ) 'विश्वपोषनभरन' इति। ऊपर 'भुवनेश', 'भुवनभर्ता' आपके नाम आए हैं। उसी संबंधसे विश्वपोषणभरण हैं, अर्थात् अखिल विश्वका भरण-पोषण-धारण करते हैं। विष्णुसहस्रनाममें 'विश्वभृत', 'जगद्धाता', 'विश्वम्भर' नाम भगवान्के आये हैं। मानसमें श्रीरामजीको 'विष्णु कोटि सम पालनकर्ता। ।७।९२।' कहा है।

६ (च) 'विश्वकारणकरण' इति। विश्वकी सृष्टि और लयरूप, अर्थात् समस्त विश्वकी उत्पत्ति और सबका आपमें ही लय होनेसे आपको उसका 'कारण' कहा। सृष्टि और लयके साधन भी होनेसे 'करण' कहा। करण = सामग्री, साधन। कारण और करण कहकर जनाया कि आप विश्वके निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं। जैसे घटका उपादान कारण मृत्तिका और निमित्त कारण कुम्हार है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' (एक हूँ बहुत हो जाउँ), 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छां० ६।२ ३)। ब्रह्मका यह ईक्षण यह संकल्प वा इच्छा कि मैं एकसे बहुत हो जाऊँ यही जगत्का कारण है; अतएव उसे 'कारण' कहा। उसे स्थूल जगतरूप हो जानेमें किसी बाहरी साधन सामग्रीकी अपेक्षा नहीं होती, इसीसे उसे 'करण' भी कहते हैं। प्रलयकालमें

सारा चिदचित् जगत् सूक्ष्मरूप हो ब्रह्ममें लीन हो जाता है। उस समय सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्म रह जाता है। अतएव सामग्री सब उसीमें मौजूद है, बाहरसे नहीं लानी पड़ती। केवल संकल्प होनेपर वही स्थूलरूप धारण कर लेता है। मकड़ी और जालाका भी उदाहरण दिया जाता है। मकड़ीकी इच्छा हुई तब वह अपने ही मेंसे तंत निकालकर जाला बना लेती है। इस प्रकार भी 'करण' स्वयं ही हैं। मानसमें भी श्रीरामजीको 'कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्वकारन-करन ।१।२०८।' कहा है।

६ (छ) 'सरन तुलसीदास त्रासहंता' इति। 'शरण' भी प्रभुका एक नाम है। "आर्तानामार्त्तिहन्तत्त्वात् 'शरणं' प्रकीर्त्तितः।', 'यदुपासाद्भयं दुःखं पापं कर्मबन्धो न बाधते। प्रतिष्ठा च सुखं ज्ञानं भवेत् शरणमित्यतः।" (निरुक्त)। अर्थात् आर्त्तोंकी आर्त्ति (दुःख) को विनाश करनेसे 'शरण' नाम है। 'जिसकी उपासनासे भय, दुःख, पाप, कर्मबंधन बाधा नहीं कर सकता और सब सुख, प्रतिष्ठा तथा ज्ञान प्राप्त होता है' उसका नाम 'शरण' है। हमने 'शरण' और 'शरणागत' दोनों अर्थ लेकर पद्यार्थ किया है। ब्रह्माजीने भी कहा है 'शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः। वाल्मी० ६।११७।१७' अर्थात् दिव्य महर्षिगण आपको शरणदाता तथा शरणागतवत्सल बताते हैं।

६ (ज) 'त्रासहंता'=त्रासके नाश करनेवाले। 'त्रासपाथोधि इव कुंभजातं।' ५३ (६ च), 'दास तुलसी त्रासनिधि वहित्रं।' ५० (६ क) देखिए।

नोट—२ सूर्यदीन शुक्लजीने संभवतः 'समताभवन', 'अकल सकल', 'नित्य निर्मुक्त', 'निर्गुण' और 'विश्वकारणकरण' विशेषणात्मक नामोंको लेकर इस पदकी व्याख्या इस प्रकार की है— "विषमतानाशक समतारूपी योग तुम्हारा रूप है। जिस शब्द ब्रह्मसे अक्षरोंकी समुदाय वाक्इन्द्रिय उत्पन्न होती है, वह ॐ तुम्हारा नाम है। सगुण निर्गुणरूप तथा दोनोंसे निर्लेप हो, क्योंकि निर्गुण व सगुण शब्द परस्पर एक दूसरेकी सिद्धिका कारण और कार्यरूप हैं। यह निर्गुण शब्द वा वाणीका विषय होनेसे सगुण ही है। जैसे अनिर्वचनीय ब्रह्मसे शब्दब्रह्म ॐ सगुण हुआ, फिर ५० वर्णके भेदसे अनेक नामोंकी सगुणता है, ऐसे ही इससे आगे बढ़के अवतार, मंत्र, रूप तथा सारे जगत्का विस्तार हुआ। कार्यरूप संसार व

इसका कारणरूप चित्त परस्पर एक दूसरेको सिद्ध करते एक ही हैं, परन्तु आप इनसे विलक्षण नित्य निर्मुक्त हैं। तुम्हारी सत्ता चित्तकी स्फूर्ति और उसमें संसारका भान होता है।···"।

श्रीसीतारामचन्द्रचरणौ शरणं मम।

५६

देव दनुजसूदन दयासिंधु दंभापहन दहन दुर्दोष[1] दर्प्पापहर्त्ता[2]
दुष्टतादमन दमभवन दुःखौघहर दुर्ग दुर्बासना नासकर्त्ता ॥१
देव भूरिभूषन[3] भानुमंत[4] भगवंत भवभंजनाभयद[5] भुवनेस भारी
भावनातीत भववंद्य[6] भवभक्तहित भूमि उद्धरन भूधरनधारी ॥२
देव वरद[7] वनदाभ वागीस विस्वात्मा[8] विरज वैकुंठ मंदिर विहारी
व्यापक व्योम वंदारु[9] वामन[10] बिभो ब्रह्मविद्ब्रह्म चितापहारी[11] ॥३
देव सहज सुंदर सुमुख सुमन सुभ सर्वदा सुद्ध सर्वज्ञ स्वच्छंदचारी
सर्वकृत सर्वभृत सर्वजित सर्वहित सत्यसंकल्प कल्पांतकारी ॥४
देव नित्य निर्मोह निर्गुन निरंजन निजानंद निर्वान[12] निर्वानदाता
निर्भरानंद निःकंप निःसीम निर्मुक्त निरुपाधि निर्मम विधाता ॥५

---

[1] दुख दोष—रा०। [2] दर्प्पापहर्त्ता—रा०, ५१, ७४, मु०। दुर्पाप०—भा०, वे०, ह०, दीन। दुःपाप० (दुष्पाप०—वि०, वै०)—डु०, भ०। [3] भूमिभूषन—७४। [4] भानुमंत—रा०, ह०, ५१, आ०, ज०, ७४। भानुवंत—भा०, वे०। [5] भंजनानंद—वे०, प्र०, ज०। भंजनाभयद—औरोंमें। [6] भववंदि—भा०, वे०, ज०, भ०। भववंद्य—प्रायः और सबोंमें। [7] वदन—भ०। [8] विश्वायतन—डु०। [9] वृंदारु—रा०। वंदारु—५१, आ० (—वै०)। वंद्यांघ्रि—ह०, प्र०, वै०, ज०, १५, ७४। वंद्याघ्रि—वे०। वद्यांघ्रि—भा०। [10] वामन—रा०, ५१, ज०, आ०। पावन—भा०, वे०, प्र०, ह०, ७४, वै०। [11] चित्त—वे०। वित्त—रा०। चिंता—औरोंमें। [12] निर्वान—रा०, आ०। निर्मान—भा०, वे०। निर्मान=अमानी, मानरहित। =जिसकी नाप नहीं। किन्तु 'निर्वान' पाठ उत्तम है। भगवान् निर्वाणरूप हैं और निर्वाणदाता भी। 'मोक्ष' जिसकी प्राप्तिके लिये योगी ज्ञानी आदि प्रयत्न करते हैं, वह 'निर्वाण, परमपद, मोक्ष' आप ही हैं।

देव महामंगलमूल मोदमहिमायतन मुग्ध मधुमथन मानद अमानी।
मदनमर्दन मदातीत मायारहित मंजु मानाथ पाथोजपानी ॥६॥
देव कमललोचन कलाकोस कोदंडधर कोसलाधीस कल्यानरासी।
जातुधान[१३]-प्रचुर-मत्त-करि-केसरी भक्त-मन-पुन्य-आरन्यवासी ॥७
देव अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज अमित अविकार[१४] आनंदसिंधो
अचल अनिकेत अविरल अनामय अनारंभ अंभोदनादघ्नबंधो[१५] ॥८
देव दास तुलसी खेदखिन्न आपन्न इह-सोक-संपन्न अतिसय सभीतं।
प्रनतपालक राम परम करुनाधाम पाहि मामुर्विपति दुर्विनीतं ॥९॥

शब्दार्थ—दंभापहन = दम्भ + अपहन (नाशक)। दंभ = धर्मध्वजीपन। धार्मिकताकी प्रसिद्धिके धर्मानुष्ठान करने, अपनेको झूठमूठ महात्मा प्रसिद्ध करनेका नाम 'दंभ' है। यथा 'दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः। म० भा० वन ३१३।१००।', 'दम्भः धार्मिकत्वख्यापनाय धर्मानुष्ठानम्।' (गीता श्रीरामानुजभाष्य)। दुर्दोष = कठिन दोष। तेरह दोष प्राणियोंके अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गए हैं जो मनुष्योंको सब ओरसे घेरे रहते हैं। वे ये हैं—क्रोध, काम, शोक, मोह, विधित्सा (शास्त्रविरुद्ध काम करनेकी इच्छा), परासुता (दूसरोंके मारनेकी इच्छा), मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा, दोषदृष्टि और कृपणता (कंजूसी, दैन्यभाव)। —'त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः' (म० भा० शान्ति १६३।१-३)। अत्यन्त प्रबल शत्रु होनेसे यहाँ 'दुर्दोष' से इनका ग्रहण होगा। दर्पापहर्ता = दर्पः + अपहर्ता (पूर्णतया हरनेवाले)। दर्प—कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकको नष्ट करनेवाले तथा विषयोंके अनुभवसे होनेवाले हर्षका नाम दर्प है, —'दर्पः कृत्याकृत्याविवेककरो विषयानुभवनिमित्तो हर्षः।' (गीताभाष्य)। पुनः, 'दर्पो धनस्वजनादिनिमित्त उत्सेकः' धन-

---

१३—जातुधाना—रा०। यह पाठ ठीक मानें तो 'जातुधान' का यह बहुवचन प्राकृत भाषानुसार है। जैसे—उपाया = बहुत उपाय। विषया = बहुतसे विषय। अन्य सब पुस्तकोंमें 'जातुधान' पाठ है। १४ आनंदअविकार सिंधो—रा०। १५ अंबोदनादघ्नबंधो—ज०।

परिवार आदिके निमित्तसे होनेवाला गर्व 'दर्प' है (गीता शांकर-भाष्य)। इसमें प्राणी यह समझता है कि मेरे समान कोई नहीं है। दमभवन=बाह्येन्द्रियोंके निग्रहके धाम=जितेन्द्रिय। दुःखौघहर=दुःख+ओघ (समूह)+हर (हरनेवाले)। दुर्ग=कठिन। भानुमंत=सूर्यके समान प्रकाशमान वा तेजस्वी। भवभंजनाभयद=भवभंजन+अभय+द (देनेवाले)। भावनातीत=कल्पनातीत=मन, बुद्धि और विचारसे परे। भव=आवागमन, जन्म-मरण। =शंकरजी। =संसार। भूधरनधारी=पर्वतोंके धारण करनेवाले=गिरिधारी। भूधरन=पृथ्वीको धारण करनेवाले=पर्वत। ☞ भगवंत, बरद, बनदाभ, वागीश, वैकुंठ, विरज, व्योम, वामन, विभु, सत्यसंकल्प, नित्य, निर्गुण, निर्मुक्त, निरुपाधि—ये शब्द पूर्व पद ५३, ५४, ५५ में आ चुके हैं। वंदारु=प्रणाम करनेयोग्य; पूजनीय। यथा ('वंदारुरभिवादके इत्यमरे।', 'वृंदारकावृंद वंदारु पदद्वंद''' ।५५।' ✻ ब्रह्मविद्=वेदोंके ज्ञाता। ब्रह्मचिंतापहारी=स्वयं ब्रह्म हैं और ब्रह्म (ब्रह्माकी एवं ब्राह्मणोंकी) चिंता-(के) अपहारी। सुमन=सु (सुष्ठु, सुंदर)+मन=सुन्दर मनवाला। स्वच्छंदचारी=स्वतंत्रतासे सर्वत्र विचरनेवाले।=स्वेच्छाचारी। यथा 'भावहि मनहि करहु तुम्ह सोई ॥' सर्वकृत=सबके कर्त्ता वा रचयिता। ☞ ब्रह्माण्डरचनामें महत्तत्वादि सब तत्त्वों, ब्रह्मादि देवताओं, दैत्यों इत्यादि समस्त देहधारियों, युगादि काल-व्यवस्था, शुभाशुभकर्मफलप्रदायत्व, बंधमोक्षादि जो कुछ भी है, उस सबके कर्त्ता आपही हैं। सर्वभृत=सबका भरण (धारण-पोषण) करनेवाले। निजानन्द=स्वस्वरूपानन्द। निरुपाधि=जिसमें कभी किसी प्रकारका हेर-फेर होता ही नहीं। (दीन)। =धर्मचिन्ता उपाधिरहित। (वै०)। =निर्बाध। महिमायतन=महिमा+आयतन। मुग्ध—टि० ६ (क) देखिए। मधु—टि० ६ (ख) देखिए। मानद अमानी—'मानद अमान' ४२ (३ ख, शब्दार्थ) देखिए। अंभोदनादघ्न=अंभोद (मेघ)+नाद+घ्न (नाशक)=मेघनादका वध करनेवाले=श्रीलक्ष्मणजी। आपन्न=आपद्ग्रस्त, आपत्तिमें पड़ा हुआ। यथा 'प्रभो पाहि आपन्न मामीश शंभो ।७।१०८।' इह=

✻ 'वृंदारु'=श्रेष्ठ। इस अर्थमें 'वृंदारु' पाठ भी शुद्ध है।

इस लोकके=संसारके । मामुर्विपति=माम् (मुझको)+उर्वि (पृथ्वी) +पति । दुर्विनीतं=जिसमें नम्रताका लेश नहीं है। =उद्धत, अशिष्ट ।

नोट—१ "इस पद्में अनुप्रासोंकी छटा देखने ही योग्य है। कविने अपनी प्रतिभाका अनुपम नमूना उपस्थित किया है। इस पद्में केवल 'रामजी' के विशेषणमात्र हैं।" (दीनजी)।

पद्यार्थ—देव ! आप दनुपुत्र कबंध एवं दानवोंके नाशक, दयासागर, दंभके हरनेवाले, दुर्दोषोंको भस्म कर देनेवाले, घमंड-अभिमानके नाशक, (दुष्टोंको दण्ड देकर) दुष्टताका दमन करनेवाले, दमके निवासस्थान (अर्थात् जितेन्द्रिय और आश्रितोंको भी जितेन्द्रिय बनानेवाले हैं। विना आपके कृपाकटाक्षके इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं, आप दमके आश्रयस्थान हैं)। दुःखसमूहके हरनेवाले और कठिन बुरी बुरी वासनाओं (अर्थात् परस्त्रीगमन, परधनापहरण आदि इच्छाओं) के नाश करनेवाले हैं। १। देव ! आप भूरिभूषण (वहुतसे आभूषण धारण करनेवाले। एवं भुवनभूषण, भूमिभूषण, नरभूषण, नृपभूषण, रघुकुलभूषण इत्यादि सभीमें भूषणस्वरूप हैं), सूर्यके समान प्रतापवाले, तेजस्वी और प्रकाशमान, भगवंत (अर्थात् मायिक दोषों और गुणोंके विरोधी एवं सम्यक् ऐश्वर्यसंपन्न, दिव्य गुणोंसे युक्त और पूज्योंसे भी पूज्यतम), संसार (जन्ममरणप्रवाह, स्त्रीपुत्रादिमें मोह ममत्व, इत्यादि) के नाशक, (शरणागतोंको) अभयदाता और भारी भुवनेश हैं। आप कल्पनासे परे, शिवजीसे वंदित (अर्थात् उनके पूज्यदेव), शंकरभक्तका हित करनेवाले, पृथ्वीका उद्धार करनेवाले और गिरिधारी हैं। २। देव ! आप वरदाता, मेघोंके समान कान्तिमान् (श्यामशरीरवाले), वाणीपति, विश्वकी आत्मा, निर्दोष, वैकुण्ठरूपी मंदिरमें विहार करनेवाले, (चेतनाचेतन संपूर्ण व्याप्य वस्तुमें सदा मौजूद होनेसे आप) व्यापक और (आकाश आपसे प्रकट एवं आपका शरीर और आप उसके अन्तर्यामी होनेसे) व्योम (नामधारी) *, श्रेष्ठ (पूजनीय) वामन, (संपूर्ण जगत्के पालन करनेमें) पूर्ण समर्थ, वेदोंके ज्ञाता, ब्रह्म, ब्रह्मा-ब्राह्मणों (एवं सब) की चिन्ताके हरनेवाले हैं। ३। देव !

---

* अर्थान्तर—आकाशके समान सर्वत्र व्यापक। (वि०, सू० शु०)।

आप स्वाभाविक ही सुन्दर, सदा सुप्रसन्नमुख, सुन्दर मनवाले, सदा मंगल कल्याणस्वरूप, सर्वस्व वा सब कुछ देनेवाले, सदा शुद्धस्वरूप, सर्वज्ञ, स्वच्छन्दचारी, सर्वजगत्‌के कर्त्ता, सबके धारणपोषणकर्त्ता, सर्वविजेता (सबको जीतनेवाले), सबके हितकारी, सत्यसंकल्प और कल्पका अन्त अर्थात् प्रलयके करनेवाले हैं। ४। देव! आप नित्य (अविनाशी, सदा अखण्ड एकरस), मोहरहित, निर्गुण (अर्थात् जगत्‌में मिले रहते हुये भी मायिक गुणोंसे रहित ; निरंजन (दोष, कल्मष वा कर्मसंबंधसे रहित, तमोगुणरहित···)‡, आत्मानंदस्वरूप (अर्थात् अपनी आत्मामें ही आनन्द लेनेवाले, स्वस्वरूपानन्दसे पूर्ण एवं जिनका आनन्द स्वतःसिद्ध है, किसीके देनेसे नहीं), निर्वाण (स्वरूप) और निर्वाण (मोक्ष) के दाता भी (अर्थात् उपाय और उपेय दोनों ही) †, पूर्णानन्दसंदोह (अर्थात् स्वतःसिद्ध निरवधिक आनन्दकन्द), किसीसे भी डरने वा कम्पायमान होनेवाले नहीं, सीमारहित (अप्रमेय), मायाबंधनसे निरन्तर स्वतः मुक्त, उपाधिरहित, ममतारहित और विधाता (सबके विधानकर्त्ता) हैं। ५। देव! आप महामंगल (रूपी वृक्षके) मूल (अर्थात् सबका महामंगल आपके अधीन है, आपही सबके महामंगलके कारण हैं), मोद (मानसी आनंद) और महिमाके स्थान, 'मुग्ध' नामधारी (अर्थात् भक्तोंके दोष देखना—यह विवेक आपमें नहीं है। अर्थात् भूलकर भी भक्तोंके दोषोंकी ओर न देखनेवाले) ❀, मधु दैत्यके नाशक, दूसरोंको मान देनेवाले और स्वयं मानरहित, कामदेवके (मदका) नाश करनेवाले (ऐसा होते भी) मदसे परे, मायारहित, सुन्दर लक्ष्मीपति और कमलपाणि हैं (अर्थात् आपके

---

‡ अर्थान्तर—१ मायारहित (डु०, भ०, दीन)। २ कारणमायारहित। (वै०)। ३ अव्यय—(वि०)। परन्तु 'मायारहित' शब्द आगे आया है, अतः 'निरंजन' का अर्थ यहाँ 'मायारहित' नहीं हो सकता।

† अर्थान्तर—१ मुक्तिको भी मुक्ति देनेवाले हो। (सू० शु०)। २ मुक्तिस्वरूप और मुक्तिके प्रदान करनेवाले। (वि०)।

❀ अर्थान्तर—अज्ञानी, मूर्खमधुके नाशक। (डु०, वै०, भ०, दीन, वि०)। प्रायः सबोंने यही अर्थ किया है।

हाथ कमल-समान हैं और आप हाथमें कमल धारण किये हैं)। ६। देव ! आप कमल (दल) समान नेत्रवाले, समस्त कलाओंके कोश (खजाना, भण्डार), कोदण्ड धनुष धारण करनेवाले, अयोध्यापति, कल्याणकी राशि, निशाचरसमूहरूपी मतवाले हाथियोंके लिए सिंहरूप और भक्तोंके मनरूपी पवित्र वनके निवासी हैं।७। देव ! आप निष्पाप (अर्थात् नरशरीर धारण करनेपर भी शुभाशुभ कर्म आपको स्पर्श नहीं करते), अद्वितीय, अनिन्द्य एवं दोषरहित, अव्यक्त (अपनेको गुप्त रक्खे हुए। अप्रकट), अजन्मा, सीमा (परिमाण) रहित, षट्विकाररहित, आनन्दके समुद्र, अचल (आपका कहीं आना या जाना नहीं होता, एवं धीर, अपनी मर्यादासे विचलित न होनेवाले), अनिकेत (अर्थात् आपका कोई एक ही स्थान या घर नहीं है, आप 'विश्ववास' हैं, सर्वत्र हैं तथा किसीके आश्रय नहीं हैं), अविरल (परिपूर्ण), (स्वयं सदा नीरोग रहने और संसारमहारोगके नाशक होनेसे) अनामय (नामधारी), अनारंभ (कभी किसी कार्यका अनुष्ठानपूर्वक आरंभ न करनेवाले, क्रीड़ा या लीलारूपमें सब व्यवहार करनेवाले) † और मेघनादके मारनेवाले श्रीलक्ष्मणजीके भाई हैं।८। देव ! तुलसीदास संसारशोकसे युक्त, आपद्ग्रस्त, दुःख और चिन्तासे क्षीण एवं उदास और अत्यन्त भयभीत है। हे शरणागतपालक ! हे परम करुणाधाम ! हे पृथ्वीपति (राजा श्रीरामचन्द्रजी) ! मुझ दुर्विनीतको ‡ रक्षा कीजिए। ६।

टिप्पणी—१ 'दनुजसूदन दयासिंधु···' इति। (क) दनुज, दानव, दैत्य, राक्षस और असुर आदि शब्दोंको हिन्दी भाषामें पर्यायवाची भी माना है। इस ग्रंथमें भी ऐसा प्रयोग हुआ है। जैसे,—'दारुन दनुज जगतदुखदायक जाख्यो त्रिपुर एक ही बान।३।', 'दुष्ट दनुज द्विजधर्ममर्य्यादहर्त्ता।५२।' (दितिसुत हिरण्यकशिपु), 'दनुजबनधूमध्वज पीन आजानुभुजदंड कोदंड बर चंड बानं।४७।', 'दनुजबनदहन···'।

---

† अर्थान्तर— १ कोई आरंभ नहीं, बालकेलिवत् सृष्टि संहार आदि करते हो। (ह०)। २-अनादि—दीन, वि०, पो०। ३ अकर्ता—सू० शु०। ४ आरंभ किसी कर्मका नहीं करते —(वै०)।

‡ वैजनाथजी इसे 'उर्विपति' का विशेषण मानते हैं। अर्थ—"आप किसीका भय करके नम्र नहीं होते, ऐसे सबल पृथ्वीपति हैं।"

४८।', 'जयति लवनांबुनिधि-कुंभसंभव महादनुजदुर्जनदवन दुरितहारी । ४०।' (यह मधुपुत्र है), 'दुष्टदनुजेसनिबंसकृत··। ५८।' (रावणको दनुजेश कहा), इत्यादि । इससे 'दनुजसूदन' का अर्थ 'असुरनिकंदन' वा 'असुरारि' होगा ।

कश्यपपत्नी 'दनु' की संतान दनुज और दानव कहलाती है। 'दनु' के विप्रचित्ति, मय, स्वर्भानु, वृषपर्वा, वैश्वानर, आदि सौ पुत्र हुए। वैश्वानरकी दो पुत्रियाँ पुलोमा और कालकासे पौलोस और कालकेय आदि साठ हज़ार पुत्र हुए।—ये सब दानव कहलाये। दनुसे उत्पन्न होनेसे 'दनुज' नाम हुआ। 'दिति' के पुत्रोंकी 'दैत्य' संज्ञा है। कबंध दनुका पुत्र था। उसका वध श्रीरामजीने किया। अतएव श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि यहाँ 'दनुज' से कबंधको ही समझना चाहिए। इस तरह 'दनुजसूदन' कहकर 'दयासिंधु' विशेषण देनेमें भाव यह होगा कि कबंधका वधकर आपने उसपर दया की, उसके शापित शरीरका नाशकर उसे पूर्वरूप दिया और ऋषियोंपर भी दया की। पुनः, 'दनुज' का अर्थ 'असुर' लेनेपर दयासिंधुका भाव यह होगा कि श्रीरामजी सभी असुरोंको मारकर उन्हें सद्गति देते हैं, यथा 'श्रीरघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही। सुं०।' श्रीरामजी दयालु स्वभाववश यह समझ लेते हैं कि निशाचर वैरभावसे मेरा स्मरण करते हैं। यथा 'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर।६।४४।४।'; अतः 'दयासिंधु' कहा।

समुद्रमंथनसे वरुणकी कन्या वारुणी, जो सुराकी अभिमानिनी देवी थी, प्रकट हुई और अपनेको स्वीकार करनेवाले पुरुषकी खोज करने लगी। दैत्योंने वरुणकन्या सुराको नहीं ग्रहण किया, परन्तु अदितिके पुत्रोंने उस अनिन्द्य सुन्दरीको ग्रहण कर लिया। सुरासे रहित होनेके कारण ही दैत्य 'असुर' कहलाए और सुरा-सेवनके कारण अदितिके पुत्रोंकी 'सुर' संज्ञा हुई। यथा 'दितेःपुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम्। अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम्॥ असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः। वाल्मी० १।४५।३७-३८।'

१ (ख) 'दंभापहन दहन दुर्दोष · ' इति। दंभ, दुर्दोष और दर्पकी विस्तृत व्याख्या शब्दार्थमें आ चुकी है। दम्भीका प्रयोजन यज्ञ, दान, तीर्थ आदि धर्मानुष्ठान करनेमें केवल इतना ही रहता है कि उसका

नाम हो जाय। दम्भ, दर्प और जीवोंके अत्यन्त प्रबल शत्रुरूपी तेरह दोषोंका वे जड़से नाश कर देते हैं।—'दयासिंधु' दीपदेहलीन्यायसे 'दनुजसूदन' होनेमें तथा 'दंभापहन' आदिमें दयासिंधुता ही कारण है; दनुजोंका वध कर उनको मुक्त करते हैं और सुर-मुनि आदिको अभय करते हैं। और जो आश्रित हैं अथवा शरणमें आते हैं उनके दुराचारोंका नाश अपनी कृपासे कर देते हैं। यथा 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।५।४८।२-३।', 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।...क्षिप्रं भवति धर्मात्मा...। गीता ९।३०-३१।' (अर्थात् अतिशय दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है), 'रामकृपा नासहिं सब रोगा।७।१२२।'

१ (ग) 'दुष्टतादमन' इति। ऊपर 'दनुजसूदन' से दुष्ट असुरोंका नाशक कहा। (रावण आदि सब दुष्ट थे। यथा 'यह दुष्ट मारेउ नाथ।६।१२।', 'खलमंडली बसहु दिन राती।५।४६।')। आपका 'सर्वदुष्टान्तकृत' नाम दनुजसूदन होनेसे सिद्ध हुआ। अब यहाँ 'दुष्टता' का भी नाश करनेवाला कहते हैं, आपके राज्यमें संसारमें दुष्टता रह ही न गई। इसीसे 'सर्वदुष्टान्तकृत' और 'दुष्टशक्तिसहस्रभुक्' (अर्थात् सहस्र दुष्ट शक्तियोंका विनाश करनेवाले) भी आपके नाम हैं। (प० प० उत्तर ७२।१५०,१६६)।

१ (घ) 'दमभवन' इति। मन और इन्द्रियोंके संयमका नाम दम है। 'किसी दूसरेकी वस्तुके लेनेकी इच्छा न करना, सदा गंभीरता और धीरता रखना, भयको त्याग देना तथा मनके रोगोंको शान्त कर देना यह 'दम' का लक्षण है।' (म० भा० शान्ति। १६२।१२)। दमसे ये गुण उत्पन्न होते हैं—कृपणताका अभाव, उत्तेजनाका न होना, संतोष, अक्रोध क्षमा), श्रद्धा, नित्य सरलता, अधिक बकवाद न करना, निरभिमानता, गुरुसेवा, असूया, जीवोंपर दया, चुगली न करना, लोकापवाद-असत्य; भाषण, निन्दा-स्तुतिका त्याग, सत्पुरुषोंके संगकी इच्छा, भविष्य सुखकी इच्छा और दुःखकी चिन्ता न करना,...इत्यादि। (म० भा० शान्ति २२०।६-१२)।

जिनकी कृपासे दमशील पुरुषोंमें उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते

हैं, वे आप दमशीलोंके आश्रय होनेसे 'दमभवन' कहलाते हैं। दम-भवन=दमके निवास स्थान=दमशीलोंके आश्रय।

१ (ङ) 'दुःखौघहर' इति। मन-तन-संभव जितने भी दुःख हैं वे सब 'दुःखौघ' दुःखसमूहमें आ गए। आप सब प्रकारके दुःखोंको हर लेते हैं। यथा 'नहिं कोउ सहज कृपाल दुसह दुखसागर तरन। २१३।', 'मनसंभव दारुन दुख दारय। ७।३५।' दुःखसमूहके नाशक कहकर आगे उनकी मूलकारण दुराशाओं-दुर्वासनाओंके भी नाशकर्ता कहते हैं। दुराशायें दुःखोंकी कारण हैं, यथा 'अब तुलसिहि दुख देत दयानिधि दारुन आस पिसाची। १६३।' दुःख अनेक प्रकारके होते हैं—४७ (१ ख) देखिए। संपूर्ण दुःखोंके हरनेवाले होनेसे 'सर्वानिष्टार्थदुःखहा' आपका एक नाम भी है।—(प० पु० उत्तर ७२।१८५)।

१ (च) 'दुर्ग दुर्वासना ···' इति। दुर्वासनाको 'दुर्ग' अर्थात् अत्यन्त कठिन कहा, मानों दृढ़ किला हैं; क्योंकि ये जाती नहीं, स्थूलरूपसे न भी दिखाई पड़े, फिर भी सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणमें छिपी रह जाती हैं। वासनायें ही जन्ममरण आदि की कारण होती हैं। आशा, तृष्णा, ईर्ष्या आदि सब बुरे भाव 'दुर्वासना' में आ जाते हैं। पद ५९ में संसारको वनका रूपक देकर वासनाओंको पैने काँटेदार बेलिकी उपमा दी है—'वासना बल्लि खर कंटकाकुल विपुल ··'। आप ऐसी दुर्वासनाओंको भी नष्ट कर देते हैं। यथा 'आस त्रास इरिषादि निवारक। ७।३५।' पद ५४ (७) में जो 'दुर्व्यसनहर' कहा है, उसका भी समावेश 'दुर्गदुर्वासनानासकर्ता' में हो जाता है।

यहाँ रूपमें यह गुण कहा। चरित और नाममें भी ये गुण कहे हैं। यथा 'आस पियास मनोमल हारी। १।४३।२।' (कथा), 'सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा। १.२४।५।'

टिप्पणी—२ 'देव भूरिभूषन भानुमंत भगवंत ··', इति। (क) साधारण अर्थ तो यही है कि बहुतसे भूषण जहाँ जो जिस अंगमें चाहिएँ सब धारण किये हैं। यथा 'भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। १।१९९।५।', 'मुकुटांगदादि विचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे। ७।१२ छं०।' अतः 'भूरिभूषण' नाम है। पर मेरी समझमें यहाँ उसका

कोई प्रयोजन नहीं, कोई प्रसंग नहीं है। मेरी समझमें दूसरा अर्थ जो हमने पद्यार्थमें दिया है वही यहाँ विशेष संगत है। पद ५५ (६) में भुवनभूषण समष्टिरूपसे कहा था और अब बताते हैं कि भुवनमें वे किसी एक ही गुणसे भूषणरूप नहीं हैं, वरन् भुवनमें जितने प्रतिष्ठित वा पूज्य व्यक्ति, गुणी और भाव आदि हैं, आप सबमें व्यष्टि रूपसे पृथक् पृथक् सबके भूषण हैं, सबमें आदर्श हैं। रघुकुलभूषण, नरभूषण, नृपभूषण, क्षात्रकुलभूषण, ज्ञानभूषण नीति-प्रीति-स्वार्थ-परमार्थ सभीके भूषण, विद्याभूषण, भानुकुलभूषण, और 'भुवन भूषण। ५५।' इत्यादि 'भूरि भूषण' हैं।

'आभूषणधारी' अर्थ लें तो उससे 'अनेक दिव्य आभूषणोंके धारण करनेवाले' ऐसा अर्थ होगा। यथा 'अनेकदिव्याभरणं' (गीता ११।१०)।

२ (ख) 'भगवंत' कहकर आपको अशेषकारणपरं ब्रह्म जनाया। श्री आदि षडैश्वर्यसंपन्न हैं। विशेष ५५ (६ ग) में देखिए। 'भानुमंत'-का साधारण अर्थ तो कान्तिमान है। वाल्मी० १।१।८ में जो 'द्युतिमान्' गुण कहा है, वह यहाँ 'भानुमंत' से कहा गया। परन्तु यहाँ 'भगवंत' के साथ ही यह शब्द आनेसे यहाँ 'परं ज्योतिः', 'सूर्यकोटिप्रतीकाशः', 'रवि सतकोटि प्रकास।७।९१।' का भाव भी है। इससे 'अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले' तथा असंख्यों सूर्यके समान तेजस्वी होना सूचित किया। श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषत् की श्रुति भी है—'स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।२।१।'

२ (ग) 'भवभंजनाभयद भुवनेस भारी' इति। 'अभयद'—अभय देनेकी प्रतिज्ञा है, यथा 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।' (वाल्मी०), 'तुलसी प्रभु आरत आरतिहर अभय बाँह केहि केहि न दई है। १३६।' भाव यह है कि शरणागतको सांसारिक शत्रुओंसे, सब जीवोंसे और कहाँतक कहा जाय, अपनेसे भी 'अभय' दे देते हैं, अर्थात् फिर उसके दोषोंपर दृष्टि नहीं डालते।

'भारी भुवनेश'—भाव कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी 'भुवनेश' हैं। आप उनके भी स्वामी हैं, जितने भुवनेश हैं, वे सब आपके आज्ञाकारी हैं। जैसे राजाओंमें चक्रवर्ती राजा, वैसे ही सब भुवनेशों-में आप 'भारी भुवनेश' हैं।

२ (घ) 'भावनातीत' इति। कठिनतासे अनुभवमें आनेवाले "दुर्ज्ञेय" नामका भाव इसमें है। ['भावनातीत' अर्थात् 'मन, बुद्धि और विचारसे नहीं प्राप्त होते हो'। (वै०)। यथा 'ध्यान अगम सिवहू, भेट्यो केवट उठि।१३५।', 'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं, नेति नेति कह वेद। लं० ११६।' (श्री० श०)।]

२ (ङ) 'भवबंद्य भवभक्तहित' इति। शङ्करजी द्वारा वंदित हैं, उनके इष्ट हैं, आराध्यदेव हैं। यथा 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।१।५१।', 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ।१।११६।' आपके 'अष्टोत्तरशतनाम' में 'महादेवाभिपूजितः' एक नाम ही है (प० पु० उत्तर २८१।४३)।

'भवभक्तहित' अर्थात् शंकरजीके भक्तोंका हित करनेवाले। इससे जनाया कि शंकरजीको जो चिन्ता अपने भक्तोंकी मुक्तिके संबंधमें थी, उस चिन्ताको आपने दूरकर उनके भक्तोंके मोक्षका उपाय कर दिया कि मरते समय जिसके दाहिने कानमें वे ब्रह्मतारक षडक्षर राममंत्रका उपदेश करेंगे, वह मुक्त हो जायगा। पद ४ (४) 'वेदविदित तेहि पद पुरारिपुर कीट पतंग समाहीं' में देखिए। अथवा, 'भवभक्त' से रावण और वीरमणि प्रभृति शिवभक्तोंका ग्रहण कर लें। इन सबोंका कल्याण श्रीरघुनाथजीने किया। बाणासुरकी कथा ५७ (३ ग) में दी गई है।

शिवजीकी पूजा-उपासना करनेवालोंको यश देनेवाले होनेसे 'शिवार्चकयशः प्रदः' श्रीरामजीका एक नाम ही है। (वि० स० ना० ५४४)। इस भावसे भी 'भवभक्तहित' नाम है।

नोट—२ साधारण अर्थ तो ऊपर आ गए। विशेष भाव सुनिये। "भवबंद्य, भवभक्तहित, भूमिउद्धरण, भूधरणधारी, बरद बागीश और वैकुण्ठमंदिरविहारी"—इन विशेषणोंसे भगवान् श्रीरामके नव वा सात अवतारोंको कहा है।

(क) 'भवबंद्य' से मनुशतरूपावाले साकेताधीशके रामावतारका संकेत किया। क्योंकि इन्हींको सच्चिदानन्द परधाम कहकर प्रणाम करते देख सतीजीको शंका हुई और शंकरजीने इन्हींको इष्टदेव तथा मनुशतरूपाजीवाले 'राम' बताया था। यथा 'संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥ तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा। १।५०।', 'सोइ मम इष्टदेव

रघुबीरा', 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा।...जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी। १।१४१।'—यह कहकर मनुशतरूपा का तप और वरदान कहा है।

(ख) 'भवभक्तहित' से हरगण-रावण-कुम्भकर्णके हितार्थ जो रामावतार हुआ था, उसे कहा। हरगणोंको नारदजीने शाप दिया था और फिर उनकी अनुनय-विनयपर अनुग्रह किया था। यथा 'हरगन हम न विप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फल पाया। श्राप अनुग्रह करहु कृपाला। निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। वैभव विपुल तेज बल होऊ। भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ। धरिहहिं विष्नु मनुज तन तहिआ।।...एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। १।१३६।'

(ग) 'भूमिउद्धरण' से वराहावतार कहा, जिसमें भगवान्ने अपनी दाढ़ोंपर पृथिवीको धारण कर पातालसे लाकर जलपर स्थापित किया था। हिरण्याक्षको मारकर पृथ्वीका उद्धार 'वराहरूप' से किया था।

(घ) 'भूधरणधारी' से श्रीकृष्णावतार, कच्छपावतार और श्रीराम तीनोंका ग्रहण हो सकता है। श्रीकृष्णावतारमें गोवर्धन पर्वतको अँगुलीपर उठाया था। श्रीरामजीने उसे वर दिया था कि द्वापरमें हम तुम्हें दर्शन देकर तुम्हें सम्मान देंगे। क्षीरसागरमंथनसमय कच्छपरूपसे मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया था। और वाल्मी० ६।११७।२२में ब्रह्माजी कहते हैं 'त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान्।' अर्थात् आपही संपूर्ण प्राणियोंको, पृथिवीको और समस्त पर्वतोंको धारण करते हैं। अध्यात्मरा०में श्रीजटायुजीने भी श्रीरामको 'गिरिवरधारिणमीहिताभिरामम्।...सुरवरदं रघुनायकं प्रपद्ये।' (अर्थात् जिनका चरित अति मनोहर है, जो देवताओंके वरदायक हैं, उन गिरिवरधारी रघुनायककी मैं शरण हूँ) कहा है। (३।८।४६)। इन प्रमाणोंसे श्रीरामजीको भूधरणधारी कहा गया है।

(ङ) 'वरद वागीश' से हयग्रीवावतार जिसमें वागीशरूपसे ब्रह्माको वेदरूपी वर दिया था अर्थात् ब्रह्माको वेद पढ़ाया था।

(च) 'वैकुण्ठमंदिर विहारी' से चतुर्भुज विष्णु अवतारका संकेत कराया है जो सृष्टिके धारण-पोषणार्थ हुआ। तथा वह अवतार जो जलंधर-रावणके वधके लिये वैकुंठ से हुआ।

☞ उपर्युक्त सब अवतारोंके गुण आपमें एकही साथ दिखानेके लिये उपर्युक्त सब विशेषणात्मक नाम दिये।

टिप्पणी—३ (क) 'विश्वात्मा' इति। 'आभ्याश्च ज्ञानकर्मभ्यां 'विश्वात्मा' व्यापनात्स्मृतः।' (निरुक्त)। अर्थात् अचिन्त्य अनन्त ज्ञानकर्मद्वारा विश्व (जगत्) में व्याप्त होनेसे 'विश्वात्मा' नाम है। पुनः, जो कालसे परे है, यज्ञसे भी परे है और परेसे भी परे है, जो संपूर्ण विश्वके आदि हैं किन्तु जिनका आदि कोई नहीं है, जिनके भीतर सब कुछ है, जिससे सब उत्पन्न होते हैं, जो स्वयं सर्वस्वरूप हैं, सब ओर व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं—उनका नाम 'विश्वात्मा' है। समस्त प्रतीयमान् विश्व आपका ही स्वरूप वा आत्मा है। यथा 'परः कालात् परो यज्ञात् परात्परतरश्च यः। अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै 'विश्वात्मने' नमः॥ यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः। म० भा० शान्ति ४७।७०,८४।' वाल्मी० ६।११७।२५ में ब्रह्माजीने जो कहा है कि आपके बिना इस जगत्का अस्तित्व नहीं है, संपूर्ण विश्व आपका शरीर है,—'नैतदस्ति त्वया विना। जगत् सर्वं शरीरं ते…'—यह भी विश्वात्माकी व्याख्या है।

३ (ख) वागीश—५४ (१ च), ५५ (५ ख) देखिए। 'विरज'-५५ (५ ख) देखिए। वैकुंठ-५३ (८ घ), ५५ (५ ग) देखिए। व्यापक—पद्यार्थमें अर्थ आ गया है, विशेष ४३ (१ ख), ४७ (२ क) में देखिए। ब्रह्म-४३ (१ घ), ५२ (७ ग), ५३ (८ ख) में देखिए। वामन—४६ (३ ख), ५२ (५ क-ख), ५५ (५ ख) में देखिए।

३ (ग) 'व्योम' इति। यह श्रीरामजीका एक नाम भी है। प्रमाण यथा—'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् तै० २।७' आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। तै० ३।६' अर्थात् यदि यह आनन्दस्वरूप आकाश न होता तो इस ब्रह्माण्डको कौन चैतन्य करता और कौन पालन करता? यह सब भूत इस आकाश (परमात्मा) से ही उत्पन्न होते हैं।—विशेष ५३ (८ क) में देखिए। पुनः, अनन्त आकाशस्वरूप होने से यह नाम है।

३ (घ) 'ब्रह्मविद्' इति। "यो वेदानन्ततो वेत्ति स 'ब्रह्मविद्' उदीरितः।" अर्थात् अनेक शाखाओंवाले वेदको भी अन्ततक जाननेसे 'ब्रह्मविद्' नाम है। गीतामें भगवान्ने कहा है कि मैं ही वेदका जानने-

वाला हूँ।—'वेदविदेव चाहम्। १५।१५।' "वेद मेरा विधान करनेवाले हैं, इस प्रकार मैं स्वयं जानता हूँ। अभिप्राय यह है कि जो इससे विपरीत वेदका अर्थ करनेवाले हैं, वे वेदवेत्ता नहीं हैं।" (श्रीरामानुजभाष्य)।

३ (ङ) 'ब्रह्मचिन्तापहारी' इति। मत्स्यावतार, हयग्रीवावतार, वराहावतार आदि अवतार धारण कर-करके असुरविनाशपूर्वक वेदोद्धरणद्वारा वेदापहरणजनित, पृथ्वी-अपहरण-जनित, श्रुतिमर्यादा-नाश जनित, भूमित्रिप्रसन्तसुरकष्टजनित आदि चिन्ताओंके हरनेसे 'ब्रह्मचिन्तापहारी' नाम है।

टिप्पणी—४ (क) 'सुंदर' इति। "स स्यात्सुन्दर-उद्दिष्टः तेषां दृष्टिमनोहरः। विश्वातिशायि सौभाग्यशालित्वात् 'सुन्दरः' स्मृतः॥" (निरुक्त)। अर्थात् दर्शन करनेवालोंकी दृष्टि और मनको हरनेवाले तथा सम्पूर्ण जगत्‌में अतिशय सौभाग्यशाली होनेसे 'सुन्दर' नाम है। सौन्दर्यके संबंधमें पद ४४ (३) टि० ३ (घ), ५३ (४) 'सुंदरं···सौंदर्य सीमातिरम्यं' टि० ४ (ख) देखिए।

४ (ख) 'सुमुख' इति। "ध्यातॄणां विषये यस्य सुप्रसन्नं मनोहरम्। मुखमस्तीति 'सुमुखः' (निरुक्त)। अर्थात् मंत्रपूर्वक ध्यान करनेवालेको अपने सुप्रसन्न मनोहर मुखका दर्शन कराकर आनन्द देनेसे 'सुमुख' नाम है।

पुनः, 'प्रसन्नतां या न गताभिषकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखांबुजश्री···' इससे 'सुमुख' कहा। 'सदाप्रसन्नवदन', वनवास सुननेपर भी मुख मलिन न हुआ प्रत्युत 'चित्त' में चौगुण चाव हुआ, तथा कभी मुखपर आपके किसीने रिसका चिह्न नहीं देखा; इससे भी 'सुमुख' कहा।

४ (ग) 'सुमन' अर्थात् सदा सुष्ठु सुन्दर तथा प्रसन्न मन। 'मनःपतिः' भगवान्‌का एक नाम भी है। (वि० स० ना० १३१)।' उस लक्ष्यसे भी 'सुमन' कहा जा सकता है।

४ (घ) 'सुभ सर्वदा सुद्ध' इति। 'शुभ सर्वदा' अर्थात् सदा कल्याणस्वरूप। इसमें 'सर्वतोभद्र०' ५३ (१ ख) का भाव है। 'सर्वतोभद्र' भगवान्‌का एक नाम है। 'सर्वदा शुद्ध' अर्थात् स्वभावसे ही

शुद्धिसंपन्न, कर्ममलरहित सदा शुद्ध। 'सर्वदा' को अलग एक नाम मानें तो 'नित्य' और 'सर्वस्व वा सब कुछ देनेवाले' अर्थ होगा।

४ (ङ) "सर्वज्ञ" इति। परोक्ष और अपरोक्ष सभीके ज्ञाता होनेसे 'सर्वज्ञ' नाम है। पुनः, 'सर्वात्मना स्वमात्मानं यश्च जानाति केवलम्। सर्वज्ञस्स तु विज्ञेयस्सप्ताक्षरो ज्ञानदो मनुः।' इस निरुक्तिके अनुसार 'सर्वप्रकारसे अपने शरीरभूत जगत् तथा अपने आत्मस्वरूपको सर्वदा जाननेसे 'सर्वज्ञ' नाम है। 'ॐ सर्वज्ञाय नमः' यह सप्ताक्षर मंत्र ज्ञानका देनेवाला है। पुनः, 'शक्याशक्यादिकं सर्वं साध्यासाध्यादिकं च यः। भक्तानामनुसंधते स सर्वज्ञ इतीरितः।' (निरुक्त)। अर्थात् अपने भक्तोंके वास्ते शक्य और अशक्य, साध्य और असाध्य, सभीका बराबर अनुसंधान करते रहते हैं, इससे भी 'सर्वज्ञ' नाम है।

४ (च) 'स्वच्छंदचारी' इति। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे रहित अशरीरी होनेपर भी सम्पूर्ण शरीरोंमें रहते हैं किन्तु कभी भी उनके कर्मोंमें लिप्त नहीं होते और सब जीवोंके अन्तरात्मा होते हुए भी कहीं किसीके द्वारा पकड़में नहीं आते। वे सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें सुखपूर्वक विचरण करते हैं। अतः 'स्वच्छन्दचारी' कहे जाते हैं। यथा 'अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ। वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः।३।...सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्।४।...एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम्।५।' (म० भा० शान्ति ३५१)। श्रीनारदजीके 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥ भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू॥ कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। १।१३७।' इन वाक्योंसे 'स्वच्छन्दचारी' का भाव स्पष्ट हो जाता है।

सर्वकृत, सर्वभृत, सर्वजित और सर्वहितके अर्थ शब्दार्थ, पद्यार्थमें तथा पूर्व आ चुके हैं। सत्यसंकल्प—५१ (४ ङ), ५४ (६) शब्दार्थमें देखिए। कल्पांतकारी—'अतिकल्प कल्पांतकृत' ५४ (६ क) देखिए। 'निर्गुन'—५३ (७ च), ५५ (६ ख) देखो। सर्वहित—५५ (३ ख) देखिए।

टिप्पणी—५ (क) 'निरंजन' इति। शुभाशुभकर्मसम्बन्ध ही 'अंजन' है; उससे रहित होनेसे 'निरंजन' नाम है। 'कर्मसुभासुभ तुम्हहिं न बाधा' यही 'निरंजनता' है। पुनः, निरंजन=निर्मलात्मा=वासना और आसक्तिरूपी मलसे शून्य, तमोगुणरहित।

५ (ख) 'निर्वान निर्वानदाता' अर्थात् आपही मोक्ष हैं और मोक्षके देनेवाले भी आप ही हैं। भाव कि पाप और पुण्यका क्षय हो जाने पर पुनर्जन्मके भयसे मुक्त हुए शान्तचित्त संन्यासी जिन्हें प्राप्त करते हैं, वे मोक्षस्वरूप परमात्मा आपही हैं।—'अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः। शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः। म० भा० शान्ति ४७ ५६।' निर्वानदाता—५५ (३ क), ५४ (१ ज) देखिए।

५ (ग) निःकंप=अपनी मर्यादासे कभी किसी प्रकार विचलित न होनेवाले। निःसीम=तीनों कालोंमें वर्तमान संपूर्ण जगत्का आधार होनेसे देशकालकी सीमामें न आने योग्य,—'कालत्रयवर्तिनिखिलजगदाश्रयतया देशकालपरिच्छेदानर्हं।' (गीताभाष्य)। आगे 'अमित' नाम भी आया है। 'अमित' और 'असीम' में भेद यह है कि 'निस्सीम' से मर्यादारहित सूचित किया है अर्थात् कोई हद नहीं बाँधी जा सकती। और 'अमित' शब्द इस बातका बोधक है कि आपके नाम, रूप, लीला और धाम आदिकी संख्या नहीं की जा सकती। (घ) नित्य, निर्मुक्त—५३ (६ क), ५५ श० में देखिए। 'निर्भरानंद'—'पूर्णानंदसंदोह'। ५३ (६ क) देखिए। निर्मम = ममतारहित अर्थात् सबपर एक समान दयादृष्टि रखनेवाले।

५ (ङ) 'विधाता' इति। "तद्गर्भपरिणामेस्यादाविर्भावयिता स्वयम्। धारणाल्लीलया यस्मात् 'विधाता यं प्रकीर्त्तिता॥"—इस निरुक्तिके अनुसार चेतनभरितशरीर ब्रह्माको अपने गर्भमें धारण करके नाभिकमलसे प्रकट करनेसे 'विधाता' नाम है। पुनः, 'धाताक्षेत्रे कर्मबीजभूतं गर्भं दधाति।' (मौलिसंहिता) अर्थात् प्रकृतिक्षेत्रमें जीवोंके कर्मबीज धारण करनेसे भी 'विधाता' नाम है। पुनः, 'तदधीन्यायमादीनां विधातेत्युच्यते बुधैः।' इस निरुक्तिके अनुसार "जीवोंके पापफलको नियमानुसार भोगानेवाले यम आदि भी जिनके अधीन हैं" ऐसा होनेसे 'विधाता' नाम है। यमराजने स्वयं अपने अनुचरोंसे कहा है कि 'मुझे देवपूज्य विधाताने 'यम' नामसे लोकोंके पाप-पुण्यका विचार करनेके लिये नियुक्त किया है। मैं अपने गुरु श्रीहरिके वशीभूत हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, वे भगवान् मेरा भी नियंत्रण करनेमें समर्थ हैं।—'अहममरवरार्चितेन धात्रा, यम इति लोकहिताहिते

नियुक्तः। हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः, प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः। वि० पु० ३।७।१५।'

टिप्पणी—६ (क) 'मुग्ध मधुमथन' इति। 'मुग्ध' का साधारण अर्थ 'मोहित, मूर्ख या मूढ़' होता है। इसको 'मधु' का विशेषण मान सकते हैं और साथ ही हम इसे स्वतंत्र एक शब्द भी मान सकते हैं; क्योंकि 'मुग्ध' भगवान्का एक नाम भी है। "अविज्ञाता हि भक्तानामागसे कमलेक्षणः।" अर्थात् श्रीसरकार रघुनाथजी भक्तोंके दोष देखनेमें सदा मुग्ध अर्थात् अज्ञात, भोरे वा मूढ़-से रहते हैं। आलवन्दारभाष्यकार वेदान्ताचार्यजी आलवंदारस्तोत्रके "प्रतिभवमपराद्धुर्मुग्ध सायुज्य दोऽभूः। ६३।" इस पदके भाष्यमें कहते हैं—"अविज्ञातेतिवदपराधक्षमाभिप्रायेणाह—मुग्धेति। मुग्धो ह्यपराधमनपराधं च विवेक्तुं न शक्नोति अयं तु विविक्तं पश्यन्नपि 'क्षमया पृथिवी समः।' इत्युक्त गुणविशेषेणापश्यन्निव भगवतीति मुग्धत्वोपचारः।" अर्थात् अपने जनोंके अपराधोंको देखते हुये भी उसपर कभी ध्यान न देनेसे उनको 'मुग्ध' कहा जाता है और इसीसे उनको क्षमामें पृथिवी समान कहा है। पुनश्च 'यत्तदादृशागसभरिं रघुवीर वीक्ष्य विश्राम्यतामितिमवोचिथ मुग्धसाजौ। कोऽयं गुणः कतर कोटि गतः कियान् वा कस्य स्तुतेः पदमहो वद कस्य भूमिः॥ अतिमानुष स्तव। श्लोक २७" अर्थात् श्रीरघुनाथजी इतने मुग्ध हैं कि शत्रुओंके दोषोंको देखते हुए भी उनपर ध्यान न देकर उनका हित ही करते हैं—ऐसा गुण भला किसमें है? और कौन स्तुतिके योग्य हो सकता है?

☞ पूर्व पद ४२ में भी यही गुण इस तरह दर्शाया गया है—"सरल प्रकृति आपु जानिऐ करुनानिधान की। निज गुन अरिकृत अनहितौ दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की॥ बानि बिसमरनसील है मानद अमान की।" और मानस आदिमें भी कहा है—'रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरत सय बार हिये की॥', 'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धर्‍यो। दो० ४७।'—इन उद्धरणोंके भाव 'मग्ध' नाममें हैं। जैसे पद ४२ में 'सरल प्रकृति' के साथ 'मानद अमान' का प्रयोग हुआ है, वैसे ही प्रस्तुत पदमें 'मुग्ध' के साथ उसी पंक्तिमें 'मानद अमानी' विशेषण आये हैं। अतएव हमने भी 'मुग्ध' को श्रीरामजीका विशेषण वा नाम माना है।

६ (ख) "मधु" इति। पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० ३६,३७ में इसकी कथा इस प्रकार है—"श्रीमन्नारायणने अपनी नाभिसे एक स्वर्णमय, तेजोमय, अनेक रंगोंसे युक्त एक कमल उत्पन्न किया। इस कमल के भीतर एक और कमल है, जिसके भीतर एकार्णवके जलमें पृथ्वीकी स्थिति मानी गई है। इस कमलके चारों ओर समुद्र है। ब्रह्माजी उस एकार्णवके जलमें धीरे-धीरे पद्मनिधिकी रचना करने लगे। उसी समय तमोगुणसे उत्पन्न मधु नामका महान् असुर तथा रजोगुणसे प्रकट हुआ कैटभ नामधारी असुर ब्रह्माजीके कार्यमें विघ्नरूप होकर उपस्थित हुए। एकार्णवमें स्थित समस्त जगत्को वे क्षुब्ध करने लगे। उनके सब ओर मुख थे। एकार्णवके जलमें विचरते हुए जब वे पुष्करमें पहुँचे, तब वहाँ उनको ब्रह्माजीका दर्शन हुआ। ब्रह्माजीसे पूछनेपर उन्होंने मधु-कैटभको अपने स्रष्टा और रक्षकका परिचय करा दिया। तब दोनों असुर भगवान्के समीप गये और प्रणाम करके बोले—'हम जानते हैं कि आप विश्वके उत्पत्तिस्थान, अद्वितीय, पुरुषोत्तम और हमारे भी जन्मदाता हैं। हम आपको ही बुद्धिका कारण समझते हैं। देव! हम आपसे हितकारी वरदान माँगते हैं।' शत्रुदमन! आपका दर्शन अमोघ है। आपको नमस्कार है। भगवान् बोले—'तुम लोग वर किसलिये माँगते हो? तुम्हारी आयु पूरी हो चुकी है, फिरभी तुम जीवित रहना चाहते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। तब उन्होंने कहा कि हमें केवल इस वरदानकी इच्छा है कि जहाँ किसीकी मृत्यु न हुई हो उस स्थानमें हमारा वध हो। 'तथास्तु' कहकर भगवान्ने उनको अपनी जङ्घापर गिराकर मसल डाला।"

म० भा० वनपर्वमें मार्कण्डेयजीने जो कथा कही है वह इस प्रकार है,—भगवान् हरिकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, उसीमें ब्रह्माजी प्रकट हुए। कुछ कालके बाद दो पराक्रमी दानवों, मधु-कैटभने श्रीहरिको देखा। तत्पश्चात् उनकी दृष्टि कमलपर बैठे हुए ब्रह्माजीपर पड़ी। दोनों ब्रह्माजीको बार-बार डराने लगे, तब इन्होंने कमलनालको हिलाया जिससे भगवान् गोविन्द जाग उठे। दानवोंको देखकर भगवान्ने कहा कि तुम्हें देखकर मुझे प्रसन्नता हुई, तुमको मैं उत्तम वर देता हूँ। उन अभिमानी दानवोंने हँसकर कहा कि 'हम दोनों तुम्हें वर देते हैं, बिना सोचे-विचारे जो चाहो हमसे माँग लो।' भगवान्ने कहा कि तुम्हारे समान पराक्रमी पुरुष

दूसरा कोई नहीं है, इसलिये लोकहितार्थ मैं तुमसे यह मनोरथ प्राप्त करना चाहता हूँ कि तुम दोनों मेरे हाथसे मारे जाओ,—'वध्यत्व-मुपगच्छेतां मम' (२०३।२७)।

दानवोंने कहा कि 'हम दोनोंने कभी असत्य नहीं कहा। बल, रूप, शौर्य और शममें तथा धर्म, तपस्या, दान, शील, सत्त्वमें भी हमारी समताका दूसरा कोई नहीं है। किन्तु केशव! हम लोगोंपर यह महान् संकट आ पहुँचा है (कि आप हमारा वध चाहते हैं)। अब आप भी अपनी कही हुई बात पूर्ण कीजिये। (आपने कहा था कि "मैं तुम दोनोंको उत्तम वर देता हूँ—'ददामि वां वरं श्रेष्ठं। श्लो० २३।')। हम दोनों आपके द्वारा एक ही सुविधा चाहते हैं। वह यह है कि "आप इस खुले आकाशमें ही हमारा वध कीजिये)-'अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम। श्लो० ३१।' और हम दोनों आपके पुत्र हों।" भगवान्‌ने कहा कि ऐसा ही होगा।

बहुत सोचनेपर जब कहीं खुला आकाश न देखा और स्वर्ग अथवा पृथ्वीपर भी जब कोई खुली जगह न दिखाई दी, तब देवेश्वर मधुसूदनने अपनी दोनों जाँघोंको अनावृत (वस्त्ररहित) देखकर मधु और कैटभके मस्तकोंको उन्हींपर रखकर तीखी धारवाले चक्रसे काट डाला।

म० भा० शान्तिपर्वमें जो कथा वैशम्पायनजीने जन्मेजयजीसे कही है, वह इस प्रकार है—'श्रीमन्नारायणके नाभिकमलमें अनिरुद्ध (अहंकार) से कमलनयन ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्माजी सहस्र-दल कमलपर बैठे थे। जिस कमलपर वे बैठे थे उसके पत्तपर भग-वान्‌की प्रेरणासे जलकी दो बूँदें पड़ी थीं, जो रजोगुण और तमो-गुणकी प्रतीक थीं। भगवान्‌ने उन दोनोंकी ओर देखा। उनमेंसे एक बूँद भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही तमोगुणमय 'मधु' नामक दैत्यके आकारमें परिणत हो गई। उस दैत्यका रंग मधुके समान था और उसकी आकृति, शरीरकी कान्ति बड़ी ही सुंदर थी। जलकी दूसरी बूँद जो कुछ कड़ी थी, भगवान्‌की आज्ञासे रजोगुणसे उत्पन्न 'कैटभ' नामक दैत्यके रूपमें प्रकट हुई। तमोगुण और रजोगुणसे युक्त वे दोनों दैत्य गदा लिये हुए, कमलनालका अनुसरण करते हुए वहाँ पहुँचे जहाँ ब्रह्माजी बैठे हुए सृष्टिरचनामें प्रवृत्त थे और उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारों वेद उपस्थित थे। दोनों

ब्रह्माजीके देखते-देखते वेदोंको हरकर उत्तर-पूर्ववर्ती महासागरमें घुसकर रसातलमें पहुँच गए।—'⋯वेदांश्चतुरश्चारुविग्रहान् ॥ २८ ।⋯ सहसा जगृहतुर्वेदान् ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ॥ २९ ।' वेदोंके सहसा अपहरणसे ब्रह्माजीने बहुत दुखी होकर भगवान्की स्तुति की। भगवान् हयग्रीवरूप धारणकर रसातलमें पहुँचकर परम योगका आश्रय ले, शिक्षाके नियमानुसार उदात्तादि स्वरोंसे युक्त सामवेदका गान करने लगे। वह मधुर ध्वनि रसातलमें सब ओर फैल गई। यह शब्द सुनकर असुरोंने वेदोंको बंधनमें बाँधकर रसातलमें एक ओर फेंक दिया और स्वयं ध्वनिकी दिशामें दौड़े। इसी बीचमें भगवान्ने संपूर्ण वेदोंको अपने अधिकारमें कर लिया और उन्हें लाकर ब्रह्माको दिया। फिर अपने पूर्वरूपको धारणकर ज्योंकी त्यों सो रहे। उधर दैत्योंने शब्द होनेके स्थानपर जब किसीको न देखा और जहाँ वेदोंको फेंका था वहाँ वेदोंको न पाया, तब वे पुनः वहाँ आये जहाँ भगवान् सो रहे थे और उन्हें जगाया। भगवान्ने युद्ध करके उनको मार डाला।" (अध्याय ३४७।२२-७०)। भा० ११।४।१७ में हयग्रीवरूपसे मधुका संहार करके चुराये हुए वेदोंका उद्धार करना कहा है।—'तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥' वाल्मी० ७।१०४ में ब्रह्माजीका कथन है कि आपने ही मधु और कैटभ नामक दो महाबली जीवोंको जन्म दिया। उन्हींकी अस्थिसमूहोंसे भरी हुई यह पर्वतोंसहित पृथिवी तत्काल प्रकट हुई, जो मेदिनी कहलाई।

६ (ग) 'मानद' अमानी' इति।—४२ (३ ख) देखिए। पुनः, "स मानदोऽर्जुनादिभ्यो मानं राज्यं च दत्तवान्।" (निरुक्त)। अर्थात् सुग्रीव, विभीषण, अर्जुन, उग्रसेन, युधिष्ठिर आदिको राज्य, अधिराज्य, रथित्वादि बहु मान देनेसे 'मानद' नाम है।

'अमानी' इति। 'योऽनहंकारी भक्तेष्वेव स ईरितः।' इस निरुक्तिके अनुसार 'भक्तोंके विषयमें कभी भी अहंकार नहीं है। अर्थात् मान्यशून्य होकर सदा उनसे मिलते हैं, उनसे प्रेम तथा उन्हें प्यार करते हैं, लज्जा छोड़कर भक्तोंके दूत, सारथी इत्यादि बनकर सब कुछ करते हैं।'—इससे 'अमानी' नाम है। कैवट, जटायु और वानर प्रभृति उदाहरण हैं।

६ (घ) 'मदनमर्दन मदातीत मायारहित' इति। (१) भगवान् तीनों कालोंमें कामदेवको परास्त करनेवाले होनेसे तथा ब्रह्मचर्यपालनमें एकमात्र दक्ष होनेसे 'मदनमर्दन' हैं। इसीसे उनके नामोंमेंसे 'त्रिकाल-जित कन्दर्पः' 'ब्रह्मचर्य्यैकदक्षिणः' भी दो नाम हैं। (वि० स० ना० ३५४।५५५)। श्रीरामजी एक हजार वर्षसे अधिक अखण्ड ऊर्ध्वरेता रहकर अग्निहोत्र करते रहे।—'मदनमदमथन' ५३ (४ ख), ५१ (३ घ), ५३ (८ ङ·) तथा ऊपर टि० १ (घ) 'दमभवन' में देखिए।

(२) वियोगीजीका मत है कि "अपने अनुपम और अप्राकृत नित्यसौंदर्य द्वारा कामदेवका गर्व खर्व करनेवाले हैं। भागवतके 'साक्षान्मन्मथमन्मथः। १०।३२।२।' वाक्यसे भी यह सिद्ध होता है। अथवा योगेश्वररूपसे कामवासनाओंके नाश करनेवाले हैं।" और वैजनाथजीका मत है कि भक्तोंके हृदयमें जो काम-विकार उत्पन्न होते हैं उनके नाशक होनेसे 'मदनमर्दन' कहा।

(३) श्रीनारायणरूपसे बदरिकाश्रममें जगत्‌के हितार्थ तप करते समय इन्द्रने कामदेवको तप भंग करनेके लिए अप्सराओं सहित भेजा था। उसीकी ओर यहाँ संकेत है, यह 'मंजुमानाथ पाथोजपानि' से भी सिद्ध होता है। भगवान् नारायण तथा लक्ष्मीजी दोनों ही कमलपाणि हैं। श्रीनारायणरूपमें तप करते समय सपरिकर कामदेव का मद मर्दन करनेसेभी 'मदनमर्दन' नाम है। मदनमर्दन करनेपर भी मद नहीं हुआ। (जैसे देवर्षि नारदको हुआ था, जीतसे मद होना स्वाभाविक है), इसीसे 'मदनमर्दन' कहकर 'मदातीत' भी कहा।—विस्तृत कथा पद ६० में दी गई है।

(४) इसी तरह श्रीकृष्णावतारमें महारासनृत्यमें मदनमर्दन करते हुए भी 'मदातीत' हैं। श्रीरामजी स्वयं 'मदनमर्दन' 'मदातीत' हैं, इसीसे वे दूसरोंके काम और मदका नाश करते हैं; यथा 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया। ३।३६।३', 'हृदि बसि राम काम मद गंजय।७।३४।८।', 'तर्जन क्रोध लोभ मद कामः।३।११।१३', 'नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि खलदलगंजनं। ३।३२। छं २।'

६ (ङ) 'मानाथ पाथोजपानी' इति। श्रीलक्ष्मीजीका निवास-स्थान भी कमल है और उनके हाथमें कमल है और वे कमलनाभप्रिया हैं। अतएव 'पाथोजपानी' उनका भी विशेषण माना जा सकता है।

और भगवान्‌का भी 'पद्मपाणि' नाम है। उनके भी हाथमें कमल रहता है। अतः 'पाथोजपाणि' वे भी हैं।

टिप्पणी—७ (क) 'कमल लोचन'—४५ (१ ञ, ट, ठ, नोट ७) देखिए। 'कला कोष' इति। 'कला' से यहाँ चौंसठों कलायें अभिप्रेत हैं, आप समस्त कलाओंके भण्डार, खजाना वा समुद्र हैं। यथा 'सिय अंग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषनविभाग, तिलककरनि का कहौं कलानिधान की। गी० २।४४।'

शैवागममें चौंसठ कलाओंके नाम ये हैं—गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकच्छेद्य, तंडुलकुसुमवलिविकार, पुष्पशय्यारचना, दशनवसनाङ्गराग, मणिभूमिकाकर्म, ११ उदकवाद्य, शयनरचना, उदकघात, अद्भुतदर्शनवेदिता, मालाग्रथनकल्प, शेखरापीडयोजन, नेपथ्ययोग, कर्णपत्रभंग, गन्धयुक्ति, भूषणकी योजना, २१ इन्द्रजाल, कौचुमारयोग, हस्तलाघव, चित्रशाकापूपविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजन, सूचीवापकर्म, सूत्रक्रीड़ा, वीणाडमरूवाद्य, प्रहेलिकाप्रतिमाला, दुर्वाचकयोग, ३१ पुस्तकवाचन, नाटिकाख्यायिका दर्शन, काव्यसमस्यापूरण, पट्टिकावेत्र बाणविकल्प, तर्ककर्म, तक्षण, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागज्ञान, ४१ आकरज्ञान, वृक्षायुर्वेद, मेष कुक्कुटलावकयुद्धविधि, शुकसारिकाप्रलापन, उत्सादन, केशमार्जन, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छितकविकल्प, देशभाषाज्ञान, पुष्पशकटिका निमित्त ज्ञान, ५१ यन्त्रमातृका, धारणमातृका, असंवाच्यसंपाठ्य मानसी काव्यक्रिया, छलितकयोग, अभिधानकोशच्छन्दोज्ञान, क्रियाविकल्प, ललितविकल्प, वस्त्रगोपन, द्यूतविशेष, आकर्षक्रीड़ा, ६१ बालक्रीडनक, वैनायिकीविद्याज्ञान, वैजयिकविद्याज्ञान और वैतालिकीविद्याज्ञान।—विशेष व्याख्या 'मानस-पीयूष' १।६।८ में देख सकते हैं।

७ (ख) 'मत्त करि केसरी' की उपमा बहुत बार आ चुकी है। ४० (१ क) में देखिए। सिंह घने जंगलोंमें रहता है। श्रीराम केशरी कहाँ रहते हैं,यह 'भक्तमन पुन्य आरन्य' से बताया। भक्तोंके मन पवित्र वन हैं, इन्हींमें श्रीरामरूपी सिंह रहते हैं। सिंह मत्त हाथियोंको विदीर्ण करता है और श्रीरामजी भक्तोंके मनमें विहार करते हुए कामक्रोधादिरूप हाथियोंको मारते हैं। दण्डकारण्यमें रहकर निशाचर समूहका नाश

किया, मुनियोंकी रक्षा की, भक्तके मनमें रहकर उनकी कामादिसे रक्षा करते हैं।

☞ पद ४३ (४) में 'चित्रकूटाद्रि विंध्याद्रि दंडकविपिन धन्यकृत-पुन्यकाननबिहारी।' में चित्रकूट, विन्ध्याचल और दण्डक वनोंको पवित्र कहा है। रुद्रयामलान्तर्गत अयोध्या माहात्म्यमें 'दण्डक, सैन्धवारण्य, जम्बूमार्ग, पुष्कर, उत्पलावर्तमारण्य, कुरुजाङ्गल, हिमवान् और अर्बुद, इन नौको मुक्तिदा कहा है। (अध्याय ३०)। स्कन्द पुराण नागरखण्ड अ० १६६ में पुष्कर, नैमिष, धर्मारण्य, वृन्दावन, खाण्डव, द्वैतवन,—ये वन भी पवित्र माने गये हैं।

भक्तोंके मनको इन्हीं सब पावन मुक्तिदाता वनोंके समान कहा गया है। परम भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीने अपने मनको वनकी उपमा दी भी है। यथा 'बसतु मनसि मम कानन चारी। ३।११।१८।'

टिप्पणी—८ 'अनघ अद्वैत अनवद्य···' इति। (क) 'अनघ' का साधारण अर्थ है—'स्वभावतः पापसे रहित'। विशेष अर्थ है—'पाप प्रतिस्पर्ध्यनघः।'—इस निरुक्तिके अनुसार "संसारमें प्रकट होनेपर भी पापशब्दवाच्य पुण्यपापरूप शुभाशुभकर्म स्पर्श नहीं करता, इससे 'अनघ' नाम है।" पुनश्च "जीवेभ्यः कर्मवश्येभ्यो व्यावृत्तश्चानघः स्मृतः।"—इस निरुक्तिके अनुसार "कर्मवश्य जीवोंसे विलक्षण होनेसे भी 'अनघ' नाम है।"—'ज्ञान अखंड एक सीता वर। मायावस्य जीव सचराचर।', 'कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।' अष्टोत्तरशतनामोंमें 'स्मृतसर्वाघनाशनः', और 'सर्वाघगणवर्जितः' दो नाम हैं, अर्थात् समस्त पापराशिसे रहित हैं और स्मरण करनेवालेके पापोंके नाशक हैं। (प० पु० उत्तर २८१।४१,४५)

८ (ख) 'अद्वैत' अर्थात् जिसके समान दूसरा नहीं। चेतनाचेतनविशिष्टब्रह्म होनेसे भी 'अद्वैत' हैं। श्रुति भी है—'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः। रा० उ० ता०।' अनवद्य=निर्दोष; अनिन्द्य।—५३ (३ ङ) देखिए। 'अव्यक्त'—मनुष्यरूपसे प्रकट होनेके कारण अपने प्रभावको छिपाते हैं, इससे 'अव्यक्त' नाम है। ५३ (३ ग) देखिए। पुनः बुद्धि आदि करणोंका विषय न होनेके कारण व्यक्त न होनेसे अर्थात् न जाना जा सकनेसे 'अव्यक्त' कहा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा व्यक्त न होनेवाला।

८ (ग) 'अज' इति। "तत्त्वावसानकाले च प्रणव प्रकृतित्वतः स्मर्तव्यत्वात् 'अजः' प्रोक्तः षडर्णोह्यूर्मिनाशकः।" इस प्रमाणके अनुसार "प्रणवके अर्धमात्रात्मक वाच्य होनेसे सर्वकारण श्रीराम ही सदा स्मरण करने योग्य हैं, इससे 'अज' नाम है।" पुनः, "प्रत्यर्थिनस्स्वसम्प्राप्तौ प्रजानां क्षित्यजः।" इस निरुक्तिके अनुसार 'अपने प्राप्तविरोधियोंका स्वयं विनाश करते हैं, इससे 'अज' नाम है।' पुनः, खंभसे उत्पन्न होनेसे 'अज' नाम है।—५३ (३ च) में देखिए। पुनः, 'यस्या जन्मं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अजः।' (श्रीदिव्यार्थशीर्षम्)।—इसके अनुसार श्रीसरकारका जन्म समझमें नहीं आता, इससे 'अज' नाम है। साधारण अर्थ 'अजन्मा' है। न कभी जन्म लिया, न लेते हैं और न कभी लेंगे तथा सभी प्राणियोंमें रहनेवाले क्षेत्रज्ञ होनेसे 'अज' नाम है।—'न हि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन। क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः।" (म० भा० शान्ति० ३४.२।७४)।

८ (घ) 'अमित' इति। भक्तोंके 'ध्यान आराधनानुसंधेयतत्त्वनिकराधारशक्ति' अर्थात् ध्यान, आराधन, अनुसंधान आदि सब तत्त्वोंके धारण करनेसे 'अमित' नाम है। अथवा, जिसके नामरूपादिकी संख्या नहीं, इति नहीं, उसका नाम 'अमित' है। यथा 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा।' ऊपर टि० ५ (घ) देखिए।

८ (ङ) 'अविकार'—वृद्धि, क्षय, परिणाम आदि विकारोंसे रहित होनेसे 'अविकार' नाम है। इससे जनाया कि देही-देहविभागरहित सच्चिदानंद ही सच्चिदानंद हैं। यथा 'सच्चितव्यापकानंद यत्ब्रह्म विग्रह। ४३ (१)।', 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी। २।१२७।५।'

८ (च) 'आनंदसिंधु' का भाव कि आप पूर्णानन्दस्वरूप हैं और सबको सब ओरसे आनन्द प्रदान करनेवाले हैं। मिलान कीजिए—'सच्चिदानंद आनंदकंदाकरं। ५१ (१)।', 'सर्वदानंदसंदोह। ४३ (५)।'

८ (छ) 'अचल' और 'अविचल' का अर्थ है 'स्थाणु' (ठूँठकी तरह स्थिर)। सर्वगत (सर्वव्यापी), अक्रिय और अपरिणामी एवं निर्विकार होनेके कारण 'स्थाणु', 'अविचल' वा 'अचल' कहलाते

हैं। 'अपरिणामित्वेन स्वासाधारणा कारात् न चलति, न च्यवते' इति 'अचलं' (गीता भाष्य १२।३), अर्थात् अपरिणामी होनेके कारण अपने असाधारण स्वरूपसे विचलित नहीं होता, च्युत नहीं होता; इसलिये 'अचल' नाम है।

८ (ज) 'अनिकेत' इति। कोई जगह ऐसी नहीं, कोई देश, काल, वस्तु ऐसी नहीं जहाँ न हों; अतः 'अनिकेत' नाम है। क्योंकि ऐसी अवस्थामें किसको कहें कि यह उनका घर है?—'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं। १।१८५।६।', 'विश्वबास प्रगटे भगवाना। १।१४३।८।'

८ (झ) 'अनामय' इति। 'संसाराख्य महाव्याधेः विरोधित्वादनामयः।' इस निरुक्तिके अनुसार अपने स्पर्श तथा दिव्य नामौषधिसे संसारमहारोगके नाशक होनेसे 'अनामय' नाम है। अनामय, अविरल, अनारंभ आदिके अर्थ पद्यार्थमें दिये जा चुके हैं।

८ (ञ) 'अंभोदनादघ्नबंधो' इति। अनघ, अद्वैत आदि विशेषण देकर फिर 'अंभोदनादघ्नबंधो' नाम देनेका क्या भाव है? इस पदका प्रारम्भ 'देव दनुजसूदन' से करके 'अनामय अनारंभ' तक श्रीरामजी के ऐश्वर्यद्योतक नाम देकर उनकी स्तुति की। अन्तमें 'अंभोदनादघ्नबंधो' नाम देकर माधुर्य कहा। तात्पर्य कि जो ऐसे महान् ऐश्वर्यवान् हैं, वे ही रघुकुलमें अवतार लेकर भाई लक्ष्मणको साथ लेकर 'दनुजसूदन' के लिये वनको गए। ये (लक्ष्मणजी) ही विपत्तिमें सहायक हुए, इन्होंने मेघनादको मारकर श्रीरघुनाथके यशको फैलाया। यथा—'रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जसु जाका॥ १।१७.६।'

आगे रक्षाके लिए प्रार्थना करते हैं। इसीसे रक्षा माँगनेमें 'उर्विपति' (पृथ्वीपति, राजा) संबोधित किया है। 'अंभोदनादघ्नबंधो' कहकर जनाया कि वे ही मेरे शोकको दूर करनेको समर्थ हैं, आप उन्हींको आज्ञा दे दें, आपको कष्ट करना नहीं पड़ेगा।

टिप्पणी—९ (क) 'दास तुलसी खेद खिन्न आपन्न' इति। उत्तरार्धमें 'प्रणतपालक राम' संबोधनके संबंधसे 'खेदखिन्न आपन्न' में भाव यह है कि आप प्रणतजनपालक हैं, प्रणतके खेदको नष्ट करनेवाले हैं। मैं प्रणत हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। पद ५१ (८) में जो 'प्रणतजनखेदविच्छेदविद्यानिपुण नौमि' कहा है, वह सब भाव यहाँ भी

है। वहाँ भी 'श्रीरामसौमित्रिसाकं' कहा है और यहाँ भी 'अंभोदनादघ्नवंधी' में सौमित्रि लक्ष्मणजीका साथ होना कहा है।

६ (ख) 'इह सोक संपन्न अतिसय सभीतं' इति। 'इहशोक' अर्थात् संसारशोक। संसारशोकसे पीड़ित होना आगे भी कहा है, यथा 'कहो अब नाथ कौन बल ते संसार सोक हरिये। १८६।' सभीत होनेका कारण भी पद १८६ में बताया है कि 'संतत सोइ प्रिय मोहि सदा जाते भवनिधि परिये।', 'निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये॥' आप 'त्रिविध ताप संदेह सोक-संसय-भयहारी' हैं (पद १०६), अतः मेरा शोक और भय हरिये।

६ (ग) 'प्रनतपालक राम परम करुनाधाम' इति। भाव कि मुझे कोई और बल नहीं है, अपने आचरणसे संसारशोकहरणके लिये विनय करनेका साहस भी नहीं होता। एकमात्र आपके 'प्रणतपाल', 'परमकरुणाधाम' गुण ही का आशा-भरोसा-बल है जो आपके समीप रक्षाकी प्रार्थना करा रहे हैं। आप अपने इन विरदोंको चरितार्थ कीजिए। यही भाव पद १८६ में 'कौन बल ते संसार सोक हरिये' के पश्चात् 'जब कब निज करुनासुभाव ते द्रवहु तो निस्तरिये। तुलसिदास बिस्वास आन नहिं····' इस प्रार्थनाका है। पुनः 'प्रणतपालक' का भाव कि आप शरण्य मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिए। यथा 'ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम···। वाल्मी० ३।६।१६।', 'करुणाधाम' के भाव पूर्व कई बार आ चुके हैं।

६ (घ) 'पाहि मामुर्विपति दुर्विनीतं' इति। 'उर्विपति' अर्थात् राजा संबोधनका भाव कि आप राजा हैं, मैं आपकी प्रजा हूँ। अतः मेरी रक्षा करना आपका कर्तव्य है। यथा 'ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः। वाल्मी० ३।१।२०।' पुनः भाव कि सारी पृथ्वीके एकमात्र स्वामी होनेसे आपही सबकी रक्षा कर सकते हैं, दूसरा नहीं, यह समझकर मैं शरणमें आया हूँ, मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिए। 'ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम···। वाल्मी० ।३।६।१६।'

'उर्विपति' नाम भगवान्‌का प्राचीन है, श्रीरामावतारसे ही नहीं। वराहावतार लेकर पृथ्वीका उद्धार करनेपर पृथ्वीदेवीने भगवान्‌को पतिरूपमें ग्रहण किया। तभीसे उनका यह नाम हुआ। ऋषियोंने वराहभगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—'संस्थापयैनां जगतां सत-

स्थुषां लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता। भा० ३।१३।४२।' (अपनी पत्नीरूपा जगन्माता पृथ्वीको भली प्रकार स्थापित कीजिए)।

'दुर्विनीत'—यह भक्त कविकी दीनता कार्पण्यशरणागति है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

५७ (६०)

देव देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग भवभंगकारन सरन-सोकहारी।
जे* तु भवदंघ्रिपल्लवसमाश्रित सदा भक्तिरत बिगतसंसय मुरारी।१।
देव असुर सुर नाग नर जच्छ गंधर्व खग रजनिचर सिद्ध जे चापि अन्ने।
संतसंसर्ग[1] त्रयवर्ग[2]-पर परमपदप्राप निःपाप[3] गति त्वयि प्रसन्ने।२।
देव बृत्र बलि बान प्रह्लाद मय ब्याध गज गृध्र[4] द्विजबंधु निजधर्मत्यागी।
साधु पदसलिलनिर्धूतकल्मष सकल श्वपच जमनादि कैवल्यभागी।३।
देव सांत निरपेच्छ निर्मम निरामय अगुन शब्द[5]-ब्रह्मैक-परब्रह्म ज्ञानी।
दक्ष समदृक स्वदृक[6] बिगत अति
स्वपरमति परम रति बिरति तव चक्रपानी।४।
देव विश्वोपकारहित[7] व्यग्रचित सर्वदा त्यक्तमद मन्यु कृतपुन्यरासी।
यत्र तिष्ठंति तत्रैव अज सर्व हरि सहित *[8] गच्छंति छीराब्धिवासी।५।

---

* जे—६६, भा०, बे०, भ०। ये—रा०, आ०। १–२ संसर्ग त्रयवर्ण-६६। संभव है कि 'वर्ग रहा हो अर्ध ग् की लकीर बढ़कर 'ण' सी हो गई। ३. निःपाप—६६, ज०। निःप्राप—भा०, रा०, बे०, ह०। निःप्राप्यं—५१, ७४, आ०। ४ गृद्ध्र—६६। गृध्र—मु०। गृद्ध—ह०, आ०, गिद्ध—भा०, ७४। गृध्र—रा०। गीध—बे०, प्र०, ज०। ५ शब्द—६६, रा०, हं०, भा०, बे०, दीन०, मु०। सब्द—भ०, ७४, ज०। ६ सोदृक-६६। स्वदृक—प्रायः सबोंमें। ७ विश्वोपकार—६६। विश्व (बिस्व—रा० भ०, वि०, ७४) उपकार—ह०, भा०, बे० मु०, ज०। *८ 'अज गच्छं'—६६, रा०। अन्य प्रायः सभीमें 'गच्छंति' है। यदि ६६, रा० का पाठ ठीक हो, तो 'अज' को 'छीराब्धिबासी' का विशेषण मानकर अर्थ कर सकते हैं। अथवा और कोई अर्थ 'अज' का हो।

देव वेदमयसिंधु[9]सुविचार मंदर महा अखिल मुनिबृंद निर्मथनकर्ता।
सारसतसंग[10]-मुद्धृत्यमिति[11]निश्चितंवदति[12]श्रीकृष्णवैदर्भिभर्ता।६
देव सोक संदेह भय हर्ष तम तर्षगण साधु सद्युक्ति[13]विच्छेदकारी।
यथा रघुनाथ सायक निसाचर चमू निचय निर्दलन पटु बेगभारी।७।
देव यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्मबस भ्रमत जग जोनि संकटमनेकं[14]
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन[15]समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकं।८।
देव प्रबल भवजनित त्रैब्याधि भेषज भक्तिभग्न[16]भैषज्यमद्वैतदरसी।
संत भगवंत अंतर' निरंतर नहीं किमपि
मति बिमल[17]कह[18]दास तुलसी।९।

शब्दार्थ—'निज अंग'=जो निश्चय ही आपका अंग अर्थात् देह है। यथा 'संत भगवंत अंतर निरंतर नहि किमपि…'—(यह इस पदके अंतमें उपसंहाररूपसे कहा गया है। इस तरह संत भगवान्के अंग ही हैं)। सत=संत, यथा 'सत समाज नित सुनहिं पुराना। १।१४३।८।', 'सत समाज सुरलोक सब को न सुनै अस जानि १।११३।', 'चरित सुरसरित कवि मुख्य गिरि निःसरित पिवत मज्जत मुदित सत समाजा।४४ (७)।' श्रीरंग=श्रीपति। यह भगवान्का

---

९ 'वेदमय'—६६। १० मुद्धत्य ६६, रा०, भा०, वे०, आ०। उद्घृत्य—ह०। उद्धरित—प्र०, ज०। ११ मिति—६६। इति—रा०, भा०, बे०, ७४, आ०। अति-ह०, प्र, ज०। १२ वदति—६६, रा० प्र०, ५१, आ० (—भ०, डु०) वदत-भा०, वे०, भ०, डु०, ७४, ह०। १३ संयुक्ति—ह०, ज०। सद्जुक्ति—७४। १४ मनेकं—६६। अनेकं—प्रायः औरोंमें। १५ सज्जन—सभीमें है। ६६ में 'संत' है, परन्तु इससे मात्रा कम पड़ती है, पद बैठता नहीं। १६ भग्न—६६, रा०। भक्त—भा०, बे०, ह०, ७४, आ०। १७—मलिन—आ०। 'विमल' सभी प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का पाठ है। १८ कह—६६, रा० ५१, ज०, ७४, आ०। कहे—ह०। कहै—भा०, वे० प्र०।

नोट—'देव' प्राचीन हस्तलिखित सभी पोथियोंमें प्रत्येक छंदके प्रारंभमें है। आधुनिक पुस्तकों (आ०) में नहीं है।

एक नाम भी है। श्रीरंग सूर्यवंशके कुल-देवता थे। भवदंघ्रि=भवत्+अंघ्रि=आपके चरण। जे तु=ये तु=जो निश्चय ही। समाश्रित=सं+आश्रित=पूर्णरूपसे शरण वा भरोसे रहनेवाला=भक्त। जच्छ=यक्ष। जे चापि अन्ने=ये च अपि अन्ये=ये और अन्य भी। वर्ग=एक ही प्रकारकी अनेक वस्तुओंका समूह। त्रयवर्ग=अर्थ-धर्म-काम; सत्व-रज-तम, क्षय-स्थिति-वृद्धि, काम-क्रोध-लोभ, इत्यादि। पर=परे. दूर। प्राप (प्रापिन्)=प्राप्त करनेवाले वा किये हुए। द्विजवन्धु=द्विजाधम; ब्राह्मणोंमें अधम; संस्कार वा कर्महीन द्विज, अजामिल। निर्धूत=खूब धोया हुआ=रहित वा शुद्ध होकर। सलिल=जल। श्वपचे=वाल्मीकि नामक श्वपच जिसको भोजन करानेपर युधिष्ठिर महाराजका यज्ञ पूर्ण हुआ था। जमन (यवन)—यवन जिसकी कथा वराहपुराणमें है एवं और भी यवन जातिके लोग। कैवल्य=मोक्ष। निरपेक्ष=जो किसी वस्तुके लिये कोई चेष्टा नहीं करते।=जिनको किसी प्रकारकी चाह, किसी प्रकारका लगाव या पर्वाह न रह गई हो=जो किसीपर अवलंबित न हो=निरीह। निरामय=संसार रोग रहित। शब्दब्रह्म=वेद जो अपौरुषेय हैं। शब्दब्रह्मैकपर=शब्द-ब्रह्म (वेदवेदाङ्गों) के एकमात्र पारङ्गत विद्वान्। समदृक्=समदर्शी, समद्रष्टा, चर अचर सबको एक समान देखनेवाले। दृक्=दृष्टि। स्वदृक्=आत्मदर्शी।=स्वस्वरूप-द्रष्टा अर्थात आत्मतत्त्वके चिंतनमें सदा संलग्न रहनेवाले। स्वपर=अपना-पराया। स्वपरमति=अपनी-परायी बुद्धि अर्थात् भेदवुद्धि, "मैं-मोर तैं-तोर" बुद्धि। चक्रपानी (चक्रपाणि)=जिसके हाथमें चक्र है=चक्रधारी भगवान्। विश्वोपकार=विश्व+उपकार (हित-साधन, भलाई)। व्यग्र=व्याकुल, उद्योगी, चिंतित। मन्यु=क्रोध, अभिमान, कपट। यत्र=जहाँ। तिष्ठंति=ठहरते हैं, रहते हैं, अवस्थान करते हैं। तत्रैव=तत्र एव=वहाँ ही। गच्छंति=जाते हैं। छीराब्धिवासी=क्षीरसागरमें निवास करनेवाले श्रीमन्नारायण। पय=दूध; क्षीर। मंदर महा=महान् पर्वत=मन्दराचल। सत्संगमुद्धृत्यमिति=सत्संगं उद्धृत्यं इति। वैदर्भि=वैदर्भकी कन्या श्रीरुक्मिणीजी। वैदर्भिपति=रुक्मिणीपति श्रीकृष्णजी। तर्ष=तृष्णा, वासना, विषयकी चाह। सद्युक्ति=सत् (समीचीन, श्रेष्ठ, सत्यतापूर्ण, पवित्र)+युक्ति।=सुंदर युक्ति।

चमू=सेना। निचय=समूह। पटु=कुशल; प्रवीण। यत्र कुत्रापि=जहाँ-कहीं भी। भ्रमत=चक्कर खाता या भटकता फिरता हुआ। त्वद्भक्ति=त्वत् भक्ति=आपकी भक्ति। समागम=मिलन, सत्संग। विश्राममेकं=विश्रामं एकं=एकमात्र विश्राम। विश्राम=श्रम मिटाने, आराम करने वा ठहरनेका स्थान। भवतु=होवे। त्रैव्याधि=दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकारके तापरूपी रोग। भेषज=औषध, दवाई। भग्न=नाश करनेके लिए। भैषज्यमद्वैतदर्शी=भैषज्यं अद्वैतदर्शी। भैषज्य=वैद्य, दवा करनेवाले। अद्वैतदर्शी=किसीमें भेदबुद्धि न रखनेवाला; सबमें एक समान श्रीरामजीको ही देखनेवाला। अर्थात् चेतनाचेतनविशिष्टब्रह्मदर्शी। किमपि=किंचित् भी, कुछ भी। यथा 'तातें गुपुत रहउँ जगमाहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं। १।१६२।१', 'का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा। लं० १०६ छंद।'

पद्यार्थ—हे देव, श्रीरङ्गजी! हे मुरारि! संत जो आपके निज अंग हैं*, जो निश्चय ही आपके पदपल्लवके ही सदा सब प्रकारसे भरोसे हैं, सदा भक्तिमें अनुरक्त और तत्पर हैं, संशयरहित हैं, उनका

---

* 'सत्संग जो निज अंग है'—ऐसा अर्थ करें तो 'अंग' का अर्थ 'सहायक या साधन' ले सकते हैं। यथा—'त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की।१७९।', 'जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‍यो।२३९।' इस तरह 'निज अंग' का अर्थ हुआ—'आपकी प्राप्तिका साधन।' ☞ परन्तु उपक्रम और उपसंहारसे 'सत' का अर्थ यहाँ 'संत' ही सिद्ध होता है। अनुस्वारसे (अर्थात् 'सत' पाठसे) मात्रा बढ़ जाती है, पद बैठता नहीं, इसीसे 'संत' शब्द रक्खा गया। अन्यत्र भी कविने ऐसा प्रयोग किया है। 'ये तु' शब्द भी 'संत' अर्थका पोषक है। वै०, भ०, वीरकवि, वि० ने 'सत्संग' अर्थ और दीनजीने 'संत-संग' अर्थ किया है। दासकी समझमें यही अर्थ ठीक है। अन्वयार्थ करनेमें उत्तरार्धका प्रथम लेनेसे अर्थमें किंचित् भी कठिनता नहीं होती।

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "सत्संग, भगवान्‌की प्राप्तिका मुख्य साधन है। भगवन्निष्ठ होनेसे सत्संग भगवान्‌का ही अंग है, यथा—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः। गीता १७।३।' संत भगवद्रूप हैं, इससे भी उनका संग भगवान्‌का अंग है।"

सत्संग मुझे दीजिए, कि जो भवके नाशका कारण और शरणागतके शोकोंका हरनेवाला है ।१। देव ! असुर, सुर, नाग, नर, यक्ष, गंधर्व, पक्षी, निशाचर, सिद्ध तथा और भी जो हुए (वे सब) आपकी प्रसन्नतासे सन्तसंसर्गसे आपके त्रिगुणातीत क्षय-स्थिति-वृद्धि तथा अर्थ-धर्म-कामसे परे, परमपदको प्राप्त हुए कि जो गति निष्पाप मनुष्योंको ही मिलती है एवं आपकी कृपाके अतिरिक्त जो किसी भी अन्य प्रकारसे प्राप्त होनेकी नहीं है । २। देव ! वृत्रासुर, वलि, वाणासुर, प्रह्लाद, मयदानव, व्याधा, गजेन्द्र, गृध्रराज जटायु (एवं संपाती), अपने धर्मको त्याग देनेवाला अधम ब्राह्मण अजामिल, श्वपच और यवन आदि सव-के-सब समस्त पापोंको साधुचरणामृतसे विल्कुल धोकर कैवल्यके अधिकारी हुए ।३। देव ! हे चक्रपाणि ! (जो सन्त) शान्त, निस्पृही, ममता और षट्विकार आदि संसाररोगोंसे रहित, मायिक गुणोंसे परे (अर्थात् उनके विकारोंसे निर्लेप), वेद-वेदाङ्गों-शास्त्रोंके एकमात्र पारङ्गत विद्वान †, परब्रह्मके जाननेवाले, चतुर, समद्रष्टा, स्वस्वरूपद्रष्टा, भेदबुद्धिसे नितान्त रहित हैं, जिनमें आपके लिये परानुरक्ति और परम वैराग्य है ।४। देव ! विश्वके उपकारके लिये सदा जिनका चित्त व्यग्र रहता है, जो मद-क्रोधका त्याग किये हुये और पुण्यराशि (अर्थात् सुकृती और धर्मात्मा होते हैं । वे) जहाँ रहते हैं, वहाँ ब्रह्मा, शिव और विष्णु सहित क्षीरसागरनिवासी श्रीमन्नारायण जाते हैं । अर्थात् जाकर वहीं निवास करते हैं ।५। देव ! वेदरूपी क्षीरसमुद्रसे, सुन्दर विचाररूपी महापर्वत मंदराचल द्वारा समस्त मुनिवृन्दरूपी मथनेवालों (देवता-दैत्यों) ने सत्संगरूपी सार (अमृत) निकाल लिया, यह निश्चय किया हुआ सिद्धान्त है--ऐसा श्रीरुक्मिणी-पति श्रीकृष्णजी कहते हैं ।६। देव ! जैसे श्रीरघुनाथजीका बाण निशाचरोंकी समूहसेनाको विनष्ट कर डालनेमें बड़ा वेगवान और

---

* अर्थान्तर—१ वैराग्यसहित आपमें अत्यन्त प्रेम किये हैं । (वै०) । २ जो आपके परमभक्तिके विरति (= विशेष अनुरागी) हैं । (दीन) । ३ जो आपके परमभक्त और संसारसे वैराग्यवान् हैं (वि०) । ४ जो वैराग्य होनेके कारण तुमसे बड़ी प्रीति करते हैं । (भ०)

† 'शब्दब्रह्मैक परब्रह्म ज्ञानी' का दो प्रकारसे अर्थ हो सकता है—(१) शब्दब्रह्मैकपर, परब्रह्मज्ञानी । (२) शब्दब्रह्मैकज्ञानी, परब्रह्मज्ञानी ।

कुशल है, वैसे ही सन्तकी सत् युक्ति †† शोक, संदेह, भय, हर्ष, मोहान्धकार और तृष्णाके समूहोंकी नाशक है ।७। देव ! जहाँ कहीं भी अपने कर्मोंके वश मेरा जन्म हो और संसारकी अनेक संकटमय (८४ लक्ष) योनियोंमें अनेक संकटोंमें पड़ा हुआ मैं चक्कर खा रहा होऊँ, वहाँ, हे श्रीरामजी ! आपकी भक्ति और आपके सन्तोंका निरन्तर मिलन और सत्संग ही मेरा एकमात्र विश्राम होवे ।८। देव ! बड़े प्रबल संसारजनित तीनों प्रकारके रोगोंका नाश करनेके लिये अद्वैतदर्शी (सन्त) वैद्य हैं और भक्ति औषध है। दास 'तुलसी' निर्मल बुद्धिसे कहता है कि सन्त और भगवान्में किसी कालमें किंचित् भी भेद नहीं है ।९।

टिप्पणी—१ 'देहि सतसंग निज अंग…' इति। (क) संत भगवान्के निज अंग हैं। भा० ११।२६।३१-३४ में भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है कि "जो लोग जलमें डूब रहे हों, उनके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है। वैसे ही जो इस भयंकर संसारसागरमें डूबते-उतराते हों, नरकसे लेकर ब्रह्मलोक तकका चक्कर काट रहे हों, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता एवं शान्त संत ही दृढ़ नौका हैं। जैसे अन्न ही देहधारियोंका जीवन है, जैसे मैं ही दीन-दुखियोंका सहारा हूँ तथा परलोकमें जैसे धर्म ही मनुष्यका धन होता है, उसी प्रकार संसारसे भयभीत पुरुषोंके लिये संतजन ही परम आश्रय होते हैं। आकाशमंडलमें उदय हुआ सूर्य मनुष्योंको केवल बाह्य नेत्र देता है, किन्तु सन्तजन उसे ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं। अतः संतजन देवता और बंधुरूप हैं तथा वे सबके आत्मा और साक्षात् मेरा ही स्वरूप हैं।—'देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च। ३४'—इसीसे सन्तको 'निज अंग' कहा गया है।

१ (ख) 'श्रीरंग' इति। यह श्रीरामजीका ही नाम और संबोधन है। यहाँ प्रारम्भमें 'श्रीरंग' संबोधित किया और पदके अन्तमें 'राम' संबोधित किया है। यथा "तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे 'राम' विश्राममेकं।" यहाँ सत्संगकी याचना करनेमें 'श्रीरंग' नाम दिया; क्योंकि शंकरजीने भी सत्संगका वरदान

---

†† सद्युक्ति—(१) साधुका सत्संग। (वै०)। (२) समीचीन (शास्त्रसम्मत) युक्ति। (डु०)। (३) सदुपदेश। (वि०)।

माँगनेमें यही संबोधन दिया है। यथा 'बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरङ्ग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सत्संग। ७।१४।'

पुनः, श्रीरामराज्याभिषेकके समयतक 'श्रीरङ्ग' जी रघुकुलके इष्टदेव थे। उस मूर्तिको श्रीरामजीने राज्याभिषेकके पश्चात् श्रीविभीषणजीको पूजन करनेको दे दी। जो दच्चिणदेशमें कावेरीके मध्यमें विराजती है और रंगनाथ नामसे प्रसिद्ध है। श्रीरङ्गरूपमें श्रीरामजीकी वंदना यहाँ की गई।

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि "ब्रह्माजीके आराध्यदेव होकर स्वयंव्यक्त अर्चारूपसे आनन्दनिलयनामक प्रणवाकार विमानमें श्रीरामजी ही विराजते हैं, इससे भी 'श्रीरङ्ग' नाम है।

१ (ग) 'भवभंगकारन सरन सोकहारी' इति। सन्तसंग और सत्संगति भवनाशक हैं। यथा 'संतसंग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ। ७।३३।', 'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सत्संगति संसृति कर अंता। ७।४५।६।' शोकहारी हैं, यथा 'जिन्ह के मिले दुख सुख समान, अमानतादिक गुन भए। मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गए।१३६।'

१ (घ) 'जे तु भवदंघ्रिपल्लवसमाश्रित सदा···'इति। भवभंगकारण और शरणशोकहारी कहकर 'जे तु भवदंघ्रि···' कहनेका भाव कि जिनमें ये लच्चण हों, वे ही शरणागतके शोक और भवको हर सकते हैं, अन्य नहीं।—श्रीरामचरणारविन्दके आश्रित हों, सदा श्रीरामानुरागमें लीन रहते हों और संशयरहित हों। ☞ ये लच्चण भगवान् श्रीरामजीने देवर्षि नारदसे कहे भी हैं, यथा 'गुनागार संसार-दुख-रहित बिगत-संदेह। तजि मम चरनसरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह।३।४५।' ❀ मुरारी=आश्रितविरोधियोंके नाशक। विशेष ५२ (३ ख) में देखिए।

❀ सत्संग अर्थ लेनेपर पूर्वार्धका 'निज अंग, भवभंगकारण, शरणशोकहारी' सब 'सतसंग' के गुण महत्व कहे। उत्तरार्धमें फिर श्रीरामचरणाश्रित होनेका फल कहते हैं। भट्टजी आदिने उत्तरार्ध का यह अर्थ किया है—"हे मुरारि! जो तुम्हारे चरणपल्लवके सदा आश्रित हैं और तुम्हारी भक्तिमें जिनकी प्रीति है, उनका संदेह जाता रहता है।"—[अगले छंद २ में भी "संतसंसर्ग' शब्द आया है। इसलिये दासकी समझमें 'जे तु···विगत संदेह' संतोंका ही लक्षण वा विशेषण यहाँ कहा गया है]।

प० पु० भूमि० अ० ७३ में ययाति महाराजके नामामृतस्तोत्रमें भी श्रीरामजीको 'मुरारि' कहा है; यथा 'विश्वाधिवासं विमलं विरामं रामाभिधानं रमणं मुरारिम् । १४।' अर्थात् निर्मल, सबको आराम देनेवाले, 'राम' नामसे विख्यात, सबमें रमण करनेवाले और मुर दैत्यके शत्रु हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'असुर सुर नाग नर जच्छ गंधर्व खग रजनिचर···' इति। मिलान कीजिये—'बालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी ॥ जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥ मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई। सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ। १।३।३–६।'

असुरोंमें प्रह्लादने (माताके गर्भमें नारदजीका उपदेश पाकर), देवोंमें नारदजीने (जब वे दासीपुत्र थे। चतुर्मासामें ठहरे हुए सन्तोंके संग और उपदेशसे), नागोंमें शेषादि तथा कालिय नाग, मनुष्योंमें अजामिल, वाल्मीकि आदि, यक्षोंमें कुबेरजी (श्रीशिवजीके संगसे), गन्धर्वोंमें पुष्पदन्त आदिने, पक्षियोंमें जटायु और संपातीने (श्रीदशरथजी और चन्द्रमा ऋषिके संगसे), राक्षसोंमें रावण (पर्वत ऋषिके संगसे वैरभाव रखकर) और विभीषणजीने (श्रीहनुमान्‌जीके संगसे) सुन्दर बुद्धि और सद्गति प्राप्त की।

२ (ख) 'सिद्ध' इति। देवता, पितर, असुर, गंधर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध-चारण-विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच और किन्नर-किंपुरुष-अश्वमुख आदि भेदसे देव सर्ग वैकृत सृष्टि आठ प्रकारकी है। यथा 'देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः । गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः। २७। भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।' (भा० ३।१०)। इससे स्पष्ट है कि यहाँ आये हुए 'सिद्ध' शब्दसे 'सिद्ध' नामक देवता अभिप्रेत हैं।

२ (ग) यक्ष, गंधर्व, असुर, राक्षस आदिकी उत्पत्ति और भेद इस प्रकार है।—ब्रह्माने सर्वप्रथम अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह नामकी पाँच प्रकारकी अविद्या उत्पन्न की। ब्रह्माजीको अपना वह शरीर अच्छा न लगा। अतः उन्होंने उसे त्याग दिया। तब जिससे भूख-प्यासकी उत्पत्ति होती है, ऐसे रात्रिरूप-उस-शरीरको, उसीसे उत्पन्न हुए यक्ष और राक्षसोंने ग्रहण कर

लिया। उस समय भूखसे व्याकुल होनेके कारण वे 'इसे खा जाओ, इसकी रक्षा मत करो' ऐसा चिल्लाते हुये ब्रह्माकी ओर दौड़े। जिन्होंने कहा 'खा जाओ' वे यक्ष हुए। जिन्होंने कहा 'रक्षा मत करो' वे 'राक्षस' कहलाए।

देवताओंको उत्पन्न करनेके बाद ब्रह्माने अपने जघनदेश (कमरके पिछले भाग) से कामासक्त असुरोंको उत्पन्न किया। फिर वह शरीर छोड़कर ब्रह्माने कान्तिमयी मूर्ति धारणकर उससे गंधर्व और अपसराओंको उत्पन्न किया। एक बार ब्रह्माने अपना प्रतिबिंब देखा, तब अपनेको बहुत सुन्दर मानकर उस प्रतिबिंबसे उन्होंने किन्नर और किंपुरुष उत्पन्न किये। (भा० ३।२०।१८,२१,२३, ३८,४५)।

ब्रह्माजीने सिद्ध और विद्याधरोंकी सृष्टि अपनी तिरोधान शक्तिसे की और अपना वह अन्तर्धान नामक अद्भुत शरीर उनको दिया। यथा "सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत्। तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम्। भा० ३।२०।४४।'

२ (घ) 'त्रयवर्गपर' यह 'परम पद' का विशेषण है। अर्थ, धर्म और काम त्रिवर्ग किस उद्देश्यसे किये जाते हैं? इनकी उत्पत्तिका क्या कारण है?—यह समझ लेनेसे 'परमपद' को 'त्रयवर्गपर' कहनेका भाव समझमें आ जायगा। "संसारमें जब मनुष्योंका चित्त शुद्ध होता है और वे धर्मपूर्वक किसी अर्थकी प्राप्तिका निश्चय करके उसमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल, कारण तथा सम्यक् कर्मानुष्ठानवश 'धर्म, अर्थ और काम' तीनों एक साथ मिले हुए प्रकट होते हैं। इनमें धर्म तो अर्थका कारण है और काम अर्थका फल है। परन्तु इन तीनोंका मूल कारण 'संकल्प' है। संकल्प विषयरूप है और संपूर्ण विषय पूर्णतः इन्द्रियोंके उपभोगमें आनेके लिये है। यह अर्थ, धर्म और कामका मूल है। इससे निवृत्त होना ही 'मोक्ष' कहा जाता है।—'धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते। संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः। ४। विषयाश्चैव कार्त्स्न्येन सर्वे आहारसिद्धये। मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते। ५।' (म० भा० शान्ति. १२३)।—'त्रयवर्गपर' से जनाया कि वह 'परमपद' अर्थ-धर्म-कामकी निवृत्ति हो जानेपर ही प्राप्त होता है।

ब्रह्माजीने एक लाख अध्यायोंका नीतिशास्त्र रचा जिसमें इस त्रिवर्गका विस्तृत वर्णन होनेसे उस प्रकरणका नाम ही 'त्रिवर्ग' है। अतः 'त्रिवर्ग' से अर्थ-धर्म-कामका ग्रहण किया गया। उसमें चौथा वर्ग मोक्ष है; उसके प्रयोजन और गुण इन तीनों वर्गोंसे भिन्न हैं—'चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः। म० भा० शान्ति० ५९।३०।' इस प्रकार भी 'त्रैवर्गपर' कहा।

पुनश्च उसमें मोक्षका त्रिवर्ग दूसरा बताया गया है। उसमें सत्त्व, रज, तमकी गणना है। यथा 'मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः। श्लो० ३१।' वह परमपद इन तीनों गुणोंसे परे है, त्रिगुणातीत है। अतः 'त्रैवर्गपर' कहा।

२ (ङ) 'परमपद प्राप निःपाप गति' इति। 'परमपद' की व्याख्या ही 'त्रयवर्गपर, निःपाप गति' से कर दी। 'निःपाप गति' में दोनों भाव हैं—निष्पापोंकी जो गति है तथा जो गति दुष्प्राप्य है। 'परम पद' वह है जहाँ सब संत जाते हैं, जहाँ निष्पाप लोग जाते हैं और जो दुष्प्राप्य है। यथा 'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं। लं० ११५।', 'जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई। ३।३६।८।', "अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।७।११९।३।" सन्त निष्पाप होते हैं, यथा 'षट विकार जित अनघ अकामा।३।४५।७', 'अनघ अरोष दच्छ बिज्ञानी। ।७।४६।६।'

इसीको (परमपदको) पाकर फिर वहाँसे लौटना नहीं होता, यही अव्यय शाश्वतपद है, प्रभुकी प्राप्ति ही परमपद है। यथा 'तजि जोगपावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे। ३।३६।', 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता ८।२१।', 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता १५।६।'

२ (च) 'त्वयि प्रसन्ने' इति। भाव कि संतसंगकी प्राप्ति तथा परमपदकी प्राप्ति श्रीरामजीकी कृपासे ही होती है। यथा 'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधुसंगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये। १३६।', 'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन। बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान। ७।१२५।', 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही। ७।६९।७', 'मम प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्। गीता १८।५६।' (मेरी

कृपासे नित्य अविनाशी पदको प्राप्त कर लेता है)। ☞ ब्रह्मकी प्राप्ति किसी क्रियात्मक यत्नसे साध्य नहीं है। उसके लिये जीवन्मुक्त पुरुषोंकी उपासना करनी चाहिए। यथा 'अयत्नसाध्यं मुनयो वदन्ति ये चापि मुक्तास्त उपासितव्याः। म० भा० शान्ति० २७६।१२।'

नोट—१ भा० ११।१२।१-६ में भगवान्ने उद्धवजीसे सत्संगकी जो महिमा कही है वह बहुत कुछ इस पदसे मिलती जुलती है। वे कहते हैं—'योग आदि जितने भी साधन हैं, वे मुझे उतना वशमें नहीं कर सकते जितना समस्त आसक्तियोंको निवृत्त करनेवाला सत्संग मुझे वशमें कर लेता है।'—'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।...यथावरुन्धे सत्संग सर्वसंगापहो हि माम्। १–२।'—इससे जनाया कि सत्संगसे वे शीघ्र प्रसन्न होते हैं और परमपद दे देते हैं। अतः 'त्वयि प्रसन्ने' कहा। (भागवतका शेष अंश आगे प्रसंग-प्रसंगपर दिया गया है)।

टिप्पणी—३ (क) 'वृत्र' इति। यह त्वष्टाका पुत्र था। त्वष्टाका एक पुत्र विश्वरूप था, जिसके तीन सिर थे। एक मुखसे वह सोमरस, दूसरेसे सुरा और तीसरेसे अन्न खाता था। इन्द्रने इन्हें अपना आचार्य बनाकर इनसे नारायणकवच वैष्णवी विद्या प्राप्त की थी। विश्वरूपकी माता असुरकुलकी थी। इसीसे भीतरसे ये असुरोंके पक्षपाती थे। उनको भी यज्ञभाग दे दिया करते थे। अतएव इन्द्रने इनके सिर काट लिये। त्वष्टा इन्द्रसे बदला चुकानेके लिये हवन करने लगे। यज्ञ समाप्त होनेपर यज्ञसे एक बड़ा भयंकर दैत्य उत्पन्न हुआ। समस्त देवता इससे हारकर भगवान्की शरण गए। उन्होंने उपाय बताया कि महर्षि दधीचिसे उनकी हड्डी माँगकर विश्वकर्मासे उसका वज्र बनवाकर उससे युद्ध करो, उससे उसका सिर कटेगा। ऐसा ही किया गया। युद्धारम्भ होनेपर उसने इन्द्रको ज्ञानोपदेश किया। मरनेसे वह न डरा। युद्धके समय उसे भगवान्का साक्षात्कार हो रहा था। वह भगवान्से प्रार्थना करने लगा—

"अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥२४॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥२५॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥२६॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहेष्वासक्त चित्तस्य न नाथ भूयात् ।२७।"

(अर्थात्) 'जिन्हें आपके चरणकमलोंका ही आश्रय है, मैं फिर भी आपके उन दासोंका दास होऊँ। मेरा मन अपने प्राणनाथ आपके गुणोंका ही चिन्तन करे, वाणी गुणगान करे, शरीर आपका ही कार्य करे। मुझे आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौम साम्राज्य, रसातलाधिपत्य, योगसिद्धि अथवा मोक्ष आदि किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं है। जैसे पक्षियोंके पक्षहीन बच्चे अपनी माँ-की राह जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ-का दूध पीनेके लिये उत्कंठित रहते हैं, वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।...मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ-वहाँ आपके प्रेमी भक्तोंमें मेरा प्रेम बना रहे। इत्यादि। (भा. ६।११।२४-२७।'

म० भा० शान्ति० २८१ में वृत्रासुर-इन्द्र-युद्धकी कथा दूसरी प्रकार है। वृत्रासुरका भारी पराक्रम देखकर बृहस्पति आदि महर्षियोंने महादेवजीके पास जाकर उसके विनाशके लिये प्रार्थना की। तब भगवान् शंकरका तेज रौद्र ज्वर होकर वृत्रके शरीरमें समा गया। फिर भगवान् विष्णुने भी इन्द्रके वज्रमें प्रवेश किया। महेश्वरने अपना तेज इन्द्रके शरीरमें प्रवेश करके उनसे कहा कि इस समय वृत्र ज्वरके कारण बहुत व्यग्र हो रहा है; इसी अवस्थामें तुम इसे वज्रसे मार डालो। (श्लो० २६-३०,३८)। इन्द्रने उसका वध उसी अवस्था में किया। (अध्याय २८२)।

वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका ध्यान करते हुए प्राण त्यागकर परमात्माके परमधामको प्राप्त कर लिया। —'...वृत्रः प्राणानवासृजत्। योजयित्वा तथाऽऽत्मानं परं स्थानमवाप्तवान्। म० भा० शान्ति० २८०।५६।'

वाल्मी० रा० में इसकी कथा और भी विचित्र है। जब देवता और असुर परस्पर मिलकर रहते थे, उस प्राचीन कालमें वृत्र हुआ था। यह तीनों लोकोंको आत्मीय समझकर प्यार करता था। उसे धर्मका यथार्थ ज्ञान था। वह स्थिरप्रज्ञ रहकर समृद्धशाली एवं अद्भुत राज्यका उपभोग करता था। '(७।८४।४-८)। एक बार उसके चित्तमें

आया कि तप ही परम कल्याणका साधन है और सारा सुख तो मोहमात्र है, अतः वह कठोर तपस्या करने लगा। इन्द्रने घबड़ाकर भगवान् विष्णुसे कहा कि 'जबसे आपके साथ उसको प्रेम हो गया है, तभीसे उसने सम्पूर्ण लोकोंका आधिपत्य प्राप्त कर लिया है' (श्लो० १५)। आप इसका वध करें। भगवान्ने उत्तर दिया कि 'तुम्हारी इस प्रार्थनाके पूर्वसे ही मैं महामना वृत्रके स्नेहबंधनसे बँधा हुआ हूँ, इसलिये मैं उसका वध नहीं करूँगा। (७।८५।४)। हाँ, मैं उपाय बताता हूँ, जिससे इन्द्र उसका वध कर सकेंगे। मैं अपने स्वरूपतेजको तीन भागोंमें विभक्त करूँगा। एक अंश इन्द्रमें, एक वज्रमें और एक भूतलमें प्रवेश करेगा। तब इन्द्र वहाँ गए जहाँ वृत्र तप कर रहा था और उस निरपराधके सिरपर वज्र मारकर उसका वध कर डाला।

☞ असुरयोनिमें वृत्रको उपर्युक्तकथित ज्ञान और भगवान्में स्नेह कहाँसे आया? यह पूर्व जन्ममें चित्रकेतु राजा था। पुत्रके मरनेपर जब यह महाशोकाकुल था, उस समय देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिराजीने इसे ज्ञानोपदेश दिया था कि सभी दृश्यपदार्थ मनःकल्पित हैं, तुम शान्तचित्त होकर आत्मस्वरूपका विचार करो। नारदजीने उन्हें 'मन्त्रोपनिषद्' का उपदेश किया। दोनोंके उपदेशसे उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया और घरबार छोड़कर वे उसमें संलग्न हो गए।—सात दिनमें ही उनको भगवान्का दर्शन हुआ। भगवान्ने भी उन्हें उपदेश किया और कहा कि इस उपदेशके धारण करनेसे ज्ञान-विज्ञानसे संपन्न होकर तुम शीघ्र सिद्ध हो जाओगे।—'ज्ञानविज्ञानसंपन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि। भा० ६।१६।६४।'—(भा० ६।१५',१६)। श्रीपार्वतीजीके शापसे यह असुरयोनिको प्राप्त हुआ। कथा अ० १७ में है।

☞ महाभारतमें कहा है कि वृत्रासुर एक बार ऐश्वर्यभ्रष्ट हो गया, परन्तु उसके चित्तमें किंचित् भी व्यथा न थी। शुक्राचार्यके पूछनेपर उसने कारण बताया है कि मैंने जीवोंके आवागमनका रहस्य जान लिया है; इसलिये उसके विषयमें हर्ष और शोक नहीं करता। इत्यादि। फिर उसने बताया कि युद्धके समय इन्द्रकी सहायताके लिये साथ आये हुए भगवान् श्रीनारायणका मैंने दर्शन किया, इससे निश्चय है कि मेरी तपस्याका कुछ अंश अब भी शेष

रह गया है। —'ततो मे भगवान् दृष्टो हरिर्नारायणः प्रभुः।' 'नूनं तु तस्य तपसः सावशेषमिहास्ति वै: ।' (शान्ति० २७६।२८,३०)। अतः मैं उस कर्मफलके विषयमें प्रश्न करता हूँ, उनके बतानेकी आप कृपा करें।

वृत्रके छः प्रश्नोंमेंसे अन्तिम दो ये हैं—'किं वा फलं परं प्राप्य जीवस्तिष्ठति शाश्वतः', 'केन वा कर्मणा शक्यमथ ज्ञानेन केन वा।' (श्लो० ३२, ३३)। जीव किस परम फलको पाकर अविनाशी एवं सनातनरूपसे प्रतिष्ठित होता है? किस कर्म अथवा ज्ञानसे उस फलको प्राप्त किया जा सकता है? उसी समय श्रीसनत्कुमारजी वहीं पहुँच गए। शुक्राचार्यजीने उनसे प्रार्थना की कि आप इस दानवराजको भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य बताइए। श्रीसनत्कुमारजीने महिमाका वर्णन करते हुए सभी प्रश्नोंके उत्तर उसीमें दिये हैं। अन्तमें कहा है कि 'जो साधक सदा शुद्ध मनसे उस विशुद्ध परमगतिका अनुसंधान करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर अविकारी, दुर्लभ एवं सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त करके वह उसीमें प्रतिष्ठित हो जाता है।' (२८०।७-५५)। यह सुनकर वृत्रासुरने कहा कि आपकी वाणी सुनकर मेरे सारे पाप और कल्मष दूर हो गए,—'श्रुत्वा तु ते वाचमदीनसत्त्व विकल्मषोऽस्म्यद्य तथा विपाप्मा।५७।' उसे निश्चय हो गया कि भगवान् विष्णु पुरुषोत्तम हैं और उन्होंने यह जगत् प्रतिष्ठित है। इसीसे उसने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर तन त्याग किया। (श्लो० ५८-५६)।

३ (ख) 'बलि' इति। इनकी वामनद्वारा छले जानेकी कथा ५२ (५क) में आ चुकी है। ये प्रह्लादजीके बड़े पुत्र विरोचनके पुत्र थे। इनको परम महाभागवत प्रह्लादजीका संसर्ग हुआ था। देखिए, शुक्राचार्यजीके मना करने पर कि 'वटु वामन' को पृथ्वी मत दो, उन्होंने क्या उत्तर दिया था?—'मैं प्रह्लादका पौत्र हूँ और एक वार देनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ।'—'प्रतिश्रुत्य ददामीति प्रह्लादिः कितवा यथा। भा० ८।२०।३।' शुकदेवजीके 'तस्मै बलिर्वारुणपाशयंत्रितः समर्हणं नोपजहार पूर्ववत्। ननाम मूर्ध्नाऽश्रुविलोललोचनः सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह। भा० ८।२२।१४।' (वरुणपाशमें बँधे हुए राजा बलि प्रह्लादजीका पहलेकी भाँति पूजन न कर सके, अस्तु उन्होंने केवल सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और अपने अहंकारादि

अपराधोंको स्मरण करके लज्जाके मारे मस्तक झुकाकर आँसू बहाने लगा)—इस वाक्यसे सिद्ध है कि उनको प्रह्लादजीका सत्संग होता रहता था।

राजाबलिके पूर्वजन्मकी कथा।—प्राचीनकालमें देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला एक महापापी जुआरी था। वह सदा परायी स्त्रियोंमें आसक्त रहता था। एक दिन उसने कपटपूर्ण जूएके द्वारा बहुत धन प्राप्त किया। फिर अपने हाथोंसे स्वस्तिक (पानका तिकोना बीड़ा) बनाकर तथा गंध और माला आदि सामग्री जुटाकर एक वेश्याको भेंट देनेके लिये वह उसके घरकी ओर दौड़ा। रास्तेमें वह गिर पड़ा। उसे मूर्छा आ गई। मूर्छा दूर होनेपर पूर्वजन्मके किसी पुण्यके प्रभावसे उसके मनमें सद्बुद्धि उत्पन्न हुई। वह वैराग्यको प्राप्त हुआ। पृथ्वीपर पड़ी हुई गंध, पुष्प आदिको उठाकर उसने शिवजीकी सेवामें समर्पित कर दिया। जीवनमें केवल यही एक पुण्य उसके द्वारा सम्पन्न हुआ था। मरतेपर यमराजके सामने पहुँचनेपर चित्रगुप्तसे सुनकर कि एक यही पुण्य जीवनभरमें किया है, उसने कहा कि पहले यही पुण्यफल मैं भोगूँगा। इसके फलमें तीन घड़ी इंद्रका पद इसे प्राप्त हुआ। इन्द्रपद प्राप्त होनेपर तीन घड़ीमें इसने दान ही दान किये। ऐरावत अगस्त्यको, उच्चैःश्रवा घोड़ा विश्वामित्रको, कामधेनु महर्षि वसिष्ठको, चिन्तामणि गालव मुनिको, कल्पवृक्ष कौण्डिन्य मुनिको और भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये अनेक प्रकारके रत्न ऋषिमुनियोंको सर्वस्व दान कर दिये। तीन घड़ी बाद वह स्वर्गसे चला आया। धर्मराजने उसे पुनः जन्म दिया। अपने किसी कर्मविपाकसे वह विरोचनका पुत्र हुआ। विरोचन बड़ा धर्मात्मा और दानी हुआ। इन्द्रने विप्ररूप धरकर उससे उसका सिर माँगा। उसने अपने हाथसे मस्तक उतारकर दे दिया। उसका पुत्र 'बलि' हुआ। (स्कन्द पु० मा० कौ० १८)। —परन्तु इसमें पूर्वके सत्संगकी कोई चर्चा नहीं है।

३ (ग)—'वान' अर्थात् 'बाणासुर' इति। राजा बलिके सौ पुत्रोंमेंसे सबसे बड़े पुत्रका नाम 'बाण' था, जो बहुत ही वीर, गुणी और सहस्रबाहु था। सुतलककी शोणितपुरीमें इसकी राजधानी थी। यह भगवान् शङ्करका महान् सेवक था। इसने तप करके शंकरजीको प्रसन्न कर वर प्राप्त किया था, जिससे वे युद्धमें स्वयं आकर इसकी

सहायता किया करते थे। इसकी लड़की ऊषा श्रीकृष्णजीके पौत्र अनिरुद्धजीकी पत्नी थी। विवाहके पूर्व ऊषाके कहनेसे उसकी सखी चित्रलेखा जब अनिरुद्धको आकाशमार्गसे उसके पास ले गई थी तब वाणासुरने समाचार पाकर उनको कैद कर लिया। इसपर श्रीकृष्णजीने इसपर आक्रमण कर इसके बाहु काट डाले। शिवजी सहायताको आए थे। घोर युद्ध हुआ। अन्तमें शिवजीकी प्रार्थनासे भगवान्‌ने इसके चार हाथ रहने दिये और इसने अपनी लड़की अनिरुद्धको ब्याह दी।—एक तो यह राजा बलिका सबसे बड़ा पुत्र था, दूसरे शंकरजीकी परम भक्ति करके उसने शंकरजीको रिझा लिया था। शंकरजीकी कृपासे इसे भगवत्-प्राप्ति हुई। शंकरजीने स्वयं इसके लिये प्रार्थना की कि—'मैंने इसे अभयदान दिया है। प्रभो! जिस प्रकार इसके परदादा प्रह्लादपर आपका कृपा-प्रसाद है, वैसाही कृपा-प्रसाद यह भी प्राप्त करे।' (भा० १०।६३।४५)। इसीपर भगवान्‌ने कहा कि—इसका घमंड मैंने चूर कर दिया। अब इसकी चार भुजाएँ अजर-अमर रहेंगी। यह आपके पार्षदोंमें मुख्य होगा। अब इसको किसीसे किसी प्रकारका भय नहीं है।" (१०।६३।४६)।—शंकरजीकी कृपाका यह फल है।

विष्णु पुराण ५।३३ में भी युद्धकी विस्तृत कथा है। उसमें श्रीकृष्णजीने जृम्भकास्त्र छोड़ा था, जिससे महादेवजी निद्रित-से होकर जमुहाई लेने लगे और रथके पिछले भागमें बैठ गए, युद्ध न कर सके। श्रीकृष्णजीके हुंकारसे स्वामिकार्त्तिकेय भी भागे। वाणासुर और श्रीकृष्णका घोर युद्ध हुआ। जब उसकी केवल दो भुजायें रह गईं और भगवान् उसका सिर काटनेको चक्र छोड़ना चाहते थे तब उमापतिने उनके पास आकर सामपूर्वक कहा—'...मैंने इसे अभयदान दिया है। मेरे वचनको आप मिथ्या न करें।...इसे मैंने वर दिया था, इसलिये मैं ही इसे आपसे क्षमा कराता हूँ। (श्लो० ४१-४४)। भगवान्‌ने कहा—'आपने इसे अभय दिया है तो यह जीवित रहे। मैंने भी अभय दे दिया। हे शंकर! आप अपनेको मुझसे अभिन्न देखें। जो मैं हूँ सो आप हैं...।'

३ (घ) 'प्रह्लाद' इति। प्रह्लादजीकी कथा नृसिंहावतारके साथ ५२ (४ घ) में आचुकी है। प्रह्लादजीको सत्संग कब प्राप्त हुआ इसकी कथा उन्होंने स्वयं असुरबालकोंसे यों कही है—'जब हमारे पिताजी तपस्या

करनेके लिये मंदराचलपर चले गए, तब इन्द्रादि देवताओंने भारी सेना लेकर उनकी राजधानीपर आक्रमण किया, दैत्य सब भाग गए। इन्द्रने महलमें घुसकर राजरानी मेरी माता कयाधुको कैद कर लिया। वह कुररीकी तरह रोती ही चिल्लाती रही। उसे ले जाते हुए देख दैवयोगसे नारदजी वहाँ आए और इन्द्रसे कहा कि "यह निरपराध है, इसे ले जाना उचित नहीं। इस सती-साध्वी परनारीका तिरस्कार न करो। इसे छोड़ दो, तुरन्त छोड़ दो।" इन्द्रने कहा कि इसके गर्भमें हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रभावशाली वीर्य है। प्रसवपर्यन्त यह मेरे पास रहे, बालक हो जानेपर उसे मारकर मैं इसे छोड़ दूँगा। नारदजीके यह कहनेपर कि 'इसके गर्भमें भगवान्का साक्षात् परम प्रेमी भक्त, अत्यंत बली, उनका सेवक और निष्पाप महात्मा है। तुममें उसके मारनेकी शक्ति नहीं है।' उन्होंने मेरी माताको छोड़ दिया और गर्भमें भक्त बालक है, यह समझकर उसकी परिक्रमा की। इसके बाद नारदजी मेरी माताको अपने आश्रमपर ले आए और जबतक उसका पति तपस्या करके न लौट आवे तबतक आश्रममें रहनेको कहा। मेरी माताने यह आज्ञा मान ली और गर्भस्थ शिशुकी मंगलकामनासे भक्तिपूर्वक नारदजीकी सेवा करने लगी। परम दयालु देवर्षिने मेरी माँको भागवतधर्मका रहस्य और विशुद्ध ज्ञान इन दोनोंका उपदेश किया। उपदेश करते समय वे मुझपर भी दृष्टि रखते थे। इस विशेष कृपाके कारण मुझे उस ज्ञानकी विस्मृति नहीं हुई।" क्या उपदेश दिया था यह भा० ७।७।१६–२१ में तथा अध्यायके अंततक है। एक कल्पमें सनकादिक ही प्रह्लाद हुए थे और पद्मपुराण के अनुसार एक कल्पमें 'सोमशर्मा' प्रह्लाद हुए।

३ (ङ) 'मय' इति। यह दानव बड़ा मायावी और शिल्पी था। यह कश्यपजीकी दनु नामक पत्नीसे पैदा हुए सौ पुत्रोंमेंसे एक था। इसकी तीन कन्याएँ उपदानवी, मंदोदरी और कुहू हुईं। (प० पु० सृ०)। खाण्डववनमें आग लगनेपर यह अर्जुनकी शरणमें गया जिससे फिर कृष्णने उसपरसे चक्र लौटा लिया। महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरका सभाभवन इसीने चौदह महीनेमें बनाया था।

३ (च) 'व्याध' इति। व्याध कई हुए हैं—कणिक व्याध, धर्म व्याध, जरा व्याध, वाल्मीकि और स्कन्दपुराणवाला व्याध। इन सबोंमें सन्तसंसर्गसे सद्गति की प्राप्ति हुई है।

'कणिक' व्याध बड़ा क्रूर था। देवता, ब्राह्मण, गुरु, साधु किसीको भी न मानता था। सबकी निन्दा करना, धन लूटना और प्राणियोंकी हत्या करना, यही उसका काम था। सौवीर नगरमें भगवान् विष्णुका एक बड़ा भव्य मन्दिर था जिसके शिखरपर विशाल स्वर्णकलश था। उस कलशको देखकर वह यह अनुमान करके कि मन्दिर में बहुत धन होगा, रातके समय उसमें घुसा। उत्तङ्क मुनि वहाँ बैठे हुए नेत्र बन्द किये हुए भगवान्के ध्यानमें मग्न थे। उसने मुनिको धक्का देकर पटक दिया और उनकी छातीपर पैर रखकर एक हाथसे उनके केश पकड़कर उनका सिर तलवारसे काटनेको उद्यत हो गया। मुनिने नेत्र खोले और उसकी ओर देखा। उनके नेत्रोंसे ऐसा तेज और स्नेह उमड़ रहा था कि उस डाकूपर जादू-सा हो गया। उसके हाथसे तलवार गिर पड़ी और वह दूर खड़ा होकर मुनिको एकटक आश्चर्यसे देखने लगा।

बड़े ही शीतल शब्दोंमें मुनिने उससे कहा—'जो अपराध करता है उसे दण्ड दिया जाता है, मैंने तो तुम्हारा कोई अपराध किया नहीं, तब मेरा वध क्यों करना चाहते थे? साधु तो सतानेवालेको भी क्षमा करते और उसका कल्याण ही करते हैं।...पापसे धन एकत्र करके जो परिवारका पालन करते हैं, मरनेपर पापका फल उन्हें अकेले ही भोगना पड़ता है।...भाई! तुम क्या कर रहे हो, यह तुमने कभी सोचा है? इस पापका कितना भयंकर फल होगा, इसपर तुमने कभी विचार किया है? यह जीवन तो भगवान्की प्राप्तिके लिये मिला है, न कि पाप बटोरनेके लिये। मोहको छोड़कर भजनमें लगो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।' महात्मा उत्तङ्ककी वाणीका प्रभाव उसपर इतना अधिक पड़ा कि वह पश्चात्तापसे व्याकुल होकर उनके चरणोंपर गिरकर फूट-फूट रोने लगा। उसी समय उसकी मृत्यु हो गई। दयालु मुनिने उसके शरीरपर भगवान्का चरणोदक छिड़का। उसी समय भगवान्के पार्षद दिव्य विमानपर उसे बैठाकर परमधामको ले गए।—यह संतसंसर्गका प्रभाव है।—(बृहन्नारदीय पुराण ३८)।

'धर्म व्याध'—व्याधकुलमें इनका जन्म हुआ। मिथिलामें रहते थे। मांस बेचा करते थे। यही उनके कुलका धंधा था। पूर्वजन्ममें ये ब्राह्मण थे, कुसंगमें पड़कर इन्होंने धनुर्विद्यामें योग्यता प्राप्त की,

शिकारका व्यसन हो गया। एक बार हिंसक पशुके धोखेमें इनके बाणसे एक ऋषि घायल हो गए। उन्होंने शाप दिया कि शूद्रयोनिमें जन्म लेकर तू व्याध होगा।—'व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज।' (म० भा० वन० २१५।३१)। प्रार्थना करनेपर उन्होंने अनुग्रह की और आशीर्वाद दिया कि 'शूद्रयोनिमें रहकर भी तू धर्मज्ञ होगा, माता-पिताकी सेवा करेगा, उससे तुझे सिद्धि और महत्ता प्राप्त होगी और अन्तमें स्वर्गलोकको जायगा। (२१६।४-५)। —ऋषिके संसर्गका यह प्रभाव हुआ।

'जरा व्याध'—इसकी चर्चा आगे 'व्याध चित दै चरन मारेो मूढ़मति मृग जानि। २१४' में कविने स्वयंकी है। कथा भा० ११।३०।३२-४० तथा म० भा० मौसल० ४।२२-२४ में है। भगवान् कृष्णके संसर्गसे इसको सद्गति मिली। कथा आगे दी जायगी।

'वाल्मीकि'—इनकी कथा सब जानते हैं। भीलोंका संग होनेसे ये व्याध हो गए थे। एक बार सप्तर्षियोंको देखकर उनके वस्त्र-कमण्डलु छीननेके लिये ये दौड़े। तब उन्होंने इससे पूछा कि 'जिनके पालन-पोषणके लिये तू यह पाप बटोरता है, क्या वे तेरे इस पापके भागी होंगे?' उसने घरमें जाकर एक-एक करके सबसे पूछा। सबने यही उत्तर दिया कि हम तो तेरे पापसे प्राप्त हुए फल धन-अन्न-वस्त्रके ही भोगनेवाले हैं, पाप तो तुझे ही लगेगा।—'पापं तवैव तत्सर्वं वयं तु फलभागिनः। अ० रा० २।६।७४।' यह सुनकर वह आकर ऋषियोंके चरणोंपर यह कहते हुए गिरा कि पापसमुद्रमें डूबते हुए मुझ पापीकी रक्षा कीजिए—'रक्षध्वं मां मुनिश्रेष्ठा गच्छन्तं निरयार्णवम्। श्लो० ७७।' मुनियोंने 'मरा-मरा' जपनेको कहा। उलटे नामजपके प्रभावसे ये प्रचेताके पुत्र वाल्मीकि नामसे प्रसिद्ध हुए। (अ० रा० २।६।६५-८६, आनंद रा० राज्य० १४।२१-४६ में यह कथा है)।

स्कन्द पुराण वैष्णवखण्ड वैशाखमाहात्म्य १६, २०, २१ में भी एक व्याधकी कथा है। परम यशस्वी शङ्खके दर्शनसे उस दुराचारी व्याधकी बुद्धि पवित्र हो गई और उसने उनसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा उपदेश दीजिए जिससे अनायास ही भवसागर पार किया जा सके। महात्मा शङ्खने उसे भगवान् विष्णुका स्वरूप, विष्णुप्रिय वैशाख मासके धर्म और 'राम' नामका उपदेश देकर कहा,—संपूर्ण

वेदोंसे अधिक महत्त्वशाली विष्णुका एक-एक नाम है। ऐसे अनन्त नामोंसे अधिक है भगवान् विष्णुका सहस्रनाम। उस सहस्रनामके समान राम-नाम माना गया है,—'विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम्। तेभ्यश्चानन्तनामभ्योऽधिकं नाम्नां सहस्रकम् ॥ तादृङ्नामसहस्रेण रामनामसमं मतम्। २१।५३।५४।' अतः रामनामका जप और मेरे बताये धर्मोंका पालन मृत्युपर्यन्त करते रहो। इसके प्रभावसे वल्मीकऋषिके घर तुम्हारा जन्म होगा और तुम वाल्मीकि नामसे ख्यात होगे।

कल्पभेदसे यह भी ठीक है। वल्मीक बाँबीको भी कहते हैं। वल्मीकसे प्रगट होनेसे सप्तर्षिने 'वाल्मीकि' नाम रक्खा था।

३ (छ) 'गज' इति। क्षीरसागरके त्रिकूटपर्वतकी तराईमें कुबेरजीका एक उद्यान था जिसके मध्यमें एक सरोवर था। गजेन्द्र उस सरोवरमें अपनी हथिनियों और बच्चोंको अपनी सूँडसे फुहारें छोड़-छोड़कर नहलाने लगा। उसी समय एक बलवान ग्राहने उसका पैर पकड़ लिया। दोनों अपनी शक्तिभर एक दूसरेको खींचते रहे। गजेन्द्र शिथिल पड़ गया, उसके प्राण संकटमें पड़ गए। अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ देख वह भगवान्‌की शरणमें गया। सर्वदेवस्वरूप भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गए। उन्हें देखते ही सरोवरका एक कमलपुष्प सूँडसे ऊपर उठाकर उनको अर्पण करके वह बोला—'जगद्गुरो! भगवन्! आपको नमस्कार है'। उसे अत्यंत पीड़ित देख भगवान् गरुड़को छोड़कर कूद पड़े और ग्राहसहित गजेन्द्रको बाहर निकाल लाकर ग्राहका मुँह चक्रसे फाड़ डाला।—विस्तृत कथा तथा पूर्वजन्मका वृत्तान्त आगे 'तर्‍यो गयंदु जाके एक नायं' ८३ (६ ग) में देखिए। पूर्वजन्ममें इसे बहुत सत्संग हुआ था। यह इन्द्रद्युम्न राजा था। सत्संगके प्रभावसे वह सब त्यागकर तपस्या करने लगा था। पूर्वजन्ममें सीखे हुए स्तोत्रका स्मरण हो आया और वह उसके प्रभावसे गज-शरीरमें भगवान्‌की शरण गया।

३ (ज) 'गृध्र' से जटायु और संपाती दोनोंको ले सकते हैं। ये दोनों विनतानन्दन अरुणके पुत्र हैं। जटायु महाराज श्रीदशरथजीके मित्र थे, यह उन्होंने श्रीरामजीसे स्वयं कहा है; यथा 'वत्सं मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः। वाल्मी० ३।१४।३।' एक तो श्रीदशरथमहाराज:

का संसर्ग उन्हें था ही, उसपर भी उन्हें भगवान् श्रीरामकी सेवा मि कि पंचवटीमें श्रीरामलक्ष्मणके न रहनेपर श्रीसीताजीकी रक्षा क उसीके फलस्वरूप विलक्षण सद्गति उनको प्राप्त हुई। संपातीके चन्द्रमा ऋषिका संसर्ग हुआ, जिससे उन्हें श्रीहनुमान्‌जी आदि का दर्शन और स्पर्श प्राप्त हुआ। यथा 'मुनि एक नाम चंद्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही॥ बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा॥ देह जनित अभिमान छुड़ावा॥ ४।२८।'

संपातीने श्रीअंगदादिसे बताया है कि हम सबोंका जन्म गरुड़से हुआ है। परन्तु पूर्वजन्ममें हमसे कोई निन्दित कर्म बन गया था, जिससे इस समय हमें मांसाहारी होना पड़ा है। (वाल्मी० ४।५ २९-३०)। फिर यह भी बताया है कि यहाँ निशाकर (चन्द्रमा) नामके एक बड़े उग्र तपस्वी ऋषि रहते थे। जटायु और मैं दोनों भाई उनके पास जाया करते थे।—'जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः।४।६०।११।'--ये दोनों भाई कामरूप थे, अर्थात् इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। चन्द्रमा ऋषिके पास ये दोनों जाया करते और मनुष्यरूप धारण करके उनके चरण स्पर्श कि करते थे।—'गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ॥ ज्येष्ठोऽ वितस्त्वं सम्पाते जटायुरनुजस्तव। मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम। (४।६०।१९-२०)।' अर्थात् (चन्द्रमा ऋषिने कहा—) वे दोनों भाई थे और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। साथ ही वे गीधों के राजा थे। सम्पाते! मैं तुम्हें पहचान गया। तुम उन दो भाइयोंमें बड़े हो। जटायु तुम्हारा छोटा भाई था। तुम दोनों मनुष्यरूप धारण करके मेरा चरण-स्पर्श किया करते थे।—वाल्मीकीयके इन उद्धरणोंसे जटायुको भी चन्द्रमा ऋषिका संसर्ग होना स्पष्ट है। उसीके फलस्वरूप उन्हें श्रीरामसेवा और सबसे बढ़कर सद्गति प्राप्त हुई।

३ (क) 'द्विजबंधु'=ब्राह्मणाधम अजामिल। यथा 'वेदविदित जगविदित अजामिल विप्रबंधु अघधाम।१४४।' यह विद्वान् कुलीन ब्राह्मण था। एक दासीके संसर्गसे दूषित हो जानेके कारण उसका सदाचार नष्ट हो गया था। वह लूट-मार, चोरी, जूए आदि निंद नीय वृत्तिका आश्रय लेकर अपने कुटुम्बका पेट पालन करने लगा। दूसरोंको बहुत सताता था। एक बार दुष्टोंने परिहासके विचारसे

कुछ संतोंको इसके यहाँ भेज दिया। उनको देखते ही उसकी बुद्धि कुछ सात्विकी हो गई और उसने संतोंकी सेवा करके उनको प्रसन्न कर लिया। तत्पश्चात् संतोंको इसकी दशा मालूम होनेपर उन्होंने उससे कहा कि गर्भके बालकका नाम तुम नारायण रखना। यथा—"करि परिहास काहू दुष्टने पठायो साधु आये गृह देखि बुद्धि आयगई सातकी। सेवा करि सावधान संतनि रिझाय लियो नारायण नाम धर्यो गर्भबाल बात की ॥" दस पुत्रोंमेंसे यह सबसे छोटा था। इससे वह इस बच्चेमें अत्यन्त आसक्त हो गया। इस मोहजालमें जब वह बहुत फँसा था उसी समय उसका काल आ गया, भयंकर यमदूत उसका प्राण खींचने लगे, तब अत्यंत भयभीत होकर वह व्याकुलतापूर्वक अपने पुत्र 'नारायण' को नाम लेकर पुकारने लगा। नारायणके पार्षदोंने स्वामीका नाम पुकारते सुन तुरंत वहाँ पहुँचकर यमदूतोंको रोक दिया। बहुत वाद-विवाद होनेपर उन्होंने यमदूतोंको मार भगाया और अजामिलको उनके पाशसे छुड़ा दिया।—इस अवसरपर अजामिलकी आँखें खुल गईं, उसने भगवत्-पार्षदों और यमदूतोंसे विशुद्ध भागवतधर्म और वेदोक्त प्रवृत्ति-विषयक धर्मका श्रवण किया था। सर्वपापहारी भगवान्के नामकी महिमा सुननेसे उसके हृदयमें भक्तिका उदय हो गया। इससे उसे अपने पापोंका पश्चात्ताप हुआ। तत्पश्चात् वह सबको छोड़कर भगवान्की आराधनामें लग गया जिससे उसे भगवत्का परमधाम प्राप्त हुआ।—(भा० ६।१,२,३,४)।

☞ 'निज धर्म त्यागी'—यह 'द्विजबंधु' का विशेषण है। ब्राह्मण होकर भी वह अपना धर्म त्यागकर दासीमें आसक्त हो गया। भा० ६।१।५६ में यमदूतोंने श्रीहरिके पार्षदोंसे बताया है कि—"यह अजामिल बड़ा शास्त्रज्ञ था, शील-सदाचार-सद्गुणोंका कोश था, ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मंत्रवेत्ता, पवित्र गुरु-अतिथि-अग्नि-सेवी, अहंकारशून्य, परहितरत, मितभाषी इत्यादि गुणोंसे संपन्न था। एक बार वनमें उसने एक भ्रष्ट, कामी और निर्लज्ज शूद्रको एक वेश्याके साथ विहार करते देख इतना कामासक्त हो गया कि वह अपनेको न रोक सका। उसके मनपर उस वेश्याका राज्य हो गया। सारी पैतृक संपत्ति अजामिलने उसको

सौंप दी। अपनी कुलीन नवयुवती विवाहिता स्त्रीको छोड़ वेश्यां साथ रहने लगा और पापपरायण हो गया।

यमदूतोंके पाशसे छुड़ाये जानेपर अजामिल स्वयं पश्चात्ताप क हुए मनमें सोचने लगा कि 'अहो! मैं कैसा इन्द्रियोंका गुलाम हूं मैंने एक दासीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करके अपना ब्राह्मणत्व नष्ट क डाला।'—यही भाव 'निज धर्म त्यागी' का है।

३ (ञ) 'श्वपच'—यह वही वाल्मीकि नामक श्वपच है जि भगवान् कृष्णने प्रकट किया। यह युधिष्ठिर महाराजके यहाँ झा लगाया करता था। बड़ा ही निर्व्यलीक साधु था। युधिष्ठिरजी राजसूययज्ञ इसीको भोजन करानेपर पूर्ण हुआ। भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमालमें इसकी कथा है। कहा जाता है कि माण्डव्यऋषि शापसे धर्मराज ही युधिष्ठिर, विदुर और वाल्मीकि श्वपच हुए। प० पु० भूमि अ० १२ में दुर्वासाजीके शापसे धर्मराजको युधिष्ठि विदुर और चाण्डाल (हरिश्चन्द्र जिसके हाथ बिके थे) होना पड़ा। कलिमें कई श्वपच भक्त हुए जिनकी कथायें भक्तमालमें हैं।

३ (ट) 'यवन'—यवन जातिभी बहुत पुरानी है। महाभार युद्धमें ये भी सम्मिलित थे। वराहपुराणवाले यवनकी कथा प्रसिद्ध जो सूकरद्वारा मारा जानेपर 'हा-राम हतो' कहता हुआ मरा था नामाभासमात्रसे उसका उद्धार हो गया। नाममहिमाप्रसंगमें इस चर्चा कविने यत्रतत्र अपने ग्रन्थोंमें की है। ४६ (९ घ) देखिए।

३ (ठ) 'साधुपदसलिल निर्धूत कल्मष सकल''कैवल्यभा इति। (१) साधारण अर्थ पद्यार्थमें दिया गया है कि सन्तोंके चरण जलसे अर्थात् सन्तचरणामृतसे समस्त पापोंको पूर्णतया धो मोक्षके भागी हुए। साधुपदसलिलका माहात्म्य भगवान्ने स्वयं आचरणसे दिखाया है। यथा 'यह बिचारि नारद कर बीना। गए प्रभु सुख आसीना॥''स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सा चरन पखारे॥ ३।४१।८, ११।', 'एक बार बसिष्ठ मुनि आवे ''अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि चरनोदक लीन्हा॥ ७।४८।१-२।' औरों द्वारा भी देखिए 'नारद समाचार सब पाए। कौतु ही गिरिगेह सिधाए॥ सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि आसनु दीन्हा॥ नारिसहित मुनिपद सिर नावा। चरन सलिल भवन सिंचावा। १।६६।५-७।'

(२) दूसरा भाव। यहाँ 'सलिल' से 'कल्मष' का धुल जाना कहकर सूचित किया कि यहाँ साधुपद (वा साधु) को जलकी उपमा दी गई है और 'कल्मष' को शरीरमें लगे हुए मल वा कीचड़की। जैसे जलसे कीचड़ धुलकर शरीर शुद्ध हो जाता है, वैसेही सन्तसंसर्गसे कायिक, मानसिक, वाचिक सभी पाप नष्ट होकर जीव अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

मृत्युऋषिने अपनी पुत्री सुनीथाको सन्तसंगकी महिमा बताते हुए सन्तोंको जलकी उपमा दी है। यथा 'अपां संस्पर्शनात्स्नानात्पानाद्दर्शनतोऽपि वा। मनुयः सिद्धिमायान्ति बाह्याभ्यन्तरक्षालिताः॥ आयुष्मन्तो भवन्त्येते लोकाः सर्वे चराचराः। प० पु० भूमि० ३२। १५-१६।' अर्थात् जलके स्पर्शसे, उसमें स्नान करनेसे, उसे पीनेसे तथा उसके दर्शनसे भी बाहर और भीतरके दोष धुल जानेके कारण मुनि लोग सिद्धि प्राप्त करते हैं तथा समस्त चराचरप्राणी भी जल पीते रहनेसे दीर्घायु होते हैं। वैसेही 'सतांसंगो महापुण्यो बहुक्षेमप्रदायकः।१४।···' सन्तसंग महान् पुण्यदायक परम कल्याणकारक है।··· उससे मनुष्यमें बहुत गुण आ जाते हैं।···सत्पुरुषोंके संसर्गसे मनुष्य पापका परित्याग कर देता है, जैसे अग्निके संपर्कमें आनेसे स्वर्ण मैल त्याग देता है।—"यथा वह्निप्रसंगाच्च मलं त्यजति कांचनम्। तथा सतां हि संसर्गात् पापं त्यजति मानवः। श्लो० १९।'

नोट—२ यहाँ तक प्रथम असुर, सुर, नाग, नर, यक्ष, गंधर्व, खग, रजनिचर और सिद्ध इन नौ की सन्तसंसर्गसे परमपदकी प्राप्ति कहकर फिर कुछ विख्यात नाम भी गिनाये—वृत्रासुर, दैत्यराज बलि, बाणासुर, प्रह्लाद, मयदानव, व्याध, गज, गृध्र और अजामिल ये नौ नाम एक पंक्तिमें देकर दूसरी पंक्तिके अंतमें श्वपच और यवनको भी कहा। 'आदि' से अन्य सबका ग्रहण भी हो गया। इनका पदसलिलसे कैवल्यभागी होना कहा।

ठीक इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें प्रथम सत्संगसे दैत्य, राक्षस, खग, गंधर्व, नाग, सिद्ध और मनुष्यों (में वैश्य, शूद्र, स्त्री, अन्त्यज आदि रजोगुणी तमोगुणी जीवों) की तथा 'मृगों, अप्सराओं, गुह्यकों, विद्याधरों, चारणों' की युग-युगमें भगवतपदप्राप्ति कहकर, तब विशेष-विशेष कुछ नाम गिनाये हैं, जिनमेंसे कईको कुछ और साधन भी उपलब्ध थे, किन्तु कुछको कोई भी साधन उपलब्ध न थे।

"सत्संगेन[८] हि दैतेया[१] यातुधाना[२] मृगाः खगाः[३]। गंधर्वा[४]-प्सरसो नागाः[५] सिद्धा[६]-श्चारण गुह्यकाः। ३। विद्याधरा मनुष्येषु[७] वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः। बहवो मत्पदं प्राप्ताः[९]।"—इसकी जोड़में यहाँ "असुर सुर नाग[५] नर[७] जच्छ गंधर्व[४] खग[३] रजनिचर[२] सिद्ध[६] जे चापि अन्ने। संतसंसर्ग[८] त्रयवर्गपर परमपद[९] प्राप···" यह है। यहाँके सुर और यक्ष श्लोकमें नहीं हैं और वहाँके 'मृगाः, अप्सरसो, चारण, गुह्यक, विद्याधर' यहाँ नहीं हैं। वहाँका 'वैश्याः···अन्त्यजाः' तो 'मनुष्येषु' के ही अंग हैं, वे सब 'नर' में आगए। 'सुर' में 'मृगाः' आदिको ले सकते हैं, क्योंकि वानर, रीछ सब देवता ही थे जो 'वानर रूप धरि धरि' पृथ्वीपर आये थे और चारण विद्याधर आदि देवताति ही हैं।

"बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र[१]-कायाधवादयः[२]। वृषपर्वा बलि[३]-बाणो[४]मयश्चाथ[५]विभीषणः। ५। सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो[६]गृध्रो वणिक्पथः। व्याधः[८] कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे। ६। ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः। ७। (भा० ११।१२)।" की जोड़में यहाँ "वृत्र[१] बलि[३] बान प्रहलाद[२] मय[५] व्याध[८] गज[६] गृध्र[७] द्विजबंधु···। साधु-पद-सलिल-निर्धूत कल्मष सकल श्वपच जमनादि कैवल्यभागी' है।

यहाँके 'साधुपद···' में श्लोक ७ का सब भाव है कि इन लोगोंने न तो अध्ययन किया और न अध्ययनके लिये महात्माओंकी सेवा की, न व्रत या तप ही किया, केवल सत्संगके प्रभावसे मुझे प्राप्त हुए। प्रभुको प्राप्त होना ही कैवल्य भागी होना है।

टिप्पणी—४ 'सांत निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्द ब्रह्मैकपर ब्रह्मज्ञानी।···' इति। (क) 'शान्त'—जो अपना अपमान होनेपर भी क्रोध नहीं करता, सम्मान होनेपर हर्षसे फूल नहीं उठता, जिसकी दृष्टिमें दुःख और सुख समान हैं, उस साधु पुरुषको प्रशान्त कहते हैं। यथा "अवमाने न कुप्येत सम्माने न प्रहृष्यति। समदुःखसुखो धीरः 'प्रशान्तं' इति कीर्त्यते। प० पु० सृ० १६।३३२।" (सप्तर्षिवाक्य)। ऐसा पुरुष एकमात्र आत्मानुभवमें ही सुखी रहता है।

४ (ख) 'निरपेक्ष' अर्थात् जिसको किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती, जो किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रखता। शरीर, इन्द्रिय, विषय

और उनके सम्बन्ध आदि स्पृहाके विषयोंमें निस्पृह । आत्माके अतिरिक्त समस्त वस्तुमें अपेक्षासे शून्य ।

४ (ग) 'निर्मम' अर्थात् जिसने संपूर्ण अनात्म वस्तुओंमें आत्मीयबुद्धिको त्याग दिया है; जो शरीर, इन्द्रिय और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सब पदार्थोंमें ममतारहित है; जो कर्मोंको, प्रभुकी आराधना मानकर, उनके फलोंमें आशारहित होकर ही करता है ।

४ (घ) 'निरामय' संसार रोगोंसे रहित ।

'अगुण' = गुणातीत । जो सत्व, रज, तम तीनोंका त्याग कर चुका है । गीता १४ में ऐसे पुरुषके लक्षण और आचरण भगवान्ने इस प्रकार बताये हैं—जो पुरुष आत्मासे भिन्न अनिष्ट विषयोंके रूपमें जब सत्व, रज और तमोगुणके कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्रवृत्त (प्राप्त) होते हैं तब उनसे द्वेष नहीं करता तथा जब सात्विक आदि भाव अपना स्वरूप प्रत्यक्ष कराकर, आत्मासे भिन्न इष्ट विषयोंके रूपमें वे तीनों निवृत्त हो जाते हैं, तब उन निवृत्त हुए गुणोंके कार्योंकी आकांक्षा नहीं करता। (श्लोक २२)। (आचरण बताते हैं—) जैसे उदासीन पुरुष किसीका पक्ष नहीं लेता, उसी भावसे गुणातीत होनेके भावमें स्थित हुआ पुरुष, गुणोंसे अतिरिक्त आत्मदर्शनसे तृप्त होनेके कारण आत्माके सिवा अन्यत्र उदासीनके सदृश स्थित है तथा इच्छा और द्वेषरूप गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता। कार्य-करण और विषयोंके आकारमें परिणत हुए गुण ही अपने अपने प्रकाश आदि कार्योंमें वर्त रहे हैं, ऐसा समझकर जो चुप साधे रहता है, विचलित नहीं होता अर्थात् गुणोंके कार्योंके अनुरूप चेष्टा नहीं करता। (श्लो० २३)। जो दुःख सुखमें सम है, आत्मस्वरूपमें स्थित है, जिसे मिट्टी, पत्थर, सोना समान है, जो धीर है, जिसे अपनी निंदा-स्तुति तुल्य है, जो मान-अपमानमें तुल्य है और जो समस्त आरंभोंका परित्यागी है, वह गुणातीत है ।*

---

* "प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः । तुल्य-

४ (ङ) 'शब्दब्रह्मैकपर ब्रह्मज्ञानी' इति। प्रायः सभी कोशकारों 'शब्दब्रह्म' का अर्थ 'साङ्गवेद-पुराण' किया है। मानसमें सन्तों लक्षणोंमें जो 'बोध जथारथ बेद पुराना। ३।४६।५।' कहा है उसक भाव यही है। वि० पु० ६।५।६१ में 'शब्दब्रह्मागममयं' (शब्दब्र का ज्ञान शास्त्रजन्य है) ऐसा कहा है। शास्त्रजन्य ज्ञानमें निपुण हो जानेपर विवेकज ज्ञान होता है जिससे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, यथ 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। वि० पु० ६।५।६४।' इसीसे 'शब्दब्रह्मैकपर' कहकर 'परब्रह्मज्ञानी' कहा। शास्त्रजन्यज्ञा इन्द्रियोद्भव (श्रवण इन्द्रियद्वारा होनेवाला) ज्ञान है, यह अज्ञानां धकारको नष्ट करनेके लिये दीपक समान है और विवेकज ज्ञान सू के समान है। (श्लो० ६२)। भा० ११।२१।३६ में कहा है कि 'शब् ब्रह्मका अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है, वह प्राण, इन्द्रिय औ मनोमय है, समुद्रवत् अपार, गंभीर और अथाह है।' सन्त ह इसके पारङ्गत विद्वान् होते हैं। 'परब्रह्मज्ञानी' अर्थात् यथार्थ संत ह जानते हैं, सदा ब्रह्मज्ञानरत रहते हैं। 'अमित बोध, सत्यसार कां कोविद योगी' (३।४५।८) का भाव इसमें है।

४ (च) 'दक्ष'—शास्त्रीय क्रियाके संपादनमें समर्थ, अनेक कर्त्तव्यों के प्राप्त होनेपर उनमेंसे तुरन्त ही यथार्थ कर्त्तव्यको निश्चित करने समर्थ। जो भगवत्संबंधी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़े निपु होते हैं और स्वयं सदा भजनमें लगे रहते हैं, वे ही दक्ष वा चतु कहलाते हैं।

४ (छ) समदृक = समद्रष्टा, समदर्शी। अर्थात् आत्माके यथा स्वरूपको जाननेवाले विद्वान्, विद्याविनययुक्त ब्राह्मण तथा गौ चाण्डाल, हाथी और श्वान आदि जो अत्यन्त विषमाकार प्रतीत हो हैं, उन सबोंमें समभावसे देखनेवाले। अभिप्राय यह कि उत्त (संस्कारयुक्त विद्याविनयसंपन्न सात्विक ब्राह्मणमें), मध्य प्राणी (संस्काररहित रजोगुण गौमें) और कनिष्ठ प्राणी (अतिशय मू केवल तमोगुणयुक्त हाथी आदि) में सत्त्वादिगुणोंसे और उनके संस्कारोंसे तथा राजस और तामस संस्कारोंसे सर्वथा निर्लेप रहनेवाले

प्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्मसंस्तुतिः॥ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारि पक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी 'गुणातीतः' स उच्यते॥ गीता १४।२२-२५।"

सम, एक निर्विकार प्रभुको ही देखना जिनका स्वभाव हो गया है। भाव कि यह "विषमाकार तो प्रकृतिका है, आत्माका नहीं। आत्मा तो ज्ञानकी एकाकारताके कारण सब जगह सम है" ऐसा वे अनुभव करते हैं।*

४ (ज) 'स्वदृक्' में गीता ३।१७ के 'आत्मरति, आत्मतृप्त, आत्मन्येव संतुष्टः' का भाव भी है। अर्थात् जिनका आत्मामें ही प्रेम है विषयोंमें नहीं, 'जो ज्ञानयोग या कर्मयोगरूप साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखता, अपने आप ही आत्मामें प्रीतिमान अर्थात् आत्मसम्मुख है। जो आत्मासे ही तृप्त है, जिसकी तृप्ति अन्नपानादिके अधीन नहीं रह गई। जो आत्मामें ही सन्तुष्ट है; हार, चंदन, संगीत, वाद्य आदि बाह्य विषयोंके लाभसे नहीं, जिसका धारणपोषण और भोग सब कुछ आत्मा है। तात्पर्य कि जिसको सब समय आत्मस्वरूपका साक्षात्कार हो रहा है वह 'स्वदृक्' है।

४ (झ) 'बिगत अति स्व-पर-मति' इति। यह अपना है यह पराया, यह मेरा है वह तेरा है, मैं-तैं, मेरा-तेरा इत्यादिवाली जो बुद्धि है वही 'स्व (निज) पर' बुद्धि है। यथा 'गई न निज-पर-बुद्धि सुद्ध होइ रहे न राम लय लाएँ। २०१।' इसीको 'भेदबुद्धि' कहते हैं। जीव-जीवमें वैषम्य देखना, अपने सहित सबको 'सियाराममय' न देखना, इत्यादि 'स्व-पर-मति' है।—विशेष पूर्व पद ७ (५) 'तुलसिदास प्रभु हरहु भेदमति।' में देखिए।

'बिगत अति···' कहनेका भाव कि उनकी प्रवृत्तियोंमें किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं, केवल करुणा ही करुणा होती है।

४ (ञ) 'परम रति बिरति तव' इति। परम रति (प्रेम, इश्क, लौ, लगन) ही सर्वोत्कृष्ट भक्तिलक्षण श्रीशाण्डिल्य भक्तिसूत्रमें कहा गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' 'परम' रति और बिरति दोनोंके साथ है। 'परम बिरति' से सूचित किया कि वे सत्व, रज, तम तीनों गुणोंका त्याग कर चुके हैं। यथा 'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी। ३।१५।८।' गीताके "मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो। १२।१४।' का भाव भी इसमें आ जाता है। संकल्प-

---

* यथा 'विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः। गीता ५।१८।' इसका भावार्थ ऊपर दिया गया है।

विकल्पात्मक मन और निश्चयात्मिका बुद्धि ये दोनों प्रभुमें ही स्थापित कर देनेपर ही 'परमरति विरति' कही जा सकती है।[*] भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें जिसका चित्त लग गया, वह फिर सांसारिक पदार्थकी उसी प्रकार इच्छा नहीं करता जैसे मकरन्द परिपूर्ण कमलके होनेपर भ्रमर इक्षुगन्धाके पुष्पकी ओर कभी देखता भी नहीं।—'तवाऽमृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते।' (आलवन्दार २७)। अतः 'परमरति' के साथ 'परम विरत' भी गुण कहा गया।

टिप्पणी—५ (क) 'विश्वोपकारहित व्यग्र चित०' इति। मन-कर्म-वचनसे उपकार करना संतका सहज स्वभाव है, यथा—'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया। ७।१२१।१४' यहाँ तीनों प्रकार हित दिखाया है। उपकार कर्म है, 'व्यग्र चित' से मनसे-उपकार दिखाया, आर्तका दुःख कैसे मिटे यह सोचा करते हैं, उनके लिये शरीरसे भी दुःख उठाते हैं। यथा 'पर हित निति सह बिपति बिसाला। ७।१२१।१६.' 'त्यक्तमदमन्यु' से वचनसे उपकार दिखाया। कोमल मधुर वचन बोलकर ढारस देते हैं, उसपर क्रोध नहीं करते। महाराज अंबरीषजीने भी कहा है कि सन्तोंकी यात्रा संपूर्ण प्राणियोंका मंगल करनेके लिये होती है। जैसे माता-पिताका प्रत्येक विधान बालकोंके हितके लिये ही होता है, उसी प्रकार भगवान्‌के पथपर चलनेवाले सन्त-महात्माओंकी प्रत्येक क्रिया जगत्‌के जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही होती है। यथा 'भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्। बालानां च यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्।' (प० पु० पा० ८४।२५)।

☞ संतको शान्त, निरपेक्ष, निर्मम आदि ऊपर कह आए, तब व्यग्रचित्त कैसे कहा? भाव यह है कि वे अपने लिये कभी कुछ नहीं

---

[*] यहाँ इन दो चरणोंमें कहे हुए सन्तगुण गीता, भागवत आदि कई ग्रंथोंमें हमें एकत्र नहीं देख पड़े। कुछ-कुछ गुण इनमें एक-एक जगह मिलते हैं। भा० ११।२६।२७ के 'सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः। निर्ममा निरहंकारा··निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥' में क्रमशः, यहाँके 'निरपेक्ष, परमरति, शान्त, समदृक, निर्मम और निरामय' इतने गुण मिलते हैं। भा० ११।१४।१६–१९। में भी निरपेक्ष, शान्त, समदर्शन आदि कुछ गुण हैं।

चाहते, किन्तु समद्रष्टा और भेदबुद्धिरहित होनेसे परदुःख देखकर उनसे सहा नहीं जाता। करुणावश वे व्यग्र हो जाते हैं कि कैसे इसका दुःख मिटे। 'परदुख दुखी सुखी परसुख तें', 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया' यह संत स्वभाव है। देखिए, अंबरीषजी ऐसे निष्काम भक्त दुर्वासाके दुःखशांतिके लिये व्यग्र हो गए और उन्होंने चक्रजीसे प्रार्थना की कि भक्त निष्काम होते हैं, कुछ चाहते नहीं, पर मैं माँगता हूँ कि ब्राह्मणका दुःख दूर कर दीजिए।

५ (ख) 'पुन्यरासी'—विप्रपदपूजा सबसे भारी पुन्य है, यथा 'पुन्य एक जग महँ नहि दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपदपूजा। ७।४५।७।' परहित करनेके समान दूसरा धर्म नहीं है, यथा 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। ७।४१।१।' पुण्यराशि कहकर जनाया कि इन्होंने वहुत विप्रपूजन और वहुत परोपकार पूर्व किये हैं। पुण्य-समूह करनेसे इन्हें 'परम रति तव चक्रपानी' मिली है। प० पु० भूमि० में पुण्यके अंग ये कहे गये हैं—ब्रह्मचर्य, तपस्या, पञ्चयज्ञोंका अनुष्ठान, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, उत्तम शक्ति और चोरीका अभाव।—'ब्रह्मचर्येण तपसा मखपञ्चकवर्तनैः। दानेन नियमैश्चापि क्षमाशौचेन वल्लभ॥ अहिंसया सुशक्त्या च ह्यस्तेयेनापि वर्तनैः। एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत्॥' (१२।४४–४५)। पुण्यराशि कहकर इन सब अङ्गोंसे पूर्ण जनाया।

'कृत पुन्यरासी' में यह भाव भी ध्वनित होता है कि आर्तको दर्शन देकर उसे पुण्यराशि वना देते हैं, क्योंकि 'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता। ७।४५।६।'

५ (ग) 'यत्र तिष्ठंति तत्र···' इति। 'तिष्ठन्ति' का अर्थ है—'अवस्थान करते हैं', 'ठहरते हैं' स्थिररूपसे जमकर रहते हैं', 'रुके रहते हैं'। जहाँ उपर्युक्तलक्षणयुक्त सन्त रहते हैं वहाँ विधि-हरि-हर तीनों ही रहते हैं। जैसे महर्षि अत्रिजीके यहाँ विधि-हरि-हर तीनों पुत्ररूपसे आकर रहे। फिर ब्रह्म श्रीरामजी भी स्वयं आश्रमपर आए।

भगवान्ने नरोत्तम ब्राह्मणसे यह बात स्वयं कही है कि "मैं उसके (मूक चाण्डालके) घरके भीतर आकाशमें संपूर्ण देवताओंके साथ ब्राह्मणरूपसे निवास करता हूँ। इसी प्रकार उस पतिव्रता, तुलाधार, अद्रोहक और श्रीवैष्णवके घरमें सदा रहता हूँ। यथा

'तयोर्भक्त्या त्वहं तुष्टः सर्वदेवगणैः सह। तिष्ठामि द्विजरूपेण तस्य गेहोदरे च खे। तथा पतिव्रतागेहे तुलाधारस्य मन्दिरे। अद्रोहकस्य भवने वैष्णवस्य च वेश्मनि। सदा तिष्ठामि धर्मज्ञ न मुहूर्तं त्यजाम्यहम् ।' (प० पु० सृष्टि ४७।१६३-१६६ पूना संस्करण। वेंकटेश्वर सं० में यह ५२।१६५-१६७ है)।—अज, शर्व, हरि भी 'सर्वदेवगणैः' में आ जाते हैं।

५ (घ) 'गच्छंति क्षीराब्धिबासी' इति। भाव कि भगवान्‌ने लक्ष्मीजीके प्रियत्व और नातेसे क्षीरसागरको अपना मंदिर बना लिया था, सो वे भी लक्ष्मीजी और क्षीरसागर ऐसे स्वच्छ और शुद्ध सत्त्वमय स्थानको छोड़कर ऐसे सन्तोंके यहाँ ही रहते हैं। इससे सूचित किया कि ऐसे निरपेक्ष परमरतिवान् सन्त लक्ष्मी आदिसे भी अधिक प्रिय होते हैं। भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा भी है—'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्। भा० ११।१४।१५।' हे उद्धव! जैसे तुम मुझे प्रिय लगते हो, वैसे मेरे पुत्र ब्रह्मा, मेरे स्वरूपभूत शंकरजी, बंधु बलरामजी, मेरी पत्नी लक्ष्मीजी तथा मेरी मूर्त्ति भी मुझे प्रिय नहीं हैं। 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद। प० पु० उत्तर ६४।२३।'

भगवान् ऐसे निरपेक्ष, शान्त आदि गुणोंसे युक्त सन्तोंके यहाँ क्यों चले जाते हैं, इसका एक कारण यह भी बताया है कि ऐसे सन्तोंके चरणरजके द्वारा अपनेमें स्थित समस्त ब्रह्माण्डोंको पवित्र करनेके लिये मैं उनके पीछे-पीछे चलता हूँ। यथा 'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः। भा० ११।१४।१६.'

टिप्पणी—६ (क) 'वेदपयसिंधु सुविचार मंदर महा ...' इति। ऊपर 'गच्छन्ति क्षीराब्धिबासी' कहा गया। क्षीराब्धिबासी क्यों यहाँ चले आते हैं, यह बतानेके लिये क्षीरसिंधुमंथनका रूपक यहाँ देकर दिखाते हैं कि वहाँकी अपेक्षा यहाँ (संतसमाजमें) सब सामग्री और रत्न परमोत्कृष्ट हैं। वेद भगवान्‌की वाणी है, अपौरुषेय हैं। सिंधु जड़ है। वहाँ परस्पर द्वेषी सुर असुर मंथन करनेवाले थे और यहाँ अखिल मुनिवृन्द सब एकसम्मत और अत्यन्त शुद्ध विचारवाले मंथनकर्ता हैं। वहाँ तो बुरे भले सभी रत्न निकले और उनके लिये वाद-विवाद भी हुए। वहाँ अमृत और लक्ष्मी विशेष थे। अमृत पीकर भी देवता भवसागरमें पड़ते हैं और लक्ष्मी चंचल तथा दूसरोंको

मतवाला बना देनेवाली प्रसिद्ध हैं। वेदपयसिन्धुसे 'सत्संग ही सार है'—यह सर्वसम्मित सिद्धान्त निकला, सत्संग भवका हरण करता है—'सत्संगति संसृति कर अंता।' इसीसे भगवान् इनके वशीभूत रहते हैं; जैसा पूर्व कहा गया है—'न रोधयति मां योगो''यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्। भा० ११।१२।१–२।'

६ (ख) 'सार संतसंगमुद्धृत्यमिति निश्चितं…' इति। श्रीकृष्णजीने उद्धवजीसे कहा है कि 'सत्संग और भक्तियोग इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिए। प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई उपाय नहीं है; क्योंकि संत पुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा उनके पास बना रहता हूँ। यथा 'प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव। नोपायो विद्यते सध्यङ् प्रायणं हि सतामहम्॥ भा० ११।११।४८।'—'दूसरा कोई उपाय नहीं है' यह निश्चित सिद्धान्त है।

६ (ग) 'वदति श्रीकृष्ण' इति। भगवान्ने श्रीउद्धवजीसे (भा० ११।११।४९ में) कहा है कि तुम मेरे दास हो, बंधु हो, सखा हो और मेरे उपदेशोंको श्रद्धापूर्वक सुन रहे हो, इसलिये मैं तुमसे अत्यन्त रहस्यपूर्ण और परम गोपनीय विषय कहता हूँ, उसे सुनो। यथा 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥'—इसीसे 'वदति' शब्द दिया। 'परम गुह्य' और 'अत्यन्त गोप्य' होनेसे 'निश्चितं' कहा। यह कहकर तुरत अध्याय १२ में सत्संगकी महिमा कही है जिसका कुछ अंश ऊपर नोट १, २, में आ चुका है।

भगवान्की प्रसन्नताका, भगवान्को वशमें करनेका सत्संग जैसा सफल साधन है, वैसा साधन और कोई नहीं है, इसीसे तो परम भक्त भगवान् शंकर और परम समर्थ महर्षि अगस्त्यजीने भगवान्से भक्तिके साथ सत्संगकी भी याचना की है। यथा 'बार-बार बर माँगउ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।' (शंकरजी, 'अबिचल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा। ३।१३।११।' (अगस्त्यजी)।

६ (घ) 'वैदर्भिभर्ता' इति। विदर्भनरेश भीष्मककी कन्या होनेसे 'वैदर्भि' नाम है। इनका नाम 'श्रीरुक्मिणीजी' है। श्रीरुक्मिणीजीको (देवर्षि नारदादि किन्हीं) महात्माओंसे भगवान्के रूप, गुण, वीर्य

आदिका वैभव सुननेको मिला, तभीसे उन्होंने भगवान् कृष्णको अपना पति मान लिया था। यथा 'सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः। गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम्। भा० १०।५२।२३।' इतना ही नहीं, उन्होंने अपना तन और आत्मा भी श्रीकृष्णजीको समर्पण कर दिया। यथा 'तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरङ्ग जायामात्मार्पितश्च भवतो···। श्लो० ३६।' (यह पत्रमें लिखकर भेजा था)। फिर उन्होंने एक वृद्ध सद्ब्राह्मणद्वारा 'विवाहके दिन आकर शिशुपालादिको जीतकर ले जानेके लिये' संदेश भेजकर अपनी अनन्यता प्रकट की-थी। भाव यह कि नारदादि किन्हीं महात्माओंके सत्संगकी महिमासे श्रीरुक्मिणीजीको भगवान्में अनन्यता हुई। उनके ये पति हैं, सत्संगका प्रभाव भलीभाँति जानते हैं। उनको भी तो श्रीरुक्मिणीजीके रूप, गुण आदि सन्तसे ही सुननेको मिले थे और तभीसे उन्होंने इनको पत्नीरूपमें वरण कर लिया था। अतएव 'वैदर्भिभर्ता' नाम का भाव कि सत्संगकी महिमाके पूर्ण ज्ञाताका सिद्धान्त है, अतः तीनों कालोंमें सत्य है।

टिप्पणी—७ 'देव सोक संदेह भय हर्ष तम तर्ष गण···' इति। (क) ये शोक संदेह आदि साधु अपनी सद्युक्तियोंसे दूर कर देते हैं। इसके उदाहरण आगे (ख) में दिये जायँगे। प्रथम 'साधु सद्युक्ति विच्छेदकारी' का भाव सुनिये। युक्ति सारंगरूप है, जिससे मोती आदि वेधे जाते हैं। इसका प्रयोग मानसमें भी हुआ है, यथा 'जुगुति वेधि पुनि पोहिअहि रामचरित बर ताग। पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग। १।११।'; अतएव 'युक्ति' के संबंधसे 'विच्छेदकारी' पद युक्तियुक्तही है। साधु सन्त सुन्दर-सुन्दर युक्तियोंसे उपदेश देकर बड़े-बड़े जटिल प्रश्नोंकी शंकाओंकी निवृत्ति कर देते हैं बड़े-बड़े मसलोंको हल कर देते हैं। यथा 'ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्। सन्त एतस्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः। भा० ११।२६।२६।' (पुरुरवा राजाका आख्यान सुनाकर तब भगवान्ने कहा—) इसलिये बुद्धिमान्को नीच जनोंका संग छोड़कर सत्संग करना चाहिए, क्योंकि सन्त अपने वचनों द्वारा उसके मनकी गाँठको, उसकी विषयासक्तिको छिन्नभिन्न कर देंगे।

७ (ख) 'शोक संदेह···' इति। शोक हानि, वियोग, व्याधि, दरिद्रता आदिका; संदेह हितहानिकी चिन्ता आदि; भय राजकोप, शत्रुघात

व्याघ्र, चोरडाकू आदिका यह लौकिक भय तथा गर्भवास, यमसाँसति आदि पारलौकिक भय; धन, धाम, पुत्र, मान, बड़ाई, स्वर्ग आदि की प्राप्तिमें हर्ष । (वै०) । तम = पूर्व अभ्यस्त ज्ञानविरोधी प्राचीन कर्मरूप अज्ञानसे उत्पन्न भगवान्‌से अतिरिक्त लौकिक विषयोंमें प्रीति । =मोहरूपी अंधकार । तर्ष = विषयकी चाह । यथा 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च इत्यमरः ।' (वै०) । ☞ शोकादिकी निवृत्तिके उदाहरण सुनिए— (१) चित्रकेतुके पुत्रशोक और मोहका, नारदजी और अंगिरामुनिने पुत्रको जिलाकर उसके द्वारा संसारकी असत्यताका उपदेश देकर, नाश किया और उसे भवपार कर दिया । दशरथमरणका शोक जो रानियोंको था उसे वसिष्ठजीने अपने विज्ञानप्रकाशसे निवृत्त किया, यथा 'सोक निवारेउ सबहि कर निज विज्ञान प्रकास । २।१५६।' (२) श्रीदशरथजीका संदेह कि 'राम' कुमार हैं, इनको राक्षसोंसे लड़नेको मुनिके साथ कैसे भेजें, वसिष्ठजीने विश्वामित्रजीकी महिमा तथा श्रीरामजीका किंचित् महत्व कहकर दूर किया । (३) भवका भय, मायिक पदार्थोंको प्राप्तिमें हर्ष, मोह और तृष्णा ये सभी सन्त लोग परमेश्वरकी भक्ति, संसारकी असारता तथा भगवन्नामादिका उपदेश देकर मिटा देते हैं । सप्तर्षिने व्याधा वाल्मीकिका लूटमारका हर्ष, मोह और भवभय सभी अपने वचनोंसे मिटाये और उलटे नाम जपका उपदेश देकर उनको भवपार कर दिया । (४) श्रीभरद्वाज जी, श्रीगिरिजाजी और श्रीगरुड़जीके शोक, संदेह तथा मोहको क्रमशः श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीशंकरजी और श्रीभुशुण्डीजीने दूर किये—श्रीरामचरित सुनाकर । (५) शुक्राचार्यजीकी कन्या देवयानीकी कामतृष्णा ययातिके संगसे छूटी । ययातिने अपना अनुभव कहा था । —'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।१४। या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते । तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् । १६ ।' (भा० ९।१९) । विषयभोग द्वारा तृष्णा कभी शान्त नहीं होती । वरन् जैसे घृतसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही इसकी भी वृद्धि होती है । जिसे सुखकी इच्छा हो उसे दुस्त्यज और जीर्ण होनेपर भी न जीर्ण होनेवाली तृष्णाको शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए ।—देवयानीकी तृष्णा छूटी और ज्ञान प्राप्त हुआ ।—'श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः । भा० ९। १९।२६।'

☞ मिलान कीजिये—"यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्। शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥ ३१ ॥ निमज्ज्योन्मज्जतां। घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्। भा० ११.२६ ३२।" 'सन्त एतस्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः। श्लो० २६।' अर्थात् जैसे अग्निदेवके सेवन करनेसे मनुष्यके शीत, भय और अन्धकार नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही साधुसेवासे कर्मसम्बन्धी जड़ता, जन्ममरणका भय और अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाते हैं। जैसे जलमें डूबते हुयेको नाव परमगति होती है, वैसे ही घोर संसारसागरमें डूबते उछलते हुए मनुष्यके लिये ब्रह्मज्ञानी शान्त साधु ही परमगतिरूप हैं। संत अपने वचनोंद्वारा उसके मनकी ग्रन्थिको काट डालते हैं।

उपर्युक्त श्लोकोंमेंके शीत, भय, तप, छिन्दन्ति शब्दोंकी जगह इस पद्यमें शोक-संदेह, हर्ष तर्षगण, भय, तप और विच्छेदकारी शब्द आये हैं। मनुष्योंकी प्रकृति, मनुष्यका भाव, उनके स्वभाव और गुणके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है; इसीसे भक्तियोग नाना प्रकारके मार्गोंसे प्रचलित है। इसीसे सद्‌युक्तिका नियम नहीं किया। भरद्वाज, गिरिजा और गरुड़के लिये चरित, वाल्मीकिके लिये उलटा नामजपरूपी सद्‌युक्ति तथा ओषधिके प्रयोग हुए।

७ (ग) 'यथा रघुनाथ सायक···' इति। श्रीरघुनाथजीके बाण अमोघ हैं, निष्फल नहीं जाते। यथा 'अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन् देशे निपात्यताम्। वाल्मी० ६।२२।३०।' (यह उन्होंने समुद्रदेवसे कहा है। मेरा यह विशाल बाण अमोघ है, बताओ इसे किस स्थान पर छोड़ा जाय), 'न ह्यं वैष्णवो दिव्यः शरः पर पुरंजयः। मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशिनः। वाल्मी० १।७५।८।' (अर्थात् अपने पराक्रमसे विपक्षीके बलके घमंडको चूर कर देनेवाला यह दिव्य बाण जो शत्रु-नगरीपर विजय दिलानेवाला है, कभी निष्फल नहीं जाता है।—यह परशुरामजीसे कहा है), 'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। ५।१।८।' आपके बाण निशाचर समूहके नष्ट करनेमें बड़े वेगवान् और समर्थ हैं—यह प्रभाव पूर्व 'परचंड कोदंडधर तून बर बिसिख' ५० (१ घ), 'दससीस खंडन चंड बेग-सायक' ५२ (६ ग) में दिखाया जा चुका है।—भाव यह है कि जैसे श्रीरघुनाथजीके बाण अमोघ हैं, शीघ्र निशाचर-सेना-समूहका नाश करनेमें समर्थ हैं, वैसेही सन्तकी

सद्युक्तियाँ अमोघ हैं; इनसे वे शीघ्र ही प्राणियोंके शोक-संदेह-भय-हर्ष-तम-तर्षगणरूपी निशाचरसेनासमूहका नाश कर देते हैं। श्रीरामजीके भक्त अमोघ हैं, यथा 'अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि। वाल्मी० ६।११७।३०।' यह ब्रह्माजीका वाक्य है। भक्त अमोघ हैं, इसीसे उनके वाक्य भी अमोघ हैं।

टिप्पणी—८ 'यत्र कुत्रापि मम जन्म…' इति। (क) जहाँ कहीं जन्म हो, इस कथनका भाव यह है कि मनुष्य नहीं जान सकता कि उसका पुनर्जन्म कहाँ और किस योनिमें होगा। यथा 'कठिन करम गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता। २।२८२।४।' जिसको जहाँ भी सुख या दुःख भोगना होता है, दैव उसे बलपूर्वक वहीं पहुँचा देता है। जीव कर्मोंसे बँधा रहता है। इसीसे भक्त लोग ऐसा ही कहकर वर माँगते हैं। यथा 'जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं…।२।२४।' (बालसखा), 'जेहि जोनि जनमौं कर्मबस…।४।१०।' (बालि), 'कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षः पिशाच-मनुजेष्वपि यत्र यत्र जातस्य मे भवतु…। बृहन्नारदीय पु० ३८।४६।', 'नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्। वि० पु० १।२०।१८।' (प्रह्लाद)।

८ (ख) 'निज कर्म बस भ्रमत जगजोनि संकटमनेकं।' इति। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भोग-शरीर मिलता है। यथा 'भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे। ७।१३।', 'आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा। ७।४४।' भा० ११।२२ में भी भगवान्‌ने कहा है—'जब अविवेकी अपने कर्मोंके अनुसार जन्ममरणके चक्रमें भटकने लगता है, तब सात्विक कर्मोंकी आसक्तिसे वह देवताओं और ऋषियोंकी योनियोंमें, राजसिक कर्मोंकी आसक्तिसे मनुष्य और असुर योनियोंमें तथा तामसिक कर्मोंकी आसक्तिसे भूतप्रेत एवं पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जाता है*।

"जीवको दैवत्व, मनुष्यत्व, पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियाँ और

---

* 'सत्त्वसंगादृषीन् देवान् रजसाऽसुरमानुषान्। तमसाभूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः। भा० ११।२२।५१।'

स्थावर योनि – ये सब कुछ अपने-अपने कर्मानुसार ही प्राप्त होते हैं। मनुष्य जैसा करता है, वैसा भोगता है।—'दैवत्वमथ मानुष्यं पशुत्वं पक्षिता तथा। तिर्यक्त्वं स्थावरत्वं च प्राप्यते वै स्वकर्मभिः। प० पु० उत्तर ८१।४३।' जैसे बछड़ा हजारों गौओंके बीचमें खड़ी होनेपर भी अपनी माताको पहचानकर उसके पास पहुँच जाता है, वैसे ही पूर्वकृत कर्म कर्ताके साथ छायाकी भाँति सदा लगा रहता है।—ये ययातिजीके वाक्य हैं।

'जग जोनि संकटमनेकं' से सूचित किया कि देवताओंसे लेकर संपूर्ण चराचर जगत् दुःखोंसे ग्रस्त है। किसी योनिमें सुख नहीं है। देवयोनिमें भी ईर्ष्या और मत्सर भरा रहता है। मनुष्य तो स्वर्गमें जाकर अपना मूल गँवाते हुए ही पुण्यफलका उपभोग करते हैं, पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसे गिराये जानेका भय सदा बना रहता है। मनुष्य योनिमें गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदिके कष्ट। पद १३६ में इनके कष्ट देखिए। स्थावर योनिमें पड़े हुए जीवोंको भी कष्ट होता है। कुल्हाड़े आदिसे काटे जायँ, डालियाँ-फूल-फल-पत्ते और छाल काटे, गिराये जायँ। आँधी, हाथी, अग्नि और पाला आदि द्वारा कष्ट भोगना पड़ता है। पशुयोनिमें डंडेसे पीटे जायँ, नाक छेदी जाय, कोड़े लगाये जायँ, बेड़ियों और अंकुश द्वारा बंधनमें डाले जायँ। कसाइयों द्वारा हत्या की जाय, इत्यादि दुःख भोगने पड़ते हैं। इसी प्रकार सभी योनियोंमें दुःख हैं।

८ (ग) 'तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा···' इति। भक्ति और सत्संग दोनों माँगते हैं। क्योंकि भक्ति होनेपर भी सत्संग न होनेसे उसके छूट जानेकी सदा संभावना बनी रहेगी। भक्ति योग है और सत्संग क्षेम है, भक्तिको स्थिर रखनेवाला, भक्तिका रक्षक है। इसीसे वेदभिभर्ता श्रीकृष्णजीने भक्ति और सत्संग दोनोंको आवश्यक बताया है।—टि० ६ (ख, ग) देखिए। और, इसीसे सत्संगकी महिमा जाननेवाले महर्षि अगस्त्य और शिवजीने दोनोंका वरदान माँगा है।—टि० ६ (ग) देखिए। वृत्रासुरने भी ऐसी ही प्रार्थना की है।—'अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।' इत्यादि भा० ६।११।२४-२७।—टि० ३ (क) देखिए। भक्ति और सत्संग दोनोंका अन्योन्याश्रय जनाया।

कलियुगमें इधर भी तथा तुलसीदासके पूर्व भी धुरंधर अनन्यगतिक भागवतोंने भक्तिके साथ-साथ सत्संग और सन्तोंके यहाँ ही किसी भी योनिमें जन्म माँगा है। यथा 'तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे। इतरावसथेषु मा स्म भूदपि मे जन्मचतुर्मुखात्मना ॥५५। सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया तृणीकृताऽनुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदुस्सहः। ५६।' (आलवन्दार०)। (अर्थात् जो आपके दास्यसुखके संगी हैं, जो आपकी सेवा बिना जीवन नहीं धारण कर सकते उनके घरोंमें हमारा जन्म कीटयोनिमें भी हो तो ठीक है, पर विमुखोंके घरोंमें तो ब्रह्मारूप होकर भी मेरा जन्म न हो। जिन्होंने एकबार आपके दर्शनकी आशा करके ब्रह्मादिलोकोंके भोगों तथा कैवल्य मोक्षको भी तृण समान त्याग दिया है, जिनका विरह आपको अतिदुःखसे भी नहीं सहा जाता, उन महात्माओंके कृपावलोकनका पात्र मुझे बना दीजिए। साथ ही साथ श्रीयामुनाचार्यजीने भक्ति भी माँगी है। यथा 'कृपयैवमनन्यभोग्यतां भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे। ५४।' अर्थात् कृपा करके अनन्य भोग्यतारूप जो आपकी भक्ति है, वह भी दीजिए।

श्रीकृष्णपादाचार्यजी कहते हैं—"भगवान्‌का दास होकर भी जो भागवतोंका दास नहीं बनता, भगवद्भक्तोंमें पूज्य बुद्धि नहीं रखता, उस पुरुषका भगवच्छेषत्व (भगवद्भक्ति) देहमें आत्माभिमानके समान है, इसलिये पूर्वाचार्य एवं आलवार (भगवदनुभवमें निमग्न हृदय) अपनेको भगवद्दासोंका दास मानते हैं। श्रीमद्वरवर मुनि स्वामीजी भी 'यतिराज विंशति' में भाष्यकारकी स्तुति करते हुए यह प्रार्थना करते हैं—'त्वद्दासदासगणनाचरमावधौ यस्तद्दासतैकरसताविरता ममास्तु' अर्थात् हे यतीन्द्र प्रभो! आपके दासोंकेदास, उन दासोंके भी दास, इस प्रकार दासोंकी गणनामें जो आपका चरमावधिदास (आपके दासोंका अन्तिम दास) हो उनकी दासता मुझे सर्वदा मिले। श्रीशठकोप सूरिने भी कहा है—'भागवतोंकी सेवाको छोड़कर मुझे कुछ भी नहीं चाहिए, नरकमें पड़ा हुआ नारकीके मुखसे भी यदि श्रीमन्नारायण नाम निकल जाय तो मैं उसकी सेवा करता रहूँगा।'

"श्रीअक्रूरजीने भी कहा है—'अहं हि नारायणदासदासदासानुदासस्य च दासदासः। नास्त्यन्य ईशो जगतो नराणां तस्मादहं धन्य-

तरोऽस्मि लोके ॥'मैं श्रीमन्नारायणके दासोंका अन्तिम दास हूँ, क्योंकि चेतनाचेतनात्मक संसारके सब प्राणियोंके एकमात्र शासक स्वामी वही हैं दूसरा नहीं; अतः इस लोकमें मैं सबसे धन्य हूँ। विदुरजीने भी कहा है—'वासुदेवस्य ये भक्ताश्शान्तास्तद्गतमानसाः। तेषां दासस्य दासोऽहं भवेयं जन्मजन्मनि ॥' भगवान् वासुदेवके ध्यानमें निरन्तर मन लगानेवाले जो शान्त भक्त हैं, जन्म-जन्मान्तरमें मैं उनके दासोंका दास बनता रहूँ।—इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि बड़े-बड़े महापुरुषोंने भी निजको भागवतोंका दास माना है। अतः श्रीवैष्णवको चाहिए कि वह अपनेमें सदा भागवतोंकी दासताका अनुसंधान करे।"—। श्रीलोकाचार्यसंयमीविरचित 'यतीन्द्रप्रवणप्रभाव' का हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ६१-६२)।

८ (घ) 'भवतु में विश्राममेकं' इति। भाव कि आपकी भक्ति और आपके प्रेमी सन्तोंका समागम छोड़ भूलकर भी कदापि अन्य किसीमें सुख न मानूँ ☞ 'सदा' का अन्वय 'भक्ति', 'सज्जनसमागम' और 'विश्राममेकं' सबके साथ होगा।

'सदा भवतु'—सदाके लिये माँगते हैं। क्योंकि भगवान्का वाक्य है कि 'पुण्यवान् महात्माओंके एक बार भी दर्शन, स्पर्श, ध्यान एवं कीर्तन (नामोच्चारण) करनेसे तथा उनके साथ वार्तालाप करनेसे मनुष्य अक्षय स्वर्गका सुख भोगता है। महापुरुषोंका नित्य सङ्ग करनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है तथा मनुष्य अनन्तसुख भोगकर मेरे स्वरूपमें लीन होता है।—'दर्शनात्स्पर्शनाद्ध्यानात्कीर्त्तनाद्भाषणात्तथा। सकृत्पुण्यवतामेव स्वर्गं चाक्षयमश्नुते।१६२। नित्यमेव तु संसर्गात् सर्वपापक्षयो भवेत्। भुक्त्वा सुखमनन्तं च मद्देहे प्रविलीयते। १६३।' (प० पु० सृष्टि ४७)। श्रीमद्भागवतका उद्धरण ऊपर आ चुका है कि भगवान् सदा सन्तोंके साथ रहते हैं।

'विश्राम' का भाव कि मैं जन्म-मरणके चक्रसे थक गया हूँ; सन्तसंग ही ऐसे मनुष्योंको चिर-विश्रामकी प्राप्तिका कारण होता है; यथा 'हरति हृदयबन्धं कर्मपाशार्दितानां वितरति पदमुच्चैरल्पजल्पैः भाजाम्। जननमरणकर्मश्रान्तविश्रान्तिहेतुस्त्रिजगति मनुजानां दुर्लभः सत्प्रसङ्गः। स्कं० वै० उ० व० १।१२.)। सन्त संग बड़ा दुर्लभ है; इसीसे उसके लिये प्रार्थना करते हैं।

टिप्पणी—६ 'देव प्रबल भवजनित त्रैव्याधि···' इति। (क) भव तथा भवजनित व्याधि दोनोंको प्रबल कहा। क्योंकि इनसे किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिलता। इसीसे इसे दारुण भी कहा है;'अति घोर गंभीर वन' तथा परम कठिन व्याल आदिकी उपमायें इसी ग्रंथमें दी हैं। 'भव भय दारुनं' ४५ (१),'संसार कांतार अति घोर गंभीर घन गहन' ५६ (२), 'घोर अवगाह भव आपगा पापजलपूर दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर अपारं' ५६ (८), इत्यादि में जो भाव हैं, वह सब 'प्रबल' कहकर जना दिये गए। 'तापत्रय' को यहाँ 'त्रैव्याधि' कहा है, क्योंकि यहाँ वैद्य, औषध आदि कहना है।

६ (ख) भवजनित 'त्रैव्याधि' की दवा 'भक्ति' बताई। भगवान्‌का नामजप, चरितश्रवणकीर्तन, प्रेम, रूपका ध्यान, इत्यादि सब भक्ति हैं। सभी भवके नाशक हैं। यथा 'जाको नाम लिये छूटत भव जनम-मरन दुखभार। ६८ (५)।', 'तुलसिदास भवरोग रामपदप्रेम हीन नहिं जाई। ८१।'—विशेष ४५ (१ ञ) में देखिए। संत-संगतिसे भी भवका नाश होता है, यथा 'रघुपति भगति संत संगति विनु को भवत्रास नसावै। १२१ (५)।' संतसङ्गति भी एक भक्ति है, यथा 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा। ३।३५।८।' प्रथम सन्तोंका सङ्ग होता है, उनसे भगवान्‌के गुण सुननेको मिलते हैं, जिससे भक्ति होती है और भक्तिसे भवजनित त्रिताप नष्ट होते हैं। यथा 'रघुपति भगति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप सोक भय हारी॥ विनु सतसंग भगति नहिं होई। १३६।'

६ (ग) 'भैषज्यमद्वैतदरसी' इति। दवा बताई जो रोगकी नाशक है। दवा वैद्य देता है, सो अब वैद्यका नाम बताते हैं। भक्तिरूपी दवा सन्तोंसे ही मिलती है, यथा 'सबकर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई॥ अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा। ७। १२०।१८-१९।' सन्तके लक्षण ऊपर 'शान्त निरपेक्ष ···' आदि कविने स्वयं बताये हैं। 'समदृक, स्वदृक विगत अति स्व-पर-मति, परमरति विरति तव चक्रपानी' को ही 'अद्वैतदर्शी' कहकर जनाया है। इन सर्वगुणसम्पन्न संतोंको ही यहाँ अद्वैतदर्शी कहा है, 'अहं ब्रह्म' वाले साधु यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। जिसको भा० ११।२६।३२ में 'ब्रह्मविदः शान्ता' (ब्रह्मवेत्ता शान्त) और मानसमें 'देख ब्रह्म समान सब माहीं। ३।१५।७।', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' तथा यहाँ 'विगत

अति स्वपरमति' कहा है, उसीका नाम 'अद्वैतदर्शी' बताया है। वै को अद्वैतदर्शी कहनेका भाव कि इनकी कृपासे द्वैतदर्शनरूपी भवभय नष्ट हो जायगा। यथा 'सेवत साधु द्वैतभय भागै। श्रीरघुनाथ चरन लय लागै। १३६ (११)।' पुनः;—

६ (घ)—'अद्वैतदर्शी' इति। 'गवामनेक वर्णानां क्षीरस्य त्वेक वर्णता' उपनिषत्की इस श्रुति प्रमाणानुसार 'अद्वैतदर्शी' का भाव इस प्रकार समझना चाहिये कि—सुर-नर-तिर्यगादि देहभेद हैं। जैसे गौ काली, पीली, लाल, चितली, श्वेत इत्यादि अनेक वर्णों-वाली हैं, पर दूध सबमें एक समान है; उसी प्रकार 'ज्ञानैका-कारत्वेन आत्मा' सबमें एक समान ही है। यथा लाखों मन धानके ढेरमें चावलपना सबमें समान ही है, वैसे ही अनंत जीवात्मामें 'ज्ञानैकाकारं स्वरूपता' एक समान ही है, और एकही परमात्मा जीवान्त-र्यामी सम्पूर्ण देहधारी जीवोंके अन्तरात्मा होकर विराजमान है। यथा—'एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥' इति श्रुतिः। इस श्रुतिमें 'भूत' शब्द 'सशरीरजीववाची' है। ज्ञानैकाकारत्वेन अनंत जीवात्मामें परमात्माकी एक समानता 'अद्वैत दर्शन' है। तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व-भूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूनाधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।'—इस श्रुतिप्रमाणानुसार एक ही ईश्वरको सम्पूर्ण चेतना-चेतनपदार्थके अन्तरात्मतया सर्वत्र देखना ही 'अद्वैत दर्शन' है। 'अद्वैत' शब्दका यह भी अर्थ होता है—'द्वयोर्भावो द्वैतः अश्चाद्वैतश्च अद्वैतः।' अर्थात् सर्वत्र चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्मदर्शन ही अद्वैतदर्शन है। अ-इति भगवत-प्रथमाभिधानम्।' 'अक्षराणामकारोस्मि' (गीता)।— (वे० शिरो-मणिजी)।

६ (ङ) 'संत भगवंत अंतर निरंतर नहिं' इति। भा० ११।२६। ३४ में भगवान्ने भी उद्धवजीसे यही कहा है कि सन्त लोग देवता और बधुंरूप हैं, वे सबकी आत्मा और साक्षात् मेरा ही स्वरूप हैं।—'देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च।' नाभाजीने भी कहा है—'भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।'

६ (च) 'मति विमल कह दास तुलसी' इति। जिनकी बुद्धि निर्मल नहीं है वे ऐसा न कहते हैं, न कहेंगे। वे तो यही कहेंगे कि पाँचभौतिक शरीरवाला मनुष्य भगवान् का-स्वरूप वा उनके समान

कैसे हो सकता है ? संत भगवंतमें अन्तर नहीं ऐसा कहना 'कुफ्र.' है, इत्यादि। जिनका हृदय भगवद्भक्तिद्वारा श्रीरामकृपासे अत्यन्त निर्मल हो गया है, वे ही ऐसा कह सकते हैं। अतः गोस्वामीजी कहते हैं कि निर्मल बुद्धिसे मैं यह सिद्धांतरूपसे कह रहा हूँ। विशेष 'वदति इति अमल मति दास तुलसी' ४७ (६ घ) तथा ४९ (६ च) 'वदति तुलसीदास विसद बानी।' में देखिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

५८ (६१)

देव[1]देहि अवलंब कर-कमल कमलारमन दमन-दुख-समन-संताप भारी
अज्ञान[2]राकेस-ग्रासन-विधुंतुद राम[3]काम-करि-मत्त हरि दूषनारी॥१

देव वपुष ब्रह्मांड सुपरवृत्ति[4] लंका दुर्ग
रचित मन दनुज मयरूपधारी।*
विविध कोसौघ अति रुचिर मंदिर निकर
सत्वगुन प्रमुख त्रयकटककारी॥२॥

देव कुनप-अभिमान-सागर भयंकर घोर
विपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प वीची विकारं॥३॥

देव मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार[5]पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ-अतिकाय मत्सर-महोदर-दुष्ट क्रोध-पापिष्ट[6]-विबुधांतकारी॥४

१–देव–आ० में नहीं है। २ यह पाठ ६६, रा०, ह०, ५१, ज०, डु०, मु० में है। भा०, वे०, प्र० में 'ज्ञान राकेश…' पाठ है। और ७४ में 'ग्रसन अज्ञान निसिपति' पाठ है। ३ राम—६६, रा०, ज०,। गर्व—७४, आ०। दलन—भा०, वे०, ह०, प्र०। ४ सुपरवृत्ति—६६। सुप्रवृत्ति—रा०, ह०, ५१, ज०, ७४। सो प्रवृत्ति—भा०; वे०। ❀ स० १६६६ का पन्ना ३३ यहाँ समाप्त (पूरा) हुआ, ३४ वाँ पन्ना नहीं है। ५—हंकार—मु०, वै०। अहंकार प्रायः औरोंमें। ६ पापिष्ट—रा०, भा०, वे०, मु०। पापिष्ठ—ह०, आ० (–मु०)।

देव द्वेष-दुर्मुख दंभ-खर अकंपन-कपट दर्प-मनुजाद मद-सूलपानी।
अमित बल परम दुर्जय निसाचर निकर[7]
सहित षडवर्ग गो जातुधानी ॥५॥
देव जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन वसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम जम सकल सुर जोग[8] लोकेस लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता।६
देव ज्ञान अवधेस गृहगेहिनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भू[9]-भारहर्ता।
भक्तसंकष्टमवलोक्य[10] पितुवाक्यकृत गवन किय[11] गहन वैदेहिभर्ता७
देव कैवल्य[12] साधन अखिल भालु मर्कट बिपुल
ज्ञान[13] सुग्रीव कृत जलधि सेतू।
प्रबल वैराग्य दारुनप्रभंजनतनय बिषयबनभवनमिव[14] धूमकेतू ॥८
देव दुष्ट-दनुजेस-निर्बंसकृत दासहित बिस्वदुखहरन बोधैकरासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदयकमलवासी९

शब्दार्थ—अवलंब=सहारा। कमलारमन=श्रीपति। कमला=लक्ष्मी। राकेश (राका-ईश)=पूर्णचन्द्र। ☞ पूर्णमासी दो प्रकारकी होती है। जिस पूर्णिमामें पूर्णचन्द्र विराजमान होता है वह 'राका' कहलाती है तथा जिसमें एक कला हीन होती है, वह 'अनुमति' कही जाती है। (वि० पु० २।८।८२ तथा अनुवादक मुनिलाल गुप्तकी पादटिप्पणी)। यथा 'पौर्णमासी तथा ज्ञेया अमावस्या तथैव च।

---

७ चमू—भा०, वे०, प्र०, १५। निकर—रा०, ह०, ७४, ज०, ५१, आ०। पद ५७ (७) में 'निसाचरचमूनिचयनिर्दलन' आया है, इससे अनुमान होता है कि यहाँ 'निकर' पाठ दिया गया। ८ जोग—रा०, भा०, वे०, प्र०। लोक—ह०, ५१, ज०, ७४, आ०। ज० का पाठ है—'लोक लंकेस बस रक्ष मानाथ अत्यंत भीता।' ९—भुअ—ह०। भुव—भा०, वे०, ज०। भू—प्रायः औरोंमें। १० संकष्ट अवलोकि—७४, दीन, भ०, वि०। संकष्टमवलोक्य—रा०, भा०; वे०, वै०, मु०। ११ कियो—रा०; ह०। किय—भा०, वे०, ५१, आ०, ७४। किये—ज०। १२ मोच्छ—७४। मुक्ति—मु०। १३ ध्यान—दीन। ☞ यह पाठ आजतक हमें किसी पुस्तकमें नहीं मिला। 'ज्ञान' पाठ सबमें है। १४ दहनमिव—ह०, वै०, दीन। भवनमिव—प्रायः अन्य सभीमें है।

सिनीवाली कुहूश्चैव राका चानुमतिस्तथा ॥' अर्थात् राका और अनुमति दो प्रकारकी पूर्णमासी तथा सिनीवाली और कुहू दो प्रकारकी अमावस्या होती हैं। ग्रासन = ग्रास करनेके लिए। ग्रास = कौर; कवल। विधुंतुद = चन्द्रमाको तुद (अर्थात् व्यथा पीड़ा) देनेवाला = राहु। हरि = सिंह। दूषण = खर राक्षसका भाई, मंत्री और सेनापति। सुपरवृत्ति = सु (अत्यन्त) + प्रवृत्ति (सांसारिक विषयोंमें मनका लगाव। वाणी बुद्धि और शरीरसे सांसारिक कार्योंमें आसक्ति पूर्वक लग जाना)। रचित = रचा, बनाया वा निर्माण किया हुआ। = कल्पित या गढ़ा हुआ। कोशौघ = कोश + ओघ = कोशोंका समूह। वेदान्तमें मनुष्योंमें पाँच कोशोंकी कल्पना की गई है।—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। अन्नसे उत्पन्न, अन्नहीके आधारपर रहनेके कारण देहको 'अन्नमयकोश' कहते हैं। पंच कर्मेन्द्रियोंके सहित प्राण, अपान आदि पंचप्राणोंको 'प्राणमयकोश', श्रोत्र, चक्षु आदि पंचज्ञानेन्द्रियोंके सहित मनको 'मनोमयकोश' और पंचज्ञानेंद्रियसहित बुद्धिको 'विज्ञानमयकोश' कहते हैं। ज्ञानानन्द गुणवाले जीवात्माके धर्मभूत ज्ञान गुणका नाम 'आनन्दमयकोश' है। कोश = खोल, आवरण। त्रयकटककारी = तीन सेनाके करनेवाले, अर्थात् व्यूह आदि रचनेवाले सेनापति। कुनप (कुणप) = देह। कुनपअभिमान = देहाभिमान। अवगाह = अथाह, यथा 'लघु मति मोरि चरित अवगाहा।', 'उभय अपार उदधि अवगाहा।' नक्र = नाक।—यह मगर या घड़ियालकी जातिका एक जलजन्तु है। मगरके बराबर लंबा नहीं होता पर चौड़ा अधिक होता है, मुँह उससे अधिक चिपटा पर बिना घड़ा वा थूथनके होता है और जमीनपर अधिक दूरतक जाकर जानवरोंको खींच ले जाता है। संकुल = व्याप्त, पूर्ण। संग = विषयासक्ति। = संसर्ग। बीची = लहर। विकार = लहरोंका विलास वा उठना। पाकारिजित = पाक दैत्यके नाशक इन्द्रको जीतनेवाला = मेघनाद। अतिकाय, महोदर, विबुधान्तकारी (= देवान्तक), दुर्मुख और अकंपन इत्यादि रावणके सेनापति रहे हैं। पापिष्ठ = अतिशय पापी। मनुजाद = मनुष्योंको खानेवाला = नरान्तक नामक सेनापति। षड्वर्ग = छः वस्तुओंका समूह।—टि० ५ (छ) देखिए। भवदंघ्रि = भवत्

अंघ्रि=आपके चरण । मध्य=बीच । दुष्टाटवी=दुष्ट+अटवी (वन)। ग्रसित=पकड़ा हुआ । नियम जम (यम)—अहिंसा आदि यम और व्रत आदि नियम हैं—'अहिंसादि यमाः प्रोक्ता व्रतादि नियमस्तथा ।'—विशेष टि० ६ (घ) में देखिए । लोकेस (लोक+ईश)=लोकपाल—४४ (२ घ) देखिए । भीता=डरा हुआ, भय (खाया हुआ)। गेहिनी=गेहिणी, पत्नी । संकष्ट=संकट, दुःख, विपत्ति । वाक्य कृत=वचन करके=वचनके व्याज या संबंधसे। प्रभंजन=अत्यन्त उखाड़-पुखाड़ करनेवाला=प्रचण्ड पवन; पवनदेव । तनय=पुत्र । दनुजेस=राक्षसराज रावण ☞ यहाँ भी 'दनुज' शब्द दानव, दैत्य, राक्षस सभी अर्थ देता है, परन्तु मुख्य अर्थ यहाँ 'राक्षस' है ।—'दनुजसूदन' ५६ (१ क) देखिए। निबँश=वंशरहित। निबँशकृत=कुलसहित नाश कर दिया। यथा 'रहा न कोउ कुल रोवनिहारा ।'

नोट— १ इस पदमें साङ्गरूपकालंकार है । शरीर ब्रह्माण्ड है (टि० २ क देखिए)। लंकापुरीके दुर्ग, महल, राजा (रावण), रावणका परिवार (भाई, पुत्र, स्त्री, पौत्र, नाती, पनाती, रानियाँ इत्यादि), प्रधान और साधारण सेनापति, राक्षस और राक्षसियाँ —इत्यादि समस्त अंगोंका (लीलाके आधारपर) आरोप शरीरमें साङ्गरूपकद्वारा करके श्रीरामजीसे इस पदमें रक्षाके लिये विनय की गई है।

२ स्मरण रहे कि पद ५५ में रूप और नामके आधारपर वन्दना और विनय की गई है और यहाँ लीलाके आधारपर की-जा-रही-है। इस पदमें साङ्गरूपक द्वारा जीवोंका संसृतिक्लेश वर्णन किया गया है।

३ "संक्षेपसे समस्त रामलीलाका वर्णन करते हुये विनय की गई है, इसी ढंगको विनयमें 'लीला' का आधार कहा जाता है। इसीको ज्ञानी भक्त जन 'आत्मरामायण' कहते हैं। प्रवृत्तिमार्ग वाले मनुष्योंके कृत्योंको देखकर ज्ञानी भक्तजन सदा रामलीलाका ही ध्यान किया करते हैं। इस प्रकार वे सदा और सर्वत्र रामलीला ही देखा करते हैं। यही वह भावना है जो भक्तोंको समस्त संसार में रामचरित्रका ही दर्शन कराया करती है।—(लाला भगवानदीन जी)। वियोगी हरिजी लिखते हैं कि "इसी पदके आधारपर एक सज्जनने 'आत्मरामायण' लिख डाली है, पर वह ऐसी जटिल हो

गई है कि पढ़ते समय कोई विशेष आनंद नहीं आता।" हमने भी अब कोई ४५ वर्ष हुए जब चित्रकूटमें वह पुस्तक देखी थी, वियोगी हरिजी से मैं सहमत हूँ।

पद्यार्थ—हे देव ! हे कमलापति ! (संसारगर्त वा संसारसागरमें पड़े हुए मेरे उद्धारके लिये आप) दुःखका दमन और भारी संताप-का नाश करनेवाले अपने करकमलका (मुझे) अवलंब दीजिये। हे श्रीरामचन्द्रजी ! आप अज्ञानरूपी पूर्णचन्द्रको ग्रास करनेके लिये राहुरूप हैं ! हे दूषणरिपु ! आप कामरूपी मतवाले हाथीके लिये सिंहरूप हैं ‡। १। देव ! शरीररूपी ब्रह्मांडमें सुन्दर प्रवृत्ति-रूपी लंका दुर्ग (लंकाका दुष्प्रवेश्य किला) है, जिसको मनरूपी दनुजने मयरूप धारण करके रचा है। अनेक प्रकारके कोशोंका समूह अति सुन्दर चमचमाते हुए महलोंका समूह है और सत्वगुण आदि (अथवा, सत्वगुण जिनमें प्रधान है वे) तीनों गुण तीन मुख्य सेनापति हैं। २। देव ! देहाभिमान महाकठिन भयंकर समुद्र है, जो बहुत अथाह, दुस्तर और अपार है और रागद्वेष आदि (द्वन्द्वों) रूपी नाकोंसे परिपूर्ण है। समस्त मनोरथ, संग और संकल्प लहरों-के विलास हैं ❀। ३। देव ! मोह रावण है, उसका भाई (कुम्भकर्ण)

---

‡ अर्थान्तर—१ (जीवरूपी) चन्द्रमाको ग्रास करनेवाले अज्ञानरूपी राहुके नाशक श्रीराम ! (श्रीरामानुजाचार्यजी)। २ 'ज्ञानराकेस ग्रासन बिंधुतुद दलन काम' पाठका अर्थ पं० रा० कु० जी यह करते हैं—'ज्ञान-चन्द्रमाको ग्रसनेको राहु ऐसा जो मत्त हाथी है उसके दलनके लिये सिंहरूप।' आधुनिक पाठका अर्थ—३ गर्व और कामरूपी मस्त हाथियों...'। (दीन)। ४ काम मत्त करिके गर्व तोड़नेको सिंह। (वीर)। ☞ जान पड़ता है कि 'राम' को 'राहु' से रूपक देना भक्तोंको नहीं रुचा और न अज्ञानको चन्द्रमा कहना भाया, इसीसे 'राम' की जगह 'गर्व' और किसीने 'दलन' पाठ रख लिया।

❀ अर्थान्तर—१ रागादि सब मनोरथ घडियाल हैं जिनसे यह परिपूर्ण है। मनोरथके संग जो संकल्प है वही लहरों का उठना है। (वै०)। २ विषयासक्ति-का संकल्प लहरों का उठना है। (भ०.) ३ मनोरथ और साथ होनेकी प्रतिज्ञायें तरंगमालाओंका परिणाम है। (वीर)। ४ विषयासक्तिके कारण जो संकल्प होते हैं। (डु०, दीन)। ५ मनोरथ और विषयासक्तिके संकल्पविकल्प ही लहरें हैं। (वि०)।

अहंकार और विश्रामका हरनेवाला काम इन्द्रजित मेघनाद है। लोभ अतिकाय, मत्सर दुष्ट महोदर और क्रोध महापापी देवान्तक है। ४। देव! द्वेष दुर्मुख, दंभ खर राक्षस, कपट अकंपन, दर्प नरान्तक और मद शूलपाणि है। निशाचर-समूह असीम बलवाले और परम दुर्जय हैं (किसीसे जीते नहीं जा सकते)। षड्वर्ग सहित सब इन्द्रियाँ राक्षसी हैं। ५। देव! आपका चरणसेवक जीवरूपी विभीषण दुष्टोंरूपी वनके मध्यमें चिन्ताग्रस्त हो बस रहा है। यमनियमरूपी समस्त देवता और योगरूपी लोकपाल लंकापति रावणके वश, हे नाथ! अत्यन्त भयभीत हैं। ६। देव! (जैसे रावणादिका नाश करनेके लिये आपने अवधके राजा श्रीदशरथजी महाराजके यहाँ उनकी गृहस्वामिनियों—पटरानियों द्वारा अवतार लेकर पृथ्वीका भार हरण किया था, वैसेही अब शरीर-ब्रह्माण्डरूपी) पृथ्वीका भार उतारनेवाला (बोधैकराशि श्रीराम) अवतार ज्ञानरूपी अवधपति श्रीदशरथजीके यहाँ शुभ (सुन्दर मंगल कल्याणकारिणी) भक्तिरूपिणी पटरानियों द्वारा लीजिए (और मोहादिका नाश कीजिए)। हे वैदेहिपति! भक्तका सङ्कट देखकर पिताके वचनके व्याजसे आपने वनगमन किया था (वैसे ही जीवरूपी भक्तका संकट देखकर, उसके हरणके लिए, ज्ञानकी प्रेरणासे हृदयरूपी वनमें जाइए)। ७। देव! मोक्षके समस्त साधन बहुत बड़ी संख्यावाले रीछ और बन्दर हैं। (अर्थपंचक परमार्थ) ज्ञान सुग्रीव हैं। इन्हींने समुद्रपर पुल बाँधा था। (वैसेही प्रबल परमार्थ ज्ञानसे समस्त कैवल्यसाधनोंद्वारा देहाभिमानरूपी समुद्रपर सेतु बँधवाइये, जिससे सब साधन देहाभिमानको पारकर मोह आदिका मुकाबिला करनेको बढ़ सकें)। प्रबल वैराग्यरूपी भयंकर पवनपुत्र (श्रीहनुमान्‌जी शब्द-स्पर्श-रूप रस-गंध) विषयरूपी (अशोक) वन और (विविधकोशौघरूपी) महलोंको (जलानेके लिये) अग्निसमान हैं (अर्थात् प्रबल वैराग्य द्वारा विषयोंकी ओरसे मनको हटा दीजिए)। ८। देव! संसारके दुःखके हरनेवाले! ज्ञानके एकमात्र राशि! आपने अपने दास (विभीषणादि) के हितार्थ दुष्ट राक्षसराजको निर्वंश कर दिया। (वैसेही जीवरूपी दासके लिए मोहका सपरिवार नाश कर दीजिए)। अपने छोटे भाई (श्रीलक्ष्मणजी) और

श्रीजानकीजी सहित मुझ दास तुलसीके हृदय कमलके सदा निवासी हूजिए ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'देहि अवलंब कर कमल कमलारमन···' इति । (क) करकमलका अवलंब दीजिए । भाव कि मैं संसाररूपी गर्त, नदी वा सागरमें पड़ा डूबता-उतराता हूँ, आप अपने करकमलका सहारा देकर मुझे उसमेंसे निकाल लीजिए । यथा 'मोहान्धकारपटले महतीव गर्ते संसारनाम्नि सततं पतितं हि कृष्ण । कृत्वा तरीं मम हि दीनभयातुरस्य तस्माद् विकृष्य शरणं नय मामितस्त्वम् ॥' (मैं मोहान्धकारराशिसे भरे हुए संसाररूपी महान् गर्तमें पड़ा हुआ दीन और भयसे व्याकुल हूँ । मेरे लिये नौका बनकर मुझे गढ्ढेसे निकालिए, वहाँसे खींचकर शरणमें लीजिये । (प० पु० भूमि २१।२५), 'दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम । श्लो० २१ ।', 'संसारार्णवमग्नं भो मामुद्धर जगत्पते' (प० पु० उत्तर० ३८।१४) ।

१ (ख) 'कर कमल' इति । श्रीरघुनाथजीके 'कर' को 'कमल' विशेषण भक्त कविने प्रायः उन स्थानोंपर दिया है, जहाँ उन करोंसे बिना किसीको दुःख दिये, अपने भक्तोंपर करुणारूपी छाया की, उनको अभय किया, उनका दुःख दूर किया; उन्हें गले लगाया, शीतल किया या सुख दिया, इत्यादि । यथा—"कबहूँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहो, नाथ ! सीस मेरे । जेहि कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरें ॥ १ ॥ जेहिं कर कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक संसय मेट्यो । जेहिं कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो ॥ २ ॥ जेहिं कर कमल कृपाल गीध कहुँ उदकु देइ निज लोकु दियो ।···। ३ । आयो सरन सभीत बिभीषनु जेहिं कर कमल तिलकु कीन्हो ।···॥" (१३८) । विशेष पद १३८ में लिखा जायगा । 'करकमल' में वाचकधर्मलुप्तालंकार है ।

१ (ग) 'कमलारमन' इति । इस छन्दके उत्तरार्धमें 'राम', छंद ७ में 'वैदेहिभर्ता' और पदके अन्तिमचरणमें 'अनुज जानकी सहित हरि' शब्द देकर स्पष्ट कर दिया गया है कि 'कमला' श्रीजानकीजीका ही नाम है ।

स्कं० ब्रा० धर्मा० ३२।६० में श्रीरघुनाथजीने स्वयं कहा है—'मैं ब्राह्मणोंके ही प्रसादसे कमलापति हूँ, धरणीधर हूँ, जगतीपति हूँ और विप्रप्रसादसे ही मेरा 'राम' नाम है ।'—'विप्रप्रसादात् कमलावरोऽहं

विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम् । विप्रप्रसादाज्जगतीपतिश्च विप्रप्रसादान्मम राम नाम ॥' अतः श्रीरामको 'कमलारमण' कहा गया। प० पु० उत्तर० २६६ । ७४ में श्रीवशिष्ठजीका वाक्य है—'श्रियः कमलवासिन्या रमणोऽयं महाप्रभुः । तस्माच्छ्रीराम इत्यस्य नाम सिद्धं पुरातनम् ॥' (ये महाप्रभु कमलनिवासिनी श्रीदेवीके साथ रमण करनेवाले हैं, इसलिए इनका परम प्राचीन स्वतः सिद्ध नाम श्रीराम होगा)। यह कहकर उन्होंने उनका श्रीराम नाम रक्खा ।—इससे कमलारमण और श्रीरमण आदि नाम श्रीरामजीके सदासे ही हैं यह सिद्ध होता है।

अथवा, क्षीरशायी तथा वैकुण्ठनिवासी विष्णु भी रामावतार लिया करते हैं, तब तब लक्ष्मीजी ही श्रीजानकीजी होती हैं। यथा "एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः। अवतारं करोत्येषा तथा श्रीस्तत्सहायिनी ॥ ...राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी ॥ वि० पु० १।६।१४२, १४४' भगवान् विष्णुके राघव होनेपर वे सीताजी हुईं और कृष्णावतार में वे रुक्मिणीजी हुईं। इसी प्रकार अन्य अवतारोंमें भी ये भगवान् से कभी पृथक् नहीं होतीं। अतएव 'कमला' के ही 'सीता' होनेसे "कमलारमण' कहा ।

अथवा, पूर्व पद ४३ में बताया जा चुका है कि श्रीरामजी सर्वावतारोंके अवतारी हैं, तथा यह कि वे ही चतुर्भुज नारायणरूप होकर क्षीरसागरमें निवास करते हैं। ४३ [१ ङ (६)] देखिए। दोनोंमें तात्त्विक भेद नहीं है। सभी वैष्णवविग्रहोंके अभेदरूपसे सब नाम, सब चरित, सब गुण हैं। जब श्रीराम ही श्रीनारायण हैं, तब वे 'कमलारमण' भी हैं और नारायणपरकवाक्य भी प्रधानरूपेण रामपरक ही हैं।

कमलमें निवास, कमल-समान करमें कमल, कमलनयनी, कमलमुखी तथा कमलानाभप्रिया होनेसे 'कमला' नाम है।

[श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—"कमलारमन' कहकर सूचित करते हैं कि भक्तको कमलाकी तरह अनन्य होना चाहिए; तब भगवान् उसकी रक्षा कमलाकी तरह करते हैं और उसके दुःखोंका दमन एवं भारी संतापोंका नाश करते हैं।"]

१ (घ) 'दमन दुख समन संताप भारी' इति। कोई इसको 'कमलारमन' का और कोई 'कर कमल' का विशेषण मानते हैं। ये 'कर-कमल' के विशेषण हैं। यथा 'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया। निसि बासर तेहि करसरोजकी चाहत तुलसिदास छाया। १३८।', 'अविचल अमल अनामय अबिरल ललित रहित छल छाया। समन सकल संताप पाप रुज मोह मान मद माया। गी० ७।१४।'

१ (ङ) 'अज्ञान राकेस ग्रासन बिधुंतुद राम' इति। इस लोक और परलोकके तत्वको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको विवेकपूर्वक न जाननेका नाम 'अज्ञान' है। ज्ञानका अभाव अज्ञान है। अज्ञानको राकेश कहा, इसीसे श्रीरामजीको उसका ग्रसनेवाला राहु कहा। इसमें समअभेदरूपकालंकार है। 'राकेश' कहकर पूर्णपरिपक्वावस्थाको प्राप्त अज्ञान जनाया। मोहरूपी रात्रिमें अज्ञान राकेश हृदयरूपी आकाशमें स्वच्छन्दरूपसे विचरता हुआ, वहाँ अपना साम्राज्य दिखाता हुआ, शोभित रहता है। राहु राकेशको संधि पाकर ग्रसता है।—'ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई। १।२३८।१।', वैसे ही श्रीरामजीका छल छोड़कर स्मरण करना, 'तवास्मि प्रसन्नोऽहं' इतना मात्र कहकर हाथ जोड़कर प्रणाम करना, प्रभुके सम्मुख होना यही 'निज संधि' है, जिसे पाकर वे अज्ञान, मोह, कठिनसे कठिन दुःख, त्रिताप, पाप सबको ग्रास कर लेते हैं। वे अपने कर-कमलकी छाया कर देते हैं, जिससे पाप, ताप और उन सबोंकी कारण माया सभी मिट जाते हैं। वे तो आतुर रहते हैं कि कब मेरा प्यारा मेरे सम्मुख आवे और मैं उसे कृतार्थ करूं।—यही 'निज संधि' पाकर अज्ञानराकेशको ग्रास करना है। यथा 'भृत्यानुग्रहकातरम्। भा० ३।२८।१७।', 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। १३५।', 'छलहि छाँड़ि सुमिरे छोहु किये ही है॥ किये छोहु छाया कमल-कर की भगत पर भजतहि भजै। १३५।', 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।' (सुं०)। वे अज्ञानके नाशक हैं, यथा 'अपहरन संमोह अज्ञान गुनसंनिपातं। ५३ (६)।', 'अज्ञान गहन पावक प्रचंड। ६४ (४)।' 'दुर्गति हर्त्ता' भी हैं। ५४ (७)।

["पूर्णचन्द्रमें षोडश कलायें होती हैं। यहाँ अविद्या-रात्रिमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, मद और दशेन्द्रियविषय षोडश कलायें हैं, जिनसे अज्ञानराकेश पूर्ण है।" (वै०)। श्रीकान्तशरणजी लिखते

हैं कि पूर्णमासीको चन्द्रमा सूर्यसे नितान्त पृथक् हो जाता है। वैसेही वद्धजीव अज्ञानके कारण सर्वथा अपनेको भगवान्से पृथक् मानता है। इस लिये अज्ञानको चन्द्रमाके समान कहा है ।]

१ (च) 'काम-करिमत्त-हरि दूषनारी' इति । इसमें भी समअभेद-रूपक है। सिंह मत्त हाथीको विदीर्ण करता ही है। 'दूषणारि', यथा 'जय दूषनारि खरारि ।६।११२।' वीरकविजी लिखते हैं कि "दूषनारि संज्ञा साभिप्राय है । क्योंकि जो दूषण-जैसे भीषण राक्षसके मारनेवाले हैं, वेही काम-करि-मत्तके दमनमें समर्थ हो सकते हैं। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।" खर, दूषण, त्रिशिरा और रावण ये एक ही समान बलवान थे। रावणने स्वयं कहा है— 'खरदूषन मोहि सम वलवंता। ३।२३।२।' इसीसे 'खरध्वंसी' 'दूषणारि' 'त्रिशिरारि' नाम श्रीरामके अष्टोत्तरशतनामोंमें भी आये हैं। (प० पु० उत्तर २८१।३३, ३५)।

नोट—४ जैसे लंकामें रावण आदि रहते हैं, वैसेही शरीरकी प्रवृत्तिरूपी लंकामें मोह आदिका राज्य रहता है। तमोगुणके वशमें होनेपर शरीरकी पापपंकमें प्रवृत्ति होती है और रजोगुणका वेग इसे भिन्न-भिन्न कर्मोंमें लगाया करता है। प्रवृत्तिमार्गमें शरीरमें मोहका राज्य रहता है। यह मनुष्यको मोहमें डालनेवाला, आनन्द और प्रीतिके लिये विचरनेवाला, काम और क्रोधका संग्रह करनेवाला है। लोभ और तृष्णा ही शरीरको ऊँचे नीचे स्थानोंमें ले जानेवाला है। आसक्तिही इस कालचक्रका विस्तार है। रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे युक्त जड़ देहरूपी कालचक्रही सृष्टि और संहारका कारण है। *

इसीसे शरीरकी प्रवृत्तिमें मोह आदि सबका वर्णन किया गया है। 'प्रवृत्ति' क्या है इसको प्रथम समझाकर तब 'वपुष ब्रह्माण्ड' आदिकी व्याख्या की जायगी।

'प्रवृत्ति' क्या है ? इसकी वहुत सुन्दर व्याख्या 'भवाटवीका स्पष्टीकरण' नामसे भा० ५।१४ में है।

---

* 'तमोनियमपङ्कं च रजोवेगप्रवर्तकम् । ५।', 'भयमोहपरीवारं भूतसम्मोहकारकम् । आनन्दप्रीतिचारं च कामक्रोधपरिग्रहम् । ८।', 'लोभेप्सापरिविक्षोभं । ७।', 'रागविस्तारमायतम् । ७।' (म० भा० आश्व० ४५)।

'सुप्रवृत्ति' को लंका दुर्ग और उसके रचयिताको मनरूप मयदानव कहनेका कारण यह है कि इस पंचभूतात्मक शरीरमें जीवात्माको विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाली मन आदि छः इन्द्रियाँ ही हैं। इसकी अभिव्यक्ति मनके द्वारा ही हुई है।

देहाभिमानी जीवसे सत्त्वादि गुणोंके कारण शुभ, अशुभ और मिश्र तीन प्रकारके कर्म होते रहते हैं। उसके फलरूपमें जो उसे तरह-तरहकी देहोंमें इष्ट वस्तुके साथ संयोग-वियोग होनेसे सुख-दुःखका अनुभव होता रहता है, यही उसका अनादि संसार है। मन और पंचज्ञानेन्द्रिय इसके अनुभवके द्वार हैं। उनसे विवश होकर यह जीव, मायाकी प्रेरणासे दुर्गम संसार वनमें पहुँचता है। इस संसार-वनमें यही छः इन्द्रियाँ चोर हैं। ये अपनी वृत्तियों (दर्शन, स्पर्शन आदि) द्वारा गृहस्थोचित विषय भोगोंमें फँसाकर जीवको लूट लेती हैं। वह मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है। कभी मनोरथके पदार्थोंके समान प्रतीत होनेवाले अत्यन्त असत् पिता-पितामह आदि सम्बन्धोंको सत्य समझकर उनके सहवाससे क्षणिक सुखका अनुभव करता है। गृहस्थाश्रमके लिए जिस कर्मविधि सहवासका महान् विस्तार किया गया है, उसका अनुष्ठान किसी पर्वतकी चढ़ाईके समान ही है। लौकिक सुख ही जिनका फल है उन घरोंमें सुख मानकर स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त होकर यह अपना सारा समय मैथुनादि विषय-भोगोंमें ही बिता देता है।†

---

† 'य एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण...मायया जीवलोकोऽयं...संसाराटव्यां गतो...एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते। १।...तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसंकल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन...विलुम्पन्ति। २। तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान्विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः।' (अर्थात् भोजन, जलपान और मैथुन आदि विषयोंमें आसक्त होकर कभी मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है)। ६।···कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति।१७। क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो...।१८।', 'सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः। ३२।' (भा० ५।१४)।

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें फँसकर जीव इस संसारमार्गमें पड़कर कभी पुराने संबंधियोंको छोड़ता, कभी नये जन्मे हुओंको साथ लगाता, कभी किसीके लिये शोक करता, किसीका दुःख देखकर मूर्छित होता, कभी वियोग-विरहवश होता, कभी आपत्ति आ पड़ने पर रोता चिल्लाता, कभी कोई अनुकूल बात होनेपर हर्षसे फूला न समाता है''''इस प्रकार यह उस मार्गमें निरंतर बढ़ता ही जाता है।" *यही 'प्रवृत्ति' है ।

'पराशर गीता' में प्रवृत्तिमार्गका दिग्दर्शन इस प्रकार है—गृहस्थाश्रममें मनुष्यका गौ, खेती-बारी, धन-धान्य, स्त्री-पुत्र और भृत्योंसे सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर वह प्रतिदिन इन वस्तुओंको देखता है, किन्तु इनकी अनित्यताको नहीं जानता। इसलिये उसके मनमें राग और द्वेष बढ़ने लगते हैं और इनके वशीभूत होकर जब मनुष्य द्रव्यमें आसक्त हो जाता है तब मोहकी कन्या रति आकर उसे अपने वशमें कर लेती है। भोगीको रतिके द्वारा जो विषयसुख प्राप्त होता है, उससे बढ़कर कोई दूसरा सुख वह नहीं मानता। फिर उसके मनपर लोभका अधिकार हो जाता है और वह आसक्तिवश अपने परिजनोंकी संख्या बढ़ाने लगता है, फिर पालन-पोषणके लिए धनकी इच्छा होनेपर वह जानते हुये पापकर्म कर डालता है। कोई बालबच्चा मर जाता है, तो संतप्त होता है। धनसे जब लोकमें प्रतिष्ठा बढ़ती है, तब सदा प्रयत्न करता है कि कभी अपनी हेठी न होने पावे। भोगविलासकी सामग्रियोंसे संपन्न होनेके लिये जो कुछ आवश्यक समझता है, उसे ही वह करता है और उसीसे एक दिन नष्ट हो जाता है। †

---

* 'आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन्बिभ्यद्विवदन्क्रन्दन्संहृष्यन्गायन्नह्यमानः''' ।३८।' (भा० ५।१४)।

† "एवं तस्य प्रवृत्तस्य नित्यमेवानुपश्यतः। रागद्वेषौ विवर्धेते ह्यनित्यत्वं पश्यतः। ४। रागद्वेषाभिभूतं च नरं द्रव्यवशानुगम्। मोहजाता रतिर्नाम समुपैति नराधिप। ५।'''लाभं ग्राम्यसुखादन्यं रतितो नानुपश्यति। ६। ततो लोभाभिभूतात्मा संगाद् वर्धयते जनम्।''' ।७। स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः। बालस्नेहपरीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते। ८। ततो मानेन सम्मतो रक्षन्नात्मपराजयम्। करोति येन भोगी स्यामिति तस्माद् विनश्यति। ९।" (म० भा० शान्ति० २१५. पराशरगीता)।

टिप्पणी—२ 'वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग०' इति । (क) शरीर ब्रह्माण्ड है। दोनोंमें समानता यह है कि जैसे यह ब्रह्माण्ड पंचमहाभूतोंका रचित समूह है, वैसे ही मनुष्यका शरीर भी पंचमहाभूतोंका ही संघात है। इसमें जो गति है वह पवनका भाग है, खोखलापन आकाशका अंश है, लोहू आदि तरल पदार्थ जलके अंश हैं और हड्डी, मांस आदि ठोस पदार्थ पृथ्वीके अंश हैं। पंचज्ञानेन्द्रिय इन्हींके परिणाम हैं। (म० भा० शान्ति० १८४।४)

शरीरमें त्वचा, मांस, अस्थि, मज्जा और स्नायु—
　　ये पाँच पृथ्वीमय हैं।
तेज, क्रोध, चक्षु, ऊष्मा और जठरानल—ये पाँच अग्निमय हैं।
श्रोत्र, घ्राण, मुख, हृदय और उदर—ये पाँच आकाशमय हैं।
कफ, पित्त, स्वेद, चर्बी, रुधिर—ये पाँच जलीय अंश हैं।
प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान—ये पाँच वायुके विकार हैं।
　　(श्लो० २०-२३)।

जैसे ब्रह्माण्डमें चन्द्रमा, सूर्य, देवता, असुर, अमृत, जीव, ब्रह्म और ब्रह्मलोक इत्यादि हैं, वैसे ही इस शरीरके भीतर ये सब हैं। योगी इनका दर्शन और अनुभव कर सकता है। * शरीर ब्रह्माण्डका एक नमूना है। ब्रह्माण्डमें रावणावतार होता है और उसके वधके लिए श्रीरामावतार होता है। आगे पूरे पदमें इसी लीलाका आधार लिया गया है।

२ (ख) सुप्रवृत्ति लंकादुर्ग है। दोनों दुर्धर्ष हैं, देवता आदिके लिए भी दुर्जय हैं। बड़े-बड़े योगी, ज्ञानी और कर्मकाण्डी भी इसे नहीं जीत पाते। लंकादुर्ग त्रिकूटाचलपर है। कर्मकाण्डका विस्तार

---

* मिलान कीजिये—'देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्वितः। सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥ १ ॥ ऋषयः मुनयो सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा। पुण्यतीर्थानि वर्त्तन्ते सर्वाणि पीठदेवता ॥ २ ॥ सृष्टिसंहारकर्त्तारौ भ्रमंतौ शशि भास्करौ। नभोवायुश्च वह्निश्च जलं पृथिवी तथैव च ॥ ३ ॥ त्रैलोक्यानि यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः। मेरुः संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥ ४ ॥ जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः। ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथा देहे व्यवस्थितः ॥ ५ ॥'—(योगकल्पद्रुमसे उद्धृत)।

जो प्रवृत्तिमें है, वह भी किसी दुर्गम पर्वतकी चढ़ाईसे कम कठि नहीं है †। लंका बिधिनिर्मित और दुर्गम है। यथा 'गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी। बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी।...।१।१८ ['काल मन अगम'···।४३ (८ ग) देखिए], और प्रवृत्तिमार्ग भी उन्हींका रचा हुआ है। लंकादुर्ग रावणकी राजधानी प्रत्येक कल्पमें होती है और सुप्रवृत्तिमें मोहका राज्य रहता है। लंकामें रावण अपने भाई, पुत्र-पौत्र, नाती-पनाती, सेना और राक्षसियों सहित निर्भय राज्य करता है और सुप्रवृत्तिमें मोह अहंकार-काम-क्रोध-लोभादि भाइयों, पुत्रों आदि तथा इन्द्रियरूपी रमणीयोंके साथ निर्भय राज्य करता है। इत्यादि दोनोंमें सादृश्य है।

२ (ग) ऊपर अज्ञानको राकेश कह आए। अब बताते हैं कि वह अज्ञानराकेश कहाँपर पूर्ण प्रकाशमान हो रहा है। जहाँ संसार-में प्रवृत्ति हुई, मन-विषय-वासनाओंमें लगा, गृहस्थाश्रममें फँसा, देह-गेह आदिमें आसक्ति हुई, वहीं अज्ञान पूर्णतः प्रकाशमान रहता है। गृहासक्ति ही अज्ञान है। यथा—'काम-क्रोध-मद-लोभरत गृहासक्त दुख रूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तमकूप।'

२ (घ) 'रचित मन दनुज मयरूपधारी' इति। 'रचित' का भाव कि दुर्गम लंकादुर्ग और सुप्रवृत्ति दोनों ही निर्माण की हुई तो ब्रह्माकी हैं, पर मय दानवने जैसे लंकाको पुनः सँवारा था, वैसे ही मनने सुप्रवृत्तिको रचकर सँवारा है। कोई भी प्रवृत्ति बिना कामनाके नहीं होती और कामनायें मनसे प्रकट होती हैं। मनही प्रवृत्तिका आधार है। यथा—'सोइ मय दानव बहुरि सँवारा। कनक रचित मनिभवन अपारा॥' तथा 'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि एइ मन कीन्हे बरिआईं। त्यागब ग्रहब उपेछनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥ असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। सरल

---

† 'विषयसुखकी चाह ही प्रवृत्ति लंकाकी अगमता है। वैराग्यविवेकादि देवताओंसे भी उसका टूटना कठिन है।' (वै०)। कर्मकाण्ड पर्वतसमान है; यथा 'क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो। भा० ५।१४।१८।' अर्थात् कभी गृहस्थाश्रमके लिये कहे हुए कर्मोंके अतिशय भाररूप पर्वतपर चढ़नेकी इच्छा करता है।

नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ॥ विटप मध्य पुत्रिका सूत्र महुँ कंचुकि बिनहिं बनाएँ। मन महुँ तथा लीन नाना तन प्रगटत औसर पाएँ। १२४।', 'चित्रकार कर हीन जथा स्वारथ बिनु चित्र बनावै।११६।' मयने रावणसे मित्रता की, इसीसे लंकाकी सुन्दर रचना की; वैसेही मन मोहका साथी होता है (मोहके वश होता है) तभी अत्यन्त प्रवृत्तिकी रचना करता है।

[भावार्थान्तर—"जैसे मयदानव प्रथम जब अपनी बुद्धिमें लंकाकी रचना ले आया तब उसे अपने हस्त आदि इन्द्रियोंसे बनाया, वैसेही मन जब नाना संकल्प-विकल्प उठाता है तब इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति विषयग्रहणकी होती है।" (डु०)। "मनने शरीरके भीतर प्रवृत्तिरूपी लंका रची। अर्थात् लौकिक सुखहेतु अनेक तर्कणाका प्रवाद बढ़ाया है।" (वै०)]

२ (ङ) 'विविध कोशौघ अति रुचिर मंदिर निकर' इति। लंकामें बहुत सुन्दर-सुन्दर महल हैं, यथा 'कनकरचित मनिभवन अपारा ॥ भोगावति जसि अहिकुलबासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा ॥ तिन्ह ते अधिक रम्य अति बंका ॥ १।१७८।' शरीरमें अन्नमय, प्राणमय आदि पंचकोशोंका समूह है। अन्नसे उत्पन्न और अन्नही के आधारपर रहनेसे देहको अन्नमयकोश कहते हैं। [इस मंदिरमें जानेसे जीवको षट्रस भोजनकी चाह होती है। (वै०)] मनोमयकोश अविद्यारूप है, इसीसे सांसारिक विषयोंकी प्रतीति होती है। [इस कोशमें जानेपर जीव अनेक संकल्पविकल्प आदि व्यवहार करता है। और प्राणमयकोश महलमें जानेसे भी सब पवनोंका विलास होता है। (वै०)] विज्ञानमयकोश कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि अहंकारविशिष्ट पुरुषके संसारका कारण है। [इसमें जानेसे जीवमें चैतन्यता आती है। और आनन्दमयकोश सुखका स्थान है। (वै०)]

[भट्टजी लिखते हैं कि मनपर अन्नमय आदि पंचकोशोंका प्रतिबिंब पड़ता है, जिससे प्राणी 'मैं मनुष्य हूँ, मैं क्षुधित हूँ, मैं देह हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं सुखी हूँ' इत्यादि कहता है।

बाबू शिवप्रकाशजी लिखते हैं कि "जैसे विषयभोग करनेपर मंदिरमें विश्राम होता है, वैसेही बुद्धिका आश्रय लेकर जीव पंचकोशोंमें तद्रूप होकर विषयका भोक्ता बनता है"।]

२ (च) 'सत्वगुन प्रमुख त्रयकटककारी' इति—लंकादुर्गमें चार द्वार (फाटक) हैं। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण तीन द्वारोंपर रावणने तीन प्रधान सेनापति नियुक्त किये थे और उत्तर द्वारपर श्रीरामजीसे मोरचा लेनेके लिए स्वयं था। तीन द्वारोंपर जो सेनापति सेनासहित लड़ने जाते थे, वे प्रधान सेनापतियों द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इसीसे प्रधान सेनापतियोंको 'त्रयकटककारी' नाम दिया गया। सुप्रवृत्तिमें सत्व, रज और तम तीन गुण हैं। माया जब जीवको दुस्तर प्रवृत्तिमार्गमें लगा देती है, तब जीवकी दृष्टि सात्विक, राजस और तामसभेदसे शुभ, अशुभ और मिश्र तीन प्रकारके नाना कर्मोंपर ही जाती है। ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरेके आश्रित और एक दूसरेके सहारे टिकनेवाले हैं, एक-दूसरेसे अनुप्राणित, अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले हैं। ये तीनों सदा साथ रहते, साथ ही साथ विचरते, समूह बनाकर यात्रा करते और शरीरमें मौजूद रहते हैं। ये तीनों सर्वथा पृथक्-पृथक् हों, ऐसा कभी नहीं सुना गया। सूर्यका प्रकाश सत्वगुण है, ताप रजोगुण है और अमावस्याको जो ग्रहण लगता है वह तमोगुणका कार्य है। इसी प्रकार सभी ज्योतियोंमें तीनों गुण क्रमशः प्रकट और विलीन होते रहते हैं। इस जगत्में जो भी वस्तु भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपलब्ध होती है वह सब त्रिगुणमय है।—'पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा। यत्किंचिदिह लोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः। म० भा० आश्व० ३९। २१।' गीतामें भी कहा है—

'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः। १८।४०।' अर्थात् पृथ्वीके मनुष्यों आदिमें या देवलोकके भीतर देवताओं आदिमें ऐसा कोई प्राणी नहीं, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे छूटा हो। तीनों गुण जीवको बाँधनेवाले हैं। यद्यपि सत्वगुण निर्मल है तो भी यह जीवको सुख और ज्ञान द्वारा बाँधता ही है; अतएव यह भी शत्रु ही है। अतएव तीनों गुणोंको 'त्रयकटककारी' कहा। 'प्रमुख' के दोनों अर्थ यहाँ हैं। सत्वगुण प्रमुख (= आदि) प्रमुख (= प्रधान) त्रयकटककारी हैं। प्रहस्तको सत्वगुण कह सकते हैं; क्योंकि इसने अपने पिताको तथा अन्य मंत्रियोंको सदुपदेश दिया था। (लं० दोहा ९–१०)। महोदर भी नीतिज्ञ था, यह भी सत्वगुण माना जा सकेगा।

[श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "प्रहस्त, महापार्श्व और महोदर लंकाके तथा बाहरके उस (रावण) के सेनापति खर, दूषण और त्रिशिरा थे। इनके साथ इनके अनुकूल सेना भी रहती थी। वैसे ही यहाँ सत्वगुण प्रहस्त एवं त्रिशिरा, रजोगुण महापार्श्व एवं दूषण तथा तमोगुण महोदर एवं खरके समान हैं।"]

टिप्पणी—३ 'कुनप-अभिमान सागर भयंकर···' इति। (क) कुणप-अभिमान = देहाभिमान। वास्तवमें जीव चेतन है, देह जड़ है। जीव मोहवश अपने नाशवान् शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले गृह, क्षेत्र, धन आदिको नित्य मानता रहता है। इसीसे वह पंचभूत रचित इस शरीरमें निरन्तर मैं और मेरापनका अभिमान करने लगता है। उसमें आसक्त होनेसे जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़ता है तो भी यह उसीके लिये नाना प्रकारके कर्म करता है।* सूकर, श्वान, विष्ठाका कीड़ा आदि किसी भी योनिमें जाय, उसीमें सुख मान लेता है। शरीरके दुःख सुखमें ही वह अपनेको दुःखी-सुखी मानता है।

३ (ख) लंकाके चारो तरफ "खाईं सिंधु गँभीर अति चारिहु दिसि फिरि आव।" ऐसा भयंकर समुद्र है। 'सुप्रवृत्तिकी चारों ओरसे रक्षा करनेवाला देहाभिमान है। प्रवृत्तिकी दृढ़ता और अगम्यता देहाभिमानसे है। समुद्र नक्र आदिसे भयंकर लगता है, वह अपने भीतर रहनेवाले इन जीवोंकी रक्षा करता है, वैसेही रागद्वेषादिका पालन-पोषण एवं निवास देहाभिमानमें ही होता है। समुद्रसे भयानक लहरें उठती हैं, लहर और समुद्रमें विशेष भेद नहीं, लहरें उससे अलग नहीं, वैसेही मनोरथ, संग और संकल्प देहाभिमानके ही विकार हैं, पर भयंकर हैं। जब मनुष्य आत्मज्ञानके विरोधी शास्त्रोंका अवलोकन करता है तो उसे स्वर्गादिकी कामनाओंसे नये-नये कर्म आरंभ करनेकी इच्छा होती है, मनमें मनोरथके संकल्प होते हैं, इत्यादि। फिर तो जैसा भगवान्‌ने कहा है वही होता है—'संगात्संजायते

---

* भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत। अहंममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम्। ३०। तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्। यो नुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः। ३१ (भा० ३।३१)

कामः…' अर्थात् देहाभिमानही काम, क्रोध, मोह आदिकी रच करता हुआ जीवके सत्यानाशका कारण होता है।

[बाबू शिवप्रकाशजी लिखते हैं कि—यह किसी प्रकार नहीं मिटता, वैराग्यवानोंमें भी देखा जाता है, अतः इसे 'दुस्तर' कहा। अभिमान आनेपर दया आदि गुण नहीं रहते, इसीसे 'भयंकर' कहा! थाह नहीं मिलनेसे अथाह कहा और बुद्धि इसका वारापार नहीं पाती इससे 'अपार' कहा।

भट्टजी लिखते हैं कि "देहाभिमानके घेरनेसे मनकी प्रवृत्ति सदा ऐसी हो जाती है कि मनुष्य अपनेको वृथा बड़ा समझने लगता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं धनिक हूँ, मैं राजा हूँ, इत्यादि। विषयोंमें अनुराग होनेके कारण वह महल, भूषण, वाहन आदिके पानेके लिये बड़े-बड़े संकल्प किया करता है और बहुतसे कामोंके करनेका संकल्प करता है जिससे देहाभिमान और भी बढ़ता है। इसीसे उसे भयंकर, दुस्तर और अपार कहा।]

३ (ग) 'नक्र रागादि…' इति। विषयोंको भोगनेकी इच्छारूप प्राचीन वासनाजनित राग (आसक्ति) जीवमें अनिवार्यरूपसे बना हुआ है। विषय प्राप्त कर लेनेपर मनका उसके प्रति राग हो जाता है, विषयसेवनसे विषयोंके प्रति उत्कट राग प्रकट होता है। विषयभोगमें बाधा पड़नेसे 'द्वेष' भी अनिवार्य रूपसे बना ही रहता है। राग और द्वेष ही साधक मनुष्यको अपने वशमें करके जबरदस्ती अपने कामोंमें लगा देते हैं, जिससे साधक आत्मस्वरूपके अनुभवसे विमुख होकर नष्ट हो जाता है। राग-द्वेष दुर्जय शत्रु हैं, वे उसके आत्मज्ञान विषयक अभ्यासको छुड़ा देते हैं। (गीताभाष्य)। रागादिका जबरदस्ती साधकको अपने कामोंमें लगाकर उसे नष्ट कर डालना ही नक्रका जीवोंको खदेड़कर घसीटकर खा जाना है।

३ (घ) 'बीची बिकारं' इति। वायुके संबंधसे जलमें लहरें उठती हैं। इसी तरह मन का जब विषयसे संग होता है, तब संकल्प-विकल्प उठते हैं और संग छूटनेसे संकल्प-विकल्पका नाश होता है। यहाँ मन वायुरूप है।—विशेष ऊपर (ख) में देखिए। मनको वायुकी उपमा दी जाती है, यथा 'वायोरिव सुदुष्करम्। गीता ६।३४।', 'वायुर्नावमिवाम्भसि॥ गीता २।६७।'

हमने 'मनोरथ, संग और संकल्प' तीनोंको लहरोंका विलास माना है। 'संग' स्वयं प्रबल विकार है। जिन्होंने इन्द्रियोंका संयम कर लिया है, उनके हृदयमें भी (अनादि पापवासनाके कारण उसके द्वारा) विषयोंका चिन्तन होना अनिवार्य हो जाता है। शब्दादि विषयोंकी बारम्बार आलोचना करते रहनेसे उन विषयोंमें फिरसे आसक्ति (प्रीति) उत्पन्न हो जाती है। इसीका नाम 'संग' है। गीतामें भगवान्ने यही कहा है—'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। २।६२।' संग होनेपर मनोरथ होता है और तब वह उसके लिये संकल्प करता है। इस तरह संग स्वयं एक स्वतन्त्र भाव है जो आत्माका उच्छेद्य बंधन है। यथा 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मानः कवयो विदुः। भा० ३।२५।२०।' अर्थात् विवेकी पुरुष संगको ही आत्माका उच्छेद्य बंधन मानते हैं।

☞ यहाँ तक प्रवृत्तिरूपिणी लंकाका वर्णन हुआ। पंचकोश उसके सुन्दर मन्दिर हैं और सत्व रज तम प्रधान रक्षक सेनापति हैं। राग-द्वेषादिसे पूर्ण तथा संग, मनोरथ और संकल्परूपी वीचिविलाससे युक्त देहाभिमान-सागरसे दृढ़ देखकर मोह यहाँ राज्य करता है।

नोट—५ वैजनाथजी 'मनोरथ संग संकल्प' का अर्थ 'मनोरथके साथ जो संकल्प है।'—ऐसा करते हैं। वे लिखते हैं कि—"मनकी चाह पवन है, जो अभिमान-सागरमें लगकर मनोरथ-प्राप्तिमें संकल्प उठाता है कि यह कार्य मैं निश्चय करूँगा—यही लहरोंका उठना है। अहंकार और मन ये दो अन्तःकरण विकारमय हैं, जो समुद्रवत् प्रवृत्तिके रक्षक हैं। अहंकारके षट् अंग हैं—मान, क्रोध, ईर्ष्या, पारुष्य, उपहिंसन और दृढ़ वैर। यथा जिज्ञासापञ्चके—'मानः क्रोधश्च ईर्षाच पारुष्यमुपहिंसनम्। दृढ़ वैराग्यहंकारे वर्त्तते लक्षणानि षट्॥'—इनमें मान और वैर अभिमान-सागरके किनारे हैं, क्रोध भयंकरता है, ईर्षा अगाधता है, पारुष्य दुस्तरता है और हिंसा अपारता है। मनके भी छः अंश हैं–कर्म, अकर्म (परधनपरदाराहरण आदि), विकर्म (विशेष कुत्सित कर्म। जैसे परधनापहरणमें साधुके धनका अपहरण), संकल्प (निश्चयही यह कार्य करूँगा), और विकल्प (यह न करूँगा)। यथा—'कर्माकर्म विकर्मादावनियमेन वर्तते। संकल्पश्च विकल्पश्च मनसो बहुशो यथा॥' (जिज्ञासापंचके) इन छः अंशोंमेंसे संकल्प और विकल्प ये दो अंश लहरें हैं जो तरने-

वालेको डुबा देती हैं और शेष कर्म अकर्म आदि चार अंशमय मनोरथ नक्र आदि हैं जो खा जाते हैं।"

परन्तु इस पदमें कविने अभिमान और अहंकारको दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ वा भाव माने हैं। अभिमानमेंसे देहाभिमानको सागर और आगे चलकर अहंकारको मोहदशमौलिका भाई कुम्भकर्ण कहा गया है।

४ (क) 'मोह दसमौलि' इति। वस्तुके यथार्थ (स्वरूपके) बोधका नाम ज्ञान है। ज्ञानके विरोधी विपरीतज्ञानका नाम 'मोह' है। इसीको 'धर्ममूढत्व' कहते हैं। यथा 'मोहः विपरीतज्ञानम्' (गीता १४।१३ भाष्य), 'मोहो हि धर्ममूढत्वं' (म० भा० वन० ३१३।६४)। प्रकृतिमें आत्माभिमान कर लेना, 'समस्त चेतनाचेतन वस्तु परमात्माका शरीर होनेसे वही जिसका आत्मा है, उसे अतद्रूप मान लेना अर्थात् उसीका स्वरूप न मानना', 'वस्तुके यथार्थ स्वरूपको न समझना' इत्यादि मोह है। यह (मोह) ही अत्यंत अल्प फलकी आसक्तिका हेतुभूत है, शरीरादिमें आत्माभिमानरूप तथा उससे होनेवाले ममतादि दोषोंका स्थानरूप है। इसीके कारण दम्भ-मान-मदादिसे युक्त होकर मनुष्य दुष्प्राप्य विषयोंकी कामना लेकर उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे अन्याययुक्त कुत्सित भोग वस्तुओंका संग्रह करके उन्हें बलपूर्वक बर्तते हैं। मोहग्रस्त—'बिना प्रारब्ध और ईश्वरकी सहायताके हम अपने आपही सब कुछ कर सकते हैं'—इस प्रकारके अनेकों संकल्प करते हुए भोगोंके उपभोगमें अत्यंत आसक्त रहते हैं। (गीताभाष्य २।५२; ४।३५; १६।१०,१६; १८।७३)।

रावणमें उपर्युक्त सभी लक्षण थे। मारीच, विभीषण और मन्दोदरी आदिने उसे परमात्माका ज्ञान कराया, परन्तु उसने किसीकी न मानी। मंदोदरीद्वारा 'चराचररूप राम भगवान्' का स्वरूप सुनकर उलटे उसीको मोहग्रस्त कहा। यथा 'अहो मोह महिमा बलवाना। ६।१६।१।' और फिर भगवान्‌की उस महिमाको अपनी ही महिमा मान ली। यथा 'एहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई। ६।१६।६।' —यह विपरीत ज्ञानका स्वरूप है। कुंभकर्ण, मेघनाद और अतिकाय आदिसे युक्त होकर रावणने अन्यायसे भोगोंका संग्रह किया और उनके उपभोगमें आसक्त था।—'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास। ६।१०।' रावण मोहवश था; इसीसे लोगोंने उससे मोह

छोड़नेको कहा था। यथा 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस। ५।३९।' (यह पुलस्त्यजीने विभीषण द्वारा कहलाया था), 'महामोह निसि सूतत जागू। ६।५५।७।' (कालनेमिने कहा था)।

रावण असुरोंका राजा है। मोह आसुर-संपदाका राजा है। जिन आचरणोंको करनेके लिए असुरोंकी उत्पत्ति होती है, वे सब आसुर-संपदाके अन्तर्गत हैं। काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, दंभ, मद, मान, मत्सर आदि सब आसुरी संपदा हैं। मोह इन सबका मूल है। मायाके परिवार और सेनाकी गणनामें तथा मानसरोगोंके वर्णनमें गोस्वामीजीने इसीका नाम प्रथम दिया है। यथा 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही' से 'सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड' तक (७।७०।७ से। ७।७१ तक), 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।' (७।१२१।२९-३७)। सबका मूल होनेसे यही राजा है। रावणकी सेना धर्मको निर्मूल करती थी, वैसे ही मोहकी सेनाका प्रत्येक भट विवेकके कटकका नाश करनेमें लगा रहता है। यथा 'कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू। छन महँ मिटे सकल श्रुतिसेतू॥' 'सभय विवेक कटकु सबु भागा। १।८४।' विभीषण जब श्रीरामजीके शरणमें आये, तब भगवान्ने उन्हें रावणसे लड़नेका सामर्थ्य दिया और उनके शत्रुको मार डाला। वैसे ही जीव जब भगवच्छरणागत होता है, तब भगवान् उसे मोहसे लड़नेके लिये विवेक, वैराग्य आदि देते हैं, जिससे वह मोहको जीत सके, उसके अन्तःकरणमें बसकर उसको जय दिलाते हैं। यथा 'सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन-आश्रित चित चाऊ॥ जीति मोह महिपालु दल-सहित विवेक भुआलु। २।२३५।'

रावण स्वयं बलवान था, उसका परिवार अपार था, उसकी सेनाका प्रत्येक भट अकेले ही जगत्को जीत सकता था। यथा 'एक-एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।' वैसे ही मोहका परिवार भी बड़ा है,—'ए असाधि बहु रोग' (७।१२१)। सेना सब प्रबल है,—'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। ३।४६।' सभी जगत्को जीत सकते हैं। यथा 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही', 'को जग काम नचाव न जेही', 'तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा', 'केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा।', 'केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार',

'श्री मद बक्र न कीन्ह केहि', 'मत्सर काहि कलंक न लावा' (७।७०-७१)।—इत्यादि साम्य होनेसे 'मोह' को 'दशमौलि' कहा।

४ (ख) 'तदृ भ्रात अहंकार' इति। कुम्भकर्ण रावणका सहोदर भ्राता है। इसी प्रकार अहंकार मोहका छोटा भाई है। कुंभकर्ण रावणका परमबल है। रावणको उसके बलका भारी भरोसा और गर्व था; यथा 'कुंभकरन अस बंधु मम। ६।२७।'; वैसे ही अहंकार मोहका परम बल है। 'अहं' 'मम' 'अहमस्मि' ही मोहका बड़ा सहारा है, इसके रहते मोहका नाश नहीं होता, इसके नाशपर ही मोहका नाश होता है; जैसे कुम्भकर्णके मारे जानेपर ही रावण मारा गया था।

'अहं' भाव होना ही अहंकार है। गुणोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंमें 'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा मानना अहंकार है। अहंकारी पुरुष कहता है कि मुझे दूसरोंकी अपेक्षा नहीं, मैं अकेलेही सब कुछ कर सकता हूँ, उसे अपने बलका गर्व होनेसे यह दर्प रहता है कि मेरे समान कोई नहीं है।—'अनन्यापेक्षः' अहम् एव सर्वं करोमि इति एवं रूपम् अहङ्कारम्...' (गीता भाष्य १६।१८)। इसका प्राबल्य 'प्रबल अहंकार' ५६ (६ ख) में दिखाया गया है। अहंकारी पुरुष शत्रुके बलकी प्रशंसा नहीं सह सकता।

कुंभकर्णमें अहंकारके उपर्युक्त सभी लक्षण थे। उसने रावणसे कहा है—शत्रुओंसे जूझनेके लिए तुम्हें दूसरे किसीकी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी जीवित रहनेकी इच्छावाला पुरुष मेरे सामने नहीं ठहर सकता। मेरे रहते हुए तुम क्यों चिन्ताग्निमें जल रहे हो, मैं तुम्हारे शत्रुओंका अभी जाकर नाश करके आज ही अलौकिक महान् यश प्रदान करना चाहता हूँ। मेरे कुपित होनेपर देवता, यम, सर्वभक्षी अग्नि, नक्षत्रसहित सूर्य, इन्द्र आदि सभी धराशायी हो जायँगे। यदि सारी त्रिलोकी आहार बन जाय तो भी मेरा पेट नहीं भर सकता। मेरे बलपर अब तुम मौज करो। * (वाल्मी०

---

* 'न परः प्रेक्षणीयस्ते युद्धायातुलविक्रम। ४२।...न मे प्रतिमुखः कश्चित् स्थातुं शक्तो जिजीविषुः। ४६।...चिन्तया तप्यसे राजन् किमर्थं मयि तिष्ठति। ४८। सोऽहं शत्रुविनाशाय तव निर्यातुमुद्यतः।...न त्विदं त्रिदिवं सर्वमाहारो मम पूर्यते। ५६।' (वाल्मी० ६।६३)

६।६३ पूरा सर्ग देखिए)। महोदरने शत्रुकी प्रशंसा की, इसपर कुम्भकर्णने उसको फटकारा था। (सर्ग ६५)।

हनुमन्नाटकमें उसने रावणसे कहा है—'कः कालः को विधाता किमरिकुलभयं को यमः के च याम्याः। को रामः के कपीन्द्राश्चलति मयि रणे रोषिते कुम्भकर्णे ॥ ११।२२।' जिस समय कुम्भकर्ण क्रोधित होकर रणमें चलेगा। उस समय क्या काल है ? क्या विधाता है ? क्या शत्रुकुलका भय है ? इत्यादि। मानसमें भी कहा है—'रन मद मत्त निसाचर दर्पा। बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा। ६।६६।५।'—

यही सब अहंकारका स्वरूप है। ब्रह्मज्ञान होनेपर भी अहंकार उस ज्ञानको भुला देता है। कुम्भकर्णको ब्रह्मका ज्ञान था, फिर भी अहंकारवश वह ज्ञान नष्ट हो गया। अहंकारके आश्रित लोग भगवान्‌से द्वेष करते हैं। यथा 'अहंकारं...संश्रिताः। मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः। गीता १६।१८।' —इत्यादि। अतः कुम्भकर्णको अहंकार कहा गया।

पुनः, अहंकार भयरूप है [†]। कुम्भकर्ण भी भय रूप ही था, उसे देखते ही वानरोंमें भगदड़ मच गई थी। यथा 'प्रेक्ष्य भीमाक्षमायान्तं वानरा विप्रदुद्रुवुः। वाल्मी० ६।६६।३।'

[अहंकारको कुम्भकर्ण और आगे ज्ञानको सुग्रीव कहकर जनाया कि अहंकार इतना प्रबल है कि समस्त साधनोंको विफल कर ही देता है, ज्ञानको मौका पाकर दबा लेता है। परन्तु ज्ञान जब सजग हो जाता है तब अहंकारकी नाक कान उसी तरह काट लेता है जैसे कि सुग्रीवने कुम्भकर्णकी नासिका और कान सजग होते ही काट लिये थे। (वे० भू० पं० रा० कु० दा०)]

४ (ग) 'पाकारिजित काम०' इति। काम भी प्रवृत्तिमार्गका युवराज है। कोई भी प्रवृत्ति बिना काम (कामना) के नहीं होती; यथा 'नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः' (म० भा० आश्व० १३।६)। मोह इसके बलपर टिका रहता है, सर्वत्र जय प्राप्त करता है। काम अत्यन्त दुर्जय शत्रु है, इसे ज्ञानका शत्रु कहा है; यथा—'बोधरिपु मारा।१२५।'

[†] 'इति दद्यामिति यज इत्यधीय इति व्रतम्। इत्येतानि भयान्याहुस्तानि वर्जयानि सर्वशः।' (म० भा० आदि० ९०।२६)।

यह भगवान् शङ्कर-जैसे समर्थकी भी समाधि छुटा देता है तब दूसरे जीवोंकी बात ही क्या ? यह अपनेको सबसे अवध्य मानता है—(आगे 'कामगीता' में इसका प्राबल्य देखिए)। मानसमें भी कहा है—'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे। १।२५७।१।', 'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे। २।२५।४।', 'कोपेउ जबहिं बारिचर केतू। छन महँ मिटे सकल श्रुति-सेतू। १।८४।६।' से 'धरी न काहू धीर सबके मन मनसिज हरे। १।८५।' तक।

वैसेही मेघनाद रावणका ज्येष्ठ पुत्र और युवराज है। इन्द्रने रावणको चारों ओरसे घेरकर युद्धसे विमुख कर दिया था। तब पिताको इन्द्रके चंगुलमें फँसा देख मेघनादने अपनी महामाया द्वारा अदृश्य होकर इन्द्रपर आक्रमण करके मायासे उनको बाँधकर बन्दी बनाकर पिताके सामने लाकर खड़ा कर दिया। उस समय रावणने कहा कि तुम मेरे कुल और वंशके यश और सम्मानकी वृद्धि करनेवाले हो।—'मम कुलवंशविवर्धनः प्रभो' (वाल्मी० ७। २९।४८।')। मेघनादने रावणको चिन्तित देखकर कहा भी था 'न तात मोहं परिगन्तुमर्हसे यत्रेन्द्रजिज्जीवति···।' जबतक इन्द्रजित् जीवित है तबतक आप चिन्ता और मोहमें न पड़िये। (वाल्मी० ६।७३।४)। यह महामायावी राक्षस सभी प्राणियोंके लिये अवध्य था, यह अगस्त्यजीने श्रीरामजीसे कहा है।—'अवध्यः सर्वभूतानां महामायाधरो युधि।' (वाल्मी० ७।१।३०)। जैसे कामके सम्मुख 'धरी न काहू धीर', वैसे ही मेघनादके सामने किसीका धैर्य न रह जाता था। यथा 'जेहि न होइ रनसनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई। १।१८०।८।' नित्यही भगदड़ मची रहती थी। यही विश्रामका हरना है। जैसे काम स्त्रियों द्वारा बढ़ता है, मेघनाद भी 'रक्ष्यमाणो वरस्त्रीभिश्छन्नः काष्ठैरिवानलः' स्त्रियोंसे सुरक्षित हो काष्ठसे आच्छादित हुई अग्निके समान बढ़ने लगा। वाल्मी० ७।१२।३२।'—इत्यादि साम्य होनेसे कामको पाकारिजित् कहा।

४ (घ) 'काम बिश्रामहारी' इति। 'बिश्रामहारी' कथनमें भाव यह है कि 'इस जीवकी आसक्ति शरीरमें हो जानेसे यह संसार-वनमें क्रीड़ा करता हुआ पुत्र और स्त्रीके स्नेहपाशमें बँध जाता है। इसमें मैथुनकी वासना इतनी बढ़ जाती है कि तरह-तरहके दुर्व्यवहारोंसे दीन

होनेपर भी यह विवश होकर अपने बंधनोंको तोड़नेका साहस नहीं कर सकता।' कामाग्निसे संतप्त होनेपर रातभर नींद नहीं आती और दिनमें भी अर्थोपार्जनकी चिन्तासे सुख कहाँ?—'रात्रौ न कुरुते निद्रां कामाग्निपरिखेदितः। दिवा वापि कुतः सौख्यमर्थोपार्जनचिन्तया। प० पु० भूमि० ६६।११०।' भुशुण्डीजीने भी कहा है—'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं ७।६०।१', 'को जग काम नचाव न जेही। ७।७०।७।'

काम कैसा प्रबल है, यह म० भा० आश्व० १३।१२–१८ में 'कामगीता' नामसे इस तरह दिखाया है,—"कामना कहती है—'कोई भी प्राणी वास्तविक उपाय (निर्ममता और योगाभ्यास) का आश्रय लिये बिना मेरा नाश नहीं कर सकता। जो मनुष्य अपनेमें अस्त्रबलकी अधिकताका अनुभव करके मुझे नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, उसके उस अस्त्रबलमें मैं अभिमानके रूपमें प्रकट होती हूँ। जो नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंके द्वारा मुझे मारनेका उद्योग करता है उसके चित्तमें मैं वैसे ही उत्पन्न होती हूँ, जैसे उत्तम योनियोंमें धर्मात्मा। जो वेद और वेदान्तके स्वाध्यायरूप साधनोंके द्वारा मुझे दबानेकी कोशिश करता है, उसके मनमें मैं स्थावर प्राणियोंमें जीवात्माकी भाँति अव्यक्तरूपसे निवास करती हूँ। जो सत्यपराक्रमी पुरुष धैर्यके बलसे मुझे मिटानेका यत्न करता है उसके मानसिक भावोंके साथ मैं इतनी घुल-मिल जाती हूँ कि वह मुझे पहचान नहीं पाता। जो उत्तम व्रतका आचरण करनेवाला पुरुष तपस्या के द्वारा मेरे अस्तित्वको मिटानेका प्रयास करता है, उसकी तपस्या हीमें मैं प्रकट हो जाती हूँ। जो मोक्षकी अभिलाषा रखकर मेरे विनाशका यत्न करता है, उसकी मोक्षके प्रति आसक्तिका विचार करके मुझे हँसी आती है तथा मैं खुशीके मारे नाचने लगती हूँ। मैं प्राणियों के लिये अवध्य एवं सदा रहनेवाली हूँ।—'अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः। श्लो० १८।'"—(कामगीता)।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि "वयोवृद्ध जाम्बवान्‌ने युवक मेघनादको किसी तरह मूर्च्छित तो कर दिया, किन्तु मार डालनेमें समर्थ न हुए। युवक लक्ष्मणजी भी उसके द्वारा मूर्च्छित कर दिये गए, जब भगवत्कृपाका आश्रय लेकर दुबारा लड़ने गए, तब मेघनादको मार सकें। इसी तरह प्रवृत्ति दुर्गमें वृद्धावस्थामें भी कामका सर्वथा नाश नहीं होता, अशक्तता आदिके कारण मूर्छित (प्रसुप्त) भले

ही रहे। और, अपने बलपर निर्भर रहनेवाले प्रबलतम साधकको भी काम पछाड़कर मूर्च्छित कर देता है; परन्तु वही साधक जब भगवत्कृपाका आश्रय ले लेता है तो पूर्ण युवावस्थामें भी कामको मार डालनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है।"

४ (ङ) 'लोभ अतिकाय' इति। अतिकाय रावणका पुत्र है। इसका नाम ही बड़ा विशाल शरीरका सूचक है।—'यश्चैष विन्ध्यास्तमहेन्द्रकल्पो···नाम्नातिकायोऽतिविवृद्धकायः। वाल्मी० ६।५६।१६।' इसके शरीरकी विशालता देखकर वानरोंने यही माना कि यह कुंभकर्ण ही फिर उठकर खड़ा हो गया है,—'ते दृष्ट्वा देहमाहात्म्यं कुम्भकर्णोऽयमुत्थितः। वाल्मी० ६।७१।७।', 'यथा विष्णोस्त्रिविक्रमे'(श्लो. ८) जैसे वामन भगवान्‌का विराट् शरीर हो। इसके बाहुबलका आश्रय लेकर लंकापुरी सदा निर्भय रहती आई है।—'यस्य बाहुं समाश्रित्य लङ्का भवति निर्भया। ७१।३०।' ब्रह्माजीने इसे अनेक दिव्यास्त्र दिये थे और देवता एवं असुरोंसे अवध्य कर दिया था। (श्लो० ३१-३२)। यह वानरसेनाके बीचमें घुसता हुआ श्रीराम-लक्ष्मणके समीप जा पहुँचा और बड़े दर्पके वचन कहे—'मैं साधारण प्राणीसे युद्ध नहीं करता, जिसमें शक्ति, साहस और उत्साह हो, वह मुझे युद्धका अवसर दे' (श्लो० ४५)। श्रीलक्ष्मणजीने इसे युद्धमें मारा।

लोभसे प्रवृत्ति सदा निश्चल बनी रहती है। इसके विस्तारका अन्त नहीं। दशों दिशाओंका राज्योपभोग करनेपर भी मनुष्यके लोभका अन्त नहीं होता,—'जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः। भा० ७।१५।२०।' जैसे बहुतसे गहरे जलवाली नदियोंके मिल जानेसे भी समुद्र नहीं भरता, वैसेही कितने ही पदार्थोंका लाभ होनेपर भी लोभका पेट कभी नहीं भरता, यह कभी तृप्त नहीं होता। मनुष्यके वृद्ध हो जानेपर भी यह जीर्ण नहीं होता—"···न जीर्यति जीर्यतः। यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह॥ नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः।···(म० भा० शान्ति १५८।१२-१३)।' लोभका मूलकारण मोह है, लोभके बढ़नेसे मोह अधिक बढ़ता है। जैसे अतिकाय रावणका पुत्र है और उसके बलसे रावण अधिक बलवान है।—'मूलं लोभस्य मोहो' (१५६।११)।

लोभका स्वरूप इस प्रकार है,—लोभ पापका अधिष्ठान है। उसकी प्रेरणासे प्राणीको वैराग्य नहीं होता। उससे प्रेरित होकर

ाणी नहीं करने योग्य नीच कर्म भी कर डालते हैं,—'अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।' (म० भा० आश्व० ३१।६)। लोभी पहले राजस गुणोंको पाता है, फिर तामसिक गुण अधिक मात्रामें आ जाते हैं। इन गुणों द्वारा देह-बंधनमें जकड़कर वह बारम्बार जन्म लेता है; —'स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः पुनः पुनर्जायति···। श्लो० ११।'—यही सुप्रवृत्ति-लंकादुर्गका इसके बलपर निर्भय रहना है। लोभसे तृष्णा होती है।—'लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते। श्लो० १०।' और तृष्णा भवका चलानेवाला है—'तृष्णया भववाहिन्या। भा० ७।१३।२३।' समस्त विषयोंकी स्पृहाका नाम तृष्णा है;—'तृष्णा शब्दादिसर्वविषयस्पृहा' (गीताभाष्य) । इसीके कारण सुप्रवृत्तिसे वैराग्य नहीं होता ।

४ (च) मत्सर 'महोदर दुष्ट' इति। पराया हित, मान, बड़ाई आदि देखकर हृदयमें जलन, डाह और असहनशीलताकी प्रवृत्तिका नाम 'मत्सर' है,—'हृत्तापो मत्सरः स्मृतः। म० भा० वन० ३१३।९८।' 'देखि न सकहिं पराइ बिभूती। २।१२।६।', 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी। ७।३९।३।' (यह दुष्टोंका स्वभाव है)।

महोदर नामके दो सेनापति थे। एक तो वह जो नीलके द्वारा मारा गया। यह रावणका भाई था; यथा 'पितृव्यं निहता दृष्ट्वा त्रिशिराश्चापमाददे। वाल्मी० ६।७०।३३।' (अपने चाचाको मरा हुआ देख त्रिशिराके क्रोधकी सीमा न रही)। दूसरा महोदर वह है जिसका वध सुग्रीवने किया। मेघनाद और कई मन्त्रियोंका वध हो जानेपर रावणने इससे कहा—'महाबाहो! इस समय मेरी विजयकी आशा तुमपर ही अवलम्बित है। आज अपना पराक्रम दिखाओ। यही स्वामीके अन्नका बदला चुकानेका समय है।' (वाल्मी० ६।९७।४-५)। यह रावणका मन्त्री था। यह बड़ा दुष्ट था।

कुंभकर्णके जगाये जानेपर जगानेका कारण ज्ञात होनेपर जब कुम्भकर्णने कहा कि मैं अभी जाकर सबको परास्त करके रावणका दर्शन करूँगा। तब महोदरने कहा कि पहले रावणके

पास चलकर उसकी बात सुनकर गुण-दोष विचारकर युद्धमें जाइयेगा। (सर्ग ६०।७६-८३)। फिर रावणको उसके कुकृतियोंके लिए उपालम्भ देकर फिर उसे धैर्य बँधाते हुए जब कुम्भकर्णने युद्धविषयक उत्साह प्रकट करते हुए कहा कि मैं अकेले ही सबका वध कर डालूँगा (सर्ग ६३), तब भी वह सह न सका और कहा कि तुम ढीठ हो, घमण्डी हो, तुम्हें कर्तव्यका ज्ञान नहीं, इत्यादि। (६।६४।२-१८)। मैं ऐसी युक्ति बताता हूँ कि बिना युद्ध किये अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जाय। उसने जो युक्ति कही वह छल, कपट और दुष्टतासे भरी थी। सर्ग ६४।२१-३५ में पाठक देख सकते हैं। कुम्भकर्णने फिर इसे बहुत फटकारा है। इसका मत्सर इस व्यवहारसे स्पष्ट है। पाकारिजित्‌के पश्चात् इसका उल्लेख होनेसे यही महोदर मन्त्री यहाँ अभिप्रेत है।

मत्सरको दुष्ट महोदरकी उपमा दी, क्योंकि मात्सर्यकी उत्पत्ति सत्यके त्याग और दुष्टोंका साथ करनेसे होती है, यथा 'सत्यत्यागात् तु मात्सर्यमहितानां च सेवया।' (म० भा० शान्ति १६३। १५)। सत्पुरुषोंकी सेवामें रहनेसे इस दोषकी निवृत्ति होती है। खलोंके ही हृदयमें मत्सर रहता है।

४ (छ) 'क्रोध पापिष्ठ विबुधांतकारी' इति। क्रोध दुर्जय शत्रु है,—'क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुः' (म० भा० वन ३१३।९२)। इससे यज्ञ, दान, तप आदि सभी सद्‌गुणरूपी कर्म-धर्म निष्फल हो जाते हैं, लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। —'क्रुद्धस्य निष्फलान्येव दानयज्ञ-तपांसि च।'''क्रोधस्य यो वशं गच्छेत् तस्य लोकद्वयं न च। पुत्रभृत्य-सुहृन्मित्रभार्या धर्मश्च सत्यता। तस्यैतान्यपयास्यन्ति क्रोधशीलस्य निश्चितम्।' (म० भा० आदि ७९।७), 'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी। ४।१५।४।' यह सम्पूर्ण पापोंका मूल है। यथा 'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोधु पापकर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं विश्व प्रतिकूल। १।२७७।'

'देवान्तक' का जैसा नाम था वैसा ही गुण उसमें था, नामसे ही देवशत्रु होना स्पष्ट है। यह भी रावणका पुत्र, इंद्रसमान पराक्रमी, रावणका एक प्रमुख योद्धा और देवताओंका शत्रु था।'यथा 'रावणस्य सुता वीराः शक्रतुल्यपराक्रमाः। वाल्मी० ६।६९।१०।', 'तस्मिन् हते राक्षसयोधमुख्ये महाबले संयति देवशत्रौ। वाल्मी० ६।७०।२४'

(अर्थात् राक्षस-योद्धाओंमें प्रधान महाबली देवद्रोही देवान्तकके मारे जानेपर)। .देवताओंका शत्रु होनेसे उसे पापिष्ठ कहा। यथा 'देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी। १।१८३।३।'

क्रोध मोहकी सेनाका एक प्रमुख प्रबल योद्धा है; यथा 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। ३।४३।'; यह 'मुनि विज्ञान-धाम' के मनमें निमिषमात्रमें क्षोभ उत्पन्न कर देता है। (३।३८)। यह सद्गुणोंका नाशक है (यह ऊपर दिखाया गया है), सद्गुणोंको सुरगणोंकी उपमा दी गई है; यथा 'सदगुन सुरगन अंब अदिति-सी। १।३१।१४।' अहिंसा, सत्य, दया, दान, तप आदि सभी धर्म दैवी सम्पदा हैं और क्रोध आसुरी सम्पदा है। (गीता १६।१-४)। वैसे ही देवान्तक रावणका एक प्रमुख योद्धा, देवताओंका शत्रु और असुर है। क्रोध पापका मूल और यह पापिष्ठ। इत्यादि दोनोंमें साम्य है।

५ (क) 'द्वेष दुर्मुख' इति। 'दुर्मुख' नामक राक्षसकी चर्चा वाल्मी० युद्ध सर्ग ८ में आई है। श्रीहनुमान्‌जी द्वारा लंकादहन होनेसे तथा श्रीरामजीका सेनासहित समुद्रतटपर पड़ाव डालना सुनकर रावणने प्रथम-प्रथम जो मन्त्रियोंकी सभा की, उसमें यह भी था। इसने रावणसे कहा था कि "यह (लंकादहन आदि) क्षमा करने योग्य अपराध नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा हम सब लोगोंका तिरस्कार हुआ है। वानरके द्वारा हम लोगोंपर जो आक्रमण हुआ है, वह समस्त लंकापुरीका, महाराजके अन्तःपुरका और श्रीमान् राक्षसराज रावणका भी भारी अपमान है। मैं अभी अकेला जाकर सबको मार भगाऊँगा।"—'अब्रवीत् तु सुसंक्रुद्धो दुर्मुखो नाम राक्षसः। इदं न क्षमणीयं हि सर्वेषां नः प्रधर्षणम्। ६।' (श्लो० ६–८)। फिर सर्ग ९ में अन्य सेनापतियोंके साथ भी इसका नाम है—'ततो निकुम्भो रभसः सूर्यशत्रुमहाबलः।…धूम्राक्षश्चातिकायश्च दुर्मुखश्चैव राक्षसः। १-३।' अत्यन्त कुपित हो अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए इसने रावणसे कहा है कि हम आज ही राम, सुग्रीव, लक्ष्मण और हनुमान्‌को मार डालेंगे।

विषयोंके प्रति उत्कट राग होनेपर उसकी प्रतिकूलतामें द्वेष होता है। द्वेष होनेपर द्वेषीके मुखसे ऐसे ही वचन निकलते हैं—'इदं न क्षमणीयं।' और वह सदा कुपित होकर बोलता है।

मानसमें 'कुमुख अकंपन अरु अतिकाया। बिचलत सेन कीन्हि इन्ह माया। ६।४५।१०।'-वाला 'कुमुख' ही 'दुर्मुख' है। द्वेषीका मुख भी बुरा दिखता है। 'दुर्मुख' (बुरे मुखवाला)-शब्द ही अपने उपमानकी योग्यता सूचित कर रहा है।

५ (ख) 'दंभ खर' इति। अपनेको झूठ-मूठ बड़ा धर्मात्मा प्रसिद्ध करने, धार्मिकताकी प्रसिद्धिके लिये धर्मानुष्ठान करने अर्थात् धर्मध्वजीपनका नाम 'दंभ' है।—'धर्मो ध्वजोच्छ्रयः' (म० भा० वनः ३१३।१००), 'दम्भः धार्मिकत्वख्यापनाय धर्मानुष्ठानम्' (गीताभाष्य १६।४), 'दम्भो धर्मध्वजित्वम्' (शांकरभाष्य)। मानसमें दंभीके लक्षण ये मिलते हैं,—उसे नीति अच्छी नहीं लगती, वह अपनी बुद्धिसे कल्पना करके नया पंथ चलाता है, मिथ्यारंभी होता है, नीति सिखानेवालेपर क्रोध करता है। यथा 'मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई ७।१०५।', 'दंभिन्ह निजमति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ।७।९७।', मिथ्यारंभ दंभरत जोई। ७।६८।४' दम्भी वहीं चमचमाते हैं जहाँ मोहान्धकार फैला है। यथा 'निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा। ४।१५।३।'

'खर' राक्षस एक तो वह था जो जनस्थानमें शूर्पणखाके साथ रहता था और जिसका वध अरण्यकांडमें हो चुका था। यहाँ 'कुवृत्ति लंकादुर्ग' के निवासियोंका वर्णन चल रहा है और जीवरूपी विभीषणकी, जो इन दुष्टोंके बीचमें बसा हुआ है उसकी, इनसे रक्षाकी प्रार्थना इस पदमें की जा रही है। अतः यह स्पष्ट है कि जो विभीषण-शरणागतिके समय लंकामें थे और जीवित थे, उन्हींसे रक्षाकी प्रार्थना है। अतएव दासकी समझमें तो यह 'खर' नामक राक्षस उस 'खर' से भिन्न कोई दूसरा है जो लंकामें रहता था। जैसे मरे हुए विद्युज्जिह्व और त्रिशिरा नामके ही दूसरे दो राक्षस लंकामें थे, वैसे ही 'खर' नामका भी होगा। 'तीक्ष्णवेग' राक्षसका ही 'खर' नाम चाहे हो। अस्तु।

'खर' राक्षसमें दंभके लक्षण होंगे। उसे विभीषण, माल्यवान् आदिकी नीति न भाई होगी, इत्यादि। (वैजनाथजीने जनस्थानवाले 'खर' को 'दंभ' मानकर उसका बृहत् रूपक लिखा है)।

५ (ग) 'कपट अकंपन' इति। 'अभिप्राय साधनके लिए हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्ति' का नाम 'कपट' है। (श० सा०)।

यथा 'कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुति समेत। नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत। १।१६०।', 'नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा। १।१५६।५।'—(कपटी मुनिके पूछनेपर कि तुम कौन हो, राजाने अपनेको मन्त्री बताया। इसीको आगे कपट कहा गया है) यथा 'कइ तापस नृप जानौं तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही। १।१६३।८।' कालनेमिने श्रीहनुमान्‌जीको धोखा देनेके लिये मुनिवेष बनाया, इसीसे 'राच्छस कपट बेष तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा।' '६।५६।३।', 'कालनेमि कलि कपटनिधानू। १।२७।८।' कहा गया। कपट और दम्भमें मन और कर्मका भेद है। कपटमें भीतर कुछ होता है, बाहर कुछ और। यह मनमें होता है; यथा 'लखहिं न भूप कपट चतुराई।', 'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहसि नयन मुँह मोरी।' (२।२७।६,८)।' दम्भमें औरोंके दिखानेके लिए आडंबर होता है, यह प्रायः कर्म-द्वारा होता है। कपटीको पराया अकाज करके अपना काम बनाना प्रिय होता है; यथा 'कपट कुचालि सींव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू। २।३०२।१।', इसीसे यह 'मोह' को सहायता करनेमें एक उत्तम योद्धाके समान है। कपटद्वारा तापसने भानुप्रतापको, मंथराने केकयीको और केकयीने श्रीदशरथजीको मोहकर अपना कार्य साधा। कपटका अर्थ माया भी है।

'अकंपन' को 'कपट' कहा। इसने रावणको कपट सिखाया था। इसने रावणसे कहा था कि 'राम' को राक्षस-जगत् भी युद्धमें नहीं जीत सकता, समस्त देवता और असुर मिलकर भी उन्हें नहीं मार सकते। उनके वधका एक ही उपाय है। वह यह कि जिस किसी भी उपायसे बन सके उससे श्रीरामको धोखेमें डालकर उनकी पत्नीका अपहरण कर लो। पत्नीके वियोगसे वे कदापि जीवित नहीं रहेंगे।—'तस्यापहर भार्यां त्वं तं प्रमथ्य महावने। सीतया रहितो रामो न चैव हि भविष्यति। वाल्मी० ३।३१।३१।'—इसीसे रावणने मारीचको कपट-कुरंग बनाया; यथा 'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी। ३।२४।२।' और स्वयं यती बना। यथा 'सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेषा। ३।२८।७।' जो कपटका मंत्र देता है, वह स्वयं भारी कपटी होता ही, इसमें सन्देह क्या? अतः कपटको अकंपन की उपमा दी।

'अकंपन' को महासमरमें देवता भी कम्पित नहीं कर सके थे, इसीसे इसका 'अकंपन' नाम हुआ। यह सम्पूर्ण शस्त्र-अस्त्रोंका ज्ञाता था। यथा 'नहि कम्पयितुं शक्यः सुरैरपि महामृधे। अकम्पनस्ततः…', 'सर्वशस्त्रास्त्रकोविदम्' (वाल्मी० ६।५५।८,२)। यह सदा रावणकी उन्नति चाहनेवाला उत्तम योद्धा था। यथा 'भूतिकामश्च मे नित्यं…। श्लो० ३।' (यह रावणने स्वयं कहा था)। मानसमें इसकी मायाका भी किंचित् उल्लेख है। यथा 'अनिप अकंपन अरु अतिकाया। बिचलत सेन कीन्हि इन्ह माया।…' (६।४५.१०-११)। इसने अपनी मायासे सबको धोखा देकर जीतना चाहा था। कपटियोंके वधमें कुशल श्रीहनुमान्जीने इसका वध किया।

५ (घ) 'दर्प मनुजाद' इति। जिसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य धर्मको अतिक्रमण कर जाता है, अन्तःकरणके आश्रित उस दोष-विशेषका, धन-परिवारादिके निमित्तसे होनेवाले हर्षका तथा हर्षके साथ होनेवाला और धर्मके उल्लंघनका कारण जो गर्व है उसका नाम 'दर्प' है। स्मृतिमें भी कहा है कि हर्षयुक्त पुरुष दर्प करता है, धर्मका उल्लंघन किया करता है। यथा 'दर्पो नाम यस्य उद्भवे धर्मम् अतिक्रामति सः अयम् अन्तःकरणाश्रयो दोष विशेषः।', 'दर्पो धनस्वजनादिनिमित्त उत्सेकः', 'दर्पो नाम हर्षानन्तरभावी धर्मातिक्रमहेतुः।', 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति इति स्मरणात्।'—(गीता शांकरभाष्य १६।१८,४;१८।५३)। पुनश्च कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकको नष्ट करनेवाले तथा विषयोंके अनुभवसे होनेवाले हर्षका नाम 'दर्प' है।—'दर्पः कृत्याकृत्याविवेककरो विषयानुभवनिमित्तो हर्षः।' (गीता रा० भा० १६।४)। दर्पी मनुष्य समझता और कहता है कि मेरे समान कोई भी नहीं है, सब कुछ करनेमें मेरा बल पर्याप्त है। यह भी आसुरसम्पदामेंसे एक है।

मनुजाद=मनुज (नर) का खानेवाला=नरान्तक। यह भी रावणका पुत्र था। यह दर्पका स्वरूप ही था। यह वानरोंकी सेनामें ग्रास लिये इस तरह घुस पड़ा जैसे मत्स्य महासागरमें, और अकेले ही सात सौ वानरोंको चीर डाला तथा क्षणभरमें वानरयूथपतियोंकी एक बहुत बड़ी सेनाका संहार कर डाला। वानरोंमें प्रधान-प्रधान वीर जबतक पराक्रम करनेका विचार करते, वृक्ष या पर्वतको उखाड़ते

तबतक उसके भालेकी चोट खाकर धराशायी हो जाते थे। वह वानरोंको रौंदता हुआ रणभूमिमें सब दिशाओंमें विचरने लगा। उसका प्रास इंद्रके वज्रको भी मात करनेवाला और यमराजके समान भयंकर था। वानरोंके झुण्डके झुण्ड धराशायी हो गये। वानर चीत्कार करने लगे। (वाल्मी० ६।६९।६६-७७)। तब सुग्रीवने अंगदको उसका सामना करनेके लिए भेजा और अंगदने उसका वध किया।

५ (ङ) 'मद सूलपानी' इति। अपने उत्तम कुल, रूप, विद्या, ऐश्वर्य आदिका अभिमान होनेसे मनुष्यपर 'मद' सवार हो जाता है। वह सदा दूसरेपर वार करनेको तैयार रहता है। अतः उसे 'शूलपाणि' कहा। शूलपाणि हाथमें शूल लिये हुए गर्वमें भरा हुआ दूसरेको दबानेको उद्यत रहता है, किसीको अपने सामने कुछ नहीं समझता। यह समता है। 'शूलपाणि' रावणके प्रधान सुभटोंमेंसे ही कोई होगा। वाल्मीकीयमें यह नाम मुझे नहीं मिला। हो सकता है कि 'त्रिशिरा' को ही यहाँ 'शूलपाणि' कहा हो। वाल्मी० ६।५९।१९ में विभीषणने बताया है कि बिजलीके समान चमचमाता हुआ और वज्रके वेगको अपना दास बनानेवाला तीक्ष्ण शूल जिसके हाथमें है,—'यश्चैष शूलं निशितं प्रगृह्य विद्युत्प्रभं किंकरवज्रवेगम्।', यह यशस्वी वीर 'त्रिशिरा' है। वह रावणका पुत्र था। श्रीहनुमान्‌जीने इसका वध किया। (वाल्मी० ६।६९।३३-४८)।

रावणकी बहिन कुम्भीनसीका लड़का लवणासुर था। इसको भगवान् शंकरकी कृपासे एक शूल (त्रिशूल) प्राप्त हुआ था जिसके कारण वह सबसे अजेय था। इसीलिए उसका नाम 'शूलपाणि' था। —परन्तु इसका नाम लंकाके युद्धमें सुना नहीं जाता। और यहाँ लङ्कादुर्गके राक्षसोंका ही रूपक सुप्रवृत्तिके मोह, अहंकार आदिसे बाँधा जा रहा है। लवणासुरकी कथा ४० (३ क) में आ चुकी है।

५ (च) 'अमित बल परम दुर्जय निसाचर निकर' अर्थात् निशाचर सुभटसमूह असीम बलवाला और दुर्जय था। यथा 'एक-एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।१।१८०।' निकर और निकाय पर्यायवाची हैं। जम्बुमाली, वज्रदंष्ट्र, सुप्तघ्न, तीक्ष्णवेग, विद्युज्जिह्व, द्विजिह्व, निकुम्भ, धूम्राक्ष और सुपार्श्व आदि अनेक महाबली

राक्षसोंके नाम विभीषणने गिनाये हैं जो मारे गये। (वाल्मी: ६।८६।१०-१४)।

५ (छ) 'सहित षडवर्ग गो जातुधानी' इति। रावण, मेघनाद और अकंपन आदि सभी राक्षसियोंमें रमण करते थे। जिन स्त्रियोंमें ये रमण करते थे, वास्तवमें वे सब राक्षसियाँ नहीं हैं। उनमेंसे विशेषकर देव, गंधर्व, किन्नर और नाग आदिकी सुंदर रूपवती कन्याएँ हैं, जिनको वाहुबलसे जीत लाकर रावण आदिने अपनी स्त्री बना लिया। पर राक्षसोंके साथ रमण करनेसे वे राक्षसियाँ कहलाईं। इसी तरह काम-क्रोध आदि षड्वर्गके संगसे कामादिमें ही रमण करनेसे इन्द्रियोंको राक्षसी कहा गया। तात्पर्य यह है कि शरीरकी सुप्रवृत्ति लङ्कामें इंद्रियोंकी प्रवृत्ति कामादिमें ही सदा रहती है।

षड्वर्ग—यहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ही षड्वर्ग हैं। ☞ मोहका राज्य होनेपर अहंकार, कामक्रोधादि, दंभ, कपट और पाषंड आदिमें इन्द्रियाँ रमण करने लगती हैं—यह यहाँ तक बताया।

नोट—६ यहाँतक ऊपरकी सामग्री कहकर अब जो मुख्य बात कहनी थी उसे कहते हैं। (ङु०)। या यों कहें कि मोह-रावणका अवतार, उसकी सेना, परिवार और अत्याचार कहकर अब उस मोहरूपी रावणका सपरिवार नाश करने और जीवरूपी विभीषणको सुप्रवृत्तिरूपिणी लंकापर राज्य दिलानेके लिये श्रीरामावतारका रूपक देते हैं।

टिप्पणी—६ (क) 'जीव भवदंघ्रिसेवक विभीषन' इति। 'भवदंघ्रिसेवक' दीपदेहली है। जीव भगवच्चरणोंका सेवक है और विभीषण भी। जीव प्रभुका सनातन अंश है। यथा 'ईश्वर अंश जीव अविनासी।७।११७।२।', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता १५.७।', 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति। मुण्डक २।।१।' (वह सत्य है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समान रूपवाले हजारों चिंगारे निकलते हैं, उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेकों भाव (जीव) प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं। अंश होते हुये भी इसका ईश्वरसे अपृथक् सिद्ध संबंध है।

जीवात्मा परमात्माका शरीर है। शरीर होनेसे यह परमात्माके द्वारा नियमन करने योग्य है । परमात्मा अन्तरमें प्रविष्ट रहकर सबका शासन करता है। [यथा 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरं। य आत्मानमन्तरो यमयति…' (बृह० उ० ३।७।२२), 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै० आ० ३।११)। अर्थात् जो आत्मामें रहकर आत्माकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसको आत्मा नहीं जानता। आत्मा जिसका शरीर है। जो आत्माके भीतर रहकर उसका नियमन करता है।', 'प्राणियोंका शासक सबका आत्मा अन्तरमें प्रविष्टि है'। (गीता भाष्य १३।३, १५।१५)]—इस प्रकार जीव ईश्वरका नियम्य, धार्य, शेष, भोग्य, परतन्त्र और सेवक भी है । कहा भी है—'परवस जीव स्वबस भगवंता ।७।७८।७।', 'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः', 'परवानस्मि काकुत्स्थ ! त्वयि वर्षशतं स्थिते' (वाल्मी० ३।१५।७ में यह लक्ष्मणजीका वाक्य है), 'आत्म दास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर', 'ममैवांशः।' (गीता १५।७), 'पिता च रक्षकः शेषी भर्ता ज्ञेयो रमापतिः। स्वाम्याधारोऽयमात्मा च भोक्ता चेति मनोदितः।' (अज्ञात)।—विशेष 'तोहि मोहि नाते अनेक' ७९ (४ ख), 'जब ते जिव नाम धरयो' ६१ (१) में देखिए। वाल्मी० ६।११७।२५ में ब्रह्माजीने श्रीरामजीसे कहा है कि सारा जगत् आपका शरीर है—'जगत् सर्वं शरीरं ते'।

श्रीकृष्णपादाचार्यस्वामीजीने 'आत्माका स्वरूप कैसा है ?'—इस प्रश्नके उत्तरमें बताया है कि "आत्मारूपी दर्पणमें लगे हुए अहंकाररूपी धूलकणको धोकर दूर कर दिया जाय तो शुद्ध अपनी आत्माका स्वरूप होगा—'दासोऽहम्' ।—दासका लक्षण है—'शेषत्वे सति चेतनत्वं दासत्वम्' अर्थात् जो शेष होता हुआ चेतन हो उसको दास कहते हैं। भगवानका शरीर रहकर ही अपनी सत्ता कायम रखनेवाले जीवमें स्वाभाविक ही ज्ञातृत्व (जाननेकी शक्ति) है। जो ज्ञाता (जाननेवाला) होता है उसमें ज्ञातृत्वप्रयोज्य-कर्तृत्व (कार्य करनेकी शक्ति) और भोक्तृत्व (दुःख भोगनेकी शक्ति) भी होती है । ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व दोनों जीवात्माको अचेतनसे पृथक् बताने मात्रके लिये हैं, शरीर-लक्षणके अन्तर्गत शेषत्व (भगवान्की इच्छाके अनुसार काममें लेने योग्य) ही

जीवात्माका अन्तरंग स्वरूप है।······ऋषियोंने आत्मस्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है—'दासभूतास्स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। नान्यथा लक्षणन्तेषां बन्धे मोक्षे च विद्यते ॥' (सभी आत्माएँ उस परमात्मा श्रीमन्नारायण भगवान्के स्वाभाविक दास हैं; अन्यथा मोक्ष और बंधनका दूसरा कोई लक्षण नहीं है।), 'स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि । आत्मदास्यं हरेस्स्वाम्यं स्वभावञ्च सदा स्मर ॥' (यदि तुम्हें अपने मोक्षकी इच्छा और अपनी सत्ता रखनी है तो अपनेमें भगवान्की दासता और भगवान्में स्वामित्व इन दोनोंके स्वभावोंका सदा स्मरण करो)। ऐसे अनेकों प्रमाण हैं जिनसे जीवोंको भगवान्की अनन्यार्ह दासता सिद्ध होती है।" (श्रीलोकाचार्यसंयमी विरचित 'यतीन्द्रप्रवणप्रभाव' का हिन्दी अनुवाद)।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे उसका (जीवका) श्रीरामजीका चरणसेवक होना स्पष्ट है । यह उसका धर्म है, यही उसका स्वरूप है। गोस्वामीजीने भी कहा है—'तोसों राम सों कछु नई न जान पहिचानि। १६३।' विभीषणजी भी चरणसेवक हैं; यथा 'तेहि माँगेउ भगवंत-पदकमल अमल अनुराग ।१।१७७।'—(विधातासे चरणानुरागका वर इनको मिला)। जन्मसे ही ये भक्त हैं; यथा 'नाम विभीषन जेहि जग जाना। विष्णुभगत विज्ञाननिधाना। १।१७६।५।', 'रघुपतिभक्त जानि मन भायो।···भजेहु राम सोभा सुखसागर। ६।६३।'—अतएव जीवको विभीषण कहा।

पद्म पु० में श्रीशिवजीके भी इसके समर्थनके वाक्य मिलते हैं। यथा 'दासभूतमिदं तस्य जगत् स्थावरजङ्गमम् । श्रीमन्नारायणः स्वामी जगतां प्रभुरीश्वरः ।' (प० पु० उ० आनंदाश्रम सं० २५५।३६, वेंकट० सं० २२७।३७) । अर्थात् यह चराचर जगत् भगवान्का दास ही है। श्रीमन्नारायण इस जगत्के स्वामी, प्रभु, ईश्वर, भ्राता, माता, पिता, बन्धु, निवास, शरण और गति हैं। भारद्वाज संहितामें भी कहा है कि "परमात्मा श्रीहरि मेरे स्वामी हैं और मैं स्वतः उनका दास हूँ। मेरी संपूर्ण वृत्ति दास्यभावमें सीमित है।—यही थोड़ेमें ज्ञानका संग्रह है।"—'परमात्मा हरिः स्वामी स्वतोऽहं तस्य किङ्करः। कैङ्कर्यमखिला वृत्तिरित्येष ज्ञानसंग्रहः ॥'

६ (ख) 'बसत मध्य दुष्टाटवी' इति। विभीषणजी लंकामें दुष्ट रावण, मेघनाद आदिके बीचमें रहते थे; यथा 'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी। सुं० ७।१।', 'खलमंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म निबहै केहि भाँती। ५।४६।५।'—यह श्रीरघुनाथजीने भी कहा है। फिर यह भी कहा है कि 'बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता।' वाल्मी० युद्धकाण्डमें विभीषणके पथ्योपदेशपर प्रहस्तविभीषणविवाद तथा इन्द्रजिद्विभीषण-विवाद ही बहुत जोरका देखा जाता है—ऐसे दुष्टोंके बीचमें ये रहते थे। (वाल्मी० ६ सर्ग १५ देखिए)।

वैसे ही जीव मोह, अहंकार, काम और क्रोधादि दुष्टोंके मध्यमें रह रहा है। यथा 'लोभ मोह मद काम कोह रिपु फिरत रैनि दिन घेरे। तिन्हहिं मिले मन भयउ कुपथरत ।१८७', 'मोह मद मान कामादि खल मंडली सकुल निर्मूल करि दुसह दुख हरहुगे। २११।'

६ (ग) 'ग्रसित चिंता' इति। विभीषण और जीव दोनोंकी चिंता एक-सी है। दोनों सोचते हैं—'तात कबहुँ मोहिं जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा। ५।७।२।' हमारी रहनि 'जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी' ऐसी है। यही चिंता है कि इनका साथ कब छूटेगा ? कब प्रभुकी प्राप्ति होगी ?

६ (घ) 'नियम जम सकल-सुर··' इति। शाण्डिल्योपनिषत्में दश यम और दश नियम बताये गये हैं।—"तत्रहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश।", "तपः सन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपोव्रतानि दश नियमाः।" अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार, शौच—ये यम हैं। तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत ये दश नियम हैं। इन सबोंकी व्याख्या भी इसी उपनिषद्में इस प्रकार है—'तत्र हिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदा क्लेशजननम्।' (मन, वचन या कर्मसे प्राणियोंको क्लेश पहुँचाना हिंसा है। हिंसा न करना अहिंसा है)। 'सत्यं' नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम्।' (मन-कर्म-वचनसे प्राणियोंका जिसमें हित हो वह यथार्थ वचन कहना 'सत्य' है)। 'अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता।' (पराये द्रव्यकी चाह

न करना)। 'ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्रमैथुनत्यागः।' 'दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः'। 'आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्।' (मानसिक, वाचिक और कायिक विहित और अविहित कर्मकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें एकरूप होना 'आर्जव' है, अर्थात् त्रिविध विहित कर्मकी प्रवृत्तिमें तथा निषिद्ध कर्मके निवृत्ति में एकसमान रहना 'आर्जव' है)। 'क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम्' (अप्रिय अपनी निन्दा सुनकर अथवा स्वयं मार खाकर क्रोध न करना, उसे सह लेना 'क्षमा' है)। 'धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतः स्थापनम्' (अर्थ हानि या इष्टबन्धु-वियोगकी प्राप्तिमें चित्तका स्थिर रहना 'धृति' है।) 'मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः।' (मधुर और स्निग्ध आहार ही मिताहार है। भोज्य पदार्थमें चतुर्थांश बचाकर भोजन करनेवाले 'मिताहारी' कहे जाते हैं)। 'शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति' (राग-द्वेषसे रहित होकर प्रतिदिन स्नान और आचमन आदिके व्यवहार करते हुए भीतर बाहरसे शुद्ध होना शौचयुक्त होना है। 'तत्रमृज्जलाभ्यां बाह्यम्। मनः शुद्धिरान्तरम्। तदध्यात्मविद्यया लभ्यम्। १।')

इसी प्रकार नियमोंकी व्याख्या यह है—'तत्र तपो नाम विष्णुकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्।' 'सन्तोषो नाम यदृच्छालाभसन्तुष्टिः।', 'आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः।', 'दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धयार्थिभ्यः प्रदानम्।', 'ईश्वर पूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णु-रुद्रादिपूजनम्।', "सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः।', 'ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा।', 'मतिर्नाम वेदविहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा।', "जपो नाम विधिवद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः। तद्द्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम्। वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्रगुणम्। मानसं कोटिगुणम्।" (गुरुसे प्राप्त मन्त्रका अभ्यास 'जप' है। यह मामसिक और वाचिक दो प्रकारका है। वाचिक भी दो प्रकारका है—उच्च स्वरसे उच्चारण और उपांशु। उच्चस्वरवाले जपसे

उपांश जप हजार गुणा और मानसिक जप करोड़ गुणा फलदायक है)। 'व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम् ।२।'

भगवान् श्रीकृष्णने यम नियम वारह-वारह गिनाये हैं।—'अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्य्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश-स्मृताः। भा० ११।१६।३३–३५।' अर्थात् अहिंसा, सत्यभाषण, अस्तेय (चोरी न करना, मनसे भी पराई वस्तु हरण करनेका विचार न करना), अनासक्ति, निन्द्यकर्मोंसे लजाना, संग्रह न करना, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और निर्भीकता—ये १२ यम हैं। अन्तःकरण और शरीरकी पवित्रता, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथिसत्कार, भगवत्पूजन, तीर्थाटन, परोपकार, सन्तोष और गुरुसेवा—ये १२ नियम हैं। योगदर्शनमें पाँच ही पाँच कहे हैं। पुनश्च यथा 'सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम्। दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश ॥ शौचं स्नानं तपो दानं मौनेज्याध्ययनं व्रतम्। उपोषणोपस्थदण्डौ दशैते नियमाः स्मृताः।' (स्कं० ब्राह्म० धर्म० ५।१६-२१)—इसमें व्यासजीने 'सत्य, क्षमा, आर्जव, ध्यान, क्रूरताका अभाव, अहिंसा, दान, सदा प्रसन्न रहना, मधुरवर्ताव और मृदुता' ये दश यम और शौच, स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, उपवास और उपस्थ इन्द्रियका दमन—ये दस नियम वताये हैं। इसी प्रकार मनुने भी दश-दश कहे हैं।—सम्पूर्ण यम नियम 'सकल देवता' हैं।

अष्टाङ्ग योग अष्ट लोकेश (लोकपाल) इन्द्र (वा काल) अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, वायु, कुबेर और सोम हैं। योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। रावणके वशमें रहनेसे समस्त देवता और लोकपाल भयभीत थे। यथा 'सुरपुर नितहिं परावन होई।', 'रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥'''आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥१।१८२।'; वैसे ही शरीररूपी ब्रह्माण्डमें मोह आदिके वश (उनके प्रावल्यसे) यम-नियम और योग कारगर न होते थे, अथवा छिपे-छिपे फिरते थे। व्रतादि जो होते थे; वे सब तामसी होते थे। यथा 'ब्रह्मचर्ज व्रत संजम

नाना।···सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिवेक कटकु सब भागा॥ ··सद्ग्रंथ पर्बतकंदरन्हि महुँ जाइ तेहि अवसर दुरे।१।८४' (कामकी चढ़ाईपर यह दशा हुई), 'सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाषंड। मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मंड। तामस धर्म करहिं नर जप तप ब्रत मख दान।७।१०१।' योगके अष्टाङ्गोंकी व्याख्या शाण्डिल्योपनिषद्‌में प्रेमी पाठक देख सकते हैं।

६ (ङ) 'नाथ' का भाव कि सब मोहरूपी रावणके अधीन होनेसे अनाथ हो रहे हैं। पुनः भाव कि आपसे प्रार्थना करते हैं कि शीघ्र अवतार लीजिए, जीवका संकट हरिये। 'नाथृ-याचने' धातुसे यह भाव कहा गया। जैसे रावणसे रक्षा करनेके लिये ब्रह्मादिकने प्रार्थना की-थी। यथा 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा।१।१८६।'

टिप्पणी—७ 'ज्ञान अवधेस गृह गेहिनी भक्ति सुभ···' इति। (क) यहाँ 'ज्ञान' को 'दशरथ' कहा है और फिर 'ज्ञान' को ही 'सुग्रीव' कहा है। श्री दशरथजी और श्रीसुग्रीवजी दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। एक मनुष्य, दूसरा वानर, एक पिता दूसरा सखा, इत्यादि। तब दोनोंको 'ज्ञान' कैसे कहा ?

भगवान् शंकरने श्रीपार्वतीजीसे बताया है कि ज्ञान चार प्रकार का है,—कृत्याकृत्यविवेक-ज्ञान, परलोकचिन्तन-ज्ञान, विष्णुप्राप्ति-साधन-ज्ञान तथा विष्णुस्वरूप-ज्ञान। (संक्षिप्त प० पु० पृ० ६२२, उत्तरखंड अ० २८०)।

वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि "'विद् ज्ञाने' धातुसे निष्पन्न वेद-शब्द है। इस तरह ईश्वरीय ज्ञानका नाम वेद होनेसे यहाँ 'ज्ञान-दशरथ' से वेदरूपी दशरथ समझना चाहिए। और, वेदप्रतिपादित स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपायस्वरूप, पुरुषार्थ (फल) स्वरूप और विरोधी-स्वरूप—अर्थपंचकज्ञानरूप सुग्रीवजी हैं।"‡ "वेद-

---

‡ सुग्रीवके संबंधमें कहा है—'उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥ सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ए सब रामभगतिके बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥···अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती।४।७।१५-२१', 'प्रभुहि जानि

दशरथके कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति और उपासनाशक्ति (भक्ति) क्रमसे कैकेयी, सुमित्रा और कौसल्या पटरानियाँ हैं।''*

इससे विदित होता है कि ज्ञान कई प्रकारका होता है। श्रीदशरथजी और श्रीसुग्रीवजी दो भिन्न-भिन्न प्रकारके ज्ञान हैं, 'कौन किस प्रकारका ज्ञान है ?''—इसमें मत भिन्न-भिन्न हैं।

	श्रीदशरथजी	श्रीसुग्रीवजी
१ दु०...	अनुभवरूपसिद्धि ज्ञान।	शास्त्रजन्य साधनज्ञान।
२ वै०...	सत्संगमें जानेसे जो आत्मरूप की स्मृति होती है वही ज्ञान।	असार संसारको त्यागकर सत्य भगवद्रूपका ग्रहणरूपी 'विवेक'।
३ भ०...	ज्ञान	विवेक
४ सू० शु०...	आत्मज्ञान	शास्त्रीय ज्ञान
५ श्री० श०...	वेदज्ञान	विवेक

मन हरष कपीसा', 'मुनि विराग संजुत कपि बानी' (४।७।१४,२२)। —यह सब अर्थपंचक ज्ञानकी बातें हैं। अतः अर्थपंचकज्ञानसे सुग्रीवको रूपित करना ठीक ही है। इन्होंने वानरोंको उपदेश किया है—'तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका॥…' (४) २३।५-७)।

* पद ४३ (२) के 'कोसलाधीस कल्यान कोसलसुता कुसल' की टिप्पणीमें वैजनाथजीने शिवसंहिताका प्रमाण जो दिया है उसमें दशरथजीको वेदरूप कहा है; परन्तु श्रीसुमित्राजीको उपासना और श्रीकौसल्याजीको ज्ञानशक्ति कहा गया है। ४३ (२) टि० २ ख देखिए। वैजनाथजी तथा सूर्यदीनशुक्लजी कौसल्याजीको 'ज्ञानरूपा परा (प्रेम) भक्ति' मानते हैं। श्रीकान्तशरणजी इसका समाधान इस प्रकार करते हैं—''कौसल्याजीको यहाँ भक्तिरूपा कहा गया है और शिव सं० में ज्ञानशक्ति कहा है। इसमें भेद नहीं, क्योंकि सरस ज्ञान और पराभक्ति पर्याय हैं; यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' से प्रारंभ करके आगे 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।' (छां० ३।१८।१-४) कहा है। इसमें उपक्रममें 'उपासीत' कहा और उसे ही उपसंहारमें 'वेद' कहा है। अतः वेदनका ही अर्थ उपासना है।'' 'ज्ञानी' को चार भक्तोंमें ही कहा गया है तथा 'संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपदरति रस बेद बखाना।' मानसमें कहा है।

७ (ख) 'ज्ञान अवधेस···गवन किय बैदेहिभर्ता' इति। श्रीवैजनाथजीने इस रूपकके सर्वाङ्ग बहुत विस्तारसे लिखे हैं। वे लिखते हैं—(१) सत्संग अयोध्यापुरी है। उस (सत्संगरूपी अयोध्या) में जानेसे 'आत्मरूपकी सुध होना'-रूपी ज्ञान श्रीदशरथ महाराज हैं। ज्ञानरूपा पराभक्ति श्रीकौसल्याजी हैं। उसमें श्रीरामरूपका थिर ध्यान ही प्रभुका अवतार है। (भाव यह कि श्रीरामजीके स्वरूप, स्वभाव, गुण, विभूतिका तत्त्वतः साक्षात्कार करने, उनको तत्त्वसे जान लेनेके बाद अपार अतिशय भक्तिसे उनकी प्राप्ति, उनका हृदयमें आविर्भाव, होता है) [ज्ञान और भक्तिके उदयमें ही परमेश्वरका आविर्भाव होता है। (डु०)]।

(२) 'प्रीतिकी उमंग'-रूपा प्रेमाभक्ति द्वारा हरिधर्मसम्बन्धी कामार्थकी प्राप्ति होना श्रीलक्ष्मणशत्रुघ्नावतार है। नवधाभक्तिरूपा क्रियाभक्तिद्वारा भगवद्धर्मकी प्राप्ति होना श्रीभरतावतार है।

(३) रामावतार भूभारहरणहेतु हुआ था। शरीररूपी ब्रह्माण्डमें 'सुमति' ही भूथल है (यथा—'सुमति भूमिथल हृदय अगाधू। १।३६।३।')। उसमें कुत्सित वासनाओंका निवास हो जाना उसका भार है। विवेक विदेह हैं। सुमति भूमिसे उत्पन्न शुद्ध ध्यान थिरता भूमिजा श्रीजानकीजी हैं। श्रद्धा, प्रीति और उद्योग क्रमशः श्रीमाण्डवी, श्रीउर्मिला और श्रीश्रुतिकीर्तिजी हैं।

(४) 'भक्तसंकष्टमवलोक्य पितुवाक्यकृत गवन किय गहन'—यह श्रीरामावतारमें वनगमनका कारण था। वैसे ही यहाँ जीवरूपी भक्त संकटमें है, मोह उसको दुःख दे रहा है। अतः मोहरूपी रावणका सकुल सदल नाश करनेके लिये ज्ञानरूपी दशरथने क्रिया-शक्तिरूपा कैकेयीके अनुकूल होकर थिरध्यानरूप रामको त्याग दिया। इसलिये श्रीजानकीनाथजी संसाररूपी वनमें गए। भाव कि जीवरूपी भक्तका संकट हरनेके लिये आप अर्चावतार लेते हैं, जीवकी वृत्ति अर्चादिद्वारा प्रतिष्ठित श्रीस्वरूपोंमें लगी, वह षोडशोपचार पूजन, मंत्रजप आदि करने लगा।—यही आपका वनगमन जीवपक्षके लिये है ‡ [पुनः, हृदय वन है। हृदयमें स्वरूपके ऐश्वर्यका

---

‡ वैजनाथजीने इसके आगे शूर्पणखा, खरदूषणादि, बालि आदिका रूपक बाँधा है, जो प्रस्तुतपदमें नहीं हैं। इसलिये उसको केवल पृष्ठ बढ़ाना ही समझकर नहीं उद्धृत करते।

प्रकट करना रामवनगमन कहा गया है। (ड्डु०) । भाव यह कि हृदयरूपी वनमें गमन कीजिए अर्थात् ज्ञानके द्वारा प्रकाश करो। (भट्ट०)]

७ (ग) 'वैदेहि भर्ता' इति। यह नाम पद ४४ में भी आया है। वहाँ अन्तमें यह छन्द है—'जयति वैराग्यविज्ञानवारानिधे नमत नर्मद पापतापहर्त्ता। दास तुलसी चरन सरन संसयहरन देहि अवलंब बैदेहिभर्त्ता ॥' जैसे पद ४४ में 'देहि अवलंब' की प्रार्थनामें 'वैदेहिभर्त्ता' है, वैसेही इस पदका प्रारंभ ही 'देहि अवलंब' से करके यहाँ वही नाम दिया है। वहाँपर चरण-शरणकी प्रार्थना है, वैसे ही यहाँ 'जीव भवदंघ्रिसेवक' के लिये प्रार्थना है। वहाँ पापताप-संशयहरणकी प्रार्थना है, वैसे ही यहाँ ग्रसित चिंता भक्तके संकटहरणकी प्रार्थना है। ❀—विशेष भाव ४४ (६) नोट ५–६ में देखिए।

टिप्पणी—८ 'देव कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट...' इति। (क) "वनमें श्रीरामजीने सहायताके लिये वानर-भालुकी सेना साथमें ली थी। यहाँ जब जीव श्रीस्वरूप अर्चादि व्यापारमें लगा, तब शम-दम-उपराम-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान, विवेक, वैराग्य और मुमुक्षता आदि मोक्षके समस्त साधनरूपी वानर-भालुसेना सहायक मिले। शम-नल, दम नील, उपराम-द्विविद, तितिक्षा-मयन्द, श्रद्धा-अंगद, समाधान-जाम्बवान् और वैराग्य-हनुमान् आदि हैं।" (वै०)।

८ (ख) 'ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू' इति। सुग्रीवजीने रीछ और वानरों द्वारा समुद्रमें सेतु बँधवाया। जिसमें जिन वानर-

---

❀ श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "'वैदेहि भर्ता' शब्दमें श्रीजानकीजीके स्वामी कहकर सूचित कर दिया है कि श्रीजानकीजीके रक्षार्थ ही शूर्पणखाके नाक-कान काटे गए, खर-दूषण आदिसे युद्ध हुआ और रावणसे भी युद्ध होनेका यही कारण है।"—(दास सहमत नहीं है। क्योंकि शूर्पणखाप्रसंग न तो पद ४४ में है और न यहाँ। यहाँ वनगमनके जानेमें 'वैदेहिभर्त्ता' शब्द आया है। यह हो सकता है कि साथमें वन जानेके लिये इन्होंने हठ किया था कि साथ न ले जायँगे तो 'देह' न रह जायगी। यह समझकर उनको भी साथ लिया गया। इससे 'वैदेही' का साथ जाना भी सूचित कर दिया गया।)

भालुओंमें सागरको लाँघ जानेकी शक्ति न हो, वे भी सेतुद्वारा उसे पारकर रावणकी सेनासे युद्ध कर सकें। वैसे ही इस शरीररूपी ब्रह्माण्डके मोहमहिपालरूपी रावणकी सुप्रवृत्तिरूपी लंकादुर्गपर चढ़ाई करनेके लिये प्रथम देहाभिमानरूपी समुद्रका पार करना आवश्यक है। जबतक देहाभिमानको पार करनेका सामर्थ्य नहीं है, तबतक मोहमहिपालपर चढ़ाई करना असंभव है। जिनको लाँघनेकी शक्ति नहीं है, उनके लिये अर्थपंचकज्ञान मोक्षसाधनोंद्वारा सेतु बना सकता है। अर्थपंचक ज्ञान होनेसे देहाभिमान छूट जाता है। यही देहाभिमानसागरपर सेतुका बाँधना है। 'कृत जलधि सेतू' का भाव यह है कि अर्थपंचक ज्ञान होनेपर कैवल्य साधनोंद्वारा दुस्तर देहाभिमानके पार हो जाना सुगम हो जाता है। सुग्रीव और वानरोंका देहाभिमान छूट गया था।† [बाबू शिवप्रकाशजी लिखते हैं कि 'वानरोंसे सुग्रीव श्रेष्ठ, वैसे ही कैवल्यसाधनोंसे साधना ज्ञान श्रेष्ठ है; इसीसे उसे सुग्रीवसे समता दी'।]

८ (ग) 'प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजनतनय ' इति। 'प्रबल वैराग्य' अर्थात् तीनों गुणोंका त्याग, त्रैलोक्यके विषयोंसे वैराग्य। यथा 'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी। ३।१५।', 'प्रबल वैराग्य' को 'प्रभंजन तनय' कहनेका भाव कि जिसको ऐसा वैराग्य हो वह 'देहाभिमानरूपी सिंधुको गोपदके समान लाँघ जाता है, विषयोंको जलाकर कामादि महाबलवान दुष्टोंको भी मसल डालता है।

विषयोंको भस्म कर डालनेके सामर्थ्य-संबंधसे प्रबल वैराग्यको 'दारुण-प्रभंजन-तनय' की उपमा दी। वायुका 'प्रभंजन' नाम यहाँ दिया गया, क्योंकि अशोकवन और भवनोंको जलानेके समय इनका बल, वेग, पराक्रम और विग्रह बड़ा विकराल था। उनचासों पवन

---

† सुग्रीवको ज्ञान होनेसे देहाभिमान न रह गया। वानरोंको भी उन्होंने उपदेश दिया कि 'तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका॥ देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई।…।४।२३।' अतः उन सबोंका मन श्रीरामकार्यमें लग गया, देहका मोह न रह गया। यथा 'रामकाज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह। ४।२३।'

उस समय चल रहे थे। उन समूह पवनोंसे भी उनका बल और वेग अधिक था। यथा 'बड़ो विकराल वेषु देखि सुनि सिंहनाद उठ्यो मेघनाद, सबिषाद कहै रावनो। बेग जित्यो मारुत, प्रताप मारतंड कोटि, कालऊ करालता, बड़ाई जीत्यो बावनो। क० ५।६।' प्रभंजन = प्रकर्ष करके चूर्ण-चूर्ण कर डालनेवाला।

[पुनः, "दारुण इससे कहा कि श्रीहनुमान्‌जीके कार्यमें कहीं भी किसी प्रतिपक्षीने बाधा करके सफलता नहीं पाई। अग्नि जैसे-जैसे वनको जलाती है, वैसे-वैसे वह और कराल होती जाती है; वैसे ही प्रबल वैराग्य भी जैसे-जैसे विषय-वनको जलाता है, वैसे-वैसे उसका तेज बढ़ता ही जाता है।" (श्री० श०)।

८ (घ) 'बिषय-बन-भवनमिव धूमकेतु' इति। सुप्रवृत्ति लंका-दुर्गमें विषयको अशकवन और महल कहनेका भाव कि सुप्रवृत्ति मार्गमें मोहका सबसे अधिक प्रेम विषय और पंचकोषोंमें रहता है, जैसे रावणका प्रेम सबसे अधिक अशोकवन आदिमें था। अशोकवन तो उसे मेघनादसे भी अधिक प्रिय था। यथा 'मेघनाद तें दुलारो प्रान तें पिआरो बाग, अति अनुराग जियँ जातुधान धीर कें।… विद्यमान देखत दसानन को कानन सो, तहस-नहस कियो साहसी समीर कें। क० ५। २।'

प्रथम हनुमान्‌जीने जाकर समुद्रको पारकर, वन और मकानोंको जलाकर फिर लौट आकर श्रीरघुनाथजीको सब समाचार कह सुनाया। तब वे सेना लेकर गए। इसी प्रकार परमार्थ-ज्ञानका उदय होनेपर प्रथम प्रबल वैराग्य, विषयों तथा पंचकोशोंके प्रलोभनसे मनको फेरकर, जीवको भगवान्‌की शरणागति प्राप्त कराता है, तब भगवान् श्रीरामजी उसके मोहादि शत्रुओंका नाश कर देते हैं। जीवको अपनी ओरसे कुछ करना नहीं पड़ता।

☞ 'प्रबल वैराग्य…धूमकेतू' में अभिप्राय यह है कि हमारे हृदयमें उस प्रबल वैराग्यको प्रकटकर विषयों आदिकी ओरसे हमारे मनको उपरत कीजिए।

९ (क) 'दुष्ट दनुजेस निर्बंस कृत', यथा 'राम सकुल रन रावन मारा। १।२५।' रावण दुष्ट था, यथा 'यह दुष्ट मारयो नाथ। लं० १' रावणको सकुल मार डालनेसे 'दासहित' और 'विश्वदुखहरन' आदि कहा। 'दास' से 'बिप्र धेनु सुर सन्त' जिनके हितार्थ अवतार हुआ

था, वे सब जना दिये। यथा 'विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। १९२।', 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह। ३।९।' (दण्डकारण्यके ऋषियोंसे प्रतिज्ञा की थी। अतः इनके हितार्थ दुष्टोंका नाश किया)। श्रीसीताजीको रावण हर ले गया, अतः उनके लिए रावणका वध किया; यथा 'दीनदयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी। ५।२७।४।' फिर विभीषणजीसे भी प्रभुने कहा है—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे। ५।४८।८।', इनको रावणने लात मारकर निकाल दिया। अतएव इनके हितार्थ रावणादिका वध किया।—परन्तु यहाँके साङ्गरूपकमें विभीषणका ही नाम है। विभीषणके हितके साथ-साथ विप्र, धेनु, सुर, सन्त सभी दासोंका हित हुआ, तीनों लोकोंको रावणने सताया था, उन सबका दुःख दूर हुआ। अतएव 'विश्वदुःखहरण' कहा। दुःख तो सबका दूर हुआ, किन्तु हित 'दास' का ही होता है। इसीसे 'दासहित' कहा। 'दास' से शरणागत जीवसे तात्पर्य है। विभीषणजी शरणमें आये, तब उनका हित हुआ। ☞ इसी तरह शरीररूपी ब्रह्माण्डके सुप्रवृत्तिरूपी लंकामें मोह-कामादि दुष्टोंके बीचमें पड़ा हुआ जीव जब श्रीरामजीकी शरण जाता है, तभी वे उसके मोहादिका नाश करके उसका हित करते हैं।

☞ यहाँ यह दिखाया है कि जीव अपने पुरुषार्थसे मोहादिका नाश नहीं कर सकता। अखण्ड ज्ञानराशि श्रीसीतारामजी ही उसके लिए मोहका नाश करते हैं।

सुर और लोकेशको ऊपर क्रमशः यम-नियम और योग कहा है। रावणके वधसे लोकपाल आदि बंधनसे छूटे, वैसे ही मोह आदिका श्रीरामकृपासे नाश होनेपर यम, नियम और योग आदि साधनमें कोई बाधक नहीं रह जाता।

९ (ख) 'बोधैकरासी' इति। रावणको सकुल सदल निर्वंश करनेसे भगवान्में दोषारोपण होता कि इनमें द्वेष आदि अवगुण हैं, इसीसे इन्होंने ऐसा किया। अतः 'बोधैकराशि' विशेषण दिया। इसी तरह मानसमें हनुमान्जीके संबंधमें कहा है—'खल बन पावक ज्ञानघन'। तथा श्रीरामजीकी स्तुतिमें ब्रह्मादिने कहा है—'महि-भार बिभंजन ज्ञानघनं।'

[पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "श्रीरामजीने ज्ञानरूपी सुग्रीवको सखा बनाया, फिर उनके लिये करोड़ों वानर सहायताके लिये एकत्र हो गए, यथा 'द्विविद मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि। दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि॥ ए कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना।'; ज्ञानरूप इन करोड़ों वानरोंके साथ देखते हुए श्रीरामजीको श्रीगोस्वामीजी बोध (ज्ञान) के प्रधान राशि कहते हैं।"]

९ (ग) 'अनुज निज जानकी सहित हरि…' इति। यहाँ लक्ष्मणजीको भी बसनेकी प्रार्थना है, क्योंकि 'पाकारिजित काम विश्रामहारी' के नाशके विना मोहरूपी रावणपर विजय पाना असंभव है। यहाँ श्रीसीतालक्ष्मण सहित बोधैकराशि श्रीरामजीके बसनेकी प्रार्थनासे सूचित हुआ कि शरीररूपी ब्रह्माण्डमें भक्त-हृदयमें इन तीनोंके निवाससे ही भक्तका दुःख दूर होता है। ["यहाँ 'निज' शब्द दीपदेहलीरूप है। अनुज शब्दके साथ उनकी अनन्यताका बोधक है।… श्रीअयोध्याजीमें आकर श्रीरामजीके राज्यासीन होनेपर ये भाई उनके परिकर हुए।' "श्रीजानकीजीके साथ 'निज' शब्द उनके वास्तविक सत्य-श्री का बोधक है। प्रतिबिंबरूप जब बिंबमें मिल गया तब सत्य श्रीजानकीजीको लेकर अग्निदेवने श्रीरामजीको सौंपा।"—(श्री० श०)]

९ (घ) 'दास तुलसी हृदयकमलवासी' इति। स्मरण रहे कि जिस रूपको हृदयनिवासी कहा है, वह यही सगुण-निर्गुण स्वरूप है, निर्गुणरूप कोई दूसरा नहीं है। केवल अप्रकट एवं मायिकगुणरहित होनेसे ये ही निर्गुण कहे जाते हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

५९ (६२)

*[देव[1]दीनउद्धरन रघुवर्य[2]करुनाभवन समन संताप पापौघहारी।
बिमलविज्ञानबिग्रह अनुग्रहरूप भूपबर बिबुधनर्मद खरारी॥१॥

---

* [—] 'देव' से चित्तवृत्ति' तक सं० १६६६ का नहीं है। यह अंश पन्ना ३४ में था जो उसमें नहीं है। १—आ०, ७४ में नहीं है। इस पद भरमें किसी छन्दमें नहीं है। प्राचीन हस्तलिखित सभी पोथियोंमें है। २ रघुवर्य—रा०, ह०, ५१, आ०, १५। रघुवर्य्य—ज०। रघुवर्ज—भ०।

देव संसारकांतार अति[3]-घोर-गंभीर-घन-गहन तरु-कर्म-संकुल मुरारी।
बासना-बल्लि-खर-कंटकाकुल-बिपुल निबिड़ बिटपाटवी कठिन भारी॥२॥
देव बिबिध चितवृत्ति] खग निकर
सेनोलूक काक बक गृध्र[4] आमिष-अहारी।
अखिल खल निपुन छल छिद्र निरखत सदा
जीव-जन-पथिक-मन खेदकारी॥३॥
देव क्रोध-करिमत्त मृगराज कंदर्प मद
दर्प्प बृक भालु अति उग्रकर्मा।
महिष-मत्सर-क्रूर[5] लोभ-सूकर-सूर[6] फेरु-छल दंभ-मार्ज्जार धर्मा॥४॥
देव कपट-मर्कट बिकट-ब्याघ्र-पाषंड-मुख दुखद[7] मृगब्रात-उत्पातकर्त्ता।
हृदय अवलोकि यह सोक सरनागतं पाहि मां पाहि[8] भो बिश्वभर्त्ता॥५॥
देव प्रबल अहंकार दुर्घट महीधर महामोह गिरि गुहा निबिड़ांधकारं।
चित्त बेताल मनुजाद[9]-मन प्रेतगन-रोग भोगौघ बृश्चिक बिकारं॥६॥
देव बिषयसुखलालसा-दंस[10]-मसकादि
खल-झिल्लि रूपादि सब सर्प स्वामी।
तत्र आक्षिप्त तव[11] बिषम माया,
नाथ अंध मैं[12] मंद ब्यालादि[13] गामी॥७॥

---

[3] अति—७४ में नहीं है। [4] गृध्र—६६। गृध—रा०। गृद्ध—ह०, ५१, ज०। गृद्ध्र—मु०। गिद्ध-भा०, बे०, ७४। गीध—१५, प्र०। [5] क्रूर—६६, प्रायः सबमें। कूर—ज०। [6] सूर—६६, ह०, ७४, प्र०, १५, जं०। स्प—रा०, भा०, बे०, ५१, श्रा०। [7] दुखद—६६, रा०, ह०, ५१, ७४, ज०, १५। दुखित—भा०, बे०, प्र०। [8] पाहि मां पाहि भो—६६, रा०, ५१, ७४, प्र०, ज०, श्रा०। पाहि भो पाहि मां—भा०, बे०, ह०। [9]—मनु—६६। लेखप्रमाद है, 'जाद' छूट गया है। [10] दंस—६६, रा०, ७४, ह०, १५, प्र०, श्रा०। दंश—५१, मु०। डंस—भा०, बें०, जं०। [11] तुव—प्र०, ज०। [12] मै—रा०, भा०, बे०, मु०। मैं—ह०, ५१, श्रा०। मय—६६, प्र०, डु०, ज०। [13] ब्यालादि—६६। ब्यालारि—ह०, १५, ज०, रा०। ब्यालाद—भा०, वे, ५१, ७४। ☞ शुद्ध शब्द 'ब्यालाद' है। 'ब्यालारि' भी शुद्ध हैं।

देव घोर अवगाह भव-आपगा पाप-जलपूर
दुःप्रेच्छ[14] दुस्तर अपारं[15]।
मकर-षड़वर्ग गो-नक्र चक्राकुलं[16]-
सुभ-असुभ दुख अति[17]-तीब्र-धारं[15]।८।
देव सकल संघट[18] पोच सोच वस सर्वदा
दास तुलसी विषम-गहन-ग्रस्तं।
त्राहि रघुवंसभूषन कृपाकर कठिन काल विकराल कलित्रास त्रस्तं ९

शब्दार्थ—पापौघ = पाप + ओघ = पापसमूह। कान्तार = दुर्भेद्य भयानक गहन वन। बौद्धग्रंथोंमें पाँच प्रकारके स्थानोंको 'कान्तार' कहते हैं। चौर-कान्तार, व्यालकान्तार, अमानुषकान्तार, निरुदककान्तार और अल्पभक्ष्यकान्तार। अर्थात् जहाँ चोर या सर्प रहते हैं, मनुष्य नहीं रहते, जल और भोजन नहीं मिल सकता वह 'कान्तार' है। (श० सा०)। अमरकोशकी अमरविवेक टीकामें 'कान्तार' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—'यद्दुर्गमं चोर कण्टकाद्युपद्रवयुक्तं वर्त्म मार्गः कान्तारमित्युच्यते।', अर्थात् जो मार्ग चोर कण्टक आदिके उपद्रवोंके कारण अत्यन्त दुर्गम हो, उसे 'कान्तार' कहते हैं। मेदिनीकोशमें कहा गया है कि 'कान्तारोऽस्त्री महारण्ये विले दुर्गम वर्त्मनि।' अर्थात् घनघोर जंगल, गुफा और चोरकंटकादियुक्त मार्गको कान्तार कहते हैं। वर्य = श्रेष्ठ। गहन = वन = कठिन। खर = तीक्ष्ण। वृत्ति = गुण, कार्य, स्वभाव।

---

१४ दुःप्रेच्छ—६६। दुःप्रेक्ष्य— प्रायः औरोंमें। १५ अपारं—धारं—६६, प्र०, १५, ज०। अपारा—धारा—प्रायः औरोंमें। १६—चक्राकुलं—६६। चक्राकुलं कूल—भा०, बे०, १५। चक्राकुला कूल—रा०, ७४, ह०, ज०, भा०। १७ अति—६६। औरोंमें नहीं है। औरोंमें 'कूल' शब्द अधिक है, इसीसे 'अति' नहीं है। ६६ के अनुसार 'शुभाशुभ' (कर्म) भंवर हैं जिनसे भवसरितापूर्ण है। १८ संकट ७४।

विशेष टि० ३ (क, ख) में देखिए। सेनोलूक=श्येन+उलूक।=बाज पक्षी और उल्लू। आमिष अहारी=मांस भक्षण करनेवाले। छिद्र=छेद, दोष। वृक=कुत्तेकी जातिका एक मांसाहारी पशु=भेड़िया। क्रूर=भयंकर, कुटिल। सूर=शूरवीर; विक्रान्त। सूकर सूर=जंगली सुअर जो बड़ा भयंकर होता है। फेरु=गीदड़, सियार। छल=वह व्यवहार जो दूसरेको धोखा देने या बहलानेके लिये किया जाय। छल छिद्र=कपट व्यवहार, धूर्तता; यथा 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।५।४४।५।' धर्म=सहज स्वभाव, प्रकृति जो अपनेसे अलग न रह सके। मार्ज्जार=बिल्ली, बिलाव। कपट=अभिप्राय साधनके लिये हृदयकी बात छिपानेकी वृत्ति। यथा 'जो जिय होति न कपट कुचाली।२।२२८।' मुख=आदि; मुख्य, प्रधान। (श० सा०)। पाषंडमुख=पाषण्ड आदि। पाषंड=वह भक्ति या उपासना जो केवल दूसरोंको दिखानेके लिये की-जाय और जिसमें कर्त्ताकी वास्तविक निष्ठा या श्रद्धा न हो। दुष्ट तर्क आदि द्वारा विपरीत मतका प्रतिपादन भी पाखंड है, यथा 'जिमि पाषंडवाद ते गुप्त होहिं सदग्रंथ।४।१४।' दूसरोंको ठगनेके निमित्त जो-जो आयोजन किये जायँ वे सब 'पाखंड' हैं। मृग=पशु। व्रात=झुंड; समूह। भो (सं० =हे। यह संबोधन है। दुर्घट=जिसपर चढ़ना या जिसके पार जाना कठिन हो। महीधर=भूधर=पर्वत। गुहा=खोह, गुफा।=अकृत्रिम गृहाकार गह्वर गुफाको 'गुहा' कहते हैं, कृत्रिमको दरी और कन्दरा कहते हैं। बेताल=भूतोंकी एक योनि जो साधारणभूतोंके प्रधान माने जाते हैं, इन्हींको अगियाबेताल भी कहते हैं। भोगौघ=भोग+ओघ=भोगसमूह। वृश्चिक=बिच्छू। विकार=दोष, उपद्रव, डंक मारना। लालसा=किसी पदार्थकी प्राप्तिकी बहुत अधिक उत्कंठा, अभिलाषा वा चाह। दंस=डाँस। यह एक प्रकारका मच्छड़ होता है। एक बड़ी बनमक्खी जो पशुओंको बहुत सताती है उसे भी दंस कहते हैं। मसक=मच्छड़। यथा 'मसक दंस बीते हिमत्रासा।' झिल्लि=झींगुर।—यह कीड़ा बहुत रंगोंका होता है, इसके छः टाँगें और दो बहुत बड़ी मूछें होती हैं। इसकी आवाज बहुत तेज़ झीं-झीं होती है और प्रायः बरसातमें अधिकतासे सुनाई देती है। रूपादि=रूप, रस,

गंध, शब्द और स्पर्श । आछिप्त (आक्षिप्त) =गिराया, डाला या फेंका हुआ । व्यालादि (व्यालाद) =सर्पभक्षक ।=गरुड़ । चक्राकुल=चक्र (भँवर)+आकुल (=व्याप्त) । तीव्र=तेज । संघट=जमघट; साथ । पोच=नीच; बुरा । षड्वर्ग=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ।

पद्यार्थ–देव ! आप दीनोंका उद्धार करनेवाले, रघुकुलश्रेष्ठ, करुणाके धाम, संतापके नाशक, पापसमूहके हरनेवाले, विशुद्ध विज्ञानकी मूर्ति, अनुग्रह (दया) के रूप, राजाओंमें श्रेष्ठ, देवताओंको आनंद देनेवाले और खरराक्षसके मारनेवाले (अर्थात् परम शोभाधाम और महामायापति) हैं ।१। हे देव ! हे मुरारि (आश्रितविरोधियोंके शत्रु) ! संसाररूपी 'कान्तार' अत्यन्त भयानक, गहरा, घना वन है । यह कर्मरूपी वृक्षोंसे भरा हुआ है ।† वासनायें बहुतसी लतायें हैं जो तीक्ष्ण काँटोंसे भरी हुई हैं । (यह) सघन वृक्षोंका वन बड़ा ही कठिन है । २ । देव ! चित्तकी अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ बाज, उल्लू, कौवे, बगुले और गृध्र (आदि) मांसाहारी पक्षियोंका समूह हैं । सभी दुष्ट छलमें पूरे हैं, सदा छिद्र देखते ही रहते हैं ‡ और भक्त जीवरूपी यात्रियोंके मनमें खेद उत्पन्न करनेवाले हैं । ३ । देव ! क्रोध मतवाला हाथी है, काम सिंह है, मद और दर्प अत्यन्त घोरकर्मोंवाले भेड़िये और भालु हैं । क्रूर (निर्दयी परपीड़क) मत्सर वन-महिष है । लोभ विक्रान्त सुअर है । छल गीदड़ है और दंभ बनविलावकी प्रकृतिवाला है ।४। देव ! कपट वानर है, पाषंड भयंकर बाघ आदि (बहुतसे) दुःख देने और उपद्रव करनेवाले पशुसमूह (यहाँ) हैं ❀ । (अपने) हृदयमें यह शोक देखकर मैं

---

† अर्थान्तर—१ 'कर्मरूप वृक्षोंकी सघनतासे ऐसा गहन है कि उसमें परमार्थ ढूँढ़े नहीं मिलता ।' (वै०) । २ कर्मरूपी जटिल वृक्षोंसे परिपूर्ण है—(वीर) । ३ यहाँ कर्मरूपी वृक्ष बड़ी ही सघनतासे लगे हैं । (वि०) ।

‡ अर्थान्तर—'संसारमें जो छलमें निपुण हैं अर्थात् मीठी बातें बनाकर अपना कार्य साधते हैं और पीछे शत्रुता करते हैं, तथा जो दोष देखते हैं, इत्यादि यावत् खल हैं, वे ही चोर, डाकू, ठग, बटमार हैं । (वै०, डु०) ।

❀ अर्थान्तर–प्रायः वै०, भ०, दीन, वि० आदि सभी टीकाकारोंने 'मुख' का अर्थ 'मुंह' किया है और प्रायः सबने एक ही अर्थ दिया है । (१)—पाषंडका

आपकी शरण आया हूँ। हे विश्वम्भर (विश्वका भरण-पोषण करनेवाले) विश्वके स्वामी! मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। ५। देव! बड़ा बलवान अहंकार दुर्गम पर्वत है। महामोह प्रगाढ़ अंधकारमय पर्वत-गुफा है। चित्त वैताल, मन मनुष्योंको खानेवाला राक्षस, रोग प्रेतगण और भोगोंका समूह विच्छूका डंक है। ६। देव! विषयसुखकी उत्कट चाह डाँस और मच्छड़ आदि हैं। हे स्वामिन्! खल झींगुर, हैं, रूपादि सब (विषय) सर्पराज हैं। आपकी विषम मायाने मुझे वहाँ (ऐसे विकट कान्तारमें) डाल दिया है। हे नाथ! व्यालादगामी ††! मैं अंधा और मन्दबुद्धि हूँ। ७। देव! पापरूपी जलसे परिपूर्ण भवरूपी नदी बड़ी भयावनी, अथाह, दुष्प्रेक्ष्य (जिसकी ओर देखनेमें भय लगे, देखा न जा सके), दुस्तर और अपार (जिसका ओर-छोर नहीं, अतः जिसको पार करना असम्भव) है। इसमें षड्वर्ग ही मगर हैं, इन्द्रिय नाक हैं।

मुख व्याघ्र है। पाषंड वेदधर्मनिन्दक वचन कहकर लोगोंको दुःख देता है। (वि०)। (२) पाषंडरूपी बाघ है, क्योंकि जैसे बाघका मुख मृगके झुण्डोंको दुखदाई और उत्पात करनेवाला है (वैसेही पाषंड वेदविरुद्ध बातें कराकर सन्तोंको दुःख देता है)। (भ०)। (३) पाखंडस्वरूप बाघ हैं जो संतरूप मृगसमूहको सदा दुःख दिया करते हैं और उपद्रव मचाया करते हैं। (वि०)।—इन्होंने 'मुख' का अर्थ नहीं किया। अथवा, 'मुख' का अर्थ 'स्वरूप' किया है। (४) पाषंड विकट मुखवाला बाघ है जो (संतरूपी) मृगसमूहको दुःख···। (दीनजी। श्री० श०)। (५) "पाषंड वनावरीका स्वभाव और कर्तव्यताका आरंभ जो दुखदाई होता है। वही बाघ है। (डु०)।—इन्होंने 'मुख' का अर्थ 'आरंभ' किया है। श्रीभगवान सहायजीने इसीको यों समझाया है—'स्वभावसे ही कर्तव्य जिसका आरंभसे ही दुखदाई है, मृग इसको देखते ही भाग जाते हैं···।' (६) जिसका मुख मृगझुण्डोंको दुखदाई है। (सू० शु०)।—केवल वीरकविने 'मुख' का अर्थ 'आदि' किया है। उन्होंने अर्थ किया है—"धूर्त्ततारूपी भयंकर व्याघ्र आदि दुखदाई जानवरोंका झुंड ऊधम करनेवाला है।"

†† यदि 'मय' पाठ ठीक मानें और 'मय' का अर्थ 'मद' ले लें, क्योंकि 'य' 'द' का बदल हो जाता है, जैसे मयन = मदन। तो अर्थ होगा—'मैं मदांध और मंदा' हूँ 'मैं' की जगह १६६६ में 'मय' है।

यह शुभाशुभ (कर्मरूपी) भँवरोंसे व्याप्त है। (जन्म-मरणका) दुःख इसकी अत्यन्त तेज धारा है। ८। देव ! सारा जमघट नीच है। इस विषम वनमें जकड़ा (फँसा) हुआ तुलसीदास सदा शोचवश रहता है। हे रघुवंशभूषण ! हे कृपाकी खानि ! कठिन भयंकर कलिकालके डरसे मुझ डरे हुए की रक्षा कीजिए। ९।

नोट—१ इस पदमें 'संसार' का 'कान्तार' से साङ्गरूपक बाँधा गया है।

२—पूर्व पद ५८ में प्रवृत्तिमार्गमें पड़नेपर जो दशा होती है, वह बताई गई। या यों कह सकते हैं कि उस पदमें प्रवृत्तिमार्गका खाका खींचा है। प्रवृत्ति मार्ग जीवको संसारचक्रमें डालता है। अतः अब संसारको कान्तारका रूपक देकर वर्णन करते हैं।

भा० ५।१३ में जड़ भरतजीने रहूगणसे जो कहा है वह भाव यहाँ पूर्णरूपसे लागू है।—"इस संसार-वनमें जीवसमूह सुखरूप धनमें आसक्त देशदेशान्तरमें घूम-फिरकर व्यापार करनेवाले व्यापारीके दलके समान है। इसे मायाने दुस्तर प्रवृत्तिमार्गमें लगा दिया है। इसलिए इसकी दृष्टि सात्त्विक, राजस, तामस भेदसे नाना प्रकारके कर्मोंपर ही जाती है। उन कर्मोंमें भटकता-भटकता यह संसाररूपी जंगलमें जा पहुँचता है। वहाँ उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती।" (श्लोक १ और १९)। —सम्भवतः इसी दृष्टिकोणसे गोस्वामीजीने प्रथम प्रवृत्तिमार्गका साङ्गरूप देकर अब संसार—कान्तारका रूपक देते हुए स्तुति की है।

३—जिस प्रकार किसी लम्बे रास्तेपर चलनेवाला पुरुष थक जानेपर बीच-बीचमें विश्राम कर लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषोंको इस संसार-यात्रामें चलते हुए बीच-बीचमें गर्भमें रहकर विश्राम करना होता है। अतः शास्त्रने गर्भवासको मार्गका रूपक दिया है और गहन संसारको वन बताया है।—यही प्राणियोंका संसारचक्र है। मनुष्योंकी प्रत्यक्ष और परोक्ष शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ ही वनके हिंस्र जीव हैं।—'यथा तु पुरुषो राजन् दीर्घमध्वानमास्थितः। क्वचित् क्वचिच्छ्रमाच्छ्रान्तः कुरुते वासमेव वा॥ एवं संसारपर्याये गर्भवासेषु भारत। कुर्वन्ति दुर्बुधा वासं …॥ तस्मादध्वानमेवैतमाहुः शास्त्रविदो जनाः। यत्तु संसारगहनं वनमाहुर्मनीषिणः॥ सोऽयं लोकसमावर्तो मर्त्यानां…।' (म० भा० स्त्री० ७।३-९ विदुरवाक्य)।

४—कान्तारमें वृक्ष, लतायें, झाड़-झंखाड़, हिंसक पक्षी और पशु, चोर-डाकू जो (पथिकोंको लूट लेते और उसे मार भी डालते हैं), इत्यादि होते हैं, वही सब इस पदमें साङ्गरूपक द्वारा वर्णन करते हैं।

५ लाला भगवानदीनजी लिखते हैं—"चूँकि रामजी भी बड़े गहन वनोंमें घूमे हैं, अतः वहाँके कष्टोंका अनुभव उन्हें अवश्य ही होगा। यही भाव हृदयमें रखकर यह पद लिखा गया है। संसारको बनका रूपक देकर गोस्वामीजीने श्रीरामजीको उन वनोंकी याद दिलाई है, जहाँ वे सीताजीको खोजते फिरे और सुग्रीवको सहानुभूति दिखाई। इस प्रकार किसीकी सहानुभूति अपनी ओर खींचनेका उद्योग करना कवि-कलाका प्रदर्शन है।"

टिप्पणी—१ 'दीन उद्धरन रघुवर्य करुनाभवन…' इति। (क) ☞ प्रारंभके ये दोनों चरण सूत्ररूप हैं। आगेके चरणोंमें अपनी दीनता और संतापका खाका खींचा है। इनसे रक्षाकी प्रार्थना है। 'दीनउद्धरन' 'पापौघहारी' का भाव कि आप दीनोंपर करुणा करके उनके संतापों और पापसमूहोंका नाश कर उनका संसारसे उद्धार करते हैं। मैं इस संसारकान्तारमें शोक और संताप-पापसे अत्यन्त दीन हो रहा हूँ, मुझपर भी करुणा करके मेरा उद्धार कीजिये। दीनके उद्धारमें करुणा ही कारण है। यथा 'कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम। जेहि करुना सुनि श्रवन दीन दुख धावत हौ तजि धाम। ९३।' इसीसे 'दीनउद्धरन' के साथ 'करुनाभवन' गुण भी कहा।

१ (ख) 'विमल-विज्ञान-विग्रह अनुग्रहरूप…' इति। जीवोंका विज्ञान सदा एकरस शुद्ध नहीं रहता, मायाके द्वारा वह समल हो जाता है। यथा 'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि विज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ।' भगवान् श्रीरामजी विशुद्धविज्ञानमूर्ति ही हैं। विशुद्ध विज्ञान उनका शरीर ही है। वहाँ देही-देह-विभाग नहीं है। उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। वे शुद्ध सच्चिदानन्दघन ही नहीं वरन् सच्चिदानन्दके मूल ही हैं। ५३ (६) 'ज्ञानघन सच्चिदानन्दमूलं', पूर्व 'शुद्धबोधायतन सच्चिदानंदघन।' ५५. (१ ङ) देखिए। पूर्व 'विज्ञानवारानिधे। ४४ (६)।' तथा 'गुणज्ञानविज्ञानशाली। ५

(३)।' कह आये हैं और यहाँ बताते हैं कि यह न समझ लेना कि जीवोंका जो विज्ञान है उसके समुद्र हैं, उससे परिपूर्ण हैं। परमतत्वके विषयमें जो असाधारण विशेष ज्ञान जीवोंको होता है, जिससे परमपुरुष श्रीरामजीके प्रकृति-संसर्गरहित स्वरूपका साङ्गोपाङ्ग ज्ञान होता है, उस ज्ञानका नाम विज्ञान है। परन्तु वह विज्ञान भी सत्त्वात्मिका प्रकृतिकी ही एक वृत्ति-विशेष है। अतः वह भगवान्‌का स्वरूप नहीं हो सकता। इसी बातको समझानेके लिये यहाँ बताते हैं कि वे 'विशुद्ध-विज्ञान-विग्रह' हैं।

१ (ग) 'विमल-विज्ञान-विग्रह' हैं, यह कहकर फिर 'अनुग्रह-रूप' कहनेका भाव कि यद्यपि वे शत्रुता, मित्रता और उदासीनतासे परे हैं तथापि दयाके स्वरूप हैं, आपने केवल कृपा-गुणके वश राजारूप धारणकर खर आदि राक्षसोंका वध करके देवताओंको सुखी किया।

१ (घ) 'विबुधनर्मद खरारी' इति। 'खरारी' के भाव पूर्व आ चुके हैं। खरादिके वधपर भी देवताओंको आनन्द हुआ था, यथा 'हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान। अस्तुति करि-करि सब चले सोभित बिबिध बिमान॥ ३।२०।'

टिप्पणी—२ 'संसार कान्तार अति घोर गम्भीर घन गहन...' इति। (क) 'कान्तार' कैसे वनको कहते हैं, यह शब्दार्थमें लिखा गया है। 'अति घोर गंभीर..' यहाँसे कवि स्वयं 'कान्तार' शब्दकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। यह संस्कृत भाषाका शब्द है, इसका पर्य्यायवाची कोई दूसरा शब्द नहीं है। इसीसे इसकी पूरी व्याख्या यहाँ की गई है। 'अति घोर' से जनाया कि इसमें मनुष्य नहीं रहते, भोजन नहीं मिलता, भूत-प्रेत-वैताल रहते हैं जो यात्रियोंको मार डालते अथवा खा जाते हैं, बड़े-बड़े सर्प, सिंह, जंगली सुअर, बाघ आदि बहुतायतसे रहते हैं, इत्यादि। 'गम्भीर' से वनकी गहराई और 'घन' से उसकी सघनता कही। ऐसा सघन है कि उसके भीतर प्रवेश करके चलना कठिन है। 'गहन' का अर्थ वन है। यथा 'मिलै न जल घन गहन भुलाने। ४।२४।३।', 'दास तुलसी विषम गहन ग्रस्तं।' (छंद ६ में)। 'गहन' को 'अतिघोर' आदि इतने विशेषण देकर 'कान्तार' का अर्थ स्पष्ट किया है। यदि 'गहन' का अर्थ वन न लेकर उसको भी विशेषण मानें, तो उससे वनका लता

और झाड़-झंखाड़के कारण कठिन उलझाववाला और दुःखदाई होना जनाया गया—ऐसा कह सकते हैं।

२ (ख) 'तरु कर्म संकुल' इति। संसाररूपी वन कर्मरूपी वृक्षोंसे परिपूर्ण है। 'कर्म' से सारा कर्मकाण्ड अभिप्रेत है। नित्य, नैमित्तिक और काम्य तथा शुभ, अशुभ और मिश्र तीनों प्रकारके कर्मोंसे कर्मकांड भरा हुआ है। तीर्थ, व्रत, उपवास, दान, योग, यज्ञ आदि सब कर्म ही हैं। कर्मोंकी संख्या नहीं, इसीसे 'संकुल' मात्र कहा।

[कर्मके भेद कई प्रकारसे किये गये हैं—(१) "कर्म, अकर्म (परधन-परदारापहरण आदि), और विकर्म (विशेष कुत्सित कर्म) जैसे परधनहरणमें भी साधुको लूटना और परदारापहरणमें किसी कुलीन स्त्रीका अपहरण)। (वै०)। (२) शुभ और अशुभ। (३) सकाम और निष्काम। (४) संचित, प्रारब्ध और क्रियमान। (५) वैध और निषिद्ध आदि। —वृक्ष भी अनेक प्रकारके होते हैं, इसलिये कर्मोंकी उपमा वृक्षोंसे दी गई।"—(वि०)]

२ (ग) 'मुरारी' का अर्थ और 'मुर' की कथा ५२ (३ ख) में देखिए। 'मुरारि' संबोधनका भाव कि आप अपने आश्रितोंकी सदा रक्षा करते आये हैं, इस संसार-कान्तारमें पड़े हुए मुझ आश्रितकी भी रक्षा कीजिए। 'मुर' से आपने इन्द्रादि देवताओंकी रक्षा की थी। इससे मेरी रक्षा कीजिए।

२ (घ) 'बासना बल्लि खर कंटकाकुल' इति। वृक्षोंपर बेलें लपटी और छाई रहती हैं। कर्मरूपी वृक्षोंपर वासनारूपी लतायें लपटी और छाई हैं। बेलोंमें काँटे हैं, जिससे पथिकको बड़ा कष्ट होता है और वह उन्हींमें उलझकर निकल नहीं पाता। इसी तरह मनुष्य कर्मोंकी वासनाओंमें पड़ जानेसे अनेक कष्ट झेलता है और फिर उनसे छुटकारा नहीं पा सकता। यथा 'करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं। १२८।' वासनाकी पूर्ति न होनेसे मनुष्यको जो वेदना होती है, वह तीक्ष्ण काँटोंके चुभने से भी कहीं बढ़कर अधिक दुःखदाई होती है, कभी-कभी तो वह निराश होनेपर आत्महत्या कर लेता है।—यही बेलोंके काँटे हैं।

☞ स्मरण रहे कि संसारकी समस्त वासनाओंको तीक्ष्ण काँटेदार कहा गया है। इससे जनाते हैं कि समस्त वासनायें

दुःख देनेवाली और संसार-जालमें अधिक-अधिक फँसानेवाली हैं, चाहे वे सात्विक ही क्यों न हों।—'स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई।' इनसे सुख कदापि नहीं मिलनेका।

२ (ङ) 'निविड़ बिटपाटवी कठिन भारी' इति। बेलोंके छा जानेसे जंगलमें सघन अंधकार हो जाता है। फिर इस वनमें तो बेलें समस्त वृक्षोंपर लपटी हैं, चारों ओर फैली हैं और काँटेदार हैं; इसीसे कहते हैं कि 'निबिड़ विटपाटवी…'†। इस संसार कान्तार-के भीतर जो कर्म-वृक्षोंका वन है, वह भारी कठिन है, निर्बाह होना बड़ा कठिन है, सभी कर्मोंमें वासनायें लपटी छाई हैं।

[वैजनाथजी 'घोर गंभीर घन गहन' का भाव यह लिखते हैं—"कर्मरूप वृक्षोंकी सघनतासे यह वन ऐसा गहन है कि इसमें परमार्थपथ ढूँढे नहीं मिलता। गंभीरता यह है कि श्रवणसे सुन्दर रागादि सुनना, नेत्रोंसे सुन्दर रूप देखना और जिह्वासे षट्रस भोजन इत्यादि विषयोंकी वासनारूपी लताएँ कर्मवृक्षोंपर फैली हुई हैं। अर्थात् कर्मोंमें वासना लगी होना गंभीरता है।"]

टिप्पणी—३ 'विविध चित वृत्ति खग निकर…' इति। (क) चित्तवृत्ति अनेक प्रकारकी हैं। उनमेंसे यहाँ योगसूत्रमें कही हुई वृत्तियोंसे अथवा भगवान्‌की ओर ले जानेवाली चित्तवृत्तियोंसे तात्पर्य नहीं है। चित्तकी जो निषिद्ध वृत्तियाँ, निषिद्ध व्यापार वा स्वभाव है, वही यहाँ अभिप्रेत है। (ख) पूर्व कहा था कि संसार रूपी कान्तार अति घोर है, वह 'अति घोरता' अब यहाँसे दिखाना प्रारंभ करते हैं। चित्तकी अनेक निषिद्ध वृत्तियाँ दूसरों-का मांस नोचनेको तैयार रहती हैं, सदा परधनापहरण, परस्त्री-गमन, परहानिचिन्तन इत्यादि प्रकारके व्यापारोंमें लगी रहती हैं और दूसरोंको दुःख देती रहती हैं। इसीसे चित्तवृत्तियोंको बाज़, उल्लू, कौवा, बक और गृध्र कहा। ये सब पक्षी मांसाहारी हैं। बाज़ शिकारी पक्षी है, यह अन्य छोटे पंक्षियोंपर झपटता है और उनका

---

† (१) श्री० श०—"वनमें कँटीले वृक्ष स्वभावतः बहुत होते हैं, वैसेही संसारमें शुभकर्म बहुत प्रयत्नोंसे सिद्ध होते हैं और अशुभ तो अनायास ही प्रकृति-प्रवाहसे होते रहते हैं। इलीसे इसे "निबिड विटपाटवी भारी' कहा है।"

(२) वियोगीजी अर्थ करते हैं कि "व्याकुलतारूपी अनेक पैने काँटे बिछ रहे हैं। (बि०, पो०)।

मांस खाता है। जब चित्तकी वृत्ति दूसरोंको सताकर उनका सर्वस्व हड़प लेनेकी होती है तब वह बाज है। जब अंधकारमें छिपकर कुकर्म करनेमें लगती है, तब वह उलूक है। क्योंकि उलूकको दिन में नहीं सूझता, वह रातमें जीवोंकी हिंसा करता है। जब मलिन वस्तुपर इसका प्रेम होता है और यह छलसे मलिन और अविश्वासका कार्य करता है, पर भीतर से डरता रहता है, तब यह वृत्ति काकवत् है। यथा 'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती। २।३०२।२।' जब दंभ-पाखंड करके दूसरोंका धन अपहरण करनेमें लगती है तब चित्तवृत्ति बगलारूप है, क्योंकि बगला आँख मूँदकर जलके किनारे ताक लगाये बैठता है, मछली समीप आई नहीं कि उसने गड़प लिया। साधुवेष बनाकर, झूठ-मूठ ध्यान आदि लगाकर दूसरोंका अपने ऊपर विश्वास जमाकर लोगोंको ठगनेवाली चित्तवृत्ति 'बक' है। काक और बक ये दोनों अति विषयी माने गये हैं। यथा 'अति खल जे बिषई बग कागा। १।३८।' इस तरह अत्यन्त विषयासक्त वृत्तिको काक और बककी उपमा दी। गीध मरे हुए एवं मरणप्रायका मांस नोच नोचकर खाते हैं, वैसे ही दूसरोंको मरते देख जब उनकी संपत्ति घसोटनेकी फिक्रमें रहती है तब यह चित्तवृत्ति 'गीध' है।

[श्रीकान्तशरणजीका मत है कि चित्तवृत्तियाँ आकाशचारिणी हैं, यथा 'वायोः सकाशाच्चितं च नभोंशाच्चापि प्रवर्तते।' (जिज्ञासा पंचक), इसीसे उनको आकाशचारी पक्षियोंके समान कहा। "यहाँ बाज आदि पाँच पक्षियोंके नाम आये हैं, वैसे शब्दादि पाँचों विषयोंके प्रतिघात होनेपर पाँच प्रकारकी द्वेषवृत्तियोंसे तात्पर्य है।"]

३ (ग) 'अखिल खल निपुन छल छिद्र निरखत सदा···' इति। बाबू शिवप्रकाशजी, बैजनाथजी और भट्टजीके मतानुसार चोर, डाकू, बटमार आदि जो वनमें रहते हैं, वे ही ये 'अखिल खल' हैं। और, वीरकवि, दीनजी, वियोगीहरिजी, सूर्यदीनजी तथा पोद्दारजीका मत है कि 'अखिल खल' से वही 'खग निकर सेनोलूक···' जो पूर्वार्धमें कहे गये हैं उन्हींसे तात्पर्य है। ❀

❀ श्रीकान्तशरणजी बैजनाथजीके मतमें हैं। वे इसका समर्थन इस प्रकार करते हैं—"यदि सेनोलूक आदिको ही 'अखिल खल' मानें तो 'निपुन छल

'छिद्र निरखत…जीवजनमन खेदकारी' इति। जीवजन ही इस संसार-वनके यात्री हैं। जैसे वनमें जानेवाले यात्रियोंको सदा चोर, डाकू और हिंस्र जीवों आदिका भय लगा रहता है, वैसेही जीवको संसार-वनमें अनेक खलों और चित्तवृत्तियोंका भय रहता है। व्यापारी और यात्री (इसी डरके कारण) झुण्ड बना-बनाकर वनमें जाते हैं, इसीसे संसाररूपी वनके यात्रियोंको भी 'जीवजन' (जीवसमुदाय) कहा। 'मन खेदकारी' अर्थात् परमार्थपथमें चलनेवाले जीवोंके मनको ये दुःखदायक होते हैं, उनके मनमें स्थिरता, शान्ति और सुख आदि नहीं रहने देते।

टिप्पणी—४ 'क्रोध-करि-मत्त मृगराज कंदर्प…' इति। (क) उन्मत्त दशामें हाथी क्या नहीं कर डालता ? वह अपने शत्रुको खदेड़कर मारता है, शत्रु घरमें घुस जाय तो फाटक आदिको गिराकर भीतर घुसकर मार डालता है। वैसे ही क्रोध आनेपर मनुष्यका ज्ञान नष्ट हो जाता है, धर्म भाग जाता है, उसके मुखसे कठोर वचन निकलने लगते हैं। ☞उसका विचार जाता रहता है, वह उसके वश होकर अनुचित कर्म कर डालता है और दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेका कारण बन जाता है। यथा 'करहिं क्रोध जिमि धर्महिं दूरी। ३।१५।४।', 'क्रोध के परुष वचन बल।', '(लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि) क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं विश्वप्रतिकूल। १।२७७।' दोनोंमें समता इतनेमें ही यहाँ है कि मत्त हाथी और क्रोधी दोनों अंधेसे हो जाते हैं, विचार नहीं रह जाता, अनुचित कर्म कर डालते हैं।

छिद्र निरखत सदा' ये गुण चित्तवृत्तियोंमें कैसे घटित होंगे ? यदि कहा जाय कि यहाँ अन्तरंग दोषोंका ही वर्णन है, तो आगे 'खल भिल्ल' का क्या अर्थ किया जायगा ? वहाँ तो दूसरा कुछ उपाय नहीं रहता। वाल्मी० २।११६ में खर आदि राक्षसोंके वर्ताव श्रीरामजीसे महर्षि वाल्मीकिने कहे हैं कि वे तपस्वियोंके छिद्र देखा करते हैं, उन्हें थोड़ा भी असावधान पाते हैं तो उन्हें खा जाते हैं। यहाँ छलकी निपुणतासे छिद्र देखकर दुःख देनेमें खलोंके कर्मके दोष कहे गए हैं।"

☞ यहाँ हाथी और सिंह आदि कहे। इनके रहनेके स्थान कन्दराको आगे पर्वतका उल्लेख करते समय कहेंगे। ये कामक्रोधादि अहंकार-पर्वतकी महामोहरूपी गुहामें रहते हैं।—'महामोह गिरि-गुहा निविडांधकारं। (६)।'

४ (ख) 'मृगराज कंदर्प' इति। काम सिंह है। सिंहका नाम 'पंचानन', वैसेही कामका नाम पंचबाण। पंचबाण ही कामके पंचमुखी अस्त्र हैं। यथा 'सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पंचमुखं तदा। भा० १२।८।२५।' (अर्थात् कामदेवने उस समय पाँच मुखवाले बाणको अपने धनुषपर चढ़ाया)। सिंह वनका राजा, निर्भय और पराक्रमी; वैसे ही काम संसार-कान्तारका राजा, निश्शंक और परम बलवान। यथा 'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥', 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥' सिंह चारों पंजों और मुखसे वार करता है, काम पंचबाणसे वार करता है। इत्यादि समता है।

४ (ग) 'मद दर्प्प बृक भालु अति उग्रकर्मा' इति। मद वृक (भेड़िया) है। भेड़िया सबलसे डरता है, निर्बलपर चोट करता है। वैसे ही मद सबलसे दबा रहता है। भेड़िया भेंड़ोंके झुण्डमें घुमकर भेंड़को घसीट ले जाता है, वैसेही मदमत्त दूसरोंके बीचमें घुसकर कुकर्म कर डालता है, दूसरेकी इच्छाके विरुद्ध उसके देखते-देखते उसकी वस्तु छीन ले जाता है।❀

रीछ जिसपर क्रोध करता है, उसे फाड़ ही डालता है, यद्यपि यह मांस नहीं खाता तो भी ऐसा करता है। वैसे ही दर्पीला मनुष्य

❀ यथा—'अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्ति। भा० ५।१४।३' अर्थात् उस संसारवनमें रहनेवाले उसके कुटुम्बी, जो नामसे स्त्री-पुत्रादि कहलाते हैं, किन्तु कर्मसे साक्षात् भेड़ियों और गीदड़ोंके समान होते हैं, वे उस बिचारे दीन कुटुम्बीके धनको उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसके देखते ही देखते इस प्रकार छीन लेते हैं, जैसे भेड़िये गड़रियोंसे सुरक्षित भेंड़ों और बछड़ोंको उठा ले जाते हैं।' 'पुनश्च—'प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः। भा० ५।१३।२।' अर्थात् भेड़िये जिस प्रकार भेंड़ोंके झुंडमें घुसकर उसके बच्चोंको घसीट ले जाते हैं।

दुर्भावके कारण जिससे व्यवहारका संबंध होता है, उसे दुःखदायी हो जाता है। "जिसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य धर्मको अतिक्रमण कर जाता है, अन्तःकरणके आश्रित उस दोषविशेषका नाम 'दर्प' है।" कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकको नष्ट करनेवाले तथा विषयोंके अनुभवसे होनेवाले हर्षका नाम दर्प है। मनुष्य समझता है कि मेरे समान कोई नहीं। अहंकार जब दर्पका स्वरूप धारण करता है तब उसकी उग्रता अहंकाररूपी कुंभकर्णके दर्पके समान होती है मानों विश्वको ही ग्रास कर जायगी। यथा 'रन मद मत्त निसाचर दर्पा। बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा। ६।६६।५।' भालु सिंहसे अधिक भयानक होता है। सिंहसे लोग वृक्षपर चढ़कर बच जाते हैं, किंतु रीछ वृक्षपर भी चढ़कर उसको मार डालता है। इसीसे उसे 'अति उग्रकर्मा' कहा। ☞ भालुको 'अति उग्रकर्मा' कहकर जनाया कि 'मत्त करि, मृगराज, वृक' 'क्रोध, काम, मद' उग्रकर्मा हैं और भालु 'अति उग्रकर्मा' है।

४ (घ) 'महिष मत्सर क्रूर' इति। डाह, पराया हित होता देखकर जलन होने और असहनशीलताका नाम 'मत्सर' है। इसको क्रूर महिष कहा। यह प्रसिद्ध है कि भैंसा अपने शत्रुको नहीं भूलता। ज्योंही और जहाँही उसे पा-जाता-है, उसपर चोट करता है। वह द्वेषी प्रसिद्ध है। अमरकोशमें भी 'महिष' का अर्थ इस प्रकार है—'महिषो वाहद्विषन्'। अर्थात् अश्वादि बाहनोंसे द्वेष करनेवाला। इसीसे उसे 'क्रूर' कहा। मत्सरवाला मनुष्य भी बड़ा द्वेषी होता है। वह सदा दूसरेके उजड़ने उजाड़नेमें हर्षित होता है और बढ़ती देख जलता है। [वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि यहाँ 'महिष' से 'गेंडा' अभिप्रेत है। भैंसा मांसाहारी न होनेपर भी दूसरोंको व्यर्थ मारता है; इसीसे क्रूर कहा। ईर्ष्या दूसरोंका व्यर्थ बिगाड़ करनेमें हर्ष मानता है, यद्यपि उससे अपना कुछ लाभ नहीं होता। (भ० स०)]

४ (ङ) 'लोभ सूकर सूर' इति। 'सूर सूकर' से जंगली सुअर सूचित किया। जंगली सूकर विष्ठा नहीं खाता; इसीसे विष्ठा खानेवाले सूकरको 'ग्रामसूकर' कहते हैं। जंगली सूकर बड़ा वीर और विक्रान्त होता है। यह विख्यात है कि दो सिंहोंके बीचमें एक सूकर जाकर जल पी सकता है, पर दो सूकरोंके बीचमें जाकर सिंह जल

नहीं पी सकता। यह बहुत बच्चे एक साथ ही उत्पन्न करता है। यह हानिकर्तापर चोट करता है, मनुष्योंपर प्राय: बिना छेड़े वार नहीं करता। लोभ भी बड़ा सूर है, हितहानिकर्ताका शत्रु हो जाता है। प्रत्येक लाभके साथ यह और अधिक बढ़ता जाता है, किसी तरह दबता नहीं। काम-क्रोधादि बहुतसे बच्चोंको जननेवाला है। दुष्कर कर्मोंमें प्रवृति तथा न करने योग्य कार्य कर बैठना इत्यादि सबका कारण लोभ है, भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता;—"···दुष्कर कारिता॥ साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा।', 'कामैर्यश्च न तृष्यति' (म० भा० शान्ति० १५८।१०,११,१३) ।—यह लोभकी शूरता है।

४ (च) 'फेरु छल' इति। शत्रुको वशमें करनेवाली कूटनीतिके सम्बन्धमें कणिकने गीदड़का उदाहरण देते हुए उसे 'कृतप्रज्ञ: शृगाल: स्वार्थपण्डित:' अर्थात् बड़ा बुद्धिमान् और स्वार्थसाधनमें कुशल कहा है। इसके चार मित्र थे, बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवला। चूहे और बाघ द्वारा इसने हिरन मरवाया। फिर इसने ऐसी युक्ति रची कि एक-एक करकें चारों मित्र हिरनको छोड़कर चले गए। इस प्रकार सबको उससे वंचितकर वह बड़ा हर्षित हुआ, अकेले ही सारा मांस उसीको मिल गया। (म० भा० आदि १३६।२६-४६)। अमरकोशके टीकाकारने 'मृगधूर्तक' (पशुओंमें धूर्त) और 'वंचक' शृगालके पर्याय बताये हैं।

छलिया भी स्वार्थमें परम चतुर होता है। मित्र बनकर अपना स्वार्थसाधन युक्तिसे करना 'छल' है। छलको परवंचकता और धूर्तता भी कहते हैं। तक्षकने परीक्षितके सांथ छल किया। नागोंको विप्ररूपसे फल लेकर उनके पास भेजा और फलमें स्वयं जन्तुरूपसे बैठ गया। विष उतारनेवाले काश्यपको द्रव्य देकर उसने राजाके पास न जाने दिया। तत्पश्चात् "स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिव:। मया वंचयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति। म० भा० आदि ४३।२२-२३।' उसने विचारा कि मायाका आश्रय लेकर राजाको ठगना चाहिए, क्या उपाय करूँ।" तब यह युक्ति की। यह 'छल' है। अतः छलको फेरु (गीदड़) कहना युक्तियुक्त ही है।†

---

† शृगाल अमंगलरूप है। यात्रा आदि मंगल कार्योंके समय बोलकर,

४ (छ) 'दंभ मार्जार धर्मा' इति। मार्जार बन-बिलाव है। 'मायावी' भी मार्जारका एक पर्य्याय-शब्द है। दंभी भीतरसे दुष्ट होता है, ऊपरसे पुजाने आदिके लिये साधुवेष बनाये बड़ा नम्र बन जाता है। बिलावकी नवनि भी घात करनेके लिये होती है। यथा 'नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥ ३।२४।७'—साधुवेष बनाना माया है। मायावी होनेसे दोनों समान हैं। ❀

टिप्पणी—५ 'कपट मर्कट बिकट ब्याघ्र पाषंड'' इति। (क) अभिप्रायसाधनार्थ हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्ति 'कपट' है। इसमें ऊपरसे कुछ और, भीतरसे कुछ और होता है। ऊपरसे मीठा बोलना, मित्र बनना, अपनेको बहुत सीधा जनाना और भीतरसे छुरी चलानेकी सोचना, इत्यादि हृदयकी वृत्तिका नाम 'कपट' है। यथा 'तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना। भूप सुहृद सो कपट सयाना॥ बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा। १।१६०।', 'कपट चतुर नहिं होइ जनाई। २।१८।४।', 'दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥ ऐसिउ पीर बिहँसि उर गोई। चोरनारि जिमि प्रगट न रोई॥ लखइ न भूप कपट चतुराई।...कपट सनेह बढाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥ २।२७।४-८।'—इसी तरह बंदर भी भोला-भाला बनकर, कभी-कभी आँखें बन्द-सी करके बैठ जाता है, या इधर-उधर मुँह कर लेता है जिससे जान पड़े कि सोता है, देखता नहीं है और कभी-कभी बड़ा दीन होकर बोलता है जिसमें देखनेवालेको दया लगे, इत्यादि। किन्तु यात्रीको किंचित् असावधान देखते ही वह

अपना रूप दिखाकर, हानिकारक होता है, वैसे ही छली उपाय करके नाश करता है। (भ० स०)।

❀ 'बिलाव समाधिस्थके समान बैठकर धोखा देकर चूहेको खा लेता है, वैसे ही दंभी एकान्तमें बैठकर नाना साधनोंका आडंबर करता है और अवसर पाकर परद्रव्य, परस्त्री आदि ले लेता है। (डु०)। बिलाव प्रत्यक्ष मनुष्योंके देखते किसी चीजको नहीं खाता, सूनेमें खाता है, वैसे ही दम्भी जगत्के दिखानेको प्रत्यक्षमें वस्ती आदिका त्याग दिखाते हैं और एकान्तमें भोग कर लेते हैं। (डु०, भ० स०)।

उसकी वस्तु उठाकर नौ-दो-ग्यारह हो जाता है। मौका पाकर तुरत झपटकर चीज़ लेकर भाग जाता है, फिर भी घुड़कता और काटनेको दौड़ता है। कैकेयीकी कार्यसिद्धि होनेपर फिर तो उसका रोष आदि सबने पढ़ा ही है।

५ (ख) 'पाषंड' व्याघ्र अर्थात् बाघ है। बाघ और सिंह दो भिन्न-भिन्न हिंस्र पशु हैं। बाघ उन पशुओंकी हिंसा करता है जो पास आ जाते हैं और सिंह दूरसे ही झपटता है। दंभ और पाषंड दोनों ही मायाकटकके भट हैं। इनमें बहुत सूक्ष्म भेद है। दंभी अपनी बुद्धिसे वेद-विरुद्ध कल्पित ग्रन्थ रचकर प्रगट करते हैं कि यह सन्तमत है और पाषण्डीके वितण्डावादसे सद्ग्रन्थोंका लोप हो जाता है, लोग भ्रममें पड़ जाते हैं, निर्णय नहीं कर पाते कि यह सत्य है या वह। यथा 'हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ। जिमि पाषंड बाद ते गुप्त होहिं सद्ग्रंथ। ४।१४।' इसी तरह पाषण्डीके पास जो आता है उसको सत्यमार्गमें भ्रम हो जाता है, धर्मका लोप हो जाता है जिससे वह नष्ट हो जाता है, जैसे बाघके पास जानेवालेको बाघ खा लेता है। जो दूर रहता है, वही बचता है। (भ० स०) ‡

५ (ग) 'दुखद मृगव्रात उत्पातकर्त्ता' इति। 'क्रोध करि मत्त' से लेकर 'व्याघ्र पाषंड' तक मुख्य-मुख्य कुछ पशुरूपी वृत्तियोंको गिनाकर और शेषको 'मुख' (= आदि) में कहकर इन्हीं सबोंको 'दुखद मृगव्रात उत्पातकर्त्ता' कहा है। अर्थात् ये सब पशुवृत्तियाँ तथा और भी जो हैं, वे सब दुःख देनेवाली हैं, सब उपद्रव किया करती हैं।—यह कहकर आगे इनसे रक्षाकी प्रार्थना करते हैं।

५ (घ) 'हृदय अवलोकि यह सोक सरनागतं' इति। इन शब्दोंसे प्रकट करते हैं कि यहाँतक जो कान्तारके रूपकसे संसारका वर्णन हुआ, वह (संसार) मैं अपने हृदयमें देख रहा हूँ।—शुभाशुभ कर्म,

---

‡ दीनजीका अर्थ है—'पाषण्ड विकट मुखवाला बाघ है, जो सन्तरूपी मृगसमूहको दुःख देनेवाला है।' भाव कि बाघ अपने मुखद्वारा मृगोंको दुःख देता है और पांखण्डी भी अपने मुख द्वारा अप्रमाणिक शास्त्रोंके कल्पित वचनोंसे वेदादिकी निन्दा करके सन्तोंको दुःख देते हैं।

कंटाकुल वासनाएँ, विविध दूषित खेदकारी चित्तवृत्तियाँ, क्रोध, काम, मद, दर्प, मत्सर, लोभ, छल, दंभ, कपट और पाषण्ड आदि युक्त संसार हृदयमें बस रहा है, जिससे मैं शोकातुर हो गया हूँ। संसारमार्गमें ये सब विघ्न उपस्थित हैं, जो जीवको शोकमें डालनेवाले, बारंवार जन्म-मरण देनेवाले हैं। इनमें फँसकर जीव नरक भोगता है। अतएव भयभीत होकर इनसे अपनी रक्षाके लिये 'सरनागतं', आपकी शरणमें आया हूँ।

५ (ङ) 'पाहि मां पाहि भो विश्वभर्ता' इति। आप विश्वभर्ता हैं, विश्वके स्वामी हैं, उसका भरण-पोषण आदि करते हैं। मैं भी विश्वमें हूँ और आपका विरद है—शरणागतकी रक्षा करना।—'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥'; अतएव मेरी रक्षा कीजिए। 'पाहि मां पाहि' में भयकी त्रिप्सा है। 'पाहि मां पाहि भो विश्वभर्ता' में 'परिकरांकुर अलंकार' है।

नोट–७ पद ४४ से लेकर यहाँतक शरणागतिके कुछ लक्षण कहे गए हैं, जो इस प्रकार हैं।—(१) पद ४४ (६) 'अधम आरत दीन पतित पातकपीन सकृत नत मात्र कहे पाहि पाता।' में बताया कि कैसा भी कोई अधम पतित पापी हो, वह दीन होकर एक बार प्रणाम करके 'पाहि' (रक्षा कीजिए) कहे, तो प्रभु अवश्य रक्षा करते हैं।

(२) पद ५३ (६) 'बचन-मन-कर्म-गत-सरन तुलसीदास त्रासपाथोधि इव कुंभजातं।' से बताया कि यह विश्वास रखकर कि प्रभु शरणागतके त्रासको सोखनेको समर्थ हैं, मन-कर्म-वचनसे उनकी शरणमें जाना चाहिए।

(३) पद ५४ (६) 'पाहि मामीश संताप संकुल सदा दास तुलसी प्रनत रावनारी।' में बताया कि अपनेको संतप्त बताते हुये 'पाहि मां' कहकर प्रणामपूर्वक शरण होना चाहिए।

(४) पद ५५ (६) 'विश्वपोषनभरन विश्वकारन-करन सरन तुलसीदास त्रासहंता।' में बताया कि यह भी विश्वासकर कि आप ही एकमात्र 'सर्वलोकशरण्य' हैं, विश्वमात्रके एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता-भर्त्ता-त्रासहन्ता हैं, ऐसा कहते हुये शरणमें जाय।

(५) पद ५६ (६) में शरणागतिके उपर्युक्त प्रायः सभी अंग दिखाकर रक्षाकी प्रार्थना की गई है।—'दास तुलसी खेदखिन्न

आपन्न इह-सोक-संपन्न अतिसय सभीतं। प्रनतपालक राम परम करुनाधाम पाहि मामुर्विपति दुर्विनीतं ॥' इसमें 'इह शोक संपन्न' कहा। 'इह शोक' क्या है, इसको स्पष्ट न किया।

(९) अब प्रस्तुत पदमें 'इह-शोक' क्या है, यह भी कहते हुए अत्यन्त सभीत हुए घबड़ाकर 'रक्षा करो', 'रक्षा करो' (पाहि मां पाहि) कहकर शरणागत हुए। ५५ (९) में जो 'विश्वपोषण-भरण' है, वही यहाँ 'विश्वभर्ता' है। 'अति सभीत' बार बार 'पाहि' कहनेसे ही प्रकट है।

☞ यहाँ 'पाहि मां पाहि' कहा और फिर इसी पदके अन्तमें 'त्राहि रघुबंसभूषन कृपाकर' कहा। तीन बार कहकर बारंबार 'त्राहि' करना जनाया। [वैजनाथजीका मत है कि दो बार 'पाहि' कहनेका भाव यह है कि यहाँतक जो भय कह आये एक 'पाहि' उससे रक्षाके निमित्त कहा। और दूसरा 'पाहि' आगे जो और भय कहते हैं, उससे रक्षाके लिये कहा।] श्रीरामजी सभीत शरणागतकी रक्षा प्राणोंके समान करते हैं।

नोट—८ 'हृदय अवलोकि यह सोक···विश्वभर्त्ता' कहकर फिर आगे 'देव प्रबल अहंकार···' इत्यादि कहने लगे। इससे ज्ञात होता है कि संसार-कान्तारका रूपक कहते-कहते उसके उपद्रवोंको विचारकर घबड़ा गये थे, इसीसे बीच हीमें 'विश्वभर्ता' से रक्षाके लिये बारंबार प्रार्थना करने लगे—'पाहि मां, पाहि'। प्रभुकी ओरसे कुछ सांत्वना तथा सम्मुखताका संकेत पाकर कुछ सावधान होनेपर फिर और भी जो भय है, उसे निवेदन करने लगे।

टिप्पणी—६ 'देव प्रबल अहंकार दुर्घट महीधर···' इति। (क) गोस्वामीजी यहाँ उस भयंकर वनका रूपक दे रहे हैं, जिसमें पर्वत और तीव्रधारवाली भयानक नदी भी होती है। विन्ध्याचल चित्रकूट, बदरीवन, अमरकण्टक और आसाम आदिमें ऐसे अनेक जंगल हैं। विशेषकर व्याघ्र और भालू प्रायः पर्वतवाले वनोंमें ही रहते हैं। श्रीरघुनाथजीने श्रीजानकीजीसे जो वनके दुःख बताये हैं; उनमें ये सब भय कहे हैं। यथा—

'कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी।२।६२।४
चरनकमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे।६।

कंदर खोह नदी नद नारे । अगम अगाध न जाहिं निहारे ।७।
भालु बाघ बृक केहरि नागा । करहिं नाद सुनि धीरजु भागा ॥८॥…”
“नर अहार रजनीचर चरहीं । कपट वेष बिधि कोटिक करहीं ।२।६३।१
लागइ अति पहार कर पानी । बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ।२॥
ब्याल कराल बिहग बन घोरा । निसिचर निकर नारि नर चोरा ॥३।
डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ ।” (अ० ६२–६३) ।

वाल्मी० २।२८ में भी श्रीरामजीने गिरि, कन्दरा, नदी, विच्छू, मच्छड़ आदिका कान्तारमें होना कहा है। यथा ‘गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम् ।’‘‘सग्राहाः सरितश्चैव ।७,६ ।’, ‘सरीसृपाश्च बहवो वहुरूपाश्च भामिनि । चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम् ।१६। नदीनीलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः । तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम् ।२०। पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह । बाधन्ते नित्यं ।२१।’ (अर्थात् अनेक रूपवाले वहुतसे सर्प आदि वनमें निर्भय होकर बिचरते हैं। नदीमें रहनेवाले तथा नदीके समान टेढ़ी चालवाले सर्प रास्ता रोक लेते हैं। पतिंगे, बिच्छू, बनमक्खी, डाँस और मच्छड़ सदा दुःख पहुँचाते हैं। १६-२१ ।) ।

६ (ख) ‘प्रवल अहंकार’ को दुर्घट पहाड़ कहते हैं। दुर्घट अर्थात् जिसकी चढ़ाई, जिसका लाँघ जाना, अत्यन्त कठिन है। परमार्थपथमें अहंकार सबसे बड़ा प्रबल शत्रु है। यह अनेक साधन करनेपर भी नहीं जाता। इस स्थूल शरीरमें ही नहीं, वरन् यह तो प्राणीके सूक्ष्म, लिंग और कारणशरीरोंमें भी साथ लगा रहता है। अहंकार ही तो विश्वका मूल कारण है। अहंकार ही अज्ञान और सृष्टिकी विविधताका मूल है। ‘अहं मम’ ही तो संसार है। —अतएव जान लेना चाहिए कि ‘अहंकार’ किस वृत्तिका नाम है।—“जो ‘अहं’ का विषय नहीं उस प्रकृतिमें ‘मैं-पन’ का अभिमान कर लेना” (‘अहंकारो नाम अनहमर्थे प्रकृतौ अहम् इति अभिमानः’) ‘कार्य और करणके संघातरूप शरीरमें आत्मभावकी प्रतीति,’ ‘अनात्मामें आत्माभिमान’, ‘यद्यपि सब कर्म सत्व-रज-तम गुणोंके द्वारा होते हैं तो भी यह मान लेना कि मैं करता हूँ’—इसीका नाम ‘अहंकार’ है।—‘प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते । गीता ३।२७’ (गीता भाष्य)।

अहंकारके कारण मनुष्यको आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, इसीसे वह अपनेको कर्ता मान लेता है। उसे अपने हिताहितके ज्ञानके संबंधमें स्वतन्त्रताका अभिमान हो जाता है, उसमें यह भाव दृढ़ रहता है कि मैं स्वयं ही समस्त कर्तव्य-अकर्तव्यको भली भाँति जानता हूँ—"अहंकारम्—आत्मनि हिताहितज्ञाने स्वातन्त्र्याभिमानम्', "अहंकाराद्—अहम् एव कृत्याकृत्यविषयं सर्वं जानामि इति भावात् ।" (गीताभाष्य १८।५६,५८) ।

अहंकारके कारण देहके संसर्गसे किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंके दोषसे विवश और शान्तिहीन होकर प्राणी उत्तम, मध्यम और नीच योनियोंमें उत्पन्न होकर जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़ा रहता है। यथा—'कर्तास्मीति निबध्यते। भा० ११।११।१०।' (मैं करनेवाला हूँ, ऐसा माननेसे बंधनमें पड़ता है), 'तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः। प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ भा० ३।२७।३।'—इत्यादि कारणोंसे इसे 'प्रबल' कहा (मानसरोगोंमें इसे 'अति दुखद डमरुआ ।७।१२१।३५।' कहा है) और 'दुर्घट महीधर' की उपमा दी।

यह 'प्रबल' है। इसीसे इसको मोहका सहोदर भ्राता कहा है; यथा 'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार ।५८।' अहंकार ही मोहका परम बल है, इसके रहते मोहका नाश नहीं हो सकता।

६ (ग) "महामोह गिरि गुहा निबिडांधकारं" इति। पर्वतोंमें बड़ी लंबी, गहरी और अंधकारमय प्राकृतिक अकृत्रिम गुफायें होती हैं, जिनमें दैत्य, दानव, निशाचर, सिंह, हाथी, भालु और बाघ आदि रहते हैं। बालिने दुंदुभीको ऐसी ही गुहामें जाकर मारा था तथा वनमें भूले हुए वानर दूतगण स्वयंप्रभावाली जिस गुहामें घुसे थे—उन गुहाओंसे इसका अनुमान पाठक कर सकते हैं। संसारकान्तरमें अहंकार-पर्वतके भीतर महामोह ही ऐसी गुहा है जिसमें कामक्रोधादि सिंह, हाथी आदि रहते हैं।

इन्द्रियोंकी विषयलालसाओंकी पूर्ति करते-करते मनुष्य घोर अज्ञानांधकारमें पड़ गया है। देह-गेह आदिमें 'मैं' और 'मेरे-पन' का दुराग्रह होना ही 'महामोह' है। 'महामोह' के आवरणमें स्वस्वरूप-परस्वरूप कुछ नहीं सूझता—गाढ़ अज्ञानांधकार बुद्धिपर छाया रहता है। मनुष्य अपनेको ही ईश्वर, स्वतंत्र, सर्वसमर्थ, मान

लेता है, भोगोंके उपभोगको ही परमपुरुषार्थ कहता है, ईश्वर और प्रारब्धकी हँसी उड़ाता है। तमोगुणसे युक्त होकर तमोगुणमें ही प्रवृत्त रहता है। 'इस तरह जो भोगोंमें आसक्त हो जाना' है, उसीको 'महामोह' कहते हैं।—'अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः। म० भा० आश्व० ३६।३२।' गाढ़ अज्ञानांधकार ही 'गुहाका निविड़ांधकार' है।

६ (घ) 'चित्त बेताल' इति। (१) ऊपर अन्तरा ३ में चित्तकी वृत्तियोंको श्येन, उलूक, काक, बक और गृध्र कहा था। अब स्वतः 'चित्त' को, जो अन्तःकरणकी एक वृत्ति है उसको, 'वेताल' कहते हैं। (२) 'वेताल' से उल्मुख बैताल (अगिया वैताल) समझना चाहिए। वेदान्तभूषणजी बताते हैं कि अथर्ववेद काण्ड ८ सूक्त ६ मंत्र १५ में उसका वर्णन इस प्रकार है—"येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरोमुखा। खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट् मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः॥ तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय॥" अर्थात् उल्कामुख प्रेतका प्रपद (पैरका पंजा) पीछेकी तरफ होता है, पार्ष्णी (दोनों पाँवोंकी एँड़ी) और मुख आगेकी तरफ होता है। खलदुष्ट लोग ही मरकर प्रेत होते हैं। इनके मुखसे धूम (अग्निकी लपट भी) निकला करता है। ये अधिकतर स्मशानमें रहते हैं, ये हरदम पलक झपकाया करते हैं। इनका अण्डकोश घड़ेके समान होता है। ये भोग भोगनेमें असमर्थ रहते हैं, इसीसे सदा क्षुधित एवं पीड़ित रहा करते हैं, तभी झुँझलाहटमें निर्बल प्राणियोंको सताया करते हैं। अतः, हे ब्रह्मणस्पते (भगवच्छरणागत वेदज्ञ पुरुष)! भक्ति एवं ज्ञानसे इन प्रेतोंको नाश करो। अर्थात् भक्त एवं ज्ञानीके पास ये प्रेतगण नहीं जाते, जायँ तो नष्ट हो जायँ। (वे० भू० पं० रा० कु० दा०)।

तराईके मैदानोंमें यत्र-तत्र इधर-उधर घूमते हुए फासफोरसके अंश जो दूरसे जलते हुये लूकके समान जान पड़ते हैं, उन्हें भी अगियाबैताल समझकर यात्री चिन्तित और भयभीत रहते हैं कि प्रेत खा न ले। अपने धार्मिक ग्रंथोंके अनुसार वेताल एक प्रेतयोनि ही है।

चित्त और वेतालमें साम्य।—(१) अविद्याद्वारा काम और कर्मोंमें आसक्त कलुषित, चित्त इस संसारवनके विघ्नबहुल मार्गमें

भटकते हुए जीवको असत्य मर्त्यलोकमें सत्यकी प्रतीति कराके नष्ट करता है। वेताल वनमें जाड़ेसे ठिठुरते हुये, अग्निके लिये आतुर पुरुषको अग्निकी प्रतीति वहाँ कराके अपनी ओर आकर्षितकर उसे नष्ट करता है।

(२) चित्त विषयभोगोंको सुहावना दिखाकर मनुष्यको भोगासक्तकर उसे नित्य नवीन भोगोंके लिये चिन्ताग्रस्त कर देता है। विषयभोगसे कभी तृप्ति नहीं होती, भोगके लिये सदा आतुर और इच्छानुसार भोग न कर सकने अथवा विफलमनोरथ होनेसे चित्त पीड़ित होता है। वेताल भी भोग भोगनेमें असमर्थ होनेसे सदा क्षुधित और पीड़ित रहा करते हैं। दोनोंकी झुँझलाहट निर्बलोंपर ही होती है।

(३) चित्त चंचल होता है। अगियावेताल भी चंचल होता है। यथा 'क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् । भा० ५।१३।३।' अर्थात् कभी अति चंचल अगियावेताल देखता है।

(४) वेतालके मुखसे अग्निकी लपटें निकला करती हैं जिसे देखकर यात्री चिन्तित रहता है। परमार्थमार्गके यात्रीको चित्त नित्य नवीन विषयभोगकी प्राप्तिके लिये सदा चिन्तित रखता है। यही अग्निज्वालाद्वारा वेतालका डरवाना है।

(५) वेतालकी गति वायुके समान है। वैसेही चित्त हजारों कोसके विषयोंका स्मरण चिन्तन ग्रहण करता है। यह दोनोंमें समानता है। (ङु०)।

(६) वेताल मुँहमें आग जलाये हुये यात्रियोंको डरवाता है, वैसे ही चित्तमें चिन्तारूपी ज्वाला भरी रहती है (जो जीते जी ही मनुष्यको जला डालता है)। (ङु०, वै०)।

६ (ङ) 'मनुजाद मन' इति। वनमें राक्षस रहते हैं जो यात्रीको खा जाते हैं; यथा 'निसिचर निकर नारि नर चोरा।', 'नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक करहीं। २।६३।' वैसेही मन अनेक इन्द्रियों तथा अनेक विषयोंका रूप धारणकर जीवको वहकाकर उसका सत्यानाश करता है। ☞ स्मरण रहे कि सब इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं, मन किसीके वशमें नहीं है, वह बलवान्से भी बलवान् है, अत्यन्त भयंकर है। यह बड़ा भारी शत्रु है, इसका आक्रमण असह्य है। 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्स्म देवा मनश्च नान्यस्य

वशं समेति । भीष्मो हि देवः'' ।४८। तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगमरुन्तुदं''। ४९।' (भा० ११।२३) । यही भवका कारण है । जीवको विषयोंमें लगानेवाला यही है; विषयासक्ति ही जीवको खा जाती है । यथा 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः । वि० पु० ६।७।२८।' अर्थात् मनही बंधन और मोक्षका कारण है । विषयासक्ति द्वारा वह संसार-बंधनमें डालता है''') ।

☞ मनरूपी राक्षस मनुष्यको खानेवाले राक्षसकी अपेक्षा विशेष भयंकर है । 'मनुजाद' तो एक ही बार मारता है, पर मन बारंबार जन्म-मरण देता है । यथा 'विटप मध्य पुत्रिका, सूत्र महँ कंचुकि बिनहिं बनाएँ । मन महुँ तथा लीन नाना तन प्रगटत औसर पाएँ । १२४।'

६ (च) 'प्रेतगन रोग' इति । प्रेत जिसको लगते हैं, उसे बहुत दुःख देते हैं; प्रायः प्राण लेकर ही छोड़ते हैं । परमार्थपक्षमें जीवके पीछे बहुतेरे मानसिक रोग लगते हैं । रोगोंकी संख्या नहीं । ये सब असाध्य रोग हैं, जो सदा प्रेतकी तरह इसे पीड़ित किये रहते हैं और प्राणान्तपर भी पीछा नहीं छोड़ते, (दूसरे शरीरमें जा घेरते हैं । प्रेतगणसे जीवके रोगोंमें यह विशेषता है) । यथा 'कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥ एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि । पीड़हिं संतत जीव कहँ सो किमि लहइ समाधि ॥ नेम धर्म आचार तप ज्ञान जग्य जप दान । भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान । ७।१२१। एहि बिधि सकल जीव जग रोगी । सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥' रोग अगणित हैं, इसीसे उनको 'प्रेतगण' की उपमा दी । प्रेत झाड़फूँक, यंत्र-तंत्र आदिसे चले भी जाते हैं, पर ये रोग औषधसे नहीं जाते । अथवा, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष शारीरिक और मानसिक सभी व्याधियोंको 'प्रेतगण' मान लें । शारीरिक रोग भी गर्भसे निकलते ही पीछे लग जाते हैं । बचपनमें बालग्रह पिछवाये रहते हैं । आगे भी जीवित अवस्थामें नई-नई व्याधियाँ प्राप्त होती रहती हैं । (वैजनाथजीका मत है कि ज्वर और अतिसार आदि रोग प्रेतगण हैं जो जीवको दुःख देते हैं, जिससे वह साधन नहीं कर सकता) ।

६ (छ) 'भोगौघ वृश्चिक विकारं' इति । 'भोग' के दो अर्थ हैं । एक तो भोजन, वस्त्र, वाहन, स्त्री, आभूषण, सुगंध, पान-बीड़ी,

नृत्य गान वाद्य आदि भोग। दूसरे, दुःख-सुख कर्मभोग जो अगणित प्रकारके हैं। प्रत्येक भोगमें शुभ और अशुभ कर्म ही कारण हैं। दुःख और सुख दोनों ही अपनेही पूर्व जन्मके किये हुए कर्मोंके फल हैं। विना भोग किये कर्मका नाश नहीं होता। शैशवादि तथा जाग्रतादि अवस्थाएँ भी भोग ही हैं।—इत्यादि विविध भाँतिके अगणित कर्मोंके विविध भोग ही वृश्चिकदंश हैं, जो चराचर प्राणीको व्यापा करते हैं। ये पूर्वजन्मोंके कर्मोंसे पीड़ित मनुष्यको पुनः पुनः पीड़ा पहुँचाया करते हैं। विषयभोगरूपी विष शरीरमें व्याप्त हो जाता है, जिससे मनुष्य अनेक रोगों तथा जरासे पीड़ित होकर पुनः पुनः मरता जीता है। बिच्छूका विष तो एक ही शरीरमें व्यापता है; पर विषयभोग विष तो अनेकों शरीरोंमें व्याप्त हो जाता है। दोनों दुःखद हैं। पहाड़ी जंगलोंके बिच्छू बड़े विषैले होते हैं; छू जाते ही उनके डंकका विष सारे शरीरमें छा जाता है,—'छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी।' [श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "भोजन-वस्त्रादिअष्ट भोगोंकी आसक्तिमें परमार्थी पथिकको परिणाममें वैसा ही कष्ट होता है जैसा वनमें बिच्छूके डंक मारनेसे। विश्वामित्र मुनि और राजा ययातिने इन अष्टभोगोंमेंसे केवल स्त्रीभोगकी बाधाका अनुभव करके पश्चात्ताप किया है। (वाल्मी० १।६३। म० भा० आदि० ७५।५०-५१ देखिए)"]

७ (क) 'बिषयसुख लालसा दंस मसकादि खल झिल्लि' इति। वनमें डाँस और मच्छड़ सोने नहीं देते, रातकी तो बात ही क्या वे दिनमें चैन लेने नहीं देते, वैसे ही विषयसुखकी उत्कट अभिलाषा जीवको सुखसे बैठने नहीं देती। [उसकी थिरता (स्थिरता) रूपी सुखको नष्ट करती है। (वै०)] खल और झींगुरमें समता यह है कि खल बोली (वचनबाण) मारते हैं, टेढ़े वचन बोलते हैं और झींगुरका शब्द भी झंकारयुक्त और कठोर होता है। यथा 'क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं··· अतिव्यथितकर्णमूलहृदयः। भा० ५।१४।११।' (अर्थात् उल्लू तथा झिल्लिझंकार कानों और हृदयको पीड़ा पहुँचाते हैं। भा० ५।१३।५ में भी झिल्लिके स्वरको) कर्णकटु कहा है। यथा 'अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल०'।

७ (ख) 'रूपादि सब सर्पस्वामी' इति। रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्शको सर्प कहा, क्योंकि दोनों विषैले हैं। 'सब' का भाव कि

पाँचों विषयोंमें प्रत्येक विषय सर्प है। परमार्थ पथीको एक ही विषय नष्ट कर देता है। देखिए, हिरन शब्दमें आसक्त होनेसे बंधनमें पड़ता है। पतिंगा रूपासक्त होकर दीपक आदिपर गिरकर मर जाता है। इत्यादि। तब भला जहाँ पाँचों एक साथ डसेंगे वहाँ क्या दशा होगी? वनमें अजगर भी बड़े-बड़े होते हैं, जो यात्रियोंको निगल जाते हैं; अथवा जिनके विषसे यात्री मर जाता है। संसाररूपी वनमें परमार्थपथीकी इन्द्रियाँ विषयमें फँसी नहीं कि वह जन्ममरणके वश हुआ। यही सर्पका डसना और जीवका नाश होना है।—समानता इतने हीमें है।

श्रीजड़भरतजीने भी भवाटवीके वर्णनमें अजगर और सर्पकी चर्चा की है। यथा 'क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः। दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकैरन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे। भा० ५।१३।९।' अर्थात् कभी अजगर सर्पके डसनेसे वनमें फेंके हुए मुर्देके समान पड़ा रहता है, उस समय इसे कुछ भी सुध नहीं रहती। कभी सर्पादिके काटनेसे अंधा होकर वह एक घोर अँधेरे कुँएँमें पड़कर सोता रहता है।—इसके अनुसार भाव यह है कि विषयसर्पके डसनेपर जीवकी बुद्धिका नाश हो जाता है; उसे यह भी नहीं सूझता कि परमार्थ पथ भी कोई चीज़ है, विषयोंकी ओर ही निरन्तर इसकी प्रवृत्ति रहती है। यही बात आगे 'मंद और अंध' से दर्शित की है।

☞ यहाँ शब्दादि न कहकर रूपादि कहनेमें भाव यह जान पड़ता है कि शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म वस्तुएँ हैं और रूप स्थूल विषय है। सर्प भी स्थूल है। इसलिये 'रूपादि' कहा। 'स्पर्श' विषय भी सर्प है। स्पर्शसे विषयोंका चिन्तन अभिप्रेत है। अनादि पापवासनाके कारण विषयोंका चिन्तन अनिवार्य हो जाता है। विषयोंकी आलोचना करते रहनेसे उनमें आसक्ति हो जाती है, जिससे मनुष्य संसारमें पड़ता है। यही आत्माका नाश है; यथा 'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। गीता २।६२।…'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।६३।' अर्थात् विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, उसमें हानि होनेसे क्रोध, उससे संमोह, सम्मोहसे स्मृतिका भ्रम, इससे बुद्धिका नाश होता है

जिससे पुरुष नष्टप्राय हो जाता है।—विषयचिंतन ऐसा अनर्थका मूल है।

'स्वामी' सम्बोधन भी है और सर्पके साथ मिलकर अजगर आदि बड़े-बड़े सर्पोंका अर्थ भी देता है।

७ (ग) 'तत्र आछिप्त तव विषम माया···' इति। 'विषम' से जनाया कि आपकी माया अत्यन्त दुस्तर है। यथा 'हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस। ७।११८।', 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। गीता ७।१४।' 'तत्र आछिप्त···' से जनाया कि उसी बलवती मायाकी प्रेरणासे यह जीव संसार-कान्तारमें जा पड़ा है। (नोट—२ देखिए)। यथा 'तव बिषममाया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे। ७।१३।' (वेदबंदीवचन), 'दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो···। भा० ५।१३।१', 'तव माया बस फिरउँ भुलाना। ४।२।६।', 'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। ७।४४।', 'हरिमायाबस जगत भ्रमाहीं॥ १।११५।', इत्यादि।

७ (घ) 'अंध मै मंद···' इति। आँखें हों तो कोई न कोई रास्ता देख बाहर निकलनेकी आशा भी हो सके और बुद्धि भी ठीक हो तो मनुष्य वहाँसे निकलनेका उपाय भी कर ही ले। जहाँ दोनों नहीं, वहाँका कहना ही क्या ? अंधा तो वनसे दैवकी कृपासे भले ही निकल सके, नहीं तो वहाँसे जीता या मरा किसी प्रकार निकलना कब संभव है ?—वही यहाँ कहते हैं कि मुझमें दोनों नहीं हैं। मैं अंधा भी हूँ और मन्दबुद्धि भी। परमार्थपथमें ज्ञान और वैराग्यको दोनों नेत्र कहा है,—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।' सो न मुझमें ज्ञान है, न वैराग्य और न सुन्दर निर्मल बुद्धि ही। मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। भाव यह है कि आप ही एकमात्र मेरे रक्षक हैं और कोई आशाभरोसा नहीं है। आप ही कृपा करें, तो मैं संसारकान्तारसे निकल सकूँ, विषयसर्पोंके डसनेसे बच जाऊँ, नहीं तो वह मुझे निगल ही जावेगा।

मन्दबुद्धि मनुष्य ही यहाँ कर्मभोगसे बँधते और क्लेश पाते हैं, इस संसारवनमें डूबते-उतरात जन्मते-मरते रहते हैं।—'एवं संसार-

गहने उन्मज्जननिमज्जने। कर्मभोगेन बध्यन्ते क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः। म० भा० स्त्री० ३।१६।' इस भावसे भी अपनेको 'मंद' कहा।

७ (ङ) मायाद्वारा संसारकान्तारमें डाला जाना कहकर तब अंधा और मंद होना कहा। इससे जनाया कि मोह जो मायाके परिवारमेंसे एक है, उसीने अंधा और मंद कर दिया। यथा 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। ७।७०।७।', 'एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अज्ञान। ४।२।', 'माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी। ७।७३।'

७ (च) यहाँ तक अपने चतुष्टय अन्तःकरणकी विवस्था अर्थात् उनका अत्यन्त दूषित होना दिखाया। 'प्रबल अहंकार दुर्घट महीधर' (अहंकार), 'चित्त वेताल', 'मनुजाद मन', और 'अंध मैं मंद' (इससे बुद्धिकी दशा कही)।

७ (छ) 'व्यालादिगामी' इति। संसारकान्तारके पर्वत-विभागका वर्णन करते हुए, अन्तमें 'रूपादि सब' को सर्प कहा था। सर्पके संबंधसे यहाँ 'व्यालादिगामी' नामसे संबोधित किया। जिसका वाहन ही सर्पोंका भक्षक है, वह सर्पोंसे रक्षा अवश्य ही कर सकता है। भाव कि मेरे अन्तःकरणमें जो विषय-सर्प आ गये हैं, इनका नाश कर दीजिए।—विशेष ५४ (१ घ) में देखिए।

टिप्पणी—८ 'देव घोर अवगाह भव आपगा पापजलपूर…' इति। (क) वनमें नदी भी होती है जो पर्वतोंसे निकलती है। यथा 'मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ पाप पहार प्रगट भइ सोई। २।३४।१-२।'; 'गिरिनिर्झरसंभूता…।' पहाड़ी नदियोंमें मगर आदि होते हैं, उनकी धारा ऐसी तीव्र होती है कि मतवाले हाथी भी उन्हें तैर नहीं सकते। यथा 'सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः। मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्। वाल्मी० २।२८।६।' (अर्थात् नदियोंमें ग्राह होते हैं। कितनी हीमें बहुत अधिक कीचड़ वा दलदल होता है। बहुतेरी ऐसी हैं जिनको मतवाले हाथी भी तैरकर पार नहीं कर सकते)। अगम, अगाध, तीव्र धारायुक्त, मगर-घड़ियाल आदिसे पूर्ण होनेसे नदियाँ भयंकर और दुस्तर होती ही हैं।—'अगम अगाध न जाहिं निहारे। २।६२।' अतः 'घोर अवगाह' 'दुस्तर अपारं' कहा।

८ (ख) परमार्थपथमें ऐसी भयानक नदी 'भव' है, जो संसार कान्तारमें अहंकारपर्वतसे निकलकर बड़े तीव्र वेगसे बह रही है। यद्यपि संसार और भव बोलचालमें पर्य्याय माने जाते हैं फिर भी इनमें कुछ भेद है। "भव" संसारका वह भाग है जो जीवके अन्तःकरणमें है, अर्थात् जिसपर जीवका ममत्व है, जिसको अपना मानकर समझकर वह उसके लाभालाभमें सुखी-दुखी बना रहता है।—संसार-कान्तारका एक अंश वा भाग होनेसे उसे भी कहा।

८ (ग) पापपर्वतसे निकली हुई रोष नदी (कैकेयी) की भयानकता कविने मानसमें दिखाई है कि उसने अवध-नरेशरूपी तरुको जड़से उखाड़ डाला और सबपर विपत्ति डाल दी। तब अहंकाररूपी पर्वतसे निकली हुई और पापजलसे पूर्ण अथाह अपार नदीकी घोरताको कौन कह सकता है? यह 'विवेक महीपाल' को मूलसहित उखाड़ फेंकती है और जीवपर बारंबार जन्ममरणरूपी विपत्ति डाल देती है। कैकेयीरूपी रोषनदी 'भरी क्रोध जल जाइ न जोई' और भवनदी 'पापजलसे पूर्ण है', इससे देखी नहीं जा सकती। अतः 'दुःप्रेच्छ' कहा। 'पाप' बहुत प्रकारके होते हैं, जैसे कि मन, वचन, कर्मके; पातक, उपपातक, महापातक इत्यादि। भवनदी सभी पापोंसे पूर्ण है जो जीव अनादिकालसे करता आया है।

८ (घ) 'मकर षडवर्ग गो नक्र…' इति। आगे नोट-९ में इसपर लिखा गया है।

८ (ङ) 'चक्राकुलं सुभ-असुभ…' इति। यह पाठ प्राचीनतम पोथीका है। शुभ और अशुभ कर्मोंरूपी भँवरोंसे यह नदी परिपूर्ण है। शुभ और अशुभ दोनोंही कर्म भवापगामें डुबा देनेवाले हैं। कर्मोंके कारण ही सब उत्पन्न होते हैं और कर्म ही शुभाशुभ गतियोंके कारण हैं। यथा 'कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम्। वि० पु० १।१८।३२।' 'शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्। अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः। म० भा० शा० ३२९।२५।' (जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है। वह शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्यजन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है), शुभ कर्मोंसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है, पर पुण्य चुक जानेपर फिर प्राणी मर्त्यलोकमें गिरा दिया जाता है। सभी सकाम वेदत्रयी कर्म आवा-

गमनके देनेवाले हैं। यथा 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते। गीता ९।२१।', 'स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई। ७।४४।१।', 'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं।', 'करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो। २४५।'—अतएव शुभकर्मोंको भी भँवर कहा। भँवरमें पड़नेसे मनुष्य या नाव फिर निकल नहीं पाते।

८ (च) 'दुःख अति तीव्रधारं' इति। 'दुःख' से अविद्या और कर्मबंधनसे युक्त शरीरमें प्राप्त आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःख समझना चाहिए। 'अति तीव्र धारं' कहकर जनाया कि इन दुःखपरिस्थितियोंके निवारण करनेमें जीव असमर्थ होनेसे अपार दुरन्त चिन्तासे खिन्न हो जाता है, जैसे अत्यन्त तीव्र धाराको देखकर पार जानेका साहस न होनेसे चिन्ता हो जाती है। आगे पद २४३ में भी कहा है—'जरत फिरत त्रैताप पाप बस काहु नं हरि करि कृपा जुड़ायो।'

नोट—९ लाला भगवानदीनजी लिखते हैं—"इस अन्तरामें नदीका रूपक है। अन्य टीकाकारोंने 'भव' शब्दका अर्थ 'संसार' और 'षडवर्ग' का अर्थ 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर' माना है। पर ऐसा करनेसे रूपक अलंकार बिगड़ता है। 'संसार' को वन माना है, पुनः उसीको नदी कैसे माना जायगा। कामको सिंह, क्रोधको हाथी, मदको भेड़िया, अहंकारको भालू, मत्सरको महिष, लोभको सूकर मान आये हैं, फिर उन्हींको मगर कैसे मानेंगे? एक ही रूपकमें ऐसी बातें न होनी चाहिए।" ☞ इसीसे उन्होंने 'भव' का अर्थ 'सांसारिक विषयोंकी लग्न' किया है और तन, धन, धाम, सुहृद, परिवार और प्रतिष्ठा जो संसारमें सबको अति प्रिय वस्तुएँ हैं—इनको 'षड्वर्ग' माना है।

वियोगीहरिजी भी लिखते हैं कि "संसाररूपी वनमें संसाररूपी नदी, यह कुछ शिथिलताकी सूचना दे रहा है। अतएव 'भव' का अर्थ 'प्रवृत्ति' किया जाय, तो ठीक होगा। संसारमें प्रवृत्तिका होना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि नदीका वनमें।"—इन्होंने तथा अन्य प्रायः सभी टीकाकारोंने 'काम-क्रोधादि' को ही षड्वर्ग माना है।

वियोगीजीने षड्वर्गके सम्बन्धमें शंका नहीं की। पर वैजनाथजीने काम-क्रोध पर मनुस्मृतिके प्रमाण दिये हैं कि ये कई प्रकारके हैं। यथा 'पैशून्यं साहसद्रोहं ईर्ष्याऽसूयार्थं दूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकम् ॥' (ये आठ प्रकार क्रोधके हैं); 'मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादो स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाद्यं च कामजो दशको गणः।'—(ये कामके दश अंग हैं)।—इसीको वियोगीजीने अपनी टीकामें दिया है।—इससे ज्ञात होता है कि दोनों रूपकोंमें छहो वर्गोंके भिन्न-भिन्न अंग लिये गए हैं, ऐसा समझकर उन्होंने अपना समाधान कर लिया होगा।

श्रीपोद्दारजीने 'वासनारूपी भवनदी' अर्थात् 'भव' से 'वासनात्मक भव' अर्थ ग्रहण किया है।

श्रीकान्तशरणजीने दीनजीकी शंका और उनके अर्थपर विशेष विचार किया है। वे समाधान इस प्रकार करते हैं—"ऊपर ('पाहि भो विश्वभर्त्ता' अन्तरा ५ तक) स्थूलशरीरसम्बन्धी बाहरी बाधाओंसे रक्षाकी प्रार्थना की-थी। यहाँ ('प्रबल दहंकार' से 'मैं मंद व्यालादगामी' तक) सूक्ष्म शरीरसम्बन्धी और आगे कारण शरीर सम्बन्धी प्रार्थनाएँ की गई हैं। यहाँ अहंकार, मन और चित्तको स्पष्ट कहकर सूक्ष्म शरीरकी ही बाधाओंको स्पष्ट किया है। आगे सूक्ष्मवासनात्मक कारण शरीरको नदीके रूपमें कहेंगे।" "घोर अवगाह भव-आपगा···"—यहाँ सूक्ष्म विषयानुरागको वासनात्मक भव-नदी कहा है। इसकी अत्यन्त विकरालता इससे है कि इसी वासनात्मक कारण शरीरमें अनेक जन्मोंके बीज सन्निहित हैं। ऊपर स्थूल शरीरमें भी कामादि छओ कहे गए हैं। वहाँ उनका बहिरंग स्थूल रूप जानना चाहिए। पुनः दूसरे प्रसंगके सूक्ष्म शरीर विकारोंमें भी 'विषयसुखलालसा' आदिमें कामादिके सूक्ष्म रूपकी व्यवस्था है। वहाँ उनका अत्यन्त सूक्ष्म वासनात्मक रूप जानना चाहिए।"··· "तन, धन, धाम, सुहृद, परिवार और प्रतिष्ठाको षड्वर्ग कहीं नहीं कहा गया है। मेरे विचारसे तो तीनों शरीरोंके भेद उपर्युक्तरीतिसे समझ लेनेसे उक्तार्थ ही ठीक जान पड़ता है। अथवा षड्वर्गसे छः ऊर्मियोंको भी ले सकते हैं। क्षुधा, पिपासा, लोभ, मोह, जरा और मृत्यु, ये छः ऊर्मियाँ हैं।"

☞दासको तो साहित्यका ज्ञान है नहीं, इसलिये दीनजीकी आलोचनापर कुछ लिख नहीं सकता। वियोगीजी आदि साहित्यिज्ञोंने इसपर कोई विचार प्रगट नहीं किये। पं० श्रीकान्तशरणजीने पांडित्यपूर्ण समाधान किया है। दासकी समझमें तो संसार और भवमें सूक्ष्म भेद है जो ऊपर दिखाया गया है। भेद होनेसे शंकाका निराकरण हो सकता है।

म० भा० शान्तिपर्वमें व्यासजीने जो संसारनदीका रूपक कहा है उसे हम यहाँ उद्धृत किये देते हैं। उसमें संसारको नदी कहकर फिर उसका संसारसागरमें मिलना कहा है, काम-क्रोधको सर्प कहा है और फिर कामको ग्राह और क्रोधको कीचड़ भी कहा है। इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि संसार, काम, और क्रोध आदिके अनेक भेद हैं। व्यासजी भूल नहीं करते।

‘सर्वतः स्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिनीम्। पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनः संकल्परोधसम्। १२। लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम्। सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम्। १३। अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः। प्रतरस्व नदीं बुद्ध्या कामग्राहसमाकुलाम्। १४। संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम्। आत्मकर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम्। १५।’ (म० भा० शा० २५०)। अर्थात् यह संसार एक भयंकर नदी है, जो सम्पूर्ण लोकमें प्रवाहित हो रही है। इसके स्रोत सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर बहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ग्राह हैं। मनके संकल्प इसके किनारे हैं। लोभ-मोहरूपी घास और सेवारसे यह ढकी हुई है। काम-क्रोधरूपी सर्प इसमें निवास करते हैं। सत्य इसका घाट है। मिथ्या हलचल है, क्रोध ही कीचड़ है। यह नदी अन्य नदियोंसे श्रेष्ठ है। यह अव्यक्त प्रकृतिरूपी पर्वतसे प्रकट हुई है। इसके जलका वेग बड़ा प्रखर है। अजितात्मा पुरुषोंके लिए इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। इसमें कामरूप ग्राह सब ओर भरे हैं। यह नदी संसारसागरमें मिली है। वासनारूपी गहरे गड्ढोंके कारण इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। तात! यह अपने कर्मोंसे ही उत्पन्न हुई है। जिह्वा भँवर है तथा इस नदीको लाँघना दुष्कर है। तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा इसे पार कर जाओ।—(यह व्यासजीने शुकदेवजीसे कहा है)।

टिप्पणी—६ 'देव सकल संघट पोच···' इति। (क) 'सकल' वही है जो पदके आरम्भसे यहाँ तक कह आये। यह सब नीचों, बुरे लोगोंका जमघट है। बुरोंके बीचमें सदा चिन्ता रहती ही है, धर्म नहीं निबह सकता। यथा 'खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म निबहै केहि भाँती। ५।४६।५।,' 'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी। ५।७।१।;' अतः 'सोच बस सर्वदा' कहा।

६ (ख) 'विषम गहन ग्रस्तं'—जैसे विषम वनमें पड़ जानेसे चिन्ता हो जाती है, वैसे ही मैं इस संसारकान्तारमें बुरे संघटसे घिरा हुआ होनेसे सदा चिन्ताग्रस्त रहता हूँ।

६ (ग) 'त्राहि रघुबंसभूषन कृपाकर···' इति। पूर्वार्धमें अपना सोच-संकट कहा और आगे भी 'कलित्रास त्रस्तं' कहकर अपनेको 'सभीत शरणागत' जनाकर रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। क्योंकि प्रभुकी प्रतिज्ञा है—'जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं।' 'रघुवंशभूषण कृपाकर' का भाव कि सभी रघुवंशी शरणपाल होते आये हैं और आप तो उस कुलमात्रके शिरोभूषण हैं। शरण्य एवं कृपाल आपके सदृश कोई है ही नहीं। यथा 'नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपतिनिवारन। २०६।,' 'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिंन। २०७।,' 'और कहँ ठौर रघुबंसमनि मेरें। पतितपावन प्रनतपाल असरन सरन बाँकुरे बिरुद बिरिदैत केहि केरें। २१०।,' 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।,' 'को कृपाल स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बल बिहीनको। २७४।'

६ (घ) 'कठिन काल विकराल कलि···' इति। कलिकी विकरालता यही है कि उसने स्वार्थ और परमार्थ सभी साधन लुप्त कर दिये, कोई साधन सफल नहीं होते, सबको उसने लँगड़ा-लूला कर दिया, सब लोग पापपरायण हो रहे हैं। यथा 'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे। ६६।,' 'कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि। करम कलाप पाप ताप साने सब, ज्यों सुफूल फूलें तरु फोकट फरनि ॥ दंभ लोभ लालच उपासना विनासि नीके, सुगति साधन भई उदर भरनि। जोग न समाधि निरुपाधि न, बिराग ज्ञान बचन विशेष वेष कहूँ न करनि। कपट कुपथ कोटि, कहनि रहनि

खोटि, सकल सराहैं निज निज आचरन। १८४।,' 'सो कलिकाल कठिन उरगारी। पापपरायन सब नर नारी। ७।९७।' (मानसमें कठिन कलि-कालका विस्तृत उल्लेख कविने स्वयं किया है)।

६ (ङ) 'कलि त्रास त्रस्तं' कहकर कलिकी धमकी भी जना दी है जो उसने प्रार्थीको श्रीरामचरितं तथा श्रीरामनामके प्रचार करनेके कारण दी है। पूर्व लिखा जा चुका है और आगे स्वयं कवि विनयमें कहेंगे।

६ (च) इस पदके उपक्रममें 'दीनउद्धरन, रघुवर्य, करुनाभवन, समनसंताप, पापौघहारी' विशेषण देकर प्रार्थना की-थी। अब उपसंहार में अपनेको दीन, करुणाका पात्र, संतापादिग्रस्त दिखाकर तब रक्षा करने (संताप हरने) की प्रार्थना उन्हीं रघुवर्य-रघुवंशभूषणसे करते हैं। 'सकल संघट पोच…ग्रस्तं' यह दीन दशा है, मैं दीन हूँ आप दीन-उद्धरण हैं, अतः 'त्राहि मां'। मैं 'कठिन काल विकराल कलि त्रास त्रस्तं' हूँ, आप 'समन संताप पापौघहारी' हैं, अतः 'त्राहि मां।" आप करुणाभवन हैं, कृपालु हैं और मैं करुणाका दयाका पात्र हूँ, अतः 'त्राहि मां'। आप समर्थ शरण्य हैं क्योंकि रघुवंशभूषण हैं, आपने रावण ऐसे शत्रुसे विभीषणकी रक्षा की थी, मैं शरणागत हूँ, अतः 'त्राहि मां।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६० (५६)

देव नौमि नारायनं नरं करुणायनं ध्यान पारायनं ज्ञानमूलं।
अखिल संसार उपकार कारन सदय हृदय[1] तप निरत[2] प्रणतानुकूलं। १
देव श्याम-नव-तामरस-दामदुति-बपुष छवि
कोटि मदनार्क अघटित[3] प्रकासं
तरुण रमनीय राजीवलोचन ललित-वदन-राकेस कर निकर हासं। २

---

[1] हृदय—६६ में छूट गया है, विना इसके पद बैठता नहीं। और सबोंमें है। [2] वृत्ति—भा०, वे० में 'वृत्ति' का 'निरत' बनाया है। [3] अघटित—६६। अगनित—प्रायः औरोंमें।

देव सकलसौंदर्यनिधि बिपुलगुनधाम बिधि-बेद-बुध-संभु-सेवित अमानं
अरुनपदकंजमकरंद मंदाकिनी मधुप मुनिबृंद कुर्वंति पानं ।३।
देव शक्रप्रेरित घोर मार[4]मद भंगकृत क्रोधगत बोधरत ब्रह्मचारी।
मारकंडेय मुनिवर्य हित कौतुकी बिनहिं कल्पांत प्रभु प्रलयकारी।४
देव पुण्य-बन-सैल-सरि वद्रिकाश्रम[5] सदासीन पद्मासनं एकरूपं।
सिद्ध योगेंद्र[6] बृंदारकानंदप्रद भद्रदायक दर्श[7] अति अनूपं ।५।
देव मान मनभंग, चितभंग मद, क्रोध-लोभादि पर्वत दुर्ग्ग भुवनभर्त्ता।
द्वेष मत्सर राग प्रबल प्रत्यूह प्रति[8]भूरि निर्द्दय क्रूर[9]-कर्मकर्त्ता ।६।
देव विकटा छुरधार प्रमदातिबर दर्प्प कंदर्प्प खर[10] खड्गधारा।
धीर गंभीर मन पीरकारक तत्र के वराका वयं विगत सारा ।७।
देव परम दुर्घट पंथ खलु असंगत साथ नाथ नहिं हाथ वर विरति यष्टी।
दरसनारत दास त्रसित-माया-पास त्राहि हरि त्राहि हरि जानि[11] कष्टी।८
देव* दास तुलसी दीन धर्म संबलहीन[12]
श्रमित अति खेद मति मोहग्रासी[13]।
देहि अवलंब न बिलंब अंभोजकर चक्रधर तेज-बल-शर्मरासी ।९।

शब्दार्थ-'नारायण' और 'नर'—नोट ५ (क, ख, ग, घ, ङ) देखिए। पारायण=तत्पर, निमग्न। शुद्ध शब्द यहाँ 'परायण' है। ध्यान-परायण=ध्यानमें निमग्न; ध्यानावस्थित। सदय=दयायुक्त, दयाल।

---

[4] मदन—भा०। [5] वद्रिकाश्रम—६६, भा०, वे०। बदरिकाश्रम—रा०, ७४, प्र०, भ०, दीन, वि०, मु०। [6] योगेंद्र—६६, प्र०, मु०। योगींद्र—रा०, भा०, वे०, श्रा०, ह०। जोगींद्र—७४। [7] दर्श—६६, रा०, ह०। दरस-भा०, वे०, ७४, श्रा०। [8] श्रति—ह०। [9] कूर—भा०। † ६६ में 'छुरधार प्रमदातिबर' पाठ है। प्रायः औरों में 'तर वक्र छुरधार प्रमदा तीव्र' पाठ है। [10] खर—६६, रा०, ह०, प्र०, ज०, श्रा० (-भ०)। बर—भा०, वे०, ७४। [11] जानि—६६, रा०, भा०, वे०। दास—डु०, वै०, वि०, दीन। जान—भं०, मु०। [12] संमल—भा०, वे०। [13] नासी—श्रा० (-मु०)।
* श्रा० में 'देव' किसी अंतरामें नहीं है। ७४ में भी नहीं है।

निरत=लगे हुये; तत्पर; प्रवृत्त। प्रणतानुकूलं=प्रणत+अनुकूलं। मदनार्क=मदन (कामदेव)+अर्क (सूर्य्य)। अघटित=जो कभी कम न हो=अक्षय; एकरस स्थिर।=बहुत अधिक। जो संभव न हो। प्रेरित=कार्यके लिए नियुक्त किया गया=भेजा हुआ। मार्कण्डेय—अष्ट चिरजीवियोंमेंसे ये एक चिरंजीवी ऋषि हैं। ये मृकण्ड ऋषिके पुत्र हैं, सदा जीवित रहते हैं और रहेंगे। बिना समय ही भगवान्‌ने आपकी प्रार्थनासे आपको प्रलय दिखलाया। पुराणोंमें इसकी कथा भिन्न-भिन्न प्रकारसे है। टि० ४ (घ) भी देखिए। कौतुकी=विनोदशील; खेलके शौकीन; खेलवाड़ी। यथा 'मुनि कौतुकी नगर तेहि गएऊ। १।१३०।' वद्रिकाश्रम (बदरिका आश्रम)—यह एक तीर्थ विशेष है जो हिमालयपर श्रीनगर (गढ़वाल) के पास अलकनन्दा नदीके पश्चिमी तटपर है। कहते हैं कि भृगुतुङ्ग नामक शृङ्गके ऊपर एक बदरीवृक्षके कारण इसका बदरिकाश्रम नाम पड़ा। द्वापरमें जब प्रवासके समय युधिष्ठिरजी श्रीनरनारायणके आश्रमपर गए थे, तब उन्होंने उस गोल टहनियोंवाली मनोहर बदरीके भी दर्शन किये थे। उसकी छाया बड़ी सघन और शीतल थी, पत्ते बहुत चिकने और कोमल थे। मीठे-मीठे फल लगे थे। देवताओंने यहाँ तप करके विष्णु भगवान्‌को प्राप्त किया था। गंधमादन, बदरी, नरनारायण और कुवेरशृंग इसी तीर्थके अन्तर्गत हैं। पाण्डव महाप्रस्थानके लिये इसी स्थानपर गए थे। सदासीन=सदा+आसीन=सदा बैठे हुए। पद्मासन=कमलासन। यह योगसाधनका एक आसन है। दोनों जंघोंपर पैर चढ़ाकर अर्थात् दहिने जंघेपर बायाँ पैर और फिर दहिना पैर उसके ऊपरसे बाएँ जंघेपर रक्खे। दोनों एँड़ियाँ मिली हुई हों और दोनों हाथ दोनों घुटनोंपर हों। मेरुदण्डको सीधा करके सीधे बैठे। (हठयोग प्रदीपिका प्रकरण १)। इसमें हाथ खाली रहते हैं, इससे इसमें जप भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक 'बद्धपद्मासन' भी होता है जिसमें दोनों हाथोंको पीठकी ओर ले जाकर दाहिने हाथसे दाहिने पैरका और बाएँसे बाएँ पैरका अँगूठा पकड़ा जाता है, शेष सब परिस्थिति पद्मासनकी-सी है। (शाण्डिल्यउप०)। *एकरूपं=ज्योंके त्यों; सदा एक ही तरह, एक ही रंग-ढंग-

---

* यथा—'अङ्गुष्ठेन निवध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्यत्क्रमेण च। ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम्। १।३।३।'

का। वृन्दारकानन्दप्रद=वृन्दारका (देवताओंको)+आनन्दप्रद। दर्श=दर्शन। मनभंग, चितभंग—ये दोनों पर्वतोंके नाम हैं जो बदरिकाश्रमके मार्गमें मिलते हैं। दुर्ग=दुर्गम, कठिन। द्वेष=चित्तको अप्रिय लगनेकी वृत्ति। 'जिस प्रकारके पदार्थको दुःखका कारण समझकर पहले अनुभव किया हो, फिर उसी जातिके पदार्थके प्राप्त होनेपर जो उसे मनुष्य उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य समझता है, उस भावका नाम 'द्वेष' है। मत्सर=किसीका वैभव वा सुख न देख सकनेकी वृत्ति। दूसरेका वैभव देख हृदयमें जलन होना। प्रत्यूह=विघ्न; बाधा, यथा 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। ७।४५।' प्रति=प्रत्येक; हर एक। निर्द्दय (निर्दय)=दयारहित। छुर (क्षुर)=छुरा, अस्तुरा। छुरधार=छुरेकी तरह तेज पैनी धारवाला। प्रमदातिवर=प्रमदा+अति+वर।=प्रमदा+तिवर (तीव्र)। अति बर=अत्यन्त बलवान। खड्गधारा=तलवारके समान तीक्ष्ण धारवाला। ☞ डु०, टी०, च० और बाबा रामदासजीका मत है कि क्षुरधार और खड्गधार दो पर्वतोंके नाम हैं। पीरकारक=पीड़ा पहुँचानेवाले। के (सं० 'कः')=कौन, क्या चीज। बराका=तुच्छ, बेचारा, बापुरा, गरीब। वयं=हम। बिगत सारा=साररहित; जिसमें कुछ सार नहीं है। सार—ज्ञान, वैराग्य, धर्म, पुण्य, उपासना, भक्ति, सत्संग आदि सुकृत, भगवन्नाम, परतत्त्वज्ञान इत्यादि संसारमें सार पदार्थ हैं और सब असार है। यष्टी=लाठी। दरसनारत=दर्शन+आर्त्त=दर्शनोंके लिये आतुर वा दुखी। त्रसित=डरा हुआ। पास (पाश)=फंदा, जाल, बंधन। कष्टी=कष्टमें पड़ा हुआ; पीड़ित। संबल=राह खर्च। शर्म=कल्याण।

पद्यार्थ—देव! ज्ञानके मूलकारण, ध्यानावस्थित, करुणाधाम, श्रीनर-नारायण (रूपी श्रीराम) जी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। शरणागतपर अनुकूल, दयावान् हृदयवाले आप संसारके उपकारके लिये तपस्यामें लगे रहते हैं। १। देव! नवीन खिले हुए श्यामकमलसमूह (वा, श्यामकमलकी माला वा दण्डी)की कान्तिवाले आपके शरीरमें करोड़ों कामदेवोंकी छबि और कभी न घटनेवाला करोड़ों सूर्योंका प्रकाश (तेज) है।* पूरे खिले हुए सुन्दर कमलके समान नेत्र,

---

* भाव यह कि भगवान्‌का स्वरूप अक्षय तेजसे युक्त है, उनका तेज अपरिमित है। यथा 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भा-सदृशी

पूर्णचन्द्रसमान सुन्दर मुख और चन्द्रकिरणसमूह (सदृश) हास्य है। २। देव ! आप संपूर्ण सौंदर्यके समुद्र, विपुल (बहुत, तमाम) गुणोंके घर एवं प्रकाशक, ब्रह्मा, वेद, पंडित और शिवजीसे सेवित (अर्थात् इनके सेव्य स्वामी) और (ऐसे बड़े होते हुए भी) मानरहित हैं। मंदाकिनी (गंगा) आपके लाल-लाल चरणकमलका मकरन्दरस है, जिसे मुनिवृन्दरूपी भौंरे पान करते हैं †। ३। देव ! आपने इन्द्रके भेजे हुए भीषण❀ कामदेवके भयंकर गर्वको तोड़ डाला। आप क्रोधरहित हैं (अर्थात् आपको कामदेवपर क्रोध न हुआ। क्योंकि आप सदा) ज्ञानमें निरत और ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले हैं। हे कौतुकी प्रभु ! आपने मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेयजीके लिये बिना कल्पान्त हुए ही प्रलय कर दिया (अर्थात् प्रलयका समय न था, तब उनके प्रेमसे बिना प्रलय किये हुये उनको प्रलयका तमाशा दिखा दिया)। ४। देव ! पवित्र वन, पर्वत और नदियोंवाले बदरिकाश्रममें सदा पद्मासन लगाये एक रूपसे बैठे हुये‡ आपका अत्यन्त अनुपम दर्शन सिद्धों, योगेश्वरों और देवताओंको आनन्द देनेवाला और (सभोको) कल्याणका दाता है। ५। हे भुवन-भर्त्ता (चौदहों लोकोंके भरण-पोषण करनेवाले) देव ! (आपके दर्शनोंके लिये जानेवालोंके मार्गमें) मान (अभिमान एवं प्रतिष्ठा-बड़ाई) रूपी मनभंगपर्वत,

---

सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः। गीता ११।१२।' अर्थात् आकाशमें यदि सहस्र सूर्योंकी प्रभा एक साथ उदय हो जाय, तो वह उस महात्माकी प्रभाके सदृश शायद हो सके।

† अर्थान्तर—१ कमलसमान चरणोंसे निकली हुई मंदाकिनी नाम गंगाजीके जलरूपी रसका मुनिरूपी भौंरे पान करते हैं। (भ०)। २ चरणोंसे निस्सरित गंगाका पराग मुनि…। (वि०)। लालकमलरूपी चरणोंके प्रेमरूपी मकरंद गंगाजलका…। (वीर)।

❀ 'घोर' को 'मार' का विशेषण माननेमें भाव यह है कि जो देवता, मनुष्य, मुनि आदि किसीसे नहीं जीता जाता ऐसा कराल कामदेव।

‡ दूसरा अर्थ—"आप पद्मासन लगाएं एकरूपसे बैठे रहते हैं। सिद्ध योगेन्द्र वृन्दारकावृन्दको आनन्ददाता हैं। आपका अनुपम दर्शन कल्याणप्रद है।" वैजनाथजी 'एकरूप' का भाव यह भी लिखते हैं कि 'तपपूर्वक ध्यानावस्थित इस आचरणसे एक बदरीनारायण ही रूप है।'

मदरूपी चितभंगपर्वत, क्रोध-लोभादिरूपी (अनेक) दुर्गम पर्वत तथा द्वेष, मत्सर और राग प्रबल विघ्न हैं (इनमेंसे) प्रत्येक निर्दयी और क्रूर कर्म करनेवाले हैं।६। देव! विकट और अत्यन्त बलवान प्रमदा रूपी विकट 'क्षुरधार' तथा दर्प और कामदेवरूपी तीक्ष्ण 'खड्गधार' धीर, गंभीर पुरुषोंके मनमें भी पीड़ा कर देनेवाले हैं †† (तब) यहाँ भला हम सारहीन बेचारे किस गिनतीमें हैं ?।७। देव! निश्चय ही मार्ग परम कठिन है, बेमेल दुष्टोंका (वा अयोग्य) साथ है और, हे नाथ ! हाथमें श्रेष्ठवैराग्यरूपी लाठी भी नहीं है। दर्शनोंके लिये आतुर, मायापाशसे पीड़ित और डरे हुए इस दासको बड़े कष्टमें पड़ा हुआ जानकर, हे हरि ! रक्षा कीजिए। हे हरि ! रक्षा कीजिए। ८। देव ! आपका दास तुलसी दीन, धर्मरूपी राहखर्चसे रहित, अत्यन्त थका हुआ और अत्यन्त चिन्तित एवं दुःखी है। इसकी बुद्धिको मोहने ग्रास कर लिया है। हे करकमलमें चक्र धारण करनेवाले ! तेज, बल और कल्याणकी राशि ! अपने करकमलका सहारा दीजिए, देर न कीजिए। ९।

नोट—१ 'नारायणं नरं' इति।—नारायण नामकी व्याख्या महर्षियोंने कई प्रकारसे की है।—(क) जो कुछ भी इस संपूर्ण जगत्‌में दिखाई पड़ता है अथवा सुना जाता है उस सबमें भीतर बाहर व्याप्त होकर सदा स्थित रहनेसे 'नारायण' नाम है। यथा—'यच्च किंचित् जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः। (वे० शि०)। पुनः, (ख) 'नाराः अयनं यस्य' इस बहुव्रीहिसमाससे और 'नराणां अयनं यः असौ नारायणः' इस तत्पुरुषसमाससे—'नार'-पदवाच्य दिव्य कल्याण गुण, श्रीअंग-वस्त्राभूषणधारी, परिजन (पार्षद), दिव्य-धाम, अनंत कोटि ब्रह्माण्ड

---

†† वैजनाथजी 'विकट तर वक्र छुरधार' पाठ देकर उसका अर्थ—'महाभयंकर टेढ़ी छुरीकी धार भुजाली'—ऐसा करते हैं। वे लिखते हैं कि "ठग बटमारादि छुरी तलवारसे पथिकोंको मारते हैं। यहाँ मदक्रोधादि बटमारोंके अस्त्र युवतीका कुटिल कटाक्ष, महाभयंकर टेढ़ी छुरीकी धार पैनी भुजाली है। कामका तीव्रअभिमान खर खड्गधारा है।" २—भा०, वि० ने 'खर' की जगह 'गर' पाठ रखकर 'कामरूपी 'विष' अर्थ किया है। पोद्दारजीका पाठ तो 'खर' है पर अर्थ 'कामका विष' किया है।

तदन्तर्गत ब्रह्मादि देव-नर-तिर्यक्-स्थावर चतुर्विध सृष्टि, प्रकृति-पुरुष-काल—ये सब जिसमें हैं और जो सबमें है, वही नारायण है। ❀

रावणवधके पश्चात् जब अपने सतीत्वकी परीक्षा देनेके लिए श्रीसीताजी अग्निमें प्रवेश कर रही थीं, उस समय इन्द्रादि देवताओं सहित ब्रह्माजीने आकर श्रीरामकी भगवत्ताका प्रतिपादन किया; तब उन्होंने कहा—'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्। सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे। वाल्मी०। ६।११७।११।' हम अपनेको दशरथनन्दन मानते हैं, परन्तु हम जो कुछ हैं, वह आप कहें। इसपर ब्रह्माजी कहते हैं कि 'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः। एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥···१३॥' आप चक्रधारी सर्वसमर्थ श्रीमान् नारायण हैं, एक दाढ़वाले वराह हैं, देवोंके भूत एवं भावी शत्रुओंके जीतनेवाले हैं।—(वे० शि०)।

(ग) 'नरं' इति। 'रः क्षयो यस्य नह्यस्ति स नरस्समुदाहृतः।' इस निरुक्तिके अनुसार 'कभी क्षीणता नहीं और स्वरूपतः नित्य चेतना-चेतनपदार्थ विभूति सब उन्हींकी, होनेसे भगवान्का नाम 'नर' है (वे० शि०)।

(घ) ब्रह्म श्रीरामजी इस भारतवर्षके कल्याणार्थ बदरिकाश्रममें नर नारायण युगल रूपसे विराजमान रहते हैं। अतः इस दंडकसे श्रीगोस्वामीजी नर-नारायणरूपमें उनके अवतारी श्रीराघवेन्द्रजीकी स्तुति करते हैं। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)।

नोट—२ भगवान्ने बिचारा कि कलियुग बड़ा प्रबल है और भरतखण्ड ही केवल कर्मभूमि है। अन्य खण्ड भोग-भूमि हैं। कालप्रभावसे शास्त्रका कथन मनन ज्ञान कुछ भी जीव न कर सकेंगे। इस प्रकार दयासे आर्द्रचित्त होकर 'समस्त भारतके बदलेका तप हम

❀ पुनश्च यथा 'अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया। तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा' (म० भा० वन० १८९।३)। भगवान् कहते हैं कि पूर्वकालमें मैंने ही जलका 'नारा' नाम रक्खा था। वह 'नारा' मेरा सदा अयन (वासस्थान) है, इसलिये मैं नारायण नामसे विख्यात हूँ। पुनश्च—'आपो नारा इति प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। मार्क० पु० ४।४३', 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।'

ही करेंगे, हमारे दर्शनमात्रसे उनका तप पूर्ण समझा जायगा'—ऐसा विचार करके वे अवतार लेकर बदरिकाश्रममें जाकर तप करने लगे। (पं० रा० व० श०)।

३ वैजनाथजी लिखते हैं कि "भरतखण्डके रक्षक जानकर बदरीवनवासी नर-नारायणके गुण गाकर प्रार्थना करते हैं।" और लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि "इसे श्रीरामजीका विशेष तपस्वी-रूप मानकर विनय करते हैं। तपस्वी बड़े दयालु और परोपकारी होते हैं। केवल नमस्कारमात्रसे प्रसन्न हो जाते हैं। राजाओंको प्रसन्न करना तो बड़ी टेढ़ी खीर है।"

४ भा० १२।८।४१ में मार्कण्डेयजीने भगवान्से कहा है कि 'आपने ये दोनों रूप भी त्रिलोकीके कल्याण, उसकी दुःखनिवृत्ति और विश्वके प्राणियोंको मृत्युपर विजय प्राप्त करानेके लिये ग्रहण किया है। भारतके कल्याणके लिये ही आप तपनिरत हैं।' भा० १०।८७।६ में शुकदेवजीने भी यह बात कही है कि मनुष्योंके कल्याण और मोक्षके लिये श्रीमन्नारायणजी धर्म, ज्ञान और शम सहित तप कर रहे हैं। यथा—"यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम्। धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः॥" मानसमें भी कहा है—'नर नारायन सरिस सुभ्राता। जगपालक बिसेषि जन त्राता। १।२०।५।'—अतएव नर-नारायणरूपमें श्रीरामजीकी वन्दना की।

भा० ५।१९ में शुकदेवजीने बताया है कि "इस भारतवर्षमें भगवान् नर-नारायण रूपसे आत्मनिष्ठ पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये अव्यक्त रहकर कल्पांत तक चालू रहनेवाली तपस्या कर रहे हैं, जिससे धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और उपशमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होकर अन्तमें परमात्माकी उपलब्धि होती है।··· वहाँ भगवान् नारदजी अत्यन्त भक्तिभावसे भगवान्की उपासना करते हैं।—'भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमो परमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरति। श्लो० ९। तं भगवान्नारदो ··· परमभक्तिभावेनोपसरति ··· ।१०। श्रीनारदजी 'ॐ नमो भगवते ···' इस स्तोत्र वा मंत्रका पाठ किया करते हैं। (स्तोत्र श्लोक ११ से १५ तक है)।

नोट—५ 'नर-नारायण'के सम्बन्धकी कथायें विविध पुराणों भागवत, महाभारत और देवीभागवत आदिमें हैं।—(क) "धर्मकी पत्नी

दक्षकन्या मूर्त्तिके गर्भसे भगवान् नर-नारायणके रूपमें प्रगट हुए। इस अवतारमें उनकी तपस्याका प्रभाव उन्हींके जैसा है। संसारमें वैसा तपस्वी और कोई नहीं हुआ। इंद्रकी भेजी हुई कामकी सेना अप्सराएँ उनके सामने जाते ही अपना स्वभाव खो बैठीं। वे अपने हाव-भावसे भगवान्की तपस्यामें विघ्न नहीं डाल सकीं। शंकर आदि महानुभाव अपनी रोषभरी दृष्टिसे कामदेवको जला देते हैं, परन्तु अपने हृदयकी असह्य जलन क्रोधको वे नहीं जला पाते। वही क्रोध नरनारायणके हृदयमें प्रवेश करनेके पहले ही डरके मारे काँप जाता है। फिर भला उनके हृदयमें कामका प्रवेश हो ही कैसे सकता है।" (भा० २।७।६-७ ब्रह्माके वचन नारदप्रति)।

(ख) महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत नारायणायाख्यानमें कथा इस प्रकार है—"भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्के आत्मा, चतुर्मूर्ति और सनातन देवता हैं, वे ही धर्मके पुत्ररूपमें प्रकट हुए थे। स्वायंभुव मन्वन्तरके सत्ययुगमें उनके चार स्वयम्भू अवतार हुए थे, जिनके नाम हैं-नर, नारायण, हरि और कृष्ण। उनमेंसे अविनाशी नर और नारायण बदरिकाश्रममें जाकर घोर तपस्या करने लगे। तप करते-करते वे दोनों बहुत दुर्बल हो गए, उनके शरीरकी नसें दिखाई देने लगीं। तपस्यासे उनका तेज इतना बढ़ गया कि देवताओंको भी उनकी ओर देखना कठिन हो गया। जिसपर उनकी कृपा होती थी वही उन्हें देख सकता था। एक बार नारदजी उनके दर्शनको उस समय गए जब वे अपने नित्यकर्ममें लगे हुए थे। देवर्षि सोचने लगे कि 'ये तो अजन्मा, सनातन माता-पिता और सर्वोत्तम अमृतरूप हैं, सम्पूर्ण जगत् इन्हींमें प्रतिष्ठित है, ···।' नित्यकर्मसे निवृत्त होनेपर नारदजीने उनसे प्रश्न किया कि "चारों आश्रमोंके लोग तो आपकी ही पूजा करते हैं, आपही जगत्के माता, पिता और सनातन गुरु हैं; तब आप किस देवता या पितरकी पूजा करते हैं?"—इसके उत्तरमें श्रीनारायणने कहा कि—"जो सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल और ध्रुव है, जो इंद्रियों, विषयों और संपूर्ण भूतोंसे परे है तथा विद्वानोंने जिसे संपूर्ण प्राणियोंका अन्तरात्मा, क्षेत्रज्ञ, त्रिगुणातीत तथा अन्तर्यामी बतलाया है, उस परमात्मासे ही त्रिगुणमय अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई, जिसे प्रकृति कहते हैं। वह सदसत्स्वरूप परमात्मा ही हम दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है। हम दोनों उसीकी पूजा करते

और उसीको देवता तथा पितर मानते हैं ❀। (शान्ति० ३३४।८-१४, १६, २०, २५-३२)।

(ग)—भा० ११।४।६-१६ में द्रुमिलजीने इनकी कथा इस प्रकार कही है—"धर्मपत्नी मूर्त्तिके गर्भसे भगवान्‌ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायणके रूपमें अवतार लिया। उन्होंने आत्मतत्त्वको लक्षित करानेवाला कर्मत्यागरूप कर्मका उपदेश दिया और स्वयं भी उसीका आचरण किया। वे आज भी (बदरिकाश्रममें) विराजमान हैं। इन्द्रने यह आशंका करके कि ये अपने घोर तपद्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं, कामदेवको उसके दलबल सहित, उनका तप भ्रष्ट करनेके लिये नियुक्त किया। उनकी महिमा न जाननेके कारण गर्वमें आकर कामदेव वहाँ पहुँचकर अप्सरागण, वसन्त, मंद-सुगंध-वायु और स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे उन्हें बींधनेकी चेष्टा करने लगा।७। इंद्रकी कुचालको जानकर, कुछ भी विस्मय न करते हुए, आदिदेव नारायणने उन भयसे काँपते हुए कामादिसे हँसकर कहा—'हे मदन! हे मंदमलयमारुत! हे देवाङ्गनाओ! डरो मत। हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। उसे ग्रहण किये विना ही जाकर हमारा आश्रम सूना न करो।' ८। अभयदायक दयालु भगवान्‌के ऐसा कहनेपर लज्जासे सिर झुकाये हुए देवगणने करुण स्वरसे उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् भगवान्‌ने बहुतसी ऐसी रमणियाँ प्रगट कीं जो अद्भुत रूपलावण्यसे संपन्न और वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित थीं तथा भगवान्‌की सेवा कर रही थीं। १२। साक्षात् लक्ष्मीके समान रूपवती स्त्रियोंको देखकर उनके रूपलावण्यकी महिमासे कान्तिहीन हुए देवगण उनके अंगकी दिव्य गंधसे मोहित हो गए। अब उनका गर्व चूर-चूर हो गया। तब अत्यन्त दीन हुए उन अनुचरोंसे भगवान् हँसकर बोले—'इनमेंसे किसी एकको जो तुम्हारे अनुरूप हो स्वीकार कर लो, वह स्वर्गलोककी भूषण होगी।' देव-

---

❀ "यत्तत् सूक्ष्मविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम् । इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥ स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते । त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः ॥ तां योनिमावयोर्विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः । आवाभ्यां पूज्यतेऽसौ हि दैवे पित्र्ये च कल्प्यते ॥ अ० ३३४।२६, ३०, ३२।"

गणने 'जो आज्ञा' कहकर उनको प्रणाम किया और उर्वशी नामक अप्सराको साथ लेकर स्वर्गलोक इन्द्रके पास चले गए। १६।"

(घ) देवीभागवत्में भा० ११।४ की-सी ही कथा हैं; केवल किंचित् न्यूनाधिक है। उसमें कहा है कि चार पुत्रोंमेंसे हरि और कृष्ण तो योगाभ्यास करने लगे और नर-नारायण हिमालयपर तप करने लगे। इन्द्रने तप भंग करनेके लिए प्रथम काम, क्रोध और लोभकी सृष्टि की और तीनोंको उनके पास भेजा; परन्तु उनकी तपस्या न भंग हुई। तब इन्द्रने कामदेवकी शरण ली। वह अपने समाजके साथ वहाँ पहुँचा। अप्सराओंके नृत्य-गानसे उनकी आखें खुल गई। उन्होंने सब बात समझ ली और इन्द्रको लज्जित करनेके लिये तुरन्त अपनी जंघासे एक बहुत सुन्दर अप्सरा उत्पन्न की जिसका नाम उर्वशी पड़ा। इसके उपरान्त उन्होंने इन्द्रकी भेजी हुई अप्सराओंकी सेवाके लिये उनसे अधिक सुन्दर हजारों दासियाँ उत्पन्न कीं। इसपर इन्द्रकी भेजी अप्सरायें नर-नारायणकी स्तुति करने लगीं और वर माँगा कि आप हमारे पति होवें। वही द्वापरमें राजकुलमें उत्पन्न हो श्रीकृष्णजीकी पत्नियाँ हुई।

(ङ) "मानसपीयूष" में हमने 'नरनारायण सरिस सुभ्राता। १।२०।५।' के तिलकमें दोनों भाइयोंका भायप कैसा था, इस सम्बन्धमें 'जैमिनीय भारत' में कही जानेवाली एक कथा लिखी थी। वह इस प्रकार है—"सहस्रकवची दैत्यने तपस्याद्वारा सूर्य भगवान्को प्रसन्न करके वर माँग लिया था कि 'मेरे शरीरमें एक सहस्र कवच हों। जब कोई एक हजार वर्ष युद्ध करे, तब कहीं एक कवच टूट सके, पर कवच टूटते ही शत्रु मर जावे'। उसीको मारनेके लिए नरनारायणका अवतार हुआ। एक भाई हजार वर्षतक युद्ध करता और एक कवच तोड़कर मर जाता, तब दूसरा भाई उसे मन्त्रसे जिलाकर और स्वयं एक सहस्र वर्ष युद्ध करके दूसरा कवच तोड़कर मरता। तब पहला भाई इनको जिलाता और स्वयं युद्ध करता।··· इस तरहसे लड़ते-लड़ते जब एक ही कवच रह गया, तब दैत्य भागकर सूर्यमें लीन हो गया। और तब नर-नारायण बदरीनारायणमें जाकर तप करने लगे। वही असुर द्वापरमें कर्ण हुआ जो गर्भसे ही कवच धारण

किये निकला। तब नर-नारायण ही ने अर्जुन और कृष्ण हो उसे मारा।"

परन्तु इस कथाका कोई सम्बन्ध विनयके प्रस्तुत पदमें नहीं दीखता।

टिप्पणी—१ (क) 'करुणायनं' इति। सर्वप्रथम 'करुणा-अयन' गुण कहकर नमस्कार करते हैं। कारण कि भगवान् करुणावश ही अवतार लेते हैं ❀। संसारके जीवोंको दुःखी देख त्रिलोकीके कल्याणार्थ, उसके दुःख निवृत्यर्थ और जीवोंको सदाचार और तपस्या आदिका अपने आचरणद्वारा उपदेश देने तथा मृत्युपर जय प्राप्त करानेके लिये ही यह अवतार हुआ है। यों तो जीवमात्रके लिये, पर विशेषतः भारतवर्षके जीवोंके कल्याणार्थ ही आप ऋषि, तपस्वी-वेषसे सदा तपमें निरत हो जीवोंका कल्याण करते रहते हैं, आत्मतत्त्वके लक्षित करानेवाले नैष्कर्म्यका उपदेश देकर उनको मोक्षमार्ग पर लगाते हैं। यथा 'मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै। भा० १२।८।४१।', 'नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रि। भा० ११।४।६।'

१ (ख) 'ध्यानपारायणं' इति। किसका ध्यान करते हैं, यह नारदके प्रश्न करनेपर उन्होंने स्वयं बताया है। नोट ५ (ख) देखिए। अपने अवतारी परस्वरूप, विशुद्धविज्ञानस्वरूपमें सदा स्थित रहते हैं। यही उनका तप है।

१ (ग) 'ज्ञानमूलं' से जनाया कि सब जीवोंको ज्ञान प्रदान करनेके लिये ध्यानावस्थित रहते हैं। अथवा, समाधिस्थ होनेसे कोई यह न समझे कि ये भी जीवकोटिमें हैं, इसलिये कहा कि वे ज्ञानमूल हैं; सब जीवोंके ज्ञानके मूल ये ही हैं।

१ (घ) 'अखिल संसार उपकार' 'सदय' ' इति। हृदय दयासे युक्त है, इसीसे संसारका उपकार करते हैं। किस तरह उपकार करते हैं, यह 'तप-निरत' से बताया। अर्थात् स्वयं तपस्या करते हैं कि जीवोंका कल्याण हो और अपने आचरणसे समस्त प्राणियोंको

❀ 'अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्। भा० १०।३३।३७।'

भगवान्‌में लगनेका उपदेश भी दे रहे हैं। अव्यक्त रूपसे आकल्प-पर्यन्त चालू रहनेवाला तप कर रहे हैं।—नोट ४ देखिए।

टिप्पणी—२ 'श्याम नव तामरस दाम द्युति···'इति। (क) 'शृंगारसर तामरस दाम द्युति।४४ (३)।' का भाव 'तामरस··बपुष' में है। ४४ (३ क) देखिए। यहाँ 'भिन्न धर्मामालोपमा अलंकार' है।

२ (ख) 'अघटित' अर्थात् जो कभी कम न हो; वहुत अधिक। यथा 'अघटित सोभा जदपि तदपि मनि घटित बिराजत।' (श० सा०)। पुनः, दूसरी प्रकार यों भी अर्थ कर सकते हैं—'अर्क अघटित'=जो (करोड़ों) सूर्यमें भी घटित अर्थात् संभव न हो। यथा 'रबि सतकोटि प्रकास।···निरुपम न उपमा आन···जिमि कोटिसत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।।' अतएव 'अघटित' पाठ प्राचीनतम होनेके साथ-साथ उत्तम भी है। 'अगणित' विशेषणकी आवश्यकता भी यहाँ नहीं है, क्योंकि 'कोटि' मदनार्क (मदन और अर्क दोनों) के साथ है।

२ (ग) 'तरुन रमनीय राजीवलोचन' में वाचकलुप्तोपमा है। 'तरुण रमनीय···' कहकर 'शरदभव सुन्दर तरुणतर अरुण' कमल समान जनाया। शेष भाव पूर्व पद ४५ 'नवकंजलोचन···' में आ चुके हैं। ४५ (१ ञ, ट, ठ, नोट ७) देखिए।

२ (घ) 'बदन राकेस कर निकर हासं।' इति। 'हास' (हँसी, मुसुकान) की उपमा चन्द्रकिरणोंकी दी जाती है, यथा 'बिधु-कर-निकर बिनिंदक हासा। १।१४७।२।' बदन (मुख) राकेश अर्थात् पूर्णचन्द्रके समान छबिकी सीमा है, यथा 'सरद मयंक बदन छबि सीमा'। चन्द्रमाकी उपमासे प्रियदर्शन होना जनाया।

टिप्पणी— ३ 'सकल सौंदर्यनिधि बिपुल गुनधाम···' इति। (क) इन विशेषणोंके भाव पूर्व आ चुके हैं। 'सौंदर्जसीमाति रम्यं।' ५३ (४ ख), 'अखिल लावन्यगृह' ५० (३ क), 'सकल सौभाग्य सौंदर्य सुषमारूप।' ४४ (३ घ) देखिये। वे ही भाव यहाँ हैं। 'बिपुल गुण धाम'—'बिमल गुणगेह' ४३ (१ ञ), 'गुणगेह' ४४ (३ ख) देखिए। 'बिधि वेद बुध संभु सेवित'—यहाँ 'बुध' से समस्त आत्माराम धीर पुरुषोंको जना दिया है जैसा 'स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मो। भा० ११।४।८।' में कहा है। 'वेदसेवित', यथा

'वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे । म० भा० शान्ति० ३३४। २५।' (अंग उपांगसहित वेदोंमें आपकी ही महिमाका गान किया है)। ····

···३ (ख) 'अरुनपदकंजमकरंद मंदाकिनी···' के भाव पूर्व 'चरननखनीर त्रैलोक्य पावन परम' ५२ (५ क), इत्यादिमें आ चुके हैं। 'केशवंघ्रपदद्वंदमंदाकिनी मूलभूतं। ४६ (५ ख, ग) देखिए।

टिप्पणी— ४ 'देव शक्र प्रेरित घोर मार मद भंगकृत···' इति। (क) 'मारमदभंग' की कथा ऊपर नोट ५ (ग) (घ) में आ गई है। 'घोर' से जनाया कि कामदेवने कोप करके अपनी सारी कलायें तप भंग करनेके लिये लगा-दी-थीं। मिलान कीजिए— "तब आपन प्रभाव बिसतारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा॥ कोपेउ जबहिं बारि चरकेतू। छन महँ मिटे सकल श्रुतिसेतू॥··· जागइ मनोभव मुएहुँ मन बन सुभगता न परइ कही। १।८३ से ८६ तक। छाँड़े बिषम बिसिख···।"—ये कामकी सारी कलायें हैं और यही उसके पूर्ण गर्वका साज है, यही उसकी घोरता है। शक्रकी प्रेरणा भी ऊपर कथामें आ गई है।

४ (ख) 'क्रोधगत बोधरत' इति। भाव कि कामदेवने तपस्यामें विघ्न डाला था, तो उसपर क्रोध करना अयोग्य न था। क्रोध करते तो उचित ही था, जैसे शंकरजीने किया था। यथा 'छूटि समाधि संभु तब जागे॥ भयउ ईस मन छोभु बिसेषी। नयन उघारि सकल दिसि देखी। सौरभपल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रैलोका।' किन्तु श्रीनरनारायणने क्रोध नहीं किया; क्योंकि ये 'बोधरत' हैं, जानते हैं कि जीव अल्पज्ञ है, मायामोहग्रस्त है, उस मायाद्वारा मारे हुये जीवपर क्या क्रोध करें। कामदेव आदिने जो स्तुति की-है उसमें जो कहा है कि "आप मायातीत निर्विकार हैं, अतएव आपमें क्रोध न होकर दयाभाव होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।—'नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं। भा० ११।४।६।' बहुतेरे लोग ऐसे हैं जो अपार समुद्रके समान भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि कालोंके गुण, वायु तथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियके वेगोंको तो जीत लेते हैं, परन्तु फिर भी उस क्रोधके वशमें हो जाते हैं जिससे कोई लाभ नहीं और जो आत्मनाशक है।

उनकी स्थिति ऐसी है, जैसे कोई समुद्र पार करके भी गो-खुरके गड्ढेमें डूब जाय।—"क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्यानस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्। क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गोर्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥ भा० ११।४।११।"—इन वाक्योंको दृष्टिमें रखकर यहाँ 'क्रोधगत बोधरत' कहा गया है।

४ (ग) 'ब्रह्मचारी' इति। श्रीमार्कण्डेयमुनिके तपको इन्द्रप्रेरित कामादि भंग न कर सके। इस प्रकार तप, स्वाध्याय और जितेन्द्रियपनमें स्थित देख श्रीनरनारायण उनको दर्शन देनेको वहाँ प्रकट हो गए। जो दर्शन हुआ वह यह है—'नर गौरवर्ण, नारायण श्यामवर्ण थे। दोनों चतुर्भुज थे। दोनोंके नेत्र नवीनकमलके समान थे। हाथमें पवित्री, कमण्डल, दण्ड धारण किये, कमलगट्टोंकी माला हाथमें लिये हुए, तीन-तीन सूत वा लड़ीके यज्ञोपवीत धारण किये हुए, जीवोंको हटानेके लिये वस्त्रकी कूँची साथमें रक्खे हुए, मृगचर्म और वल्कल पहने हुए, और वेदोंको धारण किये हुए साक्षात् तपकी मूर्त्ति जान पड़ते थे। (भा० १२।८।३३-३४)। बालब्रह्मचारी तो थे ही। कामादिका वेग आपको कभी न व्यापा। यह सब ब्रह्मचारीके लक्षण और वेष होनेसे 'ब्रह्मचारी' कहा। दोनों ऋषिरूपसे ही तपनिरत हैं—'नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय…। श्लोक ४७।' इस प्रकार मार्कण्डेयजीने उनकी स्तुति की है।

४ (घ) मार्कण्डेयजीकी दीर्घायुकी कथा।—पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें पुलस्त्यजीने भीष्मजीसे आपके जन्म-नामादिके सम्बन्धकी कथा कही है। प्राचीन कल्पमें मृकण्ड नामक मुनि हुए हैं जो भृगुजीके पुत्र थे। वनमें रहते समय ही उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम मार्कण्डेय हुआ। [परन्तु युगों और प्रलयके वर्णनप्रसंगमें (अध्याय ३६ में) मुकुन्द भगवान्ने उनसे कहा है कि "तुम्हारे पिता आङ्गिरस मुनिने पूर्वकालमें पुत्रकी कामनासे तीव्र तपस्या करके मेरी ही आराधना की थी। तब मैंने उनको तुम्हारे जैसा तेजस्वी पुत्र होनेका सच्चा वरदान दिया था।] बालक होनेपर भी वह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। पाँच वर्षकी अवस्था होनेपर, एक दिन जब वह आँगनमें खेल रहा था, एक सिद्ध ज्ञानी उस जगह पहुँचकर देर तक बालकको देखता रहा। पिताके प्रश्न करनेपर उसने बताया कि बालककी आयुमें अब केवल छः महीने और शेष रह गए हैं। यह सुनकर पिताने पुत्रका उपनयन-संस्कार कर

दिया और उससे कहा—'बेटा! तुम जिस किसी मुनिको देखो, प्रणाम करो।' बालक मार्कण्डेय हर्षपूर्वक सबको प्रणाम करने लगे। इस तरह ५ मास २५ दिन बीत गए। तदनन्तर सप्तर्षि उस मार्गसे पधारे और बालकने देखते ही उनको प्रणाम किया। ऋषियोंने तुरन्त आशीर्वाद दिया—'आयुष्मान् भव, सौम्य।' आशीर्वाद मुखसे निकल जानेपर विचार करनेपर उनको ज्ञात हुआ कि इसकी आयुके पाँच ही दिन शेष हैं, तब उन्हें अपना वचन असत्य होनेका भय हुआ। वे उसे लेकर ब्रह्माजीके पास पहुँचे और उनको प्रणाम किया। बालक मार्कण्डेयने भी साष्टाङ्ग प्रणाम किया और ब्रह्माजीने उसे चिरायु होनेका आशीर्वाद देकर ऋषियोंसे आगमनका कारण और बालकका परिचय पूछा। सब वृत्तान्त कहकर ऋषियोंने निवेदन किया—'देव! आपके साथ हम लोग झूठे क्यों बनें?' तब ब्रह्माजी बोले कि—"यह आयुषमें मेरे समान होगा। यह कल्पके आदि और अन्तमें भी श्रेष्ठ मुनियोंसे घिरा हुआ सदा जीवित रहेगा।" इस प्रकार आशीर्वाद दिलाकर ऋषियोंने बालकको पृथिवीपर भेज दिया। बालक मार्कण्डेयने आकर पितासे सब बात कही और पुष्कर तीर्थमें जानेकी आज्ञा माँगी। पिताने आशीर्वाद देकर, कि "तुम चिरजीवी महात्माओंके आदर्श माने जाओगे और अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम लोकोंमें जाओगे", उनको विदा किया। (संक्षिप्त प० पु० पृष्ठ १३०-१३१। अध्याय ३६ पृष्ठ १५६)।

☞ प्रणामका फल देखकर हमलोगोंको इससे शिक्षा लेनी चाहिए।

४ (ङ) 'कौतुकी विनहिं कल्पांत प्रलयकारी' इति। इन शब्दोंका भाव शौनकजीके प्रश्नसे समझमें आ जाता है, जो उन्होंने सूतजीसे किया है। वह यह है कि—"लोग कहते हैं कि मृकण्डऋषिके पुत्र मार्कण्डेय ऋषि चिरायु हैं और जिस समय प्रलयने सारे जगत्को निगल लिया था, उस समय भी वे बचे रहे। परन्तु सूतजी! वे तो इसी कल्पमें हमारे ही वंशमें उत्पन्न हुए एक श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं, और जहाँ तक हमें मालूम है, इस कल्पमें अभीतक कोई प्रलय नहीं हुआ है। ऐसी स्थितिमें यह बात कैसे सही हो सकती है कि जिस समय सारी पृथ्वी प्रलयकालीन समुद्रमें डूब गई थी, उस समय मार्कण्डेयजी उसमें डूबते-उतराते रहे थे और उन्होंने अक्षयवटके

पत्रोके दोनेमें अत्यन्त अद्भुत और सोये हुए बालमुकुन्दका दर्शन किया ?" (भा० १२।८।२-४)।

'बिनहिं कल्पांत' में भी यही भाव है कि उस समय तक प्रलय नहीं हुआ था। तब 'प्रलय' कैसे कहा ? इसका समाधान 'कौतुकी'-से किया गया है। श्रीसूतजीके उत्तरमें समाधानका भाव स्पष्ट हो जाता है। वे कहते हैं—'आपने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया। इससे लोगोंका भ्रम मिट जायगा और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस कथामें भगवान् नारायणकी महिमा है।'''मार्कण्डेयजी विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके तपस्या और स्वाध्यायसे सम्पन्न हो गए थे। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यका व्रत ले रक्खा था। शान्तिभावसे रहते थे। वल्कल वस्त्र, हाथोंमें दण्ड और कमण्डल, शरीरपर यज्ञोपवीत और मेखला, काला मृगचर्म, माला (रुद्राक्ष) और कुश—यही उनकी पूँजी थी। उन्होंने तपस्या और स्वाध्यायमें तत्पर रहकर मृत्यु-पर विजय प्राप्त कर ली। इनकी मृत्युविजयको देखकर ब्रह्मा, भृगु, शंकर, दक्ष, देवता, ऋषि, पितर आदि सभी प्राणी अत्यन्त विस्मित हो गए। मार्कण्डेयजी महायोगके द्वारा अपना चित्त भगवान्‌के स्वरूपमें जोड़ते रहे। इस तरह छः मन्वन्तर बीत गए। सातवें मन्वन्तरमें जब इंद्र-को उनकी तपस्याका पता चला तब वे शंकित हुए और उन्होंने विघ्न डालना आरम्भ किया।

मार्कण्डेयजीका आश्रम हिमालयकी उत्तर ओर पुष्पभद्राके तटपर है। उसके पास ही चित्रा नामकी एक शिला है। इन्द्रने वहीं गंधर्व, अप्सराएँ, काम, वसन्त, मलयानिल, लोभ और मदको तपभंगहेतु भेजा। सबने अपना सारा बल लगा दिया। कामदेवने अपने पुष्प-निर्मित धनुषपर पंचमुख बाण चढ़ाए।'''सबने अपनी सब कलायें कर दिखाईं; पर मुनिपर उनका सारा उद्योग वैसे ही निष्फल हुआ जैसे असमर्थ और अभागेके सब उद्योग निष्फल होते हैं। अब मुनि-के तेजसे काम आदि सभी जलने लगे और ठीक उसी प्रकार भाग गए जैसे छोटे-छोटे बच्चे सोते हुए साँपको जगाकर भाग जाते हैं। मुनिके चित्तमें तनिक भी अहंकारका भाव न आया। उनका चित्त बराबर भगवान्‌में लगा रहा। अब उनपर कृपाप्रसादकी वर्षा करने-के लिये श्रीनर-नारायण भगवान् तपोमूर्त्ति ऋषिरूपमें ही उनके पास दर्शन देने आये। श्रीमार्कण्डेयजीने उन्हें देखते ही साष्टांङ्ग

दण्डवत प्रणाम कर उनको आसन दे उनकी पूजा और स्तुति की। तब भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा कि मैं वरदाताओंका स्वामी हूँ, जो इच्छा हो वह वर माँग लो। मुनिने कहा कि आपने वर माँगनेके लिये कहकर अपनी सहृदयता और दयालुता प्रकट की।···ब्रह्मा, शंकर आदि योगसाधना द्वारा एकाग्र हुए मनसे ही जिनके परम सुन्दर चरणकमलोंका दर्शन प्राप्तकर कृतार्थ हो गए हैं, उन्हीं आपने मेरे नेत्रोंके सामने प्रकट होकर मुझे धन्य बनाया है। अब इससे बढ़कर और क्या चाहिए? आपकी आज्ञा है, इसलिये मैं माँगता हूँ—'मैं आपकी वह माया देखना चाहता हूँ जिससे मोहित होकर समस्त लोक और लोकपाल अद्वितीय वस्तु ब्रह्ममें अनेकों प्रकारके भेद-विभेद देखने लगते हैं।' (भा० १२।९।४-६)। भगवान्‌ने मुस्कुराकर कहा—'ठीक है, ऐसा ही होगा।'—इसके आगे श्लोक १० से अन्त तक 'बिनहिं कल्पांत प्रलय' का वर्णन है। वह इस प्रकार है'—

"एक दिनकी बात है कि संध्या समय मुनि पुष्पभद्रा तटपर भगवान्‌की उपासनामें तन्मय थे कि यकायक बड़ी जोरकी आँधी चलने लगी, विकराल मेघ मँड़राने, गरजने और रथके धुरेके समान मोटी-मोटी धार बरसने लगे। मुनिने देखा कि चारों ओरसे समुद्र उमड़ते हुए सारी पृथ्वीको डुबाते चले जा रहे हैं, पृथ्वी और स्वर्ग सब डूब गए। प्रलयसमुद्रमें भयंकर लहरें उठ रही हैं, प्रलयकालीन बादल बरस-बरसकर समुद्रको और भी भरते जा रहे हैं। द्वीप, वर्ष, पर्वत सहित सारी पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, ज्योतिर्मण्डल और दिशाओंके साथ तीनों लोक समुद्रमें डूब गए। उन्होंने देखा कि एकमात्र वे ही बचे हैं। उस समय वे पागल और अंधेकी तरह यहाँ से वहाँ, वहाँसे यहाँ, भाग-भागकर अपने प्राण बचानेकी चेष्टा कर रहे थे। वे भूखप्याससे व्याकुल हो रहे थे। किसी ओरसे बड़े-बड़े मगर तो किसी ओर बड़े-बड़े तिमिंगिल मत्स्य उन पर टूट पड़ते हैं, किसी ओरसे पवनका झकोड़ा आता तो किसी ओरसे लहरोंके थपेड़े उन्हें घायल कर देते—इस प्रकार इधर-उधर भटकते-भटकते वे बेहोश हो गए। उनको पृथ्वी और आकाशका भी ज्ञान न रह गया। वे कभी बड़े भारी भँवरमें पड़ जाते, कभी तरल तरंगोंकी चोटसे चंचल हो उठते। जब कभी जलजंतु आपसमें एक दूसरे पर आक्रमण करते तब ये अचानक ही उनके शिकार बन जाते।

कहीं शोकग्रस्त हो जाते, तो कहीं मोहग्रस्त। कभी दुःखही-दुःख आते, तो कभी तनिक सुख भी मिल जाता। कभी भयभीत होते, कभी मर जाते, तो कभी तरह-तरह के रोग उन्हें सताने लगते।—इस प्रकार मुनि मायाके चक्करमें मोहित हो रहे थे। उस प्रलयकालके समुद्रमें भटकते-भटकते उन्हें लाखों-करोड़ों वर्ष बीत गए।''

एक बार एक टीलेपर उन्होंने एक बरगदका पेड़ देखा, जिसमें हरे-हरे पत्ते और लाल-लाल फल शोभायमान हो रहे थे। उस पेड़में ईशानकोणमें एक डाल थी जिसमें पत्तोंका एक दोना-सा बन गया था। उस दोनेपर एक छोटा नन्हासा बच्चा लेटा हुआ था। उसके शरीरसे ऐसी उज्ज्वल छटा छा रही थी कि जिससे आस-पासका अंधकार दूर हो रहा था। उसका मरकतमणिसमान वर्ण, मुखकमल सौंदर्यनिधान, काली-काली अलकें कपोलों पर लहराती हुईं, शंखसमान घुमावदार कानोंमें अनारके-से लाल-लाल फूल, मूंगाके समान लाल होठोंकी कांतिसे सुधामयी श्वेत मुसकान, कुछ लालिमा-मिश्रित नेत्रोंके कोये कमलके भीतरी भागके समान लाल-लाल, चितवन मनोहर, नाभि गम्भीर, पीपलके पत्तेके समान पेटपरकी त्रिवलियाँ श्वास-प्रश्वास लेनेसे हिलती देख पड़ती थीं।''''''वह शिशु अपने दोनों कर-कमलोंसे एक चरणकमलको मुखमें डालकर चूस रहा था। मार्कण्डेय मुनि यह दृश्य देख बड़े विस्मित हुए। (श्लोक २०-२५)। उसके दर्शनमात्रसे उनका सारा श्रम जाता रहा। आनन्दके मारे हृदयकमल खिल उठा, शरीर पुलकित हो गया। उनके हृदयमें 'यह कौन है?' इस तरहकी अनेक शंकाएँ उठने लगीं और वे उससे बात करनेके लिए उसकी ओर बढ़े, परन्तु अभी वे पहुँच भी न पाए थे कि इस शिशुके श्वासके साथ वे उसके शरीरके भीतर इस प्रकार घुस गए जैसे कोई मच्छड़ किसी के पेटमें चला जाय। उस शिशुके पेटमें उन्होंने सारी सृष्टि जैसी प्रलयके पूर्व थी, देखी और अपना आश्रम इत्यादि तथा और भी अद्भुत वस्तुएँ देखीं जो पूर्व न देखी थीं।—इस प्रकार सारा विश्व देख चुकनेपर फिर वे शिशुके श्वास द्वारा बाहर निकलकर उसी प्रलय समुद्रमें गिर पड़े। वटपर लेटे हुए शिशुको भी देखा कि वह प्रेमपूर्ण चितवन और मृदु मुस्कानसे मुनिकी ओर देख रहा है। मुनि उसका आलिंगन करनेके लिये बड़े क्लेशसे बढ़े; पर वह अंत-

धान हो गया। साथ ही न वह वट रह गया, न वह प्रलयकालवाला समुद्र और मुनि भी पूर्ववत् अपने आश्रममें स्थित हो गए।" (श्लो० १०-३४)। श्रीनारायणके रचे हुए इस योगमायाका वैभव देखकर मुनिने उन्हींकी शरण ली।—"स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम्। वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ ॥ भा० १२।१०।१।'— इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि भगवान्ने जो वर दिया था उसे अपनी योग-मायाबलसे पूरा कर दिखाया। वह उनका एक कौतुक था। प्रलयका न तो समय था और न प्रलय हुआ ही; प्रलयका सच्चा दृश्य मुनिको दिखला दिया गया। मुनि ही ने देखा और किसीने नहीं। यही बात अ० १०।४०,४१ 'अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः। अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥०' अर्थात् (सूतजी शौनकादिसे कहते हैं कि) हे मुने! यह भगवान्की आकस्मिक माया थी। मतिमान् मार्कण्डेयजीने जो भगवान्की मायाका अति अद्भुत अनुभव किया था वह सब मैंने तुम्हें सुना दिया। परन्तु इस रहस्यको न जाननेवाले कितने ही लोग भगवान्की (किसी कालमें मार्कण्डेयजीको दिखानेके लिये रची हुई) इस लीलाको अधिक कालका बतलाते हैं; परन्तु मायाके जाननेवाले उसे क्षणमात्रका ही कहते हैं।

प० पु० सृष्टिः अ० ३६ में भी प्रलयकी कथा कुछ हेर-फेरसे है। उसमें कहा है कि भगवान् कौतूहलवश मार्कण्डेयको अपने मुँहमें लील गए। (उदरमें ब्रह्माण्डका अद्भुत दर्शन कर लेनेपर जब) वे पुनः बाहर उसी एकार्णव जलमें आकर पड़े तब वटपर सोये हुए बालकका, जो पूर्वपरिचित सा जान पड़ता था, वृत्तान्त जाननेके लिये आगे बढ़े। इन्हें आते देख मुकुन्द भगवान्ने कहा—'मार्कण्डेय! तुम्हारा स्वागत है। डरो मत, मेरे पास चले आओ।' और बताया कि 'मैं पुराणपुरुष हूँ। मैंने ही तुम्हारे पिताको तुम्हारे-जैसा पुत्र होनेका वरदान दिया था ’’…नमस्कार आदिके बाद मुनिने कहा—'मैं आपकी मायाको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ; इस एकार्णवमें आप बालरूपसे कैसे सो रहे हैं?' भगवान्ने अपना परिचय और विभूतियोंको कहते हुए बताया कि "संसारमें जो कुछ भी देखते, सुनते और अनुभव करते हो, वह सब मेरा ही स्वरूप समझो"। यदि धर्मके सेवन या श्रवणकी इच्छा हो तो मेरे उदरमें रहकर विचरो।…’’

इत्यादि कहते हुए भगवान्‌ने तुरंत ही उन्हें अपने मुँहमें लिया।…। (परन्तु इसमें 'विनहिं कल्पांत' वाली बातका उल्लेख नहीं है)।

म० भा० वन० मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें युधिष्ठिरजीके अनेकों प्रश्नोंका उत्तर देते हुए अ० १८८ में प्रलय किस प्रकार होता है यह (श्लोक ६५-८६ में) बताकर फिर कहा है कि मैं उस एकार्णवमय जगत्‌में अकेला मारा-मारा फिरता थक गया। एक दिन एकार्णवकी उस जलराशिपर एक वटवृक्ष देखा जिसकी शाखापर एक पर्यँकपर दिव्य बिछौनेपर एक दिव्य बालक बैठा था। (श्लो० ९०-९१)। मुझे विस्मयमें पड़ा हुआ देखकर बालकने कहा—'मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम बहुत थक गये हो, विश्राम चाहते हो।…तुम मेरे शरीरके भीतर प्रवेश करके विश्राम करो। वहाँ तुम्हारे रहनेके लिये व्यवस्था की गई है।' (श्लो० ९७-९८)। तदनन्तर उस बालकने सहसा मुख खोला और दैवयोगसे परवशकी भाँति मैं उसमें प्रवेश कर गया। (उदरमें जो देखा वह श्लो० १०१-१२२ में है)। सौ वर्ष से अधिक उदरमें घूमनेपर भी उसके शरीरका अंत न दिखाई दिया। तब चिन्तित हो उस देवताकी मन-वचन-कर्मसे शरण ली। शरण लेते ही मुखकी राहसे सहसा बाहर निकला, तो बालकको पूर्ववत् वहीं बैठे देखा। बालकने हँसते हुए पूछा—'मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय! क्या तुम मेरे इस शरीरमें रहकर विश्राम कर चुके?' (श्लो० १३०)। मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार करके कहा—'देव! मैं आपको और आपकी इस उत्तम मायाको जानना चाहता हूँ?…आप इस संपूर्ण जगत्‌को पीकर यहाँ बालकवेषमें क्यों विराजमान हैं?…'। अ० १८९ में भगवान्‌ने अपने स्वरूपका परिचय देकर कहा,—'यच्च किंचित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥ विहितः सर्वथैवासौ ममात्मा भूतभावनः। ३८-३९।' तुमने जो कोई भी स्थावर जंगम पदार्थ देखा है, उसके रूपमें सर्वथा मेरा भूतभावन आत्मा ही प्रकट हुआ है।…यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, तो भी जबतक ब्रह्मा नहीं जागते तबतक मैं इसी बालकरूपसे यहाँ रहता हूँ।—ऐसा कहकर वे अन्तर्धान हो गए। अन्तर्धान होते ही मैंने देखा कि यह नाना प्रकारकी विचित्र प्रजा ज्यों-की-त्यों उत्पन्न हो गई है। (श्लो० ५०)।

टिप्पणी— ५ (क) 'पुण्य बन सैल सरि बद्रिकाश्रम' इति। भगवान् नर-नारायणके निवाससंबंधसे वहाँके वन, शैल, नदियाँ और आश्रम सबको 'पुण्य' (पवित्र) कहा गया। 'पुण्य' एक सरोवरका भी नाम है, जो भृगुतुङ्गपर्वतके निकट है। वहीं शीतल और पवित्रजलवाली अलकनंदा बह रही है जो बदरिकाश्रमसे ही निकली है। लोमशजीने युधिष्ठिरजीसे बताया है कि 'देवर्षिगण इसके जलका सेवन करते हैं। आकाशचारी बालखिल्यगण और गंधर्वगण भी इसके तटपर आते रहते हैं। यहाँ मरीचि, पुलह, भृगु और अंगिरा आदि मुनिगण शुद्ध स्वरसे सामगान किया करते हैं।' पवित्रताके विषयमें महाभारत वनपर्वमें यह उल्लेख है कि—"इस आश्रममें क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण आदि दोषोंकी बाधा भी नहीं होती थी। इसमें प्रवेश करते ही शोक अपने आप ही निवृत्त हो जाता था। यहाँ महर्षियोंकी भीड़ लगी रहती थी तथा ऋक्-साम-यजूरूपा ब्राह्मी लक्ष्मी विराजमान थीं। जो लोग धर्मबहिष्कृत थे, उनका तो इसमें प्रवेश ही नहीं हो सकता था। जिनका तेज सूर्य और अग्निके समान था और अंतःकरणका मल तपसे दग्ध हो गया था, वे महर्षि और संयतेन्द्रिय मुमुक्षु यतिजन ही वहाँ रहते थे। इनके सिवा वहाँ ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त अनेकों ब्रह्मज्ञ महानुभाव भी रहते थे। भागीरथी वहाँ 'अलकनंदा' और 'सीता' नामसे विख्यात है।" (म० भा० वन० १४५।२७–३४)

विष्णुपुराणमें भी बदरिकाश्रमको पवित्र कहा है। यथा 'गच्छ त्वं···। यद्बदर्याश्रमं पुण्यं गन्धमादनपर्वते। नरनारायणस्थाने तत्पवित्रं महीतले। ५।३७।३४।' अर्थात् नर-नारायणके निवास-स्थान गन्धमादनपर्वतपर जो पवित्र बदरिकाश्रम क्षेत्र है, वहाँ जाओ। पृथिवीतलपर वह पवित्रस्थान है। श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा पाकर स्वयंप्रभा भी बदरिकावनको गई थी। यथा 'बदरीबन कहुँ सो गई प्रभु आज्ञा धरि सीस। ४।२५।'—इन प्रमाणोंसे पर्वत, आश्रम और वनकी पवित्रता स्पष्ट है।

५ (ख) 'सदासीनं पद्मासनं एकरूपं' इति। 'सदासीनं' से जनाया कि कल्पके आदिमें स्वायम्भुव मन्वन्तरके प्रथम सत्ययुगमें जबसे अवतार लेकर हिमालयपर तप करने गए तबसे बराबर तप कर रहे हैं। यथा 'कृते युगे महाराज पुरा स्वायम्भुवेऽन्तरे। नरो

नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः ॥ तेषां नारायणनरौ तपस्तेपतुरव्ययौ बदर्याश्रममासाद्य शकटे कनकामये ।' (म० भा० शान्ति ३३४।९-१०), 'धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः। भा० ।१०।८७।६।' अर्थात् स्वयम्भू भगवान्‌के चारों अवतारोंमेंसे अविनाशी नर-नारायण बदरिकाश्रममें जाकर एक स्वर्णमय रथपर स्थित हो घोर तपस्या करने लगे। वे कल्पके आरंभसे ही धर्म, ज्ञान और शमसहित तप कर रहे हैं। पुनश्च यथा 'नर नारायणौ पूर्वं तपस्तेपतुरव्ययम् ॥ धर्मयानं समारूढौ पर्वते गन्धमादने।' (म० भा० शान्ति ३४२। १०७-१०८)। अर्थात् नर और नारायणने जब धर्मरथपर आरूढ़ हो गन्धमादन पर्वतपर अक्षय तप किया।

श्रीनर-नारायण आज भी अर्चारूपमें पद्मासनसे विराजमान हैं और अतिशय बड़भागियोंको प्रत्यक्षरूपसे उनका दर्शन भी हुआ है। दीर्घकालतक बैठने और ध्यानजपादिके समयमें पद्मासन उपयुक्त समझा गया है। भगवान् शंकरनेभी इसी आसनसे बैठकर समाधि लगाई थी। यथा 'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बट तर करि कमलासन। संकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा। १।५८।७-८।' भगवान् नर-नारायणका तप कल्पान्ततक चालू रहनेवाला है,—'आकल्पान्तमुपचित···। भा० ५।१९।९।'; इसीसे वे भी पद्मासन लगाकर बैठे हैं।

'एकरूपं'—अर्थात् एकरस पद्मासन लगाये बैठे हैं और निरुपाधि तप प्रारंभसे अबतक एकरस, एक-सा करते आ रहे हैं। विशेष आगे 'योग' की व्याख्यामें भी देखिए।

५ (ग) 'सिद्ध योगींद्र' इति। योग दो प्रकारका होता है—सूक्ष्म और स्थूल। स्थूल योग अणिमा आदि अष्टसिद्धियोंका देनेवाला है। अष्टसिद्धियाँ जिनको प्राप्त हैं, वे सिद्ध हैं। सूक्ष्म योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन आठ गुणोंसे युक्त है। शब्दादि विकारोंको दूरकर इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करके लय और विक्षेपको शान्त कर मनको अहंकारमें, अहंकारको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको प्रकृतिमें स्थापित-इस प्रकार सबका लय करके केवल परमात्माका ध्यान किया जाता है। योगकी ऊँची स्थितिको प्राप्त हुआ एकाग्रचित्त योगी इन्द्रियोंकी स्थिरताके कारण समाधिसे विचलित नहीं होता। म० भा० शान्ति० ३०६।१४-१५ में कहा है कि

"जिस समय मनको स्थिर कर योगी पत्थरकी भाँति अविचल, सूखे काठकी भाँति निष्कम्प और पर्वतकी तरह स्थिर रहे तभी वह 'योगयुक्त' कहलाता है।"—यह जीवके सम्बन्धमें 'योगयुक्त' होना कहा गया। ये ही योगीश्वर, योगेन्द्र हैं।—इन उद्धरणोंसे 'सदासीन एकरूपं' का भावार्थ बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

५ (घ) 'सदासीन एकरूपं' और 'सिद्धयोगेन्द्रवृन्दारकानन्दप्रद' से सूचित किया कि आप महायोगेश्वर हैं तभी तो योगेश्वर—योगके प्रवर्तक आचार्य भी आपको देखकर आनन्द पाते हैं। योगी जीव तो साधन करके योगयुक्त होता है और भगवान् तो स्वयं योगरूप ही हैं, योगीजन योगद्वारा उन योगरूप भगवान्की प्राप्ति करते हैं। श्रीनर-नारायण अपने परस्वरूवके ध्यानमें सदा एकरस (बिना किसी साधनके) रहते हैं।

५ (ङ) 'सिद्ध' 'आनंदप्रद' कहकर 'दर्श अति अनूपं' कथनका भाव कि आपका दर्शन धैर्यवान्, मनीषी, वेदवेत्ता महात्माओं ही को हो सकता है, सबको नहीं, इसीसे उन्हींको आनन्द होता है। योगेन्द्रमें मार्कण्डेयजी और देवताओंमें देवर्षि नारदके नाम तो ऊपर आ ही गए। मार्कण्डेयजीकी कथामें लिखा गया है कि वे छः मन्वन्तर तक महायोगके द्वारा अपना चित्त भगवान्के स्वरूपमें जोड़े रहे थे। देवर्षि नारदजीका नरनारायणके पास जाना और उनसे प्रश्न करना तथा उत्तर पाना नोट—५ (ख) में लिखा जा चुका है। एक बार भगवान् वासुदेवकी महिमा सुनकर उनको इतना आनन्द हुआ कि वे उनके आश्रममें एक सहस्र दिव्य वर्ष तक रहकर उनकी उपासना करते रहे। श्रीनरनारायणके पुजारी श्रीनारदजी ही हैं। यथा 'एतच्छ्रुत्वा तयोर्वाक्यं तपस्युग्रे च वर्ततोः। नारदः प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणपरायणः॥ जजाप विधिवन्मन्त्रान् नारायणगतान् बहून्। म० भा० शान्ति० ३४४।२५-२६।' नोट—४ देखिए।

भा० १०।८७ में भी बताया है कि एक बार जब नारदजी भगवान् नर-नारायणके दर्शनार्थ गए थे तब वहाँ उनके समीप कलापग्राम-निवासी ऋषिगण बैठे थे। भगवान् ऋषियोंके मध्यमें बैठे थे। नारदने ब्रह्मवादका प्रश्न किया और श्रीनारायणने उन समस्त ऋषिगणोंके सुनते हुए नारदजीसे ब्रह्मवादका विषय कहा।—'तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः। परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥७॥ तस्मै

ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् । यो ब्रह्मवादः''।८।'—यह ऋषियों (सिद्ध योगेन्द्रों) के वहाँ जानेका स्पष्ट प्रमाण है ।

प० पु० उत्तरखण्डमें नारदजीने राजा शिबिके पूछनेपर बदरिकाश्रमका वर्णन करते हुए कलग्रामके एक सिद्ध पुरुषको चर्चा की है। (संक्षिप्त प० पु० पृष्ठ ८२४, ८२५)। इससे सिद्ध है कि वहाँके निवासीऋषि सिद्ध एवं योगी थे जो श्रीनर-नारायणके पास बैठे थे। महर्षि मरीचि, अङ्गिरा, पुलह आदि वहाँ सामगान करने जाया करते हैं, बालखिल्य और गन्धर्वभी वहाँ आते रहते हैं—यह ऊपर टि० ५ (क) में बताया जा चुका है ।

टिप्पणी—६ (क)'मान मनभंग चितभंग मद' इति। ऊपर 'दर्श अति अनूपं' कहकर अब दर्शनमें जो मार्गकी कठिनाइयाँ हैं उन्हें दिखाते हैं। भगवद्दर्शनप्राप्तिमार्ग और बदरिकाश्रममार्गकी कठिनाइयोंका यहाँ साङ्गरूपक है। 'मनभंग' और 'चितभंग' नाम ही अपने-अपने गुणोंकी सूचना दे रहे हैं कि इन पर्वतोंको देखकर ही साहसीका भी साहस टूट जाता है, मनमें संकल्प-विकल्प होने लगते हैं, चित्त उधर जानेको प्रवृत्त नहीं होता। इसी तरह मान और मद भगवान्‌की ओर जानेमें बाधक होते हैं। इसीसे तो भजनके लिये बराबर इनके त्यागका उपदेश मौके-मौकेपर दिया गया है। यथा 'बार-बार पद लागउँ विनय करउँ दससीस। परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस। सुं०।', 'तेहि कहँ पिय पुनि-पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू। ६।३६।५।'

मद कई प्रकारका कहा गया है। उनमेंसे पाँच जाति (कुल), विद्या, महत्व, रूप, यौवन तो भक्तिके कण्टक ही कहे गए हैं। जाति-विद्या-बल आदिका अभिमान 'मद' है। आत्माभिमान एवं प्रतिष्ठाकी चाह 'मान' है। विशेष ५५ (४ ख) देखिए। ये दो बड़े पर्वत हैं, जिनसे साधक आगे बढ़ नहीं सकता। कहा भी है 'कोउ न मान मद तजेउ निबेही। ७।७१।१।'

६ (ख) 'क्रोधलोभादि पर्वत दुर्ग' इति। मार्गमें और भी दुर्गम दुर्लंघ्य पर्वत पड़तें हैं। इसी प्रकार परमार्थपदमें और भी पर्वत समान विघ्न हैं जिनमें क्रोध लोभ दो प्रधानोंके नाम दे दिये, शेषको 'आदि' से कह दिया। 'पर्वत दुर्ग' कथनका भाव कि इन उपाधियोंको लाँघ जाना भारी काम है। युधिष्ठिरजीने यक्षके प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि

'क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः।' अर्थात् क्रोध अत्यन्त दुर्जय शत्रु है और लोभ अनंत व्याधि है। (म० भा० वन० ३१३।९२)। अतः दुर्ग पर्वत से इन्हें उपमित किया। यहाँ 'काम' को 'आदि' में रक्खा और क्रोधको प्रधानमें। कारण कि कामको भी जो जीत लेते हैं (जैसे शंकरजी) वे भी क्रोधके वश हो जाते हैं, अतएव क्रोध विशेष दुर्लंघ्य होनेसे प्रधान माना गया। क्रोधादि जीत भी लिये जायँ, किन्तु मान मदका समूल नष्ट होना अति कठिन है। ये सूक्ष्मरूपसे, झीनी-वासनारूपसे अन्तःकरणमें छिपे रह जाते हैं, अपनेको मालूम भी नहीं हो पाता। इसीसे इन दोको प्रथम कहा।

६ (ग) 'भुवनभर्ता' इति। 'पाहि मां पाहि भो विश्वभर्ता' ५९ (५ घ) देखिए। ☞ स्मरण रहे कि यह रूपक गोस्वामीजीके समयकी बदरिका-यात्राका है। आजकल वे कठिनाइयाँ नहीं हैं। वायुयानों द्वारा तो दो घण्टेमें वहाँकी सैर हो जाय। पर यह भी स्मरण रहे कि तीर्थयात्रा पैदलकी ही कही गई है। यथा 'चरन रामतीरथ चलि जाहीं।' रेलपर नहीं करना चाहिए। तो भी अब धर्मशालायें, पुल और बोझा ढोनेवालों, इत्यादि सुविधाओंके कारण पूर्वकालकी कठिनाइयाँ बहुत कम हो गई हैं।

६ (घ) 'द्वेष मत्सर राग प्रबल प्रत्यूह ...।' इति। पर्वत पार करनेका साहस भी हुआ, तो भी अभी चोर, डाकू, बटमार, कोल-किरात, वृक, भालु, सिंह आदि अनेक उग्र कर्म करनेवाले जीव-जन्तुओंका भी भय रहता है, इनसे बचना कठिन है। 'निर्दय' से जनाया कि प्राणतक ले लेते हैं। पिछले पद ५९ में वृक-भालुको उग्रकर्मा, महिषको क्रूर और मर्कट-व्याघ्र आदि मृगव्रातको उत्पातकर्ता कहा है। और 'अखिल खल निपुन छल छिद्र निरखत सदा जीवजन पथिक मन खेदकारी' भी कहा गया है।—वे ही सब यहाँ 'प्रत्यूह' शब्दसे सूचित कर दिये हैं। पद ५९ में 'मत्सर' को क्रूर महिष और पद ५८ में 'रागादि' को नक्र कहा है। नक्र और महिष दोनों बड़े क्रूर होते हैं—यह क्रूरता वहाँ दिखाई जा चुकी है।

☞ काम, क्रोध, मान, मद, मत्सर, राग और द्वेष के अर्थ और भाव पूर्व पदोंमें कई बार आ चुके हैं।

टिप्पणी—७ (क) 'बिकट छुरधार प्रमदातिबर' इति। 'क्षुरधार' का अर्थ 'छुरेकी धार' लेनेसे भावार्थ होगा कि जैसे छुरेकी धारपर चलना कठिन है, पैर उसपर पड़ा नहीं कि कटा, वैसे ही प्रमदाका संग है। देवमायारूपिणी 'प्रमदा' के बाहुपाशमें पड़कर मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। उसकी फरमाइशों (इच्छाओं तथा माँगों) की पूर्त्तिसे उसे छुटकारा ही नहीं मिलता। उसके जालमें फँस जानेसे वह हरिप्राप्तिपथपर तो चलने योग्य ही न रह जायगा, चलनेवाले पैर प्रथम ही कट जायँगे। 'अति बर' का भाव कि प्रमदा परम बलवती माया है। यथा 'एहि के एक परम बल नारी। तेहिं ते उबर सुभट सोइ भारी। ३।३८।१२।''' क्रोध के परुष वचन बल काम के केवल नारि। ३८।', 'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नुमाया प्रगट। ७।११५।'

सूतजीने भी कहा है कि "स्त्रियाँ नेत्रोंके कटाक्षसे जो संकेत करती हैं, उसका उल्लङ्घन करना देवताओंके लिये भी कठिन होता है। जिसने उसपर विजय पा ली है, वही संसारमें भगवान्‌का भक्त कहलाता है। मुनि भी इस लोकमें नारीके चरित्रपर लुभाकर मतवाले हो उठते हैं। जो लोग नारीकी भक्तिका आश्रय लेते हैं, उन्हें भगवान्‌की भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है।"—'नारीणां नयनादेशः सुराणामपि दुर्जयः। स येन विजितो लोके हरिभक्तः स उच्यते॥ माद्यन्ति मुनयोऽप्यत्र नारीचरितलोलुपाः। हरिभक्तिः कुतः पुंसां नारीभक्तिजुषां द्विजाः। प० पु० स्वर्ग० ६१।१२-१३।' कठोपनिषद्‌में आत्मज्ञानमार्गकी कठिनता दिखानेमें उसे पैने छुरेकी धारकी उपमा दी गई है। यथा—'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। कठ १।३।१४।' अर्थात् परमार्थमार्ग छुरेके समान धारावाला तीक्ष्ण है, इसीसे कविजन उसे दुर्गम पथ कहते हैं। 'बर' = बल। यथा 'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए। ७।५।७।'

चरखारी टीकाकार, रामतत्त्वबोधिनी टीका (बाबा रामदास-कृत), मास्टर बिहारीलाल और बाबू शिवप्रकाशजी लिखते हैं कि क्षुरधार और खड्गधार दो पर्वतोंके नाम हैं। अतः इस अर्थसे भाव होगा कि जैसे विकट (झाड़-झंकाड़-कंटकयुक्त जहाँ कोई राह भी

नहीं है ऐसे) क्षुरधारपर्वतपर चलना छुरेकी धारपर चलनेके समान है, पैर चलनी हो जाते हैं । वैसेही परमार्थपथमें काममदमाती प्रमदाका साथ वड़ा विकट है । इसीलिये वैराग्यवान् परमार्थके पथिकके लिये कहा गया है कि 'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि ।', 'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ।'—'प्रमदा' शब्द भी यहाँ साभिप्राय है ।

७ (ख) 'दर्प्प कंदर्प्प खर खड्गधारा' इति । दर्प और कंदर्प दो भिन्न-भिन्न भाव हैं; यथा 'देव क्रोध-करि-मत्त, मृगराज-कंदर्प, मद-दर्प्प-बृक-भालु अति उग्रकर्मा' (पद ५६), 'पाकारिजित-काम विश्रामहारी ।···दर्प्प-मनुजाद' ५८ (४, ५); और खड्गधारा पर्वत एक है । रूपकके निर्वाहके लिए 'कंदर्पका दर्प' ऐसा अर्थ कर सकते हैं । अथवा, खड्गधारापर्वत हीमें दो भाग हों, इससे दो भावोंसे उसका रूपक बाँधा गया । खड्गकी धार अर्थ लें तो खड्गका अर्थ द्विधारा तलवार लेनेसे दर्प और कंदर्प दो भिन्न-भिन्न भाव तलवारकी दो धाराएँ हो सकती हैं । ☞पर्वतोंका वर्णन 'लोभादि पर्वतदुर्ग' पर समाप्त हो गया । पर्वतोंके पश्चात् और 'प्रत्यूह' कहे गए हैं । अतएव 'क्षुरधार और खड्गधार पर्वत' अर्थ कुछ शिथिल-सा जान पड़ता है । परन्तु यदि इन नामोंके पर्वत वहाँ हैं, तो वह अर्थ भी असंगत नहीं हो सकते ।

७ (ग) 'धीर गंभीर मन पीरकारक' इति । भाव कि धीर गंभीर पुरुषोंके मनमें, विकारोंके उपस्थित रहनेपर भी विकार नहीं होना चाहिए परन्तु परमार्थमार्गमें प्रमदा, दर्प और काम ऐसे प्रवल विघ्न हैं कि वड़े-वड़े धीरोंके धैर्य्य भी छूट जाते हैं, वे भी इनसे पीड़ित हो जाते हैं । 'धीर' वे हैं जो आत्मवान् हैं, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य आदिसे युक्त हैं; जव वे ही इनके वेगको रोकनेमें असमर्थ होने लगते हैं, तव हम ऐसे सर्वसाधनहीन कव इनसे वच सकते हैं ? ['धीर' संज्ञा उन महापुरुषोंकी है जो काम क्रोध आदिके परमोद्दीपक वस्तुओंके उपस्थित होनेपर भी मनको वशमें किये रहते हैं । (वैजनाथजी धीरसे वैराग्यवान और गंभीरसे ज्ञानवान-को लेते हैं)] इस तरह 'तत्र के वराका वयं' का भाव हुआ कि तव मेरा निर्वाह कहाँ ? यथा 'काम संकल्प उर निरखि बहु वासनहि आस नहिं एकहूँ आँक निरबान की । २०८।'

टिप्पणी—८ (क) 'परम दुर्घट पंथ खलु असंगत साथ···' इति। भाव कि मार्ग अत्यन्त कठिन है, वर्णनातीत है, इतनेसे ही उसकी दुर्घटताका आप अन्दाज़ा कर लीजिये। मार्ग कठिन सही, फिर भी यदि साथ अच्छा हो तो रास्ता निबह जाता है। किन्तु यहाँ यह भी नहीं। साथ बेमेल है, दुष्टोंका है। संग भी ठीक न हो, पर हाथमें लाठी हो तो उसके सहारे जैसे-तैसे रास्ता कट ही जाय; सो भी नहीं है।—इधर परमार्थपथमें साधकको यदि तीव्र वैराग्य होता है तो वह सब कठिनाइयाँ झेलकर इन सब विघ्नोंके पार हो जाकर दर्शनका (साक्षात्कारका) आनन्द प्राप्त करता है। [☞'बर विरति' से प्रबल वैराग्य अभिप्रेत है। पूर्व 'प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय बिषयबनभवनमिव धूमकेतू' पद ५८ में भी यह अभिप्राय बताया जा चुका है। पंथकी दुर्घटताका वर्णन पद ५९ (५ घ) में देखिए।] सो ऐसी 'बर विरति' रूपी लाठी भी मेरे पास नहीं है। 'विरति यष्टी' में सम अभेदरूपक है। [वैजनाथजीके मतानुसार "असंगत ठग-चोरादि खल साथ हीमें हैं। उनको हटकनेके लिये हाथमें श्रेष्ठ वैराग्यरूपी लाठी भी नहीं है" यह भाव है।]

८ (ख) 'दरसनारत दास त्रसित मायापास त्राहि···' इति। इससे भगवत-साक्षात्कारके लिये उत्कण्ठित प्राणियोंको सावधान करते हैं। मायापाशसे उन्हें सदा डरते रहना चाहिए। मान, मद, क्रोध, लोभ, दर्प, कंदर्प, राग, मत्सर तथा प्रमदा जिन्हें ऊपर गिना आये हैं—यह सब मायाका परिवार है, मायाका पाश है। भुशुण्डीजीने मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, मद, 'मृगनयनीके नयन सर', मान, मत्सर आदिको गिनाकर फिर इन सबोंको 'मायाका परिवार' कहा है। यथा 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। ७।७०।७' से लेकर 'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥ ७।७१।७' तक।

८ (ग) 'त्राहि हरि त्राहि हरि जानि कष्टी' इति। पद अभी पूरा समाप्त नहीं हुआ कि दूसरी बार फिर रक्षाकी प्रार्थना कर रहे हैं। कदाचित् गोस्वामीजीको 'देव बिकट छुरधार प्रमदातिवर' लिखते समय अपनी पूर्वकी आसक्तिका ध्यान आ गया हो और वे उसे स्मरण कर त्राहि-त्राहि करने लगे।

☞ गोस्वामीजी आर्त भक्तकी दशा दिखलाते हैं और साक्षात्कारके इच्छुकोंको, भगवत-प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ प्राणियोंको, उपदेश कर रहे हैं, सिखा रहे हैं कि पद-पदपर कठिनाइयोंसे बचनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करते रहो, पुकार करते रहो—एकमात्र वे ही इस कलिकालमें रक्षा कर सकते हैं, अन्य कोई भी साधन काम नहीं दे सकते।

'त्राहि हरि त्राहि हरि' में भयकी विप्सा है। कष्टहरणके सम्बन्धसे 'हरि' नाम यहाँ दिया। 'त्राहि-त्राहि' कहकर मायापाशसे रक्षा चाही और 'दर्शनार्त्त' कहकर दर्शन देनेकी प्रार्थना जनाई। केवल मायापाश ही न छुड़ाइए, दर्शन भी दीजिए।

टिप्पणी—१ 'दीन धर्मसंवलहीन···' इति। (क) भाव कि यात्रीके पास यदि राहखर्च काफी (पर्याप्त) हो, तो भी यात्रा पूरी होनेकी आशा हो सकती है, सो मेरे पास वह भी नहीं है। परमार्थ-पथमें धर्म सहायक होता है, यथा 'जप जोग धर्मसमूह ते नर भगति अनुपम पावई। ३।६।', 'यश्च धर्मरतः स गतिं लभते। म० भा० बन० ३१३।११३।', 'धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य संतोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्। भा० ११।२६।३३।' लोकोक्ति भी है कि धर्म ही साथ जाता है और सब तो यहीं रह जाता है।

प० पु० भूमि १२।४४-४५ "ब्रह्मचर्येण तपसा मखपञ्चकवर्तनैः। दानेन नियमैश्चापि क्षमा शौचेन वल्लभ॥ अहिंसया सुशक्त्या च ह्यस्तेयेनापि वर्तनैः। एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत्॥" में सुमनाजीने सोमशर्माजीसे बताया है कि ब्रह्मचर्य, तपस्या, पंचयज्ञोंका अनुष्ठान, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, उत्तम शक्ति और चोरीका अभाव, इन दस अंगोंके अनुष्ठानसे धर्मकी पूर्ति करनी चाहिए।—सो मैं इनसे रहित हूँ। पुनः, 'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥' इत्यादि कोई भी धर्म मैंने नहीं किये हैं; अतएव पुण्यका बल भी नहीं है।

'दीन सब अंग हीन' जो पद ४१ (२) में कहा, वही सब भाव 'दीन धर्मसंवलहीन' में हैं। ४१ (२ क, ङ, च) में देखिए।

मिलान कीजिये—'जे श्रद्धा-संबल-रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ। १।३८।'—वहाँ बताया है कि यदि तीन बातें परमार्थ-पथारूढ़ यात्रीमें हों—

श्रद्धा, सन्तोंका संग और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनुराग—तो वह इस दुर्गम मार्गको पार कर लेता है।

६ (ख) 'श्रमित अति खेद मतिं मोह ग्रासी' इति। थकनेका कारण यह कि मान, मद, मत्सर, काम-क्रोध-लोभ आदिसे पार पानेके लिये बहुत साधन अनादि कालसे करता आया, पर कुछ लाभ न हुआ, श्रम ही हाथ लगा। यथा 'यह कलिकाल सकल साधनतरु है श्रमफलनि फरो सो। १७३।'; अनेक योनियोंमें फिरता-फिरता थक गया, यथा 'भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे। ७।१३।' फिर दैहिक-दैविक-भौतिक तापोंसे संतप्त होनेसे श्रमित हूँ। और बुद्धि मोहग्रस्त हो गई है, इससे कुछ सूझता नहीं कि अब क्या करूँ। अतएव 'अत्यंत खेद' चिन्ता और दुःख है। भाव कि सिवाय आपके और किसीका अब आशा-भरोसा नहीं है, मैं 'अति श्रमित' हूँ और आप श्रमभंजन हैं, मेरा श्रम दूर कीजिए। यथा 'तुम सुखधाम राम श्रमभंजन हौं अति दुखित त्रिविध श्रम पाई। यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई। २४२।'—मुझे शरणमें लीजिए।

पुनः, 'श्रमित' से जनाया कि कभी विश्राम न मिला। —विशेष ४६ (६ ग) में देखिए।

६ (ग) 'देहि अवलंबन बिलंब अंभोज-कर…' इति। 'देहि अवलंब' का भाव कि मैं निरवलंब हूँ, एकमात्र आपही हमारे अवलंब हैं, आपका ही आशा भरोसा है। यथा 'नाहिनै नाथ अवलंब मोहि आन की। २०९।' इसी प्रकार सुव्रतने अपनेको मोहग्रस्त कहकर हाथका सहारा माँगा है। यथा 'मोहान्धकारपटलैर्मम नष्टदृष्टेर्दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्।' (प० पु० भूमि० २१।२१) अर्थात् मोहरूपी अंधकार-समूहसे मेरी दृष्टि नष्ट हो गई है, मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ; मधुसूदन! मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये।

'न बिलंब' का भाव कि कर-कमलका अवलंब माँगते बहुत देर हो गई। पद ५८ में माँगा था—'देहि अवलंब कर कमल कमलारमण दमन दुख समन संताप भारी।', अब तक वह अवलंब नहीं मिला। अतः कहते हैं कि अब देर न कीजिए। विलंब करनेसे दुःख दोष संताप खेद और बढ़ेंगे। यथा 'प्रभुकी बिलंब अंब दोष दुःख

जनेगी। १७६।’ पुनः भाव कि देर करनेसे कुछ हाथ न लगेगा। यथा ‘का वर्षा सब कृषी सुखाने।’ मैं बीचमें ही मारा जाऊँगा।

अवलम्ब देंगे; इस विचारसे ‘कर’ को ‘अंभोज’ विशेषण दिया। जब-जब बिना किसीकी हिंसा किये किसीको सहायक हुए हैं, तब-तब ‘कर’ को ‘कमल’ से उपमित किया है। शीतलता और आह्लाद प्रदान करनेसे कमल समान कहा। ‘कर कंज’ ४५ (१३), ४५ नोट ७ (ग) और पद ५८ (१) ‘देहि अवलंब कर कमल’ टि० १ (क, ख) देखिए।

६ (घ) ‘चक्रधर तेजबल शर्मरासी’ इति। इससे जनाया कि हमारे साथके दुष्टों, मार्गके क्रूरकर्मा हिंस्र जीव-जन्तुओं तथा अन्य प्रत्यूहोंको नष्ट करनेका पूर्ण सामर्थ्य आपमें है और मायापाशको काटकर जीवका कल्याण करना आपके बायें हाथका खेल है। [‘चक्रसे आपने जैसे अम्बरीषकी रक्षा की है; वैसे ही मेरी रक्षा कीजिये,’ यह भाव है। (श्री० श०)]।

[बाबू शिवप्रकाशजी लिखते हैं—“यह गोस्वामीजीकी चतुरता है कि अवलंबके बहाने हाथ पकड़ाते हैं। इसमें हेतु यह है कि साधारण जीव भी जिसकी बाँह पकड़ लेते हैं, उसको फिर नहीं छोड़ते, तब भला त्रैलोक्यस्वामी जिसका हाथ पकड़ लेंगे, उसे कब छोड़ेंगे।”

वैजनाथजी लिखते हैं कि कलिप्रेरित कामादिसे भयातुर सबका आशा भरोसा त्याग दीन अधीन आपकी शरण हूँ। अतः निज कर-कमलसे भुजा पकड़कर भयसे उबारकर ‘अपनी शरणमें रख लीजिए।”]

आप तेज और बलकी राशि हैं। ताराने भी बालिसे कहा है—‘सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा। ४।७।२८।’ तेज देखकर ही शत्रु भाग जाता है; यथा ‘तेज न सहि सक सो फिरि आवा। ४।२८।’ ‘दुरे नखत जग तेज प्रकासा। १।२३६।’ तेज देखकर सब डर जायँगे और यदि वैसे न गए, तो बलपूर्वक आप उनको हटा सकते हैं। वाल्मीकीयमें अकंपन तथा मारीचने रावणसे कहा है—‘श्रीमानतुलबलविक्रमः। ३।३१।११।’, ‘रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम्। ३।३१।१५।’, ‘रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः।३।३६।२३।’ अर्थात् श्रीराम तेजस्वी हैं, उनके

बल और पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है। जिनका नाम राम है, वे संसारके समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हैं और अत्यन्त तेजस्वी हैं। (अकंपन)। श्रीराम बड़े तेजस्वी, महान् आत्मबलसे संपन्न तथा अधिक बलशाली हैं। (मारीच)। कल्याणकी राशि हैं, यह पूर्व भी कह आये हैं, यथा 'कमललोचन कलाकोस कोदंडधर कोसलाधीस कल्यानरासी। ५६।' 'सर्वतोभद्र दाताऽसमाकं। प्रनतजन-खेद-विच्छेद-विद्या-निपुन। ५१।'; अतः मेरे मानस-शत्रुओंका नाश करके मेरा कल्याण कीजिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६१ (६३)

देव[1] सकल-सुख-कंद आनंदबन पुन्यकृत बिंदुमाधव द्वंद्व बिपति हारी।
जस्यांघ्रिपाथोज अज संभु सनकादि सुक
सेष मुनिबृंद अलि निलय कारी ॥१॥

देव अमल मर्कत स्याम काम सतकोटि
छबि पीतपट तड़ित इव जलद नीलं।
अरुण शतपत्र लोचन बिलोकनि चारु प्रनत
जन सुखद करुनाद्र[2] सीलं ॥२॥

देव काल गजराज मृगराज दनुजेस बनदहन पावक मोह निसि दिनेसं।
चारि भुज चक्र कौमोदकी जलज दर सरसिजोपरि जथा[3] राजहंसं।३

देव मुकुट कुंडल तिलक अलक अलिव्रात इव
भृकुटि द्विज अधर बर चारु नासा।
रुचिर सुकपोल दरग्रीव सुखसींव हरि इंदुकर कुंदमिव मधुर हासा।४।

देव उरसि बनमाल सुबिसाल नव मंजरी भ्राज श्रीवत्स लांछनमुदारं।
परम ब्रह्मन्य अति धन्य गत मन्यु अज अमित
बल बिपुल महिमा अपारं ॥५॥

---

[1] आ० में 'देव' किसी अंतरामें नहीं है। [2] करुनाद—६६। करुनाब्धि—ह०, ७४, १५। करुनार्द्र—भा०, रा०, वे०, ५१, आ०। करुनाय—ज्ञ०।

देव हार केयूर कर कनक कंकन रत्नजटित मनि मेखला कटि प्रदेसं ।
जुगल पद नूपुरा मुखर कलहंसवत[4] सुभग सर्वांग सौंदर्य्य बेसं ॥६॥
देव सकल सौभाग्य संयुक्त त्रैलोक्य श्री
वाम[5] दिसि रुचिर बारीसकन्या ।
बसत बिबुधापगा निकट तट सदन वर
नयन निरखंति नर तेति धन्या ॥७॥
देवमखिल[6] मंगलभवन निबिडसंसयसमन दवन[7] बृजिनाटवी[8] कष्टहर्त्ता
विश्वकृत[9] विश्वहित अजित गोतीत सिव
विश्वपालन हरन विश्वकर्त्ता ॥८॥
देव ज्ञान विज्ञानबैराग्य ऐश्वर्य्यनिधि सिद्धि अनिमाद्यानि[10] भूरिदानं
ग्रसत[11] भवब्याल अति त्रास तुलसीदास
त्राहि श्रीराम उरगारिजानं ॥९॥

शब्दार्थ—आनंदवन = काशी । जस्यांघ्रि (यस्य + अंघ्रि) = जिसके चरण । निलय = घर । मर्कत (मरकत)—यह रत्न पिरोजेकी जातिका हरे रंगका होता है, जो स्लेट और ग्रेनाइटकी खानोंसे निकलता है । यह जितना ही गहरा हरा और आभायुक्त होता है, उतनाही मूल्यवान होता है । शतपत्र = यह एक किस्म (जाति) कमलकी है । सौदलयुक्त कमल । कमलकी अनेक जातियाँ होती हैं । कल्हार, उत्पल, शतपत्र, कुमुद आदि भिन्न-भिन्न किस्में हैं, यथा-

---

[3] जथा—६६, ह०, भ०, ७४ । यथा—रा० । [4] रव—ह०, प्र०, १५ । इव—ज० । [5] वाम—६६, भ० । दक्ष—रा०, ह०, दीन, वै०, डु० । दक्षि—भा०, बे०, मु०, प्र० । दच्छ—७४, वि० । [6] देवमखिल—६६ । देव-अखिल—रा०, भा०, वे० । अखिल—आ०, ७४, । [7] दवन—६६, रा०, ह०, मु० । दमन—भा०, बे०, ७४, भ० । [8] ब्रजनाटवी—भ०, मु०, वि० । [9] कृत—६६, रा०, च० । धृत—७४, आ० । [10] अनिमाद्यांनि—६६ । अनिमादि दे—प्रायः औरोंमें । अनिमादि दे—ह०, वे०, ज० । 'अनिमाद्यानि' बहुवचन शुद्ध संस्कृत रूप है । [11] ग्रसित-भा०, बे०, प्र०, ज० । ग्रसत-और सबोंमें प्रायः ।

'तस्मिन्सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम् ॥ कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोर्जितम् । भा० ८।२।१४-१५ ।' करुनार्द्र शील (करुणा+आर्द्र + शील)=करुणारससे पूर्ण भीगे हुए अर्थात् अत्यन्त कारुणीक ।=करुणा और शीलसे तर (भीगे हुए) अर्थात् करुणा और शीलसे भरे हुए । =करुणामय स्वभाववाले ।☞'आर्द्रशील' को एक शब्द भी मान सकते हैं और पृथक्-पृथक् दो शब्द भी । आर्द्र =भीगा हुआ; तर; पिघलने वा पसीजनेवाला । शील=परिपूर्ण, युक्त ।=स्वभाव । अलक=मस्तकके इधर-उधर लटकते हुए घुँघराले, छल्ले वा मरोड़दार बाल ।=जुल्फ । व्रात=झुण्ड, समूह । द्विज=दाँत । दो बार उत्पन्न होनेसे 'द्विज' नाम है । रुचिर=शोभाके अनुकूल; छबिपूर्ण; दीप्तिमान । सींव = सीमा । वनमाल-५१ (५ क) शब्दार्थमें देखिए । मंजरी-तुलसी, आम आदि कुछ विशिष्ट वृक्षों या पौधोंमें फूलों या फलोंके स्थानमें एक सींकमें लगे हुए बहुतसे दानोंका समूह । श्रीवत्स-५१ (६ क) देखिए । म० भा० शान्ति ३४२ में श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे बताया है कि जब नर-नारायणने अक्षय तप प्रारम्भ किया था, उसी समय दक्षके यज्ञका आरम्भ हुआ, जिसमें रुद्रके लिये भाग नहीं दिया गया; इसलिये दधीचिके कहनेसे रुद्रदेवने क्रोधपूर्वक अपने त्रिशूलका बारंबार प्रयोग किया । वह त्रिशूल दक्षके विस्तृत यज्ञको भस्म करके सहसा बदरिकाश्रममें हम दोनों (नर और नारायण) के निकट आ पहुँचा । उस समय नारायणकी छातीमें वह शूल बड़े वेगसे जा लगा ।—'तच्छूलं भस्मसात्कृत्वा दक्षयज्ञं सविस्तरम् ।११०। आवयोः सहसागच्छद् बदर्याश्रममन्तिकात् । वेगेन महता पार्थ पतन्नारायणोरसि । १११।' श्रीनारायणने हुंकारध्वनि द्वारा उस त्रिशूलको पीछे हटा दिया । हुंकारसे प्रतिहत होकर वह शंकरके हाथमें चला गया । [रुद्रदेव कुपित होकर दोनोंपर टूट पड़े । युद्ध छिड़ गया । ब्रह्माके समझानेपर रुद्रदेवने दोनोंको प्रसन्न किया और उनकी शरण गए । (श्लो० ११४-१३०) ।—'शरणं च जगामाद्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् ।'] तत्पश्चात् भगवान्ने रुद्रदेवसे कहा—'आजसे तुम्हारे शूलका चिह्न मेरे वक्षःस्थलमें 'श्रीवत्स' के नामसे प्रसिद्ध होगा ।—'अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को मे भवत्वयम् । श्लो० १३४।' लांछनमुदारं (लांछनम्+उदारं) =श्रेष्ठ चिह्न । मन्यु=क्रोध । धन्य=बड़ाई-

के योग्य। इसका प्रयोग प्रायः साधुवाद देनेके लिये होता है। मेखला—सिकड़ी या मालाके आकारका एक गहना जो कमरको घेरकर पहना जाता है जिसे करधनी, किंकिणी आदि भी कहते हैं। कमरमें सूतका धागा या डोरी लपेटकर पहनी जाती है, उसे भी मेखला कहते हैं। प्रदेश=स्थान; जगह। मुखर=शब्द। नूपुरा (नूपुरका बहुवचन)=पाजेब, पैंजनी। यह पैरोंमें पहननेका एक आभूषण है। कलहंस=सुन्दर हंस।—यह हंसोंकी एक जाति भी है। मानसमें हंस तीन प्रकारके कहे गए हैं।—राजहंस, कलहंस और हंस। 'हंस' जलपक्षी है। भारतमें श्वेतरंगका हंस प्राचीन कालसे प्रसिद्ध है। यह मानसरोवर, हिमालय और तिब्बतकी झीलोंमें सब दिन पाया जाता है। बारीसकन्या=लक्ष्मीजी। संयुक्त=सहित; संपन्न। वारीश=वारि+ईश=जलनाथ=समुद्र। श्री=शोभा, ऐश्वर्य। विबुधापगा (विबुध+आपगा)=देवनदी; सुरसरि; गंगा। निरखन्ति=देखते हैं। वृजिनाटवी [वृजिन (पाप, दुःख)+अटवी (वन)]=दुःखों-पापोंका जंगल। दवना=जलाना। यथा 'ग्रीषम दवत दवरिया कुंज कुटीर' (रहीम)। विश्वकृत=विश्वके समस्त कार्य्य करनेवाले। विश्वकर्ता=ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति करनेवाले। अणिमाद्यानि=अणिमा आदि जितनी भी सिद्धियाँ हैं। यह शुद्ध संस्कृत भाषाका शब्द है।

पद्यार्थ—देव! समस्त सुखोंके मूल एवं मेघ, (हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वोंसे उत्पन्न दुःखके हरनेवाले, जिनके चरणकमलोंमें ब्रह्मा, शिव, सनकादि, शुकदेवजी, शेष और मुनिवृन्दरूपी भौंरोंने अपना घर बना लिया है, (उन्हीं आप) विन्दुमाधवजीने आनन्दवन काशीको पवित्र कर दिया।१। देव! आप निर्मल मरकतमणिके समान श्याम (वर्ण) हैं। असंख्यों कामदेवोंके समान आपकी छबि है। (आपके श्याम शरीरपर) पीताम्बर (की छबि) श्याम सजल मेघोंपर बिजली जैसी है। लाल शतपत्र नामक कमलसमान नेत्र हैं। सुन्दर चितवन शरणागतको सुखदायक और करुणा एवं शीलसे युक्त है।।२। देव! आप कालरूपी गजराजके लिये सिंहरूप, दानवराज (अर्थात् बड़े-बड़े दानवों) रूपी वन (को जला डालने) के लिये अग्निरूप और मोहरूपी रात्रिके लिये सूर्यरूप हैं। आपकी चारों भुजाओंमें चक्र, कौमोदकी नामक

गदा, कमल और शंख ऐसे शोभित हैं जैसे कमलपर राजहंस ।३। देव ! आप (सिरपर) मुकुट, (कानोंमें) कुंडल, (भालपर) तिलक धारण किये हैं । जुल्फें भ्रमरसमूह समान हैं । भौंहें, दाँत, होंठ और नाक सुन्दर और श्रेष्ठ हैं । (शोभाके अनुकूल) छविपूर्ण सुंदर गाल हैं, शंखसमान ग्रीवा है, आप सुखकी सीमा ‡ और क्लेशोंके हरनेवाले हैं । आपकी मंद मीठी मुसकान चन्द्रकिरण और कुन्द (की खिलती हुई कली) के समान है । ४। देव ! आपके वक्षःस्थलपर सुन्दर विशाल (पैरोंतक लटकती हुई) नवीन (हरी-हरी तुलसीकी) मंजरियोंकी वनमाला और श्रेष्ठ †† श्रीवत्सचिह्न सुशोभित है । आप परम हैं, ब्रह्मण्य हैं, अत्यन्त धन्य हैं, क्रोधरहित, अजन्मा, अमित, † विपुलबल और अपार महिमावाले हैं । ५ । देव ! आप (गलेमें मुक्तामणियोंके) हार, (भुजदण्डोंपर) बाजूबन्द, हाथोंमें रत्नजटित सोनेके कंकण और कटिस्थानमें मणियोंकी करधनी पहने हैं । दोनों चरणोंमें कलहंसोंके समान सुन्दर शब्द करनेवाले नूपुर हैं । शरीरके सब अंग-प्रत्यंग सुन्दर सुडौल हैं और सौन्दर्य्य ही वेष है ❋ अर्थात् आप मूर्त्तिमान सौंदर्य्य ही हैं । ६। देव ! वाम भागमें सकल सौभाग्य और त्रैलोक्यकी 'श्री' रूप सुन्दर (अनुकूल शोभावाली) सिंधुसुता (श्रीलक्ष्मीजी) सहित गंगाजीके समीप किनारेपर सुन्दर महलमें निवास करते हुए आपका जो मनुष्य नेत्रोंसे दर्शन करते हैं वे अत्यन्त धन्य है । ७। देव ! आप समस्त मंगलोंके धाम, प्रगाढ़ संशयोंके नाशक, पाप (एवं पापजनित दुःखों) रूपी वनके जलानेवाले, कष्टोंके हरनेवाले, विश्वके सब कार्य्य करनेवाले ❋❋, विश्वके हितकारी, अयोध्याधिपति (एवं किसीसे भी न

---

‡ अर्थान्तर—१ 'ऐसे सुखकी सीमा हरि हैं । (वै०) । २—हे सुखके सीम विष्णु भगवान् ! (दीनजी) । ३—मानों ये सब आनन्दकी सीमा हैं । हे हरे ! (वि०) । ४—गला शङ्ख-सा सुखकी हद है । हे हरि ! (सू० शु०) ।'

†† उदार स्वभाववाला श्रीवत्स । (दीनजी) ।

† 'अमित बल' को एक शब्द भी मान सकते हैं और अलग-अलग भी ।

* सारा वेष ही लावण्यमय है (वि०) । सुन्दर वेष है । (सू० शु०) । सारा वेष सुन्दरतामय है (श्री० श०) ।

❋❋ संसारको धारण करनेवाले (वै०, दी०, वि०, श्री० श०)—यह अर्थ 'विश्वधृत' पाठका है ।

जीते जानेवाले), इंद्रियोंसे परे, कल्याणस्वरूप, विश्वके पालन, संहार और उत्पन्न करनेवाले हैं। ८। देव! आप ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य्यके समुद्र हैं, अणिमा आदि सिद्धियोंको बहुत-बहुत दान करनेवाले हैं। भवरूपी सर्पसे निगला जाता हुआ मैं तुलसीदास अत्यन्त भयभीत हूँ, हे सर्पोंके शत्रुपर सवारी करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी! मेरी रक्षा कीजिए। ९।

नोट— १ "बिन्दुमाधवजी"—काशीखण्डमें लिखा है कि एक बार विष्णुभगवान् शिवजीकी सम्मति पाकर काशी आये और यहाँसे राजा दिवोदासको, जो काशीका राजा बन बैठा था, बाहर किया। ‡ उस समय अग्निबिन्दु नामक ऋषिने भगवान्की स्तुति की और भगवान्को प्रसन्न करके वर माँगा कि मोक्षाभिलाषियोंके हितार्थ पंचनदतीर्थपर आप अवस्थान करें और हमारे नामसे प्रसिद्ध होकर सबको मुक्ति प्रदान करें। भगवान्ने प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' कहा और उसी दिनसे अग्निबिन्दुका आधा नाम 'बिन्दु' अपने नामके पूर्व जोड़कर 'बिन्दुमाधव' नामसे विख्यात होकर पंचगंगा-तीर्थपर निवास किया, जिससे वह तीर्थ बिन्दुतीर्थ नामसे प्रसिद्ध हुआ। (स्कं० का० उ० ५८, ५९, ६०)।

२ काशीजीके उपर्युक्त अर्चावतार 'श्रीबिन्दुमाधवजी' की स्तुति इस पदमें तथा आगेके दो पदोंमें की-गई है।

३ वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते हैं—"निगम (वेद) और वेदके उपबृंहण (व्याख्या) नारदपाञ्चरात्रागम प्रमाणानुसार श्रीरामचन्द्रजीकी पाँच प्रकारकी स्थिति है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। श्रीगोस्वामीजी श्रीसरकार रामचन्द्रजीकी प्रथम चार स्थितियोंका क्रमसे वर्णन करते हुए पाँचवें अर्चारूप बिन्दुमाधवकी मूर्तिकी ध्यानात्मक स्तुति करते हैं। [पद ४३-४९ में पर; २५ से ४२ तकके पदों में 'व्यूह', ५२-५४ में 'विभव' और पद ५५ में 'अन्तर्यामी' की स्तुति है (जा० ना०)] प्रमाणमें पाञ्चरात्रकी शौनकसंहितामें कहे हुए महर्षि शौनकजीके वाक्य हम उद्धृत करते हैं।

"यादृशेतु मनस्थैर्यं रूपे बध्नाति चक्रिणः। नृसिंहवामनादीनां तादृशं कारयेद्बुधः॥ सरूपां प्रतिमां विष्णोः प्रसन्नवदनेक्षणाम्। कुर्यान्मनोप्रीतिकरीं सुवर्णरजतादिभिः॥ तस्मिन् ब्रह्म समारोप्य मनसा

तन्मयो भवेत् । तामर्चयेत्तां प्रणमेत्तां यजेत्तां विचिन्तयेत् ॥ विशेत्यपास्तदोषस्तु तामेव ब्रह्मरूपिणीम् ॥" [अर्थात्—विष्णु भगवान्‌के नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण आदि जैसे रूपमें मन लगे वैसी ही सोने चाँदी आदिकी सुन्दर प्रसन्नमुख-नेत्रादियुक्त प्रतिमा बनवाए। उसमें मनसे परमात्माका आरोपण (प्राणप्रतिष्ठा) कर तन्मय हो जाए। उस (प्रतिमा) की ही पूजा करे, उसीको प्रणाम करे, उसीका यजन करे और फिर सब दोषोंसे मुक्त होकर उस ब्रह्ममयी प्रतिमामें ही प्रविष्ट हो जाए।]

प्रणवाकार काशी धाम है। श्रीशंकरजी जिन श्रीरामजीके श्रीनामोपदेशद्वारा काशीमें जीवोंको मुक्तिका पात्र बनाते हैं, वही प्रणवकारण रामशब्दवाच्य श्रीरामचन्द्रजी प्रणवार्थरूप होकर काशी धाम हैं। आदिकेशव, विन्दुमाधव और भोगशयन नामसे उनकी प्रधान तीन अर्चामूर्त्तियाँ विराजती हैं। आदिकेशव वरुणागंगासंगमतटपर तथा विन्दुमाधव और भोगशयन पंचगंगा-तटपर विराजते हैं। जैसे प्रणवमें तीन अक्षर 'अ, उ, म' हैं वैसेही तीनों मूर्त्ति अक्षरत्रयप्रधान ओम् हैं और वैसाही प्रधान विन्दुमाधवका ध्यान वर्णन है।"

टिप्पणी— १ (क) 'द्वंद्वविपतिहारी' इति। वैष्णवरत्न अनंत श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद (श्रीरूपकला) जी कहते हैं कि—"साधारण लोग 'निर्द्वन्द्व' शब्दका प्रयोग बहुत करते हैं, परन्तु 'निर्द्वन्द्व' का अर्थ साधारण लोग प्रायः जो जानते हैं केवल इतना ही मात्र नहीं है; वरंच उससे कहीं अधिकतर है। पहले हम द्वन्द्वके कुछ उदाहरण लिखते हैं—स्तुति-निंदा, सुगंध-दुर्गंध, ऊष्ण-

---

‡ दिवोदास बड़ा धर्मात्मा राजा था। परन्तु तपोबलके अभिमानमें आकर संपूर्ण देवताओंको वह तिनकेके समान समझता था। भगवान् शंकरको इसने काशीसे बाहर कर दिया था। अतएव शंकरजीने भगवान्‌का स्मरण किया। वे आये और पुण्यकीर्ति नामधारी ब्रह्मचारी बनकर राजाको उपदेश किया कि तुम प्रायश्चित्तरूपसे शिवलिङ्गकी स्थापना करो, सातवें दिन तुम्हारे लिये विमान आवेगा, तुम सदेह शिवधामको जाओगे। इस प्रकार दिवोदाससे शंकरजीका संकट छुड़ाया।

शीत, प्रशस्त-गारी आशा-निराशा, मिष्ठ-कटु, हर्ष-विषाद, मणि-काँच, जीना-मरना, सुख-दुःख, स्वर्ण-लोह, जीत-हार, लाभ-हानि, मित्र-शत्रु, आदर-निरादर, प्रिय-अप्रिय, प्रसन्न-अप्रसन्न, कोमल-कठोर, धनी-निर्धन, अपना-पराया, ऊँच-नीच, दाहिने-बाएँ, सुघर-कुरूप, स्वादिष्ट-कुस्वाद, सरल-कठिन, सम्मुख-विमुख इत्यादि।

जिन भाग्यभाजनोंको द्वन्द्व न व्यापें, उनमें तुल्य बुद्धि हो; जिनकी चित्तवृत्ति भगवत्कृपासे इन दशाओंकी कुछ चिन्ता या परवा न करती हो, दोनों स्थितियोंमें भेद जिन्हें कदापि न हो—ऐसे विरले महात्मा ही 'निर्द्वन्द्व' कहाते हैं।—'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन सुख दुख सुधि केही।' द्वन्द्व विपत्तिरूप हैं, इनसे रक्षाकी प्रार्थना है, इसीसे 'द्वन्द्व विपतिहारी' विशेषण दिया।

१ (ख)—'यस्यांघ्रि··अलि निलयकारी' इति। अर्थात् जैसे भौंरा रात्रिमें कमलके भीतर उसके पराग और मकरन्दमें लुब्ध हुआ रह जाता है, वैसे ही ब्रह्मादि आपके चरणकमलके मधुकर हैं, उनके चिह्नों आदिमें लुभाए रहते हैं। लुब्ध रहना ही घरका बनाना है। इस कथनसे भगवान्का अज, शम्भु, सनकादि, शुक, शेष और मुनिवृन्द सभीके उपास्य, इष्टदेव होना जनाया। यहाँ श्रीविन्दुमाधवजीको ब्रह्माशिवादिसे सेवित दिखाया। इसी तरह श्रीरामजीको 'केश वंद्य पदद्वंद्व मंदाकिनी मूलभूतं। ४६ (५)।' और 'सेवित पद पंकज अज महेस। ६४(२)।' इत्यादिमें, भूपालमणिको व्यालारिगामी रूपमें 'कामारि वंदित पदद्वन्द मंदाकिनी जनक। ५४(३)।' में, उरगनायकशयन क्षीरसागर अयनको 'सिद्ध-कवि-कोविदानन्ददायक पदद्वन्द' 'यत्र संभूत अति पूत जल सुरसरी··' ५५ (८) में, और श्रीनरनारायणको 'विधि वेद बुध संभु सेवित अमानं। अरुन पदकंज मकरंद मंदाकिनी···' ६० (३) में ब्रह्मादिसेवित और मन्दाकिनीजनक कहा है। केवल इतने मात्रसे कविने स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् राम और उनके समस्त वैष्णव-विग्रहोंमें अभेद है।

१ (ग) श्रीशुकदेवजीकी कथा प्रायः लोग जानते हैं, अन्यत्र कुछ लिखी भी गई है। परन्तु महाभारत शान्तिपर्वमें विचित्र कथा है; अतएव यहाँ लिखी जाती है। उसमें जन्मका वृत्तान्त इस प्रकार है।—'एक बार भगवान् उमाशंकरजी मेरुपर्वतके शिखरपर भयंकर भूतगणोंके साथ विहार कर रहे थे। उन दिनों व्यासजी अग्नि, भूमि,

वायु, जल अथवा आकाशके समान धैर्यशाली पुत्रकी प्राप्तिके लिये केवल वायु पीकर सौ वर्ष तक श्रीशिवजीकी आराधना करते रहे। तपसे प्रसन्न हो शिवजीने उन्हें वर दिया कि 'अग्नि, वायु आदिके समान महान् एवं पवित्र पुत्र होगा। वह भगवद्भावमें रँगा होगा, भगवान्‌मेंही उसकी बुद्धि होगी, भगवान्‌ही उसके आत्मा और एकमात्र आश्रय होंगे।' (शान्ति० ३२३।२१–२६)।

वर पानेके बाद एक दिन वे अग्नि प्रकट करनेके लिए अरणी-मन्थन कर रहे थे। उसी समय उनकी दृष्टि घृताची अप्सरापर पड़ी और उनका मन आकर्षित हुआ जिससे अकस्मात् उनका वीर्य अरणीमें गिरा। उसीसे शुकदेवजीका जन्म हुआ। गंगाजीने आकर अपने जलसे उनका अभिषेक किया, आकाशसे उनके लिये दण्ड और कृष्ण मृगचर्म गिरे। पार्वतीजी सहित शंकरजीने उसी समय आकर उनका यज्ञोपवीत संस्कार किया। इन्द्रने उन्हें प्रेमपूर्वक सुन्दर कमण्डल और दिव्य वस्त्र अर्पण किये। जन्मते ही उन्हें रहस्य और संग्रहके सहित सब वेद उपस्थित हो गए। उन्होंने बृहस्पतिजी को अपना गुरु बनाया और उन्हींसे सम्पूर्ण वेद, इतिहास और नीतिकी शिक्षा प्राप्तकर उन्हें दक्षिणा दे वे मेरुपरसे घर लौट आए। बाल्यावस्थामें ही अपने ज्ञान और तपस्याके कारण देवता और ऋषियोंके माननीय एवं संशय छेदन करनेवाले बन गए।—(अध्याय ३२४)।

व्यासजीके कहनेसे उन्होंने योग और सांख्यका अध्ययन किया। फिर सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रके ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन्हें व्यासजीने जनकजीके पास भेजा। जनक महाराजसे मोक्ष-शास्त्रकी दीक्षा ले वे व्यासजीके पास लौटे, वेदोंका स्वाध्याय करने लगे। उसी समय नारदजी वहाँ गए। उनसे परम कल्याणका उपदेश पा वे योगमें स्थित हो आदित्यमण्डलमें जाकर उन्होंने उस उत्तम गतिको प्राप्त करनेका विचार किया जहाँसे फिर लौटना नहीं होता। उन्होंने ४ प्रकारके दोषों, ५ प्रकारके रजोगुण, ८ प्रकारके तमोगुण और सत्वगुणका त्याग किया और नित्य निर्गुण लिङ्गरहित ब्रह्मपदमें स्थित हो गए। (अध्याय ३२७–३३३)।

व्यासजी स्नेहवश अपनी उत्तम गतिका आश्रय ले उनके पीछे जाने लगे। पलक मारते वे उस स्थान पर पहुँचे। सुवर्णपर्वतको

गिराकर शुकदेवजी आगे बढ़े थे। ऋषियोंने उनके पुत्रका अलौकिक कर्म कह सुनाया, तब व्यासजी पुत्रका नाम लेकर जोर-जोर क्रंदन करने लगे। पिताकी पुकार सुनकर शुकदेवजीने सर्वव्यापक स्वरूपसे 'भोः' इस शब्दका उच्चारण करके उत्तर दिया। समस्त चराचर जगत्ने उस ध्वनिका उच्चारण किया। इस तरह अपना प्रभाव दिखाकर वे अन्तर्धान हो गए। भगवान् शंकरने आकर शोकसंतप्त व्यासजीको सान्त्वना देकर वर दिया कि तुम्हें सदा पुत्रकी छाया दिखाई देगी और तुम दोनोंकी कीर्ति अचल रहेगी। (अध्याय ३३३)।

टिप्पणी—२ (क) 'मरकत स्याम' लिखकर 'काम सतकोटि छबि पीतपट···' कहनेका भाव कि शरीरकी छबि अगणित कामदेवोंकी-सी है और श्याम शरीरपर पीताम्बर इस तरह शोभायमान हो रहा है, जैसे श्याम मेघोंमें बिजलीकी छटा हो। मेघमें बिजली स्थिर नहीं रहती, पर यहाँ ऐसा जान पड़ता है मानों नीले-नीले मेघोंपर बिजली अपनी चंचलता छोड़कर स्थिर हो गई है। इस तरह यहाँ अभूतोपमा है। विशेष 'स्याम तन कांति वर वारिदाभं। ५० (२)।', 'कोटि कंदर्प छबि। ५० (१)।', 'नील नव बारिधर सुभग-सुभ कांतिकर०।५१ (२)।', 'कंदर्प अगनित अमित छबि नवनील नीरद सुंदरं।' ४५ (२ क, ग) में देखिए। मिलान कीजिए—'नील जलद पर निरखि चंद्रिका दुरनि त्यागि दामिनि जनु दमकति। गी० ७।१७।'

२ (ख) 'अरुन सतपत्रलोचन' अर्थात् नेत्र कमलकोशके समान अरुणवर्णके हैं। यथा 'पद्मगर्भारुणेक्षणम्। भा० ३।२८।१३।'

२ (ग) 'लोचन बिलोकनि चारु··' इति। 'चारु'का भाव कि चितवन कृपाकटाक्षरूपी अमृतसे भरी हुई है, कामदेवके मनको मोहनेवाली है तथा सबके मनको चुरा लेती है। यथा 'चितवनि चारु मार मन हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी।', 'चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं।', 'चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी।' तथा 'पंकज-मान-बिमोचन लोचन, चितवनि चारु अमृत जल सींचति। गी० ७।१७।'

२ (घ) 'प्रनत जन सुखद··' इति। अर्थात् कृपाकटाक्षसे निहाल कर देते हैं, प्रणतके हृदयकी जलनको हर लेते हैं। यथा 'जिय की

जरनि हरत हँसि हेरत।' 'सुखद' कहकर फिर सुखद होनेका कारण भी 'करुणार्द्रशील' शब्द देकर जना दिया। अर्थात् करुणा-अयन हैं; इसीसे शरणागतको सुख देते हैं। 'आर्द्र' को दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर ले सकते हैं; इस तरह 'करुणार्द्र शील' का अर्थ होगा 'करुणा और शीलसे भीगे हुए।' नेत्रोंमें करुणा और शील अत्यन्त भरा हुआ है। ये दोनों गुण वा भाव नेत्रोंसे प्रकट होते हैं। अथवा, 'करुणार्द्र शील' को एक ही शब्द मानें तो 'शील' का अर्थ 'स्वभाव' होगा।

'अरुण शतपत्र लोचन⋯शीलं' का भाव यह है कि भगवान्‌की चितवन अतिशय कृपायुक्त है, जिसे वे अति कृपापूर्वक भक्तोंके अति भयानक तापत्रयको शान्त करनेके लिये छोड़ रहे हैं,—(ऐसा चिन्तन भक्तको करना चाहिए), यथा 'तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोरतापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः। भा० ३।२८।३१।'

टिप्पणी—३ (क) 'काल गजराज मृगराज' इति। भगवान् कालके भी काल हैं, काल सदा उनसे डरता रहता है, भगवान् ही कालसे जनकी रक्षा कर सकते हैं। यथा 'उमा काल मरु जाकी इच्छा। ६।१०१।३।', 'काल व्याल कर भच्छक जोई। ६।५५।८।', 'रघुकुलकेतु सेतु श्रुति रच्छक। काल करम सुभाउ गुन भच्छक। ७।३५।८।', 'ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः। भा० ११।८।४१।' (अर्थात् कालरूप सर्पसे ग्रसित जीवको भगवान्‌के विना बचानेवाला कौन है ?)—यही भाव 'गजराज मृगराज' कहकर जनाया है। भगवान्‌के निरन्तर भजनसे उनकी कृपासे काल नहीं व्यापता। यथा 'कबहूं काल न व्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही। ७।८८।१।' पूर्व ४६ (२ ख), ५० (१ ग) में भी ये भाव आ चुके हैं। (काल) 'गजराज-मृगराज', 'दनुजेस बन दहन पावक', और 'मोह निसि दिनेसं' के भाव पूर्व आ चुके हैं। 'दनुजेश' से यहाँ बड़े-बड़े दैत्य, दानव और राक्षसराज अभिप्रेत हैं।—'जातुधान-प्रचुर-मत्त-करि केसरी। ५६ (७)।' देखिए।

३ (ख) 'चारि भुज चक्र कौमोदकी⋯राजहंसं' इति। भा० ३।२८ में भगवान् कपिलदेवने मातासे जो ध्यान बताया है वह

यह है—'सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः, शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम्। २७ कौमोदकी भगवतो दयितां स्मरेत, दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन।···भा० ३।२८।२८।' अर्थात् जिसके तेजको सहन नहीं किया जा सकता उस सहस्र अरोंवाले सुदर्शन चक्रका और उनके करकमलमें राजहंसके समान विराजमान शङ्खका चिन्तन करे। तदनन्तर विपक्षी वीरोंके रुधिर पंकसे पूर्ण भगवान्‌की परम प्रिय कौमोदकी गदाका ध्यान करे।—इस उद्धरणमें 'चारिभुज चक्र···' के भाव भी आ गए।

स्वर्गीय पं० रामकुमारजीका मत है कि 'सरसिजोपरि जथा राजहंस' केवल हाथमें धारण किये हुए शङ्खकी उपमा है। इस उपमासे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कमलपर हंस बैठता है। मानसमें भी कहा है—'भरत भारती मंजु मराली।···मानस ते मुख पंकज आई।' बाबू शिवप्रकाशजी (डु०) का भी यही मत है। यह मत उपर्युक्त उदाहरणके अनकूल है। चारों हाथोंको चार कमल और चक्रादिको राजहंस कहनेसे चारों आयुधोंका श्वेतवर्ण होना निश्चित होता है।

टिप्पणी—४ (क) 'मुकुट कुंडल तिलक अलक अलिव्रात इव···' इति। मिलान कीजिए—'भ्राजत सिर मुकुट-पुरट-निरमित मनिरचित-चारु, कुंचित कच रुचिर परम, सोभा नहिं थोरी। मनहु चंचरीकपुंज कंजबृंद प्रीति लागि गुंजत कल गान तान दिनमनि रिझयो री। अरुनकंजदल-बिसाल लोचन भ्रू तिलक-भाल मंडित श्रुतिकुंडल बर सुंदरतर जोरी। मनहुँ संवरारि मारि ललित मकरयुग बिचारि, दीन्हें ससि कहँ पुरारि, भ्राजत दुहँ ओरी॥ (गी० ७।७)। अर्थात् 'सिरपर सोनेका मणिजटित मुकुट और सुंदर घुँघराले बालोंकी शोभा ऐसी है, मानों भ्रमरसमूहने (नेत्र और मुख रूपी) कमलवृंदकी प्रीतिके लिये गुंजार करके (मुकुटरूपी) सूर्यको रिझा लिया है। लाल कमलदल समान विशाल नेत्रोंपर सुंदर भृकुटीके बीचमें मस्तकपर कुंकुमका तिलक और कानोंमें सुन्दर कुण्डलोंकी जोड़ी ऐसी शोभित है, मानों कामदेवको मारकर उसकी ध्वजाकी मछलियोंको सुन्दर जानकर शिवजीने लाकर (मुख) चंद्रको दे दिया है (वही दोनों कानोंमें विराजमान हैं)।

और भी मिलान कीजिये—'सुखमा-सुख-सील-अयन नयन निरखु-निरखु नील कुंचित-कच कुंडल-कल नासिका चित पोहैं। मनहुँ इंदुबिंबमध्य कंज मीन खंजन लखि मधुप मकर कीर आए तकि-तकि निज गौहैं ॥' (गी० ७।४), तथा—'अरुन-अधर, द्विज-पाँति अनूपम, ललित हँसनि जन मन आकर्षति। बिद्रुम रचित विमान मध्य जनु सुरमंडली सुमन जय वर्षति ॥' (गी० ७।१७)। पुनश्च—'जनु सभीत दै अँकोर राखे जुग रुचिर मोर, कुंडल-छबि निरखि चोर सकुचत अधिकाई ॥ ललित भृकुटि, तिलक भाल, चिबुक-अधर-द्विज रसाल, हास चारुतर कपोल नासिका सुहाई। मधुकर जुग पंकज बिच, सुक बिलोकि नीरज पर लरत मधुप-अवलि मानो बीच कियो आई। गी० ७।३।'—(इस उद्धरणमें मुखको चन्द्रमा, बालोंको बाल-सर्प, अलकें जो मुखपर आ आ जाती हैं, कुंडलरूपी मोर उन्हें रोके हुए हैं। इसको उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा कहा है। इत्यादि)।

४ (ख) 'इंदु-कर कुंदमिव मधुर हासा' इति। काव्यके नव रसोंके जो रंग माने गए हैं, उनमेंसे हास्यरसका वर्ण श्वेत कहा गया है। पद १४ 'सित सुमन हास' की टिप्पणी देखिए। इसीसे यहाँ भी हासकी उपमा चन्द्रकिरण और कुन्दपुष्पकी दी गई। मन्द-मन्द स्नेहमयी मुसुकान होनेसे 'मधुर' कहा। यह मुसुकान खिलती हुई कलीके समान है। 'इन्दुकर' समान कहकर शीतल एवं त्रितापहारी जनाया।

टिप्पणी—५ (क) "उरसि बनमाल सुबिसाल नवमंजरी भ्राज" इति। इसकी शोभा गीतावलीमें कविने यों वर्णन की है—'कंबु-कंठ उर-बिसाल तुलसिका नवीन माल मधुकर बर-बास-बिबस उपमा सुनु सोरी। जनु कलिंदजात नीलसैल तें धसी समीप, कंदबृंद बरषत छबि मधुर घोरि घोरी ॥' अर्थात् शंखवत् कंठ, चौड़ी छातीपर तुलसीदलकी नवीन माला जिसकी सुगंधवश भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, ऐसी छबि दे रही है मानों माला नहीं है, किन्तु यमुनाजी हैं, जो श्रीरामजीके शरीररूपी नील पर्वतपर (कंधेपरसे निकलकर) बह रही हैं। भौंरे जो मालापर आसक्त हैं, वे मेघवृन्द हैं, भ्रमरगुंजार मेघोंका गर्जन है। (गी० ७।७)। आलबन्दारमें भी 'लसत्तुलस्या वनमलयो-

ज्ज्वलम् । ३६।' अर्थात् तुलसी जिसमें शोभित हो रही है ऐसी वनमालाका ध्यान है।

☞ गीतावलीमें कविने मकराकृत और मोराकृत दोनों प्रकारके कुण्डल सूचित किये हैं, यह उदाहरणोंसे पाठकोंको ज्ञात हो गया होगा। 'अलक' को 'अलिव्रात' कहकर कुटिल घुँघराले, लच्छेदार इत्यादि जनाए।

५ (ख) 'परम ब्रह्मण्य' में भा० ४।२१ के 'ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्। अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः। ३८।' इस श्लोकका भाव है। अर्थात् 'ब्रह्मादि महापुरुषोंके भी परम पूजनीय होनेपर भी परम पुरुष श्रीहरि ब्राह्मणोंके परम भक्त हैं। उन्होंने निरन्तर इन ब्राह्मणोंके चरणोंकी वन्दना करके ही कभी दूर न होनेवाली लक्ष्मी और संसारको पवित्र करनेवाली कीर्त्ति प्राप्त की है।' महाभारत अनुशासन पर्वमें तो वायुदेवने ब्राह्मणोंका महत्त्व सहस्रार्जुनसे कहते हुए यहाँ तक कहा है कि 'गर्भस्थान् ब्राह्मणान् सम्यङ् नमस्यति किल प्रभुः। १५३।१०।' (अर्थात् जो सबका प्रभु है वह गर्भस्थ ब्राह्मणको भी भलीभाँति प्रणाम करता है। (गीताप्रेसने 'किल प्रभुः' का अर्थ राजा किया है)।

नोट—४ 'मुकुट कुंडल··' से लेकर 'नव मंजरी भ्राज' तकके भाव भा० ३।२८।२६- ३३ में भी हैं। अतएव यहाँ उद्धरण दिये जाते हैं। 'भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः, सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम्। यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन, विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ २६। यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं भूत्वा स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम्। मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं, ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु। ३०। हासं हरेरवनताखिललोकतीव्रशोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्। सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ।३२। ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति।···३३।', 'मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया। १५।' अर्थात् जिन्होंने अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये साकाररूप धारण किया है, उन श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो झिलमिलाते हुए मकराकृत कुंडलोंकी कान्तिसे, स्वच्छ और प्रकाशमान कपोलोंसे तथा सुघड़ नासिकासे सुशोभित हैं। २६। जो अपने

कान्तिके कारण भ्रमरगणसे सेवित है, जिसपर घुँघराली अल्कावली छितरायी हुई हैं, जो दो मछलियोंके आश्रयस्थानको भी लजानेवाले नेत्रोंसे सुशोभित है तथा उन्नत भृकुटियोंवाला है, भगवान्के उस श्रीसम्पन्न मनोमय मुखका सावधान होकर ध्यान करे । ३०। फिर अपने हृदयमें अत्यन्त प्रेम सहित भगवान्की उस मधुर मुसकान और अतिशय कृपायुक्त चितवनका चिरकालतक चिन्तन करे, जिसे वे अति कृपापूर्वक भक्तोंके अति भयानक तापत्रयको शान्त करनेके लिये छोड़ रहे हैं ।३१। तदनन्तर श्रीहरिकी मधुर मुसुकानका ध्यान करे जो प्रणतजनोंके प्रवल शोकाश्रुसमुद्रका शोषण करनेवाली है । फिर जिसे उन्होंने मुनिजनपर कृपा करनेके हेतु साक्षात् कामदेवको भी कुंठित करनेके लिये अपनी मायासे धारण किया है, ऐसे उनके भ्रूमंडलका चिन्तन करे । ३२। तत्पश्चात् अपने हृदयमें स्थित श्रीहरिके ध्यान करने योग्य हास्यका ध्यान करे जिसमें उनके अधर और ओष्ठकी अरुणकान्तिसे उनकी दन्तावलिरूप कुन्दकलीकी पंक्ति कुछ अरुणवर्ण हो गई है । ३३। जो मत्त मधुकरोंसे गुञ्जायमान वनमालासे वेष्टित हैं । १५।

नोट—५ "भगवान्के भूषणों और आयुधोंका आध्यात्मिक रहस्य"—(क) 'चारिभुज चक्र कौमोदकी जलज दर०' इति । भगवान् मानसिक, ऐन्द्रियिक और शारीरिक शक्तिसे युक्त प्राणतत्त्वरूप गदा, जलतत्त्वरूप शंख, तेजस्तत्त्वरूप सुदर्शनचक्र धारण किये हुए हैं । अव्याकृत (अर्थात् मूलप्रकृति) ही उनका अनन्त (शेषनाग) नामक आसन है, जिसपर वे विराजमान हैं तथा धर्मज्ञानादिसे युक्त सत्वगुण ही उनका पद्म कहा गया है । १३। वे अजन्मा प्रभु अपनी विशुद्ध आत्मज्योतिको कौस्तुभरूपसे तथा उसकी जो सर्वव्यापिनी प्रभा है उसे श्रीवत्सरूपसे अपने वक्षःस्थलपर धारण करते हैं ।१०।*

---

* "ओजः सहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत् ।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ।। भा० १२।११।१४
अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः ।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ।। १३ ।।

समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः पदार्थोंका नाम ही लीलाकमल है जिसे वे करकमलोंमें लिये रहते हैं। यथा 'भगवान् भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन्। भा० १२।११।१८।'

(ख)—'मुकुट कुंडल तिलक०', 'उरसि बनमाल०' इति। मुकुट आदि शब्दोंके अर्थ आदि तो पूर्व पदोंमें आ चुके हैं। यहाँ उनके धारण करनेका रहस्य बताया जाता है।—भगवान् सांख्य और योगरूप मकराकृत कुंडल तथा सम्पूर्ण लोकोंको अभय करनेवाला ब्रह्मपदरूप मुकुट धारण किये हुए हैं। उन्होंने अपने नाना गुणमयी मायाको वनमालारूपसे धारण किया है तथा वे छन्दोमय आच्छादन-वस्त्र और त्रिवृत्स्वर (ॐ) रूप यज्ञोपवीत पहिने हुए हैं। *

टिप्पणी—६ (क) 'मेखला कटिप्रदेशं' इति। इसमें 'किंकिनी रटनि कटितट रसालं। ५१ (६)।' का ही भाव है।

६ (ख) 'मुखर कलहंसवत' इति। मानसमें तीन प्रकारके हंसोंका उल्लेख मिलता है। क्षीर-नीर-विवरणविवेक जिनको है, उनको हंस कहा है। यथा 'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार। १।६।', 'भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा। २।२३२।' चालकी प्रधानता जिनमें है वे राजहंस हैं; यथा 'सखी संग लै कुंअरि तब चलि जनु राजमराल। १।१३४।' और 'कलहंस' वे हैं जिनमें सुन्दर बोलीकी प्रधानता है; यथा 'कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा। १।८६।', 'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। ३।४०।'—अतएव नूपुरके सरस मधुर ध्वनिके लिये 'कलहंस' के शब्दकी उपमा दी गई।

६ (ग) 'सौंदर्ज बेसं' इति। भाव कि वेष ऐसा सुन्दर है कि देखते ही बनता है, अकथनीय है, मानों सौंदर्य स्वयं मूर्तिमान होकर

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षाच्छ्रीवत्समुरसा विभुः॥ १०॥"

* विभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयङ्करम्॥ १२॥
स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं वधत्।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम्॥ ११। (भा० १२।११)

विराजमान् है। मिलान कीजिए—'पुलकित तन मुख आव न वचना। देखत रुचिर बेष कै रचना।' (४।२।६)

टिप्पणी—७ (क) 'सकल सौभाग्य संजुक्त त्रैलोक्य श्री' इति। बाबू शिवप्रकाश और बैजनाथजी इसका अर्थ करते हैं कि "याचक जनोंको देनेके लिये सब प्रकारका सुंदर (सुगन्ध, वनिता, वस्त्र, गीत, तांबूल आदि) भाग्य हाथमें लिये हैं और तीनों लोकोंकी ऐश्वर्यमय शोभा सर्वाङ्गमें धारण किये हैं।" (बै०)।

भा० ८।८।२५ में श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि समुद्रमंथनसे जब श्रीलक्ष्मीजी प्रकट हुईं और कमलपुष्पोंका जयमाल उन्होंने भगवान्‌के कण्ठमें डालकर उनके निकट खड़ी हो गईं, तब भगवान्‌ने उन जगदंबिका त्रिलोककी श्री (विभूतिरूप) श्रीलक्ष्मीजीको अपना वक्षःस्थलरूपी अचल पद दिया, जहाँ स्थिर होकर लक्ष्मीजीने अपनी प्रजा और लोकपालों सहित तीनों लोकोंकी दयापूर्वक वृद्धि की।—'तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या वक्षोनिवासमकरोत् परमं विभूतेः। श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान्॥' इसमें श्रीलक्ष्मीजीके लिये 'श्रियस्त्रिजगतो०' विशेषण आया है। हमने जो अर्थ किया है, उसकी पुष्टि इस श्लोकसे होती है।

श्रीलक्ष्मीजी समस्त सम्पत्तियोंकी अधिष्ठातृ देवता हैं, तीनोंलोकोंको ऐश्वर्य और सौभाग्य प्रदान करती हैं, यह 'सकल सौभाग्य… श्री' से जनाया। वि० पु० १।९।१२४ में जो इन्द्रने स्तुति करते हुए कहा है—'दाराः पुत्रास्तथागारसुहृद्धान्यधनादिकम्। भवत्येतन्महाभागे नित्यं त्वद्वीक्षणान्नृणाम्' अर्थात् हे महाभागे! स्त्री, पुत्र, गृह, धन, धान्य और सुहृद आदि सब आप हीकी कृपासे मनुष्योंको मिलते हैं। तथा 'शरीरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयः सुखम्। १२५।' अर्थात् शारीरिक आरोग्य, ऐश्वर्य, शत्रुपक्षका नाश और सुख ये भी सुलभ हो जाते हैं।—यह सब 'सकल सौभाग्य' में आ जाते हैं।

७ (ख) 'बाम दिसि रुचिर बारीस कन्या' इति। सं० १६६६ वाली पोथीमें बिंदुमाधवजीका एक यही पद है। उसमें 'बाम दिसि' पाठ है। आधुनिक प्रतियोंमें तीन पद बिंदुमाधवजीके वर्णनमें मिलते हैं। ये तीनों पद लगातार मिलते हैं और प्रायः सबमें 'दक्ष दिसि' 'दक्ष भाग' पाठ है। पं० रामेश्वर भट्टकी

टीकामें तीसरे और चौथे संस्करणमें 'बाम दिसि', 'बाम भाग' पाठ है। तीनों पदोंमें उन्होंने 'वाम' पाठ दिया है।

प्राचीनतम (सं० १६६६ वाली) पोथीमें इस पदमें न तो कहीं हरताल है और न कहीं काटकर कुछ बनाया गया है। कोई बात हमको ऐसी नहीं मालूम होती, जिससे हम 'वाम' पाठको कल्पित मान लें। हमारा अनुमान जो हमने 'मानस-मणि' पत्रिकामें कई वर्ष हुए प्रकट किया था कि नागरीप्रचारिणी सभाके सदस्योंने अवश्य इस ग्रन्थको देखा होगा, ठीक निकला। तुलसीपत्र सं० १६७५ वर्ष ५ अंक ९-१० में हमें एक लेख श्रीयुत् जगन्मोहन वर्माका आश्विन सं० २००० में एकाएक दृष्टिगोचर हुआ जिसमें वे लिखते हैं—

"आजकलका संस्करण कब और कैसे संकलित हुआ, यद्यपि इसका स्पष्ट और सटीक पता नहीं चलता तो भी प्राचीन प्रतिके और आधुनिक प्रतिके एक पदसे इसका कुछ आभास मिलता है। वह पद वही है जिसमें विंदुमाधवजीके नखशिखका वर्णन है। रामचरितमानसकी भूमिकामें काशी-नागरीप्रचारिणी सभाके विद्वान् सम्पादकोंने लिखा है कि "विन्दुमाधवजीके श्रीअंगोंके चिह्नोंका जो वर्णन गोसाईंजीने किया है वह पुराने विन्दुमाधवजीसे, जो अब एक गृहस्थके यहाँ हैं, अविकल मिलता है।'—पर उन लोगोंने इतना ही लिखकर बस कर दिया है, उसे स्पष्टतया देनेकी कृपा नहीं की। उचित तो था कि उस मूर्तिकी प्रतिकृति दी जाती और उसमेंके वे चिह्न विशेष दिखलाये जाते।"

आधुनिक प्रतियोंसे पद उद्धृत कर वे (श्रीजगन्मोहन वर्माजी) लिखते हैं कि "आधुनिक प्रतियोंमें तीन पद लगातार मिलते हैं और सबमें 'दक्ष दिशि', 'दक्ष भाग' पाठ है। इतना ही नहीं, ये तीनों पद एक ही आशयके और प्रायः ६१ वें पदके शेष दोनों अनुवादरूप हैं। गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें बहुत कम पुनरुक्ति या अनुवाद दोष हैं। हमारा यह आग्रह नहीं है कि शेष दो पद और ही के हैं, पर उनके रचनाक्रमसे जाना जाता है कि वहाँ अवश्य 'बाम' शब्द ही था, नहीं तो 'दक्ष' शब्द तीनों जगह क्यों खपाया जाता? यदि वास्तवमें पाठ न बदला गया होता, तो कहीं 'दक्ष दिशि', 'कहीं दक्षिणी', कहीं 'दाहिनो ओर' आदि शब्द मिलते। जैसे, 'राम बाम दिसि जानकी लषन दाहिनी ओर' इत्यादिमें। इससे यह संदेह होता

है कि शेष दो पद जो आधुनिक विनयपत्रिकामें मिलते हैं या तो बिलकुल गोस्वामीजीके हैं नहीं, अथवा यदि हैं भी, तो यह स्पष्ट है कि उनमें जान-बूझकर किसी विशेष स्वार्थवश 'बाम दिशि' और 'बाम भाग' के स्थानमें 'दच्छ दिशि' और 'दच्छ भाग' पाठ बदल दिया गया है।”

“लाला भगवानदीनसे और मुझसे इस पदपर बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा था कि उस मूर्तिमें लक्ष्मीजी नारायणके बाईं ओर नहीं हैं, अपितु दाहिनी ओर हैं और वे मुझे उसे दिखलाने भी गये थे, पर दैवयोगसे घरमें ताला पड़ा हुआ था, कुछ देर ठहरकर लौट आए।”

“जहाँतक मेरे देखनेमें आया है, किसी ग्रंथमें चाहे वह तंत्र हों, पुराण हों वा अन्य हों कहीं भी शक्तिका दक्षिण भागमें होना नहीं लिखा गया। स्वयं गोस्वामीजीने भी 'बामांके च विभाति भूधरसुता' 'सीता समारोपित वाम भागं', 'राम बाम दिसि जानकी', 'बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला' आदिमें शक्तिको वाम दिशामें लिखा है। फिर यह कब सम्भव हो सकता है कि उन्होंने स्वयं 'दच्छ दिसि रुचिर बारीस कन्या' लिखा होगा? वे हिन्दू धर्मके तत्त्वको अच्छी तरह जानते और समझते थे। हनुमान्जीके एक होनेपर उन्होंने काशीमें अपने हाथों अनेक मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा की थी। उन्हें यह ज्ञात था कि हिन्दू अपने उपास्यदेवके ध्यान एक होनेपर भी उसकी उपासनाएँ अपने-अपने भावसे अनेक प्रतिमाओंमें कर सकता है और करता भी है।”

“मत्स्य पुराणमें विष्णु भगवान्की प्रतिमा किस प्रकारकी होनी चाहिए यह लिखते हुए अन्तमें लिखा है--'वामस्तु भवेल्लक्ष्मीः पद्महस्ता सुशोभना।', अर्थात् लक्ष्मीजीकी मूर्ति विष्णुकी बाईं ओर हाथमें कमल लिये बनाई जाना चाहिए।”

“इससे प्रमाणित है कि वह प्रतिमा जिसमें लक्ष्मीजीकी मूर्ति नारायणके दाहिने ओर बनाई गई है, शास्त्रविरुद्ध है। फिर समझमें नहीं आता कि गोस्वामीजीने कैसे उस शास्त्रविरुद्ध प्रतिमाके अनुसार 'दच्छ दिशि' लिखा होगा। शास्त्रके मर्म जाननेवाले इसे उस अवस्थामें भी माननेको कभी उद्यत न होते, यदि आजतक सर्वत्र ही 'दच्छ दिशि' पाठ मिलता और यहाँ तक कि गोस्वामीजीके समयकी

प्रतिमें भी वैसा ही पाठ होता। पर ऐसी दशामें जबकि एक अति प्राचीन प्रतिमें जो गोस्वामीजीके जीवनकालमें उन्हींके किसी भक्त और स्वजनके हाथकी लिखी हुई है, 'बाम दिसि' पाठ मिलता है तो कौन हिन्दू प्रतिमातत्व जाननेवाला उस ('दत्त दिशि') पाठको ठीक स्वीकार करेगा ? अनुमान होता है कि इसी भयसे महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदीजीने इसे स्पष्ट नहीं किया था और गोलमोल इतना ही लिख दिया कि 'विन्दुमाधवजीके अंगोंके चिह्नोंका जो वर्णन गोस्वामीजीने किया है, वह पुराने विन्दुमाधवजीसे, जो अब एक गृहस्थके यहाँ हैं, अविकल मिलते हैं।' वे शास्त्रोंके जानकार थे। और उन्हें मालूम था कि शास्त्रविरुद्ध प्रतिमा अपूज्य होती है, स्पष्ट चिह्नोंके लिखनेसे लोग उनपर आपत्ति करेंगे और उन्हें सिर नीचा करना होगा। अस्तु।"*

---

* दासने भी मूर्तिका दर्शन दो तीन बार सन् १९३३ के पूर्व किया, किन्तु उस समय केवल प्राचीन मूर्त्ति सुनकर दर्शन करने जाता था। रामनगरवाली विनयकी पोथी देखनेके पश्चात् अवश्य सन् १९३४ में इस जिज्ञासासे गया था कि लक्ष्मीजी किधर हैं। उस समय एक वृद्ध पुजारी थे, उन्होंने बताया कि लक्ष्मीजी वाम दिशामें हैं, छोटा-सा पीतवस्त्रका टुकड़ा उनके शरीरपर था।

सन् १९४५ में टीका छपानेके विचारसे फिर मैंने 'कीर्तन मंदिर, भोंसलाघाट, काशी' के महंतको लिखा कि फोटो खिचवाकर भेज दें, मैं खर्च सब दूंगा। पर उन्होंने यह उत्तर दिया—"महंतजी सूरत गये हुए हैं। मूर्तिके बारेमें हमने पता लगाया। मूर्ति एक गुजराती सज्जनके यहां है। मूर्तिका नाम श्रीविन्दुमाधवजी है। मूर्तिके अगल-बगल छः महालक्ष्मी हैं, तीन दाहिनी और तीन बाईं ओर। दाहिनी तरफ वाली महालक्ष्मीमें जो ठीक भगवान्‌के बगलमें हैं उन्हींका शृङ्गार होता है, बाकी पाँच का नहीं। हाँ, फोटो नहीं खींचा जा सकता। मूर्ति ४०० वर्ष पुरानी है। भरत शरण शर्मा"

संभव है कि सन् १९४५ में पुजारी कोई आचारी वैष्णव रहे हों, उन्होंने दाहिनी दिशावाली लक्ष्मीको भगवान्‌की शक्ति समझकर उनका शृङ्गार करना प्रारंभ किया हो, १९३४ में तो बाम दिशा वालीका ही शृङ्गार मैंने देखा था और पुजारीने उन्हींको लक्ष्मी बताया था। छः लक्ष्मियोंके होनेसे 'वह मूर्ति-गोस्वामीजीके वर्णनसे अविकल मिलती है यह कैसे कहा जा सकता है ?—

पृष्ठ ६१९ में आगे।

७ (ग) 'बसत बिबुधापगा निकट तट सदन बर' इति। भगवान् विन्दुमाधव पंचगंगातीर्थपर विराजमान हैं। नोट १ देखिए।

टिप्पणी—८ "विश्वकृत विश्वहित विश्वपालनहरन विश्वकर्ता' में विश्व शब्द भावकी रुचिरताके लिये कई बार आया है। यहाँ 'पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार' है।

९ 'ग्रसत भव ब्याल''श्रीराम उरगारिजानं' इति। यहाँ 'श्रीराम' पद अन्तमें देकर जनाते हैं कि श्रीसीतारामरूप जानकर श्रीविन्दुमाधवजीकी शक्ति सहित वन्दना इस पदमें की गई है। भवको व्याल कहा और अपनेको भवव्यालग्रस्त बताया। अतः रक्षाके लिये 'उरगारि जानं' नामसे प्रार्थना करना युक्तियुक्त है, बहुत ही उचित है। व्यालभक्षक जिसका वाहन है, वह अवश्य ही व्यालसे रक्षा करनेको समर्थ हो सकता है। यथा 'परम कठिन भवब्याल ग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारी। चाहत अभय भेकसरनागत खगपतिनाथ बिसारी। ६२ (५)।' इसी प्रकार पूर्व भी पद ५४ (१) में 'ब्यालारिगामी' नाम आया है। 'उरगारिजानं' संज्ञा साभिप्राय है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है।

वियोगी हरिजीका मत है कि "गोसाईंजी भवजालग्रसित हैं और गरुड़ सर्पके भक्षक हैं। आप अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको कष्ट नहीं देना चाहते। संसाररूपी सर्पको खा जानेके लिये वह उनके वाहनकी ही मदद चाहते हैं।" (श्री० श० जीने भी इस भावको अपने शब्दोंमें लिखा है)।

श्री० श०—'ग्रसत भवव्याल'—सर्पके मुखमें विष होता है, वैसे भवका मुख (उसमें प्रवेश करनेका द्वार) विषयरूपमें विषमय है। विषय भोगते हुए आयुका बीत जाना भवव्यालका निगल जाना है, क्योंकि इससे जीव नरकको एवं चौरासी भ्रमणको प्राप्त होता है। यथा 'पाँचइ पाँच परस रस शब्द गन्ध अरु रूप। इन्हकर कहा न कीजिए बहुरि परब भवकूप।२०३।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

जो कुछ भी हो प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतिमें स्पष्ट 'बाम' शब्द है। अतः दास तो उसीको प्रमाण समझता है, विशेष ६२ (१२ ख) में भी देखिए!

६२, राग असावरी

इहै परम फल परम बड़ाई।
नखसिख रुचिर बिंदुमाधव-छबि निरखहिं[१] नयन अघाई ॥१॥

बिसद किसोर पीन सुंदर बपु स्याम सुरुचि[२] अधिकाई।
नील कंज बारिद तमाल मनि इन्ह तन ते[३] दुति पाई ॥२॥

मृदुल चरन सुभ चिन्ह पदज[४] नख अति अभूत[५] उपमाई।
अरुन नील पाथोज प्रसव जनु मनिजुत दल समुदाई ॥३॥

जातरूप मनिजटित[६] मनोहर नूपुर जन[७] सुखदाई।
जनु हर डर[८] हरि बिबिध रूप[९] धरि रहे बर भवन बनाई ॥४॥

कटितट रटति चारु किंकिनि रव अनुपम बरनि न जाई।
हेम जलज कल कलिन्ह[१०] मध्य जनु मधुकर मुखर सोहाई ॥५॥

उर बिसाल भृगु चरन चारु अति सूचत कोमलताई।
कंकन हार[११] बिबिध भूषन बिधि रचे[१२] निज कर मन लाई ॥६॥

गजमनि माल बीच भ्राजति[१३] कहि जाति[१४] न पदिक निकाई।
जनु उडगन-मंडल बारिद पर नवग्रह रची अथाई ॥७॥

---

१ निरखहिं—रा०, मु०, दीन, ५१, ७४, भ०। निरखहि—भा०, वे०, ज०। निरखहु—ह०, १५। २ रुचिर—प्र०, वे०, १५। सुरुचि—रा०, ह०, भा०, ५१, ७४, आ०। ३ ते—रा०, भा०, वे०, ५१, ज०। तें—ह०, ७४। ४ रुचिर—प्र०, ५१। ५ अभूत—रा०, भा०, वे०, मु०। अद्भुत—७४, आ० (-मु०)। ६ जरित—रा०। जटित—औरोंमें। ७ अति—प्र०, ज०। ८ डर—रा०, आ० (-मु०, वि०)। उर—भा०, वे०, मु०। ९ रूप—रा०, ह०, आ०, ५१, ७४। वेष—भा०, वे०, प्र०, ज०। १० कलिन—भा०, वे०। ११ हार—रा०, ह०, प्र०, ज०, १५। चारु—भा०, वे०, आ०, ७४। १२ रचे—रा०, ह०, ५१, १५। रच—भा०, वे०; मु०। रचि—ज०, ७४, आ० (-मु०)। १३ भ्राजति—रा०। भ्राजत—प्रायः औरोंमें। १४ जाति—रा०, आ०। जात—भा०, वे०।

भुजग भोगु[१५] भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।
सोभासींव ग्रीव चिबुकाधर बदन अमित छवि छाई ॥८॥
कुलिस कुंद कुडमल दामिनि दुति दसननि देखि लजाई।
नासा 'नयन कपोल[१६] ललित' श्रुति कुंडल भ्रू मोहि भाई ॥९॥
कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुग रेख इंदु महुँ रही तजि चंचलताई ॥१०॥
निर्मल पीत दुकूल अनूपम उपमा हिय न समाई।
बहु मनिजुत गिरि-नील-सिखर पर कनक बसन रुचिराई ॥११॥
बाम[१७] भाग अनुराग सहित इंदिरा अधिक ललिताई।
हेम-लता जनु तरु तमाल ढिग नील निचोल ओढाई[१८] ॥१२॥
सत सारदा सेष श्रुति मिलि करि[१९] सोभा कहि न सिराई।
तुलसिदास मति मंद द्वंद्वरत कहै कौन[२०] बिधि गाई ॥१३॥

शब्दार्थ—इहै=यही; यह ही । बड़ाई=पद, मान-मर्यादा; वयस, बुद्धि और विद्या आदिका आधिक्य ।=श्रेष्ठता, बड़प्पन, प्रशंसाकी बात। नखसिख=पैरोंके नाखुनसे लेकर शिखा तक।= सिरसे पैर तक सर्वांग । सिख (शिखा)=चोटी ।☞मुंडन-संस्कारके समय सिरके बीचोंबीचका छोड़ा हुआ बालोंका गुच्छा जो फिर कटाया नहीं जाता और जो हिन्दुत्वका चिह्न है। किसोर (किशोर)=ग्यारह वर्षसे पन्द्रहवर्ष तककी अवस्थाका । पीन= गठा हुआ। पुष्ट, मोटे-ताजे । सुरुचि=सुन्दर कांति, शोभा। इन्ह= इन्होंने। पदज=पैरकी अँगुली। अभूत=अपूर्व, विलक्षण, अनोखा। अभूतोपमा=उपमाके दस भेदोंमेंसे एक जिसमें उत्कर्षके कारण उपमान का कथन न हो सके। यथा—'जौ पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया ॥' उपमा—एक अर्थालंकार जिसमें

---

[१५] भोगु—रा०, ह०, ५१, मु० । भोग—भा०, वे०, ७४। [१६] ललित कपोल नयन—ह०। [१७] दछि—रा० । दक्ष या दच्छ—प्रायः औरोंमें । बाम—भ० । [१८] ओढ़ाई—रा०, ५१, ह०, ७४, ज०, भ०, दीन । उढ़ाई—भा०, वे०, मु०, वैं० । [१९] कै—वि० । कर—मु० । [२०] कौंन—रा० ।

दो वस्तुओं (उपमेय और उपमान) के बीच भेद रहते हुए भी उनका समान धर्म बतलाया जाता है।=सादृश्य; जोड़; पटतर। प्रसवना=बच्चा पैदा करना। समुदाई (समुदाय)=समूह। जन=भक्त, दास। रहे=ठहर गए, वास किया। कलिन्ह=कलियोंके।—यह बहुवचन है। कली=विना खिला हुआ फूल; बोंड़ी। भृगुचरण=भृगुलता चिह्न। सूचत=बतलाता, जनाता, दिखाता वा प्रकट करता है। यथा 'सूचत किरन मनोहर हासा।' उपमाई—छन्दके तुकान्तके योगसे 'ई' अक्षर दिया गया। अथवा, उपमाई=उपमा+आई। परन्तु व्याकरणानुसार यह अशुद्ध है। कोमलता=सुकुमारता। ललित—इस शब्दमें सुन्दरता, कोमलता और सबको भानेवाला—ये सब भाव भरे हुए हैं। लाइ=लगाकर। गजमणि=गजमुक्ता।☞हाथीके मस्तकसे जो मोती निकलता है उसकी चर्चा प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत देख पड़ती है। मानस और गीतावलीमें बराबर इसके हारोंका उल्लेख मिलता है। यथा 'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी। १।११।१।', गजमनि रचि बहु चौक पुराईं। ७।६।३।' कहा जाता है कि स्वातीके बूँदके संसर्गसे यह मोती पैदा होता है। माल=माला। पदिक=बहुरंगकी मणियोंसे जड़ा हुआ आभूषण जो प्रायः चौकोर या गोल वा ताम्बूलपत्रके आकारका होता है और प्रायः मणिहारके बीचमें सुमेरुकी जगह रहनेसे हृदयपर लटकता रहता है। इसे 'चौकी' भी कहते हैं। यथा 'मानो लसी तुलसी हनुमान हिये जग जीते जराय की चौकी।' निकाई=सुन्दरताई, यथा—'बनै न बरनत नगर निकाई।' उडुगन=उडु (=नक्षत्र, तारा)+गण (समूह)। मंडल=समुदाय, समाज, समूह।=ग्रहके घूमनेकी कक्षा।=गोलाकार फैलान। मानसके 'राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाय' (उ०) में जो 'तारागण समुदाय' कहा है, वही यहाँ 'उडुगन मण्डल' से अभिप्रेत है। नव ग्रह—'ग्रह' वे तारे हैं जिनकी गति, उदय और अस्तकाल आदिका पता प्राचीन ज्योतिषियोंने लगा लिया था। इनकी संख्या फलितज्योतिषके अनुसार नौ है, इसीसे 'ग्रह' शब्द '९' का भी बोधक है। वे ये हैं—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु। प्रत्येक ग्रहको कुछ विशिष्ट देशों, जातियों, जीवों और पदार्थोंका स्वामी माना है और उनका वर्ण-विभाग किया गया

है। मंगल और सूर्य्यका रंग लाल, चंद्र और शुक्रका सफेद, गुरुका पीला,† बुधका हरा, शनि तथा राहुका काला, और केतुका धूम्र (धुएँका सा) वर्ण कहा जाता है। मांगलिक अवसरों पर इन नवग्रहोंका पूजन होता है। अथाई—प्रायः यह उस स्थान या चबूतरेका नाम है जहाँ जमींदार बाजारमें बैठकर पंचायत करते हैं, तहसील वसूल करते हैं। बुन्देलखण्ड और महोबा आदि कस्बोंमें अथाइयां अबतक बनी हैं। यह शब्द उसी प्रान्तकी भाषा है। हिन्दी शब्द सागरमें 'अथाई' का अर्थ 'गोष्ठी, सभा, दरबार' दिया गया है। भुजग=सर्प। भोग=शरीर, देह। बन आना=उपस्थित होना, (यथा 'आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू। २।२३०।५।')।=भलीभाँति सुसज्जित या शोभित होना। चिबुकाधर=चिबुक+अधर=ठोढ़ी और होंठ। कुडमल (कुड्मल) =कली। भाई=अच्छी लगती है; भाती है। कुंचित=घूमे हुए, टेढ़े, घुँघराले, छल्लेदार। यथा—'चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।' (बा०)। कच=बाल। समुझाई= समझाकर=इस तरह कहकर कि जिसमें यह छवि हृदयंगम हो जाय, मनमें बैठ जाय, ध्यानमें जम जाय। अलप (अल्प)=थोड़ी; कुछ। जुग (युग)=दो। रेख=रेखा, लकीर। तजि=छोड़कर। चंचलताई (चंचलता)=चपलता, अस्थिरता, कुछ कालतक एक स्थितिमें न ठहर सकनेका भाव। दूकूल=महीन कपड़ा; वस्त्र। यथा—'खग मृग परिजन नगर बन बलकल बिमल दूकूल। नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुखमूल।' (अ०)। अनूपम=उपमारहित। समाई=समाती। =जँचती। गिरिनील=नीलगिरि पर्वत; नील पर्वत। रुचिराई=रुचिरता=सुन्दरता और चमक। यथा—'कंबु चिबुकाधर सुंदर क्यों कहौं दसनन्हकी रुचिराई। ढिग=पास। निचोल=ऊपर सिरसे शरीर ढाँकनेका कपड़ा। ओढ़नी; वस्त्र। सिराना=चुकना, समाप्त होना। ओढ़ाई=वस्त्रसे ढाँकी हुई।

---

† श० सा० में बुध और गुरुको पीला और केतुको काला लिखा है। पं० जानकीनाथ शर्मासे ज्ञात हुआ कि प्रायः सभी ज्योतिष ग्रन्थोंमें बुधका रंग हरा ही बतलाया गया है।

पद्यार्थ—(अब मनको उपदेश करते हैं) 'नखशिख-सुन्दर विन्दुमाधवजीकी छवि नेत्रोंसे अघाकर (अर्थात् नेत्र भरकर, जीभरकर, छककर) देखें'—बस यही (जीवनका नरतन धारण करनेका) सर्वोत्कृष्ट फल है और यही सबसे बढ़कर वड़ाई है। १। (अब नखशिख वर्णन करते हैं।) निर्मल किशोर (अवस्थावाले) हृष्ट-पुष्ट सुन्दर श्याम शरीरपर अतिशय कान्तिकी अधिकता है। नीलकमल, सजल वर्षाकालीन मेघ, तमालवृक्ष और नीलमणि—इन सबोंने इन्हींके शरीरसे कान्ति पाई है। २। कोमल चरण हैं, (तलवोंमें) मंगल कल्याणकारी रेखाएँ हैं, अँगुलियों और नखोंकी बड़ी ही अभूतोपमा है; (ऐसा जान पड़ता है) मानों लाल नीलकमलोंने मणिजटित दलोंका समूह उत्पन्न किया हो। ३ मणिजटित सोनेके सुन्दर मन हर लेनेवाले भक्तोंको सुख देनेवाले नूपुर (ऐसे जान पड़ते हैं) मानों शंकरजीके डरसे हरि (कामदेव) ने अनेक रूप धरकर (अपनी रक्षाके लिये) सुंदर घर बनाकर (उनमें आकर) वास किया है। *। ४। कटिप्रदेश (कमर) में सुन्दर किंकिणी बज रही है। उसका अनुपम शब्द (झनकार) वर्णन नहीं किया जा सकता। (किसी प्रकार ऐसा कह सकेंगे) मानो सोनेके कमलकी सुंदर कलियोंके मध्य भँवरोंका सुंदर गुंजार हो। ५। विशाल वक्षःस्थलपर सुन्दर भृगुलता चिह्न हृदयकी अत्यंत कोमलताकी सूचना दे रहा है। कंकण, हार (आदि) अनेक भूषण (मानों) ब्रह्माने अपने, हाथोंसे मन लगाकर गढ़े हैं। ६। गजमुक्ताओंकी मालाके बीचमें पदिक शोभायमान है, उसकी सुन्दरता कही नहीं जा सकती। (ऐसा ज्ञात होता है) मानों सजल श्याम मेघोंपर तारागणमण्डल (के मध्य) में नवग्रहोंने † अथाई वनाई है। ७। सर्पके शरीरके समान (चढ़ाव उतारके) भुजदंडोंमें कमल, शंख, चक्र और गदा सुशोभित हैं। ग्रीव, ठोढ़ी और होंठ शोभाकी सीमा हैं अर्थात् इससे बढ़कर शोभा कहीं है ही नहीं। मुखपर असीम छवि छाई हुई है। ८। दाँतोंकी द्युति देखकर हीरा, कुंदकली, और विजलीकी

---

* 'हर उर हरि' पाठका अर्थ होगा—'शंकरजीके हृदयमें हरि (भगवान्) अनेक रूप धरकर आ रहे हैं।

† अर्थान्तर—नक्षत्रमंडल और नवग्रहने अथाई वनाई हो। (च०)

कान्ति लज्जित होती है (अर्थात् शर्मके मारे उपमाके लिये ये कोई सामने नहीं आते, छिप जाते हैं; क्योंकि अपनेको तुच्छ मानते हैं। भाव कि इनकी कान्ति मात हो जाती है, उपमायोग्य नहीं ठहरती।) नासिका, नेत्र और गाल मनोहर हैं, सुन्दर कानोंमें कुंडल हैं और भृकुटी (तो) मुझे बहुत ही भा रही है। ६। सिरपर घुँघराले बाल और मुकुट हैं। ललाटपर के तिलकको समझाकर कहता हूँ। (भालपर तिलक ऐसा मालूम होता है कि) बिजलीकी दो छोटी-छोटी पतली रेखाएँ अपनी चपलता छोड़कर (मुख) चन्द्रमें (आकर स्थिर होकर) रह गई हैं। १०। निर्मल पीताम्बर उपमारहित है। उसकी कोई उपमा हृदयमें नहीं जँचती। (श्याम शरीरपर पीताम्बर ऐसा दीखता है कि) बहुतसी मणियोंसे युक्त (अर्थात् मणिजटित) नीलगिरिशिखरपर स्वर्णवस्त्रकी छवि है। ११। वाम भागमें अनुरागसे भरी हुई लक्ष्मीजीकी सुन्दरता विशेष ऐसी है मानों तमालवृक्षके पास नीलवस्त्र ओढ़ाई हुई स्वर्णकी लता हो। १२। सैकड़ों सरस्वती, शेष और श्रुतियोंके मिलकर भी कहनेसे शोभा कहे चुक नहीं सकती, (तब भला) मन्दबुद्धि और द्वन्द्वोंमें अनुरक्त तुलसीदास किस प्रकार बखान कर कह सकता है ?। १३।

नोट—१ पूर्व पद ६१ में श्रीविन्दुमाधवजीका स्वरूप वर्णन कर यह बताया कि 'नयन निरखंति नर तेऽति धन्या', जो इस मूर्तिका दर्शन करते हैं, वे अत्यन्त धन्य हैं। अब प्रस्तुत पदमें बताते हैं कि इनके नख-शिखका नेत्रोंसे भरपेट दर्शन करना ही 'परम फल परम बड़ाई' है।

टिप्पणी—१ (क) 'इहै परम फल परम बड़ाई' इति। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार फल कहे गये हैं। चारों फलोंका भी जो फल है, वह 'परम फल' है। भगवान् और भगवान्‌के परम भक्तोंका दर्शन 'परम फल' है; यथा 'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसन पावा॥ तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा। २।२११।४-५।', 'मम दरसन फल परम अनूपा' आदि। इस कथनका तात्पर्य यह है कि जितने साधन किये जाते हैं, वे सब इतने ही मात्रके लिये किये जाते हैं

कि हमें भगवान्का साक्षात्कार हो, उनके दर्शन हों। यही समस्त साधनोंका 'परम फल' है। इसीसे पिछले पदमें कहा गया कि जो इस प्रकार दर्शन करते हैं, वे अति धन्य हैं। ❀ मिलान कीजिये—"नयननि को फल बिसेष, ब्रह्म अगुन सगुन वेष, निरखहु तजि पलक सफल जीवन लेखोरी। गी० ७।७।'

१ (ख) 'परम बड़ाई' इति। श्रीसुमित्राजीने श्रीलक्ष्मणजीकी भक्ति देखकर कहा है कि 'भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह राम पद ठाँउँ। २।७४। पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई।' वैष्णव-पुत्र अपने माता, पिता और कुलको अपने जन्ममात्रसे कृतार्थ कर देता है। यथा 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च धन्या। स्वर्गे स्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनामध्येयम।' (प्रसिद्ध श्लोक)। स्कन्द पु० में नारदजीने अर्जुनजीसे कहा है कि जिसका चित्त परमात्मामें संलग्न होकर सुखके अपार सिंधुमें निमग्न हो गया है, उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी माता कृतार्थ हो गई तथा उसे पाकर यह सारी पृथ्वी कृतार्थ हो गई।—'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन। विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।' (मा० कुमा० ५२।३८)।

दर्शनोंके जो अभिलाषी रहते हैं, उनका यह सौभाग्य है कि भगवान् उनके हृदयसदनमें निवास करते हैं। यथा 'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ निदरहिं सरित सिंधु सरि भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥ तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक। २।१२८।६-८।'; तब जो नित्य दर्शन करते हैं उनका सौभाग्य कौन कह सकता है?

दर्शनसे भगवान्में प्रेम भी होता है; यथा 'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥ तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख-पंकज दिये। ३।६।' धनवान्, विद्यावान्, देशाधिपति इत्यादि होना वास्तविक बड़प्पन नहीं है, कपट-छल

❀ भावार्थान्तर—"अर्थ, धर्म, काम फल हैं। इनमें मोक्ष परम फल है। मोक्ष हरिध्यानसे सुलभ है। भगवद्भक्तिप्राप्ति सब बड़ाइयोंसे अधिक परम बड़ाई है।" (वै०)।

छोड़कर भगवान्‌में प्रेम करनेवाला ही बड़ा है। यथा 'सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥ धर्मपरायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता। ७।१२७।१-२।'

१ (ग) 'निरखहि नयन अघाई' में उपर्युक्त 'लोचन चातक करि राखे' तथा चन्द्र-चकोरवत् दर्शन करनेका भी भाव है।

टिप्पणी—२ 'नील-कंज बारिद तमाल मनि इन्ह तनते दुति पाई' इति। मिलान कीजिए—'राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने। २।११६।८।', 'इन्ह तें लही है मानो घन-दामिनि दुति मनसिज, मरकत, सोने। गी० १।५६।'—भाव कि भगवान्‌के शरीरकी श्याम दीप्तिका एक सीकरमात्र पा जानेसे कमल, मेघ, तमाल और मणि दीप्तिमान माने जाने लगे। ☞ कंज, वारिद, तमाल और मणि उपमान होते हैं और शरीर उपमेय होता है, किन्तु यहाँ इन प्रसिद्ध उपमानोंको पलटकर उपमेय और शरीरको उपमान बनाया है। यहाँ 'प्रथम प्रतीप अलंकार' है।

टिप्पणी—३ 'मृदुल चरन सुभ चिन्ह···' इति। (क) चिह्नोंका वर्णन ५१ (६ ग) में आ चुका है। चिह्न शुभ हैं, मंगलकारी हैं। चारों फलोंके दाता होनेसे 'शुभ' कहा। यथा 'चारु चरनतलचिन्ह चारि फल चारि देत परिचारि जानि जन। गी० ७।१६।' भगवान् कपिलदेवने चतुर्भुज भगवान्‌का नखशिख जो मातासे कहा है, उसमें केवल चार चिह्न कहे हैं; यथा 'सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्। भा० ३।२८।२१।' कविने अगले पदमें विन्दुमाधवजीके चरणकमलमें 'कुलिस केतु जव जलज रेख बर अंकुस मन-गज बस कारी' ये पाँच अथवा छः रेखाएँ कही हैं। अतः यहाँ भी वज्र, ध्वजा, यव, कमल और अंकुश पाँच रेखाएँ (अथवा, 'रेख' से ऊर्ध्व रेखाको भी यदि मान लें, तो छः चिह्न) समझने चाहिए।—विशेष ६३ (२ ग) देखिए।

३ (ख) 'पदज नख अति अभूत उपमाई' इति। अभूत उपमाका भाव यह है कि ऐसी उपमा न आजतक हुई, न है और न होगी। यहाँ श्रीविन्दुमाधव भगवान्‌के चरणोंकी उँगलियोंमें जो नख हैं उनकी छबि उत्प्रेक्षाका विषय है। यहाँ अरुण पाथोज और तलवे, नील पाथोज और पदपृष्ठ (चरणके ऊपरका भाग जो श्यामवर्ण है), अरुण-नील-कमलदल और पदज, और मणि और नख

परस्पर उपमान और उपमेय हैं।—इस कथनका भाव तो यह है कि चरणके तलवे लाल-लाल हैं और ऊपरका भाग श्याम है, मानों दो लाल और नील कमलोंका संयोग इन चरणोंमें हुआ है। पैरोंकी उँगलियोंका ऊपरी भाग श्याम है, शेष सारा भाग लाल है। प्रत्येक उँगलीपर नख चमक रहे हैं। ललाई झलक रही है। श्याम और अरुण दोनों वर्णोंसे युक्त होनेसे उँगलियोंकी शोभा ऐसी है, मानों ये उँगलियाँ नहीं हैं वरंच अरुण और नील कमलोंके संयोगसे अरुण-नील-दल उत्पन्न हुए हैं, और उँगलियोंपर नख नहीं हैं किंतु अरुण-नील-कमलदलोंपरके लाल-लाल मणि हैं जो दलोंके साथ ही पैदा हुए हैं और जगमगा रहे हैं।

बाबू शिवप्रकाशजीका मत है कि यहाँ एक ही कमल लाल भी है और नीला भी। एक ओर लाल है दूसरी ओर नीला यही अद्भुतता है। हमने 'प्रसव' शब्दके विचारसे दो कमल माने हैं और उनके संयोगसे लाल और नील दोनों वर्णोंसे युक्त दलोंका उत्पन्न होना समझा है।

गीतावली और मानसमें भी पदज और नखकी शोभाका सुन्दर वर्णन देखने योग्य है। यथा—'राजत नख जनु कमलदलन्ह पर अरुन प्रभारंजित तुषारकन।' (गी० उ० १६), 'श्याम बरन पद पीठ अरुन तल, लसत बिसद नखश्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चलि ललित त्रिवेनी।' (गी० उ० १५), तथा 'कमलदलन्ह बैठे जनु मोती।'

कमलसे मणियुत दलका उत्पन्न होना असिद्ध आधार है। इस अहेतुमें हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

टिप्पणी—४ 'जनु हर डर हरि बिबिध रूप धरि रहे बर भवन बनाई' इति। हमारी समझमें 'डर' पाठ उत्तम है। क्योंकि कामदेव शंकरजीका वैरी है, शंकरजी कामारि हैं। अतः कामदेवको स्वाभाविक ही हरसे शंकित रहना उचित ही है। 'हरि' का अर्थ कामदेव है ही। जो डरा हुआ हैं, वह छिपनेका यत्न करता ही है। हरसे कहीं भी तो बचत नहीं, जाय तो कहाँ?—यह सोचकर कामदेव भगवान्‌के चरणोंमें शरण लेने आया। भगवान् शरणागत रक्षक हैं, वे अवश्य रक्षा करेंगे।—यहाँ 'मणिजटित स्वर्णके नूपुर' 'बर भवन' हैं, नूपुरके भीतर

जो रवा या दाने हैं वे ही कामदेवके अनेक रूप हैं। नूपुर मनोहर हैं, मनको हर लेते हैं; क्योंकि कामदेवने इन्हें अपने रहनेके लिये अपने हाथोंसे बनाया है। नूपुरके भीतर कामदेव दानोंके रूपमें बैठा बोल रहा है, अतः नूपुरोंका शब्द प्राणीमात्रको सुखदाई हुआ ही चाहे। कामदेव सबके मनको हरता है ही, अतः नूपुर-शब्द सबके मनको चुरा लेता है तो आश्चर्य क्या? 'ड' और 'उ' प्राचीन हस्त-लिखित ग्रंथोंमें बहुधा एकसे देखनेमें आते हैं। संभव है कि 'उ' पढ़ लेनेसे दो पाठ हो गए। यदि 'उर' पाठको सही माना जाय, तो मणिजटित स्वर्णनूपुर और हर, वरभवन और हरउर, नूपुरके भीतरके दाने और हरि परस्पर उपमान और उपमेय होंगे। भगवान् शंकरके हृदयमें भगवान् हरिका निवास है ही। 'उर' पाठमें 'वरभवन' रूपकसे कुछ अलग-सा हुआ देख पड़ता है। दूसरे भगवान्‌ने स्वयं उसे बनाया—(वरभवन बनाई) और स्वयं उसमें दानेके रूपसे रहकर शब्द करते हैं—यह कुछ भला नहीं लगता और न ठीक जँचता है। प्राचीनतम पोथियोंमें 'डर' हमने देखा, इसलिये 'डर' पाठ ही दिया है।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—"शिवजी गौरांग हैं, वे ही नूपुरोंके स्वर्णरचित दोनों फल हैं। विष्णु भगवान् मणिरूप उसके भीतर हैं। विष्णु भगवान् विविध रूपोंसे अवतार लिया करते हैं। वैसे ही नूपुरोंमें मणियाँ विविध प्रकारकी लगी हुई हैं। इसलिये 'हरि विविध वेष धरि रहे' कहा गया। 'वर भवन'—नूपुरोंके स्वर्णरचित दोनों फाल बहुत ही सुन्दर हैं। वैसे ही शिवजीका हृदय भी विष्णु भगवान्‌के लिये सुंदर घर है।···निष्काम होनेसे उनका हृदय बहुत ही स्वच्छ है, इसीसे भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है; यथा 'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु उर सो राउर निज गेह।"

टिप्पणी—५ 'कटितट रटति चारु किंकिनि···' इति। कमरमें जो सुन्दर किंकिणी है, यहाँ उसका अनुपम रसीला शब्द उत्प्रेक्षाका विषय है। किंकिणी स्वर्णकी है, इसीसे उसके घण्टियोंकी उत्प्रेक्षा 'हेमजलज कल कलिन्ह' सोनेके कमलोंकी सुन्दर कलियोंसे की। घंटियोंके भीतर काले-काले रवे या दाने होते हैं, जो घण्टियोंसे लगकर शब्द करते हैं; वे ही काले-काले भौंरे हुए। भौंरे कमलके भीतर

बैठे हुए गुंजार करते हैं। दाने घण्टियोंके भीतर होते हैं, इसलिये कमलके भीतर भ्रमरोंका होना यहाँ सूचित किया। इससे जनाया कि सूर्यास्तपर जब कमल संपुटित हो जाता है और मकरन्दका लोभी भौंरा उसके भीतर बन्द हो जाता है, उस समयके सम्पुटित कमलको ही यहाँ कमलकी कली कहा है। संपुटित कमल कलीके आकारका हो ही जाता है। भ्रमरके गुंजारको कवियोंने सुहावना माना ही है। यहाँ उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "कलियोंमें विना पूर्ण खिले ही मानों भ्रमरगण बैठ गये हैं और गुंजार कर रहे हैं। मुकुलित कलियोंमें भ्रमरोंका प्रवेश करना असम्भव है, इसीसे यह उपमा यथार्थ नहीं बनती, इसीसे पहले ही 'अनुपम रव' कह दिया है।"

६ (क) 'भृगुचरन' इति। (१) पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय २८२ में श्रीवसिष्ठजीने महाराज दिलीपसे भृगुचरणसंबंधी कथा इस प्रकार कही है—स्वायम्भुव मनु एक दीर्घकालतक चालू रहनेवाले यज्ञका अनुष्ठान करनेके लिये मुनियोंके साथ मन्दराचलपर गए। उस महायज्ञके आरंभ होनेपर मुनि देवता-तत्त्वका अनुसंधान करनेके लिये परस्पर बोले—"वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके लिये कौन देवता सर्वश्रेष्ठ एवं पूज्य है? ब्रह्मा, विष्णु और शिवमें किसकी अधिक स्तुति हुई है? किसका चरणोदक सेवन करने योग्य है? किसको भोग लगाया हुआ प्रसाद परम पावन है? कौन अविनाशी, परधामस्वरूप एवं सनातन परमात्मा है? किसके प्रसाद और चरणोदक पितरोंको तृप्ति प्रदान करनेवाले होते हैं?"

महर्षियोंमें इस विषयपर महान् वाद-विवाद होनेपर मनुने महर्षियोंसे कहा कि भगवान् पुरुषोत्तम ही वेदवेत्ता ब्राह्मणों द्वारा पूजित हैं। मनुकी यह बात सुनकर महर्षियोंने तपोनिधि भृगुजीसे कहा—'सुव्रत! आप ही हम लोगोंका संदेह दूर करनेमें समर्थ हैं। आप ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों देवताओंके पास जाइये।' भृगुजी तुरंत कैलासपर गए। भगवान् शङ्करके गृहद्वारपर पहुँचकर उन्होंने देखा कि महाभयंकर रूपवाले नन्दी हाथमें त्रिशूल लिये खड़े हैं। भृगुजीने उनसे कहा—'मेरा नाम भृगु है, मैं ब्राह्मण हूँ और देवश्रेष्ठ महादेवजीका दर्शन करनेके लिये यहाँ आया हूँ। आप भगवान् शंकरको शीघ्र ही मेरे आनेकी सूचना दें।' यह सुनकर

नन्दीने कठोर वाणीमें कहा—'अरे! इस समय तुम भगवान्के पास नहीं पहुँच सकते। अभी भगवान् शङ्कर देवीके साथ क्रीड़ा-भवनमें हैं। यदि जीवित रहना चाहते हो तो लौट जाओ, लौट जाओ।' तब भृगुने कुपित होकर कहा—'ये रुद्र तमोगुणसे युक्त होकर अपने द्वारपर आये हुए मुझ ब्राह्मणको नहीं जानते हैं। इस लिये इन्हें दिया हुआ अन्न, जल, पुष्प, हविष्य तथा निर्माल्य सब कुछ अभक्ष्य हो जायगा।' इस प्रकार भगवान् शिवको शाप देकर भृगुजी ब्रह्मलोकमें गए। वहाँ ब्रह्माजी सब देवताओंके साथ बैठे हुए थे। भृगुजीने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और चुपचाप उनके सामने खड़े हुए। किन्तु ब्रह्माजीने उन्हें आया हुआ देखकर भी उनका कुछ सत्कार नहीं किया। उनसे प्रिय वचन तक नहीं कहा। तब महर्षि भृगुने उनसे कहा—'आप महान् रजोगुणसे युक्त होकर मेरी अवहेलना कर रहे हैं; इसलिये आजसे समस्त संसारके लिये आप अपूज्य हो जायँगे।'

ब्रह्माजीको शाप देकर महर्षि भृगु सहसा विष्णुलोकमें गए। उस लोकमें कहीं भी उनके लिये रोक-टोक नहीं हुई। वे भगवान्के अन्तःपुरमें बेधड़क चले गये। वहाँ उन्होंने शेषशय्यापर सोये हुए भगवान् लक्ष्मीपतिको देखा। लक्ष्मी अपने करकमलोंसे भगवान्के चरणोंकी सेवा कर रही थीं। भृगु अकारण ही कुपित हो उठे और भगवान्के वक्षःस्थलपर अपने बायें चरणसे प्रहार किया। भगवान् तुरंत उठ बैठे और प्रसन्नतापूर्वक बोले—'आज मैं धन्य हो गया।' ऐसा कहकर वे हर्षपूर्वक अपने हाथोंसे उनके चरण दबाने लगे। धीरे-धीरे चरण दबाकर उन्होंने मधुर वाणीमें कहा—'ब्रह्मर्षे! आज मैं धन्य और कृतकृत्य हो गया। मेरे शरीरमें आपके चरणका स्पर्श होनेसे मेरा बड़ा मंगल होगा। जो समस्त संपत्तिकी प्राप्तिके कारण तथा अपार संसार-सागरसे पार होनेके लिये सेतुके समान हैं, वे ब्राह्मणोंके चरणकी धूलियाँ मुझे सदा पवित्र करती रहें।'—ऐसा कहकर भगवान्ने लक्ष्मी देवीके साथ सहसा उठकर दिव्य माला और चंदन आदिके द्वारा भक्तिपूर्वक भृगुजीका पूजन किया। उनको इस रूपमें देखकर भृगुजीके नेत्रोंमें आनंदके आँसू भर आये। उन्होंने आसनसे उठकर करुणासागर भगवान्को प्रणाम किया और कहा—'अहो! श्रीहरिका कितना मनोहर

रूप है, कैसी शान्ति है, कैसा ज्ञान है, कितनी दया है, कैसी निर्मल क्षमा और कितना पावन सत्त्वगुण है। भगवन्! आप गुणोंके समुद्र हैं। आपमें ही स्वाभाविक रूपसे कल्याणमय सत्त्वगुणका निवास है। आप ही ब्राह्मणोंके हितैषी शरणागतोंके रक्षक और पुरुषोत्तम हैं। आपका चरणोदक, आपका ही भोग लगा हुआ प्रसाद देवता, पितर और सम्पूर्ण ब्राह्मणोंके सेवन करने योग्य है।··· अतः आप ही ब्राह्मणोंके पूजनीय हैं। आप सम्पूर्ण देवताओंमें ब्राह्मणत्वको प्राप्त हों। 'सर्वेषामेव देवानां ब्राह्मणत्वमवाप्नुहि।' २८२।७० से लेकर 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय नागपर्यङ्कशायिने॥ राजीवदलनेत्राय राघवाय नमो नमः। ८१।' तक भगवान्‌के कृष्ण, मधुसूदन, पुण्डरीकाक्ष, वासुदेव, नृसिंह, नारायण, श्रीधर, श्रीश, गोविन्द, वामन, वाराह, रघुकुलभूषण राम आदि अनेक विग्रहोंकी, ब्राह्मणहितैषी कह-कहकर, स्तुति की है और फिर कहा है कि 'सम्पूर्ण देवता और ऋषि आपकी मायासे मोहित होनेके कारण सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी आप परमात्माको नहीं जानते। भगवन्! सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् भी आपके तत्त्वको नहीं जानते। भगवन्! मैं महर्षियोंके भेजनेपर आपके पास आया हूँ। आपके शील और गुणोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही मैंने आपकी छातीपर पैर रक्खा है। गोविन्द! कृपानिधे! मेरे इस अपराधको आप क्षमा करें।'—ऐसा कहकर भगवान्‌के चरणोंमें बारंबार प्रणाम करके और सत्कृत होकर वे प्रसन्नचित्त होकर यज्ञमें महर्षियोंके पास लौट आये और अपना सब अनुभव कह सुनाया।

(२) भा० १०।८६ में इसकी कथा इस प्रकार है—"एक बार सरस्वतीनदीके तटपर कुछ ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे। उनमें इस विषयमें विचार चला कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवोंमें सबसे बड़ा कौन है? इस बातको जाननेके लिये उन्होंने ब्रह्माजीके पुत्र महर्षि भृगुको उनकी परीक्षा लेनेके लिये भेजा। भृगुजी पहले ब्रह्माजीकी सभामें गए और उनके स्वभावकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने न तो उन्हें नमस्कार ही किया और न उनकी स्तुति ही की। इससे ब्रह्माजी अपने तेजसे प्रज्वलित हो उनपर अत्यन्त कुपित हुए। किन्तु अपने पुत्रके ही प्रति उत्पन्न क्रोधको ब्रह्माजीने अपने मनमें इस प्रकार शान्त कर दिया जैसे तेजस्तत्त्वसे ही उत्पन्न हुए जलसे

अग्नि शान्त हो जाती है। तदनन्तर वे कैलाशको गए। अपने भाई महर्षि भृगुको आये देख श्रीमहादेवजी अति आनन्दित हो उठकर उन्हें आलिंगन करनेके लिये उद्यत हुए। किन्तु 'नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति०', तुम कुमार्गी हो—ऐसा कहकर भृगुजीने उनसे मिलनेकी अनिच्छा प्रकट की (अर्थात् उनका तिरस्कार किया); तब महादेवजीको बड़ा क्रोध हुआ और वे तीक्ष्ण दृष्टिसे देखते हुए त्रिशूल उठाकर उन्हें मारनेके लिये उद्यत हुए। देवी पार्वतीजीने उनके चरणोंपर गिरकर उन्हें प्रार्थनामयी वाणीसे शान्त किया। इसके बाद भृगुजी वैकुण्ठधामको गए। भगवान् लक्ष्मीजीकी गोदमें सिर रखे हुए लेटे थे। भृगुजीने जाते ही उनके वक्षःस्थलमें लात मारी। साधुओंके एकमात्र गति श्रीहरि लक्ष्मीजी सहित उठ बैठे और शैयासे उतरकर उन्होंने भृगुजीको प्रणाम किया और कहने लगे—'आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्। अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥ अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने। (वज्रकर्कशमद्वक्षः स्पर्शेन परिपीडितौ ॥) इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना ॥ १० ॥' 'हे ब्रह्मन्! आपका स्वागत है! यहाँ एक क्षण आसनपर विराजिये। हमें आपके यहाँ पधारनेका कोई पता न था, अतः हमारी धृष्टता क्षमा करें। हे महामुने! आपके चरण-कमल अत्यन्त कोमल हैं और मेरा वक्षःस्थल वज्रके समान कठोर है, उसका स्पर्श होनेसे उसमें बहुत पीड़ा होती होगी।'—यह कहकर वे भृगुजीके चरणोंको अपने हाथोंसे दबाते हुए बोले—'आपका चरणोदक तीर्थोंको भी पवित्र करनेवाला है। उससे आप वैकुण्ठलोकके सहित मुझे तथा मुझमें स्थित लोकपालोंको पवित्र कीजिये। भगवन्! आपके पदस्पर्शसे मेरे सब पाप नष्ट हो गए। अतः अब लक्ष्मी मेरे हृदयमें निरन्तर विराजमान् रहेगी। अब मैं लक्ष्मीका एकमात्र आश्रयस्थान हो गया हूँ।'—

'पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ११ ॥
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥ १२ ॥'

भगवान्की ऐसी गँभीर वाणी सुनकर भृगुजी अति आनन्दित और तृप्त हो मौन हो गए तथा भक्तिके उद्रेकसे उनका कंठ गद्गद

हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया। तदनन्तर उन्होंने पुनः यज्ञभूमिमें आकर मुनीश्वरगणके सामने अपना सारा अनुभव कह सुनाया। सब वृत्तान्त सुनकर सबका संदेह दूर हो गया और तबसे सब भगवान्‌में ही विशेष श्रद्धा रखने लगे।

६ (ख) 'चारु अति सूचत कोमलताई' इति। इस चिह्नसे प्रकट है कि शरीर कितना कोमल है कि वक्षःस्थलपर भृगुचरणचिह्न जैसाका तैसा उपट आया और अबतक वहाँ विराजमान् है। इसके धारण करनेसे भगवान्‌का ब्रह्मण्यगुण दर्शित होता है। 'चारु' से जनाया कि चमचमाता दिखाई दे रहा है और मनको लुभा लेता है—ऐसा सुन्दर लगता है; यथा—'विप्रचरन देखत मन लोभा'। (बा०)।

वैजनाथजी लिखते हैं कि इससे स्वभावकी कोमलता दर्शाई है कि 'ऐसा कोमल स्वभाव है कि भृगुजीके चरणप्रहारसे क्रोधित न हुए'।

६ (ग) 'कंकन चारु··विधि रचे निज कर मन लाई' इति। यहाँ विविध आभूषणोंकी रमणीयता उत्प्रेक्षाका विषय है। बिना वाचक पदके उत्प्रेक्षा की गई है। विधिके हाथसे रचे जानेकी कल्पना करना असिद्ध आधार है। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'गम्य असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीर)। ब्रह्माजीने अपने हाथोंसे मन लगाकर बनाया है, ऐसा कहकर आभूषणोंकी अतिशय सुन्दरता सूचित की है। अतिशय सुन्दरता जहाँ दिखाना होती है, वहाँ प्रायः ब्रह्माका बनाया कहा जाता है। यथा 'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई। १।२३०।६।', 'कहा एकु मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे।१।३११।५।', 'रूपरासि बिधि नारि सँवारी।३।२२।६।', 'मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खँची।७।२७।' इत्यादि। 'निज कर॰' का भाव कि ब्रह्मा सृष्टिकी रचना तो संकल्पमात्रसे ही कर डालते हैं, पर इनको स्वयं अपने हाथोंसे और वह भी मन लगाकर रचकर बनाया है, यह विशेषता है।

टिप्पणी—७ 'जनु उडुगन मंडल बारिद पर··' इति। भगवान्‌के वक्षःस्थलपर पदिकयुत जो गजमुक्तामाल है वही उत्प्रेक्षाका विषय है। श्याम शरीर और बारिद, गजमणि और उडुगणमंडल (तारागण), पदिक और नवग्रहकी अथाई परस्पर उपमेय-उपमान

हैं। श्याम शरीरपर गजमुक्ताओंकी माला ऐसी जान पड़ती है, मानों श्याम मेघोंपर नक्षत्र वा तारागणमंडल आकर बैठा है। पदिकमें विविध रंगोंके नवरत्न जड़े हुए हैं, इससे जान पड़ता है कि नवरत्न नहीं हैं, नवग्रह हैं। पदिक गजमणिमालके सुमेरुकी जगहपर है, जो प्रायः वक्षःस्थल पर रहता है। पदिक अथाई है। विविध रत्नोंका उसपर जड़ा होना मानों नवग्रहका अथाई रचना है। मिलान कीजिए—'उरसि राजत पदिक ज्योति रचना अधिक माल सुबिसाल चहुँ पास बनी गजमनी। श्याम नव जलद पर निरखि दिनकर कला कौतुकी मनहुँ रहि घेरि उडुगन अनी। गी० ७।५।'

टिप्पणी—८ (क) 'भुजग भोग भुजदंड…' इति। 'भुजगभोग भुजदंड' में वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार है। 'समान' वाचक और 'सचिक्कन, उतार-चढ़ाव' धर्म लुप्त हैं। भुजदण्ड सर्पके शरीरके समान सचिक्कन और उतार-चढ़ावके सुडौल हैं। 'कंज दर चक्र गदा बनि आई' के 'बनि आई' से वही शोभा सूचित कर दी जो पिछले पदमें कह चुके हैं—'चारि भुज चक्र कौमोदकी जलज दर सरसिजोपर जथा राजहंसं। ६१ (३)'; वही भाव यहाँ हैं।

८ (ख) 'बदन अमित छवि छाई' इति। 'वदन' (मुख) की छबिका वर्णन गीतावलीमें इस प्रकार है—गी० ७।१०—

"देखो राघव बदन बिराजत चारु।
जात न बरनि, बिलोकत ही सुख,
मुख किधौं छबि-बर-नारि सिंगारु॥
रुचिर चिबुक, रद ज्योति अनूपम,
अधर अरुन सित हास निहारु।
मनो ससिकर बस्यो चहत कमल
महँ प्रगटत दुरत न बनत बिचारु॥
नासिक सुभग मनहुँ सुक सुंदर,
चितवत चकि आचरज अपारु।
कल कपोल मृदु बोल मनोहर,
रीझि चित चतुर अपनपौ वारु॥…
निगम सेष सारद सुक संकर
बरनत रूप न पावत पारु।

तुलसिदास कहै कहौ धौं कौन
बिधि अति लघुमति जड़ कूर गँवारु ॥''
गी० ७८—'बदन सुखमासदन
सोभित मदन मोहनिहारु ।'

टिप्पणी—९ (क) 'कुलिस कुंद···' इति । हीरा, कुन्दकली और बिजलीकी कान्ति दाँतोंको देखकर लज्जित होती है, यह कहकर जनाया कि दाँत वज्रसे भी अधिक उज्ज्वल और पुष्ट (मजबूत) हैं, आकारमें दाँतोंकी पंक्ति कुन्दकलीकी पंक्तिसे भी सुन्दर है और चमकमें बिजलीकी चमकसे भी अधिक कान्तिमय है। यहाँ 'पंचम प्रतीपालंकार' है।

९ (ख) 'श्रुति कुंडल भ्रू मोहि भाई' इति । 'मुझे भाती है'—कथनका भाव कि इनका वर्णन नहीं किया जा सकता । यथा 'सकल अलौकिक सुंदरताई । कहि न जाइ मनही मन भाई। १।२१६।४।' यह अलौकिक सुंदरता गीतावलीमें उत्प्रेक्षालंकार द्वारा इस प्रकार कही गई है—'श्रवन सुंदर, सम कुंडल कल जुगम तुलसिदास अनूप, उपमा कही न जाई । मानो मरकत सीप सुंदर ससि समीप कनक-मकरजुत बिधि बिरची बनाई । ७।११।' (अर्थात् कानोंमें एक-से सुन्दर कुण्डलोंकी जोड़ी ऐसी जान पड़ती है मानों ब्रह्माजीने सुंदर मुखरूपी चंद्रमाके समीप कुण्डलरूपी स्वर्णकी मछलियोंके सहित कर्णरूप मरकतमणि सीपियोंको रचकर बनाया हो)। गी० ७।९ में हिलते हुए कुण्डलोंकी शोभाका उल्लेख इस प्रकार है—'श्रवन कुंडल मनहुँ गुरु कबि करत बाद बिसेषु।' (मानो बृहस्पति और शुक्र विशेष वाद-विवाद कर रहे हों)।

टिप्पणी—१० 'भालपर तिलक···अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ···' इति । ललाटपर तिलककी छबि उत्प्रेक्षाका विषय है। चन्द्रमामें बिजलीका स्थिर होना असिद्ध आधार है। यहाँ 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है । ☞ भाल मुखचन्द्रका एक भाग है, इसलिये उसे चन्द्र माना । केसरकी पीत ऊर्ध्वपुण्ड्र दोनों रेखाएँ अल्पतड़ितकी दो रेखाएँ हुईं । तिलक मस्तकपर बराबर चमचमाता हुआ विराजमान् रहता है, इसीसे बिजलीकी रेखाओंका चन्द्रमामें स्थिर होकर रहना कहा ।

टिप्पणी—११ 'निर्मल पीत दुकूल···बहु मनिजुत···' इति। श्याम शरीरपर मणिजटित आभूषणों और पीताम्बरकी शोभा यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है। आभूषणयुक्त श्याम शरीर और मणियुत नीलगिरि शिखर तथा पीताम्बर और कनकबसन परस्पर उपमेय उपमान हैं। पीतांबर ऐसा बारीक है कि उसके भीतरका श्याम शरीर और आभूषण उसपरसे झलक रहे हैं। नीले पर्वतशिखरपर रत्नजटित सुवर्णवस्त्र शोभायमान होगा ही। अतः यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

टिप्पणी—१२ (क) 'बाम भाग अनुराग सहित इंदिरा···' इति। श्रीलक्ष्मीजी जब समुद्रसे प्रकट हुईं, तब वे कमलोंकी माला हाथमें लिये हुये सर्वथा श्रेष्ठ गुणवाले निर्दोष एवं अपने योग्य आश्रयको ढूँढ़ने लगीं। यथा "विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम्। भा० ८।८।१६।" उन्हें गन्धर्व, यक्ष, दैत्य, सिद्ध चारण, देवता, ऋषि, तपस्वी, ब्रह्माजी, शंकरजी आदिमें अपने योग्य वर न मिला। लक्ष्मीजीने विचार किया कि श्रीविष्णु भगवान् सुन्दर, मंगलमय और निर्दोष हैं, परन्तु वे मेरी इच्छा नहीं करते।—'सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम्। श्लो० २२।'—ऐसा विचार करके अव्यभिचारी, धर्मज्ञानादि श्रेष्ठ गुणों, निरपेक्षता, सर्वोत्तमता व प्रकृतिके गुणोंसे परे लक्षणों और सकल सिद्धियोंसे संयुक्त अपने मनोभिलषित श्रीविष्णु भगवान्‌को उन्होंने वरण किया और उनके कण्ठमें माला डालकर उनके निकट खड़ी हो गईं। भगवान्‌ने त्रिलोककी श्रीलक्ष्मीजीको अपना वक्षःस्थलरूपी अचल पद दिया।—जो भगवान् उनकी इच्छा नहीं करते थे, उन्होंने उन्हें अपनी वामांगिनी बना लिया, अतएव 'अनुराग' होना स्वाभाविक है।

१२ (ख) इस पदमें 'दक्ष भाग' सभी पोथियों में मिलता है। अभी तक हमें कोई प्रति ऐसी नहीं मिली जिसमें 'वाम भाग' पाठ हो। सं० १६६६ वाली प्रतिमें यह और आगेका पद नहीं हैं। उसमें श्रीविन्दुमाधवका एक ही पद है और उसमें 'बाम भाग' पाठ है। स्यात् उसके कारण श्रीभट्टजीने अपनी टीकाके तीसरे और चौथे संस्करणोंमें तीनों पदोंमें 'बाम' पाठ रक्खा हो, या कोई और पोथी उन्होंने देखी हो जिसमें सर्वत्र 'वाम' पाठ हो। मैं अपने विचार पूर्व पद ६१ (७ ख) में प्रकट कर चुका हूँ।

‘दक्ष’ पाठका आग्रह करनेवालेउसके पक्षमें—‘व्रतबन्धे विवाहे च चतुर्थी सहभोजने। व्रते दाने मखे श्राद्धे पत्नी तिष्ठति दक्षिणे।’ (स्मृति संग्रह), ‘धर्मप्रवृत्तौ आशीर्वादेरभिषेके च पादप्रक्षालने। सीमन्ते च विवाहे च तथा चातुर्थ्य कर्मणि। मखे दाने व्रते श्राद्धे पत्नी दक्षिणतो भवेत्।’ (विवाह प० वायुनंदन)—ये प्रमाण दे सकते हैं।

वे० शि० श्रीरामानुजाचार्य (वृन्दावन) कहते हैं कि अर्चा-मूर्तिकी प्रतिष्ठामें प्रायः श्रीस्वामिनीजी दक्षिणभागमें ही विराजमान कराई जाती हैं। परन्तु प्रायः केवल श्रीरामानुजानुयायियों (आचारियों) के मंदिरोंमें ऐसा होगा, अन्यत्र नहीं।

☞गोस्वामी तुलसीदासजीका मत उनके मानस आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंसे तो बिना एक भी अपवादके यही सिद्ध होता है कि दान, अभिषेक और विवाहके समय भी धर्मपत्नी वामभागमें ही शोभित होती है। बिना प्रमाणके वे ऐसा स्पष्ट उल्लेख कभी न करते।

‘स्मृति संग्रह’ के उपर्युक्त श्लोकके पश्चात्—‘अभिषेके विप्रपादप्रक्षालने चैव वामतः।’—यह भी वाक्य है। अर्थात् अभिषेक और विप्रचरण धोते समय पत्नी वामदिशामें रहे।

वामभागके पक्षमें एक श्लोक यह भी कहा जाता है—‘धर्मप्रवृत्तावभिषेके पादप्रक्षालने तथा। शयने भोजने चैव पत्नीतूत्तरतो भवेत्।’ मत्स्यपुराणका प्रमाण पद ६१ में आ चुका है।

☞खोजते-खोजते मुझे स्कन्द पु० माहे० के० खण्डमें दो तीन बातें मार्केकी मिलीं जो अन्यत्र न मिली थीं। वे ये हैं—श्रीमहालक्ष्मीजी जब समुद्रमंथनसे प्रकट हुईं और भगवान्‌की ओर देखा, तो देखा कि भगवान्‌के शरीरपर वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है; एक हाथमें कौमोदकी गदा लिये हैं। उनकी दिव्य शोभा देखकर वे हाथीपरसे उतर पड़ीं और अपने हाथों बनाई हुई वनमाला जिसपर भ्रमर मँड़रा रहे थे उसको भगवान्‌के कंठमें पहनाकर स्वयं उनके वाम भागमें जाकर खड़ी हो गईं।—“दृष्ट्वा तदैव सहसा वनमालयान्विता लक्ष्मीर्गजादवततार सुविस्मयन्ती। कण्ठे ससर्ज पुरुषस्य परस्य विष्णोर्मालां श्रिया विरचितां भ्रमरैरुपेताम्॥ ११।७२।” इसमें वामभागमें लक्ष्मीजीकी स्थिति स्पष्ट शब्दोंमें है।

स्कं० वै० उत्कल खण्डमें भगवान् नृसिंह राजा श्वेतको वर देनेको प्रकट हुए, उस समयके दर्शनका उल्लेख इस प्रकार है–"वे योगासनपर कमलके ऊपर विराजमान थे। उनके वामभागमें भगवती लक्ष्मी शोभा पा रही थीं।···भक्तवत्सल भगवान् नृसिंहने राजासे कहा—'वत्स ! उठो, मुझे भक्तिसे प्रसन्न जानो और कोई अभीष्ट वर माँगो।"···राजाने वर माँगा। भगवान् वर देकर अन्तर्धान हो गए। यथा "योगासनाब्जनिलयं वामाङ्गावस्थितश्रियम्। दिव्यालङ्कृतसर्वाङ्गं स्फटिकामलविग्रहम्॥···उत्तिष्ठ वत्स भद्रं ते प्रसन्नं विद्धि मां प्रभुम्। मयि प्रसन्ने नालभ्यं वरं तत्प्रार्थ्यतां भवान्॥ ३७।४५-४८॥···इति दत्त्वा वरं तस्मै श्वेत राजाय वै पुरा। जगामान्तर्हितो विप्राः प्रासादान्तः स्थितो हरिः। ३८।१।' इसमें भी दानका प्रसंग है और श्रीलक्ष्मीजी वाम भागमें हैं।

और भी प्रमाण लीजिए। प० पु० उत्तर० नृसिंहावतार प्रसंगमें श्रीशंकरजी कहते हैं—देवताओंने श्रीमहालक्ष्मीजीसे प्रार्थना की कि 'आप अपने प्रियतमको प्रसन्न करें। जिस प्रकार भी वे तीनों लोकोंको अभय दान दें, वही उपाय आप करें।' श्रीलक्ष्मीजीकी प्रार्थनासे श्रीहरिने राक्षस-शरीरके प्रति उत्पन्न क्रोधको तत्काल त्याग दिया और कृपारूपी अमृतसे सरस दृष्टिके द्वारा देवताओंकी ओर देखा। तब देवताओंने प्रार्थना की—'भगवन्! अनेक भुजाओं और चरणोंसे युक्त आपके इस अद्भुत रूप और तीनों लोकोंमें व्याप्त दुःसह तेजकी ओर देखने और आपके समीप ठहरनेमें हम सभी देवता असमर्थ हो रहे हैं।' प्रार्थना सुनकर उन्होंने अपना भयानक तेज समेट लिया और सुखपूर्वक दर्शन करने योग्य विष्णुरूप हो गए।·· वामांगमें भगवती लक्ष्मीको साथ ले भगवान् नृसिंह बड़ी शोभा पाने लगे। —"इत्यर्थितस्तु विबुधैस्तेजस्तदतिभीषणम्। उपसंहृत्य देवेशो बभूव सुखदर्शनः। नानारत्नमयैर्दिव्यैः केयूरकटकान्वितः। बाहुभिः कल्पवृक्षस्य शाखौघैरिव सत्फलैः। चतुर्भिः कोमलैर्दिव्यैरन्वितः परमेश्वरः। सव्याङ्गस्थश्रियायुक्ते नरकेसरी।२३८।१३८-१४१, १४४।' ···देवताओंने उनका अभिषेक करके उनका पूजन और स्तुति कर उनके चरणोंमें मस्तक नवाया। इससे प्रसन्न होकर भगवान् लक्ष्मीपतिने उन देवताओंको मनोवांछित वरदान दिया।—'ततः प्रसन्नो लक्ष्मीश-

स्तेषामिष्टान्वरान्ददौ। श्लो० १४६ ।'—इसमें दान देते समय भी वाम भागमें होना स्पष्ट है।

१२ (ग) 'हेमलता जनु तरु तमाल ढिग···' इति। श्रीलक्ष्मीजी गौराङ्गिणी हैं। गोरे रंगपर नीली साड़ी शोभा देती है। वे भगवान्‌से सटी हुई बगलमें विराजमान् हैं। इन्दिरा और हेमलता, भगवान् विन्दुमाधव और तमाल तरु, साड़ी और नील निचोल उपमेय उपमान हैं। यहाँ भी 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। मिलान कीजिए—'नव नील नीरज निकट मानहु कनकपंकजकी कली। ७।१०८।' क्षीरसमुद्रमंथनपर समुद्रसे प्रकट होकर जब वे जयमाल लेकर योग्य वर देखने चलीं तब भी उनकी शोभा हेमलताकी-सी कही गई है—'हेमलतेव सा बभौ। भा० ८।८।१८।'

टिप्पणी—१३ (क) 'सत सारद सेष श्रुति···' इति। इन बड़े-बड़े समर्थ और वह भी सौ-सौ ऐसे वक्ताओंको शोभा-कथनके लिये असमर्थ कहकर इनके संबंधसे श्रीसहित भगवान्‌की शोभाकी अतिशय प्रशंसा करना 'संबन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

१३ (ख) 'तुलसिदास मति मंद द्वंद्वरत···' इति। अपनेको ये विशेषण देकर पूर्वार्धके शारद, शेष, श्रुति वक्ताओंको 'विमल मति' और द्वन्द्वरहित जनाया। यह भी जनाया कि द्वन्द्वरत मन्द मति कवि तो नितान्त असमर्थ होता है। फिर जहाँ समस्त विमल बुद्धिवाले वक्ता मिलकर भी असमर्थ देखे जाते हैं, वहाँ मंदबुद्धि कवि किस गिनतीमें है?—'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं। १।१२।११।'—वाला भाव यहाँ भी है। कविने अपनेको अन्यत्र भी ऐसा कहा है। यथा 'बरनै तुलसीदास किमि अति मति मंद गवाँरु। १।१०३।' (गिरिजारमणचरितके संबंधमें), 'कहँ मति मोरि निरत संसारा। १।१२।१०।' (श्रीरघुपतिचरितके संबंधमें)। 'गँवार' और 'निरत संसार' का भाव 'द्वन्द्वरत' से सूचित कर दिया है।

(श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु)